

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

३३४२१

स्थान

जवाहरनगर

७

वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

3.4

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

74



TARKABHĀṢĀ

OF

ŚRĪ KEŚAVA MIŚRA

Edited with

Madhuri' Hindi Commentary

By

Dr. Gajanan Shastri Musalgaonkar

Foreword by

'Padmabhushana'

Shri Pt. Pattabhiram Shastri



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI 221001

(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

Also can be had of

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

*

Sole Distributors

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

समर्पणम्

श्रीकृष्णो भगवान् प्रदर्श्य विशदं स्वं विश्वरूपं पुरा
दिव्यं ज्ञानमयं ददौ सकरुणः पार्थाय चक्षुर्यथा।
अध्याप्य प्रददुश्च मे गुरुवरा ये ज्ञानदृष्टिं तथा
सर्वांस्तान् हृदि चिन्तयामि विनतो विद्यातपोभूषितान्॥

अर्घ्यम्प्रदाय सलिलाञ्जलिभिस्तदीयै-
र्गङ्गार्चनामिह यथा विदधाति लोकः।
शास्त्राण्यधीत्य विविधानि तथा गुरुभ्य-
स्तेभ्यो निजां कृतिमिमामहमर्पयामि॥



शुभाशंसनम्

अभ्यर्हितां विबुधसंसदि तर्कभाषां
भाषापदैः सुललितैर्विशदं विवृण्वन् ।
मान्यो मनीषिषु गजाननशास्त्रिवर्यो
जीव्याच्चिरं मुसलगाँवकरोपनामा ॥

वसन्तत्र्यम्बक शेवडे

सम्मतियाँ

आचार्य करुणापति त्रिपाठी

अध्यक्ष, उ० प्र० संस्कृत अकादमी, लखनऊ

डॉ० श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर (एम० ए०, पी-एच० डी०) द्वारा संपादित एवं भाष्यात्मक 'माधुरी'-हिन्दीव्याख्या-संवलित 'तर्कभाषा' को मैंने पढ़ा। यह व्याख्या भाष्यात्मक है तथा संवद्ध सभी जिज्ञासाओं और प्रश्नों का इसमें समाधान है। श्री शास्त्री मीमांसा, न्याय, वेदान्त, साहित्यादि अनेक शास्त्रों के तलस्पर्शी और मर्मज्ञ विद्वान् हैं। अतः इस 'माधुरी' व्याख्या में उठाये गये गूढ़ और कठिन प्रश्नों के समाधान में विविध शास्त्रों और दर्शनों का पूर्ण पाण्डित्य लक्षित होता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वज्जन एवं जिज्ञासु छात्रों को इस रचना से प्रचुर लाभ होगा।



डॉ० श्रीराम पाण्डेय

न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य, डी० लिट्०

न्यायवैशेषिक-विभागाध्यक्ष

सम्पू० सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी

विरञ्चिविरचित परिवर्त्तनशील प्रपञ्च में प्रत्येक मानवमनीषा त्रिविध-दुःख-ध्वंस एवं स्थायी परमानन्दोदय के लिये सतत अनुष्ठानपरायण है। किन्तु अभी तक वह उसे प्राप्त नहीं कर सकी है। क्योंकि जिन अनुष्ठानों से उसकी प्राप्ति संभव है उनका या तो उसे यथार्थ ज्ञान ही नहीं है या ज्ञान रहने पर भी उनका सम्यक् परिपालन ही नहीं कर पायी है। तत्त्वचिन्तकों में भारत संसार के सभ्य देशों में सबसे पुरातन और सबमें अग्रेसर है। भारत शब्द भा—ज्ञान में, रत—संलग्न; तत्त्वज्ञान के उपार्जन में निरन्तर क्रियाशील, इस अर्थ में अन्वर्थ है।

यह अन्वर्थता राष्ट्र के विद्योपासक सज्जनों की चिरन्तन ज्ञानसाधना से प्रमाणित है। जिसकी परिणति संस्कृत वाङ्मय के माध्यम से उच्चकोटि के

अनेकों ग्रन्थ आज भी समाज को उपलब्ध हैं। ऐसे ग्रन्थों में ऐसी विद्याओं में आन्वीक्षिकी का सर्वप्रथम स्थान है। न्यायदर्शन-प्रथमसूत्र के वात्स्यायन-भाष्य में प्राप्त यह उक्ति सर्वथा उक्तार्थ को पुष्ट करती है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकी मता॥

आन्वीक्षिकी सम्पूर्ण विद्याओं का आलोक, सम्पूर्ण कर्मों का साधक तथा समस्त धर्मों का आधार है।

उक्त भारतभूमि में मिथिला के श्रेष्ठतम नैयायिक केशवमिश्र हैं। इनका प्रस्तुत ग्रन्थ तर्कभाषा एक प्रकरणग्रन्थ है। जो आन्वीक्षिकी-न्यायदर्शनरूपी महाह्रद में प्रवेश के लिये सुन्दरतम सोपान है।

न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में बहुत्र बिखरे कतिपय विशेष ज्ञातव्य तत्त्वों का संक्षिप्त एवं मनोरम आकलन कर उन्हें अतिसुगम बना कर केशवमिश्र ने केवल बालों की ही नहीं अपितु वृद्ध विद्वानों की भी प्रशस्त सहायता की है। दुःखसन्तप्त मानव-मनीषा की राहतभूमि आन्वीक्षिकी की कड़ियों में तर्कभाषा का अभ्यर्हित स्थान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के माधुरी हिन्दी व्याख्याकार पं० श्री गजानन शास्त्री दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इन्होंने ग्रन्थ की विस्तृत हिन्दी व्याख्या में 'अल्पश्रुत से ही न्यायशास्त्र में प्रवेश' की चर्चा की सुरक्षा का गुरुतर भार अपेक्षित परमोपयोगी कतिपय शब्दों द्वारा ही वहन किया है। न्यायशास्त्र के प्रवेशार्थियों के लिये किसी भी प्रकार की रुकावट न हो सके, इसके लिये व्याख्याकार का यह प्रयास सर्वथा उपयुक्त है। ग्रन्थ में उपलब्ध शब्दों की सुगम व्याख्या तथा उनकी सम्बद्धता के लिए माधुरी का माध्यम अत्यन्त उपादेय है।

ग्रन्थकार मिश्र की प्रतिज्ञा के साफल्यार्थ सहायिका माधुरी ने अत्यन्त मृदुल, मधुर एवं मनोरम सहयोग प्रस्तुत कर न्याय में प्रवेशार्थियों को ही नहीं अपितु न्यायकान्तार में प्रविष्ट मेधावियों को भी अपकृत किया है। ग्रन्थ को सुगम करने के लिये यद्यपि आज अनेकों हिन्दी व्याख्यान-उपलब्ध हैं, किन्तु माधुरी की मधुरिमा उनमें अपना एक विशेष महत्त्व ख्यापित कर रही है। राष्ट्रभाषा के समुन्नयन के साथ छात्रों के न्यायविद्यासमुन्नयन में माधुरी का अपना एक पृथक् अस्तित्व है। शास्त्री जी की कृति की सराहना के साथ ही उनके दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ। वह इसी प्रकार सतत सारस्वत साधना में अपनी अप्रतिम मनीषा का उपयोग करते रहें।

□

श्री रामचन्द्र शास्त्री होसमने   श्री गणेश्वश्वर शास्त्री द्राविड
श्री विश्वेश्वर शास्त्री द्राविड   श्री श्रीराम लोकरे

श्री व० शा० सांगवेद विद्यालय, रामघाट, वाराणसी

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

प्रातःस्मरणीयानां पू० श्रीगुरुचरणानां (कैं० पण्डितराज श्रीराजेश्वर-शास्त्रिद्राविडमहोदयानां) अन्तेवासिभिः श्रीमद्भिः प० प्र० गजाननशास्त्रि-मुसलगाँवकरमहोदयैर्विरचितां तर्कभाषा-भाषाटीकां विलोक्य वयं प्रमुदिताः स्मः। तर्कभाषाया यावत्यष्टीका उपलभ्यन्ते, तासु कस्यामप्येवंविधो विचार-सङ्ग्रहो न दृश्यते। न्यायशास्त्रीयपदार्थनिरूपणप्रसङ्गे इतरदर्शनकृन्मतमप्यत्रा-भिहितम्। अतोऽयं ग्रन्थो जिज्ञासूनां कृतेऽत्यन्तमुपकारकः सर्वैरेव सङ्ग्रह्यश्च वर्तते।

भगवदनुग्रहेण गुरुकृपया च गजाननशास्त्रिण आजीवनं विद्यासेवां कुर्वन्त-स्तत्त्वजिज्ञासूञ्जनानुपकुर्वन्त्विति श्रीविश्वेश्वरचरणारविन्दयोरभ्यर्थयामहे।



श्री कृष्णाश्रम स्वामी

(पूर्वाश्रमे श्रीगणपतिशास्त्री हेब्बारः)

श्री व० शा० सांगवेद विद्यालय, रामघाट, वाराणसी

॥ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

तत्रभवतां श्रीगजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरमहोदयानां तर्कभाषाहिन्दी-व्याख्यानविषये—

"अस्मदन्तेवासिना आयुष्मता मुसलगाँवकरोपाह्वेन डॉ० गजाननशास्त्रिणा हिन्दीभाषायां तत्त्वप्रकाशिकाख्यं सुविस्तृतं व्याख्यानं विधाय तत्र चान्यासां टीकानामप्युपसंहारेण वंशीधरीटीकार्थोऽपि सुबोधया हिन्दीव्याख्यया सह जिज्ञा-सूनां कृते उपन्यस्तः।.........अनेन मम बहुतसौकर्यं जातम्। आशास्यते मत्सदृशानाम् अन्येषामपि सौकर्यं विधास्यति॥"

इति साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी-तत्त्वप्रकाशिकाव्याख्यानोपरि श्रीगुरुचरणानां सन्तोषावहमेतेषां हिन्दीव्याख्यानकौशलं संस्मृत्य प्रकृतग्रन्थीयोऽपि शास्त्रार्थ-संग्रहः विदुषां प्रमोदावहः स्याद् इति मनुते, इति श्रीनारायणस्मरणम्। इति।



श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री

कालिदास अकादेमी, उज्जैन

श्री पण्डितप्रवर डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर के द्वारा निर्मित अभिनव टीका माधुरी का तर्कभाषा पर प्रकाशन होना एक आनन्दमयी घटना है। इस ग्रन्थ पर एक छात्रोपयोगी विस्तृत हिन्दी टीका की कई दिनों से आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। श्री डॉ० मुसलगाँवकर के इस कार्य से आज की आवश्यकता की पूर्ति के साथ ही छात्रसमुदाय तथा अध्यापकवर्ग के लिए उनके आशानुरूप अध्येय विषय-वस्तु हो गयी है। मैं इस ग्रन्थ के समधिक प्रचार और प्रसार की अपेक्षा करता हूँ तथा डॉ० मुसलगाँवकर जी का इस कार्य के लिये अभिनन्दन करता हूँ।



श्री महाप्रभुलाल गोस्वामी

दर्शनसंकायाध्यक्ष
श्री सम्पू० सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्य पण्डित श्री मुसलगाँवकर जी के द्वारा सम्पादित एवं राष्ट्रभाषा व्याख्यान संवलित 'तर्कभाषा' का मैंने सम्यग् अवलोकन किया।

पण्डितप्रवर ने इस ग्रन्थ का अनुवादमात्र नहीं किया है, अपितु तुलनात्मक दृष्टि से प्रसङ्गायत्त विषयों को अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हुए पल्लवित भी किया है। गागर में सागर की भाँति इस व्याख्यान में संगृहीत विषयों के अध्ययन से सभी दर्शनों के विषयों का सम्यग् ज्ञान सम्भव है। यह ग्रन्थ छात्रों एवं दर्शन के सिद्धान्तों के बोधन में जिज्ञासु मनीषियों के लिए भी एक रूप में उपयोगी है।

आचार्य प्रवर की तर्ककर्कश विचारचातुरीसम्पन्न प्रतिभा से प्रसूत तर्कभाषा की व्याख्या, उपलब्ध व्याख्यानों को परिम्लान करते हुए स्वयं में एक विशिष्ट दार्शनिक ग्रन्थों की उच्चतम कोटि के स्थान में प्रतिष्ठित हो एक विशिष्ट दिशा की निर्देशक है।

यह माधुरी टीका शास्त्रों के मार्मिक तत्त्वों को अवगत कराने में प्रदीपप्रभाभास्वर है। आचार्य की सफल लेखनी और प्रखर प्रतिभा का मणिकाञ्चन संयोग इसमें सुलभ है। इसका शुद्ध संस्करण इसकी श्रेष्ठता का मूलाधार है।

यद्यपि पण्डित जी के वैदुष्य से मनीषिगण सुपरिचित हैं, तथापि यह व्याख्यान अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा विशिष्ट भूमि में प्रतिष्ठित है। इस ग्रन्थ और मनीषि-प्रवर के सम्वन्ध में कुछ भी कहना दिवाकर को प्रदीपप्रभाप्रदान-स्थानीय ही होगा। इसकी लोक प्रियता आचार्यप्रवर की नीराजनविधि होगी।



श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी

निदेशक
कालिदास अकादेमी, उज्जैन

आचार्यप्रवर पण्डित गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर काशी की वरिष्ठ विद्वन्मण्डली के सुपरिचित रत्न हैं। आचार्य मुसलगाँवकर जी पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, न्याय और साहित्यशास्त्र आदि विषयों में अव्याहतगति से कार्य करते रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक सहयोगी के रूप में मैंने उन्हें सतत और धारावाहिक रूप से शास्त्रों के अध्यापन और जटिल शास्त्रीय प्रश्नों के समाधान में व्यापृत देखा है। किन्तु वे मौखिक परम्परा के ही नहीं लिखित परम्परा के भी उतने ही बड़े प्रतिनिधि हैं। शक्तिशाली लेखनी के धनी आचार्य मुसलगाँवकर जी ने मीमांसा, वेदान्त, न्याय, सांख्य और साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों के सम्पादन तथा हिन्दी में व्याख्या के कार्य से शास्त्रीय अनुशीलन तथा हिन्दी भाषा को समृद्ध किया है। शास्त्रीय ग्रन्थों को यथासम्प्रदाय और पारम्परिक शैली में सहज, सुबोध भाषा में एक व्यापक क्षेत्र में ले जाने के काम में आचार्य मुसलगाँवकर जी का योगदान अविस्मरणीय है। हिन्दी भाषा-भाषी उनके इस अनुग्रह को सदा याद रखेंगे।

मुझे 'तर्कभाषा' के उनके द्वारा सम्पादित और व्याख्यात संस्करण के अवलोकन का सुयोग मिला। न्याय 'सर्वशास्त्रोपकारक' विद्या है। 'तर्कभाषा' जैसे प्रकरण-ग्रंथ की ऐसी विस्तृत, क्रमवद्ध, सुबोध और पारम्परिक व्याख्या से अध्येताओं का महान् उपकार होगा। 'तर्कभाषा' का यह संस्करण न केवल सामान्य छात्रों के लिये अपितु न्याय में प्रवेश के इच्छुक उच्चतर छात्रों एवं शोधार्थियों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। आचार्य मुसलगाँवकर जी ने इस ग्रन्थ की व्याख्या में प्रतिवादन की ऐसी विशिष्ट शैली अपनायी है, जिससे न्यायशास्त्र के पदार्थों का प्रामाणिक परिचय

और अनुशीलन तो होगा ही, साथ ही उन-उन विषयों पर सम्बद्ध शास्त्रों की स्थिति का सुस्पष्ट ज्ञान भी हो सकेगा।

मुझे विश्वास है कि, आचार्य मुसलगाँवकर की लेखनी से ऐसी अनेक अन्य रचनाएँ भी हमें निकट भविष्य में प्राप्त होंगी। मैं उनके प्रति अपने आदर को व्यक्त करते हुए इस सराहनीय कार्य के लिये आभार व्यक्त करता हूँ।



श्री वि० वेङ्कटाचलम्

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
तथा
निदेशक, सिन्धिया प्राच्यशोध-संस्थान
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

पण्डितप्रवर आचार्य मुसलगाँवकर के द्वारा सम्पादित तर्कभाषा की प्रकाशन-पूर्व प्रति के मुद्रित भाग का अवलोकन करने का अवसर मिला।

मेरा विश्वास है कि आचार्य मुसलगाँवकर का यह नवीनतम संस्करण हिन्दी अथवा अंग्रेजी में उपलब्ध अपने पूर्वगामी सभी संस्करणों से निश्चित ही 'प्रशस्यतर' सिद्ध होगा।

आचार्य प्रवर ने अपने हिन्दी व्याख्यान को "चतुरश्रशोभि" बनाने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। इस संस्करण के दो वैशिष्टच विशेषतः उल्लेखनीय हैं—

(१) इसमें सभी स्तर के छात्रों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान रखा गया है। उत्तम, मध्यम तथा अधम, इन तीनों वर्गों के छात्र अपनी-अपनी रुचि एवं समझ के अनुकूल अंश चुनकर तर्कभाषा के अध्ययन का कार्य पूरा कर सकते हैं। उत्तम अधिकारी के लिये प्रत्येक विषय पर यथासंभव न्यायशास्त्र के मूल आकरग्रंथों के विचारों के साथ परवर्ती विचारधारा को भी पूरे विस्तार के साथ जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। फलस्वरूप उत्तम श्रेणी के अध्येता को तर्कभाषा के बहाने न्यायशास्त्र की समग्रता के आकलन का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार ऐसे श्रेष्ठ अध्येताओं के लिये यह संस्करण मात्र 'तर्कभाषा' का ही नहीं, समग्र न्याय दर्शन में प्रवेश का प्रथम 'राजद्वार' सिद्ध हो सकता है।

इतना ही नहीं, विद्वान व्याख्याकार ने ऐसे अधिकारी छात्रों को विभिन्न शास्त्रीय बिन्दुओं पर शास्त्रान्तरों की समानान्तर प्रक्रिया-धाराओं का भी बोध कराकर उनमें तुलनात्मक दृष्टि विकसित करने का लक्ष्य भी अपने समक्ष रखा है। (उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं—'निर्विकल्पक' के संबंध में बौद्ध, जैन, अद्वैतवेदान्त एवं विशिष्टाद्वैतवेदान्त के पक्ष—पृष्ठ ६८ से ७० पर तथा 'चाक्षुषप्रत्यक्ष' की प्राचीन-अर्वाचीन सांख्य, अद्वैतवेदान्त, श्री रामानुजीय-वेदान्त एवं बौद्ध दार्शनिकों की प्रक्रिया का विश्लेषण—पृष्ठ ९७ से १०७)।

(२) इस संस्करण की दूसरी विशिष्टता है, दुरूह और दुर्बोध शास्त्रीय विषयों को सरल से सरल बनाकर प्रस्तुत करने का उद्यम। आचार्यप्रवर ने सामान्य अथवा तथाकथित औसत स्तर के छात्रों की योग्यता और आवश्यकता को सदैव अपने सामने रखा, यह बात तो आपत दर्शन में ही स्पष्ट है। प्रास्ताविक पद्य की व्याख्या के संदर्भ में उन्होंने स्वयं कण्ठोक्त शब्दों में लिखा भी—"घबड़ाने वाले जिज्ञासुओं की ही संख्या अधिक होती है। परन्तु शिष्यवत्सल गुरुचरण की दयालुता-वत्सलता तो जडमति और प्रखरमति दोनों ही छात्रों पर समान रहती है।" (पृ० ३)

यही कारण है कि पं० मुसलगाँवर की यह 'माधुरी' व्याख्या छात्र समुदाय के लिये सचमुच यथार्थनामा है। मैं तो निःसंकोच कह सकता हूँ कि तर्कभाषा का यह 'माधुरी' संस्करण एक सुदीर्घ अनुभवी, 'शिष्यवत्सल' आचार्य की ओर से "जडमति और प्रखरमति" दोनों श्रेणियों के जिज्ञासुओं के लिये एक मधुर वरदान है।

एक बात और; यह कहना तो साहसिक होगा कि इस संस्करण में न्याय तथा अन्य शास्त्रों के सिद्धांतों का प्रतिपादन नितांत प्रामाणिक और संप्रदाय-शुद्ध है। पण्डित डॉ० मुसलगाँवकर की प्रखरविद्वत्ता से सारा देश परिचित है। अत एव उनकी प्रामाणिकता का उल्लेख करना भी "प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधि" होगी।

▭

महाराष्ट्र के महान् सन्त **श्री एकनाथ** के अवतारस्वरूप हरिभक्ति-परायण **श्री धुण्डा महाराज** देगलूरकरजी का

आशीर्वाद

भारतीय दर्शनों में सर्वशास्त्रोपकारक, न्यायदर्शन है, जिसमें प्रमाण-प्रमेयों का अत्यन्त सूक्ष्म विचार किया गया है। न्यायशास्त्र के ग्रन्थों को बुद्धिमान् विद्वानों के बुद्धि का निकष कहा जाता है।

न्यायदर्शन का उपयोग केवल पाण्डित्यप्रदर्शन के लिये अथवा परमत के खण्डन के लिये ही नहीं है। श्री उदयनाचार्य का कथन है कि "न्याय-चर्चेयमीशस्य मननप्रतिदेशभाक्"। उपनिषद् भी "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" कहते हैं। शास्त्रीय प्रमेयों के प्रति विपरीत भावना, असंभावना आदि के निवृत्त्यर्थ 'मनन' की उपयोगिता होती है। "मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः" अनेक उपपत्तियों के द्वारा श्रुत्यर्थ का दृढ़निश्चय होना आवश्यक है, उसके उपयुक्त उपपत्तियों (युक्ति) को न्यायशास्त्र में बहुत ही अच्छी तरह से बताया गया है। तात्पर्य यह है कि यह न्यायशास्त्र जिज्ञासुओं का उपकारक होने से उसका अध्ययन आवश्यक है।

न्यायशास्त्र में प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति का होना बताते हुए अनेक ग्रंथों की रचना तत्कालीन विद्वानों ने की है। प्रस्तुत **'तर्कभाषा'** ग्रंथ की रचना तत्कालीन श्रीमत्केशवमिश्र ने की है। किन्तु आज के युग में संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ रहने वालों के लिये उसे समझ पाना बहुत कठिन हो गया है। साथ ही साथ संस्कृतभाषा के अभिज्ञ लोगों को यहाँ तक कि व्याकरण-साहित्य-वेदान्त के पण्डितों को भी इस न्यायशास्त्र से भय लगने लगता है, क्योंकि इस शास्त्र को 'व्याघ्रमुख-शास्त्र' कहते हैं।

ऐसे इस व्याघ्रमुखशास्त्र (न्यायशास्त्र) के प्रमाण-प्रमेयों का ज्ञान तथा उस शास्त्र में सुलभता से प्रवेश करा देने की उदार भावना से प्रेरित होकर वाराणसी के प्रख्यात पण्डित डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर महोदय के द्वारा हिन्दी भाषा में 'माधुरी' नाम की विस्तृत, सुबोध और प्रवाहपूर्ण मधुर भाषा में लिखी गई व्याख्या को मैंने अच्छी तरह से पढ़ा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह 'माधुरी' व्याख्या दार्शनिक, शास्त्रीय परम्परा के अनुसार तथा गुरुचरणों के अन्तेवासित्व का गौरव प्रदान कराती हुई लिखी गई है। केवल भाषा का भेद है उसका कारण एकमात्र जिज्ञासुजनों के प्रति व्याख्याकार की कल्याण भावना ही हो सकती है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

इनके द्वारा लिखी गई 'माधुरी' व्याख्या के मनन-चिन्तन से न्याय-वैशेषिक शास्त्र के प्रमाण-प्रमेयों का ज्ञान, वैसा ही होगा जैसे गुरुपरम्परा से शास्त्र-शुद्ध ज्ञान, गुरुभक्त छात्रों को हुआ करता है।

व्याख्याकार डॉ० श्री गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर जी का पाण्डित्य, असाधारण तथा विद्वत्प्रशंसनीय है। आप पौर्वात्यपाश्चात्य विद्याविभूषित हैं। सम्प्रदाय शुद्ध उनकी विश्वसनीय विद्वता का परिचय कराने में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वे पूज्यपाद पण्डितराज **राजेश्वरशास्त्री द्राविड** के शिष्योतम हैं।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि, वेदान्तपरिभाषा, सांख्यतत्त्वकौमुदी, वेदान्तसार, मीमांसादर्शन, विक्रमाङ्कदेवचरितम् आदि जटिल ग्रन्थों पर व्याख्याकार ने जो विस्तृत व्याख्यायें लिखी हैं, उनको पढ़ने पर उनके विषय में उपर्युक्त धारणा पूर्णतया परिपुष्ट हो जाती है। व्याख्याकार की उक्त व्याख्याओं पर विद्वन्मूर्धन्य पूज्यपाद स्वामी करपात्री जी महाराज जैसे अन्यान्य भारत-प्रसिद्ध महा-पण्डितों ने भी अपनी मान्यता प्रदान की है।

तर्कभाषा पर लिखी गई 'माधुरी' व्याख्या भी अपने नाम को सार्थक बना रही है। जिज्ञासु छात्रवर्ग तथा राग-द्वेषरहित विद्वद्वर्ग उसे अवश्य ही अपनावेगा, यह मेरा विश्वास है। भगवान् पाण्डुरंग हमारे शास्त्री जी को दीर्घायुष्ट्व और आरोग्य प्रदान करें, यही कामना है।





प्राक्कथन

किसी भी भाषा की समृद्धि उसके साहित्य के गांभीर्य, प्राचीनता, परिपुष्टता, विषयों की प्रौढ़ता, विचारों की पवित्रता आदि से अंकित की जाती है। ये सभी कारण संस्कृत भाषा में पूरे-पूरे पाये जाते हैं। संस्कृत भाषा से प्रणीत साहित्यभंडार के अवलोकन से प्रतीत होता है कि देश का गौरव इसी पवित्र कार्य से बढ़ सकता है और अक्षुण्ण रह सकता है, यही समझ कर ऋषिमहर्षियों ने लोकोपयोगी विविध साहित्य का सृजन किया है और राजा-महाराजाओं ने देश की इस निधि की न केवल जागरूकता से रक्षा की अपितु निधि के प्रसार के साथ ही इसको परिबृंहित करने के लिए विद्वानों को प्रेरित किया। मालूम होता है कि आसेतु हिमाचल पर्यन्त के विद्वान अनेक रूपों में निधि के उपबृंहण में एकाग्र मन से जुट गये हैं। ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड के सूत्रग्रन्थों पर भाष्य, वार्तिक, उनकी टीका और टीकाओं के ऊपर भी अनेक टीकाओं का विद्वानों ने प्रणयन किया। प्रान्त एवं प्रान्तभाषाओं के भिन्न होने पर भी किसी प्रान्त के विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा से रचित ग्रन्थ की व्याख्या या उपव्याख्या अन्य प्रान्त के विद्वान करते थे। मूल ग्रन्थों को पढ़ाते हुए जो विषय अपनी प्रतिभा से उन्नीत होते थे उनका मूर्तरूप हैं व्याख्याएँ। हर एक दर्शन के साहित्य का विस्तार इसी रूप से हुआ है। व्याख्या से अतिरिक्त इस रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी सृजन हुआ है, जो प्रकरणग्रन्थ शब्द से कहे जाते हैं। ये प्रकरणग्रन्थ अपने दर्शन के मूल ग्रन्थों पर आश्रित होते थे। संस्कृत भाषा में प्रगल्भ वैदुष्य होने पर भी इन प्रकरण-ग्रन्थों को स्वयं देख कर अपनी प्रतिभा से व्युत्पत्ति लगा कर विषयों को समझना कठिन है। गुरुमुख से पढ़ कर ही इनको समझना पड़ता है। प्रत्येक दर्शन में परिभाषिक शब्द कई होते हैं एवं विषयकृत गांभीर्य रहता है। इनको संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति मात्र से समझ लेना साध्य नहीं है। दर्शन शास्त्रों की उत्पत्ति की ओर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि अति-प्राचीन काल में भारत के चिन्तक ऋषि-महर्षि अपनी गोष्ठियों में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के विषयों पर आपस की चर्चा के माध्यभ से निर्णय कर उन्हीं को अपने अन्तेवासियों को अध्ययन द्वारा समझाते थे और अपना भी

ज्ञानोपार्जन, कर्मानुष्ठान और ध्यान आदि करते थे। उनमें इतना प्रतिभा-बल और स्मरणशक्ति रहती थी कि गोष्ठी की चर्चाओं में निर्णीत पदार्थों को यथावत् पढ़ाते और निरतिशय मनन द्वारा कण्ठस्थ रखते थे। हर एक विषय में सन्देह हो जाने पर गोष्ठियाँ बुला कर विषयों का निश्चय होता रहा है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि हमारे पवित्र भारत में अनादि काल से ही विद्यावान अग्निमान (साग्निक) कर्मानुष्ठाता एवं भक्तिमान उपासक लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न, तेजस्वी और दूरदर्शी थे।

इस रूप से अधिगतविद्य तीनों कालों को जानने वाले तपोनिधि पाणिनि, गौतम, कणाद, जैमिनि, व्यास, कपिल, आश्वलायन, द्राह्यायण, कात्यायन, बौधायन, आपस्तम्ब आदि महर्षियों ने भविष्य-सन्तति के दौर्बल्य को समझ-कर दर्शन, कर्मकाण्ड और भक्ति-उपासना आदि भारतीय-निधि की रक्षा के निमित्त अलग-अलग सूत्रग्रन्थों की रचना की। अनेक शताब्दियों तक अध्ययन-अध्यापन व्यापार सूत्रारूढ़ ही था। सूत्रों के अध्ययन द्वारा ही विषयों को स्मृति में रखा जाता था। अनन्तर अध्येताओं की स्मरणशक्ति की न्यूनता को देख-कर भाष्य-वार्तिक आदियों की रचना हुई। उत्तरोत्तर ग्रन्थ-रचना की धारा चल पड़ी। इसका परिणाम आज हम अनुभव करते हैं कि अध्येता गण नीचे से ऊपर जाने लगे। अर्थात् स्मरणशक्ति इतनी घट गई कि प्रकरणग्रन्थों के अध्ययन के विना सूत्र, भाष्य और वार्तिक ग्रन्थों को पढ़कर ज्ञानार्जन में हम अक्षम होते गये। यह रीति सभी दर्शनों में पाई जाती है।

दर्शनशास्त्रों में न्याय-वैशेशिक दर्शन को सर्वशास्त्रोपकारक माना गया है "काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्"। इस दर्शन के सूत्र ग्रन्थ से लेकर तर्कसंग्रह पर्यन्त ग्रन्थों को देखने पर विदित होता है कि यह अतिविस्तृत दर्शन है। प्रधानतः प्रमाणों एवं प्रमेयों के निरूपण के लिए प्रवृत्त इस दर्शन की परिभाषाएँ दुरूह होती हैं। सरलातिसरल शब्दों द्वारा पदार्थों का निरूपण करने हेतु अनेक प्रकरणग्रन्थ प्रवृत्त हुए। उनमें केशवमिश्र-प्रणीत तर्कभाषा भी एक है।

न्यायबोधिनीसहित तर्कसंग्रह के अध्ययन के बाद तर्कभाषा का अध्ययन करते हैं। तर्कभाषा व्युत्पादक ग्रन्थ के साथ इस दर्शन में प्रवेश द्वार का उद्घाटक भी है। पाश्चात्य विद्वानों ने दर्शनशास्त्रों के विस्तार एवं महत्त्व को देख कर अपने शासन काल में परिश्रम से कथमपि अध्ययन कर अपनी भाषा में ग्रन्थों को अनुवाद किया और अपने देश में दर्शनशास्त्र पढ़ने के लिए

लोगों को प्रेरित किया। इसी धारा का अवलम्बन कर भारतीयों को भी वाध्य किया कि अपने अनूदित अंग्रेजी ग्रन्थों से दर्शन सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करें। पाश्चात्यशासकों का यह भी अभिनिवेश रहा कि जैसे भारतीय आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में परतन्त्र रह रहे हैं वैसे ही शिक्षा के क्षेत्र में भी परतन्त्र हों और अंग्रेजी भाषा की समृद्धि बढें। अथवा हम यान्त्रिक जीवन चला रहे हैं हमारा देश भौतिक विज्ञान के आविष्कार में डूबा हुआ है समझ कर आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों को अंग्रेजी में अनुवाद कर प्रकाशित किये हों। जैसा भी हो, भारतीय हमारे भाई भी अनूदित इन ग्रन्थों से प्रभावित होकर उन्हीं को पढ़ कर अपने को दार्शनिक कहलाने पर उतर गये। प्राचीनों के मूल ग्रन्थों को ताख़ पर रख दिया।

आज हम स्वतन्त्र भारत में रह रहे हैं। भले ही हम आर्थिक संकट से धिरे हों और महर्घता की चपेट में त्रस्त हों किन्तु शिक्षा क्षेत्र में हम पराधीन नहीं हैं। चिरन्तनों द्वारा प्रयत्नपूर्वक संचय की हुई महान निधि हमारे पास है जिस निधि को यथेष्ट खर्च कर हम बढ़ा सकते हैं और आध्यात्मिक चेतना को पहुँचा सकते हैं। दैवयोग से हमने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया है। अंग्रेजी भाषा से अनूदित ग्रन्थों को अध्ययन कर हमें दार्शनिक बनना नहीं है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में श्रेष्ठ संस्कृत मूलग्रन्थों को अनूदित कर या अनुवाद करा कर दार्शनिक तत्त्वों को निरूपित कर अपने उन देशवासियों में आध्यात्मिक चेतना को फैला सकते हैं जो संस्कृत भाषा से परिचय नहीं रखते हैं। इससे दो लाभ हैं—एक तो हिन्दी साहित्य का कलेवर बढ़ेगा और दूसरा हम अपनी राष्ट्र भाषा के द्वारा दार्शनिक तत्त्वों से परिचित होकर आध्यात्मिक लाभ उठा सकेंगे।

इसी दृष्टिकोण को अपनाकर डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर ने 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' 'वेदान्तपरिभाषा' 'तर्कभाषा' आदि दार्शनिक प्रकरणग्रन्थों को राष्ट्रभाषा में अनुवाद कर प्रकाशित किया है। देश के लिए यह उत्तमोत्तम प्रयास है। क्योंकि अध्ययनपरम्परा से प्राप्त तत्त्वों का विवरण जैसा महत्त्व रखता है वैसा यथा तथा विषयों को जान कर पाश्चात्य भाषा के द्वारा निरूपित तत्त्वों का विवरण नहीं। जबकि हमारे देश की मानी हुई राष्ट्रभाषा दार्शनिक तथ्यों का बोध कराने में समर्थ है और उसमें अनूदित तत्त्वों को जानना हमारे लिए सहज हैं तब विदेशीय भाषा का आश्रय क्यों करें। मुझे पाश्चात्य भाषा में विद्वेष नहीं है किन्तु स्वादिष्ट आम को चूस कर रसास्वाद करने की योग्यता रहने पर,

आम को चाकू से काट कर आस्वाद करना गौण पक्ष ही है। हमारा देश, हमारी भाषा, हमारे चिरन्तनों के द्वारा उन्नीत दार्शनिक तत्त्व—इस आत्मीय भावना को रखना गौरवप्रद है। इसी आत्मीय भावना से प्रेरित डॉ० गजानन शास्त्री द्वारा दार्शनिक तत्त्वों को अपने हिन्दी अनुवाद के माध्यम से प्रचार करने का प्रयास अत्यन्त श्लाघनीय है। तत्रापि तर्कभाषा जैसे महत्त्व रखने वाले ग्रन्थ का अनुवाद न केवल संस्कृत से अपरिचित जगत् के लिए उपकारक है अपितु राष्ट्रभाषा के कलेवर का वर्द्धक भी है। इस प्रशस्त कार्य के लिए श्री शास्त्री जी को भूरि-भूरि धन्यवाद देता हूँ।

पट्टाभिराम शास्त्री

भूमिका

मुझे अच्छी तरह से आज भी स्मरण है कि जब मैं अपने पूजनीय आराध्य पितृचरणों के स्नेहमय अङ्क में बैठकर उनके मुखारविन्द से मनोरञ्जक कहानियों के रूप में रामायण, भागवत, भारतादिपुराणों तथा विविध दर्शनादि शास्त्रों के प्रमाण-प्रमेयों की कथाएँ सुना करता था, तब प्रायः वे कहा करते थे—

"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥"

इस सुवर्णघटित श्लोक को जीवन की कसौटी पर कसकर उसकी सत्यता का अद्यावधि प्रतिक्षण अनुभव करता हूँ ।

परमेश्वर ने प्राणिमात्र को चैतन्य से पूर्ण कर सक्रिय बनाया है । तथापि मनुष्य प्राणि को छोड़कर शेष प्राणियों की क्रिया उनकी सहज (स्वाभाविक–आटोमेटिक) प्रवृत्ति से चलती रहती है । किन्तु मनुष्य की क्रिया उसकी सहज प्रवृत्ति से न होकर स्व-बुद्धि की सहायता से हुआ करती है । 'मैं' और 'मेरा' ये दो शब्द मनुष्य के पास आजीवन रहते हैं । इसीलिये वह अपने विषय में तथा अपने इस आत्मीय अन्तर्बाह्य जगत् के विषय में सोचने के लिये बाध्य हो जाता है । दिन-प्रतिदिन उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती है । वह केवल वर्तमान को ही नहीं विचारता, अपितु अतीत और भविष्यत् का भी कार्य-कारण-भाव के साथ युक्तिपूर्वक विचार करता रहता है । इस प्रकार विचार करते-करते भगवत्कृपा से कभी एक ऐसा क्षण भी आता है, जिसमें उसे अपना और सम्पूर्ण जगत् के स्वरूप का यथार्थज्ञान (तत्त्वज्ञान) हो जाता है । तब अपनी कठोरता-घनता आदि को त्यागते हुए पिघलकर अपने जलमयस्वरूप को प्राप्त होने वाली हिमशिला (बरफ) के समान यह मानव प्राणि भी ब्रह्ममय अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । इसी को 'अपवर्ग' (मोक्ष) कहते हैं, और तत्त्वज्ञान के पूर्व सृष्टि के सुख-दुःखादि भोगों का अनुभव करते रहना ही 'बन्ध' कहलाता है । इस बन्धन से छुटकारा पाना अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही 'मुक्ति' है । एवं च युक्ति, अनुभव और प्रमाण के साथ 'आत्मा' (अपना) और 'जगत्' (आत्मीय) के सम्बन्ध में किये जाने वाले विचारों को ही 'दर्शन' कहते हैं । अतएव 'दर्शन' और

'जीवन' का घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'दर्शन' वस्तुतः मानव समाज का अपना धन है जिसकी रक्षा करना प्रत्येक विचारशील मानव का कर्तव्य है।

भारतीय दार्शनिकों का तपःपूत चिन्तन, ज्ञान-विज्ञान और अनुभूति की त्रिवेणी में सम्पूर्ण विद्याओं की गरिमा के साथ अवतीर्ण हुआ है। आज के वैज्ञानिक युग की दार्शनिक चिन्तनधारा में यथार्थता की पृष्ठभूमि पर खड़े हुए नैयायिक-वैशेषिकों की अनूठी अनुपम देन केवल देश के लिये ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिये सिद्ध हो रही है। पदार्थ विज्ञान की प्रक्रिया के साथ उत्पन्न हुए प्रायोगिक विज्ञान के माध्यम से परिपुष्ट हुए सिद्धान्त, देश और काल की सीमा को लाँघकर अपने पैरों पर दृढ़ता से स्थिर हैं।

प्रसिद्ध वैदिक षड्दर्शनों में न्याय-वैशेषिक दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। योग वही है जो भोग की निवृत्ति के बाद सुदृढ़ होकर अपनी प्रखरता के साथ उत्पन्न होता है, और वही सार्थक भी है। उसी तरह न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों ने यथार्थता के धरातल पर स्थित होकर यच्च यावत् समस्त पदार्थों का आधुनिक विज्ञान के समान बाह्य विश्लेषण ही नहीं किया है, अपितु भौतिक पदार्थों के अन्तस्थल की चेतना के भी दर्शन किये हैं। जबकि आज के युग का भौतिकविज्ञानवादी वैज्ञानिक बाह्य पदार्थों के बाह्यरूप के ही विश्लेषण में अभी तक उलझा हुआ है। किन्तु भारतीथ न्याय-वैशेषिक दर्शन के पदार्थविज्ञानवादी ने मानवचेतना और दृश्यजगत् के सम्वन्ध का विश्लेषण किया है जो मानव आदि प्राणिवर्ग और प्रकृति के साथ जुड़े हुए हैं। इतना ही नहीं तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं अकाट्य सर्वमान्य सामान्य (यूनिवर्सल) सिद्धान्तों को, जो सनातन सत्य पर आधारित हैं, भी आत्मविश्वास के साथ बता दिया है। तथा सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक रूप में प्रकृति व मनुष्य के साथ जुड़े हुए हैं। हमारे पूर्वज ऋषियों ने आगे की पीढ़ी के सन्तान के लिए। इतना गहन चिन्तन करके अपने अनुभवों को ज्ञान की निधि के रूप में सुरक्षित करके रख दिया है कि उसके आगे सोचने-विचारने का किसी को अवकाश ही शेष नहीं है। उनकी यह मौलिक देन आज के युग में भी स्मरणीय है। प्रमाण और प्रमेय के सम्बन्ध में अन्यान्य दर्शनों में भी चिन्तन हुआ है तथापि न्याय-वैशेषिक दर्शन ने जिस भव्यता और मुखरता के साथ प्रमाण-प्रमेयों का चिन्तन किया है, उतना भव्य और सुन्दर चिन्तन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यह चिन्तन एक ठोस शिलापर तरलित हुआ है। जो प्रत्येक प्राणी की चेतना के साथ प्रवाहित हो रहा है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भौतिक पदार्थों का चिन्तन, जीवन के व्यावहारिक सत्य पर आधारित है।

प्रस्तुत व्याख्येय ग्रन्थ में न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों का मिश्रण किया गया है, जिससे एक ही ग्रन्थ के द्वारा दोनों दर्शनों के प्रमाण-प्रमेयादिसिद्धान्तों का अनायास ज्ञान हो सके। 'न्याय' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है।

(१) भाष्यकार वात्स्यायन का कहना है—"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"—(भा. १।१।१) भिन्न-भिन्न प्रमाणों के द्वारा 'वस्तु'तत्त्व का परीक्षण ही 'न्याय' है।

(२) 'न्याय' शब्द का प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थ में भी किया जाता है। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन—संज्ञक परार्थानुमान के पाँच अवयवों को भी 'न्याय' कहा जाता है।

(३) भाष्यकार ने 'न्याय' को आन्वीक्षिकी नाम से भी बताया है। 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सा अन्वीक्षा, अथवा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणं अन्वीक्षा। तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या—न्यायशास्त्रम्।' (न्या. भा. १।१।१) अर्थात् प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान अथवा प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण की सहायता से अवगत विषय की अनु (पश्चात्) ईक्षा (पर्यालोचन) अर्थात् अनुमिति ज्ञान। इस अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने के कारण इस विद्या का नाम आन्वीक्षिकी किया गया है।

(४) अनुमान करते समय 'हेतु' को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। इसलिये इसे हेतुविद्या या हेतुशास्त्र भी कहा गया है।

(५) किसी गूढ विषय पर विद्वानों के विचार या शास्त्रार्थ को 'वाद' की संज्ञा दी गई है। इसलिये इसे वादविद्या या तर्कविद्या ही कहा जाता है।

(६) प्रमाण का विचार करने के कारण इसे प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि इन भिन्न-भिन्न नामों से न्यायशास्त्र का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट हो जाता है। प्रमाण की सहायता से प्रमेय का विचार करना ही न्यायशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः' श्रुति के अनुसार मनुष्य का मुख्य लक्ष्य 'आत्मदर्शन' ही है। उसके लिये बताये गये अनेक उपायों में से 'तर्कानुकूल मनन' भी एक उपाय है।

किसी भी वस्तु तत्त्व के विचारार्थ दो प्रकार की दृष्टि होती है—(१) प्रतिभादृष्टि और (२) तर्कप्रधानदृष्टि। उनमें से पहिली दृष्टि का उपयोग वैदिक आचार के भिन्न-भिन्न नियमों में प्रतीयमान विरोध को दूर करने के लिए किया जाता है। और तदनुसार वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। तथापि क्वचित् आचार को गौण मानकर तर्क की प्रधानता, तो क्वचित्

तर्क को गौण मानकर आचार की प्रधानता भी मानी जाती है। वैदिक पदार्थों के अनुष्ठान में विरोध उपस्थित होने पर उसे दूर करने के लिये मीमांसाशास्त्र ने सर्वप्रथम 'तर्क' का ही उपयोग किया है। प्राचीनकाल में मीमांसाशास्त्र को ही 'न्याय' शब्द से कहा जाता था, उस समय के मीमांसक ही सर्वप्रथम नैयायिक माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि धर्ममीमांसा के लिये ही 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

न्यायशास्त्र में यत्र-तत्र वैदिक सिद्धान्तों के दृष्टिगोचर होने से उसकी वेदमूलकता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रतिपादित पुरीतति नामक नाड़ी में अन्य नाड़ियों के द्वारा आत्मा (अन्तःकरण) के स्थित होने के सिद्धान्त को न्यायशास्त्र में भी अपनाकर 'आत्मा' के स्थान पर 'मन' कह दिया है। वैशेषिकों ने उपनिषद् के अनुकूल ही द्रव्य की कल्पना की है और संख्या बतायी है। छान्दोग्य (७।१२।१) ने 'शब्द' का वाहक 'आकाश' को बताया है। न्यायशास्त्र में इसी तथ्य को सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

विक्रम की १५वीं शताब्दी के पूर्व प्राचीनतमकाल में न्यायशास्त्र, को मीमांसादर्शन का आत्मज कहा जाता था, किन्तु कालान्तर में उसे वैशेषिकशास्त्र का कृतकपुत्र (दत्तकपुत्र) बनाया गया।

अतएव वात्स्यायन ने वैशेषिक को न्यायशास्त्र का 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' के रूप में माना है। बौद्धों के युग में ये दोनों दर्शन इतने घुल-मिल गये थे कि बौद्धों के ग्रन्थों में कितनी ही जगह न्याय के सूत्रों को वैशेषिक सूत्रों के नाम पर कहा गया है। ११वीं शताब्दी में शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी' में स्वतन्त्र रूप में प्रादुर्भूत हुए इन दोनों दर्शनों का समन्वय एक साथ किया गया। समन्वय की प्रक्रिया दो प्रकार से की गई। न्याय-सम्मत षोडशपदार्थों का वर्णन अभिप्रेत यदि हो तो प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिकसम्मत षट्पदार्थों का सन्निवेश कर दिया जाने लगा। जैसा कि तर्कभाषा में किया गया है। जबकि वैशेषिक प्रक्रिया का वर्णन अभिप्रेत होने पर 'बुद्धि' गुण के अन्तर्गत न्याय के प्रमाणों का सन्निवेश किया गया, जैसे कारिकावली तथा तर्कसंग्रह में किया गया है। वस्तुतः वैशेषिक सूत्र, न्याय सूत्रों से प्राचीन हैं।

न्यायशास्त्र में दो धाराएँ प्रवाहित हो उठीं—(१) गौतम की और (२) गंगेशोपाध्याय की। पहिली धारा में—इसके द्वारा षोडश पदार्थों का यथार्थ निरूपण किया गया है। इस धारा (प्रणाली) को 'पदार्थमीमांसा' की धारा कहते हैं। और दूसरी धारा को गंगेशोपाध्याय ने अपने 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ के द्वारा प्रवाहित किया। इसे 'प्रमाणमीमांसा' की धारा

कहते हैं। इन दो धाराओं में से पहिली को 'प्राचीन न्याय' की दूसरी धारा को 'नव्यन्याय' कहते हैं।

न्यायशास्त्र का मुख्य उद्देश्य 'प्रमाण' और 'प्रमेय' के यथार्थज्ञान से 'मोक्ष' का लाभ करा देना ही है। परन्तु जब तक 'संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थानों' का विशेषरूप से ज्ञान नहीं होगा, तब तक 'प्रमाणों' और 'प्रमेय' का ज्ञान पूर्णरूप से नहीं हो सकता। अतएव सूत्रकार गौतम ने कह दिया है कि उक्त षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति का लाभ होता है। इस शास्त्र में षोडश पदार्थों के लक्षणों की 'प्रमाणों' के द्वारा सम्यक् परीक्षा की गई है।

उसी प्रकार "वैशेषिक दर्शन" के प्रवर्तक **कणाद** मुनि हैं। इनके 'कणभुक्' 'कणभक्ष' 'उलूक' नाम भी हैं। इनके सूत्रों पर 'रावण' का भाष्य है, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। तथापि 'रत्नप्रभा' में उसका उल्लेख उपलब्ध होता है। यह 'रावण' सिंहल द्वीप का राजा था। इस वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विशद विवेचना की गई है। इसीलिये इस दर्शन को 'वैशेषिक-दर्शन' कहा जाने लगा।

न्याय-वैशेषिक दोनों समानतन्त्र हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है। तथापि न्याय-वैशेषिकों में कुछ बातों को लेकर मतभेद है। न्यायदर्शन ने जहाँ चार प्रमाणों को माना गया है, वहाँ वैशेषिक-दर्शन ने 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दो ही प्रमाणों को माना है। वहाँ उपमान और शब्द का अनुमान में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

न्यायदर्शन में सोलह पदार्थ माने गये हैं, किन्तु 'वैशेषिक दर्शन' ने केवल सात ही पदार्थ माने हैं। उनमें छह भाव पदार्थ हैं और एक 'अभाव पदार्थ' है।

न्यायदर्शन में 'प्रमाण' पदार्थ पर विशेष विचार किया गया है। किन्तु वैशेषिकदर्शन में 'प्रमेयों' पर विशेष विचार किया गया है।

न्यायदर्शन ने जितनी इन्द्रियाँ हैं उनसे उतने ही प्रकार के प्रत्यक्ष का होना माना है। परन्तु वैशेषिक ने एकमात्र 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' ही माना है।

न्यायदर्शन ने 'समवाय' का प्रत्यक्ष माना है, किन्तु वैशेषिक ने 'समवाय' को अनुमेय बताया है।

न्यायदर्शन 'पिठरपाकवादी' है, किन्तु वैशेषिकदर्शन 'पीलुपाकवादी' है।

न्यायदर्शन पाँच हेत्वाभास मानता है, किन्तु वैशेषिक दर्शन तीन ही हेत्वाभासों को मानता है।

न्यायदर्शन पुण्यजनित 'स्वप्न' को सत्य और पापजनित स्वप्न को असत्य मानता है, किन्तु वैशेषिकदर्शन के मतानुसार सभी 'स्वप्न' असत्य हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'तर्कभाषा' श्री केशवमिश्र के द्वारा विरचित है, जिसमें न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शन में प्रवेश कराने के हेतु दोनों दर्शनों के पदार्थों तथा सिद्धान्तों का मिश्रित निरूपण किया गया है। यह 'प्रकरणग्रन्थ' कहलाता है। इस ग्रन्थ पर प्राचीन चौदह संस्कृत टीकाएँ लिखी गई हैं, जिससे इसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। आज के युग में भी कतिपय विद्वानों ने इस पर हिन्दी व्याख्याएँ बड़े ही मनोयोग से लिखी हैं। अतः इस ग्रन्थ की लोकप्रियता, विद्वन्मान्यता एवं प्रौढता में किसी को भी सन्देह नहीं है। न्यायदर्शन के बारह प्रमेयों के निरूपण के प्रसंग में चतुर्थ प्रमेय 'अर्थ' को बताते हुए वैशेषिक दर्शन के षट् पदार्थों का भी निरूपण स्पष्ट रूप से कर दिया गया है। अतः न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों में प्रवेश प्राप्त करने का सरल मार्ग बना दिया गया है।

श्री केशवमिश्र विरचित तर्कभाषा की हिन्दी व्याख्या को स्पष्ट तथा विशदरूप से लिखने का सस्नेह अनुरोध, अनेक जिज्ञासु-छात्रों के द्वारा किया जाता था, किन्तु अनेकविध कार्यों की व्यस्तता रहने से उनके अनुरोधानुसार व्याख्या लिखने के काम में उतना ही विलम्ब होता गया। तथापि परम कृपालु परमेश्वर की अनुपम अनुकम्पा तथा परमाराध्य श्री पितृचरण एवं परम पूजनीय श्री गुरुचरणों के आशीर्वाद का बल पाकर वह गुरुतर कार्य सम्पन्न हो ही गया। तर्कभाषा की व्याख्या का नामकरण 'माधुरी' किया गया है। इस माधुरी व्याख्या में जो भी माधुर्यांश है, वह मेरे आराध्य प्रातःस्मरणीय श्री पितृचरण तथा श्रीगुरुचरणों के विचारों का ही है। द्राक्षा के छिलके की तरह निःसार अंश जो होगा, उसे मेरा ही समझना उचित होगा। अतः पूज्य गुरुजनों के अमोघ आशीर्वाद तथा करुणावरुणालय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के कृपापूर्ण अनुग्रह से 'माधुरी' व्याख्या की मधुरिमा जिज्ञासु पाठकों को अवश्य ही आप्यायित करेगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

व्याख्या लिखते समय मेरे जिन शुभचिन्तकों ने अनेक प्रकार की सहायता देकर मुझे यशोभाजन बनाया उन्हें आशीर्वाद देना मेरा पवित्र कर्तव्य है, क्योंकि उसके सिवा और मेरे पास है ही क्या? उन छात्रों तथा घर के सुयोग्य सुशिक्षित बालक-बालिकाओं का नाम निर्देश करना मेरे लिये सन्तोषावह होगा और उनके उज्ज्वल भविष्य में उन्हें प्रेरणादायक भी होगा। अतः उनके नाम का उल्लेख मात्र करके उन्हें हार्दिक आशीर्वाद दे रहा हूँ।

१. डॉ० कु० सुश्री विमला कर्नाटक, M. A. Ph. D, मीमांसाचार्य, रीडर, B. H. U.

२. डॉ० श्री सोमनाथ नेने, M. A., Ph. D., लेक्चरर, विक्रम यूनिवर्सिटी, उज्जैन,

३. डॉ० श्री कमलनयन शर्मा, M A., Ph. D., मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण, धर्मशास्त्राचार्य, लेक्चरर, गंगानाथ झा केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद,

४. डॉ० कु० सुश्री० कमला पाण्डेय M. A., Ph. D., लेक्चरर, वसन्त कालेज, कमच्छा, वाराणसी,

५. डॉ० श्री कपिलदेव पाण्डेय, M. A., Ph. D. लेक्चरर, आर्य महिला महाविद्यालय, वाराणसी,

उपर्युक्त मेरे हितैषी प्रिय छात्रों ने अपने उचित विचार-विमर्श के द्वारा लेखन कार्य में मेरी बड़ी सहायता की है। तदर्थ उन्हें अभ्युदय कारक हार्दिक आशीर्वाद दे रहा हूँ। उसी तरह श्रीरामशास्त्री मुसलगाँवकर M. A. (संस्कृत, समाजशास्त्र, हिन्दी), डॉ० श्यामराव केशवराव मुसलगाँवकर M.A., Ph.D., डॉ० दामोदर माधव शास्त्री मुसलगाँवकर, M. A., Ph. D., डॉ० श्रीकृष्ण भालचन्द्रशास्त्री मुसलगाँवकर, M. A., Ph. D,. कु० मीनाक्षी मुसलगाँवकर M. A. और कु० शुभा मुसलगाँवकर इन—पारिवारिक सन्तानों ने भी इस लेखनकार्य के साहित्य संग्रहादि कार्यों में प्रसन्नता पूर्वक बड़ी सहायता की है। अतः इन सभी विद्यावंश तथा पितृवंश के सन्तानों को अभ्युदयकारक हार्दिक आशीर्वाद दे रहा हूँ।

इस ग्रन्थ के अन्त में रेखाचित्र, विषय-सूची, लक्षण-सूची, प्रूफ-संशोधन आदि कार्यों में अत्यन्त उत्साहपूर्वक श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठ्यारी जी M. A. ने महान् परिश्रम किया है। उन्हें जितने भी धन्यवाद दिये जाँय, वे न्यून ही प्रतीत हो रहे हैं, तथापि उस न्यूनता की पूर्ति मैं उन्हें अनेकानेक अभ्युदय-कारक हार्दिक आशीर्वाद देकर कर रहा हूँ। नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र उन्हें विविध सुख-समृद्धि-प्रदानकर शतायु करें।

—गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर



विषयानुक्रमणिका

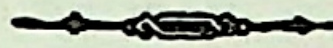
□

॥ श्रीः ॥

श्रीमत्केशवमिश्रविरचिता

तर्कभाषा

'माधुरी'-हिन्दीव्याख्योपेता



उपोद्घातः

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशम्, अल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा, प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ॥

अन्वयः—यः अलसः बालः अल्पेन श्रुतेन अपि न्यायनये प्रवेशं वाञ्छति, तस्य कृते मया एषा संक्षिप्तयुक्त्यन्वित-तर्कभाषा प्रकाश्यते ।

अर्थः—**यः** जो, **अलसः** आलसी, **बालः** बालक, **अल्पेन** स्वल्प, **श्रुतेन** अध्ययन से **अपि** ही, **न्यायनये** न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों में **प्रवेशम्** प्रवेश, **वाञ्छति** चाहता है, **तस्य कृते** उसके लिये, **मया** मेरे द्वारा, **एषा** यह **संक्षिप्त-युक्त्यन्वित-तर्कभाषा** संक्षिप्त-युक्तियों से युक्त 'तर्कभाषा' नामक प्रकरण-ग्रन्थ **प्रकाश्यते** प्रकाशित (निर्माण) किया जा रहा है ।

माधुरी

अनुबन्धचतुष्टय—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इस उक्ति के अनुसार यह स्पष्ट है कि निष्फल कार्य में कोई प्रवृत्त नहीं हुआ करता । अत एव यह भारतीय शिष्ट परम्परा चली आ रही है कि संस्कृत के विद्वान् निर्मीयमाण ग्रन्थ के आरंभ में ही **अनुबन्धचतुष्टय** (चार अनुबन्धों) को बता दिया करते हैं, जिससे **'प्रयोजन'** का ज्ञान अनायास ही हो जाता है, और अध्येता की ग्रन्थाध्ययन में प्रवृत्ति होती है । **निरुक्तकार** ने भी **'मनुष्य'** शब्द का निर्वचन [1]**'मत्वा कर्माणि सीव्यति'** किया है । बिना विचार किये या बिना सोचे समझे मनुष्य किसी कार्य को नहीं करता, यह अनुभव भी है । जब मनुष्य समझ लेता है कि—अमुक काम के करने से मेरा 'इष्ट' (अभिलषित) सिद्ध (प्राप्त) हो सकता है, यह 'कार्य' (काम) मेरे इष्ट का साधन है, अर्थात् **'इदं (कार्यम्) मदिष्टसाधनम्'** । इतना ही नहीं साथ ही साथ यह भी जब समझ लेता है कि—इस

---

१. निरुक्त ३।१।७ ।

'कार्य' को मैं कर सकता हूँ, अर्थात् **'इदं (कार्यम्) मत्कृतिसाध्यम्'**, तभी वह किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार सोचना मानव-स्वभाव है। उपर्युक्त दो आकार के---'इदं मदिष्टसाधनम्' तथा 'इदं मत्कृतिसाध्यम्'---ज्ञानों से ही अनुबन्धचतुष्टय का ज्ञान अनायास हो जाता है। जैसे---'इदम्' शब्द से (१) **विषय** का ज्ञान, 'मत्' शब्द से (२) **अधिकारी** का ज्ञान, 'इष्ट' शब्द से (३) **प्रयोजन** (फल) का ज्ञान, एवं 'साधन' या 'साध्य' शब्द से (४) **सम्बन्ध** का ज्ञान होता है। अर्थात् (१) विषय, (२) अधिकारी, (३) प्रयोजन, और (४) सम्बन्ध इन चारों का नाम 'अनुबन्धचतुष्टय' है। प्रवर्तक ज्ञान (प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान) के विषय को 'अनुबन्ध'[1] कहते हैं। 'इदं मदिष्टसाधनम्' यही ज्ञान, प्रवर्तक (प्रवृत्ति कराने वाला) ज्ञान है, इस ज्ञान के विषयभूत उक्त चारों अनुबन्ध (विषय, अधिकारी, प्रयोजन और सम्बन्ध) होते हैं, इस कारण इन चारों को 'अनुबन्ध-चतुष्टय' कहते हैं। किसी भी ग्रन्थ के अनुबन्धचतुष्टय का ज्ञान होने पर उस ग्रन्थ के अध्ययन में मनुष्य की प्रवृत्ति बड़े उत्साह के साथ होती है। **भट्टपाद** ने भी—

"सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥"[2]

इस वार्तिक से 'अनुबन्धचतुष्टय' के बताने का समर्थन किया है। इस भारतीय परिपाटी के अनुसार **'तर्कभाषा'** ग्रन्थ के रचयिता **श्री केशवमिश्र** ने भी **'बालोऽपि यो०'** श्लोक के द्वारा आरम्भ में ही ग्रन्थरचना का प्रयोजन बता दिया है। 'न्यायशास्त्र' के सिद्धान्तों का अत्यन्त सरलता से ज्ञान (परिचय करा देना ही इस ग्रन्थ निर्माण का **प्रयोजन** (उद्देश्य) है। तथा न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य 'प्रमाण-प्रमेयादि सोलह पदार्थ' ही इस ग्रन्थ के **विषय** हैं। न्यायशास्त्र में प्रवेश चाहने वाला अर्थात् 'न्याय-शास्त्र के सिद्धान्तों' का ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति, इस ग्रन्थ के अध्ययन का **अधिकारी** है। एवं 'ग्रन्थ' का उसके 'प्रतिपाद्य विषय' के साथ 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव' **सम्बन्ध** है, तथा 'अधिकारी' के साथ 'बोध्य-बोधकभाव' **सम्बन्ध** है। इस प्रकार प्रारम्भिक श्लोक के द्वारा ही अनुबन्धचतुष्टय को अभिव्यक्त किया गया है।

केशव मिश्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम **'तर्कभाषा'** बताया है। इस नामकरण से ही ज्ञात हो जाता है कि उक्त [3]प्रकरणग्रन्थ में न्यायशास्त्र के प्रमाणादि सोलह पदार्थों

---

१. 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम्'—अनुबन्धत्वम्।

२. मीमांसाश्लोकवार्तिक १।१७।

३. 'शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥"

--पाराशर-उपपुराण, अ० २८, २१।

की व्याख्या की गई है क्योंकि विभिन्न व्याख्याकारों[1] ने 'तर्क्यन्ते—प्रतिपाद्यन्ते' इति तर्काः—'प्रमाणादयः षोडशपदार्थाः' इस प्रकार बताकर 'तर्क' शब्द का अर्थ 'प्रमाणादि-षोडशपदार्थ' किया है। एवं च 'तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते, इति तर्काः (प्रमाणादयः षोडश-पदार्थाः), ते भाष्यन्ते अनया इति तर्कभाषा' अर्थात् प्रमाणादि षोडशपदार्थों की व्याख्या करने के कारण इस ग्रन्थ का नाम 'तर्कभाषा' रखा गया है। यह ग्रन्थ 'यथा नाम तथा गुणः' उक्ति को चरितार्थ कर रहा है।

पद्य में दिये गये 'बाल' शब्द से स्तन पान करने वाला अबोधबालक (शिशु) नहीं समझना, अपि तु बताये जाने वाले विषय को समझने की तथा धारण करने की योग्यता कराने वाले काव्य, कोष, व्याकरण का अध्ययन किये हुए किन्तु न्यायशास्त्र का अध्ययन न किये हुए तज्जिज्ञासु व्यक्ति को यहाँ पर 'बाल' शब्द से विवक्षित किया गया है। व्याख्याकारों ने इसी आशय से 'बाल' शब्द की परिभाषा 'अधीत-काव्य-कोष-व्याकरण कलापः किन्त्वनधीतन्यायशास्त्रो बालः' की है। 'अलसः' शब्द से यह सूचित किया है कि विद्याध्ययन का कठोर परिश्रम तो लोहे के चने चबाने के तुल्य होता है। उससे न घबड़ाने वाले जिज्ञासु अध्येता तो विरले ही होते हैं। तथापि घबड़ाने वाले जिज्ञासुओं की ही संख्या अधिक होती है, परन्तु शिष्यवत्सल गुरुचरण की दयालुता-वत्सलता तो जडमति और प्रखरमति दोनों ही छात्रों पर समान रहती है। वे शिष्यवत्सल गुरु, अहर्निश चाहते रहते हैं कि इस जड़मति छात्र का भी शास्त्र में प्रवेश किसी प्रकार हो जाय, तदर्थ वे प्रयत्नशील रहते हैं, विविध युक्तिप्रत्युक्तियों का प्रयोग करते रहते हैं। इस प्रकार के आलसी, कठोर-परिश्रम से जी चुराने वाले बालक का भी 'अल्पेन श्रुतेन अपि' स्वल्प अध्ययन से ही न्यायशास्त्र में प्रवेश करा देने के इच्छुक ग्रन्थकार संक्षिप्त युक्तियों से समन्वित इस 'तर्कभाषा' नामक ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहे हैं। न्याय के सिद्धान्तों का अनायास ज्ञान करा देना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है॥ १॥

'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'[2]

इति न्यायायस्यादिमं सूत्रम्।

अस्यार्थः। प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति। न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तावद्भवति यावदेषामुद्देशलक्षणपरीक्षा न क्रियन्ते। यदाह भाष्यकारः—

१. गोवर्धन : तर्कभाषा-प्रकाशिका—'तर्काः षोडशपदार्थाः।'
   अन्नंभट्ट : तर्कसंग्रहदीपिका— ,, ,, ,, ।
   जगदीश तर्कालङ्कार : तर्कामृत— ,, ,, ,, ।

२. गौ० न्या० सू० १।१।१।

'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति'[1] ।

उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम् । तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम् । लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम् । यथा गोः सास्नादिमत्त्वम् । लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा । तेनैते लक्षणपरीक्षे प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थं कर्तव्ये ।

अत एव ग्रन्थकार न्यायशास्त्र के प्रथम सूत्र को प्रदर्शित करते हुए अपने 'तर्कभाषा' ग्रन्थ का आरम्भ इस प्रकार कर रहे हैं—

प्रमाणेति । (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, (१६) निग्रहस्थान—इन 'पदार्थों के तत्त्वज्ञान' से **निःश्रेयस** की प्राप्ति होती है ।

इतीति । यह 'न्यायशास्त्र' का प्रथम (आरम्भ) सूत्र है ।

इसका अर्थ यह है कि 'प्रमाण-प्रमेय आदि' सोलह पदार्थों के 'तत्त्वज्ञान' से **मोक्ष** की प्राप्ति होती है ।

न चेति । 'प्रमाण-प्रमेय' आदि षोडश (सोलह) पदार्थों का तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान यानी सम्यक् ज्ञान) तब तक नहीं हो पाता, जब तक उनके (१) **उद्देश,** (२) **लक्षण** और (३) **परीक्षा** को नहीं किया जाता । 'न्यायशास्त्र' (न्यायदर्शन) के भाष्यकार **वात्स्यायन** ने कहा भी है—

त्रिविधेति । 'इस न्यायशास्त्र' की प्रवृत्ति **तीन प्रकार से** होती है—(१) उद्देश, (२) लक्षण और (३) परीक्षा ।

उद्देशस्त्विति । नाम मात्र से पदार्थ (वस्तु) के कथन को **'उद्देश'** कहते हैं । वह 'उद्देश' (नाम मात्र से वस्तु का संकीर्तन यानी कथन) न्यायशास्त्र के इसी 'प्रमाण-प्रमेयादिरूप' प्रथम सूत्र से कर दिया गया है ।

लक्षणन्त्विति । असाधारणधर्म के कथन को **'लक्षण'** कहते हैं । जैसे—सास्नादिमत्त्व' यानी सास्नादिमान् होना (गलकम्बलवाली होना) 'गौ' का लक्षण है ।

लक्षितस्येति । जिसका लक्षण किया गया है, उसका (लक्षित वस्तु का) 'वह लक्षण' ठीक है या नहीं ? इसे विचारना **'परीक्षा'** कहलाता है । इसलिये प्रथम सूत्र के द्वारा 'उद्देश' बताने के पश्चात् अब आगे उन प्रमाणादि पदार्थों के 'तत्त्वज्ञान' (यथार्थ ज्ञान) के लिये उन प्रमाणादि पदार्थों के **लक्षण** और उनकी **परीक्षा** करना उचित है ।

माधुरी

त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति—

'उद्देशो लक्षणं परीक्षा च' इस भाष्य में उल्लिखित 'उद्देश' शब्द का अर्थ है—

---

१. न्या० सू० भा० १।१।२ ।

केवल नाम बताकर 'वस्तु' का कथन करना। जैसे—'प्रमाण, प्रमेय, संशय', आदि केवल नाम से ही वस्तु को बताया गया है। इसीलिये **'उद्देश'** का लक्षण 'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम्' किया गया है। इस लक्षण में 'नाम-मात्र-वस्तुसंकीर्तनम्' इतने पद हैं। इनमें से किसी एक पद को भी हटा दिया जाय तो लक्षण गड़बड़ा जायेगा। सब का अपना-अपना एक विशिष्ट प्रयोजन है। यदि इस लक्षण में से 'मात्र' पद (शब्द) को हटा दें तो 'नाम्ना वस्तुसंकीर्तनम्' इतना ही लक्षण रहेगा। तब वह 'लक्षण', 'प्रमाण' के लक्षण 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' में भी चला जायेगा, क्योंकि 'प्रमाण के लक्षण' में भी नाम लेकर 'प्रमाण' पदार्थ (वस्तु) को बताया गया है। इस प्रकार 'उद्देशलक्षण' की अतिव्याप्ति हो जायेगी। किन्तु जब हम 'उद्देशलक्षण' में 'मात्र' पद को रख देते हैं। तब वह 'प्रमाण' के लक्षण में नहीं जायेगा, क्योंकि 'प्रमाण' के लक्षण में केवल नाम-मात्र से 'प्रमाण' को नहीं बताया है, बल्कि 'प्रमाण' पदार्थ के 'स्वरूप' का भी कथन किया गया है।

यदि इस 'उद्देशलक्षण' में 'नाममात्रेण' यह संपूर्ण पद ही न रखें तो 'वस्तुसंकीर्तनम्' इतना ही लक्षण बचेगा। तब इस लक्षण की 'लक्षण और परीक्षा' में भी अतिव्याप्ति होगी क्योंकि 'वस्तु' का निरूपण (कथन) तो वहाँ (लक्षण और परीक्षा के लक्षण में) भी होता है। किन्तु 'नाममात्रेण' पद रखने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ केवल 'नाममात्र' से वस्तु को नहीं बताया जा रहा है, अपितु उसका 'लक्षण' भी बताया जा रहा है। अच्छा, यदि लक्षण में से 'वस्तु' शब्द को निकाल दें तो 'नाममात्रेण संकीर्तनम्' इतना ही लक्षण रहेगा। तब जहाँ कहीं भी 'प्रमाण आदि' के नामों का उल्लेख रहेगा, वहाँ पर भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। अर्थात् प्रमाणादि नामों के उल्लेखमात्र को भी 'उद्देश' शब्द से कहना होगा। इसलिये 'वस्तु' पद को लक्षण में रखा गया है। जिससे अतिव्याप्ति नहीं होती। 'संकीर्तनम्' में से 'सं' शब्द को हटा दें तो किसी अन्य वस्तु के नाम से किसी वस्त्वन्तर के कथन को भी 'उद्देश' कहा जायेगा। किन्तु 'सं' शब्द के होने पर जो अन्य वस्तु के नाम से वस्त्वन्तर कथन है, वह सम्यक् न होने से वह 'उद्देश' नहीं कहा जायेगा। एवं च **'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम्'** यह निर्दुष्ट लक्षण 'उद्देश' का बनाया गया है। शास्त्र के उसी अंश को 'उद्देश' कहते हैं, जहाँ प्रथमतः किसी पदार्थ का नामग्रहणपूर्वक **निर्देश** किया जाता है। इसीलिये 'उद्देश' का अर्थ **'उपदेश-देश'** किया जाता है। इस प्रकार न्यायशास्त्र के आरम्भ सूत्र में 'प्रमाण-प्रमेय' आदि पदार्थों का नाममात्र बताकर जो उपदेश किया गया है, वह न्यायशास्त्र की 'उद्देशात्मक प्रवृत्ति' का उदाहरण है। ग्रन्थकार ने यह 'उद्देशलक्षण', भाष्यकार वात्स्यायन के उद्देशलक्षण (तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः—न्या० भा० १।१।२) को ध्यान में रख कर किया है।

लक्षण का लक्षण—

भाष्यकार एवं ग्रन्थकार के द्वारा उल्लिखित 'उद्देश' के लक्षण का विचार करने के पश्चात् 'लक्षण' शब्द पर विचार कर लें। 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'लक्षण कथन', और 'लक्षणकथन' का अर्थ है 'असाधारण धर्म का प्रतिपादन'। एवं च **लक्षण का लक्षण** यह हुआ **'असाधारणधर्मवचनम्'**। किसी भी 'वस्तु' (पदार्थ) के लक्षण करने का प्रयोजन (आवश्यकता) यह है कि 'इतर से लक्षित वस्तु की व्यावृत्ति करना' और 'व्यवहार को प्रवृत्त करना।' जैसे— 'गौ' के लक्षण करने का प्रयोजन (आवश्यकता) गौ के 'समानजातीय महिषादि चतुष्पद' और उसके 'विजातीय (असमान जातीय) चतुष्पदभिन्न प्राणी' तथा 'अचेतन पदार्थों' से उसको अलग करना ही है। इसी को 'समानाऽसमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः' कह कर बताया है। यही 'असाधारण धर्म' (लक्षण) **'गो'** शब्द के व्यवहार का प्रवर्तक होता है। एवं च **'इतर व्यावृत्ति'** और **'व्यवहार'**—ये दो प्रयोजन, लक्षण से निष्पन्न होते हैं। 'असाधारण धर्म' अर्थात् विशेषधर्म उसे कहते हैं, जो केवल अपने 'लक्ष्य' (जैसे–गौ) में रहे। जो धर्म, लक्षण के 'लक्ष्य' के अतिरिक्त (भिन्न) अलक्ष्यभूत महिषादि पशुओं में भी पाया जाय तो उसे 'लक्षण' शब्द से नहीं कहा जायेगा। क्योंकि वह 'धर्म' अतिव्याप्त हो रहा है। अर्थात् 'अतिव्याप्ति' दोष से दूषित हो गया है। अत एव **'अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः'** जो धर्म अलक्ष्य यानी लक्ष्य से भिन्न में रहे वह **'अतिव्याप्ति'** दोष से ग्रस्त हो जाने से 'लक्षण' नहीं कहलाता है। जैसे—'शृङ्गित्वं गोर्लक्षणम्' अर्थात् 'शृङ्ग होना' ही यदि 'गो' का लक्षण कहें, तो लक्ष्यभूत 'गो' से भिन्न अर्थात् अलक्ष्यभूत महिषादि पशुओं को भी शृङ्ग (सींग) होते हैं। अतः 'शृङ्गित्व' धर्म, **'गो'** का 'असाधारण धर्म' (विशेष धर्म) नहीं कहलाया। इसलिये 'शृङ्गित्व' यह लक्षण, अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। अतः 'शृङ्गित्व' को गौ का लक्षण नहीं कह सकते। अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु का जब लक्षण बनाया जाय, तब यह ध्यान रखना होगा कि वह अतिव्याप्ति दोष से दूषित न हो पाये। अर्थात् अतिव्याप्तिदोष-रहित 'लक्षण' बनाना चाहिये।

साथ ही साथ यह भी ध्यान देना होगा कि जो लक्षण हम बना रहे हैं, वह हमारे सम्पूर्ण लक्ष्य में पूर्णतया व्याप्त होना चाहिए। वह **अव्याप्त** अर्थात् हमारे सम्पूर्ण लक्ष्य में कहीं रहे और कहीं न रहे, ऐसा नहीं होना चाहिये। इसीलिये अव्याप्ति का स्वरूप **'लक्ष्यैकदेशाऽवृत्तित्वम्'** बताया जाता है। अर्थात् हमारे लक्ष्यभूत वस्तु का असाधारण धर्म (लक्षण) लक्ष्य के किसी एक देश (भाग) में रहे और अन्य देश (भाग) में न रहे, ऐसा नहीं होना चाहिये। क्योंकि उसका (लक्षण) इस प्रकार से अव्याप्त रहना 'अव्याप्ति' दोष कहलाता है। जैसे—'शाबलेयत्वं

गोर्लक्षणम्' अर्थात् चितकबरापन गाय का लक्षण कहें, या 'कृष्णवर्णवत्त्वं या शुक्लवर्णवत्त्वं गोर्लक्षणम्' अर्थात् 'काले रंग की या सफेद रंग की होना'—गाय का लक्षण करें तो यह लक्षण 'अव्याप्ति' दोष से दूषित कहा जायेगा। क्योंकि कुछ गौएँ काले रंग की अथवा सफेद रंग की होती हैं, किन्तु कितनी ही गौएँ काली या सफेद नहीं भी होती हैं। अतः 'कृष्णवर्णवत्त्व या शुक्लवर्णवत्त्व या शाबलेयत्व'—ये सब लक्षण, अव्याप्तिदोष से दूषित हैं, इसलिये इन्हें 'गाय' का लक्षण नहीं कह सकते। क्योंकि ये लक्षण, 'लक्ष्य' के एकदेश में रहते हैं। किन्तु 'लक्ष्य' के अन्य देश (भाग) में नहीं रहते। अतः किसी भी वस्तु का लक्षण जो बनाया जाय, उसे सम्पूर्ण लक्ष्य में व्याप्त होकर ही रहना चाहिये। अन्यथा वह अव्याप्तिदोष से दूषित कहलाता है।

इसी प्रकार 'लक्षण' को 'असम्भव' दोष से बचाते रहना चाहिये। **असम्भव** दोष उसे कहते हैं, जो 'लक्षण', अपने लक्ष्य में ही न रहे—**लक्ष्यमात्राऽवृत्तित्वम-संभवः'**। जैसे 'एक शफवत्त्वं गोर्लक्षणम्'=जो एक शफ (खुर) वाली यानी बिना चिरे खुर वाली हो, उसे 'गाय' कहते हैं। किन्तु यह लक्षण 'असंभव' दोष से दूषित है। क्योंकि 'गाय' के खुर तो बीच से चिरे (फटे) होते हैं। एक शफ (खुर) वाली 'गाय' तो कहीं भी नहीं होती। एक शफ का प्राणी 'गर्दभ' या 'अश्व' हुआ करता है। अतः 'एक शफवत्त्व' यह असाधारण धर्म (लक्षण) हमारे 'लक्ष्य-मात्र' (सम्पूर्ण गो-मात्र) में उपलब्ध न होने से असंभव दोष से दूषित है। तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु का लक्षण जो बनाया जाय, वह **अतिव्याप्ति, अव्याप्ति,** और **असम्भव** इन तीनों दोषों से रहित होना चाहिये। अत एव **'अतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवेतिदोषत्रयरहितोऽसाधारण-धर्मो लक्षणम्'** यह 'लक्षण' का लक्षण बताया जाता है। 'लक्षण' बनाने वाले को 'लक्षण' बनाते समय यह सावधानी रखनी चाहिये कि उसका बनाया हुआ लक्षण 'अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव' इन तीनों दोषों से सर्वथा रहित रहे। 'गो' में 'सास्नादिमत्त्व' यही एक 'असाधारण धर्म' विद्यमान है। जो समस्त गौओं में पाया जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य-कहीं भी नहीं पाया जाता। अतः यही एक धर्म ऐसा है, जिसे 'अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव' इन 'तीनों दोषों' से रहित होने के कारण 'गाय' का लक्षण बताना सर्वथा उचित है। अत एव **'सास्नादिमत्त्वं गोर्लक्षणम्'** = गलकम्बल वाली जो हो उसे गाय कहा गया है। इसलिये **'सास्नादिमत्त्वं'** यह निर्दुष्ट (दोषरहित) लक्षण गाय का बताया जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि विदेशी गायों में 'उक्त-लक्षण' अव्याप्त होता है। क्योंकि उन में 'गलकम्बल' (सास्ना) नहीं पाया जाता। इसके समाधानार्थ हम यह कह सकते हैं कि वह विदेशी पशु 'गाय' जैसा ही कोई अन्य पशु होगा, जिसे वे लोग 'गाय' शब्द से कहते होंगे। यह कहने से हमारे लक्षण में कोई दोष नहीं होगा। अतः 'सास्नादिमत्त्वं गोर्लक्षणम्' सास्नावाली गौ होती है, यही समझना चाहिये।

उपर्युक्त 'अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव' इन तीन दोषों के जो लक्षण क्रमशः 'अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः,' 'लक्ष्यैकदेशाऽवृत्तित्वमव्याप्तिः,' और 'लक्ष्यमात्राऽवृत्तित्वमसंभवः' बताये गये हैं, उन्हीं को प्रौढ़ नैयायिक विद्वान् दूसरे शब्दों में क्रमशः इस प्रकार कहा करते हैं—**'लक्ष्यतावच्छेदकाभावसमानाधिकरणत्वम्—अतिव्याप्तिः'**। जैसे—हमारी 'लक्ष्य' (जिस का लक्षण बनाने जा रहे हैं) 'गो' (गाय) है, लक्ष्यता 'गो' में रहेगी, और लक्ष्यतावच्छेदक–धर्म 'गोत्व' होगा। तब लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व रूप धर्म केवल गो (गाय) में ही रहेगा। उसका (गोत्व का) अभाव 'गो' से भिन्न महिषादि पशुओं में रहेगा। जिन पशुओं में वह 'अभाव' रहेगा, वे (पशु) उस 'अभाव' के अधिकरण (आधार) कहलायेंगे। अतः लक्ष्यतावच्छेदक (गोत्व) के अभाव के अधिकरणभूत (गो भिन्न) अन्य पशुओं में लक्षण का पाया जाना ही 'अतिव्याप्ति' दोष शब्द से कहा गया है। 'शृङ्गित्व' (सींग वाली होना) इस लक्षण (गाय का लक्षण धर्म) का अधिकरण गाय के अतिरिक्त (गोभिन्न) अन्यान्य 'महिषादि पशु' भी हैं, और 'लक्ष्यतावच्छेदक के अभाव' के अधिकरण भी वे पशु हैं। अतः 'शृङ्गित्व धर्म' और 'लक्ष्यतावच्छेदक (गोत्व) के अभाव' दोनों का अधिकरण समान (एक) ही हैं। दोनों का 'अधिकरण समान' (एक) होने से अतिव्याप्ति दोष होता है। इसलिये 'शृङ्गित्व' यह लक्षण, 'गो' का नहीं कह सकते।

इसी तरह 'लक्ष्यैकदेशाऽवृत्तित्वम्—अव्याप्तिः' इस अव्याप्ति के लक्षण को दूसरे शब्दों में—**'लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाऽभावप्रतियोगित्वम्—अव्याप्तिः'** भी कह सकते हैं। जिसका अर्थ यह होगा कि 'लक्ष्यतावच्छेदक' (गोत्व) के किसी 'अधिकरण' (आश्रय) में रहने वाले 'अभाव' का प्रतियोगी होना ही 'अव्याप्ति दोष' कहलाता है। जैसे 'शाबलेयत्व' = चितकबरापन, या 'कृष्णत्व' अथवा 'शुक्लत्व' को यदि गो का लक्षण कहें तो वह (लक्षण) अव्याप्तिदोष से दूषित होगा। क्योंकि 'शाबलेयत्व', या 'कृष्णत्व' अथवा 'शुक्लत्व', हमारे लक्ष्यभूत गोसमुदाय के किसी 'गो' में शाबलेयत्व है, तो किसी 'गो' में शुक्लत्व है, तो किसी 'गो' में कृष्णत्व होता है। 'सम्पूर्ण गोसमुदाय' में न शाबलेयत्व है, न कृष्णत्व है और न शुक्लत्व ही है। अर्थात् कोई गाय शाबलेय (चितकबरी) तो कोई गाय शुक्ल, तो कोई गाय कृष्ण (काली) हुआ करती है। कुछ गायों के रंग का अभाव कुछ गायों में दिखाई देता है। कोई गाय चितकबरी तो कोई गाय लाल, कोई काली, कोई सफेद होती है। किन्तु 'लक्ष्यतावच्छेक' जो 'गोत्व' धर्म है वह 'सम्पूर्ण गो समुदाय' पर रहता है। अतः 'लक्ष्यतावच्छेक गोत्व' का अधिकरण यदि हम शाबलेय गौ को कहें तो उसमें 'शुक्लवर्ण' का (शुक्लत्व का) अभाव रहेगा, यदि हम 'लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व' का अधिकरण शुक्ल गो को कहें तो वहाँ 'कृष्णत्व' का अभाव रहेगा। अतः 'लक्ष्यतावच्छेदक समाना-

धिकरण' किसी न किसी वर्ण का अभाव अवश्य ही रहेगा। अर्थात् 'लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व' का और किसी न किसी वर्ण (रंग) के अभाव का 'अधिकरण एक ही' होगा। इसलिये 'लक्ष्यतावच्छेदक के समानाधिकरण' वाला किसी न किसी वर्ण का अभाव रहेगा। और 'जिस वर्ण (रंग) का अभाव' रहेगा, उस अभाव का प्रतियोगी, वही वर्ण कहलायेगा। 'उस वर्ण' में 'लक्ष्यतावच्छेदक समानाधिकरणाभावप्रतियोगित्व' के रहने से 'शाबलेयत्व', 'कृष्णत्व', 'शुक्लत्व' आदि लक्षण की हमारे लक्ष्यभूत 'गो समुदाय' में व्याप्ति न हो पाने से 'ये लक्षण' अव्याप्तिदोष से दूषित हो जाते हैं। अतः शावलेयत्व, कृष्णत्व, शुक्लत्व आदि लक्षण भी 'गो' के नहीं कहे जा सकते हैं।

तीसरा दोष **'असंभव'** है। इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि वह लक्षण में न आने पाये। असंभव दोष का स्वरूप 'लक्ष्यमात्राऽवृत्तित्वम्—असम्भवः'। बताया गया है। उसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं—**'लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्—असम्भवः'** 'लक्ष्यताच्छेदक' के **व्यापक अभाव** का 'प्रतियोगी' होना ही **'असंभव दोष'** कहलाता है। जैसे—लक्ष्यतावच्छेदक 'गोत्व धर्म', अपने सभी आश्रयों (गौओं) में रहता है, और वहीं पर (सभी गौओं में) **'एक शफत्व'** का अभाव भी रहता है (क्योंकि सभी गौओं के खुर = शफ, चिरे = फटे रहते हैं। विना फटा एक शफ तो 'गधे' या 'घोड़े' का ही होता है)। अतः 'एकशफत्व का अभाव', लक्ष्यतावच्छेदक 'गोत्व' का व्यापक है। क्योंकि 'जहाँ जहाँ लक्ष्यतावच्छेदक' है, 'वहाँ-वहाँ एक शफत्व' का अभाव है और वह 'एक शफत्व' अपने **अभाव का प्रतियोगी** है। इसलिये 'एकशफत्वं' यह गो का लक्षण असंभव दोष से युक्त है। इसलिये यह लक्षण भी ठीक नहीं है। अतः किसी भी वस्तु का लक्षण इस प्रकार बनाना चाहिये, जो निर्दुष्ट हो। एवं च **'अतिव्याप्ति-रहितत्वे सति, अव्याप्तिरहितत्वे सति असम्भवरहितधर्मत्वं लक्षणत्वम्'** 'अतिव्याप्ति', 'अव्याप्ति' और 'असंभव' तीनों दोषों से रहित जो धर्म हो, वही लक्षण कहलाने योग्य होता है। उसी को 'असाधारण-धर्म' (विशेषधर्म) कहते हैं, अर्थात् जो 'सम्पूर्ण लक्ष्य पदार्थों' में ही व्याप्त होकर रहता है, उसी को **असाधारण धर्म** कहते हैं। वह 'असाधारण धर्म', कभी भी अलक्ष्य में नहीं रहता है। इसी को हम दूसरे शब्दों में **'लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्'** कह सकते हैं। जो धर्म, लक्ष्यतावच्छेदक का समनियत होता है, उसी को 'लक्ष्यभूत पदार्थ' (वस्तु) का 'असाधारण धर्म' यानी **लक्षण** कहते हैं। जैसे—'सास्नादिमत्त्वं अर्थात् गलकम्बलवत्त्वम्' यह लक्षण 'गाय' का करते हैं, तो 'गो' को हम लक्ष्य समझते हैं और 'सास्नादिमत्त्व या गलकम्बलवत्त्व' उसका लक्षण कहते हैं। क्योंकि 'गो' तो लक्ष्य है, उसमें लक्ष्यता रहेगी। जैसे—'मनुष्य' में मनुष्यता रहती है। उस लक्ष्यता का 'अवच्छेदक' (नियामक-मर्यादक) धर्म 'गोत्व' होगा। वह गोत्व 'लक्ष्यभूत संपूर्ण गौओं' में रहता है। 'गो' से अतिरिक्त

महिषादि अलक्ष्य पदार्थों में वह नहीं रहता। 'सास्नादिमत्त्व या गलकम्बलवत्त्व' (सास्नात्व या गलकम्बलत्व), लक्ष्यतावच्छेदक 'गोत्व' का **समनियत धर्म** है। क्योंकि **'तद्व्याप्यत्वे सति तद्व्यापकत्वं तत्समनियतत्वम्'**—इस नियम के अनुसार जो 'जिसका व्याप्य होता हुआ व्यापक भी होता है', वह उसका **समनियत धर्म** कहलाता है। जैसे—गलकम्बल (सास्ना), गोत्व का व्याप्य है, क्योंकि 'यत्र-यत्र गलकम्बलत्वं तत्र-तत्र गोत्वम्' जहाँ-जहाँ 'गलकम्बल' होगा, वहाँ-वहाँ 'गोत्व' अवश्य ही रहेगा। इस **व्याप्य-व्यापकभाव के नियम** के अनुसार 'सास्ना' (गलकम्बल), गोत्व की 'व्याप्य' होती हुई उसकी (गोत्व की) 'व्यापक' भी है। क्योंकि जिसमें 'गोत्व' नहीं रहेगा, वहाँ 'सास्ना' (गलकम्बल) भी नहीं रहेगी, जैसे महिषादिपशुओं में। 'यत्र-यत्र गोत्वाभावः तत्र-तत्र सास्नादिमत्त्वाभावः' अर्थात् जो-जो 'गोत्व का आश्रय' होगा, सभी में 'सास्ना' अवश्य रहेगी। इस रीति से 'सास्ना', गोत्व की व्यापक भी होती है। अतः सास्ना में गोत्व की व्याप्यता और व्यापकता' दोनों रहने से 'सास्ना' को 'गोत्व' का (लक्ष्यतावच्छेदक का) **समनियत धर्म** कहते हैं। और 'समनियत होने से ही' सास्नादिमत्त्व को 'गो' का **लक्षण** कहते हैं। अभिप्राय यह है कि **'अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्'** अथवा **'लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्'** अथवा **'असाधारणधर्मवचनम् लक्षणम्'** ये तीनों ही 'लक्षण' के **लक्षण** कहे जा सकते हैं।

उक्त दोषों के अतिरिक्त 'कुछ अन्य दोष' भी **लक्षण** में उपस्थित हुआ करते हैं। जैसे—(१) **आत्माश्रय**, (२) **अन्योन्याश्रय**, (३) **चक्रक**, (४) **अप्रसिद्धि** आदि।

(१) **आत्माश्रय—'स्वज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वम् आत्माश्रयः'**। किसी वस्तु का अपने ज्ञान के निमित्त अपेक्षणीय अन्य ज्ञान का विषय बन जाना **आत्माश्रय दोष** कहलाता है। जब किसी लक्षण का निर्वचन करते समय उसके ज्ञान में उसी का ज्ञान अपेक्षित रहता है, तब यह दोष होता है। यदि हम **'गो'** का लक्षण **'गोभिन्नाऽवृत्तित्वे सति गोमात्रवृत्तिजातिमत्त्वं गोर्लक्षणम्'** गाय से भिन्न में न रहने-वाली और सम्पूर्ण गौओं में रहने वाली जाति जिसमें हो वह गाय है।—यह करें तो इसमें आत्माश्रयदोष होगा, क्योंकि 'गो' के लक्षण में ही 'गो' का प्रवेश होने से 'गो' के ज्ञान में 'गो' का ही ज्ञान अपेक्षित हो रहा है। इस आत्माश्रय दोष के कारण यह लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि 'अपेक्षणीय ज्ञान' के अभाव में 'अपेक्षक ज्ञान' का होना कदापि सम्भव नहीं है।

(२) **अन्योऽन्याश्रय—'स्वज्ञानसापेक्षज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वम्—अन्योऽन्याश्रयः।'** किसी वस्तु के ज्ञान के लिये 'अपेक्षणीय ज्ञान' के निमित्त 'अपेक्षित ज्ञान' का विषय बन जाना, **अन्योऽन्याश्रय दोष** कहलाता है। अर्थात् किसी वस्तु की ज्ञानप्राप्ति

में अपेक्षणीय ज्ञान को उस वस्तु के ही ज्ञान की अपेक्षा रहना, **अन्योऽन्याश्रय दोष** है। जैसे—'महिषभिन्नत्वं गोत्वं, गोभिन्नत्वं च महिषत्वम्' इस लक्षण में 'गोत्व ज्ञान' के लिये 'महिषत्व ज्ञान' की अपेक्षा और 'महिषत्वज्ञान' के लिये 'गोत्वज्ञान' की अपेक्षा रहने से उपर्युक्त लक्षण में **अन्योन्याश्रय दोष** होता है।

(३) **चक्रक—'स्वज्ञानसापेक्षज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वं चक्रकम्'** किसी वस्तु का अपने ज्ञान के निमित्त अपेक्षणीय ज्ञान को अपेक्षित ज्ञान के निमित्त अपेक्षणीय ज्ञान का विषय बन जाना **चक्रक दोष** कहलाता है। जब किसी वस्तु के ज्ञान के प्राप्त करने में 'अपेक्षणीय ज्ञान' को जिस किसी 'अन्य ज्ञान' की अपेक्षा होती है, उस ज्ञान के उदय में जब 'उसी वस्तु का ज्ञान पुनः अपेक्षित' हो जाता है, तब 'चक्रक' नामक दोष कहा जाता है। जैसे—'गो' का लक्षण करें 'गोत्व', और 'गोत्व' का लक्षण करें 'सास्नारहित पदार्थ में न रहने वाली और सास्नायुक्त समस्त पदार्थों में रहनेवाली जाति'। एवं 'सास्ना' का लक्षण करें कि 'गौ' के गले के नीचे लटकने वाला कम्बल। तब 'गो' लक्षण का इस प्रकार निर्वचन करने पर 'चक्रक' दोष होगा। क्योंकि 'गो' के ज्ञान के लिये 'गोत्व' का ज्ञान, और 'गोत्व' के ज्ञान के लिये 'सास्ना' का ज्ञान, एवं 'सास्ना' के ज्ञान के लिये पुनः 'गो' का ही ज्ञान अपेक्षित हो जाता है। अर्थात् 'गो' के ज्ञान के लिये 'गो' के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाती है अतः उसका उदय अशक्य हो जाता है।

(४) **अप्रसिद्धि—'लक्षणस्य निर्वचनीयस्वरूपे कस्यचिदंशस्याऽसत्त्वमप्रसिद्धिः'**। लक्षण का स्वरूप बताते समय किसी अंश का 'असत्त्व' (अविद्यमानता) **'अप्रसिद्धि'** दोष है। 'गो' का लक्षण—'असरोम-रसनत्व' या 'रोमरहितरसनवत्त्व' अर्थात् रोम-युक्त रसना (जिह्वा) का न होना करें तो अप्रसिद्धि दोष होगा, क्योंकि लक्ष्य के स्वरूप में रसना की सरोमता, असत् (अविद्यमान) ही है।

प्रमाणपदार्थनिरूपणम्

तत्रापि प्रथममुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते। प्रमाकरणं प्रमाणम्। अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं, प्रमाकरणं लक्षणम्।

तत्रापीति। उन 'प्रमाण-प्रमेयादि' सोलह पदार्थों में भी सबसे पहले कहे गये—(प्रथम उद्दिष्ट) **'प्रमाण'** का लक्षण, सर्वप्रथम कहा जा रहा है। **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'** इति। **'प्रमा** का करण **प्रमाण है'**—इस लक्षण में **'प्रमाण'** यह शब्द (पद), **लक्ष्य है।** (जिसका लक्षण करना है) और 'प्रमा का करण' इतना अंश **लक्षण है।**

माधुरी

'न्यायदर्शन' के **प्रथम सूत्र** में प्रतिपादित 'प्रमाणादि' सोलह (षोडश) पदार्थों का नाम निर्देश (उद्देश) किया गया है। अब उनके (षोडश पदार्थों के) 'लक्षण'

और 'परीक्षण' (परीक्षा) करने हैं। 'न्यायशास्त्र' के **प्रथम सूत्र** (उद्देश सूत्र) में सर्व प्रथम **'प्रमाण'** पदार्थ को रखा है। अतः उसी क्रम से सर्व प्रथम **'प्रमाण'** पदार्थ का 'लक्षण' बता रहे हैं।

शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार (उद्देश, लक्षण और परीक्षा) से हो रही है, इसे पहले बता चुके हैं। तदनुसार 'उद्देश' (नाम निर्देश) के पश्चात् उसका **लक्षण** बताना क्रम प्राप्त है। क्योंकि किसी भी 'पदार्थ का नाम निर्देश' (उद्देश) कर देने पर भी जब तक उस पदार्थ का 'लक्षण' न किया जाय एवं 'परीक्षा' न की जाय तब तक उस पदार्थ का **सम्यक् ज्ञान** (यथार्थ ज्ञान) नहीं हो पाता। इसलिये उसकी 'लक्षण' और 'परीक्षा' करना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि न्यायसूत्रकार **महर्षि गोतम** ने 'प्रमाणसामान्य' का लक्षण बतानेवाला कोई सूत्र नहीं किया है। उन्होंने 'प्रमाण' के प्रत्यक्ष आदि चार विभाग करके उनके (प्रत्यक्ष आदि के) ही पृथक्-पृथक् लक्षण बता दिये हैं। **सूत्रकार** ने 'प्रामाण्यसामान्य' का लक्षण क्यों नहीं किया? इस जिज्ञासा का समाधान **भाष्यकार वात्स्यायन** ने **"उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम्। प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।"**—(न्या० भा० १ । १ । ३)। के द्वारा बता दिया है कि 'प्रमाण' शब्द का **निर्वचन** ही उसका (प्रमाण का) 'सामान्य लक्षण' है। अतः उन्हें अलग से लक्षण करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। भाष्यकार का कहना है कि 'प्रमाण' शब्द के निर्वचन से ही प्रमाण का सामान्य लक्षण निकल आता है। क्योंकि 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से 'करण' अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने से 'प्रमाण' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसीलिये 'प्रमा' के 'करण' यानी साधन को 'प्रमाण' कहते हैं। अत एव 'उपलब्धि' यानी ज्ञान, अथवा 'प्रमा' (यथार्थानुभवः प्रमा) के साधन (करण) को प्रमाण कहते हैं। यह अभिप्राय 'प्रमाण संज्ञा' (समाख्या) के निर्वचन (व्युत्पत्ति) से समझना चाहिये। 'जिसके द्वारा **प्रमा** (यथार्थानुभव) की जाती है', इस निर्वचन (व्युत्पत्ति) के बल पर ज्ञात होता है कि **प्रमा के करण को प्रमाण** कहते हैं। यही 'प्रमाण' का सामान्य लक्षण हुआ। सूत्रकार ने यद्यपि न्या० सू० १।१।१५ में 'उपलब्धि' का अर्थ ज्ञानमात्र बताया है, किन्तु 'उपलब्धि साधनानि' इस भाष्य में 'उपलब्धि' से उन का तात्पर्य 'यथार्थानुभव रूप प्रमा' में ही है। इसी भाष्य को ध्यान में रखकर **तर्कभाषाकार केशवमिश्र** ने 'प्रमाण' का **'प्रमाकरणं'** यह **सामान्य लक्षण** किया है।

शंका---'प्रमेय आदि' अनेक पदार्थों के रहते सर्व प्रथम **'प्रमाण'** पदार्थ का ही लक्षण क्यों किया गया है?

समा०—सूत्रकार के द्वारा प्रथम उद्दिष्ट होने से उनके उद्देश (निर्देश) के अनुसार ग्रन्थकार ने उसी का (प्रमाण का) लक्षण सर्व प्रथम किया है।

शंका—सूत्रकार ने अपने सूत्र में 'प्रमेय' पदार्थ का ही प्रथम निर्देश (उद्देश) क्यों नहीं किया ?

समा०—**'मानाधीना मेयसिद्धिः'** 'प्रमेय पदार्थ' की सिद्धि प्रमाण के अधीन हुआ करती है, इस नियम के अनुसार सूत्रकार ने 'प्रमाण' (मान) का निर्देश (उद्देश) प्रथम किया है। तदनुसार 'प्रमाण' का लक्षण, प्रथम बताया जा रहा है। ग्रन्थकार ने '**तावत् लक्षणमुच्यते**' कह कर '**तावत्**' शब्द से '**क्रम**' को बताया है यानी 'तावत्' का अर्थ 'क्रम' है। अतः क्रम से प्रमेयादि का लक्षण भी बतावेंगे।

प्रमेति। 'प्रमाकरणम् प्रमाणम्' का अर्थ है—'प्रमा' का जो करण हो, उसे 'प्रमाण' शब्द से समझना चाहिये। यहाँ पर—**'प्रमीयते ज्ञायते येन तत् प्रमाणम्'** इस प्रकार **करणव्युत्पत्ति** की जाती है।

शंका—**'प्रमितिः प्रमाणम्'** इस प्रकार **भावव्युत्पत्ति** क्यों नहीं करते ?

अप्रमितिरूप चक्षुरादि को भी 'प्रमाकरण' माना जाता है, इसलिये उपर्युक्त भावव्युत्पत्ति करना ठीक नहीं है। **'प्रमितिः प्रमाणम्'** ऐसी 'भावव्युत्पत्ति' करने पर 'बोधस्वभाव वाले' को ही **प्रमाण** कहना होगा 'अबोधस्वभाव वाले' को प्रमाण नहीं कह सकेंगे। अतः 'बोधस्वभाव तथा अबोधस्वभाव' दोनों को प्रमाण कह सकें, एतदर्थ **करणव्युत्पत्ति** का ही मानना उचित होगा।

ननु प्रमायाः करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यम्, करणस्य फलवत्त्वनियमात्। सत्यम्। प्रमैव फलं, साध्यमित्यर्थः। यथा छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम्।

प्रश्न—**नन्विति। 'ननु प्रमायाः……नियमात्'**। यह प्रश्नात्मक ग्रन्थ है। **प्रश्नकर्ता** का कहना है कि प्रमा का करण (साधन) यदि 'प्रमाण' है, तो उसका (करण या साधन रूप प्रमाण का) 'फल' बताइये। क्योंकि 'करण' (साधन) हमेशा **फलवान्** होता है। 'यद् यत् करणं, तत् तत् फलवत्'—यह व्याप्ति (नियम) है। अर्थात् 'करण और फल' का नित्य सम्बन्ध रहता है।

उत्तर—**सत्यमिति। 'सत्यम्……फलम्'** से उत्तर दे रहे हैं कि आप का कहना ठीक (सच) है, यानी 'करण और फल' का नित्य सम्बन्ध रहता है। इसे हम भी जानते हैं, 'प्रमाण' (प्रमा का करण या साधन) का फल अर्थात् साध्य 'प्रमा' ही है। जो जिसका 'साधन' होता है, वह उस साधन का 'साध्य' यानी फल भी हुआ करता है। जब कि 'प्रमा' का करण अथवा साधन 'प्रमाण' है, तो उसका (प्रमाण का) फल 'प्रमा' ही होगी। जैसे छेदन (काटने) के 'करण' (साधन) परशु का फल (साध्य) 'छेदन' ही होता है। उसी प्रकार प्रस्तुत में 'प्रमा' के करणभूत 'प्रमाण' का फल 'प्रमा' ही है—ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् 'प्रमाण' **साधन** है, और 'प्रमा' उसकी **साध्य** है।

माधुरी

पूर्वपक्षी की आधी बात जहाँ मान्य रहती है, वहाँ 'सत्यम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है—'अर्धाङ्गीकारे सत्यशब्दः प्रयोज्यः'। 'करण और फल' की व्याप्ति को तो उत्तर देने वाला भी मान रहा है, किन्तु पूर्वपक्षी की ललकार—'करण का फल बताना होगा', को वह स्वीकार नहीं कर रहा है, क्योंकि 'फल' तो उसने पहले ही बता दिया है। 'फल' शब्द के अर्थ से अनभिज्ञ के लिये ग्रन्थकार ने कहा 'प्रमैव फलं साध्यमित्यर्थः'। 'फल निष्पत्तौ' धातु से 'फल' शब्द निष्पन्न होने से 'फल' शब्द का अर्थ 'साध्य' किया गया है। तदनुरूप दृष्टान्त में 'छिदाकरणस्य परशोः छिदैव फलम्' कहकर 'छिदा' (द्वैधीभाव) को ही फल (साध्य) बताया है।

प्रमा

का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम्।

उच्यते। यथार्थानुभवः प्रमा। यथार्थ इत्ययथार्थानां संशय-विपर्ययतर्क-ज्ञानानां निरासः। अनुभव इति स्मृतेर्निरासः।

ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्।

प्रमा का लक्षण—

प्रश्न—का पुनरिति। आपने **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'** कह कर 'प्रमाण' का जो लक्षण किया है, वह ठीक है, किन्तु **'प्रमा'** क्या वस्तु है? जिसके करण को आप 'प्रमाण' बता रहे हैं।

उत्तर—उच्यत इति। बताते हैं :—**'यथार्थं अनुभव'** का नाम **'प्रमा'** है। 'प्रमा' के लक्षण में जो **'यथार्थं'** पद दिया है, उससे अयथार्थज्ञान रूप 'संशय, विपर्यय और तर्क' का निराकरण किया गया है। प्रमा के लक्षण में यदि 'यथार्थ' पद को न रखें तो संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान (अनुभव) में 'प्रमा' के चले जाने से अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ प्रमालक्षण में 'यथार्थ' पद रखना आवश्यक है। उसी प्रकार प्रमालक्षण में यदि **'अनुभव'** पद को न रखें तो **'स्मृति'** में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'स्मृति' भी ज्ञानविषयकज्ञान होने से यथार्थ है। अतः प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति 'स्मृति' में न हो, इसलिये प्रमालक्षण में 'अनुभव' पद रखना आवश्यक है। इस प्रकार 'स्मृति' के निराकरणार्थ 'अनुभव' पद होने से स्मृति का निराकरण हो जाता है।

ज्ञातविषयमिति। 'स्मृति' उस ज्ञान को कहते हैं, जिसका विषय पहले से ही ज्ञात रहता है। किन्तु **'अनुभव'** का विषय पहले से ज्ञात नहीं रहता है। इसलिये स्मृति से भिन्न ज्ञान को 'अनुभव' बताया गया है।

माधुरी

'यथार्थानुभवः प्रमा' इस प्रमालक्षण के 'यथार्थानुभवः' पद में **'यथार्थश्चासौ अनुभवश्च'** ऐसा समानाधिकरण कर्मधारय समास किया जाता है। 'यथार्थ' शब्द का 'अनुभव' पद के साथ 'अव्ययं विभक्ति' सूत्र से अव्ययीभावसमास नहीं होता। यदि यह कहें कि अव्ययीभावसमास में 'अलिङ्गमव्ययम्' न्याय से विशेष्यनिघ्नत्व नहीं हुआ करती। इस कारण 'यथार्थानुभवः प्रमा' में 'प्रमा' रूप विशेष्य के आश्रित 'यथार्थानुभव' शब्द के न होने से उक्त सूत्र से अव्ययीभावसमास का होना क्यों न कहा जाय? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि **'यथाऽसादृश्ये'** इस सूत्र से 'यथा' शब्द का जो अव्ययीभावसमास बताया गया है, वह 'सादृश्य' से व्यतिरिक्त 'योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति', लक्षण 'अर्थों' में वर्तमान ('यथा' शब्द) क बताया गया है। एवं च, प्रकृत में तो 'सादृश्य' रूप अर्थ विवक्षित रहने से 'अर्थ' का और 'अनुभव' का अबाधितत्व रूप 'सादृश्य' बताया जा रहा है। तथा च अर्थ यह हुआ कि 'यथा'=सदृश है, अबाधित अर्थ जिसका, 'यथा सदृशः—अबाधितोऽर्थः यस्य स तथोक्तः' ऐसा वह अनुभव है। यहाँ अव्ययीभावसमास नहीं है। अतः 'यथार्थ' शब्द के अर्थाव्यभिचारित्व, अर्थक्रियाकारिविषयत्व आदि अर्थ करना उचित नहीं है। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'—यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है। उसी को स्पष्ट करने के लिये 'यथार्थाऽनुभवः प्रमा' कहकर 'प्रमा' का लक्षण बताया गया है। इस लक्षण में भी 'यथार्थानुभवः' इतना अंश **'लक्षण'** है और 'प्रमा' यह अंश **लक्ष्य** है। यहाँ लक्षण अंश में 'यथार्थ और अनुभव' ये दो पद हैं। इन दो पदों में से यदि 'यथार्थ' पद को निकाल दें तो 'अनुभवः प्रमा' इतना ही लक्षण शेष रह जाता है। तब यथार्थ और अयथार्थ भेद से अनुभव भी दो प्रकार का होने से यथार्थ अनुभव की तरह अयथार्थ अनुभव को भी 'प्रमा' कहना होगा। अयथार्थ अनुभव भी तीन प्रकार का होता है—**संशय, विपर्यय और तर्क। 'अनवधारणं ज्ञानं संशयः', मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः'**, और **'व्याप्यारोपे व्यापकारोपस्तर्कः।'**

मन्दान्धकार में फल-पुष्प-पत्र रहित ऊँचे वृक्ष के ठूँठ को देखकर 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा०'—यह स्थाणु (ठूँठ) है या कोई आदमी है इस प्रकार संशयात्मक ज्ञान भी अनुभवरूप ही है। उसी प्रकार शुक्ति (सींप) को रजत (चाँदी) समझने वाले को अथवा मन्द अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझने वाले को जो विपर्यय (भ्रम) ज्ञान होता है, वह भी अनुभव रूप ही है। इसी प्रकार 'तर्क' भी एक आरोपात्मक (आहार्य) ज्ञान है। क्योंकि 'व्याप्य' के आरोप से जो 'व्यापक' का आरोप किया जाता है, उसे 'तर्क' कहते हैं। जैसे—'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्, तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्' धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी होगा (बिना वह्नि के यदि धूम होगा) तो वह वह्नि से उत्पन्न नहीं समझा जायगा, यही 'तर्क' है। इसमें पहिला अंश 'व्याप्य' का

आरोप' है और दूसरा अंश 'व्यापक का आरोप' है। इस तर्क से यह विपरीत अनुमान निष्पन्न होता है, क्योंकि 'धूम' की उत्पत्ति वह्नि से होती है। इसलिये वह (धूम) वह्नि का व्यभिचारी नहीं हो सकता, अर्थात् 'यस्मात् धूमो वह्निजन्यः तस्मात् धूमो न वह्निव्यभिचारी' यह कहा जाता है। यह तर्क 'धूम' में 'वह्निव्यभिचाराभाव' का निश्चय करा देता है, जिससे धूम में वह्निव्यभिचार के संशय की सम्भावना समाप्त हो जाती है। उसका फल यह होता है कि 'धूम' में वह्निव्याप्ति का निश्चय हो जाता है। और 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' धूम से वह्नि की अनुमिति का उदय होता है। यह अनुमिति यद्यपि स्वयं प्रमारूप है, किन्तु उसे, पैदा करने वाला उक्त 'तर्क' अप्रमारूप है, क्योंकि वह वह्नि के अव्यभिचारी 'धूम' को वह्निव्यभिचारी के रूप में और वह्नि से उत्पन्न होने वाले (जन्य) 'धूम' को वह्नि से अजन्यरूप में ग्रहण करता है। इसलिये 'तर्क' अप्रमारूप (अयथार्थ ज्ञानरूप) है। तथापि वह अनुभवरूप तो है ही। क्योंकि 'अनुभव' भी यथार्थ और अयथार्थ रूप भेद से दो प्रकार का हुआ करता है। निष्कर्ष यह है कि संशय, विपर्यय और तर्कज्ञान (अनुभव), यथार्थ ज्ञान (यथार्थ अनुभव) नहीं हैं। इन तीनों को 'प्रमा' नहीं कह सकते। अतः प्रमा के लक्षण में 'यथार्थ' पद के रख देने से अयथार्थ ज्ञान (अनुभव) रूप 'संशय', 'विपर्यय', और 'तर्क' ज्ञान (अनुभव) में 'प्रमालक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

इसी प्रकार 'स्मृति' को भी 'प्रमा' नहीं कह सकते। यदि प्रमा के लक्षण 'यथार्थानुभव' में 'अनुभव' पद को न रखें तो 'यथार्थः' इतना ही 'प्रमा' का लक्षण शेष रह जायेगा। और उसका अर्थ यह होगा कि 'जो ज्ञान यथार्थ हो, वह प्रमा' है। तब स्मृतिज्ञान (स्मरणात्मकज्ञान) में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। किन्तु प्रमालक्षण में 'अनुभव' पद को रख देने पर 'यथार्थ अनुभव' को ही 'प्रमा' कहा जायेगा। तब स्मरणात्मक ज्ञान (स्मृतिज्ञान) में अतिव्याप्ति नहीं हो पायेगी। क्योंकि **'अनु, भवति यः सः अनुभवः'** अर्थात् प्रमाणव्यापार के पश्चात् (अनु) जो होता है, उसे 'अनुभव' कहते हैं। इस कारण प्रमाणव्यापार के बाद उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही 'अनुभव' शब्द से कहा जायेगा। 'स्मृतिज्ञान' इस प्रकार का नहीं है। उसकी उत्पत्ति में किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं हुआ करती। वह तो पूर्वानुभव से जैसा संस्कार होता है, ठीक वैसा ही स्मरण (स्मृति) होता है। वह अपनी उद्बोधक सामग्री (सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता) के सन्निहित रहने पर हुआ करता है।

'स्मृति' का कारण 'संस्कार का उद्बोध' ही होता है। इसीलिये 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह भी स्मृति का लक्षण बताया जाता है। 'स्मृति' को उत्पन्न करने वाले 'संस्कार' के उद्बोधक सादृश्य आदि भी हुआ करते हैं। कहा भी है—

'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः'। जिस वस्तु को पहले देखा हो, कभी उसके सदृश वस्तु को देखने पर पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण (स्मृति) हो आता है। यहाँ पर अनुभवजन्य संस्कार का उद्बोधक 'सादृश्य' है। कभी किसी बात को भूल जाने पर उसके चिन्तन से उसका स्मरण हो जाता है। वहाँ पर चिन्तन (सोचना) ही 'संस्कार' का उद्बोधक है और स्मृति का उत्पादक है। कभी-कभी सादृश्यदर्शन या चिन्तन के बिना भी संस्कार का उद्बोधक और स्मृति का उत्पादक 'अदृष्ट' भी हुआ करता है। जैसा कि नैषधकार ने कहा है—"अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्"—(नै० का० १।३९)।

एवं च प्रमाणव्यापार के बाद उसकी उत्पत्ति न होने के कारण उसे (स्मरण को) अनुभव से भिन्न कहते हैं। तात्पर्य यह है कि लक्षण में 'अनुभव' पद के रख देने पर 'स्मृति' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। भले ही वह 'स्मृति' यथार्थज्ञानरूप हो किन्तु वह 'अनुभवरूप' नहीं है। 'स्मृति' में 'अनुभव' शब्द की व्युपत्ति का समन्वय न हो सकने से उसे अनुभवभिन्न कहा गया है। एक अन्य कारण यह भी है कि 'अनुभवत्व' एक जाति है, जो प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध को अनुभव के रूप में ग्रहण करने वाले अनुव्यवसाय (मानसप्रत्यक्ष) से सिद्ध होती है। वह 'अनुभवत्व' जाति, जिस ज्ञान में रहती हो उसे 'अनुभव' कहते हैं। जब किसी विषय के प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शाब्दबोध का उदय होता है, तब 'मैं इस विषय का अनुभव कर रहा हूँ' यह प्रतीति होती है, किन्तु जब किसी विषय का स्मरण होता है तब उक्त प्रतीति नहीं होती। अतः प्रत्यक्षादि ज्ञानों में 'अनुभवत्व' जाति मानी जाती है और स्मृति में वह (अनुभवत्वजाति) नहीं मानी जाती। इसलिये 'स्मृति' को 'अनुभव' शब्द से नहीं कहा जाता। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने **'स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमनुभवः'** अर्थात् **'स्मृतित्वानधिकरणं ज्ञानमनुभवः'** कहकर स्मृतिज्ञान और अनुभवज्ञान दोनों को एक दूसरे से अत्यन्त पृथक् बताया है। किसी भी लक्षण में दिये गये पदों के प्रयोजन-प्रदर्शन को 'पदकृत्य' कहते हैं। इस रीति से 'प्रमालक्षण' में दिये गये दोनों पदों का प्रयोजन दिखाकर पदकृत्य बताया गया है।

स्मृति और प्रत्यभिज्ञा—

'प्रत्यभिज्ञा' भी एक ज्ञान है। **'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा'** यह **'प्रत्यभिज्ञा'** का लक्षण है। 'तत्ता', और 'इदन्ता' दोनों को अवगाहन करने वाली प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। **'तत्ता'** का अर्थ है—तद् का भाव (रूप), अर्थात् उसका रूप, यानी पूर्वज्ञात (तद्देश और तत्काल से सम्बद्ध) रूप, और **'इदन्ता'** का अर्थ है, इदं का भाव (रूप), अर्थात् इसका (प्रत्यक्ष स्थित वस्तु का) रूप, यानी एतद्देश और एतत्काल से सम्बद्ध वस्तु का रूप। निष्कर्ष यह है कि जिसमें पूर्वदेश

और पूर्वकाल और वर्तमानदेश और वर्तमानकाल दोनों की प्रतीति हो, उस प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः' = यह वही देवदत्त है, जिस देवदत्त को हमने मुंवई में देखा था, इसमें 'सः' पद 'तत्ता' यानी पूर्वदेश और पूर्वकाल के सम्बन्ध का प्रकाशक है और 'अयं' पद 'इदन्ता' यानी एतद्देश और एतत्काल के सम्बन्ध का (वर्तमानदेश और वर्तमानकाल के सम्बन्ध का) प्रकाशक है। इसमें 'तत्ता' रूप पूर्वदेश, पूर्वकाल का द्योतक 'सः' अंश स्मृतिरूप (स्मरणात्मक) है, और उसकी (स्मरण की) उत्पत्ति, पूर्वदर्शनजन्य संस्कार के उद्‌बोधन से हो रही है। इसके विपरीत 'अयं' पद से बोधित एतद्देश और एतत्कालरूप 'इदन्ता' अंश प्रत्यक्षात्मक है, और उसकी (प्रत्यक्ष की) उत्पत्ति इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के सन्निकर्ष (संबंध) से होती है। प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति में 'संस्कार' तथा 'इन्द्रिय-सन्निकर्ष' दोनों ही कारण रहने से वह (प्रत्यभिज्ञा), स्मृति और अनुभव एतदुभयात्मक ज्ञान है।

यह प्रत्यभिज्ञा, एक अंश में 'ज्ञातविषयकज्ञान' भी है, इस कारण उसमें 'ज्ञात-विषयं ज्ञानं स्मृतिः' इस स्मृतिलक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है। इसलिये कुछ विद्वानों ने स्मृति का लक्षण **'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'** किया है। इस स्मृति-लक्षण में 'मात्र' पद के रखने से 'प्रत्यभिज्ञा' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान, केवल एकमात्र संस्कार से उत्पन्न नहीं होता, अपितु वह संस्कार और इन्द्रियसन्निकर्ष दोनों से उत्पन्न होता है। अत एव 'प्रत्यभिज्ञा' को प्रत्यक्षज्ञान के अन्तर्गत माना जाता है। 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इस स्मृतिलक्षण में **'संस्कारमात्र'** अंश को हटा देने पर 'जन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इतना ही स्मृतिलक्षण शेष रहेगा। तब इस लक्षण की अतिव्याप्ति, प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति आदि सभी जन्य ज्ञानों में होने लगेगी, वह न हो, इसलिये 'जन्यं ज्ञानं स्मृतिः' में 'संस्कारमात्र' अंश को जोड़ना आवश्यक है। यदि 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इतना ही लक्षण करें और **'मात्र'** पद को हटा दें, तो 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् परिचयात्मक प्रत्यक्ष में अति-व्याप्ति होगी। क्योंकि वह भी संस्कारजन्य ज्ञान तो है ही। किन्तु 'मात्र' पद देने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि वह संस्कारमात्रजन्य नहीं है, अपि तु वह (प्रत्यभिज्ञा) संस्कारजन्य होते हुए इन्द्रियजन्य भी है। यदि 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इस लक्षणगत 'मात्र' पद से संस्कार को छोड़कर (संस्कारेतर अर्थात् संस्कार से अन्य) सभी पदार्थों की निवृत्ति अभिप्रेत हो तो लक्षण का स्वरूप इस प्रकार होगा—'संस्कारेतराऽजन्यत्वे सति संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् संस्कारेतर से अजन्य होता हुआ संस्कारजन्य जो ज्ञान है, उसे स्मृति कहते हैं। तब तो यह लक्षण 'असंभव' दोष से दूषित हो जायेगा। क्योंकि 'स्मृति' स्वयं ही संस्कार से इतर जो आत्मा, मन, और आत्म-मनः-संयोग आदि से जन्य (उत्पन्न) होती है। एवं च कोई भी स्मृति ऐसी नहीं है, जो 'संस्कारेतराऽजन्यत्व' से युक्त हो। अतः

स्मृतिरूप लक्ष्य में स्मृतिलक्षण का प्रवेश ही न हो सकने से असंभव दोष होगा। इसी प्रकार ग्रंथकारोक्त स्मृतिलक्षण—'ज्ञातविषयकं ज्ञानं स्मृतिः'—में भी 'ज्ञात' पद के साथ 'मात्र' पद जोड देना चाहिये। तब लक्षण का आकार **'ज्ञातमात्रविषयकं ज्ञानं स्मृतिः'** होगा। तब यद्यपि प्रत्यभिज्ञा के ज्ञातविषयकज्ञानस्वरूप रहने पर भी उसका (प्रत्यभिज्ञा का) 'अयं' अंश पूर्वज्ञात नहीं रहता। अतः वह ज्ञातमात्र विषयक नहीं है। उसका विषय तो ज्ञात और अज्ञात 'उभयात्मक' है। 'स्मृति' की कोई अवान्तर जाति न होने से उसके जातिमूलक भेद नहीं हैं। वह अननुभूत विषय को कभी ग्रहण नहीं करती। और अनुभव का अतिक्रमण भी नहीं करती। किन्तु कभी-कभी अनुभव के कुछ अंश को छोड़कर भी वह (स्मृति) उत्पन्न हुआ करती है। जब पूर्वानुभव से उत्पन्न हुए संस्कार के किंचिद् अंश का उद्बोधन होता है और किंचिद् अंश का उद्बोधन नहीं हो पाता, उस स्थिति में ऐसी 'प्रमुष्टविषया' स्मृति हुआ करती है। और जब 'अनुभवजन्यसंस्कार का पूर्णरूपेण उद्बोधन' होता है, तब **अप्रमुष्टविषयास्मृति** । हुआ करती है। इस रीति से स्मृति के दो भेद होते हैं।

अनुभव— ग्रंथकार ने **'अनुभवं'** का लक्षण 'स्मृति-व्यतिरिक्तं (भिन्नं) ज्ञानम्—अनुभवः' किया है। इस लक्षण में 'स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्' इतना अंश 'लक्षण' है और 'अनुभवः' यह अंश 'लक्ष्य' है। लक्षण अंश से 'स्मृतिव्यतिरिक्तं' पद को हटा दें तो 'ज्ञानम् अनुभवः' इतना ही लक्षण शेष रहेगा। तब 'स्मृति' (स्मरण) ज्ञान में लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति होगी। यदि उक्त लक्षण में से 'स्मृति' पद को हटाकर 'व्यतिरिक्तं ज्ञानम्' इतना ही लक्षण रखें, तो भी 'स्मृति' ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि 'स्मृति' भी एक ज्ञान (स्मरणात्मक ज्ञान) है और वह स्वेतर सभी पदार्थों से व्यतिरिक्त भी (भिन्न भी) है। उसके निवारणार्थ 'स्मृति' पद का निवेश करना आवश्यक है। यदि उक्त लक्षण में से 'ज्ञान' पद को हटा दें तो 'स्मृतिव्यतिरिक्तम् अनुभवः' इतना ही लक्षण शेष रहेगा। तब स्मृतिव्यतिरिक्त (भिन्न) घट-पटादि सभी बाह्य पदार्थों में तथा इच्छा, द्वेषादि आन्तर पदार्थों में अतिव्याप्ति हो जायेगी। अतः 'स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम् अनुभवः' यही पूर्ण लक्षण 'अनुभव' का होता है।

करणम्

किं पुनः करणम्? साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः।

किं पुनरिति। पूर्वोक्त 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस 'प्रमाणलक्षण' के **'प्रमा'** पद की व्याख्या हो चुकी। अब लक्षण के दूसरे पद—**'करण'** की व्याख्या करने के लिये,

प्रश्न कर रहे हैं कि 'करण' किसे कहते है ? तब उत्तर दिया कि 'साधकतमं करणम्'— **साधकतम,** को 'करण' कहते हैं। अर्थात् जिस कार्य का जो अतिशयेन साधक हो, उसे 'साधकतम' कहते हैं, यानी प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) कारण ही 'करण' कहलाता है।

माधुरी

प्रमा का स्वरूप अवगत हो गया, किन्तु उसके 'करण' का स्वरूप अभी अवगत नहीं है, इसलिये उसके स्वरूप को जानने के लिये 'किं पुनः करणम्' ? यह प्रश्न किया गया है। 'सार्वपार्षदं व्याकरणम्' इस न्याय से व्याकरण-सूत्र के सहारे उत्तर दिया कि 'साधकतमं करणम्' (पा० सू० १।४।४२), **'साधकतमम्'** पद की निष्पत्ति **'अतिशायने तमबिष्ठनौ'** (पा० सू० ५।३।५५) इस पाणिनिसूत्र से अतिशायन अर्थ में 'तमप्' प्रत्यय करने पर हुई है। 'तमप्' प्रत्यय के अर्थ को बताने के लिये 'अतिशयितम्' कहा है। तब 'साधकतम' का निष्कृष्ट अर्थ **'प्रकृष्टं कारणम्'** कहकर ग्रन्थकार ने बताया है। अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो प्रकृष्टोपकारक हो उसे 'करण' कहते हैं। इस 'करण' के लक्षण में 'साधकतमम्' इतना अंश 'लक्षण' है और 'करणम्' यह अंश 'लक्ष्य' है। 'साधक' पद का अर्थ है 'कारण'। कुछ लोग **'साक्षात् कर्त्रधिष्ठिततम-साध्यक्रियासाधकं यत्, तत् करणम्'** इस प्रकार 'करण' का लक्षण बताते हैं।

शंका—'ण्वुल्तृचौ' (पा० सू० ३।१।१३३) सूत्र के कर्तरि (कर्ता के अर्थ में) 'ण्वुल्' प्रत्यय विहित होने से 'साधयतीति साधकः' इस व्युत्पत्ति के बल पर साधकता (साधकत्व) 'कर्ता' में ही संभव होती है। और 'कर्ता' यहाँ पर प्रमाता ही है। अतः 'करण' को साधक कैसे बताया जा रहा है ? करण में जब साधकत्व ही नहीं है तब साधकतमत्व का उसमें होना तो बहुत दूर की बात है।

समा०—'क्रियां कुर्वद् हि कारकम्' इस न्याय से सभी कारकों में अपने अपने व्यापार के कारण कर्तृत्व रहता है, तब करण में भी कारकत्व (साधकत्व) संभव हो सकता है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'प्रकृष्टं कारणम्' कहा है। कोई भी कार्य किसी एक ही कारण से नहीं हुआ करता। एक कार्य के होने में अनेक कारणों की अपेक्षा रहती है। उन कारणों में से कुछ तो 'साधारण' कारण और कुछ 'असाधारण' कारण हुआ करते हैं। जिन कारणों की अपेक्षा सभी कार्यों में रहती है, उन्हें 'साधारण' कारण कहते हैं। ऐसे साधारण कारण—ईश्वर, ईश्वर का ज्ञान, ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का प्रयत्न, अदृष्ट (धर्म-अधर्म), कार्य का प्रागभाव, दिक् और काल—आठ हैं। ये आठों कार्यमात्र के प्रति कारण माने गये हैं। इनका कार्यतावच्छेदक धर्म **'कार्यत्व'** होता है। उक्त आठ कारणों के व्यतिरिक्त (भिन्न) जितने भी कारण होंगे, उन्हें 'असाधारण कारण' कहते हैं। जैसे—कुलाल, कपाल, चक्र, चीवर, दण्ड, सलिल (पानी) ये सब घट (कार्य) के प्रति असाधारण कारण रहते

हैं। इनका कार्यतावच्छेदक धर्म **'घटत्व'** होता है, वह केवल घटात्मक कार्य का ही धर्म है, कार्यमात्र का नहीं। वैसे ही पट (कार्य) के प्रति तन्तुवाय (जुलाहा अर्थात् कपड़ा बुनने वाला), तन्तु (सूत), तुरी (तन्तु जोड़ने का साधन), वेमा (जिन दण्डों में सूत फँसाकर पट बुना जाता है) ये सब असाधारण कारण होते हैं। नैयायिक विद्वान् साधारण और असाधारणकारणों को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—'कार्यत्वावच्छिन्नकार्यमात्रम्प्रति यत्कारणं तत् **'साधारणं कारणम्'**। और 'कार्यत्वव्याप्यघटत्व-पटत्वादिधर्मावच्छिन्नघट-पटादिविशेषकार्यम्प्रति यत्कारणं तद् **असाधारणं कारणम्**।' असाधारणकारणों में से जो प्रकृष्ट (अतिशययुक्त) कारण हो, उसे **'करण'** कहा जाता है। इस अतिशय प्रकर्ष को ही 'व्यापार' कहते हैं। अत एव अन्य नैयायिकों ने 'करण' का लक्षण—'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्' किया है। अर्थात् व्यापार द्वारा जो जिस कार्य का असाधारण कारण हो, वही उस कार्य का 'करण' वनता है। जैसे—कपालद्वयसंयोगरूपव्यापार के द्वारा दण्ड, चक्र, चीवरादि, घट के 'करण' हो सकते हैं। उसी तरह तन्तुसंयोगरूपव्यापार के द्वारा तुरी, वेमा, तन्तु आदि पट के करण हो सकते हैं। अत एव व्यापार का लक्षण—'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः' किया गया है। इसका अर्थ यह होगा कि जो जिस कारण से पैदा होकर उसके जिस कार्य का उत्पादक होता है, वह उस कारण का उस कार्य के प्रति **'व्यापार'** कहलाता है। जैसे—कपालद्वय का संयोग, दण्डादि कारण से उत्पन्न होकर उसी दण्डादि कारण के घटरूपकार्य का उत्पादक (जनक) होता है। इसलिये 'घटात्मककार्य' के प्रति दण्डादि कारणों का **'कपालद्वयसंयोग'** व्यापार है। एक दूसरे प्रकार से भी व्यापार का लक्षण बताया जाता है—**'तज्जनकताप्रयोजकजनकताकत्वं व्यापारत्वम्'**। इसका अर्थ यह है—जो अपनी जनकता से जिसमें जिस कार्य के जनकत्व का सम्पादन करता है, वह उसका उस कार्य के प्रति व्यापार होता है। जैसे—कपालद्वयसंयोग, अपनी जनकता से 'दण्डादि' में घट के जनकत्व को पैदा कराता है, क्योंकि 'दण्ड आदि' में कपालद्वयसंयोग की जनकता न हो तो 'दण्डादि' में घट का जनकत्व नहीं हो सकता। इसलिये 'कपालद्वयसंयोग', घटरूपकार्य के प्रति दण्डादि कारणों का **व्यापार** कहलाता है। इस व्यापार को ही 'द्वार' या 'माध्यम' शब्द से भी कहते हैं। इस व्यापारलक्षण के अनुसार किसी भी कार्य के अन्तिम कारण को छोड़कर अन्य सभी कारण व्यापारवत् होते हैं, क्योंकि अन्तिम कारण ही कार्य के अन्य कारणों का व्यापार है। इसलिये सभी कारणों को 'करण' कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः लक्षणगत 'व्यापारवत्' का अर्थ यह करना होगा कि 'जिस कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में अथवा कार्य के उत्पत्तिक्षण में जिस कारण का स्वयं साक्षात् उपस्थित रहना आवश्यक नहीं हो।' अथवा 'जो जिस कार्य का साक्षात् संबंध से कारण न होकर व्यापारघटित संबंध से ही कारण होता हो' वह उस कार्य

का व्यापारवत् कारण कहलाता है। ऐसा अर्थ करने पर कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में अथवा कार्य की उत्पत्ति के क्षण में जो कारण, स्वयं साक्षात् उपस्थित रहते हैं, अथवा व्यापारघटित संबंध से कारण न होकर साक्षात् संबंध से कारण होते हैं, उनको **'करण'** नहीं कहा जायगा। जैसे—'तन्तु, तन्तुवाय' आदि, पटकार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में भी स्वयं उपस्थित रहते हैं और साक्षात् संबंध से ही कारण होते हैं। अतः वे 'पट' के करण नहीं होंगे। और 'तुरी, वेमा आदि कारणों' का पटकार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना आवश्यक नहीं है। वे अपना-अपना कार्य करके नष्ट भी हो जायें तब भी 'पटकार्य' की उत्पत्ति में कोई हानि नहीं होगी। यदि वे अव्यवहित पूर्वक्षण में रहते भी हैं तो 'स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगरूप व्यापारघटित सम्बन्ध' से ही पटकार्य के प्रति 'कारण' होते हैं। 'साक्षात् संबंध' से नहीं। अतः तुरी, वेमा आदि कारणों को ही 'करण' कहा जायेगा, सबको नहीं।

कारणम्

ननु साधकं कारणमिति पर्यायस्तदेव न ज्ञायते किन्तत्कारणमिति। उच्यते। 'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्'। यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्।

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नासौ नियतः।

तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात्।

तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्।

कारण का लक्षण—

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षण को समझाने के लिये 'करण' का लक्षण **'साधकतमं करणम्'** कहा। इस लक्षण के द्वारा 'साधकतम (प्रकृष्ट) कारण' को **'करण'** बताया गया है। किन्तु जब तक **'कारण'** के ही स्वरूप का परिचय न हो तब तक **'प्रकृष्ट कारण'** अर्थात् 'करण' का ज्ञान हो पाना कठिन है, इसलिये अब 'करण' का स्वरूप जानने की इच्छा से शंका की गई है।

शंका—'साधक' और **'कारण'** एक दूसरे के पर्याय शब्द हैं। 'साधक' शब्द का अर्थ पूछने पर 'कारण' बता देना तो 'मघवा' मूल 'बिडौजा' टीका के समान बताना हुआ। न तो 'साधक' का स्वरूप हम जानते हैं और न 'कारण' का ही स्वरूप हम जान पा रहे हैं, कि वह 'कारण' क्या है। जब तक यह न ज्ञात हो, तब तक

'साधकतम' यानी **प्रकृष्टकारण** रूप 'करण' का ज्ञान होना असंभव है। इसलिये 'कारण' का लक्षण बताना चाहिये।

समाधान—'कारण' का लक्षण बता रहे हैं—**'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतः अनन्यथासिद्धश्च, तत् कारणम्'**—जिसकी सत्ता घटादिकार्योत्पत्ति से पूर्व निश्चित हो, और जो अन्यथासिद्ध (अनावश्यक) न हो उसे 'कारण' कहते हैं। जैसे— **'तन्तु'** और **'वेमा'** (पट बुनने का साधनरूप दण्ड) आदि **'पट'** के कारण हैं। क्योंकि **'पटकार्य'** के पूर्व **'तन्तु** और **वेमा** आदि' की सत्ता (उपस्थिति) नियत (निश्चितरूप से) रहती है, और वे अन्यथासिद्ध (अनावश्यक) भी नहीं हैं। इस लिये 'तन्तु, वेमा आदि'—'पट' के कारण कहे जाते हैं। कारण के उक्त लक्षण में **'पूर्वभाव, नियत** और **अनन्यथासिद्ध'** ये तीन शब्द, विशेष महत्त्व के हैं। अतः इनका अर्थ और लक्षण में उनके सन्निवेश का प्रयोजन जानना आवश्यक है।

पट की उत्पत्ति के समय दैववशात् (संयोग से) कोई **रासभ** (गधा) आकर यदि उपस्थित हो जाय, तो उसका भी **पूर्वभाव** कहा जा सकता है, किन्तु उस 'रासभ' का उस समय वहाँ आकर उपस्थित हो जाना **नियत** (निश्चित) नहीं है। इस कारण 'पटकार्य' के प्रति **'रासभ'** को कारण नहीं कहा जायेगा। हाँ; पटकार्य की उत्पत्ति के पूर्व यद्यपि **'तन्तुरूप'** का **नियत पूर्वभाव** है किन्तु वह **'अन्यथासिद्ध'** भी है, 'अनन्यथासिद्ध' नहीं है। क्योंकि 'पटरूप' के उत्पादन में उसकी (तन्तुरूप की) शक्ति (उपयोगिता) समाप्त हो जाती है। हाँ, **'पटरूपकार्य'** की उत्पत्ति में **'तन्तुरूप'** को कारण कह सकते हैं। किन्तु 'पटकार्य' की उत्पत्ति में **'तन्तुरूप'** को कारण नहीं कहा जायेगा। 'पटकार्य' की उत्पत्ति में भी यदि **'तन्तुरूप'** को कारण कहेंगे तो **'कल्पनागौरव'** ही होगा। 'कल्पनागौरव' यह एक **दोष** है। अभिप्राय यह है कि 'पटकार्योत्पत्ति' के प्रति 'तन्तुरूप' को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। **पटकार्योत्पत्ति** में केवल **'तन्तु'** को ही कारण माना गया है।

माधुरी

'कारण' के लक्षण में आये हुए **'नियतः'** का अर्थ 'अवश्यंभावी' है। **'अनन्यथासिद्धः'** का अर्थ "प्रकारान्तर से जो अन्यत्र कहीं उपयुक्त नहीं हुआ है। 'पूर्वभाव' का अर्थ—(१) कार्य की उत्पत्ति के पूर्व रहना; या (२) कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना दोनों प्रकार से किया जा सकता है। 'अव्यवहित पूर्वक्षण का अर्थ है कि कार्योत्पत्ति का वह पूर्वक्षण, जिसके ठीक अगले क्षण में कार्य की उत्पत्ति होनी है। अतः कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहने (पूर्वभाव) को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं—'कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में **कारणतावच्छेदकसम्बन्ध** से रहता हुआ कार्य के आश्रय में **कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध** से

जो रहे, उसे हम **'पूर्वभाव'** शब्द से बता रहे हैं। जैसे—'पट' अपने आश्रयभूत तन्तुओं' में **'समवाय'** संबंध से उत्पन्न होता है, इसलिये वह (समवाय) पटरूप कार्य का **'कार्यतावच्छेदक'** सम्बन्ध है। और 'कार्य के आश्रय' में (अर्थात् 'पट' कार्य का आश्रय 'तन्तु' है, उसमें (तन्तु में) जिस सम्बन्ध से 'कारण' रह कर 'कार्य' (पट) को उत्पन्न कर पाता है, उस सम्बन्ध को **'कारणतावच्छेदक'** सम्बन्ध कहते हैं। यह 'कारणतावच्छेदकसम्बन्ध' भिन्न-भिन्न कारणों का भिन्न-भिन्न होता है। सभी कारणों का 'कारणतावच्छेदक सम्बन्ध' एक ही नहीं होगा। जैसे—'पट कार्य के आश्रयभूत **'तन्तु'** में 'तन्तु', 'तादात्म्यसम्बन्ध' से रहता है, और **'तुरी, वेमा'** आदि 'स्वप्रयोज्य-विजातीयसंयोग' से और **'तन्तुसंयोग,'** 'समवाय' सम्बन्ध से रहते हैं, और 'पट' रूप कार्य को उत्पन्न करते हैं। अतः **'तन्तु'** के लिये कारणतावच्छेदक सम्बन्ध **'तादात्म्य'** होगा और **तन्तु, वेमा** आदि के लिये कारणतावच्छेदक सम्बन्ध **'स्वप्रयोज्य-विजातीयसंयोग,** तथा **तन्तुसंयोग** के लिये कारणतावच्छेदकसम्बन्ध **'समवाय'** होता है। कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में कार्योत्पादक सम्पूर्ण कारण एकत्रित रहते हैं तथा कार्योत्पत्ति के होने में कोई प्रतिबन्धक भी उपस्थित नहीं रहता। इस कार्योत्पत्ति के 'अव्यवहित पूर्वक्षण' को **'सामग्रीक्षण'** शब्द से कहा करते हैं। **सामग्री** का अर्थ है—'प्रतिबन्धकाभाव सहित समग्र कारणों का सन्निहित रहना'।

'पूर्वभाव' शब्द के **'पूर्व'** का अर्थ 'अव्यवहित पूर्व' न करके केवल **'पूर्व मात्र'** ही करें तो कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में न रह कर कभी किसी समय 'कार्य के पूर्व' रहने वाला पदार्थ (वस्तु) भी 'उस कार्य' का कारण कहलायेगा। जैसे—कभी कोई **तन्तु वेमा** आदि तन्तुवाय के घर में पड़ा हुआ है, किन्तु 'पटोत्पत्ति' के **अव्यवहित पूर्वक्षण** में उपस्थित नहीं था, तथापि उसे 'पट' का कारण कहना होगा, क्योंकि वे तन्तु, वेमा, कभी नियतरूप से पटोत्पत्ति के पूर्व रह चुके हैं और अनन्यथा-सिद्ध भी हैं।

'पूर्वभाव' का अर्थ करते समय बताया था कि 'कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध' से कार्य के आश्रय में, कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से रहना। अब यदि हम 'कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्याश्रय में' इतने अंश को हटा दें तो शेष अर्थ यह रहेगा कि 'कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में कारणतावच्छेदक-सम्बन्ध से रहना'। तब जो तन्तु, वेमा आदि **'कार्यतावच्छेदक-समवायसम्बन्ध'** से जिस पट के आश्रयभूत **तन्तु** में न रहकर **कालिकसम्बन्ध** से उस पट के आश्रयभूत तन्तु में रहते हैं, ऐसे तुरी आदि भी उत्पद्यमान पट के कारण कहलाने लगेंगे। उसी तरह 'कार्यतावच्छेदक-समवायसम्बन्ध' से किसी अन्य पट के आश्रयभूत तन्तु में रहते हों तो भी वे इस उत्पद्यमान पट के कारण कहलाने लगेंगे। अब 'कारणताव-

च्छेदकसम्बन्ध' को न रखे, केवल **'रहना'** इतना ही अंश रखें तो जो तन्तु, वेमा आदि जिस पट के आश्रयभूत तन्तु में 'कारणतावच्छेदकसम्बन्ध' से न रहकर **कालिकसम्बन्ध** से रहते हों, वे भी 'उस पट' के **कारण** कहे जायेंगे। इन सब **अतिव्याप्तियों** के निरासार्थ 'पूर्वभाव' का अर्थ **'कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना'** किया जाता है।

नियत—'नि' उपसर्गपूर्वक 'यम' धातु से 'क्त' प्रत्यय जोड़ देने पर **'नियत'** शब्द की निष्पत्ति होती है। तब **'नियत'** का अर्थ होगा 'नियम से युक्त होना'। और **'नियम'** का अर्थ 'व्याप्ति' है। 'व्याप्य और व्यापक' दोनों पर **'व्याप्ति'** पदार्थ निर्भर रहता है। अतः 'व्याप्ति' का आश्रय होने से **'व्याप्य'** को और 'व्याप्ति' का निरूपक होने से **'व्यापक'** को भी 'नियत' शब्द से कहा जाता है। आवश्यकतानुसार 'नियत' शब्द से कहीं पर 'व्याप्य' को तो कहीं पर, 'व्यापक' को भी समझा जाता है। प्रस्तुत 'कारणलक्षण' में **'नियत'** शब्द का अर्थ **'व्यापक'** लिया गया है। और 'कार्यात्, पूर्वभावो, नियतः'—इन तीनों शब्दों का सम्मिलित अर्थ किया जाता है। तब **'कार्यात् पूर्वभावो नियतः'** का अर्थ इस प्रकार होगा—'कार्यतावच्छेदकसंबंध से कार्य के आश्रय में उस कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहने वाले अभाव का कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से प्रतियोगी न होना।' तात्पर्य यह है—कोई पदार्थ, कार्योत्पत्ति में अनन्यथासिद्ध होता हुआ भी कार्य के आश्रय में किसी संबंध से कभी कदाचित् रह लेने मात्र से उस कार्य का कारण नहीं कहलाता, किन्तु उस कार्य का कारण बनने के लिये उसे **कार्य का व्यापक** (कार्यनियत) होना चाहिये। इस प्रकार लक्षण में **'नियत'** शब्द के रखने से 'रासभ' (मिट्टी लाने वाले कुलाल के गधे) में **अतिव्याप्ति** नहीं हो पाती। क्योंकि वह **रासभ** कभी कदाचित् किसी घट का पूर्ववर्ती हो सकता है, किन्तु सभी घटों का वह (रासभ) नियत पूर्ववर्ती नहीं हो सकता, इसलिये वह (रासभ) 'घटकार्य' का **व्यापक** नहीं है।

शंका—'समस्त घटों' (घटमात्र) का नियत पूर्ववर्ती न होने से 'समस्त घटकार्य' का वह व्यापक नहीं है इसलिये वह 'घटसामान्य' (घटमात्र) का कारण भले ही न हो, परन्तु जिस 'घटविशेष' का वह नियत पूर्ववर्ती है, उसी का उसे कारण क्यों नहीं कहते ?

समा०—वह 'रासभ', जिस घट विशेष का **नियत पूर्ववर्ती** है, उस 'घटविशेष' के प्रति, वह **अन्यथासिद्ध** है, इसलिये उस 'घटविशेष' का भी उसे **कारण** नहीं कहा जाता।

ग्रन्थकार ने कारण के लक्षण में **'अनन्यथासिद्ध'** पद रखा है। 'न अन्यथा सिद्धः=अनन्यथासिद्धः' अर्थात् अन्यथासिद्ध से भिन्न। 'भेद' से युक्त हुए को **'भिन्न'** कहते हैं। 'भेद' भी एक अभाव है। 'अभाव' हमेशा प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है।

अतः 'अन्यथासिद्ध के भेद का प्रतियोगी 'अन्यथासिद्ध' ही होगा। क्योंकि जिसका अभाव होता है, 'वही' उस अभाव का **प्रतियोगी** कहलाता है। एवं च **'अभाव'** के ज्ञान में **प्रतियोगी** के ज्ञान की अपेक्षा रहती है। अतः 'प्रतियोगिभूत अन्यथासिद्ध' के ज्ञान के बिना 'अन्यथासिद्धभेद' का ज्ञान हो पाना कठिन है। **मुक्तावलीकार** ने **पाँच प्रकार** के 'अन्यथासिद्ध' बताये हैं—

"येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥
जनकम्प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद् भवेत् नियतावश्यकपूर्वभाविनः॥
एते पञ्चाऽन्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥
तृतीयन्तु भवेद् व्योम, कुलालजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यात् एतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥

(न्या० सि० मु० १९।२२)

(१) **'येन सह पूर्वभावः'**—जिस धर्म के साथ कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होता है, वह 'धर्म' उस कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' समझा जाता है। यह प्रथम (पहला) अन्यथासिद्ध है। जैसे—'दण्डत्वादिकमादिमम्'—'दण्ड', 'घट' कार्य का 'कारण' है। उसकी **'कारणता'**, 'दण्डत्व' धर्म से विशिष्ट (युक्त) 'दण्ड' में गृहीत होती है। एवं च 'दण्डत्व धर्म के साथ 'दण्ड' का **पूर्वभाव** 'घट' कार्य के प्रति गृहीत होने से वह **'दण्डत्व' धर्म**, 'घट' कार्य के प्रति प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

(२) **'कारणमादाय वा यस्य'**—यह **द्वितीय अन्यथासिद्ध** का लक्षण है। किसी कार्य के प्रति जिस पदार्थ के नियतपूर्वभावित्व का ज्ञान, उसके कारण के द्वारा होता है, वह पदार्थ, उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे—**'घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्'** 'घट' कार्य के प्रति दण्ड में रहने वाले 'रूप' पदार्थ के **नियतपूर्वभावित्व** का ज्ञान, घटकार्य के कारणभूत 'दण्ड' के द्वारा होता है, अर्थात् 'रूप' अपने आश्रयभूत दण्ड के द्वारा अपने नियतपूर्वभावित्व का ज्ञान करा पाता है। इसलिये वह (दण्ड का रूप) घटकार्य के प्रति अन्यथासिद्ध समझा जाता है। **तात्पर्य** यह है कि 'दण्ड', घटकार्य का **पूर्वभावी** है, इस कारण उस दण्ड में रहने वाला **'रूप'** भी घट का पूर्वभावी समझा जाता है। अर्थात् घट के 'कारणभूत दण्ड' के द्वारा ही उसके रूप को पूर्वभावी कहा जाता है। इसलिये **'दण्डरूप'**, 'घट' के प्रति द्वितीय प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

(३) **'अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्'**—यह **तृतीय अन्यथासिद्ध**

का लक्षण है। किसी अन्य कार्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात कर लेने पर ही जिस पदार्थ का प्रस्तुत कार्य के प्रति पूर्वभाव जाना जा सके वह पदार्थ, प्रस्तुत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे—**'तृतीयं तु भवेद् व्योम'**—'घट' कार्य के प्रति **'आकाश'** (व्योम) **अन्यथासिद्ध** है, क्योंकि 'आकाश' का **प्रत्यक्ष** तो होता नहीं। उसका ज्ञान 'शब्द' के समवायिकारण के रूप में **अनुमान** के द्वारा हो पाता है। इस कारण 'अन्य' अर्थात् 'शब्द' के प्रति पूर्वभाव (कारण के रूप में आकाश का) सिद्ध होने पर ही घट के प्रति उसका पूर्वभाव (पूर्ववृत्तिता) संभव हो सकता है। अतः 'घटादि कार्य' के प्रति **'आकाश'** तृतीय (तीसरे) प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

(४) **'जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते'**—यह **चतुर्थ** अन्यथासिद्ध का लक्षण है। अर्थात् 'कारण' का जो कारण हो, वह **चतुर्थ** (चौथे) प्रकार का **अन्यथासिद्ध** होता है। जनकं प्रति = कारण के प्रति,- पूर्ववृत्तिता (कारणत्व) को अपरिज्ञाय = बिना जाने, यस्य = जिसकी कार्य के प्रति, न गृह्यते = पूर्ववृत्ति गृहीत न हो। निष्कर्ष यही है कि जो कारण का कारण हो, वह चौथे प्रकार का **अन्यथासिद्ध** होता है। जैसे—कुलाल (कुंभार) का 'पिता' **घटकार्य** के प्रति चतुर्थ प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है।

(५) **'अतिरिक्तमथापि यद् भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः'**—यह **पञ्चम** (पाँचवें) प्रकार के **अन्यथासिद्ध** का लक्षण है। इसका तात्पर्य यह है कि नियतावश्यक पूर्व-भावी से भिन्न जो कुछ भी हो, वह सभी पञ्चम अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे—**घटोत्पत्ति** के प्रति दैववशात् (अकस्मात्) आया हुआ **रासभ** (गधा) पञ्चम अन्यथासिद्ध है। इस प्रकार विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने अपने न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली ग्रंथ में **पाँच प्रकार** के **अन्यथासिद्धों** को बताया है।

एवं च **'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्'** यह 'कारण' का लक्षण है, और **'क्रियासिद्धौ यत् प्रकृष्टोपकारकं तत् करणम्'**—यह **'करण'** का लक्षण है। तथापि **'करण'** के लक्षण में शंका हो रही है।

शंका—'ण्वुल्तृचौ'–(पा० सू० ३।१।१३३) सूत्र से कर्ता अर्थ में (कर्तरि) ण्वुल् प्रत्यय किया जाता है। अतः 'साधयतीति साधकः' इस व्युत्पत्ति से साधकत्व (साधकता) 'कर्ता' में उपपन्न होता है। 'कर्ता' यहाँ पर प्रमाता ही है। इस कारण 'साधकत्व' करण में है ही नहीं, तब उसका 'साधकतमत्व' होना कैसे संभव हो सकता है ?

समा०—**'क्रियां कुर्वद् हि कारकम्'** इस न्याय से समस्त कारकों में स्व (अपने) व्यापार की अपेक्षया (दृष्टि से) कर्तृत्व का होना संभव है। इसलिये **करण** में भी 'कारकत्व' का अपरपर्यायरूप 'साधकत्व' का होना संभव है। इसीलिये **तर्कभाषाकार** ने 'प्रकृष्टं कारणम्' कहा है।

'अन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्', यहाँ पर 'अन्यथासिद्धश्चासौ नियतश्च स चासौ पूर्वभावश्च सोऽस्यास्तीत्यनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावि'। यह कर्मधारय-समास है।

शंका—'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' इस नियम के विद्यमान रहते कारण का उक्त लक्षण कैसे कह रहे हैं?

समा०—'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' यह नियम सार्वत्रिक नहीं है, इसी कारण 'कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने' यह प्रयोग उपपन्न हो पाता है।

शंका—'यस्य कार्यात् पूर्वभावः' कहकर कारण का लक्षण बता चुके, किन्तु **'अवधिभूतकार्य'** का जब तक परिज्ञान न हो, तब तक **'अवधिमत्कारण'** का ज्ञान होना कैसे संभव होगा?

समा०—इसीलिये 'कारण' का लक्षण बताने के बाद अब 'कार्य' का लक्षण **'अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं–कार्यत्वम्'** किया है। अर्थात् अन्यथासिद्ध न होकर नियतरूप से कारण के पश्चात् होना ही **'कार्य'** का लक्षण है। **कारण** और **कार्य** दोनों के लक्षणों के अनुसार 'घट' के प्रति अन्यथासिद्ध न होकर घट के पूर्व, नियतरूप से उपस्थित होने के कारण 'कुलाल, चक्र, चीवर, दण्ड' आदि अथवा 'पट' के प्रति 'तुरी, वेमा आदि' घट या पट के प्रति क्रमशः कारण कहे जाते हैं, और उन सब कारणों के उपस्थित होने के पश्चात् उत्पन्न होने से 'घट' या 'पट' को यथाक्रम उन सब का कार्य कहते हैं।

यत्तु कश्चिदाह कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणमिति, तदयुक्तम्। नित्य-विभूनां व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासम्भवेनाकारणत्वप्रसङ्गात्।

अर्थ—**यत्तु कश्चिदिति**। परन्तु किसी ने कारण का जो लक्षण **'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्'** कहा है, अर्थात् 'कार्येण अनुकृतौ अन्वय-व्यतिरेकौ यस्य तत् कारणम्'। **कार्य द्वारा** जिसके **अन्वय** और **व्यतिरेक** का अनुकरण किया जाय, वह **कारण** है। **अन्वय** का अर्थ है 'भाव' (होना) और **व्यतिरेक** का अर्थ है 'अभाव' (न होना)। 'अन्वय के अनुकरण' का अर्थ है **'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्'**। 'कारण' के होने पर 'कार्य' का होना, और 'व्यतिरेक के अनुकरण' का अर्थ है—**'तदभावे तदभावः'**, 'कारण' के न होने पर 'कार्य का न होना। इस अनुकरण का भङ्ग न होने पर ही 'कार्य' के 'कारण' का निश्चय हो पाता है। किन्तु इस प्रकार 'कारण' का लक्षण बताना ठीक नहीं है, क्योंकि **नित्य** और **विभु** रहने वाले 'आकाश', 'काल' आदि पदार्थों का किसी भी काल में और किसी भी देश में अभाव (व्यतिरेक) नहीं रहता है। इस कारण उन्हें **'किसी भी कार्य'** का कारण नहीं कहा जायगा। किन्तु 'आकाश, काल, ईश्वर आदि नित्य और विभु पदार्थ' तो सभी कार्यमात्र के प्रति कारण माने जाते हैं। लेकिन उक्त लक्षण (कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्) 'नित्य-

विभु पदार्थों में घटित न हो पाने से अव्याप्त हो रहा है, अर्थात् यह लक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित हो जाता है। अत: यह लक्षण ठीक नहीं है।

माधुरी

शंका—कारणत्व का निश्चय तो प्राय: अन्वय-व्यतिरेक से ही किया जाता है। जैसे—'अग्नि', **दाह के** प्रति कारण अन्वय-व्यतिरेक के बल पर ही माना जाता है। 'अग्नि' और 'दाह' का **अन्वय-व्यतिरेक** इस प्रकार होता है—'अग्निसत्त्वे दाहसत्त्वम्' यानी अग्नि के होने पर दाह होना, यह तो **अन्वय** हुआ और 'अग्न्यभावे दाहाभाव:' यानी अग्नि के अभाव में (न होने पर) दाह का अभाव होता है यानी दाह नहीं होता है, यह व्यतिरेक हुआ। इस प्रकार 'अग्नि' और 'दाह' में **अन्वय-व्यतिरेक** रहने से ही 'अग्नि' को **दाह के प्रति** कारण कहते हैं। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने **'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्'** यह कारण का लक्षण बनाया है। तब उसे 'ठीक नहीं' यह कैसे कहा जा रहा है?

समा०—'कार्यानुकृतान्वय-व्यतिरेकि कारणम्'—इस लक्षण का आशय तो यही होगा कि 'कार्य' के द्वारा जिसके **अन्वय** और **व्यतिरेक** दोनों का अनुकरण (अनुसरण) किया जाता हो; वही, उस कार्य का कारण हो सकता है। ऐसी स्थिति में 'आकाशसत्त्वे, कालसत्त्वे, ईश्वरसत्त्वे घटसत्ता (सत्त्वं)' यह अन्वय तो बन जाता है, किन्तु 'आकाशाभावे, कालाभावे, ईश्वराभावे घटाभाव:' यह व्यतिरेक नहीं बन सकेगा। क्योंकि ऐसा कोई 'काल' या 'देश' नहीं है, जिसमें 'आकाश', 'काल' और 'ईश्वर' का अभाव हो। ये सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहते हैं। इसी लिये इन्हें नित्य और विभु (व्यापक) कहा जाता है। अत: नित्य-विभु पदार्थों के साथ 'कार्य का अन्वय' बन जाने पर भी 'व्यतिरेक' नहीं बन पाता है जब कि बनने चाहिये दोनों। एवं च एक के बनने पर भी दोनों के न बन पाने से यह 'लक्षण' अव्याप्तिदोष से दूषित हो जाता है। इसलिए यह लक्षण ठीक नहीं है।

शंका—आकाशादि नित्यविभु पदार्थों का व्यतिरेक न रहने से उनमें यदि कारणता नहीं बन पाती है तो न बनें, क्या हानि है?

समा०—आकाश को 'शब्द' का कारण माना जाता है, तथा आकाश के साथ होने वाले 'मूर्तद्रव्य के संयोगादि गुणों' का भी उसे कारण माना जाता है। उसी तरह 'दिक् तथा काल' को अपने में उत्पन्न होने वाले संयोगादिगुणों का असाधारण कारण, और कार्यमात्र का साधारण कारण माना जाता है। तथा **'आत्मा'** को अपने में उदय होने वाले ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणों का तथा संयोग आदि सामान्य गुणों का कारण और अनेक कार्यों का कर्ता के रूप में कारण कहते हैं। **ईश्वर** को भी 'अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग' आदि सामान्य गुणों का असाधारण

कारण कहते हैं, तथा कार्यमात्र के कर्ता के रूप में साधारण कारण कहते हैं। ऐसी स्थिति में **आकाशादि नित्यपदार्थों** को 'कार्य मात्र के प्रति' **कारण न कहने पर** उपर्युक्त सभी मान्यताओं का **भंग** हो जायगा। इसलिये **'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्'** यह लक्षण जिस किसी ने किया है, वह कार्यमात्र के प्रति कारणभूत 'आकाशादि नित्य-द्रव्यों' में **अव्याप्त** हो रहा है, अतः उसे मानना उचित नहीं है। ग्रन्थकार ने उसमें युक्ति **'नित्यविभूनां····प्रसंगात्'** कहकर कालतः व्यतिरेकाभाव में 'नित्यत्व' को और देशतः व्यतिरेकाभाव में 'विभुत्व' को हेतु बताया है।

कुछ लोग **'कार्यव्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वं कारणत्वम्'** यह कारण का लक्षण करते हैं। उनका कहना है कि 'कारण के अभाव' से ही **कार्य** का **अभाव** होता है। एवं च 'जिसका अभाव; कार्य के अभाव का प्रयोजक हो, उसे **'कारण'** कहना चाहिये। लेकिन यह लक्षण भी कारणीभूत आकादि नित्यविभु द्रव्यों' में **अव्याप्त** हो जाता है, इस कारण यह लक्षण भी ठीक नहीं है।

वाक्यवृत्तिकार ने कारण के दो ही भेद **'साधारण** और **असाधारण'** नाम से किये हैं। पातञ्जल-योगसूत्र के व्यासभाष्य में भी कारण के 'उत्पत्तिकारण और स्थितिकारण आदि नौ भेद' किये हैं—

"उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥"

—(यो० सू० व्या० भा० २।२८)

उदयनाचार्य ने भी 'तर्कभाषाकार' के अनुसार ही 'कार्यमात्र के प्रति' नित्य और विभुपदार्थों को कारण कहकर 'अनन्यथासिद्ध····कारणत्वम्' ही कारण का लक्षण किया है—

"पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित्।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मधीरन्यथा न हि॥"

—(न्या० कु० १।१९)

तच्च कारणं त्रिविधम्। समवायि-असमवायि-निमित्त-भेदात्। तत्र यत्स-मवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य समवायि-कारणम्। यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु।

ननु तन्तुसम्बन्ध इव तुर्यादिसम्बन्धोऽपि पटस्य विद्यते, तत्कथं तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते न, तुर्यादिषु ?

सत्यम्। द्विविधः सम्बन्धः संयोगः समवायश्चेति। तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। अन्ययोस्तु संयोग एव।

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते ताव-युतसिद्धौ ।

तदुक्तम्—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥

यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेष-नित्यद्रव्ये चेति । अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्ते-ऽविनश्यन्तः । विनश्यदवस्थास्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयव्यादयः । यथा तन्तु-नाशे सति पटः । यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः । विनश्यत्ता तु विनाश-कारणसामग्रीसान्निध्यम् ।

अर्थ—तच्चेति । और वह **कारण** (१) समवायिकारण, (२) असमवायि-कारण, और (३) निमित्तकारण के भेद से **तीन प्रकार का** होता है । 'तच्च' में 'च' कार को पक्षान्तर की व्यावृत्ति के लिये दिया है । उससे **'निमित्तोपादान-कारणद्वयवाद'** का निराकरण सूचित किया गया है । उक्त तीनों कारणों में से समवायिकारण की प्रधानता को देखते हुए प्रथमतः उसी का लक्षण, तदनन्तर तत्प्रत्यासन्नत्वेन, अर्थात् उसके समीपवर्ती रहने से असमवायिकारण का लक्षण तदनन्तर अवशिष्ट निमित्त कारण का लक्षण किया गया है ।

तत्रेति । उक्त त्रिविध कारणों में से **समवायिकारण** वह कहलाता है—**'यत्समवेतं'** =यस्मिन् समवेतं—जिसमें समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है, उसको **सम-वायिकारण** कहते हैं । जैसे—'तन्तवः पटस्य समवायिकारणम्' = **तन्तु** 'पट' के सम-वायिकारण हैं, क्योंकि 'तन्तुओं' में ही **समवायसम्बन्ध** से 'पट' **उत्पन्न** होता है, 'तुरी आदि' में नहीं । 'तन्तवः समवायिकारणम्' यह 'लिङ्ग-वचन' का व्यत्यय नित्य-नपुंसक होने से तथा जात्यभिप्राय से 'वेदाः प्रमाणम्' के समान समझना चाहिये ।

समवाय सम्बन्ध—

शंका—नन्विति । पट का 'तन्तु' के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध है ? वैसे ही 'तुरी आदि' के साथ भी सम्बन्ध है, तो ऐसा क्यों कह रहे हैं कि 'तन्तुओं' में ही **समवाय सम्बन्ध से** पट उत्पन्न होता है, 'तुरी आदि' में नहीं ।

समा०—सत्यमिति । पूर्वपक्षी की शंका ठीक है, 'पट' का तुरी आदि के साथ भी सम्बन्ध है, किन्तु **सम्बन्ध** दो प्रकार का होता है—(१) **संयोग** और (२) **समवाय** उनमें जो, **दो अयुतसिद्ध** (अपृथक् सिद्ध) पदार्थों का सम्बन्ध है, उसे **'समवाय'** कहते हैं । और जो दो अन्य पदार्थों का सम्बन्ध है, उसे **'संयोग'** ही कहते हैं । इनमें मे **तन्तु** और **पट अयुतसिद्ध** हैं, अतः उनका सम्बन्ध 'समवाय' है, और **'तुरी, पट'**

अयुतसिद्ध नहीं हैं । इसलिये उनका सम्बन्ध संयोग है । एवं च 'तन्तु,' पट के समवायिकारण हैं और 'तुरी' पट का निमित्तकारण मात्र है, 'समवायिकारण' नहीं है ।

शंका—काविति । किन दो पदार्थों को अयुतसिद्ध कहते हैं ?

समा०—ययोरिति । जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पदार्थं के आश्रित ही रहता है, वे दोनों ही परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं । इसी आशय को ग्रन्थकार **'तदुक्तम्'** से बता रहे हैं ।

तावेवेति । उन्हीं दो पदार्थों को अयुतसिद्ध जानना चाहिये, जिन दोनों में से एक पदार्थं अविनश्यदवस्था में दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है ।

यथेति । जैसे—(१) अवयव-अवयवी, (२) गुण-गुणी, (३) क्रिया-क्रियावान्, (४) जातिव्यक्ति, (५) नित्यद्रव्य और विशेष । **अवयवी आदि** पदार्थं यथाक्रम **अवयवादि** पदार्थों के आश्रित ही रहते हैं । विनश्यदवस्था में तो 'अवयवी आदि पदार्थं' निराश्रित ही रहते हैं । विनश्यदवस्था में तो 'अवयव' रूप (तन्तु) के नष्ट होने पर, (पटात्मक) अवयवी निराश्रित हो जाता है । जैसे---तन्तु के विनष्ट होने पर पट । अथवा जैसे—आश्रय (घटादि) का नाश होने पर उसमें रहने वाले रूप आदि गुण, विनश्यदवस्था में निराश्रित हो जाते हैं । **विनश्यदवस्था क्या है ?** उत्तर देते हैं कि **"विनश्यता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम्"** अर्थात् विनश्यदवस्था तो विनाशकारण की सामग्री का सान्निध्य, यानी 'समस्त विनाशकारणों' का एकत्र जुट जाना है ।

माधुरी

पट की उत्पत्ति में 'तुरी, तन्तु, वेमा आदि' अनेक कारण हैं, किन्तु उन सभी कारणों में से **समवायिकारण** केवल **तन्तु** ही है । 'तुरी, वेमा आदि' पट के समवायिकारण नहीं हैं, अपितु वे निमित्तकारण हैं । महाकवि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधमहाकाव्य' में पट के प्रति 'तुरी, तन्तु, वेमा आदि' की कारणता का वर्णन कवियों की पद्धति से किया है—

> "सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
> दिगङ्गनाङ्गावरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ।।"
>
> —नैषध० १।१२ ।।

रणभूमि के प्राङ्गण में महान् असिरूप वेमा की सहकारिणी, राजा नल के सैनिकों की चातुरीरूप तुरी, उसके श्वेतवर्ण के शौर्यादि गुणरूप तन्तुओं से दिगङ्गना के अंगावरण के लिये यश (कीर्ति) रूप पट को बुन रही थी । यहाँ पर समस्त वस्तुविषयक सांगरूपक से कवि ने कार्य-कारणभाव को बताया है ।

शंका—पट अपनी उत्पत्ति के समय तीन कारणों से सम्बद्ध हुआ ही उत्पन्न होता

हैं। तब किसी एक में वह समवायसम्बन्ध से रहता है, और अन्यत्र नहीं रहता, यह वैषम्य क्यों है ?

समा०—प्रश्नकर्ता के आधे अभिप्राय को स्वीकार कर के कहा—**'सत्यम्'**। सब के साथ 'पट' का सम्बन्ध समान रहने पर भी 'एक के साथ' समवायलक्षणसम्बन्ध से उसका सम्बन्ध रहता है और 'अन्य के साथ' संयोगलक्षणसम्बन्ध रहता है। प्रत्यक्षरूप से प्रसिद्ध होने के कारण संयोग का नामग्रहण प्रथम किया है, किन्तु समवायनिरूपण के अधीन उसका निरूपण रहने से लक्षण कथन के समय संयोग को त्यागकर समवाय का लक्षण प्रथमतः बताया गया है। **समवायिकारण** वह होता है, जिसमें कार्य समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है। जैसे—'तन्तुओं' में **पट** 'समवाय-सम्बन्ध' से उत्पन्न होता है, इसलिये 'पट' के प्रति **तन्तु** को 'समवायिकारण' कहा जाता है। और 'तुरी, वेमा आदि' कारणों में **पट** समवायसम्बन्ध से उत्पन्न नहीं होता, इसलिये **'पट'** के प्रति 'तुरी, वेमा आदि' को समवायिकारण नहीं कहा जाता।

'तच्च कारणं त्रिविधम्, समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्' इस कथन से वस्तुतः कारण का विभाग नहीं समझना चाहिये। अन्यथा 'कारण का विभाजक धर्म' समवायि-कारणत्व, असमवायिकारणत्व, निमित्तकारणत्व को कहना होगा, किन्तु वह असंभव है। क्योंकि **विभाजकधर्म** वही होता है, जो 'विभाज्यतावच्छेदकधर्म का साक्षात् व्याप्य तथा परस्पर विरुद्ध होता है। **जैसे द्रव्य** का जब विभाजन किया जाता है, तब द्रव्य को **विभाज्य** कहते हैं, उसमें **विभाज्यता** रहती है और उस विभाज्यता का अव-च्छेदकधर्म 'द्रव्यत्व' होता है। उस 'विभाज्यतावच्छेदकद्रव्यत्वधर्म' के **साक्षात् व्याप्य,** पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व आदि धर्म **होते** हैं और ये 'पृथिवीत्व, जलत्वादि धर्म **परस्पर विरुद्ध** भी हैं, इसलिये 'द्रव्यत्व के व्याप्य इन पृथिवीत्व आदि धर्मों को **द्रव्य का विभाजक** कहा जाता है। **इसी प्रकार** 'समवायिकारणत्व आदि धर्मों' को यदि **कारण का विभाजक** कहें तो **कारण** 'विभाज्य' होगा, उसमें 'विभाज्यता' रहेगी और 'विभाज्यतावच्छेदक धर्म' **कारणत्व** होगा। क्योंकि 'समवायिकारणत्व, असमवायि-कारणत्व और निमित्तकारणत्व' ये तीनों 'कारणत्व' रूप **विभाज्यतावच्छेदक धर्म** के साक्षात् व्याप्य भी हैं, तथापि ये "व्याप्यधर्म" परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि जो कारण किसी एक कार्य का समावायिकारण है, वही किसी दूसरे कार्य का निमित्त कारण बन जाता है। उसी प्रकार जो किसी एक कार्य का असमवायिकारण है, वही किसी दूसरे कार्य का निमित्तकारण भी बन जाता है। जैसे—तन्तु, पटकार्य का समवायिकारण है, किन्तु उसी तन्तु से जब किसी को बाँधा जाता है, तब वह तन्तु, उस बन्धन कार्य का निमित्तकारण बन जाता है। उसी प्रकार 'तन्तुओं का संयोग,' पटकार्य का असमवायिकारण है, किन्तु वही तन्तुसंयोग अपने ध्वंस का प्रतियोगि-विधया और अपने प्रत्यक्ष का विषयविधया निमित्तकारण भी बन जाता है। अतः

समवायिकारणत्व और असमवायिकारणत्व का निमित्तकारणत्व के साथ विरोध न रहने से 'ये तीनों धर्म', **कारण के विभाजक** नहीं हो सकते।

यदि यह कहें कि **ग्रन्थकार** ने जो विभाग बताया है, वह 'कारणसामान्य' का विभाग नहीं बताया है, अपितु वह एक कार्य के 'कारण' का विभाग बताया है। अर्थात् किसी 'एक कार्य' का जो 'कारण' है, वह समवायिकारण, असमवायिकारण, और निमित्तकारण भेद से तीन प्रकार का होता है। क्योंकि जिस कार्य का जो समवायिकारण अथवा असमवायिकारण होता है, वह उसी कार्य के प्रति निमित्तकारण नहीं होता है। इसलिये एक कार्य के समवायिकारणत्व, असमवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व में परस्पर विरोध होने से उनके विभाजक होने में कोई बाधा नहीं है।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि एक कार्य के समवायिकरणत्व और निमित्तकारणत्व में भी विरोध नहीं है। जैसे 'काल' अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग आदि गुणों का समवायिकारण भी होता है और निमित्तकारण भी होता है, क्योंकि 'काल' समस्त कार्यमात्र के प्रति 'निमित्तकारण' माना जाता है, अतः उसे स्व-गत संयोग आदि के प्रति भी निमित्तकारण मानना ही होगा। एवं च ग्रंथकार ने जो 'कारण-विभाग' किया है, वह 'कारणता-विभाग' के आधार पर ही किया है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थकार को समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण भेद से कारण के तीन भेद करना अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये तीन भेद 'कारणता' के हैं। तव विभाज्य 'कारणता' होगी, 'कारणतात्व' विभाज्यतावच्छेदक होगा, और उसका साक्षात् व्याप्य तथा परस्पर विरुद्ध समवायिकारणतात्व, असमवायिकारणतात्व और निमित्तकारणतात्व होंगे। अतः वे ही विभाजक होंगे। तब कारणता के त्रिविध होने से कारण में भी त्रिविधत्व का गौण व्यवहार कर सकेंगे। इसी गौण-व्यवहार के आधार पर ही ग्रन्थकार ने 'कारण' का त्रैविध्य **'तच्च कारणं त्रिविधम्'** से बताया है।

अयुतसिद्ध पदार्थों में 'समवायसम्बन्ध' होता है और युतसिद्ध पदार्थों में 'संयोग-सम्बन्ध' ही होता है। 'तन्तु और पट' अयुतसिद्ध पदार्थ हैं। इसलिये दोनों में समवाय-सम्बन्ध है। यही कारण है कि 'पट' समवायसम्बन्ध से 'तन्तु' में उत्पन्न होता है। 'तुरी और पट' अयुतसिद्ध नहीं हैं किन्तु युतसिद्ध हैं। इसलिये उनमें 'समवायसम्बन्ध' न होकर 'संयोगसम्बन्ध' ही होता है। यही कारण है कि तुरी आदि में समवाय-संबंध से पट उत्पन्न नहीं होता है।

जिन दो पदार्थों में से कोई एक पदार्थ अपनी अविनश्यत् अवस्था में यानी अपने विनाश की सामग्री की अनुपस्थिति में दूसरे पदार्थ पर आश्रित होकर ही रहता है, अर्थात् जिनको एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता है, उन दोनों को

अयुतसिद्ध कहते हैं। इस लक्षण में जिन दो पदार्थों को अयुतसिद्ध कहा गया है, उनमें से केवल एक का दूसरे पर आश्रित रहना आवश्यक है। दोनों को सर्वदा साथ रहना ही आवश्यक नहीं है। जैसे, तन्तुओं में पट उत्पन्न होता है, अतः पट तन्तु पर आश्रित है, वह तन्तुओं के आश्रय के बिना नहीं रह सकता। इसीलिये 'अपराश्रितम्' के आगे 'एव' शब्द को जोड़ दिया है। यहाँ पर कारणभूत जो तन्तु हैं, वे पट पर आश्रित नहीं हैं, बिना पट बने भी 'तन्तु' रहते हैं। एवं च अयुतसिद्ध माने गये दो पदार्थों में से केवल एक ही दूसरे पर आश्रित रहा करता है, दोनों परस्पर आश्रित नहीं रहते। इसीलिये 'अयुतसिद्ध' के लक्षण में 'एक' शब्द का सन्निवेश किया गया है। और उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध 'समवाय' होता है। जैसे—घट और उसका रूप, पुष्प और उसका गन्ध, जल और उसका रस आदि इन दो-दो युगलों में से एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस कारण ये युगल-पदार्थ अयुतसिद्ध हैं। इनमें 'घट' 'गुणी' (द्रव्य) है और 'रूप' उसका 'गुण' है, 'पुष्प' गुणी (द्रव्य) है और 'गन्ध' उसका गुण है, 'जल' गुणी (द्रव्य) है, और 'रस' उसका गुण है। गुण को गुणी से अलग नहीं किया जा सकता है। इस कारण गुण और गुणी परस्पर अयुतसिद्ध हैं। और उनका सम्बन्ध 'समवाय' है।

इसी प्रकार **'अवयव'** और **'अवयवी'**। जैसे—तन्तु 'अवयव' है और पट 'अवयवी' है। तन्तु से पट को अलग नहीं किया जा सकता। इस कारण दोनों अयुतसिद्ध हैं, और उनका परस्पर सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है। अभिप्राय यह है कि तन्तु (अवयव) और पट (अवयवी) दोनों जितने समय तक रहते हैं, उतने समय तक अर्थात् विनाश के अन्तिम कारण तन्तुनाश का सन्निधान होने के पूर्व अपने संपूर्ण समय तक पट (अवयवी), अपने तन्तु (अवयव) में आश्रित ही रहता है। इसलिये तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं। किन्तु तुरी और पट में अयुतसिद्धत्व नहीं है, क्योंकि उन दोनों में कोई भी अपनी अविनश्यत्ता के सम्पूर्ण समय तक दूसरे के आश्रित होकर ही नहीं रहता। न तुरी ही पट के आश्रित होकर रहती है और न पट ही तुरी में आश्रित होकर रहता है। दोनों ही अपनी अविनश्यदवस्था में कभी-कभी दीर्घकाल तक एक दूसरे से दूर रहते हैं। अतः उनका (तुरी और पट का) संयोगसम्बन्ध ही माना गया है, समवायसम्बन्ध नहीं।

इसी प्रकार **क्रिया और क्रियावान्**। उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन आदि कर्म को क्रिया कहते हैं और वह क्रिया जिसमें रहती है उसे क्रियावान् कहते हैं। क्रियावान् में ही क्रिया रहती है। क्रियावान् से क्रिया को अलग नहीं किया जा सकता। इस कारण दोनों अयुतसिद्ध हैं और उनका सम्बन्ध 'समवाय' है। एक ऐसा समय भी आता है, जब क्रिया निराश्रय रहती है। जब आश्रय (क्रियावान्) के नाश से क्रिया का नाश होता है, तब पहिले (प्रथम) क्षण में आश्रयनाश और दूसरे

(द्वितीय) क्षण में क्रियानाश होता है। ऐसी स्थिति में एक क्षण के लिये क्रिया निराश्रित ही रहती है, क्योंकि एक क्षण में एक ही कार्य होता है, दो (आश्रयनाश और क्रियानाश) कार्य नहीं। अन्यथा 'क्रिया' सर्वदा ही क्रियावान् में आश्रित रहती।

इस रीति से **अवयव-अवयवी, गुण-गुणी,** और **क्रिया-क्रियावान्** इनमें अयुतसिद्ध का लक्षण तभी समन्वित होगा, जब कि अयुतसिद्ध के लक्षण में **अविनश्यत्** पद रहेगा। यदि 'अयुतसिद्ध' के लक्षण में **'अविनश्यत्'** पद को न रखें तो **'ययोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ'** इतना ही लक्षण रहेगा। तब **अयुतसिद्ध** के जो पाँच भेद अभी बताये हैं उनमें से पहिले तीनों में अर्थात् अवयव-अवयवी, गुण-गुणी और क्रिया-क्रियावान् में यह लक्षण समन्वित नहीं हो सकेगा। क्योंकि गुण आदि सर्वदा 'गुणी' आदि के आश्रित ही नहीं रहते हैं। क्योंकि जब गुण, क्रिया और अवयवी निराश्रित हो जाते हैं, तब **'एकमपराश्रितमेव अवतिष्ठते'** यह अयुतसिद्ध-लक्षण, उनमें समन्वित नहीं हो सकेगा। उसी तरह **जाति** और **व्यक्ति** में भी 'जाति' के नित्य होने पर भी 'व्यक्ति' के अनित्य होने से व्यक्ति का नाश होने पर जाति के निराश्रय होने की संभावना है। अतः उपर्युक्त तीन और यह चौथा—इन चारों में लक्षण अव्याप्त रहेगा। केवल **नित्यद्रव्य** और **विशेष** इन दोनों के नित्य रहने से 'अयुतसिद्ध का लक्षण' इसी एक में ही घटित हो सकेगा। और शेष चारों में अव्याप्त होगा। एवं **च लक्ष्यैकदेशे में** अवृत्ति होने से अयुतसिद्ध का लक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित होगा। उसके निवारणार्थ 'अयुतसिद्ध' के लक्षण में **'अविनश्यत्'** पद अवश्य देना चाहिये।

तन्तु और पट के उदाहरण से भी 'अविनश्यत्' पद की आवश्यकता को समझ लिया जाय। **अयुतसिद्ध** के लक्षण में यदि 'अविनश्यत्' पद न रखें तो तन्तु और पट दोनों को अयुतसिद्ध नहीं कह सकेंगे। तब 'लक्षण' में अव्याप्तिदोष होगा। जैसे—सामान्यतया 'पट' सर्वदा तन्तुओं पर ही आश्रित रहता है। किन्तु न्याय-वैशेषिकशास्त्र के अनुसार एक क्षण ऐसा भी होता है, जब 'पट' निराश्रित रहता है, अर्थात् तन्तुओं पर आश्रित नहीं रहता। न्याय-वैशेषिकशास्त्र का सिद्धान्त है कि—(१) समवायिकारण के नाश से 'कार्यद्रव्य' का नाश होता है। (२) असमवायिकारण के नाश से भी कार्यद्रव्य का नाश होता है। (३) समवायिकारण और असमवायिकारण दोनों कारणों के नाश से भी 'कार्यद्रव्य' का नाश होता है।

पट का समवायिकारण 'तन्तु' है और असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' है। अतः कभी समवायिकारणभूत तन्तुओं के नाश से कार्यभूत पट का नाश होगा, और कभी असमवायिकारणभूत तन्तुसंयोग के नाश से भी कार्यभूत पट का नाश होगा। और कभी तन्तु और उनके संयोग दोनों के नाश से भी पट का नाश होगा। इन शास्त्रकारों का एक अन्य सिद्धान्त यह भी है कि 'कारण' हमेशा 'कार्य' के **'पूर्ववर्ती'** रहता

है। अतः पटनाश में कारणभूत जो तन्तुनाश है, वह अवश्य ही पटनाश के पूर्वक्षण में रहेगा। तन्तुनाश से पटनाश के होने में क्रम इस प्रकार रहेगा—

पटनाश का कारण → तन्तुनाश — पूर्वक्षण में होगा।
तन्तुनाश का कार्य → पटनाश — उत्तरक्षण में होगा।

इस परिस्थिति में जब पूर्वक्षण में तन्तुनाश हो जायेगा, तब एक क्षण के लिये पट को बिना किसी आश्रय के (निराश्रित) ही रहना होगा। तब 'ययोर्मध्ये एकम् अपराश्रितमेवावतिष्ठते' यह कथन संगत नहीं होगा। किन्तु लक्षण में जब 'अविनश्यत्' पद का सन्निवेश कर देते हैं तब उपर्युक्त कथन संगत हो जाता है। एवं च दोनों में से एक जब तक विनश्यत्ता की अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह अपराश्रित ही रहता है। फलतः जब समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होता है तो कारणनाश की अवस्था ही 'विनश्यदवस्था' है। अतः तन्तुनाश का क्षण 'पट' की विनश्यदवस्था है। उस अवस्था में 'पट', 'तन्तु' के आश्रित नहीं रहता। उस विनश्यदवस्था के अतिरिक्त दोनों में से एक अन्य के आश्रित ही रहता है। अतः तन्तु और पट अयुतसिद्ध कहलाते हैं।

घटरूप का कारण 'घट' है, उसी प्रकार घट में रहने वाली क्रिया का कारण भी 'घट' है। इन **गुण** तथा **क्रिया** के नाश के अन्य प्रकारों के अतिरिक्त एक प्रकार यह भी है कि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। यानी घट के नाश से घट के रूप का तथा घटगत क्रिया आदि का नाश होता है। इस दशा में 'घटनाश' कारण है और रूपादिगुण तथा क्रिया का नाश कार्य है। कारण और कार्य में **पौर्वापर्य** का होना आवश्यक है। अतः पहले घट का नाश तब उसके बाद घटगत रूप या घटगत क्रिया का नाश होगा। अतः घटनाश और घटगत रूपादिगुण तथा क्रिया के नाश में कम से कम एक क्षण का अन्तर अवश्य ही रहेगा। यह जो एक क्षण का काल है, वही गुण तथा क्रिया का 'विनश्यत्ताकाल' है। उस काल में गुण तथा क्रिया आदि निराश्रय हो जाते हैं। जब घट का नाश हो गया और घटगत रूपादिगुण अथवा क्रिया का नाश अगले क्षण में होना है, तब उस एक क्षण में रूपादि गुण तथा क्रिया आदि का कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि उनका आश्रयभूत घट, पहले क्षण में ही नष्ट हो चुका है। इस कारण इस एक क्षण में रूपादि गुण निराश्रित हो जाते हैं। इस क्षण के अगले क्षण में 'रूपादि गुणों' का भी नाश हो जाता है। यह क्षण, उनके नाश के अव्यवहित पूर्व का क्षण है। विनाश से अव्यवहित पूर्व का क्षण ही उनका 'विनश्यत्ताकाल' है। 'विनश्यत्ता' का अर्थ 'विनाशकारणसामग्रीसान्निध्य' है। अर्थात् जिस क्षण में विनाश के समग्र कारण उपस्थित हो जायें वही **'विनश्यत्ताकाल'** है। उस विनाशकारणसामग्री के एकत्र हो जाने पर अगले क्षण में कार्य का विनाश अवश्य हो जायेगा। आश्रयभूत

घटादि का नाश ही रूपादि के विनाश की सामग्री का सान्निध्य है। इसलिये इस 'विनश्यत्ताकाल' में रूपादि 'निराश्रय' ही रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'गुणादि' पराश्रित ही नहीं अपितु विनश्यत्ताकाल में निराश्रित भी रहते हैं।

जाति और व्यक्ति—ये दोनों पदार्थ अयुतसिद्ध कहलाते हैं। **'जाति'** का दूसरा नाम 'सामान्य' भी है। भिन्न-भिन्न अनेक वस्तुओं में एकाकार (समानाकार) प्रतीति कराने मेंजो पदार्थ निमित्त होता है' उसे **जाति (सामान्य)** कहते हैं। जैसे—अनेक भिन्न-भिन्न घटों में 'यह घट है, यह घट है, यह भी घट है' इस प्रकार की 'एकाकार (समानाकार) प्रतीति' होती है। यह प्रतीति, जिसके कारण होती है, वही 'घटत्व' नामक जाति 'सामान्य' कहलाता है। यह 'घटत्व' जाति, हमेशा 'घट' व्यक्तियों में ही रहती है, कभी उन घट व्यक्तियों से पृथक् नहीं रहती।

विशेष और नित्यद्रव्य—ये दोनों पदार्थ भी अयुतसिद्ध कहलाते हैं। **नित्यद्रव्यों** की संख्या ९ बतायी गयी है—(१) आकाश, (२) काल, (३) दिक् (४) आत्मा, (५) मन तथा (६) पृथिवी, (७) जल, (८) अग्नि, और (९) वायु के चार प्रकार के परमाणु। इन नित्यद्रव्यों में **'विशेष'** संज्ञक पदार्थ रहता है और वह सर्वदा उन द्रव्यों के आश्रित ही रहता है, वह कभी भी उनसे अलग नहीं रहता। इसलिये 'विशेष' और नित्यद्रव्य' को अयुतसिद्ध कहते हैं।

नित्यद्रव्यों से परिचय होने के पश्चात् 'विशेष' पदार्थ को भी जानना आवश्यक है। **'विशेष'** का अर्थ है—**'भेदकधर्म'**। सभी नित्यद्रव्यों में एक भेदकधर्म हुआ करता है, उसी से उन नित्यद्रव्यों में भेद की प्रतीति हो पाती है। उस भेदकधर्म को ही 'विशेष' पदार्थ कहते हैं।

शंका—अनेक पटों में समानाकार की प्रतीति कराने में जो 'पटत्व' नाम का 'सामान्य' है, वह सभी पटों को 'घट' आदि पदार्थों से अलग कर देता है। इस कारण पटत्वादिजाति के दो कार्य हैं—(१) सजातीय वस्तुओं में समानाकारक की प्रतीति कराना, और (२) विजातीय घटादि वस्तुओं से भेद की प्रतीति कराना। इसीलिये 'पटत्व' आदि जाति को 'सामान्य-विशेष' कहा गया है। अतः 'जाति' को ही 'विशेष' पदार्थ कहना चाहिये, उससे भिन्न **'विशेष'** नाम का पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—आपकी शंका उचित है, कि किसी भी पदार्थ की 'जाति' ही अन्य जाति की वस्तुओं से उस पदार्थ को अलग कर देती है, किन्तु जब समानजातीय (एक जाति की) वस्तुओं में परस्पर भेद बताना हो अर्थात् एक पट या घट, दूसरे पट या घट से भिन्न बताना हो तब उसे 'सामान्य-विशेष' से नहीं बता सकेंगे। वहाँ पर किसी अन्य कारण से ही उस भेद को बताना होगा। वह अन्य कारण, कहीं **गुण भेद** होगा। जैसे—पीले वस्त्र का हरे वस्त्र से या लाल वस्त्र का श्वेत वस्त्र

से भेद बताया जाता है। कहीं अन्य कारण **अवयव भेद** होगा। जैसे—दो वस्त्रों का गुण अर्थात् रंग आदि समान रहने पर अवयवों के भेद से ही दो वस्त्रों में भेद किया जाता है। वस्त्र (पट) के अवयव हैं 'तन्तु'। उनमें भी उनके अवयवों (छोटे-छोटे अंशों) के भेद के आधार पर ही भेद किया जाता है। इस रीति से अवयवों का विभाग करते करते जब तक हम 'द्वचणुक' पर पहुँचते हैं, तब तक अवयवों के भेद के आधार पर ही भेद करते रहते हैं। किन्तु **द्वचणुकों** के अवयव 'परमाणु' हैं, वे भी परस्पर भिन्न-भिन्न रहते हैं। उन परमाणुओं के तो अवयव नहीं होते। उस स्थिति में दो परमाणुओं में परस्पर भेद किस आधार पर होता है? जैसे उदाहरणार्थ दो पार्थिव परमाणुओं में भेद (भिन्नता) बताना है, किन्तु अवयव उनमें हैं नहीं, तब उनका परस्पर भेद कैसे किया जाय? उसी प्रकार न्याय-वैशेपिक-शास्त्र के मतानुसार अनेक आत्माओं में भी 'परस्पर भेद' किस आधार पर समझा जाय? इस प्रश्न के समाधानार्थ परमाणु आदि नित्यद्रव्यों में परस्पर भेद बताने वाले **'विशेष'** नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। यह 'विशेप' पदार्थ केवल भेद (व्यावृत्ति) का ही निमित्त होता है। 'सामान्य-विशेष' के समान सजातीय पदार्थों में समानाकारक प्रतीति कराने में निमित्त नहीं होता। इसीलिये इस भेदकपदार्थ को **'अन्त्यविशेष** या **विशेष'** शब्द से कहा गया है। इस 'विशेष' संज्ञक पदार्थ का अनुसन्धान करने के कारण 'शास्त्र' का नाम भी **'वैशेषिक'** प्रसिद्ध हो गया है। यह 'विशेष' संज्ञक पदार्थ हमेशा नित्यद्रव्यों के आश्रित ही रहता है। कभी नित्य-द्रव्यों से अलग नहीं रहता। अतः अयुतसिद्ध का लक्षण, 'अविनश्यत्' पद के रहने या न रहने पर भी उक्त उदाहरण में समन्वित हो ही जाता है, क्योंकि 'विशेप' पदार्थ नित्य है, वह सर्वदा अविनश्यदवस्था में ही रहता है।

'अयुतसिद्ध' शब्द का अर्थ है—जो युतसिद्ध न हो। 'युत' शब्द 'यु मिश्रणा-मिश्रणयोः' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। यहाँ पर धातु का अर्थ 'अमिश्रण' (पृथक्ता) लिया गया है। अतः जो दो पदार्थ युतसिद्ध (पृथक् सिद्ध) अर्थात् अलग-अलग रूप में निष्पन्न होते हैं, उन्हें 'युतसिद्ध' कहते हैं। जैसे—हाथी और घोड़ा, ये दोनों एक दूसरे के किसी प्रकार के आश्रय के बिना अपने-अपने स्वरूप में अलग-अलग सिद्ध हैं। इसलिये ये दोनों युतसिद्ध हैं। ऐसे युतसिद्ध दो पदार्थों का जो सम्बन्ध होता है, उसे 'संयोग' संबंध ही कहते हैं।

तन्तुपटावप्यवयवावयविनौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवायोऽयुतसिद्धत्वात्। तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात्। नहि तुरी पटाश्रितैवावतिष्ठते नापि पटस्तुर्याश्रितः। अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव। तदेवं तन्तुसमवेतः पटः।

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य न तु तुर्यादि।

पटश्च स्वागतरूपादेः समवायिकारणम् । एवं मृत्पिण्डोऽपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम् ।

तन्तुपटाविति । तन्तु और **पट** भी 'अवयव' और 'अवयवी' हैं । अतः वे दोनों 'अयुतसिद्ध' होने के कारण उन दोनों का सम्बन्ध **'समवाय'** है **'तुरी'** और **'पट'** में **अयुतसिद्ध** न होने से उनका 'समवायसम्बन्ध' नहीं है । न तो 'तुरी' पट के आश्रित रहती है और न ही 'पट' तुरी के आश्रित रहता है । अतः उन दोनों का सम्बन्ध **'संयोग'** ही है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तन्तु और पट के अयुतसिद्ध होने से 'पट', तन्तुओं में **समवेत** (समवायसम्बन्ध से रहता) है । अर्थात् वह तुरी, वेमा आदि में समवायसम्बन्ध से नहीं रहता है ।

शंका—पट के अनेक कारणों में से 'तन्तुओं' को हो 'समवायिकारण' क्यों कहते हैं ?

समाधन—'तन्तुओं' में ही समवायिकारण का लक्षण समन्वित होता है इसलिये 'तन्तुओं' को ही समवायिकारण कहा जाता है ।

यदिति । 'समवायिकारण' का लक्षण यह किया गया है कि **'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्'** अर्थात् जिस पदार्थ में कार्य समवेत (समवायसम्बन्ध) से आश्रित होकर उत्पन्न होता है, वह पदार्थ उस कार्य का **समवायिकारण** (समवायसम्बन्ध से कार्य का आधारभूत कारण) कहलाता है । इसलिये 'अवयवरूप तन्तु' ही 'अवयवीरूप पट' के समवायिकारण हैं, 'तुरी' आदि नहीं । इसके आगे **गुण** और **गुणी** के सम्बन्ध से दूसरा उदाहरण बताते हैं ।

पटश्चेति । जैसे—'पट' अपने में रहने वाले **रूप** आदि गुणों का समवायिकारण होता है । उसी प्रकार 'मृत्तिका (मिट्टी) का पिण्ड' भी **'घट'** का समवायिकारण होता है । और 'घट' भी अपने में रहने वाले **रूपादि गुणों** का समवायिकारण कहलाता है ।

ग्रन्थकार ने 'पट' को स्वगत रूप का और 'घट' को स्वगतरूप का समवायिकारण जो बताया है, वह 'गुण-गुणीभाव' की दृष्टि से 'समवायिकारण' का दूसरा उदाहरण प्रदर्शित किया है । अर्थात् गुणों के उत्पत्तिक्रम के एक विशेष सिद्धान्त को बताने के उद्देश्य से उसका उल्लेख यहाँ किया है ।

माधुरी

ग्रन्थकार ने समवायिकारण के अनेक उदाहरणों को क्यों प्रस्तुत किया ? यह प्रश्न मन में उपस्थित होता है । इस प्रश्न का समाधान यह दिया जा सकता है कि 'तन्तु' और 'मृत्पिण्ड' को क्रमशः पट और घट के समवायिकारण के रूप में जो बताया है, उसका अभिप्राय यह है कि जितने भी **द्रव्यात्मक कार्य** होते हैं, वे सब 'सावयव'

होते हैं, और उनके 'अवयव' ही उनके 'समवायिकारण' होते हैं। क्योंकि वे अपने 'अवयवों' में ही **समवेत** होकर उत्पन्न होते हैं। यह बात 'केवल द्रव्यात्मक उदाहरण' से स्पष्ट नहीं होती है। अतः दो उदाहरणों को देकर सभी द्रव्यात्मक कार्यों के सम्बन्ध में उक्त नियम की सूचना दे दी गई है। उसी प्रकार पट और घट को 'स्वगत रूपादि' के समवायिकारण के रूप में जो बताया है, उससे यह स्पष्ट किया है कि 'सभी द्रव्य' अपनी उत्पत्ति के क्षण में **निर्गुण** और **निष्क्रिय** (गुणरहित और क्रिया-रहित) हुआ करते हैं। 'घट' का समवायिकारण 'मृत्पिण्ड' को बताकर यह स्पष्ट किया है कि न्याय-वैशेषिकशास्त्र के मत में सभी कार्य (जन्य) द्रव्य, सावयव (अवयवी) रूप में होते हैं। पट आदि अवयवी का अपने तन्तु आदि अवयवों से उत्पन्न होना तो लोक-व्यवहार में दृष्टिगोचर होता रहता है, किन्तु घट आदि में वैसा दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। वहाँ तो मिट्टी के पिण्ड का घट के रूप में परिवर्तन होता दिखाई पड़ता है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि में मिट्टी के पिण्ड से भी प्रथमतः 'घट' के छोटे-छोटे अवयवों का निर्माण होता है, उन छोटे अवयवों (कपालिकाओं) से बड़े अवयव (कपाल) का निर्माण होता है। इस प्रकार 'अवयवों' में 'घट' रूप 'अवयवी' उत्पन्न होता है। उसी प्रकार सुवर्णादि धातुओं से कुण्डल आदि जो बनते हैं, वहाँ भी 'अवयवों में समवेत अवयवी' उत्पन्न होता है। न्याय-वैशेषिकशास्त्र के अनुसार सर्वत्र ही परमाणुओं से **द्व्यणुक** आदि की उत्पत्ति होकर क्रमशः 'कार्यद्रव्य' की उत्पत्ति होती है।

ननु यदैव घटादयो जायन्ते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि, अतः समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभाव एव नास्ति पौर्वापर्याभावात्। अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम्। कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य।

शंका—नन्विति। जब ही 'घटादि' (गुणीद्रव्य) उत्पन्न होते हैं, तब ही उनमें रहनेवाले 'रूपादि गुण' भी उत्पन्न होते हैं। इस कारण 'गुण' और 'गुणी' के समान-कालिक होने से, समानकाल में उत्पन्न होने वाले वाम-दक्षिण (बाँये-दाहिने) शृङ्गों के समान उनमें कार्य-कारणभाव, पौर्वापर्य के न रहने से हो ही नहीं सकता। इसलिये 'घट आदि' (गुणी) 'स्वगत रूपादि गुणों' के **समवायिकारण** नहीं हो सकते। क्योंकि 'समवायिकारण' भी तो एक विशेष प्रकार का कारण ही है।

'कार्य-कारणभाव' के लिये पौर्वापर्य का होना आवश्यक है। जैसा कि **'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्'** और **'अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्'**— इन 'कारण' और 'कार्य' के लक्षणों से भी उनका **पौर्वापर्य** बताया गया है। एवं च 'गुण-गुणी' का समानकालीन जन्म होने से 'घटादि गुणी' को **घटरूप आदि गुणों** का समवायिकारण नहीं कह सकते।

माधुरी

'घट' को 'स्वगतरूपादि गुणों' का समवायिकारण कहा है। उस पर पूर्वपक्षी का यह प्रश्न है कि 'घट आदि द्रव्य' जब उत्पन्न होते हैं उसी समय (घट की उत्पत्ति के क्षण में ही) उस घट में रूपादि गुणों की भी उत्पत्ति होती है—यह अवश्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि घटादि द्रव्य एक क्षण भी 'निर्गुण रहते कभी नहीं देखे जाते। यदि अपने उत्पत्तिक्षण में 'वे घटादि' निर्गुण होंगे तो दूसरे क्षण उनका 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'द्रव्य' के चाक्षुष प्रत्यक्ष के होने में कारणभूत 'रूपादि गुण' पूर्वक्षण में विद्यमान नहीं हैं। तथा 'घटादि द्रव्य' अपने 'जन्मक्षण' में यदि निर्गुण होंगे तो उस क्षण में उनको 'द्रव्य' ही नहीं कह सकेंगे। क्योंकि 'द्रव्य' का लक्षण है 'गुणवान्' होना। इसलिये 'घट के उत्पत्ति-क्षण' में ही उसके रूपादि गुणों का भी जन्म होना आवश्यक है। तब 'गुण और गुणी' में समानकालीनत्व (सहोत्पन्नत्व) होने से अर्थात् पौर्वापर्य के न रहने से 'कार्य-कारणभाव' नहीं बन सकेगा। जैसे पशु के वाम-दक्षिण सींगों में पौर्वापर्य के न रहने से कार्य-कारणभाव नहीं माना जाता। अतः 'सहभावी पदार्थों' में कार्य-कारणभाव कैसे संगत होगा? इस प्रकार घटगत रूपादि गुणों और घटादि द्रव्यों में जब 'कार्य-कारणभाव' का ही संभव नहीं हो रहा है, अर्थात् उसमें 'सामान्य कारण' बनने की ही योग्यता नहीं है तो वह 'विशेष कारण' कैसे हो सकता है? एवं च घटादि द्रव्य, 'स्वगत रूपादि गुणों' के समवायिकारण नहीं कहे जा सकते।

अत्रोच्यते। न गुणगुणिनोः समानकालीनं जन्म, किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते। समानकालोत्पत्तौ तु गुण-गुणिनोः 'समानसामग्रीकत्वाद् भेदो न स्यात्। कारणभेदनियतत्वात्कार्यभेदस्य। तस्मात्प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते गुणेभ्यः पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम्।

तदा कारणभेदोऽप्यस्ति। घटो हि घटं प्रति न कारणमेकस्यैव पौर्वापर्याभावात्। न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति। स्वगुणान् प्रति तु पूर्वभावित्वाद् भवति गुणानां समवायिकारणम्।

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद्, अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत्। तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं, यन्महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्।

अद्रव्यं च स्याद् गुणाश्रयत्वाभावात्। गुणाश्रयो द्रव्यमिति हि द्रव्य-लक्षणम्।

समाधान—अत्रोच्यत इति। उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए कह रहे हैं।

प्रथम क्षण में द्रव्य की निर्गुणता—

न गुणगुणिनोरिति । 'गुण' और 'गुणी' का जन्म (उत्पत्ति) समानकालीन नहीं है । अर्थात् दोनों की उत्पत्ति एक ही काल में नहीं हुआ करती । प्रथमतः 'द्रव्य' निर्गुण (गुणरहित) ही उत्पन्न होता है । उसके पश्चात् उस 'द्रव्य' में समवायसम्बन्ध से रहने वाले 'गुण' उत्पन्न होते हैं । 'गुण' और 'गुणी' दोनों की उत्पत्ति एक साथ ही स्वीकार करने पर उनकी उत्पत्ति की कारणसामग्री भी समान ही (एक ही) होगी । तब 'गुण' और 'गुणी' का भेद नहीं बन सकेगा । अर्थात् यह गुण है और यह गुणी है —ऐसा भेदव्यवहार नहीं हो सकेगा । क्योंकि 'कारणभेदनियतत्वात् कार्य-भेदस्य' यह नियम है । कार्य का भेद कारण के भेद से नियत (व्याप्त) रहता है । अर्थात् 'कार्य में भेद तभी हो सकता है, जब उसके कारण भी भिन्न हों' यह नियम (व्याप्ति) है । यानी कारणभेद होने पर ही कार्यभेद होता है, अन्यथा नहीं । यहाँ पर कारण शब्द 'सामग्री' का वाचक है, क्योंकि 'पट' अनेक कारणों से उत्पन्न होने पर भी एक ही रहता है, अनेक नहीं । अतः कारणभेद से कार्य का भेद नियत नहीं है । अपितु वह सामग्रीभेद से नियत होता है । जैसे—'घट और पट' दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं । दोनों के उत्पादन की कारणसामग्री भी भिन-भिन्न है । पटोत्पत्ति में कारणसामग्री है—'तन्तु, तुरी, वेमा आदि' और घटोत्पत्ति में कारणसामग्री है—'मिट्टी, दण्ड, चक्र, चीवर आदि ।' इसलिये प्रथम क्षण में **निर्गुण घट** की ही उत्पत्ति होती है, और उसके बाद 'उस घट' में रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं । ऐसा मानने पर 'घट' और उसके 'रूप' में पौर्वापर्य भी बन जाता है, जिससे 'घट' अपने 'स्वगत-रूप' का **समवायिकारण** बन सकता है ।

तब 'गुण' तथा 'गुणी' अर्थात् **घट और रूपादि** में 'कारणभेद' भी हो सकता है । क्योंकि घट 'घट' के प्रति अर्थात् स्वयं अपने प्रति कारण नहीं होता है, क्योंकि स्वयं का (घट का) स्वयं में ही (उसी घट में ही) 'पौर्वापर्यभाव' नहीं रहता है । और उसीकारण वह एक ही घट स्वयं (स्वयं अपने प्रति) के प्रति 'पूर्वभावी' (कारण) और 'पश्चाद्भावी' (कार्य) नहीं हो सकता । किन्तु 'अपने गुणों' के प्रति (घटगत रूपादि के प्रति) तो वह 'पूर्वभावी' होने से **गुणों** का **समवायिकारण** हो सकता है ।

शंका—नन्वेवमिति । इस पर **पूर्वपक्षी** पुनः शंका करता है कि यदि 'प्रथम क्षण में 'निर्गुणघट' उत्पन्न होता है'—इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर **दो दोषों** की उपस्थिति होगी । **प्रथम दोष** तो यह होगा कि उस **प्रथम क्षण** में 'घट' का **चाक्षुष प्रत्यक्ष** नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'चाक्षुषप्रत्यक्ष' उसी दव्य का हो सकता है, जिसमें **'महत् परिमाण और उद्भूतरूप'** ये दो गुण रहते हैं । **प्रथम क्षण** का 'घट' निर्गुण रहने से उसमें 'रूपादिगुण' रहते ही नहीं । अतः रूपरहित होने से 'घट' का **चाक्षुषप्रत्यक्ष**

नहीं हो सकेगा। जैसे---'वायु' 'रूपरहित द्रव्य' है, इसलिये उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। उसी प्रकार प्रथम क्षण का निर्गुण घट भी रूपरहित है। इसलिये उसका भी चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। यह **प्रथम दोष** 'द्रव्य की निर्गुणोत्पत्ति पक्ष' में उपस्थित होता है।

द्वितीय दोष यह होगा कि 'प्रथम क्षण' के निर्गुण 'घट' को **द्रव्य** शब्द से नहीं कह सकेंगे। क्योंकि जो 'गुण' का आश्रय हो अर्थात् जिसमें 'गुण' रहते हों उसी को 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इस परिभाषा के अनुसार **'द्रव्य'** कह सकते हैं। 'गुण का आश्रय ही द्रव्य होता है'---यह द्रव्य का लक्षण है।

सत्यम्। प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते का नो हानिः। न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते। तेन व्यवस्थितमेतन्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते। द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते।

न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावाद् द्रव्यत्वापत्तिः। समवायिकारणं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणयोगात्। योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च। योग्यता च गुणानामत्यन्ताभावाभावः।

सत्यमिति। पूर्वपक्षी का कहना सच है कि निर्गुणोत्पत्ति मानने पर प्रथम क्षण में घटादिद्रव्य का चाक्षुप प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। परन्तु यदि प्रथम क्षण में चक्षु से घट का ग्रहण नहीं होता है तो उससे हमारी हानि कौन-सी है? आपके **सगुणोत्पत्तिपक्ष** के अनुसार भी पलक झपकने के समय (निमेष के अवसर पर) 'घट' का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। अत: यदि प्रथम क्षण में घट का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है तो न हो, उससे किसी की कोई हानि नहीं है। अर्थात् प्रथम क्षण में ही घट का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं है। द्वितीय क्षण में रूपादिगुणों के उत्पन्न होने पर ही उसका प्रत्यक्ष होगा। इसलिये यह निश्चित हुआ कि प्रथम क्षण में 'घट' **निर्गुण** ही उत्पन्न होता है, और द्वितीयादि क्षणों में रूपादि गुणों के उत्पन्न होने पर उसका 'चाक्षुष-प्रत्यक्ष' होता है।

न चेति। अब **दूसरे दोष** का **समाधान** इस प्रकार है कि **प्रथम क्षण में** 'गुणों का आश्रय' न रहने से 'घट' को **'द्रव्य'** शब्द से नहीं कह सकेंगे, यह बात नहीं है। क्योंकि **'गुणाश्रयो द्रव्यम्'** यह 'द्रव्य का लक्षण' नहीं है। अपितु हमारे मत में 'समवायिकारणं द्रव्यम्' यह 'द्रव्य' का लक्षण है। अर्थात् जो किसी कार्य का समवायिकरण हो, वह द्रव्य होता है।

यह द्रव्य का लक्षण 'प्रथम क्षण के घट में' भी घटित हो जाता है। एवं च प्रथम क्षण का घट भी द्रव्यलक्षण से युक्त होने के कारण 'द्रव्य' ही कहा जायेगा उसे 'अद्रव्य' नहीं समझ सकते। क्योंकि 'वह घट' द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाले 'गुणों' का

समवायिकारण है। अतः कोई भी 'जन्यद्रव्य', अपनी उत्पत्ति के क्षण में भी 'द्रव्य' कहा जा सकता है। इसलिये उत्पत्ति-क्षण में 'अद्रव्यत्व' की शंका करना उचित नहीं है।

शंका—यद्यपि कोई भी जन्यद्रव्य, अपनी उत्पत्ति के क्षण में भी अन्तिम क्षण के स्वगतगुणों का समवायिकारण होने से 'द्रव्य' कहा जा सकता है, तथापि उसे अपने विनाश के अव्यहित पूर्वक्षण में (विनाश की अवस्था में) 'द्रव्य' में नहीं कह सकेंगे। क्योंकि अग्रिम क्षण (विनाश-क्षण) में, उस 'जन्य द्रव्य' में किसी समवेत कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये विनाशक्षणाव्यवहितपूर्वक्षण में वह किसी कार्य का समवायिकारण नहीं हो पा रहा है।

समा०—योग्यतयेति। हम 'समवायिकारणत्वं द्रव्यत्वम्'—इतना ही 'द्रव्यलक्षण' न कह कर **'समवायिकारणयोग्यत्वं द्रव्यत्वम्'**—इतना द्रव्यलक्षण करते हैं, तब द्रव्य-लक्षण की अव्याप्ति नहीं रहेगी। क्योंकि विनाश-क्षण के अव्यवहित पूर्वक्षणकालीन (विनश्यदवस्था के) द्रव्य में समवायिकारणत्व न रहने पर भी उस समय उसमें (विनश्यदवस्थ द्रव्य में) समवायिकारण हो सकने की योग्यता (द्रव्यत्व) तो है ही। क्योंकि 'समवायिकारणरूप द्रव्य' में समवायिकारणता रहेगी, उसका अवच्छेदक 'द्रव्यत्व' जाति होगी। उस 'द्रव्यत्वजाति' को ही 'समवायिकारणयोग्यता' कहते हैं। वह 'द्रव्यत्वजाति'रूप समवायिकारणयोग्यता, 'विनश्यदवस्था वाले द्रव्य' में भी विद्यमान है। अतः विनाशक्षणाऽव्यवहितपूर्वकाल में भी उसे 'द्रव्य' कह सकेंगे। उस कारण 'द्रव्यलक्षण' की उस-समय भी अव्याप्ति नहीं है।

सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि पूर्वपक्षी के अभीष्ट 'गुणाश्रयो-द्रव्यम्' इस द्रव्यलक्षण की भी उत्पत्तिक्षणकालीन 'घटादि' जन्य द्रव्यों में अव्याप्ति नहीं हो पायेगी। इस लक्षण में भी हम 'योग्यत्वं' इतना अंश जोड़ देंगे, अर्थात् 'गुणाश्रययोग्यत्वं द्रव्यत्वम्'—इतना 'द्रव्यलक्षण' बनावेंगे। यानी 'गुणों के आश्रय बनने की योग्यता का होना'—यह अर्थ, 'गुणाश्रयत्व' का होगा।

योग्यतेति। 'उस योग्यता का स्वरूप' इस प्रकार होगा कि 'जो गुणों के अत्यन्ता-भाव का अधिकरण न हो' 'गुणात्यन्ताभाव' यानि प्रतियोगिव्यधिकरणगुणाभाव का 'अधिकरण' न होना। अर्थात् उस गुणाभाव का अभाव रहना। एवं च 'प्रति-योगिव्यधिकरणगुणाभाव का अभाव ही 'गुणाश्रययोग्यता' है। 'अत्यन्ताभाव' एक त्रैकालिक (तीनों कालों में रहने वाला) अभाव है। 'घट' में गुणों का अत्यन्ता-भाव नहीं है। प्रथम क्षण के घट में यद्यपि गुणों का अभाव रहता है, तथापि उसमें 'समनन्तर क्षण' ही गुणों की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये उसे 'गुणों के अत्यन्ता-भाव' का अधिकरण नहीं कह सकते। 'प्रथम क्षण के घट' में 'गुणों' का **प्रागभाव** है, किन्तु 'अत्यन्ताभाव का तो अभाव' ही है। इसी को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार

कह सकते हैं—'गुणात्यन्ताभावाभाव' अर्थात् 'प्रतियोगिव्यधिकरणगुणाभावाभाव' ही गुणाश्रययोग्यता है। यह योग्यता 'उत्पत्तिक्षणकालीन जन्यद्रव्य' में भी है। यद्यपि उत्पत्तिक्षणकालीन जन्यद्रव्य में गुणाभाव है, किन्तु 'द्वितीय क्षण' में ही गुणाभाव के प्रतियोगी 'गुण' का उदय उसमें होता है, इसलिये वह 'अभाव' प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं है। अतः 'प्रतियोगिव्यधिकरणगुणाभाव' का अभाव, जन्य दव्य में विद्यमान है। इसलिये 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्यलक्षण 'प्रथम क्षण के घटादिजन्य द्रव्य' में भी समन्वित होने से अव्याप्तिदोष नहीं हो पा रहा है। एवं च पूर्वोक्त **'द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते, पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते'** यह निर्गुणोत्पत्ति का सिद्धान्त सर्वथा समुचित है।

असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम् यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। तन्तुसंयोगस्य गुणस्य, पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु, समवेतत्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च।

एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्।

असमवायिकारण—

असमवायीति। 'असमवायिकारण' उस 'कारण' को कहा जाता है, जो समवायिकारण में रहता हो (प्रत्यासन्न हो) और कार्योत्पादन करने में जिसका सामर्थ्य निश्चित हो। अर्थात् जिसमें 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व' रूप कारण का लक्षण समन्वित हो रहा हो, 'उस कारण' को 'असमवायिकारण' कहते हैं। जैसे—'तन्तुसंयोग', पट का (पटात्मक कार्य का) 'असमवायिकारण' है। क्योंकि 'तन्तुसंयोग' (स्वयं) गुणपदार्थ है, वह (तन्तुसंयोग), 'पट' (कार्य) के समवायिकारण तन्तुसंज्ञक गुणियों में 'समवेत' है, यानी समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिये 'पट' के समवायिकारण (तन्तुओं) में वह 'प्रत्यासन्न' (वृत्ति) हुआ। और साथ ही साथ वह (तन्तुसंयोगरूपकारण) पटात्मक कार्य के प्रति 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व' इस 'कारणलक्षण' से समन्वित भी है, इसलिये पट के प्रति 'कारण' भी है। इस रीति से 'तन्तुसंयोग' पट का असमवायिकारण होता है। क्योंकि 'समवायिकारणे प्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं च' यह **असमवायिकारण** का लक्षण उसमें समन्वित हो जाता है।

उसी प्रकार **'तन्तुरूप'** (तन्तु का रूप) **'पटरूप'** (पट के रूप) के प्रति **असमवायिकारण है।**

इसके पूर्व 'समवायिकारण' के दो उदाहरणों में से द्वितीय उदाहरण एक विशिष्ट उद्देश्य (निर्गुणोत्पत्ति अर्थात् गुण और गुणी का असमानकालीन जन्म का प्रतिपादन)

से दिया गया था। उसी प्रकार 'असमवायिकारण' का यह दूसरा उदाहरण भी एक विशिष्ट उद्देश्य (समवायिकारण में दो प्रकार से प्रत्यासत्ति अर्थात् साक्षात् और परम्परया हुआ करती है, यह बताने के लिये) से दिया गया है।

माधुरी

असमवायिकारण के लक्षण का पदकृत्य—

असमवायिकारण के लक्षण में से यदि **'समवायि'** पद को हटा दें तो शेष लक्षण 'यत्कारणप्रत्यासन्नम् अवधृतसामर्थ्यं (च) तदसमवायिकारणम्' इतना ही रहेगा। और उसका अर्थ यह होगा—जो किसी कार्य के कारण में प्रत्यासन्न (विद्यमान) होता हुआ, उस कार्य के प्रति निश्चितरूप से कारण भी हो, वह उस कार्य का 'असमवायिकारण' कहलाता है। तब 'समवायि' पद से रहित उक्त शेष लक्षण की 'चक्षु-घट-संयोग' में अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् घटचाक्षुष (घटप्रत्यक्ष) कार्य का 'चक्षु-घट संयोग', असमवायिकारण कहलायेगा। क्योंकि प्रत्यक्ष (घटचाक्षुष यानि घटप्रत्यक्ष) के प्रति निमित्तकारण 'विषय' (घट) होता है। इस कारण 'घट', 'घटचाक्षुष' का निमित्तकारण है, और 'चक्षु-घट संयोग', उस निमित्तकारणभूत 'घट' में प्रत्यासन्न (विद्यमान) है, और 'प्रत्यक्ष' में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की निमित्तकारणता निश्चित है, अर्थात् वह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष 'घटचाक्षुष' के होने में कारणरूप से निश्चित भी है। अतः उस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (चक्षु-घटसंयोग) में उक्त असमवायिकारण का लक्षण समन्वित हो जाने से अतिव्याप्ति हो जाती है। उसे दूर करने के लिये 'असमवायिकारण के लक्षण' में 'समवायि' पद अवश्य देना चाहिये। तब 'यत् समवायिकारण-प्रत्यासन्नम्, अवधृतसामर्थ्यं (च) तत् असमवायिकारणम्' यह असमवायिकारण का लक्षण होगा और उसकी अतिव्याप्ति भी नहीं होगी। क्योंकि 'घट', 'घटचाक्षुष' (घटप्रत्यक्ष) कार्य का समवायिकारण नहीं है, अपितु निमित्तकारण है। अतः उस निमित्तकारणभूत घट में प्रत्यासन्न जो 'चक्षु-घटसंयोग' (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) है, वह 'घटचाक्षुष' (घटप्रत्यक्ष) के समवायिकारण में प्रत्यासन्न न रहने से उसको 'घट-चाक्षुष' का असमवायिकारण नहीं कह सकेंगे।

उसी तरह यदि लक्षण में से **'अवधृतसामर्थ्यम्'** इस 'विशेष्य अंश' को हटा दिया जाये तो 'यत्समवायिकारणे प्रत्यासन्नं तत् असमवायिकारणम्' अर्थात् 'जो किसी कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न हो, वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है'—इतना ही लक्षण रहेगा। तब जो किसी कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध अथवा (नियत-पूर्ववर्ती नहीं है, किन्तु उस कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न है, उसमें 'असमवायि-कारण' का लक्षण समन्वित होने लगेगा अर्थात् उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। जैसे—'तन्तुरूप' एवं 'तन्तु-मक्षिकासंयोग' यद्यपि पटकार्य के प्रति अन्यथासिद्ध और

अनियतपूर्ववर्ती हैं किन्तु पट के समवायिकारणभूत तन्तु में समवायसंबंध से प्रत्यासन्न है। अतः उसे पटकार्य के प्रति असमवायिकारण कहना होगा। इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'अवधृतसामर्थ्यम्' इस विशेष्य अंश को दिया गया है। इस अंश के देने से अतिव्याप्ति दूर हो जाती है। क्योंकि जिसमें कारण का लक्षण निश्चित किया गया हो, वही असमवायिकारण होगा। 'तन्तुरूप' तो 'पटकार्य' के प्रति अन्यथासिद्ध है। इसलिये उसे 'पटकार्य' का कारण ही नहीं कह सकते, तब उसे असमवायिकारण कहना तो बहुत दूर है।

अब यदि असमवायिकारण के लक्षण में से **'विशेषण भाग'** को हटा दें तो 'अवधृतसामर्थ्यमसमवायिकारणम्' इतना ही लक्षण रहेगा। तब 'समवायिकारण' और निमित्तकारण में भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निरसनार्थ 'विशेषण भाग' को देना आवश्यक है।

एवं च ग्रन्थकार ने असमवायिकारण का लक्षण 'यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्' जो किया है, वह निर्दुष्ट है।

शंका—ज्ञान से इच्छा होती है। इच्छा का समवायिकारण 'आत्मा' है, उसमें 'ज्ञान' प्रत्यासन्न (विद्यमान) है, और उसमें कार्योत्पादन का सामर्थ्य भी अवधृत है। अतः इच्छा के प्रति 'ज्ञान' को असमवायिकारण कहना चाहिये। किन्तु उसे कोई भी असमवायिकारण नहीं कहता, यह क्यों ?

समा०—लक्षण में **तद्भिन्नत्व'** का निवेश कर देने पर उक्त अतिव्याप्ति नहीं होगी।

"एवं तन्तुरूप पटरूपस्य असमवायिकारणम्" के द्वारा ग्रन्थकार कहते हैं—इसी प्रकार 'तन्तु का रूप', पट के रूप का असमवायिकारण होता है।

शंका—असमवायिकारण को समझाने के लिये ग्रन्थकार ने 'तन्तुसंयोग' और 'तन्तुरूप' इन दो उदाहरणों को क्यों दिया ?

समा०—'भावात्मक कार्य' और 'अभावात्मक कार्य'—ऐसे दो प्रकार के कार्य हुआ करते हैं। 'अभावात्मक कार्य' का नाम **'ध्वंस'** है। उसकी उत्पत्ति केवल **निमित्तकारण** से ही होती है, क्योंकि वह कहीं भी समवायसम्बन्ध से नहीं रहता। इसलिये उस कार्य की उत्पत्ति में **समवायिकारण** और **असमवायिकारण** की अपेक्षा नहीं है। और **भावात्मक कार्य, 'द्रव्य, गुण, कर्म'**—ये तीन होते हैं। इन तीनों प्रकार के भावात्मक कार्य की उत्पत्ति में समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण—इन तीनों कारणों की अपेक्षा होती है। तीनों प्रकार के भावात्मक कार्यों में किसी एक का ही उदाहरण यदि दिया जाता, तो अवशिष्ट दो भावात्मक कार्यों के असमावायिकारण का ज्ञान अच्छी तरह न हो पाता। इसलिये 'तन्तुसंयोग' का **उदाहरण देकर 'समस्त जन्यद्रव्यों' के** असमवायिकारणों की ओर संकेत किया गया

है। और 'तन्तुरूप' का उदाहरण देकर 'समस्त जन्य गुणों' के असमवायिकारणों की ओर संकेत किया गया है। ये 'अपने आधारभूत द्रव्य' के समवायिकारणगत गुणों से प्रकट होते हैं। इन दो उदाहरणों से सभी प्रकार के 'असमवायिकारणों' का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि जो गुण अपने आधारभूत द्रव्य के समवायिकारणगत गुण से उत्पन्न नहीं होता, अपितु किसी अन्य प्रकार से उत्पन्न होता है, उस 'गुण' का तथा 'कर्म' का असमवायिकारण, 'द्रव्य के असमवायिकारण' के समान ही समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जैसे—द्रव्य का असमवायिकारण, अपने कार्य के साथ एक आश्रय में विद्यमान (प्रत्यासन्न) रहता है, वैसे ही अकारणगुणपूर्वक गुण तथा कर्म के असमवायिकारण भी अपने कार्य के साथ एक आश्रय में प्रत्यासन्न होते हैं। जैसे—'पाकजरूप' का असमवायिकारण अग्निसंयोग, अपने कार्य 'पाकजरूप' के साथ पच्यमान घटरूप एक आश्रय में प्रत्यासन्न (विद्यमान) रहता है। इच्छा आदि आत्मगुणों का असमवायिकारण 'आत्म-मनःसंयोग', अपने कार्यभूत ज्ञान, इच्छा आदि के साथ 'आत्मा' रूप एक आश्रय में प्रत्यासन्न रहता है। उसी तरह वृक्ष के पर्ण में होने वाले कम्पनकर्म का असमवायिकारण, 'वायु-पर्णसंयोग', अपने कार्यभूत कम्पनकर्म के साथ वृक्षपर्णरूप एक आश्रय में प्रत्यासन्न रहता है। अतः किसी एक द्रव्यात्मक कार्य के असमवायिकारण में लक्षण समन्वय कर देने से समस्त 'अकारणगुणपूर्वक गुण तथा कर्म' के असमवायिकारणों में लक्षण-समन्वय करना सरल हो जाता है। उनके अलग से उदाहरणों की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु कारणगुणपूर्वक गुणों के असमवायिकारण, कुछ भिन्न प्रकार के हैं, वे द्रव्य के असमवायिकारण के तुल्य नहीं हैं। कारणगुणपूर्वक गुण के असमवायिकारण, अपने कार्य के साथ एक आश्रय में प्रत्यासन्न नहीं रहते, किन्तु अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक आश्रय में प्रत्यासन्न रहते हैं। जैसे—पटरूप का असमवायिकारण तन्तुरूप अपने कार्यभूत पटरूप के साथ पटात्मक एक आश्रय में प्रत्यासन्न न होकर उसके समवायिकारण पट के साथ तन्तुरूप एक आश्रय में प्रत्यासन्न रहता है। इसलिये पट के असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' में लक्षण-समन्वय समझ में आने पर भी पटरूप के असमवायिकारण तन्तुरूप में लक्षण-समन्वय करना कठिन होगा। इसलिये असमवायिकारण के दो उदाहरणों को बताया गया है।

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणं, तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य पटरूपं प्रत्यसमवायिकारणत्वमुचितम्। तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्। न तु तन्तुरूपस्य। तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात्।

नैवम्। समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्।

शंका—नन्विति। 'पटरूप' का समवायिकारण 'पट' है, इसलिये उसमें (पट में) रहने वाले किसी धर्म को ही 'पटरूप' के प्रति असमवायिकारण कहना उचित है। क्योंकि वही (पटगत कोई धर्म ही) समवायिकारण (पट) में प्रत्यासन्न हो सकता है। 'तन्तुरूप' को पटरूप के प्रति असमवायिकारण कहना उचित नहीं है, क्योंकि उसकी (तन्तुरूप की) समवायिकारण (पट) में प्रत्यासत्ति नहीं है।

समाधान—मैवमिति। ऐसी शंका मत करिये। क्योंकि (तत्) पटरूप कार्य के समवायिकारण (पट) के समवायिकारण (तन्तु) में प्रत्यासन्न (तन्तुरूप) की भी समवायिकारण में परम्परया प्रत्यासत्ति होती है।

माधुरी

'तन्तुरूप' को 'पटरूप' का असमवायिकारण कहा गया है। किन्तु यहाँ शंका यह होती है कि 'समवायिकारण में प्रत्यासन्न और अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावी धर्म को असमवायिकारण कहते हैं।' इस (असमवायिकारण के) लक्षण के अनुसार हम देखेंगे कि पटरूप का असमवायिकारण कौन हो सकता है? पटरूप तो गुण है, इसलिये उसका समवायिकारण गुणी पट है। अतः पटगत ही कोई धर्म पटरूप का 'असमवायिकारण' हो सकता है। तन्तुरूप तो तन्तु में रहने वाला गुण है, अर्थात् तन्तु का गुण है, इसलिये वह (रूप) तन्तु में रहता है, पट में नहीं। ऐसी स्थिति में 'तन्तुरूप' को 'पटरूप' का असमवायिकारण कैसे कह सकते हैं?

उक्त शंका का समाधान ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—समवायिकारण में जो **प्रत्यासत्ति** कही गई है, वह **'साक्षात्'** और **'परम्परया'** दो प्रकार से हो सकती है। कहीं तो कोई धर्म ऐसा होता है, जो कार्य के साथ एक ही अर्थ में रहने से समवायिकारण में प्रत्यासन्न कहा जाता है। 'प्रत्यासन्न' शब्द का अर्थ है—'प्रत्यासत्तिवाला'। और प्रत्यासत्ति शब्द का अर्थ है—'निकटसम्बन्ध'। जैसे—पट का असमवायिकारण जो 'तन्तुसंयोग' है, वह 'पट' के समवायिकारण कहलाने वाले तन्तुओं में साक्षात् (सीधे) प्रत्यासन्न है। इस साक्षात् प्रत्यासत्ति को 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' भी कहते हैं। यहाँ कार्य है पट, वह (पट) जिस अर्थ (पदार्थ) में यानी तन्तुओं में समवेत (समवायसम्बन्ध से रहता) है, उसी में (तन्तुओं में) तन्तुसंयोग भी प्रत्यासन्न है। तात्पर्य यह है कि पट समवायसम्बन्ध से जिन तन्तुओं में रहता है, उन्हीं तन्तुओं में तन्तुसंयोगरूप गुण भी रहता है। इसलिये तन्तुसंयोग साक्षात्, कार्यरूप पट के साथ तन्तुरूप एक अर्थ में समवेत है। इस प्रकार की प्रत्यासत्ति को **साक्षात् प्रत्यासत्ति** कहते हैं। इसी साक्षात् प्रत्यासत्ति को 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' इसलिये कहते हैं कि कार्य (पट) के साथ कारण (तन्तुसंयोग) की एक अर्थ में (तन्तु में) प्रत्यासत्ति रहती है।

अब दूसरे प्रकार की प्रत्यासत्ति को 'परम्परया प्रत्यासत्ति' अथवा 'कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति' कहते हैं। जो 'धर्म' कार्य के साथ नहीं, किन्तु कारण के साथ एक अर्थ में प्रत्यासन्न होता हो, उसको 'कारणैकार्थप्रत्यासन्न' कहते हैं। जैसे—तन्तुरूप अपने कार्यभूत पटरूप के साथ नहीं और न ही 'पटरूप' के समवायिकारण कहलानेवाले पट के साथ एक अर्थ (तन्तु) में प्रत्यासन्न है। अर्थात् पटरूप का असमवायिकारण तन्तु-रूप है और 'पटरूप' का समवायिकारण पट है, क्योंकि 'गुण' का समवायिकारण 'गुणी' होता है। इस प्रकार तन्तुरूप यद्यपि पटरूप के साथ एकार्थ-समवेत नहीं है, तथापि पटरूप के समवायिकारण पट के साथ तन्तुस्वरूप एक अर्थ में समवेत है। पट का समवायिकारण तन्तु है, उन तन्तुओं में ही तन्तुरूप रहता है। अतः यहाँ पर पटरूप का असमवायिकारण जो तन्तुरूप है, वह 'पटरूप' के समवायिकारण (पट) के समवायिकारण (तन्तु) में रहता है। इस प्रकार यहाँ **परम्परया प्रत्यासत्ति** है। इस परम्परया प्रत्यासत्ति को ही 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' कहते हैं। अर्थात् समवायि-कारण के समवायिकारण में प्रत्यासन्न धर्म को भी परम्परया समवायिकारण में प्रत्यासन्न मानकर तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण कहा जा सकता है।

निमित्तकारणं तदुच्यते। यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणम्। अथ च कारणं तन्निमित्तकारणम्। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्।

तदेतद् भावानामेव त्रिविधं कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं, तस्य क्वचिदप्यसमवायात्। समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात्।

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्। तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षण प्रमाकरणं प्रमाणमिति।

निमित्तकारण—

निमित्तकारणमिति। 'समवायिकारण' तथा 'असमवायिकारण' का निरूपण करने के बाद अब क्रमप्राप्त तीसरे **'निमित्तकारण'** का लक्षण बता रहे हैं। जो न **समवायि-कारण** है और न **असमवायिकारण** है, फिर भी उसे **कारण** कहते हैं अर्थात् जिसमें कारण का 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व' लक्षण समन्वित हो जाता है, उसे **निमित्त-कारण** कहते हैं। जैसे—वेमा आदि, पट के निमित्तकारण हैं।

तदेतदिति। ये तीन प्रकार के (समवायि, असमवायि और निमित्त) कारण, केवल **भाव** (सत्) पदार्थों के ही होते हैं। **अभाव** पदार्थ का तो केवल 'निमित्तकारण' ही होता है। क्योंकि उस अभाव का कहीं भी (किसी भी पदार्थ के साथ) समवायसम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये कोई पदार्थ, उसका (अभाव का) समवायिकारण नहीं कहलाता। और जब उसका कोई समवायिकारण ही नहीं, तब कोई उसका असमवायिकारण भी नहीं हो पाता। इसलिये **अभाव** का केवल 'निमित्त-

कारण' ही होता है। 'समवाय' तो दो भाव पदार्थों का ही धर्म हुआ करता है। इसलिये 'अभाव' का किसी से समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता। ये 'त्रिविधकारण' केवल **भावपदार्थों** के ही हुआ करते हैं, **अभावपदार्थ** के नहीं।

तदेतस्येति। इसलिये उस त्रिविध कारण में से जो कारण, किसी प्रकार से भी दूसरे कारणों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट रहता है, उसे ही **'करण'** कहते हैं। अर्थात् त्रिविधकारणों में से जो कारण, कथमपि यानी किसी भी प्रकार से अतिशयसहित हो, वही 'करण' कहलाता है। इसलिये 'प्रभाकरणम्प्रमाणम्' यह लक्षण ठीक ही किया गया है।

माधुरी

'कथमपि' कहने का अभिप्राय यह है कि प्रमाता और प्रमेय के रहते हुए भी जिसके अभाव में वे प्रमा के उत्पादक नहीं हो पाते, वही 'अतिशय' पदार्थ है। अर्थात् 'अविलम्बेन प्रमोत्पादकत्व' ही 'अतिशय' पदार्थ है। वह 'अतिशय' व्यापाररूप है। अथवा प्रमाता तथा प्रमेय के होने पर भी उसके विना प्रमा नहीं होती, यही उस प्रमाकरण का अतिशय है। अथवा उसके व्यापार के अनन्तर फल की उत्पत्ति होती है, यही उसका अतिशय है। केवल निमित्तकारण ही 'करण' नहीं कहलाता, किन्तु जैसी स्थिति हो तदनुसार 'समवायिकारण', 'असमवायिकारण' भी 'करण' बन सकते हैं। तथापि 'समवायिकारण' और 'असमवायिकारण' का 'करण' के रूप में कभी व्यवहार नहीं किया जाता। इसलिये 'करण' के दो प्रकार के लक्षण एक **वास्तविक** और दूसरा **व्यावहारिक** बताये जाते हैं। **'सातिशयं कारणं करणम्'** यह 'करण' का वास्तविक लक्षण है और 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्' यह व्यावहारिक (व्यवहारोपयोगी) लक्षण है। समवायिकारण और असमवायिकारण किसी दृष्टि से अन्य कारणों की अपेक्षा सातिशय होने से वस्तुतः 'करण' तो होंगे, किन्तु वे अपने कार्य के प्रति व्यापार द्वारा कारण न होने से उन्हें 'करण' नहीं कहा जायेगा।

निष्कर्ष यह है कि ऊपर बताये गये त्रिविधकारणों में से **समवायिकारण** केवल **'द्रव्य'** ही होता है। जैसे—'पट' का समवायिकारण 'तन्तु' द्रव्य है। उसी तरह 'पटरूप' का समवायिकारण 'पट' भी द्रव्य है। **'असमवायिकारण'** 'गुण' अथवा 'कर्म' (क्रिया) हुआ करते हैं। गुण का उदाहरण, जैसे—'पट' का असमवायिकारण 'तन्तु-संयोग' है और 'पटरूप' का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' है। उसी तरह 'कर्म' (क्रिया) भी असमवायिकारण होता है। जैसे—रथ के अवयवभूत चक्रों में गमनक्रिया होती है, तो अवयवीभूत रथ में भी गमनक्रिया होने लगती है। अतः 'रथ की गमनक्रिया' में 'चक्र की गमनक्रिया' **असमवायिकारण** है, जैसे—'पटरूप' में 'तन्तुरूप' असमवायिकारण कहलाता है। **निमित्तकारण** प्रत्येक पदार्थ हो सकता है अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म भी हो सकते हैं। समवायिकारण और असमवायिकारण दोनों किसी कार्य

के असाधारण ही होते हैं। किन्तु निमित्तकारण के अन्तर्गत 'साधारण-असाधारण सभी कारणों' का समावेश हो जाता है। अतः **अदृष्ट** आदि को 'कार्यमात्र' के प्रति **निमित्तकारण** ही कहते हैं। इसलिये अर्थात् 'प्रमा' और 'करण' दोनों का पूर्ण विवरण हो जाने से 'प्रमा का करण' प्रमाण कहलाता है, यह 'प्रमाण का लक्षण' निश्चित किया गया है।

यत्तु, अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्, तन्न, एकस्मिन्नेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात्।

न चान्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता। प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्। कालभेदग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याभिमानो न स्यात्। क्रिया, क्रियातो विभागो, विभागात् पूर्वसंयोग-नाशः, ततश्चोत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिरिति।

यत्त्विति। कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसकों ने तथा दिङ्नाग आदि बौद्धमता-वलम्बी आचार्यों ने **'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्'** अर्थात्—अनधिगत (अज्ञात) अर्थ का जो ज्ञापक हो, वह प्रमाण है—यह 'प्रमाण' का लक्षण किया है। **तन्नेति।** किन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि 'यह घट है' इस प्रकार ज्ञात हुए एक ही घट का 'धारावाहिक-ज्ञान' कराने वाली 'घटोऽयं, घटोऽयम्' इस प्रकार की 'द्वितीयादि बुद्धि' (ज्ञान) **गृहीतग्राही** होने से वह धारावाहिक बुद्धि (ज्ञान) अप्रमाण कही जायेगी। अतः 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्'—यह 'प्रमाण' का लक्षण ठीक नहीं है।

न चान्यान्येति। इस पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि कुमारिलभट्ट और प्रभाकर (गुरु) दोनों मीमांसकसम्प्रदायों का अनुसरण करने वाली यह **धारावाहिक बुद्धि प्रमाण** मानी जाती है। दोनों का कहना है कि 'धारावाहिकज्ञान' का विषय 'भिन्न-भिन्न क्षणों से विशिष्ट घट' रहता है। अतः वह 'धारावाहिकज्ञान' **अज्ञात अर्थ** (वस्तु) का ही ग्राहक (ज्ञापक) है, इसलिये उसे (धारावाहिकज्ञान को) प्रमाण कह सकते हैं।

प्रत्यक्षेणेति। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि **'कालभेद'** इतना सूक्ष्म है कि उसका ग्रहण (आकलन) नहीं हो सकता। **कालभेद ग्रहे इति।** यदि 'काल के भेद' (भिन्न-भिन्न क्षणों) का ग्रहण (ज्ञान) होता तो क्रिया से लेकर संयोग तक चारों कार्यों के एक साथ होने (यौगपद्य) का भ्रम न होता। क्रिया से लेकर संयोग तक **चार कार्य** इस प्रकार होते हैं—(१) क्रिया, (२) क्रिया से विभाग, (३) विभाग से पहले संयोग का नाश और (४) उत्तर देश में संयोग की उत्पत्ति।

माधुरी

शंका—भिद्धान्ती ने जो यह कहा कि 'तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं

प्रमाणमिति ।' उसे कैसे ठीक कहा जाय, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्'—यह प्रमाणलक्षण किया है । अन्य दार्शनिकों के प्रमाणलक्षण के अनुसार 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इस न्याय से 'अनधिगतस्य अज्ञातस्य अर्थस्य गन्तृ अवभासकमज्ञातार्थावगाहि ज्ञानं प्रमाणं प्रमितिः । अन्यथा स्मृतेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।' अर्थात् जो 'ज्ञान' **अनधिगतपूर्व** यानी पूर्वकाल में 'अज्ञात अर्थ' को ग्रहण करता है, वह **'प्रमा'** होती है और जो उस 'प्रमा' (ज्ञान) का **करण** होता है, वह **'प्रमाण'** कहलाता है । जैसे—किसी 'घट' पर मनुष्य की दृष्टि पहले पहल पड़ने पर उस 'घट' का जो **प्रथम ज्ञान** होता है, वह 'अनधिगत अर्थ' को ग्रहण करता है, क्योंकि उस ज्ञान से गृहीत होने वाला 'घट' उस ज्ञान के पूर्व अज्ञात रहता है । इसलिये वह ज्ञान 'प्रमा' है और उसे जन्म देनेवाला मनुष्य का **नेत्र** (आँख) **'प्रमाण'** कहलाता है । अभिप्राय यह है कि किसी प्रमाण का प्रमाणत्व तभी है कि जब वह किसी नवीन विषय का ज्ञान करावे । अतः जिससे किसी नवीन विषय का (अज्ञात विषय का) ज्ञान न हो, उसे प्रमाण नहीं कह सकते । उसी तरह 'प्रमा' का प्रमात्व भी तभी है, जब वह किसी नवीन विषय का ग्रहण करे । यदि कोई ज्ञान, पूर्व से ज्ञात हुए अर्थ का ही ग्रहण करता है, तब तो वह (ज्ञान) केवल 'मा' यानी साधारणज्ञानमात्र ही कहलायेगा । उसे 'प्रमा' कैसे कहा जायेगा ? अर्थात् उस 'मा' का यानी साधारणज्ञानमात्र का प्रकर्ष क्या होगा ? अतः 'प्रमा' और 'प्रमाण' कहलाने के लिये विषय की नवीनता (अज्ञातता) होना आवश्यक है ।

शंका—'अनधिगतार्थगन्तृ' यहाँ पर 'गन्तृ' पद तृन्नन्त होने से 'न लोकाव्यय-निष्ठाखलर्थतृनाम्' सूत्र से षष्ठी का निषेध होगा, तब षष्ठीसमास कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि 'तृन्नन्त' न मानकर 'गन्तृ' को 'तृजन्त' माने, तब भी 'तृजकाभ्यां कर्तरि' से षष्ठीसमास का ही निषेध होगा ।

समा०—उभयत्र कृद्योग होने पर 'षष्ठी' का प्रतिषेध रहने पर भी 'शेषषष्ठी' को मानकर समास हो सकता है ।

धारावाहिक-ज्ञान के विषय में न्यायदर्शन का मत—

धारावाहिक-ज्ञान (बुद्धि) के प्रामाण्य का विचार न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध, जैन आदि अनेक दर्शनों में किया गया है । अधिकांश लोग धारावाहिक बुद्धिस्थल में द्वितीयादि क्षणों में होने वाले 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान के प्रामाण्य का ही प्रतिपादन करते हैं । किन्तु उनके प्रतिपादन की शैली भिन्न-भिन्न है ।

'धारावाहिक-ज्ञान' को प्रामाण्य सिद्ध करने की चिन्ता विशेषरूप से उनको करनी पड़ती है, जो 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' को प्रमाण का लक्षण मानते हैं । न्याय-वैशेषिकों ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतत्व' का कोई उल्लेख नहीं किया है । इस-

लिए उसके यहाँ 'अधिगतविषयक ज्ञान' भी प्रमाण ही है। नैयायिकों ने 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा और 'यथार्थ स्मृति' को प्रमाभिन्न कहकर यही सूचित किया है कि 'अनधिगत अर्थ' को ग्रहण करने वाला ज्ञान 'प्रमा' और 'अधिगत अर्थमात्र' को ही ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाभिन्न है। अन्यथा 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा और 'यथार्थ स्मृति' को प्रमाभिन्न कहने का कोई औचित्य नहीं रह जाता। दोनों में केवल इतना ही भेद है कि 'अनुभव', पूर्व से अज्ञात रहनेवाले अर्थ को ग्रहण करता है और 'स्मृति' सदैव पूर्व से ज्ञात रहनेवाले अर्थ को ही ग्रहण करती है। अतः नैयायिकों ने अपने 'यथार्थानुभवः प्रमा' इस प्रमालक्षण के 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' का यद्यपि शब्दतः सन्निवेश नहीं किया है, तो भी तात्पर्यतः उसको मान लिया है। अपने प्रमालक्षणगत 'अनुभव' शब्द से उसकी सूचना दे दी है। तथापि तर्कभाषाकार श्रीकेशवमिश्र का कहना है कि 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्'—यह प्रमा का लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रमालक्षण को मानने पर एक ही घट को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षात्मक अनेक ज्ञानों का जब अव्यवहितक्रम से जन्म होता है, जिसे 'धारावाहिक-ज्ञान' कहते हैं। इसे 'धारावाहिक' इसलिये कहते हैं कि यह ज्ञान 'धारारूपेण वहन्तीति धारावाहीनि, धारावाहीन्येव धारावाहिकानि', यहाँ स्वार्थ में 'क' प्रत्यय किया गया है। इन सभी धारावाहिक ज्ञानों को दार्शनिकों ने 'प्रमा' के रूप में माना है। 'प्रमा' और 'प्रमाकरण' दोनों अर्थों में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इस 'प्रमा' लक्षण में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग 'प्रमा' के लिये किया गया है। और 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इस न्यायसूत्र में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग 'प्रमाकरण' के लिये किया गया है। दो भिन्न अर्थों में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग, भिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर किया गया है। 'प्रमा' के अर्थ में प्रयुक्त 'प्रमाण' शब्द 'प्र'-पूर्वक 'मा' धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न किया जाता है। इसलिये 'प्र'-पूर्वक 'मा' धातु का जो अर्थ है, वही 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है। क्योंकि भावप्रत्यय का 'प्रकृत्यर्थ' से अधिक कोई अर्थ नहीं है। निष्कर्ष यह है कि भावार्थक ल्युट्-प्रत्ययान्त 'प्रमाण' शब्द का अर्थ 'प्रमा' किया गया है। और 'प्रमाकरण' अर्थ में प्रयुक्त 'प्रमाण' शब्द, प्र-पूर्वक 'मा' धातु से 'करण' अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसलिये 'प्रमाण' शब्द का अर्थ 'प्रमाकरण' समझा जाता है। इस प्रकार 'प्रमा' और 'प्रमाकरण' के अर्थ में 'प्रमाण' शब्द के प्रयोग को देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। इसी तरह 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग भी 'इन्द्रियजन्य प्रमा' और उस 'प्रमा के करण' तथा उस प्रमा के 'विषयभूत पदार्थ'—इस तीन भिन्न वस्तुओं के लिये भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर किया जाता है। मीमांसकों को छोड़कर अन्य दार्शनिक अधिगतविषयक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। इसीलिये उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य, जयन्तभट्ट और वाचस्पतिमिश्र आदि नैयायिक-वैशेषिकों ने

अपने ग्रन्थों में धारावाहिक ज्ञानों को अधिगतार्थविषयक कहकर भी प्रमाण माना है। 'धारावाहिकज्ञान' में सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण नहीं माना है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने 'सूक्ष्मकालभेद' के ग्रहण होने या न होने के सम्बन्ध में विचार किया है।

कुमारिल और प्रभाकर दोनों ने धारावाहिक ज्ञान का प्रामाण्य माना है। किन्तु उसके उपपादन का प्रकार भिन्न-भिन्न है। प्रभाकर के शिष्य शालिकनाथ आदि ने नैयायिकों के समान 'सूक्ष्मकाल भेद' का समावेश किये बिना ही केवल 'अनुभूति' के होने मात्र से ही उन धारावाहिक ज्ञानों को प्रमाण माना है।[१] किन्तु कुमारिल-भट्टपाद के सम्प्रदायानुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि ने सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण मानकर उन धारावाहिक ज्ञानों को प्रमाण माना है।[२]

प्रभाकर सम्प्रदायानुयायी शालिकनाथ 'अनुभूतिः प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षण के कहने में यह युक्ति बताते हैं कि धारावाहिक-ज्ञान में सभी ज्ञान परस्पर निरपेक्ष होते हैं। पूर्व-पूर्व विज्ञान की कारणसामग्री के व्यापार से ही उत्तर-उत्तर विज्ञान की भी उत्पत्ति हो जाती है। अतः इन सभी विज्ञानों में न उत्पत्तिकृत विशेषता है और न प्रतीतिकृत ही कोई विशेषता है। इसलिये सभी धारावाहिकज्ञानों का प्रामाण्य निराबाध है।

कुमारिलभट्टपाद के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि 'किमत्र घटोऽवस्थितः ?' अर्थात् क्या यहाँ घट है ? यह प्रश्न करने पर 'अस्मिन् क्षणे मया उपलब्धः' अभी इसी क्षण मैंने देखा था अथवा 'प्रातरारभ्य एतावत्कालपर्यन्तं मया उपलब्धः' प्रातःकाल से अब तक तो मैंने देखा था, यह उत्तर दिया जाता है। अतः बताइये कि इस प्रकार का उत्तर 'कालभेद' के ग्रहण किये बिना कैसे दिया जायेगा ? इसलिये कहना होगा कि 'कालभेद' का ग्रहण होता है। इस प्रकार कालभेद के ग्रहण कर लेने पर उत्तर-उत्तर विज्ञानों में गृहीत हुए कालभेद के आधिक्य से 'अगृहीत-ग्राहित्व अथवा अनधिगतार्थगन्तृत्व' बन जायेगा, इस कारण धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

धारावाहिक-ज्ञान के विषय में बौद्धों का मत—

बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग ने 'प्रमाणलक्षण' करते समय 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' को ही अन्य शब्दों से बताया है। उन्होंने प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या में 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्'—यह प्रमाण का लक्षण किया है। अर्थात् 'अगृहीतग्राहिज्ञान' ही प्रमाण है।

---

१. प्रकरणपञ्चिका, पृ० ४२, बृहती, पृ० १०३।

२. शास्त्रदीपिका, पृ० १२४, १२६।

अन्य बौद्धदार्शनिक धर्मोत्तराचार्य को भी 'अधिगतविषयकज्ञान' यानी 'गृहीत-ग्राहिज्ञान' का अप्रामाण्य ही स्वीकार है।

किन्तु इसके विपरीत बौद्धदार्शनिक अर्चट ने महान् मीमांसक कुमारिलभट्ट के अनुसार सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण मानकर योगियों के धारावाहिक-ज्ञान को प्रमाण माना है और लौकिक पुरुषों के धारावाहिकज्ञान में न्यायदर्शन के अनुसार ही सूक्ष्म-कालभेद का ग्रहण असम्भव मानकर उसे अप्रमाण बताया है। सूक्ष्मकालभेद का लौकिक प्रत्यक्ष से ग्रहण न हो सकने में ही न्यायदर्शन का सहारा लिया गया है। 'धारावाहिक-ज्ञान' के अप्रमाण मानने में न्यायदर्शन के साथ समानता नहीं है। न्यायदर्शन तो 'धारावाहिक-ज्ञान' को प्रमाण मानता है। न्याय के प्रमाणलक्षण में 'अज्ञातार्थज्ञापकत्व' पद का निवेश नहीं है। और बौद्धों ने 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण किया है। इस कारण बौद्धों के मत में धारावाहिकज्ञान का 'प्रामाण्य' सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण होने पर ही हो सकता है। किन्तु उस सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण योगिप्रत्यक्ष से ही गृहीत होता है। साधारण लौकिकप्रत्यक्ष से उसका ग्रहण नहीं होता है। इसलिये **योगिप्रत्यक्ष** में तो 'धारावाहिकज्ञान' प्रमाण है और लौकिक-प्रत्यक्ष में 'धारावाहिक-ज्ञान' अप्रमाण है।

धारावाहिक-ज्ञान के विषय में जैन दार्शनिकों का मत—

जैनदर्शन की दो परम्पराएँ हैं—एक 'दिगम्बर' और दूसरी 'श्वेताम्बर'। दिगम्बर परम्परा में 'धारावाहिक-ज्ञान' को तभी प्रमाण माना जाता है, जब 'सूक्ष्म-कालभेद' का ग्रहण होता है, अन्यथा वह अप्रमाण है। एवञ्च बौद्धाचार्य अर्चट के समान ही धारवाहिक-ज्ञान का 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य' दोनों सम्मत हैं, अर्थात् योगिप्रत्यक्ष में सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण होने से उनका 'धारावाहिक-ज्ञान' प्रमाण है और लौकिकप्रत्यक्ष में सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण न होने से लौकिक धारावाहिक-ज्ञान अप्रमाण है।

किन्तु **श्वेताम्बर-सम्प्रदाय** की परम्परा में 'गृहीतग्राहित्व' रहना 'प्रामाण्य' का विघातक नहीं है। क्योंकि इन्होंने लक्षण में 'अनधिगत' पद का निवेश नहीं किया है। अतः यह सम्प्रदाय 'धारावाहिकज्ञान' को और उसी तरह 'स्मृति' को भी प्रमाण मानता है।

तर्कभाषाकार का मत—

तर्कभाषाकार के मत से 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' यह 'प्रमाण' का लक्षण करना उचित नहीं है। क्योंकि धारावाहिकज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि उक्त लक्षण के अनुसार केवल 'प्रथम ज्ञान' ही 'प्रमा' होगा और द्वितीय, तृतीय आदि सभी ज्ञान 'अप्रमा' कहलायेंगे। कारण यह है कि 'प्रथम

ज्ञान' ही अनधिगत अर्थ को ग्रहण करेगा और 'द्वितीय, तृतीय आदि सभी ज्ञान' अपने-अपने पूर्ववर्ती ज्ञान से 'अधिगत हुए अर्थ' को ही ग्रहण करेंगे ।

यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' और स्मृति को प्रमा से भिन्न मानने का रहस्य—

'अनुभव' और **'स्मृति'** के 'यथार्थत्व अंश' में सर्वथा साम्य है, तथापि 'यथार्थ अनुभव' को 'प्रमा' माना है और 'यथार्थ स्मृति' को उससे भिन्न कहा है । **श्रीवाचस्पति मिश्र** अपनी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में कहते हैं कि दोनों में यथार्थत्व अंश समान रहने पर भी लोकव्यवहार के आधार पर 'स्मृति' को 'प्रमा' से भिन्न बताते हैं । सभी लोग 'यथार्थ अनुभव' को 'प्रमा' कहते हैं, किन्तु यथार्थस्मृति को 'प्रमा' नहीं कहते । इस लोकव्यवहार का आधार 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' नहीं है, क्योंकि धारावाहिक, द्वितीय, तृतीय आदि ज्ञानों में अनधिगतार्थगन्तृत्व के न रहने पर भी उन्हें 'प्रमा' शब्द से कहा जाता है । इसलिये 'प्रमा और स्मृति' के सम्बन्ध में प्रचलित लोकव्यवहार का आधार 'अनुभव और स्मृति के जातीय भेद' को लेकर ही होता है । अत एव **तर्कभाषाकार** ने 'यथार्थज्ञानं प्रमा' न कहकर **'यथार्थानुभवः प्रमा'** कहा है । और 'स्मृति को अनुभवत्वजाति से रहित मानकर 'स्मृति' में 'प्रमा' शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता, बताया है । तर्कभाषाकार ने 'अनुभवत्व' और 'स्मृतित्व' ये दो अवान्तर जातियाँ 'ज्ञान' की मानकर 'प्रमालक्षण' की रचना की है और उसमें 'अनुभवत्वजाति' का सन्निवेश कर 'स्मृति' की उससे भिन्नता बताई है । अतः **'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्'** यह लक्षण, 'प्रतिक्षणं पदार्थो भिद्यते' इस **क्षणिक वाद** के ही उपयुक्त हो सकता है । **'स्थिरवाद'** में तो इसकी मान्यता नहीं कही जा सकती । तात्पर्य यह है कि 'अर्थ' का ज्ञान दो प्रकार से होता है । क्योंकि कोई भी अर्थ ज्ञात भी हो सकता है और अज्ञात भी हो सकता है । उनमें 'ज्ञात अर्थ' के ज्ञान को 'स्मृति' और 'अज्ञात अर्थ' के ज्ञान को 'अनुभव' कहते हैं । एवञ्च 'अनधिगतार्थगन्तृ' का तात्पर्य है—**'अनुभव'** । इस अनुभव को ही 'प्रमाण' कहते हैं । नैयायिकों के समान 'भाट्टमीमांसक' को 'प्रमाणलक्षण' में 'यथार्थ' विशेषण जोड़ने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भाट्टमीमांसक सभी अनुभवों को उनकी उत्पत्ति की अवस्था में प्रमाण (यथार्थ) मानते हैं । किन्तु कारणदोष के ज्ञान से अथवा **बाधकज्ञान** से 'उन ज्ञानों' का प्रामाण्य समाप्त होकर उनका **अप्रामाण्य** मान लिया जाता है । 'मीमांसक' प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं । भट्टपाद अपने श्लोकवार्तिक में कहते हैं—

> "तावतैव च मिथ्यात्वं गृह्यते नान्यहेतुकम् ।
> उत्पत्त्यवस्थं चैवेदं प्रमाणमिति गीयते ॥'

—(श्लो० वा० १।२।८७)

भाट्टमीमांसक के नाम पर 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षण को यत्र-तत्र उद्धृत किया जाता है, किन्तु उसके मूल स्रोत का पता नहीं चलता है। भट्टपाद ने प्रमाण का लक्षण इस प्रकार किया है—

'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥'

इस लक्षण के अनुसार ही तदनुयायी पार्थसारथिमिश्र ने अपनी शास्त्रदीपिका में प्रमाणलक्षण बताया है—'एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोष-बाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।' इसी भाव को 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इस लक्षण में सूचित किया गया है।

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृप्रमेयादीनि। तान्यपि किं करणानि उत नेति ?

उच्यते। सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च, प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति, अविलम्बेन प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्। प्रमायाः साधकत्वा-विशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम्। अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं न प्रमात्रादि।

तानि च प्रमाणानि चत्वारि। तथा च न्यायसूत्रम्—

'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'।[१] इति।

प्रश्न—नन्विति। 'प्रमा' के कारण तो प्रमाता, प्रमेय आदि बहुत से होते हैं। तो क्या वे सभी 'प्रमा' के करण होते हैं अथवा नहीं ?

उत्तर—उच्यत इति। प्रमाता और प्रमेय के होने पर भी इन्द्रियसन्निकर्ष= सम्बन्ध के बिना 'प्रमा' की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु इन्द्रियसंयोग आदि के होने पर शीघ्र ही 'प्रमा' की उत्पत्ति होती है। इसलिये इन्द्रियसंयोगादि ही 'प्रमा' का करण है। (प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनों में) प्रमा की कारणता समान रहने पर भी उनकी (प्रमाता आदि की) अपेक्षा इन्द्रियसंयोगादि में प्रकर्षता होने से (इन्द्रिय-संयोग के होते ही) शीघ्र (अविलम्बेन) प्रमा उत्पन्न होती है, इस कारण) वही (इन्द्रियसंयोग) प्रकृष्टसाधक अर्थात् साधकतम है, इसलिये उसी को 'करण' कहा गया है। प्रमाता आदि को (करण) नहीं। अतः इन्द्रियसंयोगादि ही प्रमा का करण होने से उसी को 'प्रमाण' कहा जाता है। अत एव ग्रंथकार ने 'अत इन्द्रिय-संयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं, न प्रमात्रादि' कहा है। यहाँ पर 'इन्द्रियं च संयोगश्च तौ आदी यस्य स तथोक्तः' यह विग्रह करना चाहिये। यहाँ 'आदि' शब्द से

---

१. न्यायसूत्र १।१।३।

निर्विकल्पकज्ञानादि का ग्रहण किया जाता है। पुंल्लिङ्गत्व के निर्वाहार्थ 'अर्थ' शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षप्रमा का करण, इन्द्रियसन्निकर्ष है, अतः उसे ही 'प्रत्यक्षप्रमाण' शब्द से कहा जाता है।

प्रमाण के प्रकार—

तानि चेति। वे प्रमाण चार हैं, जैसा कि न्यायसूत्र में कहा है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण हैं।

माधुरी

न्यायसूत्रकार ने प्रमाण के चार प्रकार (भेद) प्रदर्शित करके यह सूचित कर दिया है कि न्यायदर्शन को चार ही प्रमाण सम्मत हैं, उससे अधिक या कम नहीं। क्योंकि सूत्रकार ने 'प्रमाणप्रमेयसंशय' इत्यादि सूत्र से यानी प्रथम सूत्र से यह बताया है कि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। किन्तु उस तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? ऐसी जिज्ञासा होने पर 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस द्वितीय सूत्र से बताया कि तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, तब उससे दोष नष्ट होते हैं, उससे प्रवृत्ति का विनाश होता है, उसके विनाश से जन्म की प्राप्ति भी रुक जाती है। इस प्रकार जन्म के रुक जाने से इक्कीस प्रकार के दुःखों का उच्छेद होता है। उस उच्छेद को ही मोक्ष कहा गया है। तदनन्तर 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' तीसरे सूत्र से सूत्रकार गौतम ने प्रथमतः उद्दिष्ट प्रमाणपदार्थ का विभाग प्रदर्शित किया है। अतः चार ही प्रमाण हैं, न्यूनाधिक नहीं। अन्यथा सूत्र से ही प्रमाणचतुष्टय की सिद्धि हो सकती है, पुनः उनका विभाग कर दिखाना निरर्थक हो जायेगा।

चार प्रमाणों के विभाग-क्रम में सर्वप्रथम 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को रखा गया है, क्योंकि अनुमानादि तीन प्रमाणों का वह मूलभूत होने से ज्येष्ठ है और उसकी स्वतन्त्र रूप से पृथक्तया प्रमाण के रूप में प्रसिद्धि भी है, तथा वादी-प्रतिवादी सभी लोग उसका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये उसकी प्रधानता भी है। अतः 'प्रत्यक्ष' को ही सर्वप्रथम रखकर उसके बाद अनुमान, तदनन्तर प्रत्यभिज्ञानप्रत्यक्षरूप 'उपमान' को रखा गया है। जिससे कोई व्यक्ति उसका (उपमान का) अनुमान में अन्तर्भाव न कर सके।

प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणम्

किं पुनः प्रत्यक्षम् ?

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम्।

प्रश्न—किं पुनरिति। 'प्रत्यक्ष' प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर—साक्षात्कारीति। साक्षात्कारिणी (वस्तु का साक्षात्कार करने वाली) प्रमा के करण को **'प्रत्यक्षप्रमाण'** कहते हैं। और साक्षात्कारिणी (साक्षात्कार करने वाली) 'प्रमा' वह है, जो **इन्द्रिय से उत्पन्न** (जन्य) होती है। **सविकल्पक** तथा **निर्विकल्पक** के भेद से वह दो प्रकार की होती है। उसके तीन प्रकार के **करण** होते हैं—(१) कभी इन्द्रिय, (२) कभी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष और (३) कभी निर्विकल्पकज्ञान।

माधुरी

'प्रत्यक्षम्' पद में समास कौन-सा होगा ? इस जिज्ञासा के समाधान में यदि कहें कि 'उपकुम्भम्' आदि की तरह 'अक्षम्, अक्षं प्रति वर्तते' इति 'प्रत्यक्षम्', यह अव्ययीभावसमास होगा, तो विशेष्यनिघ्नता का भंग हो जायेगा। उसके भय से यदि 'कुगतिप्रादयः' से 'प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम्' इस प्रकार तत्पुरुषसमास करें, तो 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' सूत्र का कार्य होगा, तब भी पूर्वोक्त दोष वैसा ही रहेगा। अतः अव्ययीभाव या तत्पुरुष नहीं कर सकते।

किन्तु यह धूलिप्रक्षेप, भाष्यान्तवैयाकरण की आँख में नहीं किया जा सकता, क्योंकि वार्तिककार कात्यायन ने 'प्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधः' से परवल्लिङ्गता का प्रतिषेध रहने से अभिधेयलिङ्गता (विशेष्यनिघ्नता) की उपपत्ति हो जाती है। चक्षुरादि में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग 'गो, पङ्कज' आदि के समान योगरूढ समझना चाहिये।

साक्षात्कारिणी प्रमा को 'प्रत्यक्ष' बताया गया है। 'साक्षात्कारिणी चासौ प्रमा च सा साक्षात्कारिणी प्रमा।' यहाँ पर 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनङ्' से 'अनङ्' और 'समानाधिकारे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु' से पुंवद्भाव होता है। ऐसी साक्षात्कारिणी प्रमा के करण को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि **इन्द्रियजन्य प्रमा** को ही 'साक्षात्कारिणी प्रमा' कहते हैं। और जो 'प्रमा' इन्द्रियजन्य नहीं होती, उसे 'साक्षात्कारिणी प्रमा' नहीं कहते। जैसे—अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध। क्योंकि इन्द्रियजन्य प्रमा ही वस्तु का साक्षात्कार कराती है। उससे अतिरिक्त प्रमाएँ वस्तु का साक्षात्कार नहीं करातीं। वस्तु के साक्षात्कार करने का अर्थ है कि वस्तु के साक्षात् होने पर उसे ग्रहण करना। 'साक्ष' का अर्थ है—'अक्षेण = इन्द्रियेण सहितः = सन्निकृष्टः साक्षः, अर्थात् इन्द्रियसन्निकृष्टः। एवं च जिस प्रमा की उत्पत्ति, इन्द्रिय से होगी, वही प्रमा वस्तु का ग्रहण करने के लिये वस्तु के साथ, इन्द्रियसन्निकर्ष (सम्बन्ध) की अपेक्षा करेगी, तभी वह इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु की ग्राहक हो सकेगी। और जिस प्रमा की उत्पत्ति, इन्द्रिय से नहीं होगी, उसे वस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष

की अपेक्षा नहीं होगी, तब उस प्रमा में वस्तु का साक्षात्कारित्व यानी इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु का ग्राहकत्व भी नहीं होगा ।

अभिप्राय यह है कि 'प्रमा' की उत्पत्ति 'आत्मा' से होती है । इस कारण आत्मगत प्रमा से वस्तु का ग्रहण तभी सम्भव हो सकेगा, जब 'प्रमा' और 'वस्तु' का सामीप्य हो । वह सामीप्य, बाह्यवस्तु के साथ सीधे तो होगा नहीं, वह तो परम्परया होगा । वह परम्परा यह है—आत्मा का मन से संयोग होगा, मन का इन्द्रिय से संयोग होगा और इन्द्रिय का वस्तु के साथ संयोग होगा । इस रीति से वस्तु का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से संयोग होने पर वह वस्तु, आत्मा के सन्निहित (निकट) होगी । तब आत्मा में उत्पन्न होने वाली प्रमा का वस्तु के साथ सामीप्य होने से उसे (प्रमा को) वस्तु का ग्रहण करने में सरलता हो जाती है ।

प्रमा और बाह्य वस्तु के सामीप्यसम्पादन की उक्त प्रक्रिया को 'इन्द्रियजन्य प्रमा' में ही समझना चाहिये । अन्य प्रमाओं में नहीं । क्योंकि जो प्रमा इन्द्रियजन्य नहीं होगी, उसकी उत्पत्ति में इन्द्रिय के साथ 'मन' के संयोग की और वस्तु के साथ इन्द्रिय के संयोग की आवश्यकता नहीं होगी । इसलिये उस प्रमा का वस्तु के साथ सामीप्यसम्पादन उक्त प्रक्रिया से नहीं होगा । तब जिज्ञासा होती है कि इन्द्रिय से उत्पन्न न होने वाली (इन्द्रियाऽजन्य) प्रमा का बाह्य वस्तु के साथ सामीप्य न होने से उस वस्तु का ग्रहण 'प्रमा' कैसे कर सकेगी ?

समाधान यह है कि इन्द्रियाऽजन्य प्रमा और बाह्य वस्तु के सामीप्य की यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं है । क्योंकि इन्द्रियाऽजन्य प्रमा का करण, 'आत्मा' में सीधे सन्निहित रहता है और उस करण में बाह्य वस्तु सीधे सन्निहित रहती है । जैसे—अनुमिति प्रमा का करण जो 'व्याप्तिज्ञान' है अथवा 'परामर्श' है, वह अनुमिति प्रमा के आश्रयस्वरूप 'आत्मा' में समवायसम्बन्ध से यानी समवेत रहता है और व्याप्तिज्ञान अथवा परामर्श में विषयरूप से अनुमेय वस्तु सन्निहित रहती है । इसी प्रकार उपमिति-प्रमा और शाब्दप्रमा के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये ।

'प्रत्यक्ष' का लक्षण 'साक्षात्कारिप्रमाकरणम्' किया गया है । व्यवहार में **'प्रत्यक्ष'** शब्द का प्रयोग **तीन अर्थों** में किया जाता है—(१) प्रत्यक्षप्रमाण, (२) प्रत्यक्ष-प्रमाण से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और (३) प्रत्यक्षज्ञान का विषय । उपर्युक्त लक्षण में 'प्रत्यक्ष' शब्द, प्रत्यक्षप्रमाण के लिए आया है । तात्पर्य यह है कि साक्षात्कारिणी प्रमा के 'करण' के लिए 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग होने पर उसका अर्थ 'प्रत्यक्षप्रमाण' समझा जाता है । और उस करण से उत्पन्न होने वाली प्रमा, जो उस प्रमाण (करण) का फल है, उसे बताने के लिये भी 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग किया जाता है । अन्य प्रमाणों में तो फल और करण में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है । जैसे—अनुमानप्रमाण के फल के लिये 'अनुमिति', उपमानप्रमाण के फल के लिये 'उपमिति'

और शब्दप्रमाण के फल के लिये शाब्दबोध शब्दों का प्रयोग होता है। एवं च इनमें 'प्रमाण' और 'प्रमा' का व्यवहार भिन्न-भिन्न शब्दों से होता है। किन्तु प्रत्यक्षस्थल में 'प्रमाण' और 'प्रमा' दोनों के लिये 'प्रत्यक्ष' शब्द का ही प्रयोग होता है।

प्रत्यक्षप्रमाण के अर्थ में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग न्यायसूत्र की वृत्ति के अनुसार 'प्रतिगतम् अक्षम्' अर्थात् विषयं प्रति गतम् अक्षम्—यह गतिसमास करके 'विषय के सन्निकृष्ट इन्द्रिय'—यह अर्थ किया जाता है, इसी को 'प्रत्यक्षप्रमाण' कहते हैं। न्यायभाष्य के अनुसार 'अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः—प्रत्यक्षम्' व्युत्पत्ति होती है।

प्रत्यक्षप्रमा के अर्थ में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग न्यायसूत्र में किया गया है—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' 'अक्षम् अक्षम्प्रति वर्तते'—(अव्य० स०) अथवा 'अक्षम् अक्षम्प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्'—(न्या० कोष), अथवा 'प्रतिगतम् अक्षम् इति प्रत्यक्षम्'—इस अर्थ में 'प्रत्यक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति करके दिखाया गया है।

ज्ञान के विषय (ज्ञेय) के अर्थ में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग, जैसे—'आत्मा प्रत्यक्षः'—इस अर्थ में व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'प्रत्यक्षम् अस्य अस्ति'—जिसका प्रत्यक्ष होता है। उपर्युक्त प्रथम तथा द्वितीय अर्थ में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में होता है। किन्तु तृतीय अर्थ में इसका प्रयोग तीनों लिङ्गों में अभिधेय के अनुसार होता है। जैसे—प्रत्यक्षः आत्मा, प्रत्यक्षा पृथिवी, प्रत्यक्षं रूपम्।

अतः प्रसंगानुसार उचित अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।

उक्त लक्षण में 'साक्षात्कारि' पद के रखने से अनुमान, उपमान और शब्दप्रमाण में उसकी अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि अनुमानादि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली जो प्रमा (अनुमिति, उपमिति आदि) है, वह इन्द्रियजन्य नहीं है, केवल प्रत्यक्ष-प्रमा ही इन्द्रियजन्य होती है। सुखादि का तथा आत्मा का साक्षात्कार 'मन' के द्वारा होता है। **नैयायिकों** ने तथा **वैशेषिकों** ने 'मन' को भी इन्द्रिय माना है। अतः यहाँ भी लक्षणसमन्वय हो जाता है। यदि कोई कहे कि ईश्वर का प्रत्यक्षज्ञान, इन्द्रियजन्य न होने से उसमें अव्याप्ति होगी, ईश्वर का ज्ञान तो नित्य है। किन्तु उसका समाधान सीधा है कि यहाँ पर ईश्वर का प्रत्यक्ष तो लक्ष्य ही नहीं है। यहाँ तो केवल लोक-प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रत्यक्ष' शब्द की तीन विभिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग 'इन्द्रियजन्य प्रमा, उस प्रमा के करण और उस प्रमा के विषयभूत पदार्थ' इन तीन विभिन्न पदार्थों के बोधन के लिये प्रसंगानुसार किया जाता है। जैसे—(१) '**प्रति विषयं प्रति गतम् अक्षम्** इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् **प्रत्यक्षम्**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द 'इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोधक होता है। क्योंकि ज्ञानात्मक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिये 'इन्द्रिय', विषय के प्रति

गमन करती है । (२) **'प्रतिगतं विषयं प्रति गतम् अर्थात् विषयसन्निकृष्टम् अक्षं प्रत्यक्षम्'**—इस द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द 'प्रत्यक्षप्रमा के करण' का बोध कराता है, क्योंकि विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यतया प्रत्यक्षप्रमाण माना जाता है । (३) **'प्रति यं विषयं प्रति गतम् अक्षं स प्रत्यक्षः'** इस तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द, प्रत्यक्षप्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है, क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है, अर्थात् जो 'अर्थ' इन्द्रियसन्निकृष्ट होता है । वही प्रत्यक्षप्रमा का विषय होता है ।

साक्षात्कारिणी प्रमा अर्थात् प्रत्यक्षप्रमा के दो भेद किये गये हैं—एक **'निर्विकल्पक'** और दूसरा **'सविकल्पक'** । सम्पूर्ण व्यवहार, 'सविकल्पकज्ञान' से हुआ करते हैं । तथापि 'सविकल्पकज्ञान' की उत्पत्ति, 'निर्विकल्पकज्ञान' के आधार पर ही होती है । इसलिये सविकल्पकज्ञान के पूर्व निर्विकल्पकज्ञान का स्वीकार अवश्य ही करना चाहिये ।

निर्विकल्पकज्ञान का परिचय—जहाँ किसी वस्तु का केवल स्वरूप प्रतीत होता है, उसके नाम, जाति, आदि की प्रतीति नहीं होती, उसे 'निर्विकल्पकज्ञान' कहते हैं। प्रायः व्यवहार में आने वाले सभी ज्ञान 'सविकल्पक' ही होते हैं । इसलिये निर्विकल्पकज्ञान की कल्पना हम नहीं कर पाते हैं। निर्विकल्पकज्ञान का परिचय बालक तथा गूँगे के ज्ञान के समान दिया जाता है—**'बाल-मूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'** । निर्विकल्पकज्ञान को बालक या गूँगे के ज्ञान की उपमा इतने ही अंश में है कि वे दोनों ही ज्ञान, ज्ञाता के द्वारा अनभिलाप्य हैं । पूर्ण अंश में यदि इस उपमा को मानेंगे तो जैसे निर्विकल्पकज्ञान से ज्ञाता की प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही बालक और गूँगे के ज्ञान से भी प्रवृत्ति नहीं होगी । किन्तु बालक और गूँगे भी प्रौढ तथा वाक्चतुर व्यक्तियों के समान ही अपने ज्ञान से तत्तत् कार्यों में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं । जैसे—बालक 'घट-पट' आदि वस्तुओं को देखता है, तो उसे भी घट-पटादि वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार बड़े व्यक्ति को होता है । जहाँ तक किसी वस्तु के स्वरूप-ज्ञान का सम्बन्ध है, वहाँ तक बड़े व्यक्ति के और अत्यन्त अबोध बालक के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् वस्तु के ग्रहणकाल में दोनों का ज्ञान एक-सा ही है । किन्तु बड़ा व्यक्ति उस वस्तु के 'नाम, जाति' आदि को भी जानता है, इस कारण व्यवहार करते समय वह उस वस्तु के नाम, जाति का उपयोग करता है । उस समय उस बड़े व्यक्ति का वह (निर्विकल्पकज्ञान) सविकल्पक हो जाता है । अबोध बालक उस वस्तु के नाम, जाति आदि से अनभिज्ञ है, इसलिये वह नाम, जाति आदि से उसका व्यवहार भी नहीं कर पाता है । इस प्रकार बालक और बड़े व्यक्ति के ज्ञान में वस्तुस्वरूपज्ञान के समय यद्यपि कोई अन्तर नहीं है, तथापि व्यवहारकाल में उन दोनों में अन्तर हो जाता है । अतः बालक और मूक

पुरुषों का ज्ञान निर्विकल्पक और प्रौढ पुरुषों का ज्ञान सविकल्पक कहा जाता है। अर्थग्रहण (वस्तुस्वरूपग्रहण) करते समय बड़े व्यक्तियों को भी बालक या गूंगे के ज्ञान के समान, नाम-जाति आदि से शून्य निर्विकल्पकज्ञान ही होता है। और 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' अर्थात् सम्बन्धियों में से किसी एक का ज्ञान, शीघ्र ही दूसरे सम्बन्धी का स्मरण करा देता है। इस नियम के अनुसार बड़े व्यक्ति को वस्तु के स्वरूप का ज्ञान (निर्विकल्पकज्ञान) होते ही अति शीघ्रता से उस वस्तु के नाम-जाति आदि का स्मरण हो जाता है। अतः उसका वह ज्ञान, तुरन्त सविकल्पकज्ञान के रूप में बदल जाता है।

प्रश्न—निर्विकल्पकज्ञान जब कि अनभिलाप्य है, अप्रवर्तक है, तथा विशिष्ट वस्तु का ग्राहक न होने से अप्रत्यक्ष है, तब उसके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—मानसप्रत्यक्ष से सिद्ध जो 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' है, वही 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' का अनुमापक है। जैसे—'घट' के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उस 'घट' का घटत्व विशिष्टव्यक्ति के रूप में प्रत्यक्ष होना अनुभवसिद्ध है। प्रत्येक घटदर्शी को 'मैं घट को देखता हूँ' इस प्रकार अपने घटदर्शन का अनुभव (मानसप्रत्यक्ष) होना सर्व-सम्मत है। एवं च 'घटत्व' विशिष्ट (रूप से) 'घट' का जो सविकल्पकप्रत्यक्ष होता है, उसके पूर्व 'घटत्व' का ज्ञान होना अनिवार्य है, क्योंकि 'घट' का सविकल्पकप्रत्यक्ष, 'घटत्वविशिष्ट घट' व्यक्ति को ग्रहण करने वाला एक विशिष्ट ज्ञान है। इस ज्ञान में 'घट' व्यक्तिरूप विशेष्य का, 'घटत्व' विशेषण होकर प्रतीत होता है। विशिष्ट के ज्ञान में विशेषण का ज्ञान, कारण होता है। अतः पहले यदि 'घटत्व' रूप विशेषण का ज्ञान नहीं रहेगा तो 'घटत्वविशिष्ट घट' को ग्रहण करनेवाला अनुभव कैसे हो सकेगा ? जब कि घटत्वविशिष्ट व्यक्ति को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षात्मक अनुभव का होना सर्वसम्मत है, अतः उसके पूर्व 'घटत्व' रूप विशेषण के ज्ञान का होना भी अनिवार्य है। एवं च 'घट' के सविकल्पकप्रत्यक्ष के पूर्व होनेवाले 'घटत्व' ज्ञान को निर्विकल्पकप्रत्यक्ष रूप में ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकार सविकल्पकप्रत्यक्षमूलक अनुमान से निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का अस्तित्व सिद्ध होता है।

प्रश्न—सविकल्पकप्रत्यक्ष से पूर्व होने वाले निर्विकल्पकज्ञान ('घटत्व' ज्ञान) को अनुमितिरूप या शाब्दबोधरूप क्यों न माना जाय ?

उत्तर—उसे (निर्विकल्पकज्ञान को) अनुमितिरूप या शाब्दबोधरूप इसलिये नहीं माना जाता, कि उसके पूर्व घटत्व की अनुमिति अथवा घटत्व के शाब्दबोध की कारण-सामग्री सन्निहित नहीं है। वह (घटत्व) ज्ञान, प्रत्यक्षात्मक ही मानने योग्य है। क्योंकि 'घटत्व' के प्रत्यक्ष का इन्द्रियसन्निकर्षरूप कारण (चक्षुःसंयुक्तघटसमवायरूप कारण) सन्निहित है।

प्रत्यक्षप्रमा का करण अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण तीन प्रकार का होता है। कभी 'इन्द्रिय', कभी 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' और कभी 'ज्ञान' अर्थात् निर्विकल्पकज्ञान। इन तीनों के आगे चौथे 'सविकल्पकज्ञान' और पाँचवें 'हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धि' इन दो फलों को और मिला देने से पाँच कड़ी की एक शृङ्खला बन जाती है, उससे उपर्युक्त त्रिविध करण का स्पष्टीकरण अच्छी तरह हो जाता है। इन पाँचों में १. **करण**, २. **अवान्तरव्यापार** और ३. **फल** का समावेश हो जाता है। इन पाँच की शृङ्खला में से यदि **प्रथम** को 'करण' माना जाय तो **दूसरे** को 'अवान्तरव्यापार' और **तीसरे** को 'फल' समझना चाहिये। यदि **दूसरे** को 'करण' माना जाय तो **तीसरे** को 'अवान्तर-व्यापार', और **चौथे** को 'फल' मानना चाहिये। इसी प्रकार यदि **तीसरे** को 'करण' कहा जाय तो **चौथे** को 'अवान्तरव्यापार' और **पाँचवें** को 'फल' कहना चाहिये। एवं च किसी पदार्थ (वस्तु) के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष (संबंध) होने पर जो पहला ज्ञान होता है, उसे 'निर्विकल्पकप्रत्यक्ष' कहते हैं। निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण की हुई वस्तु, अनन्तर होने वाले सविकल्पकप्रत्यक्ष में विशेषण के रूप में प्रतीत होती है। अर्थात् 'घट या गौ आदि किसी वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष (संबंध) होने पर उत्पन्न होने वाले निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का विषय केवल 'घटत्व या गोत्व आदि' ही होंगे। वस्तुतः 'घट या गो आदि वस्तुओं के भीतर तीन वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। एक 'घट या गो', दूसरा 'घटत्व या गोत्व' और तीसरा घट तथा गो के साथ रहनेवाला घटत्व या गोत्व का 'समवायसम्वन्ध' अर्थात् (१) **घट**, (२) **घटत्व**, (३) **समवायसम्बन्ध**।

प्रश्न—जब 'घट, घटत्व और उनका समवायसम्वन्ध, या गो, गोत्व और उनका समवायसम्बन्ध्र' तीनों के साथ, इन्द्रियसन्निकर्ष एक साथ ही होता है, और तीनों को ग्रहण करने का सामर्थ्य, चक्षुरिन्द्रिय में है, तब उन तीनों में से केवल 'घटत्व या गोत्व' का ही ग्रहण क्यों बताया जा रहा है ? शेष दो का ग्रहण क्यों नहीं ?

उत्तर—घट या गो के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होनेपर जो प्रथमज्ञान अर्थात् निर्विकल्पकप्रत्यक्ष होता है, उससे यद्यपि तीनों का ग्रहण होता है, तथापि उस ज्ञान में वे तीनों विशेषण; विशेष्य और सम्बन्ध (संसर्ग) के रूप में प्रतीत नहीं होते, अपितु विशुद्ध वस्तु के रूप में ही उनकी प्रतीति होती है।

विशिष्ट ज्ञान के होने में 'विशेषण का ज्ञान' पहले होना आवश्यक होता है। विशेषण का स्वरूप जानने पर ही उससे विशेषित वस्तु, विशेष्य के रूप में प्रतीत हो पाती है, अन्यथा नहीं। उसी तरह 'समवायसम्बन्ध' का ज्ञान भी जब तक विशेषण और विशेष्य इन दोनों सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष नहीं रहेगा, तब तक नहीं होगा। क्योंकि 'सम्बन्ध' के लौकिकप्रत्यक्ष में दोनों सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष कारण माना जाता है। एवं च निर्विकल्पकप्रत्यक्ष में विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध के रूप में वस्तु

की प्रतीति न होने से उसमें 'विशेषणता' 'विशेष्यता', 'संसर्गता' यह तीन प्रकार की विषयता नहीं मानी जाती, किन्तु इन तीनों से विलक्षण एक चौथी प्रकार की विषयता मानी जाती है। अतएव 'विशेषणताशून्यं ज्ञानम् अथवा विशेष्यताशून्यं ज्ञानम् अथवा संसर्गताशून्यं ज्ञानम् अथवा विलक्षणविषयताशालिज्ञानं निर्विकल्पकम्'—यह निर्विकल्पक का लक्षण करते हैं।

वैशेषिक दर्शन में 'समवाय' का प्रत्यक्ष नहीं माना गया है। अतः उनके मत में घट या गो के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उत्पद्यमान निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के 'घट और घटत्व या गो और गोत्व' ये दो ही विषय होंगे।

प्रश्न—निर्विकल्पक ज्ञान, प्रमारूप है या अप्रमारूप है ? क्योंकि ग्रन्थकार केशवमिश्र के अनुसार 'यथार्थाऽनुभवः प्रमा' अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही ग्रहण करने वाला जो अनुभव हो, वही 'प्रमा' शब्द से कहा जाता है। निर्विकल्पक तो **स्वरूपमात्र** को ग्रहण करता है, उसके किसी रूप में उसे वह ग्रहण नहीं करता। तब निर्विकल्पकज्ञान को 'प्रमा' कैसे कहा जाय ?

उत्तर—ग्रन्थकार केशवमिश्र ने प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण बताते हुए सविकल्पक और निर्विकल्पक नाम से उसके दो भेद किये हैं। अतः स्पष्ट हो जाता है कि निर्विकल्पकज्ञान 'प्रमा' रूप है। दूसरी बात यह है कि प्रमा के लक्षण में 'यथार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह 'प्रमा' की यथार्थता का प्रतिपादक नहीं है, अपितु वह अयथार्थता का निषेध करता है। अतः 'प्रमालक्षण' का अभिप्राय यह है कि 'वस्तु को अन्यथा ग्रहण न करनेवाला जो अनुभव हो वही 'प्रमा' है। क्योंकि ग्रंथकार ने 'यथार्थ' शब्द का प्रयोग कर संशय, विपर्यय और तर्कज्ञान का निरास किया है। यदि 'यथार्थ' शब्द को अयथार्थता का निषेधक न माना जाया और 'यथा अर्थः तथा तस्य ग्राहकः' अर्थ माना जाय तो 'यथार्थ' शब्द से संशय, विपर्ययादि की व्यावृत्ति (निरास) नहीं हो सकेगी, क्योंकि संशय, विपर्ययादि भी अंशतः 'यथा अर्थः तथा अर्थग्राहक' हुआ करते हैं। अतः ग्रंथकर को 'यथार्थ' शब्द से **'अन्यथा अग्राहकता'** ही अभीष्ट हैं। एवं च 'अर्थ' (वस्तु) का अन्यथा ग्रहण न करनेवाले अनुभव को ही 'प्रमा' कहना उचित है, क्योंकि वह (निर्विकल्पकज्ञान) 'अर्थ' के स्वरूपमात्र का ग्रहण करता है, इसीलिये उसे 'अर्थ' (वस्तु) का अन्यथा ग्रहण न करनेवाला 'अनुभव' कह गया है।

इसी अभिप्राय को कारिकावली (भाषापरिच्छेद) की १३४ वीं कारिका में 'भ्रमभिन्नज्ञानमत्रोच्यते प्रमा' कह कर बताया गया है। अर्थात् भ्रमभिन्नज्ञान को 'प्रमा' कहा गया है। उक्त कथन **प्राचीनन्याय** के अनुसार है। किन्तु नव्यन्याय का सिद्धान्त इससे भिन्न है। **नव्यन्याय** का मत है कि 'निर्विकल्पकज्ञान', 'भ्रम' और 'प्रमा' दोनों से भिन्न है। क्योंकि उन दोनों (भ्रम और प्रमा) के लक्षण 'प्रकारता,

विशेष्यता और संसर्गता' से घटित हैं। तथा हि—'तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक, तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित, तत्सम्बन्धावच्छिन्न, तन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञानं—भ्रमः।' अर्थात् तत्सम्बन्ध से तदभाव के आश्रय में तत्सम्बन्ध से तद्वस्तु को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को 'भ्रम' कहते हैं। जैसे 'शुक्तौ इदं रजतम्'—'शुक्ति' में 'रजतत्व' को ग्रहण करनेवाले 'इदं रजतम्' इत्याकारकज्ञान को लीजिये। यह 'ज्ञान' समवाय-सम्बन्ध से रजतत्वाभाव के आश्रयभूत 'शुक्ति' में समवायसम्बन्ध से 'रजतत्व' को ग्रहण कर रहा है, इसलिये यह 'ज्ञान' 'भ्रम' शब्द से कहा जाता है।

और 'तत्सम्बन्धेन तदाश्रयनिष्ठविशेष्यतानिरूपिततत्सम्बन्धावच्छिन्नतन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञानं—प्रमा'। अर्थात् तत्सम्बन्ध से तद्वस्तु के आश्रय में तत्सम्बन्ध से तद्वस्तु का ग्रहण करनेवाले ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। तथाहि—'रजत' में 'रजतत्व' का ग्रहण करनेवाले 'इदं रजतम्' इत्याकारकज्ञान को लीजिये। यह ज्ञान, समवायसम्बन्ध से रजतत्व के आश्रयभूत 'रजत' में समवायसम्बन्ध से 'रजतत्व' का ग्रहण कर रहा है, इसलिये इस ज्ञान को 'प्रमा' कहा जाता है। उक्त कथन के अनुसार 'भ्रम' और 'प्रमा' दोनों के लक्षण, प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता से युक्त हैं। किन्तु निर्विकल्पकज्ञान में तो किसी भी वस्तु का प्रकार, विशेष्य और संसर्ग के रूप में भान नहीं हो पाता है। अतः उसे भ्रम या प्रमा कैसे कह सकते हैं। कारिकावली-कार ने उसी अभिप्राय को **'तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सानिरूपिता'**—(गुणप्रक० १२७), **'अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम्'**—(गुणप्रक० १३५) **'तत्प्रमा। न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्।'**—(गुणप्रक० १३६)॥

अभी तक न्याय-वैशेषिकदर्शन के अनुसार निर्विकल्पकज्ञान के प्रमात्व के विषय में बताया है। किन्तु अन्य दर्शनकारों का मत इस विषय में भिन्न है, उसे समझ लेना भी अनुपयुक्त न होगा।

बौद्ध दार्शनिकों का कथन है कि 'निर्विकल्पकप्रत्यक्ष' ही वास्तविक 'प्रमा' है। 'दिङ्नाग' ने अपने 'प्रमाणसमुच्चय' में 'प्रत्यक्ष' का लक्षण इस प्रकार दिया है—'प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'। अर्थात् कल्पनारहित अर्थात् नाम, जाति आदि से अस्पृष्ट जो निर्विकल्पकज्ञान है, वही प्रमात्मकप्रत्यक्ष है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि नाम, जाति आदि काल्पनिक पदार्थों का ग्रहण करनेवाला सविकल्पक-प्रत्यक्ष, वस्तुतः प्रमात्मक नहीं है। अतः निर्विकल्पकज्ञान ही प्रमात्मकप्रत्यक्ष है।

जैनदार्शनिकों का सिद्धान्त, बौद्धदर्शन के विपरीत है। आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को अनध्यवसायरूप माना है, उसे वे प्रमात्मक नहीं मानते। जैनदर्शन में निर्विकल्पक को **'दर्शन'** शब्द से कहा जाता है।

वेदान्तदर्शन निर्विकल्पक को 'प्रमा' तो कहता है, किन्तु वह सामान्य निर्विकल्पक न होकर एक विशेष निर्विकल्पक है। वह विशेष निर्विकल्पकज्ञान 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इन औपनिषद-महावाक्यों से भागत्यागलक्षणा के द्वारा अपरोक्ष अनुभव के रूप में उत्पन्न होता है। वह किसी आविद्यक पदार्थ को विषय नहीं करता, अपितु विशुद्ध ब्रह्मस्वरूपमात्र को ही ग्रहण करता है। अत एव वह निर्विकल्पकज्ञान, इनके मत में 'प्रमा' की कोटि में माना गया है। क्योंकि अनधिगत, अबाधित अर्थ को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को ही ये प्रमा मानते हैं। और 'ब्रह्म' से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ अबाधित नहीं है, एकमात्र पदार्थ ही अबाधित है। उसी को यह विषय करता है, इसलिये उसे प्रमा कहा गया है।

'निर्विकल्पकज्ञान' के सम्बन्ध में **रामानुजादि वैष्णव वेदान्तियों** का सिद्धान्त उक्त सिद्धान्त से विलक्षण है। 'श्रीनिवासाचार्य' की 'यतीन्द्रमतदीपिका' में प्रत्यक्ष की चर्चा करते हुए बताया है कि "प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से दो प्रकार का होता है। गुणसंस्थान आदि के सहित किसी पिण्ड का जो प्रथम ज्ञान होता है, वह निर्विकल्पक है, और गुणसंस्थान आदि के सहित किसी पिण्ड का जो द्वितीय, तृतीयादि ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसमें प्रथम ज्ञान की समानता का आभास भी होता है, वह सविकल्पकज्ञान है। यह दोनों प्रकार का ज्ञान विशिष्ट वस्तु को ही विषय करता है, क्योंकि अविशिष्ट वस्तु को ग्रहण करनेवाले ज्ञान की न तो उपलब्धि ही होती है, न उपपत्ति ही हो सकती है[1]।"

उक्त कथन से स्पष्ट है कि ऐसा कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं है, जो विशेषण-विशेष्यभाव से रहित होकर वस्तु के स्वरूपमात्र का ग्रहण करे। इसलिये सभी ज्ञान **सविकल्पक** ही होते हैं। निर्विकल्पकज्ञान भी सविकल्पकज्ञान की श्रेणी का ही है। जो ज्ञान, अन्य सविकल्पकों की अपेक्षा अल्पविषयक हो उसे निर्विकल्पक कहते हैं। अर्थात् उसका निर्विकल्पक नाम, सापेक्ष है। इसप्रकार निर्विकल्पकज्ञान का परिचय होने के बाद अब सविकल्पकज्ञान का भी परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। 'विकल्प्यते विशिष्यते वस्तु येन सः विकल्पः (विशेषणम्) तेन सहितं सविकल्पं, सविकल्पमेव सविकल्पकम्', अथवा 'विकल्पयति (विशिनष्टि) वस्तु यत्, तत् विकल्पकं (विशेषणम्) तेन सहितं सविकल्पकं (सविशेषणम्)। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार 'सविकल्पक' का अर्थ होगा कि विशेषणविशिष्ट वस्तु का ग्रहण करनेवाला ज्ञान। अभिप्राय यह है कि जिस ज्ञान में विशेषण-विशेष्य के परस्पर संबंध का भान होता है और

---

१. तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात्। निर्विकल्पकं नाम गुणसंस्थानादिविशिष्टप्रथमपिण्डग्रहणम्, सविकल्पकन्तु सप्रत्यवमर्शं गुणसंस्थानादिविशिष्टद्वितीयादिपिण्डज्ञानम्। उभयमप्येतद् विशिष्टविषयकमेव, अविशिष्टग्राहिणो ज्ञानस्यानुपलम्भादनुपपत्तेश्च।

जिस ज्ञान का उस ज्ञान के विषयभूत अर्थ के बोधक शब्द से अभिलाप (कथन) किया जाता है, उस ज्ञान को सविकल्पक कहते हैं। इस सविकल्पकज्ञान के क्षेत्र में अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध और स्मृतिरूप ज्ञान भी आ जाते हैं। किन्तु इन ज्ञानों के लिये 'सविकल्पक' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। इसलिये विशिष्ट (विशेषण-युक्त) वस्तु के ग्राहक प्रत्यक्षज्ञान में 'सविकल्पक' शब्द को योगरूढ समझना चाहिये। यह जिन विशिष्ट वस्तुओं को ग्रहण करता है, वे नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि हैं। अत एव कुछ विद्वानों ने 'नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम्' यह 'सविकल्पक' का लक्षण किया है। यह सविकल्पकज्ञान, विषयबोधक शब्द से अभिलपित (व्यवहृत) होता है, इस कारण कुछ विद्वान् 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं सविकल्पकम्'—यह 'सविकल्पक' का लक्षण करते हैं। एवं च 'अयं गौः' अर्थात् 'गोनामा, गोत्वजातिमान् गौः शुक्लः—कृष्णः, गौः गच्छति, गौर्न महिषः' इस प्रकार के प्रत्यक्षात्मक सभी ज्ञान सविकल्पक के उदाहरण हैं। यही सविकल्पकज्ञान, मानव-मात्र के व्यवहार का मूल है। इसी कारण इस ज्ञान को 'अखिलाया लोकयात्राया मूलम्' कहते हैं।

कदा पुनरिन्द्रियं करणम् ?

यदा निर्विकल्पकरूपा प्रमा फलम्। तथा हि, आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्। ततोऽर्थ-सन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः छिदाकारणस्य परशोरिव दारुसंयोगः। निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं, परशोरिव छिदा।

प्रश्न—कदेति। इन्द्रिय कब करण होती है ?

उत्तर—यदेति। जब तृतीय संख्या वाला **निर्विकल्पकज्ञान** (प्रमा) फल होता है। **तथाहीति।** जैसे—(१) पहले तो **आत्मा** का **मन** के साथ **संयोग** होता है। अनन्तर (२) **मन** का **इन्द्रिय** के साथ सम्बन्ध होता है। तदनन्तर (३) **इन्द्रिय** का **अर्थ** (वस्तु) के साथ सम्बन्ध होता है, अर्थात् इन्द्रिय, अर्थ के साथ संयुक्त होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके (वस्तु से सम्बद्ध होकर) ही उसे (वस्तु को) प्रकाशित करती हैं, अर्थात् पदार्थ का ज्ञान करा सकती है—यह नियम है। **तत इति।** तब अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होने के बाद ही अर्थ से संयुक्त हुई इन्द्रिय के द्वारा नाम, जाति, आदि की योजना से रहित वस्तु के स्वरूपमात्र का ग्रहण करनेवाला यह कुछ (नाम-जात्यादि से रहित-सी वस्तु) है, इस प्रकार का **निर्विकल्पकज्ञान** उत्पन्न होता है। **तस्येति।** उस (नाम-जात्यादियोजनारहित निर्विकल्पक) ज्ञान का करण इन्द्रिय होती है। जैसे छेदन

क्रिया का करण, परशु (फरसा) होता है तथा (२) इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, अवान्तरव्यापार होता है। जैसे छेदनक्रिया के करणभूत परशु का दारु (लकड़ी) के साथ जो संयोग (सन्निकर्ष), वह अवान्तरव्यापार होता है, और तृतीय संख्यावाला निर्विकल्पकज्ञान, **'फल'** होता है। जैसे—परशु-दारुसंयोगरूप अवान्तरव्यापार के द्वारा परशुरूप 'करण' का फल, छेदन होता है।

माधुरी

तात्पर्य यह है कि यहाँ पर 'इन्द्रिय' को **करण** 'निर्विकल्पकज्ञान' को **फल**, और उसके मध्य में (बीच में) होनेवाले 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' को **अवान्तरव्यापार** बताया है। अवान्तरव्यापार का लक्षण **"तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः अवान्तरव्यापारः"** किया गया है। जो स्वयं तज्जन्य हो अर्थात् उस करण से जन्य (उत्पन्न) हो और तज्जन्य-जनक भी हो अर्थात् उस करण से जन्य (उत्पन्न) होनवाले फल का जनक (उत्पादक) हो, उसे **'अवान्तर-व्यापार'** कहते हैं। जैसे—परशु (कुल्हाड़ी) से दारु (लकड़ी) के छेदन (काटने) में परशु (कुल्हाड़ी) और दारु (लकड़ी) का संयोग (सम्बन्ध) **'अवान्तरव्यापार'** कहलाता है। यह 'संयोगरूप' अवान्तर-व्यापार तज्जन्य अर्थात् परशुजन्य है, और साथ ही परशु से जन्य जो 'छेदन' रूप फल है, उसका जनक भी है। अतः 'तज्जन्यत्वे सति' अर्थात् परशुजन्यत्वे सति 'तज्जन्य-जनकः' अर्थात् परशुजन्यछिदाजनकः दारु-परशुसंयोगः अवान्तरव्यापारः। दारु और परशु अर्थात् कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग 'अवान्तरव्यापार' कहलाता है। इसी तरह **'इन्द्रियरूप करण'** से **निर्विकल्पकज्ञानरूप फल** की उत्पत्ति में **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप अवान्तरव्यापार'** होता है। क्योंकि वह 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' स्वयं इन्द्रियजन्य है, और 'इन्द्रियजन्यनिर्विकल्पकज्ञानरूप' फल का 'जनक' भी है। इसलिये उसे अवान्तर-व्यापार कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने के बाद उस अर्थ-सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) इन्द्रिय से निर्विकल्पकज्ञान पैदा होता है। उस निर्विकल्पक-ज्ञान में वस्तु के स्वरूपमात्र का ग्रहण होता है। उस समय उस वस्तु में नाम, जाति आदि की योजना नहीं होती। अर्थात् निर्विकल्पकज्ञान में वस्तु के नाम, जाति आदि का ग्रहण नहीं होता। वह निर्विकल्पकज्ञान केवल वस्तुस्वरूप का ही ग्रहण करता है। इसलिये उस निर्विकल्पकज्ञान का परिचय वस्तु के नाम, जाति आदि के द्वारा नहीं दिया जाता, अपि तु 'यत् किञ्चित् इदम्' यह कुछ है। इस प्रकार 'विशेषानवबोधक शब्द' से ही दिया जाता है। इस निर्विकल्पकज्ञान का 'करण' 'इन्द्रिय' होता है। जैसे छेदनक्रिया का 'करण' 'परशु' होता है। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' उस-उस 'निर्विकल्पकज्ञान' के उत्पादन में 'इन्दिय' का अवान्तर (मध्यवर्ती) व्यापार

होता है। जैसे 'छेदनक्रिया' के 'करणरूप परशु' का 'लकड़ी के साथ संयोग' उस क्रिया के उत्पादन में 'अवान्तरव्यापार' कहलाता है। 'निर्विकल्पकज्ञान', 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप व्यापार' के द्वारा 'इन्द्रिय' का फल (कार्य) होता है। जैसे 'दारु-परशु-संयोग' रूप अवान्तरव्यापार के द्वारा परशु का फल (कार्य) 'छेदन' होता है।

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्। निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, सविकल्पकं ज्ञानम् फलम्।

प्रत्यक्षप्रमा का दूसरा करण है—**'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष'**। उसे बताते हैं—

प्रश्न—कदा पुनरिति। 'इन्द्रिय' तथा 'अर्थ (वस्तु) का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) कब **'करण'** होता है ?

उत्तर—यदेति। जब निर्विकल्पकज्ञान के पश्चात् नाम, जाति आदि के सहित "यह **'डित्थ'** नाम का है",[1] "यह ब्राह्मण है",[2] "यह श्याम है"[3]—इस प्रकार **विशेषण-विशेष्यभाव** अर्थात् विशेषण तथा विशेष्य का ग्रहण करनेवाला **'सविकल्पकज्ञान'** उत्पन्न होता है, तब **'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' करण** होता है, और **'निर्विकल्पकज्ञान' अवान्तरव्यापार** होता है, और **'सविकल्पकज्ञान'** अपने करण का फल होता है।

कदा पुनर्ज्ञानं करणम् ?

यदा, उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्। सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, हानादिबुद्धयः फलम्।

कदेति। ज्ञान अर्थात् **निर्विकल्पकज्ञान** कब **'करण'** होता है ?

यदेति। जब उक्त सविकल्पकज्ञान के बाद ज्ञात वस्तु के **परित्याग** (हान) की बुद्धि, **ग्रहण** (उपादान) की बुद्धि, अथवा **उपेक्षा** बुद्धि (उपेक्षणीय अर्थात् न हेय ही है और न उपादेय ही है) उत्पन्न होती है। तब उस हान, उपादान अथवा उपेक्षा बुद्धिरूप फल के प्रति **निर्विकल्पकज्ञान, करण** होता है, तथा **'सविकल्पकज्ञान', अवान्तरव्यापार** होता है, और **'हानोपादानादिबुद्धि' फल** होती है।

माधुरी

किसी भी वस्तु का जब प्रत्यक्षज्ञान किया जाता है तभी उस वस्तु को हेय, या

---

१. नामयुक्तप्रतीति।

२. जातियुक्तप्रतीति।

३. श्यामरूपगुणविशिष्टप्रतीति।

उपादेय अथवा उपेक्षणीय समझा जाता है। तभी वह प्रत्यक्षज्ञान पूर्ण हुआ माना जाता है। प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु के ज्ञान को पूर्ण कहलाने में उस वस्तु के स्वरूप, उस वस्तु का नाम, उस वस्तु की जाति आदि और उसकी उपयोगिता अर्थात् हेयता, उपादेयता और उपेक्षणीयता को जानना होगा। इनका ज्ञान, प्रत्यक्षप्रमाण से ही हुआ करता है। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान (निर्विकल्पकज्ञान) इन्द्रिय से होता है। वस्तु के नाम, जाति, आदि का ज्ञान, (वस्तु का सविकल्पकज्ञान) उस वस्तु के निर्विकल्पकज्ञान होने पर ही होता है। तदनन्तर वस्तु की उपयोगिता (हेयता आदि) का ज्ञान, उस वस्तु के सविकल्पकज्ञान से होता है। इसलिये (१) इन्द्रिय, (२) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और (३) निर्विकल्पकज्ञान, ये तीनों, (१) निर्विकल्पकज्ञान, (२) सविकल्पकज्ञान, (३) हानादिबुद्धिरूप प्रमा (ज्ञान) के लिये प्रत्यक्षप्रमाण कहलाते हैं। क्योंकि तीनों के व्यापारयुक्त होने पर ही वह प्रत्यक्षज्ञान पूर्ण हुआ समझा जाता है। इसलिये इन तीनों को ही प्रत्यक्षप्रमाण कहा जाता है।

तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठारदारुसंयोगः कुठारजन्यच्छिदाजनकः। अत्र कश्चिदाह—सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम्। यावन्ति त्वान्तरालिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति।

उपर्युक्त त्रिविध करणों के निरूपण में उनके '**अवान्तरव्यापार**' का उल्लेख किया गया है। अतः 'अवान्तरव्यापार' के स्वरूप को जानने की इच्छा होना स्वाभाविक है। इसलिये ग्रन्थकार 'अवान्तरव्यापार' का लक्षण बता रहे हैं।

तज्जन्य इति। जो स्वयं '**तत्**' अर्थात् उस करण से जन्य (उत्पन्न) हो और '**तज्जन्य**' अर्थात् उस करण से जन्य (उत्पन्न) होने वाले कार्य (फल) का **जनक** (उत्पादक) हो, उसे '**अवान्तरव्यापार**' कहते हैं। **यथेति**। जैसे—कुठार से जन्य (उत्पन्न होनेवाला) जो '**कुठार-दारु** (काष्ठ—लकड़ी) **संयोग**' है; वह, कुठार से उत्पन्न होने वाली छेदन (छिदा) क्रिया का जनक है। '**अवान्तरव्यापार**' सर्वत्र 'करण' तथा 'फल' के मध्य में अर्थात् (मध्यकाल में) ही रहता है, अतः उसे '**अवान्तर-व्यापार**' कहते हैं।

अत्र कश्चिदिति। यहाँ त्रिविध करण के बताये जाने पर कोई कहता है कि सविकल्पक आदि सभी फलों का '**करण**' केवल एक '**इन्द्रिय**' ही है, और मध्यवर्ती (बीच के) जितने भी हैं वे सब '**अवान्तरव्यापार**' हैं।

माधुरी

'**निर्विकल्पकज्ञान**' की उत्पत्ति में '**इन्द्रियार्थसन्निकर्ष**' रूप एक अवान्तरव्यापार है। '**सविकल्पकज्ञान**' की उत्पत्ति में '**इन्द्रियार्थसन्निकर्ष**' और **निर्विकल्पकज्ञान**' ये दो अवान्तरव्यापार हैं। और '**हानोपादान-उपेक्षाबुद्धि**' की उत्पत्ति में '**इन्द्रियार्थसन्निकर्ष**'

'निर्विकल्पकज्ञान' और **'सविकल्पकज्ञान'** ये तीनों अवान्तरव्यापार हैं। अतः 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' त्रिविध न होकर केवल एकविध ही है, जिसे 'इन्द्रिय' कहा जाता है। अन्यथा प्रत्यक्षप्रमाण को त्रिविध मानने पर सविकल्पकज्ञान आदि में जो इन्द्रियजन्यत्व का अनुभव होता है, जिसे 'चक्षुषा घटं पश्यामि' इत्यादि शब्दों से कहा जाता है, उसकी प्रामाणिकता समाप्त हो जायेगी।

(१) प्रत्यक्षप्रमाण को त्रिविध माननेवाले के पक्ष में :—

करण	**अवान्तरव्यापार**	**फल**
१. इन्द्रिय	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान
२. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान
३. निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान	हानोपादानोपेक्षाबुद्धि

(२) तीनों प्रकार की 'प्रत्यक्षप्रमा' में 'इन्द्रिय' को ही करण मानकर अन्य सभी को अवान्तरव्यापार माननेवाले के पक्ष में :—

करण	**अवान्तरव्यापार**	**फल (प्रमा)**
१. इन्द्रिय	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान
२. इन्द्रिय	(अ) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, (ब) निर्विकल्पकज्ञान,	सविकल्पकज्ञान
३. इन्द्रिय	(अ) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (ब) निर्विकल्पकज्ञान (स) सविकल्पकज्ञान	हानोपादानोपेक्षाबुद्धि।

उपर्युक्त द्वितीय मत में 'प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द का मुख्य अर्थ इन्द्रिय से सम्बद्ध ही है। इसलिये त्रिविध प्रत्यक्षप्रमा का करण 'इन्द्रिय' को ही कहना चाहिये। यदि कहें कि 'करण' तो उसे कहते हैं, जिसके होने पर अथवा जिसके व्यापार के तुरन्त बाद शीघ्र ही फलोत्पत्ति होती है। कहा भी है— 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्'। किन्तु इन्द्रिय को 'करण' मानने पर सविकल्पक-प्रमा आदि शीघ्र (अविलंबेन) नहीं होते, इसलिये इनकी उत्पत्ति में 'इन्द्रिय' को 'करण' कैसे माना जाय ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कह सकते हैं कि 'करण' का लक्षण 'व्यापारवत् कारणं करणम्' कर देंगे। तब तीनों प्रकार की प्रत्यक्षप्रमा में 'इन्द्रिय' को ही करण मानने में और सभी को अवान्तरव्यापार मानने में कोई बाधा नहीं होगी।

इस पर यदि कोई कहे कि 'तज्जन्यः तज्जन्यजनको व्यापारः' यह व्यापार का लक्षण किया जाता है। तब सविकल्पकप्रमा (ज्ञान) का करण यदि 'इन्द्रिय' को माना जाय तो उक्त 'व्यापारलक्षण', 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' तथा 'निर्विकल्पकज्ञान' दोनों में घटित नहीं होगा। तब उन्हें अवान्तरव्यापार के रूप में कैसे कहा जायेगा ?

उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कह सकते हैं कि 'स्वांगमव्यवधायकम्' नियम के अनुसार अपना अंग व्यवधायक नहीं होता है। यहाँ पर सन्निकर्ष तो इन्द्रिय का अंग ही है। इसी प्रकार हानोपादानोपेक्षाबुद्धि में भी 'इन्द्रिय' को करण समझना चाहिये।

त्रिविध करण मानने वालों का कथन है कि 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्' के अनुसार निर्विकल्पकज्ञान की उत्पत्ति में तो 'इन्द्रिय' को करण कहा जा सकता है, किन्तु 'सविकल्पकज्ञान' तथा 'हानादिबुद्धि' की उत्पत्ति में उसे (इन्द्रिय को) करण नहीं कह सकते। क्योंकि 'इन्द्रिय' के द्वारा 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' तथा 'निर्विकल्पकज्ञान' इन दो कार्यों के पश्चात् 'सविकल्पकज्ञान' पैदा होता है। इन्द्रिय के या उसके व्यापार के होने पर अविलंबेन फल की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अतः सविकल्पकज्ञान का करण 'इन्द्रिय' को नहीं मान सकते। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ही उसका 'करण' कहना होगा। इस रीति से प्रत्यक्षप्रमा के त्रिविध करण माने गये हैं।

निर्विकल्पकज्ञान के विषय में अन्यान्य दार्शनिकों के विचार—

माध्ववेदान्त तथा **वल्लभवेदान्त** और **भर्तृहरि** तथा उनके पूर्ववर्ती वैयाकरणों की परम्परा के अनुसार ज्ञान के उत्पत्ति-क्रम में सामान्यमात्र (स्वरूपमात्र) के ज्ञान को नहीं माना है। तीनों ने विशेष्य-विशेषणभावरहित कोई ज्ञान स्वीकार नहीं किया है। तीनों ने ही प्रत्येक ज्ञान में किसी प्रकार के विशेष का भान माना है। यह अवश्य है कि कहीं कम हो और कहीं अधिक हो। इसलिये इन तीनों के मत में समस्त ज्ञान सविकल्पक ही होता है। जहाँ कहीं निर्विकल्पकज्ञान की चर्चा है भी तो उसका अभिप्राय इतना ही है कि उसमें अन्य की अपेक्षा विशेष का भान कम होता है। 'ज्ञान' दो प्रकार का होता है, एक **परोक्ष** और दूसरा **अपरोक्ष**। जिस ज्ञान में कोई दूसरा 'ज्ञान' करण होता है, उसे 'परोक्षज्ञान' कहते हैं। जैसे—'अनुमितिज्ञान' में 'व्याप्ति-ज्ञान' करण होता है, 'उपमितिज्ञान' में 'सादृश्यज्ञान' करण होता है, और 'शाब्दबोध' में 'पदज्ञान' करण होता है। अत एव ये तीनों ज्ञान 'ज्ञानकरणकज्ञान' होने से 'परोक्ष' ज्ञान कहे जाते हैं। 'प्रत्यक्ष' ज्ञान में कोई 'अन्य ज्ञान' करण नहीं होता है। अतः उसे 'अपरोक्ष' ज्ञान कहते हैं। अपरोक्षज्ञान का लक्षण 'ज्ञानकरणकभिन्नत्वमपरोक्षत्वम्' है। अर्थात् ज्ञानकरणक से भिन्न ज्ञान को अपरोक्षज्ञान कहते हैं। निर्विकल्पकज्ञान का अस्तित्व मानने वाले सभी लोग उसे केवल प्रत्यक्ष या अपरोक्ष मानते हैं। **जैनदर्शना-नुयायी** उसी को 'दर्शन' शब्द से कहते हैं और उसे 'परोक्ष' भी कहते हैं।

सभी लोग लौकिक-अलौकिक भेद से दो प्रकार का प्रत्यक्ष मानते हैं। अस्मदादि लौकिकपुरुषों के प्रत्यक्ष को 'लौकिकप्रत्यक्ष' कहते हैं, जो इन्द्रियसन्निकर्ष आदि कारण-सामग्री के विद्यमान रहने पर ही होता है, किन्तु **योगियों** के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सामग्री की आवश्यकता नहीं रहती। **योगी** तो अपने योगजसामर्थ्य से इन्द्रियार्थ-

सन्निकर्ष के बिना भी भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट सभी वस्तुओं को ग्रहण कर सकते हैं। उनका यह ज्ञान यथार्थ और साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पकज्ञान होता है। इस प्रकार लौकिक-अलौकिक दोनों प्रकार के निर्विकल्पकज्ञान और उसकी कारणसामग्री के सम्बन्ध में सभी निर्विकल्पकवादियों का एकमत है। **प्रत्यक्षप्रमाण** से ही 'अपरोक्षज्ञान' अथवा 'निर्विकल्पकज्ञान' की उत्पत्ति होती है, **अनुमानादि अन्य** किसी प्रमाण से नहीं। किन्तु **शाङ्करवेदान्तियों** ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य से 'अपरोक्ष-निर्विकल्पक' की उत्पत्ति मानी है। और 'दशमस्त्वमसि' इस लौकिक उदाहरण से उसका उपपादन भी किया है। गंगास्नान करने के लिये घर से दस भाई निकले। गंगास्नान करके जब बाहर निकले और कपड़ा पहनकर जब घर लौटने के लिये तैयार हो गये, तब उनमें से एक व्यक्ति अपने भाइयों की गणना करते हुए एक से लेकर नौ तक अपने प्रत्येक भाई को गिन लेता है, किन्तु दसवें भाई का पता नहीं चल पाता है, तब घबड़ाकर वह रोने लगता है। उसके करुणाजनक रुदन को सुनकर कोई अन्य महात्मा व्यक्ति वहाँ आकर उससे रोने का कारण पूछने लगा। तब रोने वाले ने बताया कि हम दस भाई गंगाजी नहाने घर से एक साथ आये थे। किन्तु अब घर लौटते समय जब मैंने सब को गिना, तो गिनती में नौ ही हो रहे हैं, दसवें का पता नहीं चल रहा है, कदाचित् वह गंगाजी में डूब गया। हाय, अब हम नौ ही रह गये। तब उस महात्मा व्यक्ति ने रोने वाले के समेत उन अन्य नौ भाइयों को गिना तो पूरे दस भाई गिनती में हो रहे थे। दस की संख्या में कोई कमी नहीं थी। तब उस महात्मा ने उस रोने वाले से कहा कि **'दशमस्त्वमसि'** दसवाँ तू है। इस वाक्य को सुनकर जैसे दसवें व्यक्ति के रूप में उसे अपना **अपरोक्षज्ञान** हो जाता है, उसी प्रकार **'तत्त्वमसि'** आदि महावाक्यों से भी अर्थात् शब्दप्रमाण से 'अपरोक्षनिर्विकल्पकज्ञान' होता है। तात्पर्य यह है **शांकरवेदान्त** के अनुसार **शब्दप्रमाण** से भी 'निर्विकल्पकज्ञान' की उत्पत्ति होती है।

निर्विकल्पकज्ञान के प्रामाण्य के विषय में भी भिन्न-भिन्न मत हैं। **सौगत** (**बौद्ध**) **दार्शनिक** तथा **वेदान्तदार्शनिक** 'निर्विकल्पकज्ञान' को ही **प्रत्यक्ष** मानते हैं। अतः उनके मत में निर्विकल्पक ही मुख्यतः प्रमाण है। **न्याय** और **वैशेषिक** दार्शनिकों ने 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' **दोनों** को ही प्रमाण माना है। तथापि प्राचीन और नवीन के भेद से कुछ भिन्न मत पाया जाता है। **प्राचीन लोग** निर्विकल्पक को प्रमारूप कहते हैं। इस बात को कन्दलीकार श्रीधराचार्य ने कन्दली में स्पष्ट किया है। किन्तु **नवीन नैयायिकों** के उक्त ज्ञान के प्रमारूप होने में भिन्न-भिन्न मत हैं। भाषापरिच्छेद-कार 'भ्रम से भिन्न ज्ञान' को 'प्रमा' बताते हैं 'भ्रमभिन्नं ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा'। अतः भ्रम से भिन्न तो निर्विकल्पकज्ञान भी है इसलिये उसे भी 'प्रमा' कह सकते हैं।

किन्तु **नव्यन्याय** के कर्णधार गंगेशोपाध्याय ने 'निर्विकल्पकज्ञान' को न प्रमा कहा

है और न अप्रमा ही कहा है। क्योंकि इनके मत में प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों, प्रकारता (विशेषणता) आदि से घटित होते हैं। किन्तु 'निर्विकल्पकज्ञान' तो प्रकारता आदि से रहित होता है। एवं च वह प्रमा और अप्रमा दोनों से विलक्षण है। यह बात कारिकावलीकार श्रीविश्वनाथभट्टाचार्य ने स्पष्ट प्रदर्शित की है।

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः। साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव। तद्यथा, संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः विशेष्य-विशेषणभावश्चेति।

इन्द्रियार्थयोरिति। प्रत्यक्ष का करणभूत इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, जो साक्षात्कारि प्रमा का हेतु है, वह **षड्विध** (छह प्रकार का) ही है। जैसे—(१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्तसमवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय, (६) विशेषण-विशेष्यभाव।

माधुरी

'द्रव्य' के साथ इन्द्रिय का **संयोगसन्निकर्ष** होता है, और 'द्रव्य' ही सर्वाश्रय (समस्त पदार्थों का आश्रय) होने से प्रधान भी है, अतः छह प्रकार के सन्निकर्षों में तत्सम्बन्धरूप **संयोग** को सर्वप्रथम बताया गया है। तदनन्तर 'द्रव्य' में आश्रित 'गुणों' का सन्निकर्ष **संयुक्तसमवाय** को बताया है। तदनन्तर 'गुणादि' में रहने वाले 'सामान्य' के सन्निकर्ष **संयुक्तसमवेतसमवाय** को बताया है। तदनन्तर **समवायसन्निकर्ष** को बताया है, क्योंकि वह 'भावपदार्थों' का धर्म है। तदनन्तर **समवेतसमवाय सन्निकर्ष** बताया है। क्योंकि वह समवेत (समवायसंबंध से रहनेवाले) पदार्थ में 'समवाय' से स्थित 'सामान्य' का ग्रहण कराता है। तदनन्तर **विशेष्य-विशेषणभाव** सन्निकर्ष को बताया गया है। क्योंकि वह 'अभाव आदि' का ग्राहक है।

सम्बन्ध तो मुख्यतया 'संयोग' तथा 'समवाय' दो ही हैं। क्योंकि इन दोनों में ही सम्बन्ध का लक्षण घटित होता है। अन्य सन्निकर्षों को तो गौणरूप से सम्बन्ध कहा जाता है। क्योंकि इनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में दोनों सम्बन्धियों से रहता है।

यह 'लौकिकसन्निकर्ष' छह प्रकार का ही होता है, इससे कम या अधिक नहीं। उक्त लौकिकसन्निकर्षों में प्रथम 'संयोगसन्निकर्ष' को बता रहे हैं।

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते यदा चक्षुरिन्द्रियं, घटोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्ध्यभावात्। एवं मनसाऽन्तरिन्द्रियेण यदात्म-विषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियम्, आत्माऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव।

तत्रेति। जब चक्षुरिन्द्रिय से घटविषयक (घट का) ज्ञान उत्पन्न होता है, तब 'चक्षु' इन्द्रिय है और 'घट' अर्थ है। उन दोनों का सन्निकर्ष **'संयोग'** ही कहा जाता

है, क्योंकि ये दोनों **'अयुतसिद्ध'** नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि 'चक्षु' और 'घट' ये दोनों पदार्थ यदि 'अयुतसिद्ध' होते तो उनका परस्पर 'समवाय' संबंध होता। किन्तु इनके 'अयुतसिद्ध' न होने से इनका संबंध (सन्निकर्ष) 'संयोग' ही है।

इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय 'मन' से जब आत्मविषयक (आत्मा का) ज्ञान होता है, तब 'मन' इन्द्रिय और 'आत्मा' अर्थ है। इन दोनों का संबंध (सन्निकर्ष) 'संयोग' ही कहा जाता है।

इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण बाह्येन्द्रिय के सन्निकर्ष का है, और दूसरा उदाहरण अन्तरिन्द्रिय 'मन' के सन्निकर्ष का है।

प्रत्यक्ष करानेवाले संबंधविशेष को 'सन्निकर्ष' कहते हैं। संयोगसन्निकर्ष सर्वदा दो द्रव्यों का ही हुआ करता है। **न्याय-वैशेषिक** दर्शन में 'इन्द्रिय' को द्रव्य ही माना है। इस दर्शन के अनुसार बाह्येन्द्रियों में केवल 'चक्षु तथा त्वक्' इन्द्रियों से ही घट-पटादि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है। एवं अन्तरिन्द्रिय 'मन' के द्वारा 'आत्मा' का प्रत्यक्ष (मैं हूँ इत्याकारक) होता है। अतः ये **तीन इन्द्रियाँ** ही संयोगसन्निकर्ष के द्वारा 'अर्थ' (वस्तु) का प्रत्यक्ष कराती हैं।

कदा पुनः संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्यामं रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवाय एव। चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखादौ गृह्यमाणे, अयमेव सन्निकर्षः।

घटगतपरिमाणादिग्रहे चतुष्टयसन्निकर्षोऽप्यधिकं कारणमिष्यते। सत्यपि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात्। चतुष्टयसन्निकर्षो यथा। १. इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्। २. इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्। ३. इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्। ४. अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति।

प्रश्न--कदा पुनरिति। फिर **संयुक्तसमवायसन्निकर्ष** कब होता है?

उत्तर--यदेति। जब चक्षुरादि इन्द्रिय से 'घट के रूपादिगुण' का ग्रहण होता है अर्थात् घट में श्यामरूप है, ऐसा ज्ञान होता है, तब 'चक्षु' इन्द्रिय है और 'घट का रूप' अर्थ (विषय) होता है। और इन **दोनों** का **सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवाय'** ही होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त हुए 'घट' में 'रूप' का समवाय है। इसलिये चक्षुरिन्द्रिय और 'घटरूप' अर्थ का 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष ही माना जाता है।

इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय 'मन' से 'आत्मा' में समवायसम्बन्ध से रहने वाले (समवेत) सुखादि गुणों का जब ग्रहण किया जाता है, तब यही 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष होता है।

माधुरी

'संयुक्तसमवाय' शब्द का अर्थ है—**'संयुक्त में समवाय'**। इस सन्निकर्ष से इन्द्रिय-संयुक्त हुए द्रव्यों में गुण, कर्म तथा जाति का ग्रहण होता है, क्योंकि द्रव्य में गुण, कर्म तथा जाति समवायसम्बन्ध से रहते हैं। जहाँ चक्षु से घट के रूप का ज्ञान होता है, वहाँ चक्षु से संयुक्त 'घट' है, क्योंकि चक्षु और घट दोनों में परस्पर संयोगसम्बन्ध है। उस चक्षुःसंयुक्तघट में 'रूप' गुण समवायसम्बन्ध से रहता है। इसलिये घट-रूप का ज्ञान संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से माना जाता है। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय से घट के स्पर्श का ज्ञान, रसनेन्द्रिय से जलादि के रस का ज्ञान, तथा घ्राणेन्द्रिय से पुष्पादि के गन्ध का ज्ञान, इसी संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से होता है। पञ्चज्ञानेन्द्रियों में से श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर शेष चारों से संयुक्तसमवायसन्निकर्ष द्वारा पदार्थ (गुण, कर्म, जाति) का प्रत्यक्ष हुआ करता है। जैसे घटे रूपम्, में 'गुण' का प्रत्यक्ष, घटः कम्पते में 'कर्म' (क्रिया) का प्रत्यक्ष, घटो द्रव्यम् अर्थात् द्रव्यत्वजात्याश्रयो घटः में 'द्रव्यत्वजाति' का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से होता है। मूल में पठित 'चक्षुरादिना' के आदि शब्द से त्वक्, रसना तथा घ्राण इन्द्रियों को समझना चाहिये। और 'घटगतरूपादिकम्' के आदि शब्द से स्पर्श, रस और गन्ध को समझना चाहिये। घट में स्थित 'घटत्व' सामान्य (जाति) का प्रत्यक्ष भी संयुक्तसमवायसन्निकर्ष के द्वारा इन्द्रिय से ही होता है। यह **नियम** है कि "येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठाजातिः (सामान्यं) तत्समवायः तदभावश्च गृह्यते"—जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ (वस्तु) का ग्रहण होता है, उस वस्तु में रहने वाले **'सामान्य'** (जाति), **'समवाय'** तथा 'उसके **अभाव**' का भी ग्रहण (ज्ञान) उसी इन्द्रिय से होता है।

इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय 'मन' से 'आत्मा' में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले 'सुख दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न' इन गुणों का तथा **'आत्मत्व, द्रव्यत्व, और सत्ता** इन जातियों का प्रत्यक्ष भी इसी **संयुक्तसमवायसन्निकर्ष** से ही होता है। क्योंकि 'मन' अन्तरिन्द्रिय से संयुक्त हुए आत्मा में 'सुख-दुःखादि गुण' तथा 'आत्मत्व आदि जाति' समवायसम्बन्ध से रहते हैं। अभिप्राय यह है कि द्रव्य में **'गुण, कर्म** और **सामान्य'** का 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' से ज्ञान होता है। किन्तु द्रव्य के 'परिमाण' आदि कतिपय गुणों के प्रत्यक्ष करने में 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' के अतिरिक्त चार अन्य सन्निकर्षों की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि घट के 'परिमाण' आदि गुणों के साथ चक्षु का संयुक्तसमवायसन्निकर्ष होने पर भी दूर से उन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इसी बात को बताने के लिये ग्रन्थकार **'घटगतपरिमाणादिग्रहे'** इत्यादि ग्रन्थ को बता रहे हैं।

घटगतपरिमाणादिग्रहे इति। घट के **परिमाण, संख्या** आदि गुणों के ग्रहण करने में **'चतुष्टयसन्निकर्ष'** (चार प्रकार का सन्निकर्ष) को भी अधिक (अतिरिक्त) कारण

माना जाता है। घटगत रूपादिगुणों की तरह घटगत परिमाण आदि का भी ग्रहण यद्यपि 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' (संबंध) से ही होता है, तथापि घट के 'परिमाण' आदि गुणों के ग्रहण करने में 'इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु घट आदि) दोनों के अवयव, दोनों के अवयवी, पहले का अवयव और दूसरे का अवयवी, अथवा दूसरे का अवयव और पहले का अवयवी' इस प्रकार इन चारों के 'चतुष्टयसन्निकर्ष' को भी अतिरिक्त कारण मानना पड़ता है। क्योंकि उस चतुष्टयसन्निकर्ष के न होने पर 'परिमाण' आदि के साथ चक्षु का 'संयुक्तसमवायसम्बन्ध' रहने पर भी दूरस्थित वस्तु के 'परिमाणादि' का ठीक-ठीक ग्रहण नहीं हो पाता। इसलिये उसे मानना आवश्यक हो जाता है।

वह चतुष्टयसन्निकर्ष इस प्रकार होता है—जैसे (१) इन्द्रियावयव और अर्थावयवी का सन्निकर्ष। (२) इन्द्रिय के अवयवी से अर्थ के अवयवों का सन्निकर्ष। (३) इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ के अवयवों का सन्निकर्ष। (४) इन्दिय के अवयवी से अर्थ के अवयवी का सन्निकर्ष।

माधुरी

किसी द्रव्य के 'रूपज्ञान' में और उसके 'परिमाणादि' के ज्ञान में कुछ भिन्नता है। क्योंकि 'यह काला घट है, यह लाल घट है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष में 'घट' के सभी अवयवों के प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु यह घट बड़ा है, या यह घट छोटा है' इस ज्ञान में घट के अधिकांश अवयवों का प्रत्यक्ष करना पड़ता है। इसलिये अतिरिक्त चार सन्निकर्षों की कल्पना की गई है। इस चतुष्टयसन्निकर्ष से घट के अवयवों तथा अवयवी के साथ इन्द्रिय के अवयवों तथा अवयवी का संबंध हो पाता है। इस रीति से अधिकांश अवयवों का ग्रहण हो पाने से घट के परिमाण का ज्ञान होना सुलभ हो जाता है।

कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं, रूपत्वादिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव। चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

प्रश्न—कदेति। फिर संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष कब होता है ?

उत्तर—यदेति। जब **चक्षुरिन्द्रिय** से **घट के रूप में समवेत** (समवायसम्बन्ध से रहने वाला) **रूपत्व** आदि सामान्य (जाति) का ग्रहण होता है। तब 'चक्षु' इन्द्रिय है, और **'रूपत्व'** आदि सामान्य (जाति) अर्थ है, और उन दोनों का सन्निकर्ष 'संयुक्त-समवेत-समवाय' ही होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त हुए 'घट' में 'रूप' समवायसंबंध से रहता है, इसलिये 'घट' में 'रूप' समवेत कहलाता है, और उस 'रूप' में 'रूपत्व' (सामान्य = जाति) का 'समवाय' सवध है। इसलिये रूपत्वजाति के साथ चक्षु का

परम्परया 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष (संवन्ध) हुआ। रूपत्व के समान ही 'संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष' से शब्द के अतिरिक्त सभी 'गुणों तथा कर्म' में स्थित जाति (सामान्य) का ग्रहण किया जाता है।

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्। श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

प्रश्न—कदेति। फिर 'समवाय' सन्निकर्ष कब होता है ?

उत्तर—यदेति। जब श्रोत्रेन्द्रिय से 'शब्द' का ग्रहण होता है, तब **'श्रोत्र' इन्द्रिय** है, और **'शब्द' अर्थ** है। और उन दोनों का सन्निकर्ष (संवन्ध) **'समवाय'** ही होता है। क्योंकि **कर्णविवर से अवच्छिन्न** (घिरा हुआ, परिमित) **आकाश** ही **'श्रोत्र'** है। शष्कुली = कचौड़ी के आकार जैसा ही कर्ण का बाह्यगोलक होता है, उससे अवच्छिन्न घिरा हुआ = मर्यादित उसका मध्यवर्ती जो आकाश है उसी को 'श्रोत्र' कहते हैं। इसलिये 'श्रोत्र' आकाशरूप ही है। और 'शब्द', आकाश का 'गुण' है। और **'गुण** तथा **'गुणी'** दोनों का **'समवाय'** संवन्ध रहता है।

माधुरी

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जो 'शब्द' का ज्ञान होता है, वह 'समवाय' सन्निकर्ष से होता है; 'श्रोत्र' आकाश ही है, उससे भिन्न नहीं है। 'श्रोत्र' और 'आकाश' यह भेदव्यवहार केवल औपाधिक ही है। कर्णविवर (छिद्र) के भीतर जो आकाश है, उसे 'श्रोत्र' कहते हैं। 'शब्द' एक गुण है, वह 'आकाश' में रहता है। एवं च श्रोत्ररूप जो आकाश है, वह 'गुणी' है और उसका गुण 'शब्द' है। तब गुण और गुणी का सम्बन्ध हमेशा 'समवाय' ही हुआ करता है।

कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दत्वादि सामान्यमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

प्रश्न—कदेति। फिर 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' कब होता है ?

उत्तर—यदेति। जब **शब्द** में **समवेत** (समवाय सम्बन्ध से रहने वाली) **'शब्दत्व'** आदि जाति का श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष किया जाता है, तब **'समवेतसमवाय सन्निकर्ष'** से ही वह हो पाता है। उस समय 'श्रोत्र' इन्द्रिय और 'शब्दत्व' आदि सामान्य अर्थ है। इन दोनों का सन्निकर्ष 'समवेतसमवाय' ही होता है। क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले 'शब्द' में 'शब्दत्व जाति' का समवाय सम्बन्ध होता

है। एवं च श्रोत्र में समवेत होता है 'शब्द' और उसमें समवेत होता है 'शब्दत्व'। इसलिये 'शब्दत्व' का 'श्रोत्र' के साथ समवेत-समवाय सम्बन्ध होता है।

कदा पुनर्विशेष्यविशेषणभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ?

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति, तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः। तदा चक्षुःसंयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं, भूतलं विशेष्यम्। यदा च मनःसंयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित' इति तदा मनःसंयुक्तस्यात्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोत्रसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्।

तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते।

प्रश्न—कदेति। फिर विशेष्य-विशेषणभाव सन्निकर्ष कब होता है ?

उत्तर—यदेति। जब **चक्षु** से **संयुक्त** हुए भूतल पर 'यहाँ भूतल पर घट नहीं है' इस प्रकार से घट के **'अभाव'** का ग्रहण होता है। तब **विशेष्य-विशेषणभावसन्निकर्ष** होता है। उस समय चक्षु से संयुक्त हुए भूतल का विशेषण 'घटाभाव' है, और 'भूतल' विशेष्य है।

इस प्रकार इन्द्रिय से संयुक्त (संबद्ध) हुए भूतल में 'घटाभाव' के विशेषण होने से 'घटाभाव' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का परम्परया 'इन्द्रियसंयुक्तविशेषणता' संबंध होता है। इसी प्रकार जब 'भूतलनिष्ठः घटाभावः' यह प्रतीति होती है, तब घटाभाव के साथ 'इन्द्रिय संयुक्त (सम्बद्ध) विशेष्यता' संबन्ध होता है। इस प्रकार इन्द्रिय का 'अभाव' के साथ कहीं 'इन्द्रिय-सम्बद्धविशेष्यता' और कहीं 'इन्द्रिय-सम्बद्धविशेषणता' सम्बन्ध होता है। इसी को थोड़े में 'विशेष्य-विशेषण' सम्बन्ध कहा गया है।

इसी प्रकार जब 'मन' से संयुक्त हुए 'आत्मा' में सुखादि गुणों का अभाव अर्थात् 'मैं सुखरहित हूँ' इस रूप में—ज्ञात होता है, तब 'मन' से संयुक्त हुए 'आत्मा' में 'सुखाभाव' समवाय संबंध से विशेषण होता है। अतः आत्मा में सुखाभाव का प्रत्यक्ष, 'विशेषण-विशेष्यभाव' अर्थात् मनःसंयुक्त विशेषणता सन्निकर्ष से होता है। और जब 'श्रोत्र' में सगवाय संबंध से रहनेवाले 'गकार' में 'घत्व' आदि जाति का अभाव ग्रहीत होता है, तब श्रोत्र-समवेत 'गकार' में 'घत्वाभाव' समवेत-समवाय संबंध से विशेषण होता है। उन दोनों का ग्रहण 'विशेष्य-विशेषणभाव' संबंध से होता है। अर्थात् 'ग' में घत्वाभाव' का प्रत्यक्ष, विशेषण-विशेष्यभाव अर्थात् 'श्रोत्र-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष से होता है।

माधुरी

'घटयुक्तभूतल' से 'घटाभाववाला भूतल' विलक्षण है। क्योंकि उस भूतल को घट-युक्त भूतल की अपेक्षया विलक्षण (विशिष्ट) बना दिया है। इसीलिये घटाभाव वाले भूतल को 'घटाभाववद् भूतलम्' कहा जाता है। एवं च घटाभाववत् = घटाभाव विशिष्ट भूतल होने से 'घटाभाव' भूतल का विशेषण हो जाता है, और भूतल 'विशेष्य' हो जाता है। इस प्रकार का 'विशेष्य-विशेषणभाव' उन्हीं पदार्थों में होता है, जिनमें परस्पर कोई सम्बन्ध होता है। अतः कहना होगा कि 'भूतल' के साथ 'घटाभाव' का कोई सम्बन्ध अवश्य ही होगा। वह संबंध कौन-सा हो सकता है? 'संयोग' संबंध तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह तो दो द्रव्यों में ही होता है। यहाँ पर 'भूतल' तो द्रव्य है, किन्तु 'घटाभाव' द्रव्य नहीं है। अतः इन दोनों का 'संयोग संबंध' कहना संभव नहीं हैं। उसी तरह इन दोनों में 'समवाय' संबंध भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो भावपदार्थों में ही हुआ करता है। यहाँ तो एक 'भाव' पदार्थ है किन्तु दूसरा 'अभाव' पदार्थ है। इसी प्रकार दोनों में 'कालिक' या 'दैशिक' संबंध भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'भूतल' जैसे जन्य मूर्त द्रव्य तो 'काल', 'दिक्' की उपाधि होते हैं, अतः उनके साथ 'घटाभाव' का 'कालिक' या 'दैशिक' संबंध हो सकने पर भी 'आत्मा आदि नित्य-पदार्थ' तो काल, दिक् की उपाधि नहीं है· अतः उन नित्य पदार्थों में उक्त संवन्ध के न होने से उनके साथ 'अभाव' का संवन्ध नहीं हो सकेगा। अतः अभाव के समी विशेष्यों में रह सकने वाला कोई संबंध कहना चाहिये। तव यही कहना होगा कि घटाभाव और भूतल के 'स्वरूप' को ही उन दोनों के मध्य, सम्वन्धरूप में स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार 'अभावात्मक विशेषण के स्वरूप' को संबंध मानने पर उसे 'विशेषणता' शब्द से कह सकेंगे। और जब भूतल आदि विशेष्य के स्वरूप' को संबंध मानेंगे तब उसे 'विशेष्यता' शब्द से कहेंगे। यही बताने के लिये भूतल के साथ घटाभाव के संबंध को 'विशेष्य-विशेषणभाव' या 'विशेषण-विशेष्यभाव' शब्द से बताया गया है। यहाँ पर 'विशेषण-विशेष्यभाव' शब्द से 'विषयतारूप विशेषणता और विशेष्यता' विवक्षित नहीं है, क्योंकि विषयतारूप मानने पर घटाभाव का प्रत्यक्ष होने के पूर्व भूतल में विषयतारूप विशेष्यता और घटाभाव में विषयतारूप विशेषणता न रह सकने से भूतलनिष्ठ घटाभाव के साथ चक्षुरिन्द्रिय का 'संयुक्तविशेषण-विशेष्यभाव' सन्निकर्ष नहीं हो सकेगा। तब भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष ही नहीं हो पायेगा।

निष्कर्ष यह है कि 'संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेत-समवाय, समवाय, और समवेतसमवाय' —इन पाँच प्रकार के संबंधों में से किसी एक संबंध से सम्बद्ध विशेषण-विशेष्य भावरूप (इन्द्रिय और अर्थ के) सन्निकर्ष से 'अभाव' का प्रत्यक्ष, इन्द्रिय के द्वारा ही होता है। केवल 'विशेष्य-विशेषण-भाव संबन्ध' से कभी भी 'अभाव' का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता है। उक्त पाँच सन्निकर्षों में से कोई न कोई एक अवश्य ही

'विशेष्य-विशेषणभावसन्निकर्ष' के साथ रहा करता है। जैसे—जब हम भूतल में 'घटाभाव' का प्रत्यक्ष करते हैं तो वहाँ चक्षुरिन्द्रिय का भूतल के साथ 'संयोगसन्निकर्ष' रहता है, तब उस 'चक्षुःसंयुक्त भूतल' में ही घटाभाव का प्रत्यक्ष कर पाते हैं। 'भूतले घटाभावः' इस रूप में जब हम 'अभाव' का प्रत्यक्ष करते हैं, तब 'संयुक्तविशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष' के द्वारा ही वह हो पाता है। अर्थात् चक्षु से संयुक्त हुए भूतल का अपने में स्थित घटाभाव के साथ 'विशेषण-विशेष्यभाव संबंध' होता है। उसी तरह 'घटरूप' में 'घटाभाव' का प्रत्यक्ष, 'चक्षुःसंयुक्त-समवेत-विशेषणविशेष्यभाव-सन्निकर्ष' से होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्तसमवाय संबंध से सम्बद्ध 'घटरूप' है। उसका स्वस्थित (घटरूप में स्थित) घटाभाव के साथ विशेषणविशेष्यभाव-संबन्ध होता है। इसी प्रकार 'घटरूपस्थ रूपत्व' में घटाभाव का प्रत्यक्ष, चक्षुःसंयुक्तसमवेत-समवेत-विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष से होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त हुआ 'घट', उसमें समवेत हुआ 'रूप' उसमें 'रूपत्व' का समवाय है, यानी समवाय संबंध से रूप में रूपत्व रहता है। इसलिये 'घटरूप' में रूपत्व, चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से रहता है उस रूपत्व का 'विशेषणविशेष्यभाव संबन्ध', रूपत्व में रहनेवाले 'घटाभाव' के साथ होता है।

इसी प्रकार 'क' में 'खत्व' के अभाव का प्रत्यक्ष, 'श्रोत्रसमवेतविशेषणविशेष्यभाव' सम्बन्ध से होता है। क्योंकि श्रोत्र में उत्पन्न हुए 'क' का श्रोत्र से समवाय संबन्ध होता है। और उसका (क का) अपने में ('क' में) रहनेवाले 'खत्वाभाव' के साथ 'विशेषणविशेष्यभाव' संबन्ध होता हैं। उसी तरह 'कत्व' में 'खत्वाभाव' का प्रत्यक्ष, 'श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध' से होता है। क्योंकि समवेतसमवाय सम्बन्ध से श्रोत्र से कत्व का सम्बन्ध होता है, और उसका अपने में (कत्व में) रहने वाले 'खत्वाभाव' के साथ 'विशेषणविशेष्यभाव संबंध' होता है। इसी प्रकार भूतलस्थ-घटाभाव में पटाभाव का प्रत्यक्ष, 'चक्षुः-संयुक्तविशेषण-विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष' से होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त हुआ भूतल, उसका घटाभाव के साथ 'विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध' होता है, उस घटाभाव का स्वस्थित (घटाभावस्थित) पटाभाव के साथ पुनः 'विशेषणविशेष्यभावसंबंध' होता है। अतः घटाभावस्थ पटाभाव का प्रत्यक्ष, 'चक्षुः-संयुक्तविशेषण-विशेषण-विशेष्यभावसंबंध' से ही होता है। क्योंकि भूतलस्थित घटाभाव, संयोगादि पञ्चविध संबंधों में से किसी संबंध से इन्द्रियसम्बद्ध नहीं होता है। अतः पञ्चविध सम्बन्ध का उल्लेख, विशेषणविशेष्यभावरूप षष्ठसम्बन्ध का भी सूचक समझना चाहिये।

एवं समवायोऽपि। चक्षुःसम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवाय' इति।

एवमिति । इसी प्रकार **'समवाय'** का भी **प्रत्यक्ष 'विशेषणविशेष्यभाव'** सन्निकर्ष से होता है। चक्षु से संयुक्त हुए तन्तुओं का विशेषणभूत 'पटसमवाय' का प्रत्यक्ष 'इह तन्तुषु पटसमवाय:' = इन तन्तुओं में पट का समवाय है—इस प्रकार से होता है। इस प्रतीति में विशेषण-विशेष्यभावसन्निकर्ष के द्वारा समवाय का ग्रहण (ज्ञान) हो रहा है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त हुए तन्तुओं में 'विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध' से पटसमवाय रहता है, अतः पटसमवाय का तन्तुओं के साथ विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होता है।

माधुरी

समवायसम्बन्ध के प्रत्यक्ष होने या न होने में न्याय-वैशेषिक ये दोनों दर्शन एक मत नहीं हैं। न्यायदर्शन तो 'समवाय संबन्ध' का प्रत्यक्ष मानता है। किन्तु वैशेषिक दर्शन और भाट्ट मीमांसक 'समवाय सम्बन्ध' को प्रत्यक्ष-गम्य न मानकर उसे अनुमेय (अनुमानगम्य) कहते हैं। ग्रन्थकार ने न्यायदर्शन के अनुसार 'समवाय' का प्रत्यक्ष बताया है। **निष्कर्ष** यह है कि 'अभाव' और 'समवायसम्बन्ध' दोनों का 'इन्द्रिय' से विशेषण-विशेष्यभावसन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है।

तथापि 'अभाव' और 'समवाय' के प्रत्यक्ष में कुछ अन्तर है। उक्त पञ्चविध-सम्बन्धों में से किसी एक से सम्बद्ध हुए 'विशेषण-विशेष्यभाव' सन्निकर्ष के द्वारा 'अभाव' का ग्रहण होता है। किन्तु 'समवायसम्बन्ध' का ग्रहण केवल 'संयोग, संयुक्त-समवाय, तथा समवाय' इन तीन में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध हुए 'विशेषण-विशेष्यभावसन्निकर्ष' के द्वारा होता है। क्योंकि 'समवायसम्बन्ध' केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहता है। इनमें से द्रव्य के साथ इन्द्रिय का 'संयोगसन्निकर्ष' होता है और शब्द से भिन्न सभी गुणों और कर्मों के साथ इन्द्रिय का 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' होता है। एवं 'शब्द' नामक गुण के साथ श्रोत्रेन्द्रिय का 'समवाय सन्निकर्ष' होता है।

तदेवं षोढा सन्निकर्षो वर्णितः संग्रहश्च—

> **अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाविकल्पिका।**
> **करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षश्च षड्विधः ॥**
> **घट-तन्नील-नीलत्व-शब्द-शब्दत्वजातयः ।**
> **अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः ॥**

तदेवमिति । इस प्रकार छह प्रकार के सन्निकर्षों का वर्णन किया गया। अब उक्त सभी विषय का (प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपण का) संक्षेप (संग्रह) इस प्रकार ग्रन्थकार ने किया है।

अक्षजेति । (इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न) **इन्द्रियजन्य 'प्रत्यक्ष**

प्रमिति' दो प्रकार की है, एक 'सविकल्पक' और दूसरी 'निर्विकल्पक'। उस 'प्रत्यक्ष प्रमा' के **'करण'** [(१) कभी इन्द्रिय, (२) कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, (३) कभी निर्विकल्पकज्ञान] तीन प्रकार के हैं, और (इन्द्रिय तथा अर्थ का) **'सन्निकर्ष'** [(१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्तसमवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय, और (६) विशेष्य-विशेषणभाव] छह प्रकार का है। (इस छह प्रकार के सन्निकर्ष से क्रमशः) (१) **घट** (का संयोग सम्बन्ध से) (२) **घट में रहनेवाले नील** (गुण का ग्रहण संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से और उस नीलगुण में रहनेवाली जाति) (३) **नीलत्व** (का संयुक्तसमवेत-समवायसम्बन्ध से तथा) (४) **शब्द** (गुण का कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाशरूप श्रोत्र से समवाय-सम्बन्ध के द्वारा) और (उस शब्द में रहनेवाली) (५) **शब्दत्व जाति** (का समवेत समवायसम्बन्ध से) तथा (६) **अभाव** और **समवाय** (का विशेष्य-विशेषणभाव से) का छह सन्निकर्षों (सम्बन्धों) से (क्रमशः) ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने कारिका के द्वारा प्रत्यक्ष के प्रकार, प्रत्यक्षप्रमा के करण, और सन्निकर्षों को बताया है। अब बुद्धिवैशद्य के हेतु यह भी समझना उपयुक्त होगा कि न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ सन्निकर्ष के द्वारा पदार्थ ग्रहण किस रीति से करती हैं। यह भूलना न होगा कि ज्ञानमात्र के प्रति 'आत्म-मनःसंयोग' कारण होता है। किन्तु 'मन' का इन्द्रिय के साथ संयोग, बाह्य पदार्थ के प्रत्यक्ष करने में विशेष कारण है। बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष बाह्येन्द्रियों से ही होता है। घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र ये पाँच बाह्येन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं, और 'मन' अन्तरिन्द्रिय है। ये सब इन्द्रियाँ अपने आश्रयभूत शरीर में रहती हैं। क्योंकि सभी इन्द्रियों का आश्रय शरीर है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के 'इन्द्रियाणां प्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्' इस नियम के अनुसार इन्द्रियाँ किसी भी पदार्थ का ज्ञान, उस पदार्थ को प्राप्त करके ही कराती हैं। फिर सब की प्राप्यकारिता समान नहीं है। पाँच बाह्येन्द्रियों में से एक चक्षुरिन्द्रिय ही ऐसी है, जो अपने विषयभूत विशेष पदार्थ के पास पहुँचकर उसे प्रकाशित करती है। अन्य शेष चार इन्द्रियाँ अपने स्थान पर ही रहती हैं, वहीं पर विषयभूत पदार्थ को प्राप्त करके उसे प्रकाशित करती हैं। ये घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र किसी भी रूप में अपने स्थान का त्याग नहीं करतीं। जब वायु आदि के सहयोग से कोई गन्धयुक्त पदार्थ घ्राण के, कोई रसयुक्त पदार्थ रसना के, कोई स्पर्शयुक्त पदार्थ त्वक् के, और कोई शब्द श्रोत्र के समीप आ जाता है, तब ये इन्द्रियाँ अपने निश्चित स्थान पर ही अपने ग्राह्य पदार्थ गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द से सन्निकर्ष स्थापित कर उनका प्रत्यक्ष (अनुभवात्मकज्ञान) कराती हैं। अन्तरिन्द्रिय 'मन' भी अपने

स्थान की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। वह शरीर के भीतर ही आत्मा और उसके सुख, दुःखादि गुणों से सम्बन्ध बनाकर उनका प्रत्यक्ष कराता है।

इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ, सन्निकृष्ट पदार्थ का ही ग्रहण कराती हैं, इसलिये न्यायदर्शन में उन्हें प्राप्यकारी (प्राप्त = सन्निकृष्ट वस्तु का प्रकाशक) कहा गया है। क्योंकि भूत-भावी, सुदूरस्थित, व्यवहित वस्तु का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि किसी वस्तु के लौकिक प्रत्यक्ष के लिये उस वस्तु के साथ इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष होता है। 'तेज' के परमाणुओं से चक्षुरिन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। वह (इन्द्रिय) नेत्र के भीतर काली कनीनिका (पुतली) के ऊपरी भाग पर स्थित रहती है। उसकी उत्पत्ति, तेज से होने के कारण, वह शीघ्रगामी किरणों से सम्पन्न होती है। इसलिये जब कभी आँख खुलती है, तब वह तत्काल ही उन किरणों द्वारा बाह्य प्रदेश में स्थित वस्तु तक पहुँच जाती है। और उसके साथ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) स्थापित कर उस वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष करा देती है। इन लौकिक सन्निकर्षों से इन्द्रिय के समीपवर्ती स्थान में उपस्थित द्रव्य और तद्गुणादि का ज्ञान कराया जाता है।

अलौकिक सन्निकर्ष—

अभी तक जिन इन्द्रियार्थसन्निकर्षों को बताया गया है, वे सब **'लौकिक सन्निकर्ष'** हैं। इनसे अतिरिक्त तीन प्रकार के **'अलौकिक सन्निकर्ष'** भी होते हैं। उन्हें (१) सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति, (२) ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति, (३) योगज प्रत्यासत्ति कहते हैं। इनमें 'वस्तु' इन्द्रिय के सामने नहीं रहती, दूर भी रहती है, भूत-भविष्यत काल में उस वस्तु का अस्तित्व होता है। ऐसी वस्तु के ज्ञानार्थ इन्द्रिय और वस्तु दोंनों में सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है। ये सन्निकर्ष लोकव्यवहार में जनसाधारण-बोध्य नहीं रहते। अतः इन सन्निकर्षों को 'अलौकिक सन्निकर्ष' कहते हैं। और इनसे होने वाले प्रत्यक्ष को 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहते हैं। सन्निकर्ष को 'प्रत्यासत्ति' शब्द से भी कहा गया है। श्रीविश्वनाथ भट्टाचार्य ने अपने भाषापरिच्छेद (कारिकावली) ग्रन्थ में इन्हें 'व्यापार' शब्द से कहा है।

"अलौकिकस्तुव्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा॥ (प्र० खं० का ६३)

(१) सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति या सामान्यलक्षण सन्निकर्ष—

'सामान्यलक्षण' शब्द में जो 'लक्षण' शब्द है, उसके दो अर्थ होते हैं—(१) स्वरूप और (२) ज्ञान। अतः सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को (प्रत्यासत्ति को) दो प्रकार का कहना होगा—(१) सामान्यस्वरूप और (२) सामान्यज्ञान।

अनेक आश्रयों में रहनेवाला जो समान (सदृश) धर्म, उसे 'सामान्य' कहते हैं।

'रूप' आदि व्यक्ति को भी इस सन्दर्भ में 'सामान्य' शब्द से कह सकते हैं। एक ही द्रव्य में रहने वाली 'रूपादि' व्यक्ति भी यदि भ्रमवश, अन्यान्य अनेक द्रव्यों में ज्ञात हो जाय तो उसे रूपसामान्य शब्द से कहा जाता है।

'सामान्यस्वरूप या सामान्यज्ञान' को इन्द्रिय का सन्निकर्ष तब कहा जाता है कि जब कहीं पर (किसी वस्तु में) इन्द्रिय के लौकिक सन्निकर्ष से उसका ज्ञान हुआ रहता है। जैसे—जब किसी एक 'धूम' के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध होने पर उस 'धूम' में 'धूमत्व' का लौकिक प्रत्यक्ष होता है। तब 'धूमत्व' अथवा 'धूमत्व-ज्ञान' से युक्त हुए समस्त 'धूमों' के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष हो जाता है। क्योंकि 'धूमत्व' 'समवाय सम्बन्ध' से तथा 'धूमत्वज्ञान' 'स्वविषयभूतधूमत्वसमवाय' सम्बन्ध से समस्त धूमों में रहता है।

प्रत्येक सम्बन्ध के अपने **'प्रतियोगी'** और **'अनुयोगी'** हुआ करते हैं। तब 'सामान्य-स्वरूप' या 'सामान्यज्ञानं' किसी को भी सम्बन्ध मानने पर दोनों का प्रतियोगी 'इन्द्रिय' होगा, और 'सामान्य का जो आश्रय' रहेगा उसे 'अनुयोगी' समझा जायेगा। क्योंकि यह नियम है कि—'जिस सम्बन्ध के द्वारा **जिससे** किसी पदार्थ को सम्बद्ध किया जाता है 'वह पदार्थ' उस 'सवन्ध' का **प्रतियोगी**, होता है। और जिसमें सम्बद्ध का किया जाता है, वह अनुयोगी होता है। सामान्य अथवा सामान्यज्ञान, सन्निकर्ष (सम्बन्ध) के द्वारा सामान्य के 'आश्रय' में 'इन्द्रिय' को सम्बद्ध करता है, इसलिये उक्त सम्बन्ध का प्रतियोगी 'इन्द्रिय' होगा और 'सामान्य का आश्रय' उक्त सम्बन्ध का अनुयोगी होगा। किसी भी सम्बन्ध को अपनी प्रतियोगिता और अनुयोगिता के नियामक सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है। जिससे एक निश्चित पदार्थ ही उस सम्बन्ध प्रतियोगी तथा कोई निश्चित पदार्थ ही उस सम्बन्ध का अनुयोगी हो सकेगा। सामान्य को सन्निकर्ष मानने पर उसकी प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध होगा—'स्वविषयक-ज्ञानविषयसंयोग'। जैसे—'स्व' शब्द से 'धूमत्वसामान्य' लिया, अतः 'स्वविषयक-ज्ञान' होगा 'इन्द्रियसन्निकृष्ट धूम' अथवा वाष्प में 'धूमत्व' का ज्ञान। उस ज्ञान का विषय होगा 'धूम' या 'वाष्प। उसका संयोग है 'इन्द्रिय' से। इस रीति से 'धूमत्वस्वरूप सामान्य सम्बन्ध' का प्रतियोगी 'इन्द्रिय' होता है।

इसी प्रकार जो सामान्य जिस संबंध से आश्रित होता है, वह उसकी अनुयोगिता का नियामक होता है। जैसे 'धूमत्व' को सन्निकर्ष मानने पर उसकी अनुयोगिता का नियामक 'समवाय' होता है। और यदि 'सामान्यज्ञान' को सन्निकर्ष माना जायेगा तो उसकी प्रतियोगिता का नियामक होगा 'स्वविषय संयोग'। जैसे धूमत्वज्ञान को सन्निकर्ष मानने पर 'स्व' शब्द से धूम अथवा बाष्प में धूमत्व का ज्ञान, उसका विषय होगा 'धूम' या 'वाष्प'। उसका संयोग है 'इन्द्रिय' से। अतः 'इन्द्रिय' उसका प्रति-योगी होता है। उक्त सन्निकर्ष की अनुयोगिता का नियामक सम्बन्ध होगा 'स्वविषय-

सामान्याश्रयता'। जैसे—'स्व' शब्द से धूमत्व-ज्ञान लिया, तो उसका विषयभूत सामान्य होगा, 'धूमत्व', उसका आश्रय होगा 'धूम', अतः उसी धूम में आश्रयता रही। इसलिये धूमत्वज्ञानात्मक सन्निकर्ष का अनुयोगी 'धूम' होता है। यहाँ यह भी समझना चाहिये कि सामान्यज्ञान को जब 'मन' का सन्निकर्ष माना जायेगा, तब उसकी प्रतियोगिता का नियामक 'स्वाश्रयसंयोग' होगा, उदाहरणार्थ 'धूमत्वज्ञान' को 'मन' का सन्निकर्ष मानने पर 'स्व' शब्द से 'धूमत्वज्ञान', उसका आश्रय 'आत्मा', उसका 'संयोग' है 'मन' में। अतः 'मन' उसका प्रतियोगी है।

बोद्धव्य यह है कि लौकिक अलौकिक भेद से 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' दो प्रकार का होता है। उनमें से **'लौकिक सन्निकर्ष' छह प्रकार** का होता है, यह उपर बता चुके है। और (१) सामान्यलक्षण, (२) ज्ञानलक्षण, (३) योगज भेद से **'अलौकिक सन्निकर्ष' तीन प्रकार** का होता है।

प्रथम **'सामान्यलक्षण'** शब्द में 'लक्षण' का अर्थ 'स्वरूप' है। अर्थात् सामान्य-का अर्थ है 'सामान्यरूप'। जैसे—किसी ने 'गौ' को दिखाकर बताया कि 'यह गाय है' या 'इसे गाय कहते हैं।' तब 'गौ' को देखने के साथ ही उसमें रहने वाली 'गोत्व' **जाति** (सामान्य) का भी लौकिक सन्निकर्ष (संयुक्तसमवाय) से प्रत्यक्ष होता है। पश्चात् वह 'गोत्व' अर्थात् 'सामान्य' भी सन्निकर्ष बन जाता है। तब उस सामान्यरूपसन्निकर्ष से संसार की सम्पूर्ण गायों का प्रत्यक्ष हो जाता है। उससे समझ में आ जाता है कि सम्पूर्ण गायों को 'गो' (गाय) शब्द से कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर एक वस्तु का ज्ञान होने पर, उसमें रहने वाले सामान्य धर्म के द्वारा तत्सजातीय (उसके सदृश) सभी वस्तुओं का ज्ञान हो। यह ज्ञान **'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष'** से होता है। इस सामान्यलक्षण सन्निकर्ष (सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति) से 'धूम' का 'वह्नि' के साथ व्याप्तिज्ञान भी होता है। जैसे पाकशाला में 'धूम और वह्नि' को देखते हैं, तब वहाँ 'धूमत्वसामान्य' से 'समस्त धूमों' का और 'वह्नित्व' सामान्य से 'समस्त वह्नियों' का प्रत्यक्ष हो जाता है। उसी समय धूमसामान्य और वह्निसामान्य की व्याप्ति का ग्रहण होता है। इसीलिये 'सामान्यलक्षणा' को **अलौकिक सन्निकर्ष** कहा गया है।

(२) ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति—

दूसरी **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** (सन्निकर्ष) है। यह भी एक **अलौकिक सन्निकर्ष** है। यह सन्निकर्ष स्मृतिरूप है। इससे अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। जैसे—'सुरभिचन्द-नम्' यह ज्ञान, 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरूप' अलौकिक सन्निकर्ष से हुआ करता है। कहीं पर चन्दन के टुकड़े को सूँघकर जान लिया कि यह सुगन्धित चन्दन का टुकड़ा है। कुछ दिनों के बाद या किसी के पूछने पर उस चन्दन के पुनः सामने पड़ते ही 'सुरभि चन्दनम्' चन्दन सुगन्धी है। इस समय उसने उस चन्दन के टुकड़े को अपने

नेत्र से तो देखा, परन्तु इस समय उसकी सुगन्धि को उसने नाक से (घ्राणेन्द्रिय से) सूँघा नहीं, फिर भी उसे इस समय भी 'सुरभि चन्दनम्' यह अनुभव (प्रतीति) हो रहा है। उस प्रतीति में 'चन्दन', उसमें रहने वाली 'चन्दनत्व जाति' और उसके 'सौरभ-गुण' इन तीनों का उसे प्रत्यक्ष होता है। इनमें से 'चन्दन के टुकडे' के साथ 'चक्षु-रिन्द्रिय' का 'संयोग' संबंध और 'चन्दनत्व सामान्य' के साथ 'संयुक्त-समवाय' संबंध, होता है। ये दोनों लौकिक सन्निकर्ष हैं। किन्तु 'सौरभ' के साथ तो 'चक्षु' का लौकिक सन्निकर्ष' नहीं बन सकता। इसलिये उसके साथ 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' रूप अलौकिक सन्निकर्ष ही माना जाता है। यहाँ पर 'चक्षु' और 'सुरभि' का 'चक्षु:संयुक्त-मनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञान' के द्वारा अथवा 'चक्षु:संयुक्तात्मसमवेतसंस्कार' के द्वारा चक्षु से ही उस सौरभ का 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' रूप अलौकिक सन्निकर्ष से ग्रहण हो जाता है। अर्थात् 'चक्षु' से संयुक्त जो 'मन', उससे संयुक्त जो 'आत्मा', उस 'आत्मा' में समवेत (समवाय संबंध से रहने वाला) जो 'सौरभगुण' का 'ज्ञान' उस के द्वारा, अथवा उस 'सौरभज्ञान' से उत्पन्न हुए संस्कार के द्वारा 'चक्षु' से ही उस 'सौरभ' का अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा ग्रहण हो जाता है। अतः सौरभ में चक्षु की विषयता न रहने पर भी 'सुरभि चन्दनम्' उस ज्ञान को चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हैं। इसीलिये 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' को नैयायिकों ने माना है।

इस 'ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष' का **'अनुयोगी'** वही होता है, जो इस ज्ञान का विषय होता है। इसलिये 'विषयता' ही इस सन्निकर्ष की 'अनुयोगिता' की नियामिका होती है। और इस सन्निकर्ष का 'प्रतियोगी' कभी 'मन' और कभी 'बाह्य इन्द्रियाँ' होती हैं। जब 'मन' प्रतियोगी रहता है तब तन्निष्ठ 'प्रतियोगिता' का नियामक होगा 'स्वाश्रय संयोग'। अर्थात् 'स्व' शब्द से 'घटज्ञान', उसका 'आश्रय' होगा 'आत्मा', उसका संयोग 'मन' में है। जब 'बाह्येन्द्रियाँ' 'प्रतियोगी' होंगी, तब तन्निष्ठ 'प्रति-योगिता' का नियामक 'स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग' होगा। 'स्व' शब्द से 'रजतत्व' का 'ज्ञान', उसका आश्रय होगा 'आत्मा'. उससे संयुक्त है 'मन' और उससे संयुक्त हैं बाह्येन्द्रियाँ'। इस रीति से कहीं 'मन' और कहीं 'बाह्येन्द्रिय' प्रतियोगी रहते हैं।

सामान्यलक्षणा और ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति में परस्पर भेद—

दोनों प्रत्यासत्तियों में परस्पर भेद यह है कि **'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति'** में धूमत्व' और 'वह्नित्व' रूप सामान्य के आश्रय स्वरूप जो 'धूम' और 'वह्नि' हैं, उनके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, और 'सामान्य' के द्वारा ही व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत 'धूम' और 'वह्नि' रूप आश्रय के साथ भी सन्निकर्ष होता है। परन्तु **'ज्ञान-लक्षणा प्रत्यासत्ति'** में 'आश्रय' के साथ सन्निकर्ष न होकर जिसका ज्ञान होता है, उसी के साथ सन्निकर्ष होता है। 'सुरभि चन्दनखण्डम्' इस प्रतीति में चन्दनखण्ड के साथ नहीं, अपितु साक्षात् 'सौरभ' के साथ ही 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' से चक्षु का सन्निकर्ष

हो जाता है। और **सामान्यलक्षणा** के स्थल में 'धूमत्व' और 'वह्नित्व' सामान्य के साथ नहीं, किन्तु उनके आधारभूत 'धूम' और 'वह्नि' के साथ सामान्य द्वारा 'इन्द्रिय' का अलौकिक सन्निकर्ष होता है। निष्कर्ष यह है कि सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से सामान्य के आश्रयभूत सभी व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। जैसे सामान्य 'धूमत्व' का ज्ञान होने पर उसके आश्रयभूत समस्त धूम व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से केवल उसी सामान्य का ज्ञान होता है, जिसका स्मरण, सन्निकर्ष के रूप में होता है। जैसे 'सुरभि चन्दनम्' स्थल में 'सौरभ' जो सामान्य है, उसका स्मरण ही 'ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष' है, इसके द्वारा केवल उसी सौरभ का ज्ञान होता है, सौरभ के आश्रयभूत समस्त व्यक्तियों का नहीं। श्री विश्वनाथ भट्टाचार्य ने कारिकावली में कहा है:—

"आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः॥"

निष्कर्ष यह है कि भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के चार स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। (१) सामान्य (२) इन्द्रियजन्य सामान्य-प्रकारकज्ञान, (३) सामान्य प्रकारक ज्ञान, (४) समान्य विषयक ज्ञान। इनमें से चतुर्थ 'सामान्य-विषयक ज्ञान' को सामान्यलक्षण सन्निकर्ष नवीन नैयायिकों ने माना है। नवीन नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के प्रति ज्ञान का कार्य-कारण भाव इस प्रकार माना है। 'प्रत्यक्ष' के प्रति 'स्वविषयीभूततत्तत्सामान्याश्रयनिष्ठविषयता' सम्बन्ध से 'ज्ञान' कारण होता है। इसलिये धूमत्व के ज्ञान से समस्त धूम को विषय करने वाले 'धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष' की उत्पत्ति हो जाती है। क्योंकि धूमत्वज्ञानरूप कारण, स्वविषयीभूत सामान्याश्रयनिष्ठविषयता' सम्बन्ध से समस्त धूमों में रहता है। 'स्व' शब्द से 'धूमत्वज्ञान', उसका विषयभूत सामान्य 'धूमत्व' है, उसका आश्रय 'समस्त धूम' है, तन्निष्ठविषयता होगी 'ईश्वरज्ञानीय धूमनिष्ठा विषयता', वह समस्तधूम में रहती है। अतः उपर्युक्त सम्बन्ध से धूमत्वज्ञान' की विद्यमानता समस्त धूम में रहने से उनमें 'स्वप्नकारीभूतसामान्याश्रयनिष्ठविषयता' सम्बन्ध से धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति हो सकती है। क्योंकि समस्त धूमों में धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष का उक्त सम्वन्ध निश्चित रूप से रहता है। 'स्व' से धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष, उसमें प्रकारभूत सामान्य 'धूमत्व' है, उसका आश्रय समस्त धूम, तन्निष्ठ विषयता होगी, उत्पन्न होने वाले धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष की विषयता। वह विषयता समस्त धूम में है। अतः उक्त 'विषयता-सम्बन्ध' से समस्त धूम में धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानना उचित ही है।

तथापि कोई कह सकता है कि जैसे कारणभूत धूमत्वज्ञान, समस्त धूमविषयक नहीं है, फिर भी 'स्वविषयीभूतसामान्याश्रयनिष्ठविषयता' शब्द से 'ईश्वरज्ञानीय-

विषयता' को लेकर उक्त सम्बन्ध से 'धूमत्वज्ञान' का अस्तित्व समस्त धूम में हो सकता है, उसी प्रकार कार्यभूत धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष भी 'ईश्वरज्ञानीयविषयता' को लेकर 'स्वप्रकारीभूतसामान्याश्रयनिष्ठविषयता' सम्बन्ध से उत्पन्न हो सकता है, तब उक्त कार्य-कारणभाव के आधार पर 'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' के द्वारा 'समस्त धूम' को विषय करने वाले 'धूमत्वप्रकारकप्रत्यक्ष' की उत्पत्ति कैसे उचित कही जा सकती है ?

इसका **समाधान** यह है कि 'ईश्वरज्ञान' तो 'कार्यमात्र' का कारण होता है, इसलिये उसकी विषयता 'कारणतावच्छेदकसम्बन्ध' को लेकर बन सकती है, किन्तु 'ईश्वरज्ञान' कार्यरूप न होने से उसकी विषयता 'कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध' में नहीं बन सकती। इसलिये कार्यभूत 'धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष' को 'समस्त धूम' का ग्राहक मानना आवश्यक है।

सामान्यज्ञान को सन्निकर्ष मानने पर भी यह आवश्यक है कि बाह्येन्द्रिय से सामान्यज्ञान द्वारा सामान्य के समस्त आश्रयों को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष की उत्पत्ति उसी दशा में होगी कि जब सामान्य के किसी एक आश्रय के बाह्येन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले लौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित रहेगी। किन्तु उसके अभाव में सामान्य के समस्त आश्रय का बाह्यप्रत्यक्ष न होकर केवल 'मानस प्रत्यक्ष' ही होगा।

शंका—नव्यनैयायिकों ने 'सामान्यविषयक ज्ञान' को ही सामान्यक्षण सन्निकर्ष के रूप में क्यों माना ?

समा०—पहले बता चुके हैं कि सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के चार प्रकार हैं। उनमें से यदि प्रथम को अर्थात् 'सामान्य' को सन्निकर्ष के रूप में मान लिया जाय तो जब किसी अनित्य सामान्य की अविद्यमानता में उसका भ्रम होने पर अर्थात् 'बाष्प' को ही धूम समझ कर 'धूमत्व' का भ्रम होने पर उसके वास्तविक 'आश्रय' का अलौकिक प्रत्यक्ष करना होगा तो वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसके कारणभूत 'अनित्यसामान्यरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' का उस समय अस्तित्व ही नहीं है। अव द्वितीय को अर्थात् 'इन्द्रियजन्य सामान्यज्ञान' को सन्निकर्ष मान लिया जाय तो इन्द्रिय की अनेकता के कारण उस सन्निकर्ष की भी अनेकता माननी होगी, तब गौरव होगा। अब तृतीय को अर्थात् 'सामान्य प्रकारकज्ञान' को सन्निकर्ष मान लिया जाय तो 'सामान्यविशेष्यकज्ञान' के बाद 'अनुभूयमान सामान्याश्रय' का अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः उक्त तीनों को छोड़कर नव्य नैयायिकों ने चतुर्थ 'सामान्यविषयकज्ञान' को ही सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष मान लिया।

शंका—उस पर भी यह जिज्ञासा होती है कि दूरदेशस्थित और सुदूरकालवर्ती अर्थात् 'अतीत, अनागत समस्त धूमों' के प्रत्यक्ष को तो लोग नहीं कर पाते। तब उन सभी के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, तब 'ज्ञाय-

मान सामान्य' अथवा 'सामान्यज्ञान' अर्थात् 'समान्यविषयकज्ञान' को सन्निकर्ष के रूप में मानने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

समा०—इस पर समाधान यह है कि 'सामान्यविषयक ज्ञान' को अर्थात् 'सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष' को न माना जाय तो **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** पर्वत पर 'धूम' को देखकर दूर से ही पर्वत स्थित अग्नि का जो **अनुमान** होता है, वह नहीं हो सकेगा। क्योंकि उपर्युक्त अनुमान तभी हो सकेगा, कि जब 'परामर्श' अर्थात् वह्निव्याप्ति से विशिष्ट धूम का ज्ञान रहेगा। 'साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु' का ज्ञान ही तो परामर्श है। उस प्रकार के परामर्श के हुए बिना अनुमान नहीं हुआ करता। अतः **अनुमान** के लिये 'परामर्शज्ञान' का होना आवश्यक है। किन्तु **परामर्शज्ञान** तभी होगा जब पर्वतस्थित 'धूम' में पर्वतस्थ 'वह्नि' की **व्याप्ति का ज्ञान** हुआ रहेगा। किन्तु 'पर्वतस्थित धूम' में 'पर्वतस्थित वह्नि' की व्याप्ति का ज्ञान, जो 'पर्वतस्थित वह्नि' और 'पर्वतस्थित धूम' के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न रहने से संभव नहीं है। लेकिन 'सामान्यसन्निकर्ष' को मानने पर यज्ञशाला, रसोईघर (महानस) आदि स्थानों में 'वह्नि और धूम' के साहचर्य (सहावस्थान) को बार-बार देखने से वह्नित्व तथा धूमत्वरूप सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष से 'सार्वदेशिक और सार्वकालिक' **वह्नि** और **धूम** इन्द्रियसन्निकृष्ट हो जाते हैं। जिससे 'समस्त धूमों' में समस्त वह्नियों के सहावस्थानरूप **साहचर्य** का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है। उससे 'समस्त धूम' में 'समस्त वह्नि' की **व्याप्ति** का अलौकिक प्रत्यक्ष (अनुभव) जो होता है, उसके बल पर ही कुछ समय बीतने पर भी 'पर्वतस्थित धूम' के दिखाई देते ही उसमें 'पर्वतस्थित वह्नि' की पूर्व अनुभूत की हुई व्याप्ति का स्मरण हो आता है, उस **स्मरणात्मक व्याप्तिज्ञान** से पर्वत में वह्नि-व्याप्ति से विशिष्ट हुए धूम का ज्ञानरूप परामर्श उत्पन्न होता है। तब पर्वत पर वह्नि का अनुमान 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' निर्बाध रीति से हो जाता है। अतः 'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' को मानने की आवश्यकता है।

किंच—उक्त सन्निकर्ष को न मानने पर पर्वत पर अग्नि का अनुमान न हो सकने में एक **अन्य बाधा** भी उपस्थित होती है। वह बाधा यह है कि 'पर्वतो वह्निमान्०' इस अनुमान में 'पर्वतस्थित वह्नि', 'पर्वत' का **विशेषण** है। अतः उक्त अनुमान 'वह्नि-विशिष्ट बुद्धि (ज्ञान) रूप होगा। और **'विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानं कारणम्'** विशिष्ट बुद्धि में विशेषणज्ञान सर्वदा कारण रहता है। बिना विशेषणज्ञान के विशिष्ट बुद्धि का उदय ही नहीं होता। उक्त अनुमान के लिये पहले पर्वतस्थित 'वह्नि' रूप **विशेषण** का ज्ञान होना आवश्यक है। और वह ज्ञान, 'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को स्वीकार किये बिना संभव नहीं है, क्योंकि 'पर्वतस्थित वह्नि' इन्द्रियसन्निकृष्ट नहीं है। अतः 'सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता है।

'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' मानने में एक कारण यह भी है कि पाकशाला अथवा यज्ञशाला कहीं भी किसी धूम को जब हम लौकिक प्रत्यक्ष से देख लेते हैं, तथा 'धूमत्व या धमत्वज्ञान' रूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से समस्त धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है। तब कोई भी अतीत अनागत-दूरस्थ धूम अज्ञात नहीं रहता। तब जो धूम सन्निहित नहीं है अर्थात् असन्निहित है, किन्तु सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से हमें ज्ञात है; उसमें अग्नि की व्याप्ति या व्यभिचार का निश्चय न रहने से 'अग्निव्यभिचार' का सन्देह निराबाध हो सकता है। अर्थात् **'धूमः अग्निव्याप्यो न वा'** इस प्रकार का सन्देह हो सकता है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले धूम के समान ही क्या संसार के समस्त धूम, अग्नि से व्याप्य (नित्य सम्बद्ध) हैं, या कोई धूम, अग्नि का व्यभिचारी भी है ? किन्तु सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के मानने पर उपर्युक्त सन्देह नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'सन्निकृष्ट धूम' में तो 'अग्नि' की व्याप्ति (नित्य सम्बद्धता अर्थात् व्यभिचार का अभाव) प्रत्यक्ष देखने से निश्चित है। इसलिये उसमें अग्नि के व्यभिचार का सन्देह नहीं होगा। और जो धूम सन्निहित नहीं है, उसे जानने का कोई साधन नहीं है, इसलिये वह अज्ञात है। अतः उसके विषय में भी **'धूमः अग्निव्याप्यो न वा'** यह सन्देह नहीं होगा, क्योंकि सन्देह तो धर्मी के ज्ञात रहने पर ही होता है। अर्थात् सन्देह में 'धर्मिज्ञान' कारण होता है।

एवं 'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' के अभाव में **'तम'** का 'प्रत्यक्ष' भी नहीं हो पायेगा। क्योंकि **'तम'** पदार्थ के स्वरूप को विचारने पर यही कहना होगा कि **'तेज'** (प्रकाश) अपने को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। उन समस्त तेजों के अभाव को अर्थात् उन समस्त **तेजों के सामान्याभाव** को 'तम' कहते हैं। इसलिये उस **सामान्याभावरूप तम** का प्रत्यक्ष तभी हो सकेगा, जब उस अभाव के 'प्रतियोगी स्वरूप समस्त तेजों' का ज्ञान रहे, क्योंकि अभाव के प्रत्यक्ष में 'प्रतियोगी' ज्ञान कारण है। सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को यदि न मानें तो 'समस्त तेजों' के ज्ञान प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। किन्तु 'सामान्यलक्षणसन्निकर्ष' को मानने पर **समस्त तेजों का ज्ञान** सरलता से हो जाता है। क्योंकि किसी एक का लौकिक प्रत्यक्ष होने पर 'तेजस्त्व' अथवा तेजस्त्वज्ञानरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से 'समस्त तेजों' का ज्ञान हो सकता है। तब 'तेजोभावरूप तम' के प्रत्यक्ष होने में कोई अड़चन नहीं होती है।

'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' के न मानने पर 'प्रागभाव' का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'प्रागभाव' का **प्रतियोगी** 'भविष्यत् अर्थात् अनागत (अनुत्पन्न) पदार्थ' ही होता है। अतः **प्रागभाव** के प्रत्यक्ष में अनुत्पन्न पदार्थ रूप 'प्रतियोगी' का ज्ञान रहना आवश्यक है। और उस प्रतियोगी का ज्ञान तभी संभव होगा, जब उसके साथ 'इन्द्रियसन्निकर्ष' होगा, किन्तु अनुत्पन्न (भविष्यत्) पदार्थ के साथ 'लौकिक सन्निकर्ष' अर्थात् इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो नहीं सकता। इसलिये 'सामान्यज्ञानलक्षण'

अलौकिक सन्निकर्ष को ही मानना होगा। लेकिन 'सामान्यलक्षणसन्निकर्ष' के अभाव में 'सामान्यज्ञानलक्षणसन्निकर्ष' का होना संभव नहीं है। किन्तु जब 'सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष' मानते हैं, तब किसी एक 'घट' का लौकिक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होने पर 'घटत्व' अथवा 'घटत्वज्ञानरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' से सामान्य के आश्रयभूत समस्त घटव्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है अर्थात् 'घटत्व' सामान्य के द्वारा सभी घटों का ज्ञान होता है। तब **अनुत्पन्न घट** का भी ज्ञान हो जायेगा। और उस **सामान्यज्ञानलक्षण सन्निकर्ष** से 'प्रागभाव' का प्रत्यक्ष होने में किसी प्रकार की कोई अड़चन नहीं होगी।

उसी तरह 'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' के न मानने पर **'सुख'** की **इच्छा** भी नहीं हो सकेगी। क्योंकि इच्छा उसी वस्तु की हुआ करती है, जो ज्ञात हो, किन्तु अप्राप्त हो। किन्तु 'सुख' को **ज्ञात** और **अप्राप्त** नहीं कह सकते, क्योंकि 'सुख' की अप्राप्ति तभी हो सकती है, जब वह उत्पन्न न हुआ हो। जो उत्पन्न नहीं हुआ है, उसका ज्ञान, 'सामान्यलक्षणसन्निकर्ष' के बिना अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता। किसी एक 'उत्पन्न सुख' का लौकिक प्रत्यक्ष, सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से कर लेने पर 'सुखत्व रूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' से 'अनुत्पन्न अत एव अप्राप्त सुख' का भी **अलौकिक प्रत्यक्ष** हो सकेगा। तब उस **ज्ञात** किन्तु **अप्राप्त** 'सुख' की इच्छा होने में कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकेगी। उक्त सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के संबन्ध में दीधितिकार **श्री रघुनाथ शिरोमणि** और उनके गुरु **पक्षधरमिश्र** का मत भेद और शास्त्रार्थ सुप्रसिद्ध है। 'सामान्यलक्षण सन्निकर्ष' को न मानने में दिये हुए तर्कों से त्रस्त होकर गुरु **पक्षधर-मिश्र ने** क्रोध में आकर कहा है—

"वक्षोजपानकृत् काण ! संशये जाग्रति स्फुटम्।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते ॥"

श्रीरघुनाथ शिरोमणि ने 'सामान्यलक्षणा' के 'सभी प्रयोजनों की **अन्यथासिद्धि** प्रदर्शित की है और उसे निरर्थक बताया है। **मीमांसक** तथा **वेदान्ती** भी 'सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष' को नहीं मानते।

(३) योगजसन्निकर्ष—

शंका—योगियों को 'वर्तमान की तरह 'अतीत, अनागत', का, 'समीपवर्ती पदार्थ' के समान 'दूरवर्ती पदार्थ' का, 'स्थूल की तरह सूक्ष्म' का यहाँ तक कि 'परमसूक्ष्म वस्तु' का भी **प्रत्यक्ष अनुभव** होता है। ऐसा पुराणादि शास्त्रों में कहा गया है। तब जिज्ञासा होती है कि यह कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि 'ज्ञानेन्द्रियों का सामर्थ्य' तो सीमित है। ये इन्द्रियाँ, ऊक्त **षड्विध सन्निकर्षों** में से किसी सन्निकर्ष के द्वारा 'सन्निकृष्ट हुई वस्तु' का ही ज्ञान करा सकती हैं। तदतिरिक्त वस्तुओं के साथ किसी सन्निकर्ष के संभव न होने से उनका ज्ञान उन्हें कैसे हो पाता है ?

समा०—इस जिज्ञासा के सामाधानार्थ 'योगज सन्निकर्ष' को माना गया है। दीर्घकाल तथा निरन्तर एवं श्रद्धापूर्वक योग साधना का अभ्यास करने वाले साधक में एक अलौकिक अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। इस 'अद्भुत' अलौकिक 'सामर्थ्य' को **'योगजधर्म'** शब्द से न्यायदर्शन में कहा गया है। इस सामर्थ्य के द्वारा ही त्रैकालिक सर्वविध वस्तुओं के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष बन जाता है। अर्थात् जिन वस्तुओं के साथ, उक्त 'षड्विध सन्निकर्ष और सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष' नहीं हो पाते, उन वस्तुओं के साथ भी यह **योगजसन्निकर्ष** (योगाभ्यास जनित धर्मरूप सन्निकर्ष) हो जाता है। अतः **सार्वकालिक, सार्वदेशिक स्थूल, सूक्ष्म, सर्वविध** वस्तुएँ, योगजसन्निकर्ष के बलपर योगी के इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हो जाती हैं। इसलिये **योगी** को सभी वस्तुओं का **प्रत्यक्षज्ञान** हो पाता है।

शंका—इस पर कोई कह सकता है कि योगजधर्म तो योगी की आत्मा में समवेत (समवाय संबंध से स्थित) होता है। आत्मातिरिक्त वस्तुओं में तो वह नहीं रहता तब सभी वस्तुओं के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष कैसे हो पायेगा ?

समा०—प्रश्न तो वहुत ठीक है, किन्तु ज्ञातव्य यह है कि 'योगजधर्म' योगी की आत्मा में 'समवाय सम्बन्ध' से रहने पर भी 'स्वाश्रयसमानकालिकत्व सम्बन्ध' से वह **योगजधर्म** सार्वदेशिक, सार्वकालिक, स्थूल, सूक्ष्मादि समस्त वस्तुओं में भी रहता है। यहाँ **'स्व'** शब्द से 'योगजधर्म' को लीजिये, उसका **आश्रय** है 'योगी का आत्मा', उसकी **समानकालिक** है 'संसार की समस्त वस्तु'। इसलिये 'स्वाश्रयसमानकालिकत्व' संबंध से वह 'योगजधर्म', संसार की **सभी वस्तुओं** में स्थित है। अतः सभी वस्तुएँ उक्त योगजधर्मात्मक संवंध के 'अनुयोगी' हो जाती हैं। इसी तरह 'योगी की इन्द्रियाँ' उक्त संबंध की 'प्रतियोगी' वन जाती हैं। क्योंकि योगी के बाह्येन्द्रियों के साथ 'योगजधर्म' का 'स्वाश्रयसंयुक्त संयोग' सम्बन्ध होता है, और योगी के अन्तरिन्द्रिय 'मन' के साथ 'स्वाश्रयसंयोग' सम्बन्ध रहता है। अतः इन सम्बन्धों के बल पर योगजधर्मरूप सम्बन्ध के 'प्रतियोगी' **इन्द्रिय** होते हैं। एवं च उक्त संबंधों के द्वारा **'योगजधर्म'** 'वस्तु' और 'इन्द्रिय' दोनों के बीच में **सन्निकर्ष** के रूप में रहता है। अतः **योगी** को **सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष** होता है। उक्त योगजसन्निकर्ष के दो भेद—(१) 'युक्तयोगज' और (२) 'युञ्जानयोगज' नाम से किये जाते हैं। जिसकी योगसाधना परिपक्व हो चुकी है वह **युक्त** (सिद्ध) **योगी** है, उसे समस्त वस्तुओं का सर्वदा प्रत्यक्ष होता रहता है। किन्तु जो योगसाधना के अभ्यास में अभी लगा हुआ है, अर्थात् साधना अभी समाप्त नहीं हुई है, उसे **युञ्जानयोगी** कहते हैं। उसे किसी वस्तु के प्रत्यक्ष करने के लिये सावधानी से ध्यान लगाना पड़ता है, तब उसे वस्तु का प्रत्यक्ष हो पाता है। इसी बात को श्रीविश्वनाथ भट्टाचार्य ने अपनी कारिकावली (भाषापरिच्छेद) में निम्न कारिका द्वारा बताया है—

"योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्त-युञ्जानभेदतः ।
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ॥"

वेदान्तादि दर्शनों के समान कितने ही नैयायिकों ने भी इन **त्रिविध अलौकिक सन्निकर्षों** को नहीं माना है। तर्कभाषाकार ने भी इन त्रिविध सन्निकर्षों के विषय में षड्विध लौकिक सन्निकर्षों की तरह चर्चा नहीं की है। संभवतः इन्हें भी ये तीन अलौकिक सन्निकर्ष रुचिकर न प्रतीत हो रहे हों।

यह तो निश्चित है कि इन्द्रियाँ सन्निकृष्ट वस्तुओं का ग्रहण करती हैं। वस्तु की सन्निकृष्टता प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दो प्रकार की इन्द्रियों से होती है। **न्याय-वैशेषिकदर्शन** का यह भी सिद्धान्त है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ग्रहण होता है, उसमें स्थित **सामान्य** और **समवाय** (सम्बन्ध) तथा **उसके अभाव** का ग्रहण भी **उसी इन्द्रिय** से होता है 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तत्समवाय-स्तदभावश्चापि गृह्यते' यह नियम है।

अन्यान्य दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया—

न्याय और वैशेषिकदर्शन के अनुसार 'ज्ञान' तो आत्मा का गुण है। किन्तु सांख्य, योग और वेदान्तदर्शनों ने 'ज्ञान' को आत्मा का गुण नहीं माना है। ये दर्शन तो 'ज्ञान' को 'बुद्धि' (चित्त) का धर्म मानते हैं। अतः इनके अनुसार प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति भिन्न प्रकार से होती है।

चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में सांख्यादि की प्रक्रिया—

सांख्य, योग और वेदान्त तीनों दर्शनों ने अन्तःकरण (मन) को 'वस्तुप्राप्य-प्रकाशकारी' माना है। किन्तु न्याय, वैशेषिक और बौद्धादि दर्शनों ने 'मन' को 'वस्तु-प्राप्य प्रकाशकारी नहीं माना है। सांख्यदर्शन 'बुद्धि' को 'महत्तत्त्व' 'अन्तःकरण', 'सत्त्व', 'चित्त' आदि शब्दों से भी कहता है। इनके मत के अनुसार 'बुद्धि' (अन्तःकरण) एक तैजस द्रव्य (पदार्थ) के समान है। इनके मत में बुद्धि (चित्त अथवा मन) का बाह्य घट-पटादि वस्तुओं के साथ इन्द्रियरूप प्रणालिका के द्वारा सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध होने के बाद वह बुद्धि (चित्त = मन), उस 'घट आदि अर्थ' (वस्तु—पदार्थ) के आकार में परिणत हो जाती है। 'बुद्धि' (चित्त) की इस अर्थाकार परिणति (परिणाम) को ही 'बुद्धिवृत्ति' (चित्तवृत्ति) कहते हैं। उसके इस अर्थाकार परिणाम को ही 'ज्ञान' भी कहते हैं। 'परिणाम' हमेशा परिणामी वस्तु में ही आश्रित रहता है। इसलिये यह 'अर्थाकार परिणामात्मक ज्ञान', परिणामिनी 'बुद्धि' के ही आश्रित रहता है। अतः 'ज्ञान', आत्मा का धर्म (आत्मा का गुण) नहीं है, अपितु 'बद्धि' का ही धर्म है। 'बुद्धि' का यह अर्थाकार परिणाम, यदि अनुमान अथवा शब्दरूप परोक्ष प्रमाण से या पदार्थ को ग्रहण करने के लिये शरीर से बाहर

न जाने वाली घ्राण, रसना, त्वक् आदि इन्द्रियों से होता है, तो वह (अर्थाकार परिणाम) ज्ञाता के शरीर के भीतर ही होता है, लेकिन वह परिणाम जब चक्षुरिन्द्रिय से होता है तब शरीर से बाहर वस्तु के देश में चक्षु के किरणों के साथ मन (अन्तःकरण = बुद्धि) का भी अंशतः गमन होता है। और वहीं पर वस्तु के आकार में उसका परिणाम हो जाता है। जिस प्रकार खेतों में नाली के द्वारा जल, खेत की क्यारियों में पहुँच कर चौकोर, षट्कोण, वर्तुल आदि जिस आकार की क्यारी उसे मिलती है, उसी आकार में वह परिणत हो जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियरूपी प्रणालिका द्वारा 'अन्तःकरण' (बुद्धि) भी उस अर्थाकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण की इस 'अर्थाकार परिणति' को ही 'चित्तवृत्ति' कहते हैं। परन्तु यदि ग्राह्य विषय का कोई मूर्त आकार न हो तो उस अन्तःकरण का कोई आकार नहीं बन पाता। अर्थात् वह अन्तःकरण (चित्त, बुद्धि) किसी आकार में परिणत नहीं होता। अमूर्त विषय के सम्बन्ध में 'बुद्धि' का परिणाम भी अमूर्त (आकार रहित यानी अनाकार) ही होता है। तथापि इन अमूर्त विषयों में होने वाले इस बुद्धि-परिणाम को भी 'अर्थाकार परिणाम' शब्द से कहा जाता है। ऐसे स्थलों में 'आकार' का अर्थ यह समझना होगा कि 'वस्तु' के साथ 'अन्तःकरणात्मक बुद्धि' का सम्बन्ध-विशेष होता है। अतः 'अर्थाकार बुद्धिपरिणाम' यानी बुद्धिगत अर्थ के साथ सम्बन्ध। इस सम्बन्ध को ही 'ज्ञान' शब्द से कहते हैं, जो प्रमाण के द्वारा प्रादुर्भूत होता है। यह नेत्र से तब प्रादुर्भूत होता है, जब अन्तःकरण (मन = बुद्धि) नेत्रेन्द्रिय का अनुगमन करता हुआ विषयदेश में पहुँचता है। लेकिन अन्य प्रमाणों से इस बुद्धि और अर्थ के सम्बन्ध को उदित करने के लिये विषय (अर्थ) के देश में अन्तःकरण (बुद्धि) के पहुँचने की आवश्यकता नहीं होती।

इतना और समझना चाहिये कि बुद्धि का अर्थाकार (विषयाकार) परिणाम होने मात्र से ही विषय (अर्थ = वस्तु) का ज्ञान नहीं हो पाता। उसके लिये चैतन्य (प्रकाश) का स्पर्श होना आवश्यक है। क्योंकि 'बुद्धि' तो निसर्गतः जड़ होती है। अतः वह प्रकाशात्मक नहीं है। अर्थाकार से परिणत हुई 'बुद्धि' में चैतन्यघन (प्रकाश-पुञ्ज आत्मा = पुरुष) के प्रतिबिम्ब की आवश्यकता होती है। अन्तःकरण की अर्थाकार परिणतिरूप चित्तवृत्ति में 'पुरुष' (चैतन्य) का प्रतिबिम्ब पड़ने से अथवा 'चैतन्य' (पुरुष = आत्मा) में चित्तवृत्ति (बुद्धिवृत्ति) का प्रतिबिम्ब पड़ने से 'पुरुष' (आत्मा) को उस वस्तु (अर्थ) का ज्ञान (बोध) हो पाता है। इस बोध (ज्ञान) को सांख्यदर्शन में 'पौरुषेय बोध' शब्द से कहते हैं। 'बुद्धि' में चैतन्यघन 'पुरुष' (आत्मा) का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब वह बुद्धि सच्चे-प्रकाशपिण्ड के तुल्य प्रकाशित हो उठती है, और अपने सम्पर्क में उपस्थित हुई वस्तु (अर्थ) को प्रकाशित कर देती है। अर्थात् उस वस्तु का ज्ञान करा देती है। कुछ विद्वानों का यह

भी आग्रह है कि 'चैतन्य' (आत्मा = पुरुष) में 'बुद्धिवृत्ति का प्रतिवम्ब पड़ता है। तव पुरुष (आत्मा) को उस वस्तु का बोध (ज्ञान) होता है। उस बोध को 'पौरुषेय बोध' कहते हैं। इस मत में 'बुद्धिवृत्ति' को 'प्रमाण' शब्द से कहा जाता है। और उस प्रमाण से होने वाले 'पौरुषेय बोध' को 'फल' या 'प्रमा' शब्द से कहते हैं। और जब कभी 'बुद्धिवृत्ति' को 'प्रमा' शब्द से कहते हैं, तब 'इन्द्रिय' अथवा शब्द को 'प्रमाण' माना जाता है। किन्तु बुद्धिवृत्ति (बुद्धि के अर्थाकार परिणाम) को 'प्रमाण' और पुरुष (आत्मा) के साथ बुद्धिवृत्ति के प्रतिविम्वमूलकसम्बन्ध को 'प्रमा' मानने वालों का पक्ष अधिक सबल है। पातञ्जल-योगसूत्र के व्यासभाष्य (१,७) में इसी पक्ष को बताया है—"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलम-विशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः।" 'इन्द्रियाँ' अपने-अपने स्थान से प्रणालिका (नाली) के समान 'विषय (वस्तु) देश' तक फैल जाती हैं। निर्मल जल के समान स्वच्छ 'अन्तःकरण' (बुद्धितत्त्व = चित्त) उस प्रणलिका के द्वारा विषयदेश तक पहुँच कर विषय (वस्तु) से सम्बद्ध हो जाता है। तब बुद्धि (चित्त), वस्तु (अर्थ) के आकार में परिणत हो जाती है। उस परिणाम को ही बुद्धिवृत्ति (चित्त-वृत्ति) कहते हैं। प्रत्येक 'वस्तु' (पदार्थ) में सामान्य और विशेष ये दो अंश होते हैं। इन्द्रिय में उत्पन्न होने वाली वृत्ति में 'वस्तु' का 'सामान्य अंश' गौण और 'विशेष अंश' प्रधान रूप में लक्षित होता है। इसी वृत्ति को प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं और पुरुष (आत्मा) में यह वृत्ति प्रतिविम्बित होती है, और उसके साथ वृत्ति का एक सम्बन्ध-सा बन जाता है। अतः उक्त वृत्ति के बोध को 'पौरुषेय बोध' कह देते हैं इस पौरुषेय बोध को ही 'प्रमा' कहते हैं।

किन्तु 'अर्थाकार बुद्धिवृत्ति' को 'प्रमाण' और 'पौरुषेय बोध' को 'प्रमा' कहने वालों के पक्ष में एक विपत्ति सामने आती है। अर्थाकार बुद्धिवृत्ति जो है, वह बुद्धि का ही धर्म है। अतः वह बुद्धि में ही आश्रित रहेगी, और 'पुरुष' तो निर्धर्मक तथा कूटस्थ है, इसलिये वह बुद्धिवृत्तिरूप धर्म उस पुरुष में कभी भी और कथमपि आश्रित नहीं होगा। तथापि उसमें पुरुषगतत्व का बोध इसलिये होता है कि वह अपनी आधारभूता बुद्धि के साथ 'पुरुष' में प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिबिम्बित होने के कारण ही बुद्धिवृत्ति में पुरुषगतत्व का बोध भ्रम से होता रहता है। इस प्रकार 'प्रतिबिम्बदोषमूलक भ्रम' से होने वाले पौरुषेय बोध (पुरुषगतत्व के बोध) को 'प्रमा' कहना कहाँ तक ठीक है? अतः इन्द्रिय, लिङ्ग और शब्द को ही 'प्रमाण' और उनसे होने वाली अर्थाकार बुद्धिवृत्ति को ही 'प्रमा' कहना चाहिये।

प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध में मिश्र और भिक्षु का मतभेद—

बुद्धिवृत्ति का पुरुष (आत्मा) के साथ सम्बन्ध मानने में दो मत हैं। एक मत

सांख्यतत्त्वकौमुदीकार श्री वाचस्पति मिश्र का और दूसरा मत सांख्यप्रवचनभाष्यकार श्री विज्ञानभिक्षु का है। श्री वाचस्पति मिश्र के मतानुसार 'बुद्धिवृत्ति' में 'पुरुष' का 'प्रतिबिम्ब' पड़ता है। और विज्ञानभिक्षु के मतानुसार 'पुरुष' में 'बुद्धिवृत्ति' का 'प्रतिबिम्ब' पड़ता है। श्री वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जो 'प्रतिबम्ब' को ग्रहण कर सके उसी पदार्थ में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। 'बुद्धितत्त्व' में 'कर्तृत्व' है अर्थात् बुद्धितत्त्व कर्तृस्वभाव है। अतः वह 'बुद्धितत्त्व', प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है। इसलिये 'बुद्धितत्त्व' में ही 'पुरुष' का प्रतिबिम्ब मानना उचित है। 'पुरुष' में बुद्धि का प्रतिबिम्ब मानना इसलिये अनुचित है कि 'पुरुष' कूटस्थ है, अकर्ता है। अतः वह प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने में असमर्थ है। यह बात श्री मिश्र ने सांख्यकारिका की व्याख्या सांख्यतत्त्वकौमुदी में पञ्चम कारिका की व्याख्या में लिखी है—"सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवति।"

उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'तत्प्रतिबिम्बितः' और 'तच्छायापत्त्या' पदों में 'तत्' पद से 'बुद्धितत्त्व' का परामर्श किया गया है। अतः श्री वाचस्पति मिश्र की उद्धृत पङ्क्ति का अर्थ यह है कि 'बुद्धि' में 'पुरुष' का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसमें बुद्धितत्त्व की छायापत्ति (सादृश्यप्राप्ति) होती है। उससे वह, (पुरुष) 'बुद्धिगत' (बुद्धिवर्ती) 'ज्ञान, सुख आदि धर्मों' का आश्रय (आधार) जैसा ही लगने लगता है। वस्तुतः ज्ञान, सुख आदि धर्मों का आश्रय (आधार) तो 'बुद्धि' है। और 'पुरुष' निर्धर्मक होने से ज्ञान, सुख आदि धर्मों से रहित है। फिर भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित रहने से उन बुद्धि धर्मों का आधार वही है—ऐसा भासित होता है।

कुछ विद्वान् वाचस्पति मिश्र की उक्त पङ्क्ति के 'तच्छायापत्त्या' पद का अर्थ 'तत्तादात्म्यापत्त्या' या 'तदभेदापत्त्या' करते हैं। अर्थात् बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुष और बुद्धि में अभेद हो जाता है। इस प्रकार दोनों के अभिन्न हो जाने से बुद्धि के 'ज्ञान सुख आदि धर्म' पुरुष में भासित होने लगते हैं—ऐसा बताते हैं। किन्तु बुद्धि के धर्मों को 'पुरुष' में बताने के लिये 'तत्तादात्म्यापत्ति या तद-भेदापत्ति' अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि के धर्मों का आधार 'पुरुष' को समझना तो उनके परस्पर भेद को न जानने के कारण ही है। और 'तच्छायापत्ति' का 'तत्तादात्म्यापत्ति' या 'तदभेदापत्ति' अर्थ करना—इसलिये भी उचित नहीं है कि दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, परन्तु मुख में दर्पण के अभेद की प्रतीति किसी को नहीं हुआ करती।

सांख्यप्रवचनभाष्यकार श्री विज्ञानभिक्षु के मतानुसार 'पुरुष' में बुद्धि का प्रति-बिम्ब' पड़ता है, 'बुद्धि' में, 'पुरुष' का नहीं। उनका कहना है कि प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने की क्षमता उसी पदार्थ में होती है, जो अत्यन्त स्वच्छ (निर्मल) हो।

'पुरुष'=आत्मा, निसर्गतः निर्विकार होने से अत्यन्त स्वच्छ (निर्मल) है। इस कारण उसमें (आत्मा में) प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है। इसलिये 'पुरुष' में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है। 'बुद्धि' तो विकारशीला (विकारी) है। अतः उस में स्वच्छता (निर्मलता) नहीं है। इसलिये उसमें (बुद्धि में) पुरुष का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता नहीं है। एक कारण यह भी है कि 'पुरुष' निर्धर्मक (धर्मरहित) है। उसकी निर्धर्मकता ही उसके प्रतिबिम्बित होने में बाधक है। मुख की छाया दर्पण में पड़ने पर ही दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ा—ऐसा कहा जाता है। उस छाया में बिम्बभूत वस्तु के कुछ धर्म अवगत होते हैं। 'पुरुष' तो छायाहीन और निर्धर्मक है। उस छायाहीन (छायाशून्य) पुरुष की 'बुद्धि' में छाया कैसे पड़ सकेगी और निर्धर्मक होने से उसमें (छाया में) उसके (बिम्बभूत पुरुष के) धर्म कैसे अवगत हो सकेंगे ? इसलिये 'बुद्धि' में 'पुरुष' के प्रतिबिम्बित होने का प्रश्न ही नहीं है। यही बात श्री विज्ञानभिक्षु ने अपने सांख्यप्रवचनभाष्य में कही है:—

"तस्मिँश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥"

(सां० प्र० भा० १।१।३)

सरोवर के तट (किनारे) पर लगे वृक्ष, सरोवर के जल में जैसे प्रतिबिम्बित होते हैं। उसी प्रकार 'पुरुष' के समीपवर्ती 'बुद्धि' की सम्पूर्ण वृत्तियाँ अपने सन्निकट रहने वाले 'चैतन्यात्मक पुरुष' रूप निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ करतीं हैं। उक्त पद्य में 'सरसीव तटद्रुमाः' की उपमा देकर भिक्षु ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'तटद्रुम' अपनी अस्वच्छता के कारण जैसे सरोवर के प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने में असमर्थ हैं, अर्थात् तटवर्ती वृक्षों में सरोवर का प्रतिबिम्ब जैसे नहीं पड़ता, अपितु स्वच्छ (निर्मल) सरोवर में ही तटवर्ती वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ठीक उसी तरह 'बुद्धि' की अस्वच्छता के कारण उसमें (बुद्धि में) 'पुरुष' का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। अपितु स्वच्छ (निर्मल) 'पुरुष' में ही 'बुद्धि' का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। और यह उचित भी प्रतीत होता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया—

अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार पारमार्थिक (वास्तविक) वस्तु, 'अद्वितीय चैतन्य' ही एकमात्र है। उसी अद्वितीय चैतन्य में यह सम्पूर्ण जगत्, अज्ञान द्वारा कल्पित (अध्यस्त) है। इस 'कल्पित जगत्' के नाना पदार्थ, उस 'चैतन्य' का अवच्छेद करते हैं, अर्थात् उस चैतन्य में अनेकता की कल्पना करवाते हैं। उस कारण 'अद्वितीय—एक ही चैतन्य,' तत्तत् पदार्थों (वस्तुओं) से अवच्छिन्न (युक्त—मर्यादित) होकर अनेक बन जाता है। इस 'अवच्छिन्न चैतन्य' के मुख्यतया तीन प्रकार होते हैं।

(१) **प्रमातृ चैतन्य** (ज्ञाता पुरुष अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य), (२) **प्रमाण चैतन्य** (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य), और (३) **प्रमेय चैतन्य** (विषयावच्छिन्न चैतन्य)। इन 'तीनों चैतन्यों' में जब **एकता** (ऐक्य) हो जाती है, तब प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होता है। इन त्रिविध चैतन्यों की एकता तभी हो पाती है, जब उनके 'तीनों अवच्छेदक (अन्तःकरण, वृत्ति और विषय) एकत्र होते हैं। तीनों अवच्छेदकों का एकत्र समागम तभी होता है, जब विषय (वस्तु = पदार्थ) के पास (समीप) इन्द्रिय के रास्ते अन्तःकरण और उसकी वृत्ति दोनों का सन्निधान होता है। तीनों का यह एकत्रावस्थान, प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया में ही संभव होता है, क्योंकि इस प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में ही इन्द्रिय के द्वारा अन्तःकरण का विषयतक (विषय देश में) गमन तथा वहीं पर अन्तःकरण की विषयाकारवृत्ति का जनन (उत्पत्ति) होता है। अतः 'अन्तःकरण,' 'उसकी वृत्ति' और 'विषय' तीनों का एक ही देश में अवस्थान होने से उन तीनों से अवच्छिन्न हुए 'चैतन्यों' में एकता हो जाती है। **शांकर वेदान्त** में प्रत्यक्ष की कारण सामग्री के सम्बन्ध में एक विशेषता पायी जाती है। अन्य कोई भी दर्शन प्रत्यक्ष को छोड़कर अनुमानादि अन्य किसी प्रमाण से अपरोक्षज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) या निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को नहीं मानते हैं। किन्तु शांकर वेदान्त 'तत्त्वमसि' इत्यादि **महावाक्य** से 'अपरोक्ष निर्विकल्पक' (प्रत्यक्ष) की उत्पत्ति मानते हैं। उसके उपपादनार्थ 'दशमस्त्वमसि' यह लौकिक उदाहरण उपस्थित करते हैं। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में भी शब्द-प्रमाण में से 'अपरोक्ष निर्विकल्पक ज्ञान' हो सकता है। इस रीति से शांकर वेदान्त में शब्द प्रमाण को भी अपरोक्ष निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में कारण वताया गया है। इनके अनुसार 'ज्ञातृ-ज्ञेय के भेद' आदि से युक्त ज्ञान सविकल्पक है, **'ज्ञातृज्ञेयभेदादिसहितं ज्ञानं सविकल्पकम्'**। और ज्ञातृ-ज्ञेय आदि के विभाग से रहित ब्रह्मैकात्मताविषयक, अखण्डाकारक, विशेषण-विशेष्यसम्बन्धरहित ज्ञान निर्विकल्पक है। इस प्रकार केवल परमार्थसत् 'ब्रह्म' ही निर्विकल्पक ज्ञान का विषय होता है। 'निर्विकल्पक ज्ञान,' साक्षात्कारात्मक अनुभूति (सत्य) की पराकाष्ठा है। इस चरम सीमा का अनुभव 'निर्विकल्पक समाधि' में ही उपलब्ध होता है। व्यवहारदशा में तो 'तत्त्वमसि,' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों के द्वारा 'लक्षणावृत्ति' की सहायता से उस अखण्ड वस्तु का बोधमात्र कराया जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य भी 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' भेद से दो प्रकार का प्रत्यक्ष मानते हैं। इनके मत में दोनों प्रकार का ज्ञान 'विशिष्टविषयक' होता है। क्योंकि ऐसा ज्ञान, जो अविशिष्ट विषय का प्रत्यक्ष कराता हो, कहीं दृष्टिगोचर नहीं है, और न युक्ति से सिद्ध ही है। ऐसा यतीन्द्रमतदीपिकाकार का कहना है।

बौद्धदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया—

'प्रत्यक्ष' के सविकल्पक और निर्विकल्पक दो भेदों में से बौद्ध दार्शनिकों ने केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। सविकल्पक को नहीं। किन्तु नैयायिकों ने सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में माना है। बौद्ध-दार्शनिकों का कथन है कि निर्विकल्पक तो 'स्वलक्षण' विषयक अर्थात् 'वस्तुमात्र' को विषय करने के कारण (वह) वस्तुमात्र से उत्पन्न है। अतः वह 'अर्थज' है। एवं च वह अर्थज होने से उसे ही प्रमाण कहा जा सकता है। और सविकल्पक ज्ञान तो नाम-जाति आदि की योजना से युक्त होता है। इसलिये उसमें जाति का भी भान होता है। तब जाति को भी उसका (सविकल्पक ज्ञान का) कारण कहना पड़ेगा। किन्तु बौद्ध-दार्शनिकों ने जाति को कोई भाव पदार्थ के रूप में नहीं माना है। अतः जाति से उत्पन्न होने वाला वह सविकल्पक ज्ञान 'अर्थज' नहीं है। तब 'अर्थज' न होने से उसको (सविकल्पक ज्ञान को) 'प्रत्यक्ष' नहीं कहा जा सकता। बौद्धों ने जाति को भाव-पदार्थ के रूप में न मानने का कारण यह बताया है कि हम बौद्ध 'क्षणभङ्गवादी' हैं। हमारा प्रथम सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। हम बौद्धों के मत में सब कुछ 'क्षणिक' है। संसार में कोई भी पदार्थ 'नित्य' नहीं है। नैयायिक 'जाति' को 'नित्य' पदार्थ के रूप में मानता है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' इस जातिलक्षण को नैयायिकों ने माना है अतः नैयायिकों की जाति (सामान्य) 'नित्य' पदार्थ है। क्षणभङ्गवादी हम बौद्धों के लिये उस प्रकार की 'जाति' मानना कदापि संभव नहीं है। एवं च बौद्धों के यहाँ जाति नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। अतः सामान्य (जाति) को विषय करने वाला सविकल्पक 'अर्थज' न होने के कारण उसे हम प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में नहीं मानते। हम बौद्धों के मत में अर्थ (वस्तु) जन्य ज्ञान को ही प्रमाणभूत 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाणभूत प्रत्यक्ष हो सकता है। क्योंकि वही एकमात्र 'स्वलक्षण'-अर्थात् अपने स्वाभाविक (सहज) स्वरूप से भिन्न सभी प्रकार के लक्षणों से रहित 'वस्तुमात्र'-को विषय करता है। इस कारण वह निर्विकल्पक ही तथाविध वस्तुरूप अर्थ से जन्य (उत्पन्न) होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा उपस्थित की गई वस्तु को नाम, जाति आदि कल्पित पदार्थों से जोड़ता है। अतः वह 'सविकल्पक', अर्थ (प्रमाणसिद्ध वस्तु) से जन्य न होने के कारण उसे प्रमाण नहीं कह सकते। वह तो नाम, जाति आदि कल्पित (असत्य) पदार्थों से जुड़ा हुआ है।

नैयायिक—जाति (सामान्य) को यदि तुम नहीं मानोगे तो जाति से होनेवाला कार्य तुम कैसे कर पाओगे ? हमारे न्यायसिद्धान्त में तो जाति का कार्य (काम) 'अनुगत प्रतीति' कराना तथा अनेक कार्य-कारणभावों की उपपत्ति लगाना है, 'अनुवृत्ति प्रत्ययहेतुः सामान्यम्' अर्थात् 'अनुवृत्तिप्रत्यय' (अनुगत प्रतीति यानी एकाकार प्रतीति)

कराने में जो कारण हो उसे सामान्य (जाति) कहते हैं। दस, बीस, तीस आदि अनेक घटों में 'अयं घटः, अयं घटः, अयमपि घटः' इस प्रकार की जो एकाकार प्रतीति होती है, उसका कारण क्या है ? तो कहना होगा कि उस एकाकार प्रतीति का कारण उन घटों में रहने वाला 'घटत्व' सामान्य ही है। सभी घटों में घटत्व नाम का एक साधारण धर्म रहता है। उसी से सभी घटों की 'अयं घटः, अयं घटः' के रूप में एकाकार प्रतीति होती है। इसी 'अनुवृत्ताकार प्रतीति' (अनुगतप्रतीति) के हेतु (कारण) को सामान्य (जाति) कहते हैं। एवं च जाति या सामान्य का काम एकाकार प्रतीति (अनुवृत्ति प्रत्यय) को उत्पन्न करना है। उसी से सजातीय अनेक वस्तुओं का ज्ञान सहजभाव से होजाता है। अब तुम ही बताओ कि जब तुम जाति (सामान्य) पदार्थ को नहीं स्वीकार करोगे तो तुम सजातीय अनेक पदार्थों में एकाकार प्रतीति (अनुवृत्ताकार प्रतीति—अनुगत प्रतीति) कैसे कर पाओगे ? इसी प्रकार विभिन्न पटों और तन्तुओं में यदि पटत्व और तन्तुत्व जाति को नहीं मानोगे तो 'पटसामान्य' के प्रति 'तन्तुसामान्य' कारण होता है। इस कार्य-कारणभाव की उपपत्ति कैसे कर पाओगे ?

बौद्ध—बौद्ध कहता है कि तुम्हारे द्वारा जाति से जो काम किया जाता है, वह काम हमारे यहाँ **'अपोह'** की कल्पना करने मात्र से ही हो जाता है। नैयायिक का 'घटत्व' 'अपोह' स्वरूप ही है। अनुगताकार प्रतीति एवं विभिन्न कार्य-कारण व्यक्तियों में अनुगत कार्य-कारणभाव की प्रतीति का निर्वाहक 'जाति' पदार्थ नहीं है, अपितु 'अपोह' है। **'अपोह'** शब्द का अर्थ **'अतद्व्यावृत्ति'** अर्थात् **'तद्भिन्न-भिन्नत्व'** है। 'तद्' शब्द से 'घट' आदि व्यक्ति का ग्रहण करिये और 'अतद्' का अर्थ है 'जो घट आदि व्यक्ति नहीं है'। एवञ्च 'अतद्' का अर्थ हुआ 'अघट' अर्थात् घटभिन्न सम्पूर्ण जगत्। उससे व्यावृत्त (भिन्न) वह 'घट' व्यक्ति ही होगी। इसलिये प्रत्येक 'घट' अतद्व्यावृत्त अथवा तद्भिन्न से भिन्न है। इसी कारण उसे 'घट' कहा जाता है। इस रीति से प्रत्येक 'घट' में अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्न-भिन्नत्व है, जिसे 'अपोह' शब्द से कहा जाता है, उसी से एकाकार प्रतीति तथा कार्यकारणभाव की प्रतीति हो जाती है। एवं च जाति (सामान्य) का कार्य अतद्व्यावृत्तिरूप 'अपोह' से हो जाता है। जाति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा 'अपोह' यानी घटत्व-पटत्व-गोत्व आदि पदार्थ भावरूप हैं या अभावरूप हैं, क्षणिक हैं या स्थायी हैं इत्यादि 'ऊह' यानी तर्क-वितर्क की परिधि के बाहर हैं। अत एव इसे 'अपोह' कहा जाता है, 'अपगतः विनिवृत्तः ऊहः उक्तविधो विविधो वितर्को यस्मात् सः' —**अपोहः**। एवं च घटत्व-पटत्व-तन्तुत्व-गोत्व आदि अपोहात्मक हैं। वह अपोह ही विभिन्न सजातीय व्यक्तियों में अनुगताकार प्रतीति कराता है। नैयायिकों का जो यह कहना है कि कार्य-कारणभाव के उपपत्त्यर्थ जाति पदार्थ को मानना आवश्यक है। वह भी उचित नहीं है। क्योंकि उत्पद्यमान कार्य के कारणों को कोई जबरदस्ती एकत्रित नहीं करता, अपितु उस कार्य के सभी

कारण स्वाभाविक रीति से ही अपने ही बल पर एकत्र जुट जाते हैं, तब 'कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से होने वाली 'कार्योत्पत्ति' को **'प्रतीत्यसमुत्पाद'** शब्द से कहते हैं। एवं च विभिन्न कार्य-कारणरूप व्यक्तियों में किसी भी अनुगत कार्य-कारण-भाव को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह कार्य-कारणभाव तो अननुगत ही है। क्योंकि तत्तत् कार्य के प्रति तत्तत् कारणों को 'तत्तत्कार्यानुकूलकुर्वद्रूपत्व' रूप से अनुगत ही है कारणभाव अतः कार्य के निर्वाहार्थ जाति (अनुगत धर्म) की कल्पना करना उचित नहीं है।

बौद्धों का कहना है कि भाव पदार्थ के रूप में 'जाति' का अस्तित्व यदि माना जाय तो अनेक दुष्परिहरणीय प्रसंग उपस्थित होंगे। जैसे—किसी व्यक्ति के उत्पन्न होने पर क्या उस व्यक्ति के साथ उसमें उसकी जाति की भी उत्पत्ति होती है? और जब वह व्यक्ति नष्ट होती है, तब उस व्यक्ति के साथ उसमें ज्ञात होने वाली क्या उसकी जाति भी नष्ट हो जाती है? उत्तर देने वाला यदि 'हाँ' कहता है, तो 'जाति' का जन्म (उत्पत्ति) और नाश होते रहने से समस्त व्यक्तियों के आश्रित रहने वाली 'जाति' को एक और नित्य नहीं कहा जा सकेगा। यदि 'नहीं' कहता है, तो दूसरा दुष्परिहरणीय प्रसंग यह होगा कि किसी 'व्यक्ति' का जन्म होने पर उसमें 'जाति' का संबंध कैसे हुआ? क्या जहाँ 'व्यक्ति' का जन्म हुआ, वहाँ पहले से ही 'जाति' रहती थी? और 'व्यक्ति' के उत्पन्न होते ही क्या वह उस पर आश्रित हो गई? अथवा किसी दूसरी जगह से आकर उस उत्पन्न हुई व्यक्ति को उसने अपना आश्रय बना लिया? तात्पर्य यह है कि जाति का अस्तित्व मानने पर उक्त प्रश्नों का उत्तर नैयायिक नहीं दे सकेगा। क्योंकि उस 'व्यक्ति' की उत्पत्ति के पूर्व ही उसके 'उत्पत्तिस्थान' में 'जाति' का अस्तित्व माना जाय तो उस 'उत्पत्तिस्थान' को भी तद्व्यक्तिस्वरूप ही समझना पड़ेगा। अर्थात्—'गोत्व' जाति, 'गोव्यक्ति' की उत्पत्ति के पूर्व ही उसकी उत्पत्तिस्थान में रहती है कहें, तो जहाँ 'गोत्व' जाति रहे उसे 'गो' कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उस 'गोव्यक्ति' की उत्पत्ति के स्थान को भी 'गो' कहना होगा। यदि दूसरे पक्ष को ग्रहण करें अर्थात् दूसरी जगह से आकर वह उस व्यक्ति को अपना आश्रय बनाती है कहें, तो यह आपत्ति आवेगी कि अन्य स्थान से इस उत्पद्यमान व्यक्ति, में उस जाति के आने तक इस 'व्यक्ति' को जातिरहित ही रहना होगा। उस दशा में इस व्यक्ति की पहचान ही नहीं हो सकेगी। और जिस स्थान से वह जाति आ रही है, मान लीजिये कि वह स्थान यदि 'गो' के स्थान से भिन्न हुआ तो अब तक वहाँ जाति की स्थिति रहने के कारण उस गोभिन्न स्थान को भी 'गो' रूप ही समझना पड़ेगा। क्योंकि वहाँ से प्रस्थान करने के पूर्व तक वहाँ 'गोत्व' की स्थिति थी। अथवा यदि यह कहें 'गोत्व' जाति ने जहाँ से प्रस्थान किया, वह स्थान किसी अन्य 'गो' का ही था। तो यह प्रश्न किया जायेगा कि 'गोत्व' जाति ने उत्पद्यमान

जिस नवीन 'गो' व्यक्ति से सम्बन्ध करने के लिये जिस पुरानी 'गोव्यक्ति' को त्यागा है, क्या उसे सदा सर्वदा के लिये त्याग दिया है ? अथवा उस पुरानी गोव्यक्ति में रहती हुई अंशतः उसे त्याग रही है ? यदि 'पुरानी गौ' को सदा सर्वदा के लिये त्याग कर वह 'गोत्व' जाति वहाँ से प्रस्थान कर रही है कहें तो उस पुरानी 'गौ' को अब कभी भी 'गौ' नहीं कह सकेंगे। यदि पुरानी गौ में रहते हुए ही नयी गौ तक वह पहुचती है कहें तो उसे (जाति को) संकोच-विस्तार शील अंशवान् पदार्थ मानना पड़ेगा। इस रीति से 'जाति' को अंशवान् पदार्थ मानने पर उसे नित्य, अमूर्त नहीं कह पायेंगे। क्योंकि संकोच-विस्तार तो अनित्य, मूर्त पदार्थ में हुआ करते हैं। नित्य पदार्थ में कभी किसी प्रकार का संकोच-विस्तार नहीं हुआ करता, तथा अमूर्त पदार्थ में कभी भी गमनागमन क्रिया नहीं हुआ करती। इसी अभिप्राय को निम्न कारिका से बताया गया है—

नायाति न च तत्रासीन्न चोत्पन्नं न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः।

अतः बौद्धदार्शनिकों ने जाति पदार्थ को स्वीकार नहीं किया है। उसे स्वीकार करने में उनके 'क्षणभंगवाद' का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। क्योंकि नैयायिकों ने नित्य तथा अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले धर्म को 'जाति' शब्द से बताया है। नैयायिकों का यह कथन तो बौद्धों के क्षणिक सिद्धान्त का उन्मूलन कर देता है। अतः बौद्धों ने 'जाति' को नहीं माना है। नैयायिकों ने जो 'जाति' की कल्पना की है, उसके दो उद्देश्य हैं एक तो नाना व्यक्तियों में एकाकार प्रतीति हो सके, और दूसरा उद्देश्य यह है कि विभिन्न कार्य-कारण व्यक्तियों में एक 'अनुगत कार्य-कारणभाव' का स्वीकार कर सकें। जैसे रूप, रंग, आकार-प्रकार, देश-काल आदि का भेद रहने पर भी नाना गोव्यक्तियों में 'यह गाय है, यह गाय है, यह भी गाय है' इस प्रकार यह-वह आदि विभिन्न शब्दों से 'विशेष्य' अंश के 'अनेकत्व' का और 'गो' इस एक शब्द से 'विशेषण' अंश के 'एकत्व' का अनुभव सभी को होता है। उसमें किसी का विवाद नहीं है। किन्तु इस अनुभव का कारण क्या है ? कहना होगा कि समस्त विभिन्न गो व्यक्तियों में एक 'गोत्व' धर्म का रहना ही उस अनुभव में कारण है। इस गोत्व धर्म को ही दार्शनिक लोग गोत्व जाति कहते हैं। एवं च अनेक गो व्यक्तियों में सबकी एकाकार प्रतीति का निर्वाह करने के लिये ही 'गोत्व' जाति की कल्पना की गई है।

इसी प्रकार घटात्मक कार्य व्यक्ति और कपालात्मक कारण व्यक्ति भी अनेक हैं। उनमें से 'अमुक घट' के प्रति 'अमुक कपाल' कारण है—इस प्रकार तत्तद् व्यक्ति के प्रति तत्तद् कारण को कहा जाय तो, तत्तद् घट और तत्तद् कपाल के कार्य-कारण-

भाव का ज्ञान न होने से नवीन घट के उत्पादनार्थ नये कपाल को ग्रहण नहीं किया जा सकेगा। अतः उस ग्रहणप्रवृत्ति के लिये समस्त घट व्यक्तियों में 'एक घटत्व धर्म' और 'समस्त कपाल व्यक्तियों' में 'एक कपालत्व धर्म' को मानना पड़ेगा। तब उन धर्मों द्वारा 'घट' और 'कपाल' के बीच एक अनुगत कार्य-कारणभाव की कल्पना भी करनी होगी। एवं च विभिन्न कार्य-कारण व्यक्तियों में अनुगत कार्य-कारणभाव को मानने के लिये 'जाति' की कल्पना करनी पड़ती है।

बौद्ध दार्शनिकों का 'अपोह' और नैयायिकों की 'जाति' में अन्तर यही है कि बौद्धों का 'अपोह' अतद्व्यावृत्तिरूप अर्थात् अभावरूप है। और नैयायिकों का 'सामान्य' (जाति) भावरूप है। बौद्धों के अनुसार नैयायिकों का कल्पित सामान्य (जाति) कोई अर्थ (वस्तु—पदार्थ) ही नहीं है, अपितु वह तो अतद्व्यावृत्ति रूप 'अपोह' या अन्योन्याभावरूप 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' ही है। अतः 'जाति' कोई वस्तु (अर्थ) ही न होने से सामान्यविषयक 'सविकल्पक ज्ञान' भी अर्थज नहीं है। इसलिये उसे प्रत्यक्ष नहीं कहना चाहिये। यह बौद्धों का पूर्वपक्ष है। इसको ग्रन्थकार बता रहे हैं—

ननु निर्विकल्पकं परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्। सविकल्पकं तु शब्दलिङ्गवदनुगताकारावगाहित्वात् सामान्यविषयं कथं प्रत्यक्षमर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात् अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात्। स्वलक्षणन्तु परमार्थतः सत्, न तु सामान्यम् तस्य प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य अन्यव्यावृत्यात्मनस्तुच्छत्वात्।

(**पूर्वपक्ष**) **नन्विति।** 'निर्विकल्पक' वस्तुतः स्वलक्षण अर्थात् वस्तुमात्रविषयक होता है, और उसी से उत्पन्न होता है। अतः उसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में कह सकते हैं। किन्तु सविकल्पक तो शब्द और अनुमान के समान अनुगत आकार (सामान्य) का ग्राहक होने से वह सामान्य विषयक होता है। तब उसे प्रमाणभूत प्रत्यक्ष के रूप में कैसे माना जा सकता है? क्योंकि 'अर्थज' यानी अर्थजन्य ज्ञान को ही प्रमाणभूत प्रत्यक्ष कहते हैं। और प्रमाण जो पारमार्थिक (वास्तविक) रूप में 'सत्' (विद्यमान) हो और जो 'प्रत्यक्ष ज्ञान' के पूर्व रहता हो। किन्तु इस प्रकार का 'अर्थ' केवल वही हो सकता है, जो 'स्वलक्षण' हो, अर्थात् जो स्वयं ही अपना लक्षण हो, जिसका अन्य कोई लक्षण न हो। अभिप्राय यह है कि बौद्धों के मत से 'पदार्थ' दो प्रकार के होते हैं—(१) स्वलक्षण और (२) सामान्य-लक्षण। 'स्वलक्षण' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है—'स्वं सर्वतो व्यावृत्तं लक्षणं वस्तुरूपम् यस्य तत् = स्वलक्षणम्।' सब से भिन्न वस्तु का अपना निजी स्वरूप। किसी भी वस्तु का अपना निजी स्वरूप सभी अन्य सजातीय, विजातीय वस्तओं से भिन्न होता है। यह 'स्वलक्षण' ही प्रवृत्ति-निवृत्ति

का विषय होता है यानी इसका ही ग्रहण या त्याग किया जा सकता है। यही अर्थक्रियाकारी है अर्थात् घट आदि अर्थ का जल लाना आदि जो कार्य (क्रिया) है, उसे घटव्यक्ति (स्वलक्षण) ही कर सकता है, घटत्व आदि सामान्य नहीं कर सकता। इस कारण 'स्वलक्षण' को ही परमार्थ सत् (वास्तविक, यथार्थ) माना जाता है। क्योंकि अर्थ-क्रियाकारिता ही पारमार्थिकता (वास्तविकता) की कसौटी है[1]। दूसरा पदार्थ है सामान्य या सामान्यलक्षण। वह अर्थक्रियाकारी नहीं है। इसी कारण—वह परमार्थसत् भी नहीं है। वह तो आरोपित (कल्पित) पदार्थ है। इसीलिये ग्रन्थकार कह रहे हैं कि 'स्वलक्षणं तु परमार्थतः सत् न तु सामान्यम्।' बौद्धदार्शनिक इसे 'संवृति सत्' (सांवृतिक सत्य) कहते हैं और उसे अभावरूप (तुच्छ) मानते हैं। भावरूप नहीं मानते। 'सामान्य' को अभावरूप मानने में कारण यह बताते हैं कि **प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य'**। प्रमाणों के द्वारा जिसकी 'भावरूपता' का निराकरण कर दिया गया है। उसके निराकरण करने का प्रयोजन यह है कि नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार सामान्य (जाति) का लक्षण यह बताया जाता है कि **'नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्'** जो नित्य हो और अनेक पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से रहता हो, जैसे—'गोत्व' आदि। इस सामान्यलक्षण के दो अंश हैं—(१) नित्यत्व, और (२) अनेकसमवेतत्व। बौद्धों का कहना है कि ये दोनों अंश असंगत हैं। उदाहरणार्थ जैसे—'नित्यत्व' को ही लीजिये। बौद्धसिद्धान्त में संसार का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। सभी पदार्थ क्षणिक हैं। जो क्षणिक न हो, उसकी 'सत्ता' ही नहीं हो सकती। बौद्धों ने यह व्याप्ति कर दी है कि **'यत् सत्, तत् क्षणिकम्'**। अतः **'क्षणिकता'** के अभाव में **'सत्ता'** भी नहीं रह सकती। इस रीति से सामान्य की भावरूपता का निराकरण हो जाता है। इसी तरह 'अनेक समवेतत्व' इस दूसरे अंश को भी देखिये। **नैयायिकों** के मतानुसार अनेक व्यक्तियों में रहनेवाली 'जाति' (सामान्य) क्या प्रत्येक व्यक्ति में साकल्येन (पूर्णरूप में) रहती है, या एकदेशेन। अर्थात् किसी एक व्यक्ति में वह जाति सम्पूर्णतया रहती है या उस जाति का एक अंश मात्र रहता है? ऐसा प्रश्न पूछने पर नैयायिक प्रथम पक्ष का स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि यदि 'जाति' किसी एक व्यक्ति में साकल्येन रहती है, तो दूसरी व्यक्ति में उसकी प्रतीति नहीं हो पायेगी। दूसरे पक्ष को भी इसलिये नहीं मान सकते—क्योंकि नैयायिक-वैशेषिकों ने 'जाति' को निरंश (अंश रहित) माना है। तब वह एकदेशेन कैसे रह सकती है? एवं च 'जाति' पदार्थ को मानने में अनेक अन्यान्य दोष उपस्थित किये जा सकते हैं। जैसे—घट के पैदा होने पर उसमें घटत्व जाति कहाँ से आती है और घट के नष्ट होने पर वह जाति कहाँ चली जाती है? इत्यादि अनेक शंकाओं का बुद्धिसंगत समा-

---

१. स एव परमार्थसत् अर्थक्रियाकारित्वाद् वस्तुनः। —न्या० बि० परि० १

धान नहीं हो पाता है। इस रीति से प्रमाणों के द्वारा **'जाति पदार्थ'** की भावरूपता (विधिभाव) का खण्डन हो जाता है।

नैयायिक (प्रश्न)—सामान्य (जाति) के स्वीकार न करने पर अनेक 'घटों' में समानाकारक प्रतीति (यह घट है, यह घट है, यह घट है) कैसे होगी ?

बौद्ध (उत्तर)—अनेक व्यक्तियों की एकाकारक (समानाकारक) प्रतीति के लिये किसी भावात्मक (विधिरूप यानी भावरूप) धर्म की कल्पना करना आवश्यक नहीं है। 'एकाकार प्रतीति' तो निषेधात्मक कल्पित पदार्थ से ही हो जाती है। वह निषेधात्मक कल्पित पदार्थ ही **'अपोह'** शब्द से कहा जाता है। उसका स्वरूप है अतद्व्यावृत्ति (अन्यव्यावृत्ति) अर्थात् अन्य पदार्थों से भिन्नता। इसी को तद्भिन्न-भिन्नत्व (अपोह) भी कहते हैं। यह 'अपोह' अभावरूप है, इसलिये तुच्छ है। खरगोश के सींग या आकाश पुष्प के समान वह अत्यन्त असत् है। इसीलिये सामान्य-विषयक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। एवं च वस्तुतः जो 'ज्ञान' परमार्थ सत् वस्तु (स्वलक्षण) से उत्पन्न हो, उसे ही प्रत्यक्ष शब्द से कहा जा सकता है।

मैवम्। सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात्।

तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

(उत्तरपक्ष) मैवमिति। बौद्ध के आक्षेपात्मक उत्तर का समाधान नैयायिक इस प्रकार दे रहा है कि बहुसंख्य (अनेक) घटों में जो समानाकारक (अनुगत) प्रतीति होती है, उसका एक मात्र कारण सामान्य ही है "अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्"। यह **सामान्य** भावरूप ही है 'सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात्'। यदि अपोह (अतद्व्यावृत्ति—तद्भिन्न-भिन्नत्व) को ही 'अनुगतप्रतीति' में कारण कहें तो गौरव होगा। क्योंकि घट (तद्) के ज्ञान के बिना 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा घटभिन्न-भिन्नत्व का ज्ञान होना संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि घटत्व आदि सामान्य (जाति) के कारण 'अयं घटः, अयं घटः' इस प्रकार की जो समानाकारक प्रतीति होती है उसमें सभी लोगों का अनुभव भी प्रमाण है। 'घट' में 'घटत्व' है, 'पटत्व' नहीं है—ऐसी प्रतीति सभी को होती है वह भावरूप ही है, अभावरूप नहीं है।

बौद्ध ने 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' की युक्ति बताकर सामान्य (जाति) को जो अभावरूप बताया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थों को क्षणिक कह देने पर संसार का व्यवहार ही समाप्त हो जायेगा। संसार के व्यवहार तो बौद्धों को भी करने पड़ते हैं। अतः उनके निर्वाहार्थ उनकी यह युक्ति बाधक ही सिद्ध होगी।

हमारे सिद्धान्त के अनुसार सामान्य (जाति) सभी व्यक्तियों में 'समवाय सम्बन्ध' से रहता है। उस कारण उसका अनेक व्यक्तियों में रहना भी संभव हो जाता है।

इसलिये सामान्य (जाति) भी स्वलक्षण के समान ही भावपदार्थ है। अतः समानाकार विषयक जो 'सविकल्पकज्ञान' है, उसे भी 'प्रत्यक्ष' कहना चाहिये।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान के प्रामाण्य के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मतों पर एक विहंगम दृष्टि—

(१) **बौद्धदार्शनिक—'निर्विकल्पक ज्ञान'** ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, **सविकल्पक नहीं।** दिङ्नागबौद्ध ने प्रत्यक्ष का लक्षण **'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'** (प्रमाणसमुच्चय-परि १) कहा है। **धर्मकीर्तिबौद्ध** ने प्रत्यक्ष का लक्षण **'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्'** बताया है।—(न्या० बि०) 'निर्विकल्पकज्ञानमेव प्रमाणम् कल्पनापोढत्वात्'। तद्भिन्नं सर्वमप्रमाणम् कल्पनाज्ञानत्वात्।

(२) **वैयाकरण**—निर्विकल्पक ज्ञान का होना संभव ही नहीं है। **भर्तृहरि** आदि वैयाकरणों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान, शब्द से अनुगत (सम्बद्ध) ही होता है।

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥"

—(न्या० वा० ता० टी० १।१।४)

शब्द की अनुगति के बिना कोई भी ज्ञान नहीं होता। अतः समस्त ज्ञान शब्द से सम्बद्ध हुए की भाँति भासित होते हैं। इन **वैयाकरणों** के मत में निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता नहीं है।

(३) **माध्वसम्प्रदाय के वेदान्तियों** ने भी निर्विकल्पक ज्ञान को नहीं माना है।

—(प्रमाणपद्धति पृ० ११)

(४) **जैनदार्शनिकों** ने निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता का तो स्वीकार किया है, किन्तु उसे **प्रमा** के रूप में नहीं माना है। उन्होंने **निर्विकल्पक** ज्ञान को 'दर्शन' शब्द से कहा है। —(प्रमाणमीमांसा)

(५) **न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य-योग** तथा **अद्वैतवेदान्तियों** ने निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों को प्रत्यक्षप्रमा के रूप में स्वीकार किया है।

तात्पर्य यह है कि **सामान्य** (जाति) भी **भावपदार्थ** है, अभावरूप नहीं है। अतः दोनों (निर्विकल्पक और सविकल्पक) ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमा की कोटि में ही समझना चाहिये।

॥ 'प्रत्यक्ष' की व्याख्या समाप्त ॥

अनुमानप्रमाणनिरूपणम्

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिम्प्रति करणत्वात्। अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः। तत्करणं धूमादिज्ञानम्।

लिङ्गेति। **'लिङ्गपरामर्श'** को ही **अनुमान** कहते हैं। क्योंकि जिससे **'अनुमिति'** (अनु=पश्चात् मितिः=प्रमितिः) की जाती है, उसे 'अनुमान' कहते हैं। 'लिङ्गपरामर्श' से अनुमिति की जाती है, इसलिये 'लिङ्गपरामर्श' को **'अनुमान'** कहते हैं। **तच्चेति।** और वह 'लिङ्गपरामर्श'—'धूमादि का ज्ञान' ही है। क्योंकि वह अनुमिति के प्रति-**करण** है। उससे अनुमिति की जाती है। 'अग्नि' आदि का ज्ञान 'अनुमिति' है। और 'धूम' आदि का ज्ञान, उस 'अग्निज्ञानरूप अनुमिति' का करण है।

माधुरी

प्रत्यक्षप्रमाण का निरूपण हो चुका है। अब अवसरप्राप्त **अनुमानप्रमाण** के निरूपण का प्रारंभ ग्रन्थकार कर रहे हैं। न्यायदर्शन के भाष्यरचयिता **वात्स्यायन** ने 'अनुमान' शब्द का अर्थ 'मितेन लिङ्गेन अर्थस्य अनु पश्चात् मानम्—अनुमानम्।' किया है। अर्थात् 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से ज्ञात हुए 'लिङ्ग' द्वारा अर्थ के 'अनु' यानी पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को **'अनुमान'** कहते हैं। 'अनुमिति' शब्द की उक्त व्युत्पत्ति या निरुक्ति के अनुसार 'अग्नि' का ज्ञान, 'धूम' ज्ञान के पश्चात् होने के कारण वह 'अनुमिति' रूप है। अर्थात् 'अनुमान' प्रमाण के फलरूप 'अनुमिति' का ज्ञान उक्त व्युत्पत्ति से हो रहा है।

परन्तु 'अनुमान प्रमाण' का लक्षण 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' यानी 'लिङ्ग' के 'परामर्श' को अनुमान बताया है। इससे यह समझ में आता है कि 'अनुमान' शब्द का प्रयोग 'दो अर्थों' में होता है। एक तो **'अनुमानप्रमाण'** के लिये, जैसे—'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' में 'अनुमान' शब्द का प्रयोग किया गया है। और दूसरे, 'अनुमानप्रमाण' से उत्पन्न होने वाले 'ज्ञान' (प्रमा-प्रमिति) के लिये किया गया है। जैसे—**'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम् अनुमानम्'**—(न्या० सू० १।१।५)। तथापि 'अनुमानप्रमाण' के अर्थ में ही **'अनुमान'** शब्द का प्रयोग सब लोग किया करते हैं और अनुमानप्रमाण से उत्पन्न 'ज्ञान' (प्रमा) के अर्थ में **'अनुमिति'** शब्द का प्रयोग सर्वत्र होता है।

वात्स्यायन महर्षि ने कहा है कि यह 'अनुमानप्रमाण', **प्रत्यक्ष** तथा **आगम** के आश्रित रहता है। इसे **'अन्वीक्षा'** भी कहते हैं। क्योंकि यह 'प्रत्यक्ष' तथा 'आगम' के द्वारा 'ईक्षित (प्रदर्शित) अर्थ' का अन्वीक्षण करता है। **न्यायशास्त्र** की प्रवृत्ति 'अन्वीक्षा' (अनुमान) के द्वारा ही होती है। वह 'अर्थों' का परीक्षण करता है, इसीलिये उसे **'आन्वीक्षिकी'** कहते हैं। जो **अनुमान**, 'प्रत्यक्ष' तथा 'आगम' के विरुद्ध होता है, उसे 'न्याय' न कहकर 'न्यायाभास' कहते है—(न्या० भा० १।१।१)। 'तच्च धूमादिज्ञानम्' यहाँ पर 'तत्' शब्द 'लिङ्गपरामर्श' का सूचक है। परन्तु 'धूमादिज्ञानम्' की अपेक्षा की दृष्टि से 'तत्' यह नपुंसकलिङ्ग निर्देश किया है। जैसे—'शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य' में जल की दृष्टि से 'यत्' न० पुं० लि० निर्देश है। वृद्ध परम्परा के

अनुसार यह कहा जाता है—'सर्वनामानि उद्देशाभिधेययोः एकत्वमापादयन्ति पर्यायेण तल्लिङ्गभाञ्जि भवन्ति'।

किं पुनर्लिङ्गं कश्च तस्य परामर्शः ?

उच्यते व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्। यथा धूमोऽग्नेर्लिङ्गम्। तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्नि गमयति। अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम्।

किं पुनरिति। 'लिङ्ग' किसे कहते हैं ? और उसका 'परामर्श' क्या है ?

उच्यत इति। 'व्याप्ति' के आधार पर (बल पर) अर्थ का जो बोधक होता है, उसे **'लिङ्ग'** कहते हैं। जैसे 'धूम', 'अग्नि' का लिङ्ग है। **तथा हीति।** जहाँ 'धूम' होता है, वहाँ 'अग्नि' होता है—इस **'साहचर्यनियम'** को **'व्याप्ति'** कहते हैं। **तस्यामिति।** उस **'व्याप्ति'** का निश्चयात्मकज्ञान होने पर ही 'धूम', अग्नि का ज्ञान करा पाता है। अतः 'व्याप्ति' के बल पर 'अग्नि' का **अनुमापक** होने से 'धूम', को अग्नि का **'लिङ्ग'** कहते हैं।

माधुरी

'लिङ्गपरामर्शः अनुमानम्' इस अनुमानलक्षण में 'लिङ्ग' और 'परामर्श' दो शब्द हैं। उनमें 'व्याप्ति के बल पर जो अर्थ का बोधक हो' उसे लिङ्ग कहते हैं। 'व्याप्ति-बलेन अर्थगमकं लिङ्गम्—यह 'लिङ्ग' का लक्षण है। उक्त लिङ्ग-लक्षण में एक 'व्याप्ति' शब्द भी आया है। अतः उसका भी ज्ञान होना आवश्यक है। 'व्याप्ति' शब्द का अर्थ है—'साहचर्यनियम।' 'यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः'—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है—इस साहचर्यनियम को व्याप्ति शब्द से कहा गया है। इस व्याप्ति के बल पर अर्थ का जो बोधन करता है उसे 'लिङ्ग' कहते हैं। जैसे 'धूम', 'वह्नि' का लिङ्ग है। क्योंकि पर्वत आदि स्थानों में धूम को देखकर 'यत्र-यत्र धूमो भवति, तत्र-तत्र वह्निर्भवति' इस साहचर्यनियम अथवा 'व्याप्ति' के आधार पर 'अप्रत्यक्ष वह्नि' का ज्ञान होता है। इसलिये 'धूम' को 'वह्नि' का लिङ्ग कहते हैं। 'लिङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति (निरुक्ति) 'लीनम् अप्रत्यक्षम् अर्थं गमयति इति लिङ्गम्' होती है। इस लिङ्ग को 'हेतु' शब्द से भी कहते हैं। 'साहचर्य' का अर्थ है—साथ-साथ रहना। 'धूमाग्नी सह चरतः इति सहचरौ तयोर्भावः साहचर्यम्।' इस प्रकार के साहचर्य का जो नियम उसे 'व्याप्ति' कहते हैं। केवल साहचर्यमात्र को 'व्याप्ति' नहीं कहते। किन्तु **अनौपाधिकः संबंधो** व्याप्तिः'। साहचर्य के नियम का अर्थ है कि नियम से दोनों का साथ रहना। धूम कभी भी वह्नि के बिना नहीं रहता। इस प्रकार के नियम को 'व्याप्ति' या 'अविनाभावसम्बन्ध' भी कहते हैं। 'अनौपाधिक संबंध' ही **व्याप्ति** शब्द से कहा जाता है'—इस मर्म को सूचित करने के लिये ही 'नियम' शब्द का ग्रहण किया गया

है। जो **पदार्थ** किसी का **'अविनाभावी'** है अर्थात् उसके विना नहीं रहता है उसे 'व्याप्त' कहते हैं। जैसे 'धूम' कभी भी और कहीं भी 'अग्नि' के विना नहीं रहता है। इसलिये 'धूम', 'अग्नि' से व्याप्त है और 'अग्नि' व्यापक है। अग्नि की 'व्याप्ति' धूम में रहती है। जिसमें 'व्याप्ति' रहती है उसे 'व्याप्य' (व्याप्त) कहते हैं और जिसकी व्याप्ति रहती है उसे 'व्यापक' कहते हैं। इसलिये 'धूम' को अग्नि का 'व्याप्य' कहते हैं और 'अग्नि' को धूम का 'व्यापक' कहते हैं। 'धूम' का 'अग्नि' के साथ नियत-साहचर्य है अर्थात् व्याप्ति है। तात्पर्य यह है कि जिस स्थान पर 'धूम' का जन्म होता है, उस स्थान पर 'अग्नि' अवश्य ही रहता है। 'धूम' में अग्नि के साथ ही रहने का जो नियम है, वही 'व्याप्ति' है। उस व्याप्ति का ज्ञान (ग्रहण) होने पर ही 'धूम', अग्नि का गमक होता है। अर्थात् धूम अग्नि का वोधक होता है। अतः व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक (गमक) होने के कारण 'धूम' को अग्नि का 'लिङ्ग' कहते हैं।

शंका—'व्याप्त्या अग्न्यनुमापकत्वात् धूमः अग्नेर्लिङ्गम्।'—व्याप्ति होने से 'धूम', अग्नि का अनुमापक होता है, इसलिये वह 'अग्नि' का लिङ्ग है। इतना कहने से भी धूम को अग्नि का लिंग समझ सकते हैं, तब **'व्याप्तिबलेन'** कहने की आवश्यकता क्या है?

समाधान—ग्रन्थकार ने 'बल' शब्द की उपयोगिता बताने के लिये ही 'तस्यां **गृहीतायामेव** व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति' कहा है। 'व्याप्ति' का ग्रहण (ज्ञान) होने के पश्चात् ही धूम, अनुमेयरूप 'अग्नि' का अनुमान करा पाता है। अन्यथा—अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान न हुआ हो तो वह अनुमेयरूप अग्नि का अनुमान नहीं करा पाता। तात्पर्य यह है कि **व्याप्तिग्रहण** होना आवश्यक है।

तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। तथाहि प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्निं पश्यति। तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्ध-मवधारयति, यत्र धूमस्तत्राग्निरिति।

तस्येति। 'धूम' रूप लिङ्ग का **तृतीय ज्ञान**, 'परामर्श' शब्द से कहा जाता है। **तथा हीति**। जैसे—प्रथमतः महानस (पाकशाला) में बार-बार 'धूम' को देखता हुआ 'वह्नि' को देखता है। अर्थात् धूम और वह्नि का 'भूयः' =अनेक बार सहचारदर्शन होता है। **तेनेति**। भूयोदर्शन (बार-बार सहचारदर्शन) से 'धूम' और 'वह्नि' के स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय करता है। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि (वह्नि) होता है ऐसा समझता है।

माधुरी

लिङ्ग के **तृतीय ज्ञान** को 'परामर्श' कहा गया है। यहाँ पर 'तृतीय' शब्द का प्रयोग, पूर्व किये गये 'दो ज्ञानों' को सूचित कर रहा है। क्योंकि 'तृतीय' शब्द,

'सापेक्ष' शब्द है। **प्रथम-द्वितीय** ज्ञान को बताये बिना **तृतीय ज्ञान** का निरूपण करना संभव नहीं है। अतः पहिले 'प्रथमज्ञान' को बताया गया है। वह **'प्रथमज्ञान'**, व्याप्तिग्रहण की दशा में ही होता है। अतः **उपोद्घात** के रूप में 'व्याप्तिग्रहण' की प्रक्रिया को बताया गया है—**'प्रथमं तावदिति'**। प्रतिपाद्य विषय को अपनी बुद्धि में रखकर उसे प्रकट करने के लिये पहले से ही तत्सम्वन्धित अर्थान्तर के वर्णन को **'उपोद्घात'** कहते हैं। "चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थमुपोद्घातं प्रचक्षते।" अभिप्राय यह है कि 'धूम'रूप लिङ्ग का तीन वार ज्ञान होने के पश्चात् ही 'अग्नि' की अनुमिति होती है।

धूमरूप लिङ्ग के तीन ज्ञान—

(१) पाकशाला में अग्नि और धूम के भूयो भूयः (वार-वार) सहचार दर्शन से 'वह्निव्याप्यो धूमः' इस आकार का 'वह्नि' के व्याप्यरूप में 'धूम' का जो ज्ञान होता है, उसे धूम का **प्रथम** (पहला) **ज्ञान** समझना चाहिये। अर्थात् जितनी वार के देखने से उक्त व्याप्ति (स्वाभाविक सम्वन्ध) का निश्चय होता है, वह सव मिलकर **'धूम का प्रथम ज्ञान'** कहा जाता है।

(२) 'लिङ्ग' का **प्रथम ज्ञान** होने के पश्चात् दूर से 'पर्वत' आदि पर 'धूम'रूप लिङ्ग का जो ज्ञान (दर्शन) होता है, वह **द्वितीय ज्ञान** है। लिङ्ग के इस द्वितीय ज्ञान से, 'लिङ्ग' के प्रथम ज्ञान द्वारा उत्पन्न किये गये 'व्याप्तिविषयक संस्कार' का उद्वोधन (जागरण) होता है। उस कारण 'धूमो वह्निव्याप्तः' इस आकार में **व्याप्तिस्मरण** होता है।

(३) **'धूमो वह्निव्याप्यः'** इस व्याप्तिस्मरण के अनन्तर 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' इस आकार में 'पर्वत' के साथ 'वह्निव्याप्यधूम' के **सम्वन्ध** का जो **ज्ञान** होता है, उसे 'लिङ्ग' (धूम) का **तृतीय ज्ञान** कहते हैं। इस 'तृतीय ज्ञान' को ही **परामर्श** कहा गया है। यही 'अनुमिति' की उत्पत्ति में कारण वनता है। अभिप्राय यह है कि 'लिङ्ग' के तीसरे ज्ञान (लिङ्गपरामर्श) का आविर्भाव होने के तत्काल दूसरे क्षण में ही **'अनुमिति'** ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। किन्तु 'तीसरे ज्ञान' के (लिङ्ग परामर्श) होने पर अनुमिति ज्ञान की उत्पत्ति होने में कोई 'वाधक' नहीं होना चाहिये।

लिङ्गपरामर्शरूप तृतीय ज्ञान के 'दो अंश' हैं। उनमें से एक अंश, 'व्याप्ति' को और दूसरा अंश, 'पक्षधर्मता' को सूचित करता है। इन दो अंशों के कारण ही यह ज्ञान, 'अनुमिति' का जनक होता है। 'वह्निव्याप्य-धूमवांश्चायं पर्वतः'—इस **तृतीय ज्ञान** (लिङ्गपरामर्श ज्ञान) के 'वह्निव्याप्य' इतने अंश से **'व्याप्ति'** और 'धूमवांश्च पर्वतः' इतने अंश से 'पर्वत' रूप **पक्ष** में 'धूम' के **अस्तित्व** की सूचना प्राप्त होती है। इसी को

'पक्षधर्मता' ज्ञान कहते **'पक्षधर्मता'** का अर्थ है—पक्ष पर हेतु का रहना अर्थात् 'वृत्तित्व'। यानी 'पक्ष' के साथ 'हेतु' का ऐसा—सम्बन्ध, कि जिस सम्बन्ध से 'हेतु' अपने 'साध्य' का **व्याप्य** बन जाता है। 'वह्निव्याप्य-धूमवाँश्चायं पर्वतः' इस आकार वाले **तृतीय ज्ञान** (लिङ्गपरामर्श ज्ञान) में उक्त दो अंशों की प्रतीति होने के कारण इस **तृतीय ज्ञान** को 'व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञान' भी कहते हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि लिङ्गपरामर्शात्मक यह तृतीय ज्ञान व्याप्तिविशिष्ट हेतु के 'वैशिष्टच' का ग्रहण करता है, इसलिये उक्त **तृतीय ज्ञान** को 'व्याप्तिविशिष्टवैशिष्टचा-वगाहिज्ञान' भी कहते हैं। एवं च 'लिङ्ग परामर्श' को **'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः,'** अथवा **'व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं परामर्शः'** अथवा **'लिङ्गस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः'** भी कह सकते हैं। अतः ये **तीनों ही** 'परामर्श' के लक्षण हैं।। 'विशिष्ट-वैशिष्टचावगाहि ज्ञान' में 'विशेषणतावच्छेदकरूप से विशेषण' का ज्ञान (विशिष्टग्राहि-ज्ञान) कारण होता है। अतः **तृतीय ज्ञान** की उत्पत्ति के पूर्व 'हेतु' में 'साध्य' की **व्याप्ति** का ज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु 'साध्य की व्याप्ति' को समझे बिना 'साध्य-व्याप्ति' का ज्ञान होना कठिन है। इसीलिये ग्रन्थकार ने 'व्याप्ति' का परिचय और उसके समझने का उपाय बताया है—'तथाहि प्रथमं तावत्.......वह्निं पश्यति, अर्थात् 'हेतु' के साथ 'साध्य' के 'स्वाभाविकसम्बन्ध' का नाम 'व्याप्ति' है और उस व्याप्ति के ज्ञान का 'उपाय' है—'साध्य' के साथ 'हेतु' का **सहचार दर्शन**, अर्थात् बार-बार दोनों का दिखाई पड़ना। पुनः-पुनः दोनों के 'सहचार दर्शन' से **'व्याप्ति'** का निश्चय होता है। 'धूम' से अग्नि की व्याप्ति को समझने की प्रक्रिया इस प्रकार है—पाकशाला आदि स्थानों में 'धूम' और 'अग्नि' को साथ-साथ देखना। 'धूम' और 'अग्नि' के इस सहदर्शन को ही **धूम और अग्नि** का 'सहचारदर्शन' कहते हैं। धूम और अग्नि के बार-बार सहचारदर्शन से ही धूम और अग्नि के **स्वाभाविक सम्बन्ध** का निश्चय इस प्रकार होता है कि 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः'। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होता है। इस रीति से 'धूम' में अग्नि के **स्वाभाविक-सम्बन्ध** का जो निश्चय हो जाता है, उसी को **नैयायिक** लोग कहते हैं कि धू‍ में 'अग्नि' का **व्याप्ति ज्ञान** हुआ है।

यद्यपि यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपीति भूयो दर्शनं समान-मवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्त्वौपाधिक एव। शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेर्विद्यमानत्वात्।

तथा हि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद एव प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।

यद्यपीति। जहाँ-जहाँ 'मैत्रीतनयत्व' है वहाँ-वहाँ 'श्यामत्व' भी है। अर्थात् 'मैत्री-तनयत्व' और 'श्यामत्व' के सहचार का भूयो दर्शन मैत्री के अनेक पुत्रों में 'धूम' और

'अग्नि' के बार-बार के सहचार दर्शन के समान ही प्रतीत होता है। तथापि 'मैत्री-तनयत्व' और 'श्यामत्व' का **'स्वाभाविक सम्बन्ध'** नहीं है। अपितु **'औपाधिक सम्बन्ध'** ही है। 'शाकादि अन्नपरिणाम' रूप 'उपाधि' के कारण ही उन (मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व) दोनों में सम्बन्ध दिखाई दे रहा है। क्योंकि 'श्यामत्व' का **प्रयोजक** 'मैत्री-तनयत्व' नहीं है, अपितु 'शाकादि अन्नपरिणाम' ही उसमें (श्यामत्व में) **प्रयोजक** है। 'प्रयोजक' को ही **'उपाधि'** कहते हैं।

माधुरी

पहले बता चुके हैं कि **'व्याप्ति'** का ग्रहण (ज्ञान) 'भूयः सहचारदर्शन' से होता है और 'व्याप्ति' को **स्वाभाविक सम्बन्ध** कहते हैं। इस पर **'यद्यपि'**—ग्रन्थ से शंका की जा रही है कि सभी जगह 'भूयः सहचारदर्शन' से 'स्वाभाविक सम्बन्ध' का निश्चय नहीं कर सकते। 'धूम और अग्नि' का तो 'स्वाभाविक सम्बन्ध'—अर्थात् 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः'—कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ 'व्याप्ति' ठीक घटित हो जाती है।

किन्तु इसी को यदि **विपरीत** करके कहें कि 'यत्र-यत्र अग्निः तत्र-तत्र धूमः'—अर्थात् जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धूम है—तो ठीक नहीं होता। क्योंकि इनका भूयः सहचार दर्शन होने पर भी इनमें 'स्वाभाविक सम्बन्धरूपा व्याप्ति' नहीं हो पाती है। क्योंकि अयोगोलक (लोहे के गोले) को लाल गरम कर देने पर वह 'अग्नि' रूप तो है. किन्तु वहाँ 'धूम' कहाँ है ? यानी 'धूम' नहीं है। बिजली के बल्ब में, गैस के चूल्हे में 'अग्नि' तो है किन्तु 'धूम' नहीं है। अतः 'यत्र-यत्र अग्निः तत्र-तत्र धूमः' यह स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, अपितु 'औपाधिक' सम्बन्ध है। यहाँ पर 'उपाधि'—'आर्द्रेन्धनसंयोग' है। 'उपाधि' उसे कहते हैं कि 'जो धर्म, **साध्य** का **'व्यापक'** हो और **साधन** का 'अव्यापक' हो'—**'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्व-मुपाधिः'**। तथाहि—यदि कोई इस प्रकार अनुमान प्रयोग करे कि 'अयोगोलकं धूमवत् अग्निमत्त्वात्'—लोहे का गोला अग्निमान् होने से धूमवान् है—तो इस प्रयोग में 'धूम' **साध्य** है, 'अग्नि' **साधन** (हेतु) है। यहाँ पर **'आर्द्रेन्धनसंयोग'** को 'उपाधि' बताया गया है। क्योंकि **'आर्द्रेन्धनसंयोग'** रूप धर्म उक्त अनुमान में जो **साध्य** (धूम), है, उसका **व्यापक** है। अर्थात् 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः' यानी जहाँ-जहाँ 'धूम' होता है, वहाँ-वहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' अवश्य होता है। इस कारण 'आर्द्रेन्धन-संयोग' **साध्य** का **व्यापक** है, किन्तु 'यत्र-यत्र अग्निमत्त्वं तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः'—अर्थात् जहाँ-जहाँ 'अग्नि' हो वहाँ-वहाँ 'आर्द्रेन्धन संयोग' का होना अनिवार्य नहीं है। इसलिये 'आर्द्रेन्धनसंयोग' रूप धर्म, अनुमानप्रयोग में प्रयुक्त 'साधन' (अग्नि) का **अव्यापक** है यानी व्यापक नहीं है। जैसे—'अयोगोलक' में **अग्नि** तो है किन्तु 'आर्द्रे-

न्धनसंयोग' नहीं है। अतः 'आर्द्रेन्धनसंयोग', 'अग्नि'रूप साधन (हेतु) का **अव्यापक** हुआ। इस रीति से 'आर्द्रेन्धनसंयोग' में 'साध्य-व्यापकत्व' और 'साधनाऽव्यापकत्व' दोनों अंशों के घटित हो जाने से 'उपाधि' का लक्षण समन्वित हो जाता है। इस कारण उक्त अनुमानप्रयोग में प्रयुक्त **'अग्निमत्त्वात्'** हेतु को **सोपाधिक** कहा गया है। इसलिये 'अग्नि' और 'धूम' का संबंध, **स्वाभाविक** न होकर **औपाधिक** है। उस 'स्वाभाविक' (अनौपाधिक) सम्बन्ध का निश्चय (अवधारण) 'भूयो भूयः (पुनः पुनः) सम्बन्ध-ग्रहणजनित 'संस्कारसहकृत अन्तिम (चरम) प्रत्यक्ष' से होता है।

शंका—'धूम' के **प्रथम दर्शन** से सम्बन्ध निश्चय तो हो ही जाता है। तब 'स्वाभाविक' कहने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—ग्रन्थकार स्वयं ही 'स्वाभाविक' पद की उपयोगिता बताने के लिये 'यद्यपि' इत्यादि ग्रन्थ को प्रस्तुत कर रहे हैं।

शंका—'व्याप्तिज्ञान' होने का उपाय, यदि 'हेतु में साध्य के सहचार का पुनः पुनः दर्शन' ही है, तो 'मैत्रीतनयत्व' में 'श्यामत्व' की व्याप्ति का ज्ञान क्यों नहीं होता ? 'मैत्रीतनयत्व' को 'श्यामत्व' का **व्याप्य** क्यों नहीं कहा जाता ? क्योंकि 'मैत्री' के **तनयों** को जब-जब हम देखते हैं, तो उनमें 'श्यामत्व' की प्रतीति होती है। अतः **मैत्रीतनयत्व** और **श्यामत्व** के सहचार का भूयो दर्शन भी सिद्ध है।

समा०—यद्यपि 'धूम' और 'अग्नि' के समान ही **मैत्रीतनयत्व** और **श्यामत्व** के सहचार का भूयोदर्शन है, तथापि 'मैत्रीतनयत्व' और 'श्यामत्व' के मध्य जो संबंध है, वह **स्वाभाविक** (अनौपाधिक) नहीं है, किन्तु **औपाधिक** है। अर्थात् 'उपाधेरागतः' उपाधि के कारण वह सम्बन्ध हो रहा है। वहाँ पर 'उपाधि' कौन है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—**'शाकादीति'**। 'श्यामवर्ण के हरे-हरे शाकादि के आहार का परिपाक' ही यहाँ पर **'उपाधि'** है। इसी को उदाहरण के द्वारा समझा रहे हैं—**'तथा हीति'**। कोई 'मैत्री' नाम की स्त्री है। उसके सात पुत्र हैं। उन सात पुत्रों को कई लोगों ने अनेक बार देखा, तो वे 'सातों पुत्र' **श्यामवर्ण** के दिखाई पड़े। तदनन्तर जब मैत्री को आठवाँ पुत्र हुआ, तब मैत्री के सात पुत्रों में श्यामत्व देखने वाले लोगों ने भूयः सहचार दर्शन के आधार पर 'मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व' के स्वाभाविक संबंध (व्याप्ति) को मानते हुए आठवें पुत्र में भी श्यामत्व का अनुमान लगा लिया—'विमतः अष्टमः पुत्रः श्यामो भवितुमर्हति, मैत्रीतनयत्वात् प्राचीनमैत्रीतनयवत् इति'। यहाँ पर 'श्यामत्व' **साध्य** है और 'मैत्रीतनयत्वात्' **हेतु** है। तब किसी व्यक्ति (जिसने आठवें पुत्र को देखा है और उसे गौरवर्ण का पाया है) ने बताया कि 'श्यामत्व' में 'मैत्रीतनयत्व' **प्रयोजक** नहीं है, किन्तु 'शाकाद्याहारपरिणाम' ही 'श्यामत्व' में **प्रयोजक** है। 'प्रयोजक' को ही **उपाधि** कहते हैं। 'प्रयोजक' और 'उपाधि' ये दो संज्ञाएँ ही केवल भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु 'संज्ञी' एक ही है, उसमें भेद नहीं है। अतः आठवें पुत्र में **'श्यामत्व'** की सिद्धि

के लिये प्रयुक्त किया हुआ जो 'मैत्रीतनयत्व' हेतु है, वह **सोपाधिक** है। अर्थात् उक्त 'हेतु' में **'शाकपाकजन्यत्व'** रूप उपाधि है। यहाँ पर 'शाकपाकजन्यत्व' रूप **उपाधि** ही 'श्यामत्व' में **प्रयोजक** (कारण) है, 'मैत्रीतनयत्व' नहीं। वृद्ध लोगों की परंपरा में 'प्रयोजक' को ही 'उपाधि' शब्द से बताया गया है। 'उपाधि' ही प्रयोजक होता है। 'उपाधिमान्' प्रयोजक नहीं होता। तथाहि—

> 'व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः।
> अस्मिन् सत्यमुना भाव्यमित्याशङ्क्य निरूप्यते॥
> समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा तदा।
> समेन यदि नो व्याप्तिस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः॥ इति।

श्रीवरदराज ने भी 'उपाधि' का लक्षण इसी प्रकार किया है 'उपाधिर्नाम साधनाऽव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिः', 'साधनाऽव्यापकाः साध्यसमव्याप्ता ह्युपाधयः।' इति। इस उपाधिलक्षण में **'साध्यसमव्याप्तिः'** इतना ही अंश यदि कहें तो 'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात् घटवत्' इस प्रयोग में 'सकर्तृकत्व' उपाधि होगा। क्योंकि 'यत्र-यत्र सकर्तृकत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वम्' और 'यत्र-यत्र अनित्यत्वं तत्र-तत्र सकर्तृकत्वम्' ऐसी समव्याप्ति है। तब 'कृतकत्वात्' हेतु सोपाधिक कहलायेगा। उस कारण वह साध्य का अनुमापक नहीं हो सकेगा। तन्निवारणार्थ 'साधनाऽव्यापकत्वे सति' यह अंश देना ही होगा। अब यदि 'साध्यसमव्याप्तिः' इस अंश को हटा दें और केवल सत्यन्त अंश ही रखें तो 'घटत्व' उपाधि होगा। क्योंकि शब्द में कृतकत्व के विद्यमान रहने पर भी 'घटत्व' का अभाव है। अतः 'कृतकत्व' रूप हेतु तो है किन्तु 'घटत्व' वहाँ न होने से 'घटत्व' अव्यापक हुआ। 'कृतकत्व' हेतु (साधम) का। तब हेतु सोपाधिक हो जायेगा। उसके निवारणार्थ 'साध्यसमव्याप्ति' अंश देना ही होगा। अब 'सम' शब्द को हटाकर केवल 'साध्यव्याप्ति' इतना ही रखेंगे तो वहीं पर 'अश्रावणत्व' उपाधि होगा। किन्तु शब्द में 'अश्रावणत्व' नहीं है। और 'यत्र-अनित्यत्वम् अस्ति तत्र अश्रावणत्वमस्ति।' इस कारण उक्त लक्षण यहाँ पर घटित हो जाने से 'अश्रावणत्व' में 'उपाधित्व' आ जायेगा, उसके निवारणार्थ 'सम' का निवेश आवश्यक है। जैसे जपाकुसुम अपने समीप रखे हुए स्फटिक में अपनी रक्तिमा का आधान करके 'रक्तः स्फटिकः' ऐसा व्यवहार कराता है, उसी तरह 'उपाधि' भी अपने से संस्पृष्ट हुई साधन कहाने वाली वस्तु में स्वनिष्ठ व्याप्ति का आसंजन (सम्बन्ध) कराता है। अत एव 'स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिणि स्वधर्मासञ्जकः उपाधिः' यह 'उपाधि' शब्द का अर्थ किया जाता है। अतः कहीं कदाचित् साध्य के साथ दिखलायी देने पर भी उसमें 'साध्यव्यापकता' नहीं समझनी चाहिये। इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—

"अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः ।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ।।" इति ।

उपाधि का लक्षण 'शाकपाकजन्यत्व' में पूर्णतया घट जाता है। यहाँ पर 'श्यामत्व' साध्य है और 'मैत्रीतनयत्व' साधन है। 'शाकपाकजन्यत्व' साध्यरूप श्यामत्व का व्यापक है—'यत्र यत्र श्यामत्वं तत्र-तत्र शाकपाकजन्यत्वम्'—यह तो हुआ साध्य-व्यापकत्व, किन्तु जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है वहाँ-वहाँ शाकपाकजन्यत्व अवश्य हो यह आवश्यक नहीं है। एवं च जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है वहाँ-वहाँ शाकपाकजन्यत्व आवश्यक न रहने से वह 'साधन' का अव्यापक हुआ। इस प्रकार उपाधि का लक्षण 'शाकपाकजन्यत्व' में पूर्णरूप से घटित हो गया है। अतः 'शाकपाकजन्यत्व' रूप उपाधि के कारण 'मैत्रीतनयत्व' और 'श्यामत्व' का संबंध स्वाभाविक नहीं है, अपितु औपाधिक है।

न च धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति। अस्ति चेत्, योग्योऽयोग्यो वा। अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्, योग्यस्य चानुपलभ्यमानत्वात्। यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते। यथाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। हिंसात्वस्य चाधर्मसाधनत्वेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः। मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः।

शंका—न चेति। धूम और अग्नि के सम्वन्ध में तो कोई 'उपाधि' है ही नहीं। क्योंकि धूम और अग्नि के 'सहचार' का भूयोदर्शन करने पर 'धूम' में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान इसलिये होता है कि धूम के साथ अग्नि का जो संबंध है वह स्वाभाविक है। उसमें कोई 'उपाधि' नहीं है। **अस्तीति।** यहाँ पर 'उपाधि' के न होने का निश्चय इसलिये होता है कि 'उपाधि' दो प्रकार का होता है। एक 'प्रत्यक्षयोग्य' और दूसरा 'प्रत्यक्ष के अयोग्य'। इन दो प्रकारों में से 'प्रत्यक्ष के अयोग्य' उपाधि की आशंका इसलिये नहीं होती कि आशंका के लिये 'शंकनीय पदार्थ' का स्मरण होना आवश्यक होता है। और 'स्मरण' तभी हो सकता है कि जब उस पदार्थ का पहले अनुभव हुआ हो। किन्तु 'प्रत्यक्ष के अयोग्य' रहनेवाले पदार्थ का पूर्वानुभव होना कभी संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में 'हेतु' के साथ उसकी 'व्याप्ति' का ज्ञान तथा किसी शब्द का उसके बोधन में 'व्यापार' (वृत्ति) का ज्ञान भी नहीं है। अतः 'आनुमानिक' अथवा 'शाब्दिक' अनुभव भी नहीं है। एवं च 'प्रत्यक्ष के अयोग्य' रहनेवाले पदार्थ का कभी भी किसी प्रकार का कोई अनुभव हो ही नहीं सकता।

उसी प्रकार 'प्रत्यक्ष के योग्य' किसी 'उपाधि' के होने की भी संभावना नहीं है। **यत्रेति।** क्योंकि यदि प्रत्यक्षयोग्य कोई 'उपाधि' रहता तो वह अवश्य उपलब्ध होता। क्योंकि जहाँ कहीं 'प्रत्यक्षयोग्य उपाधि' रहता है, वहाँ उसकी उपलब्धि अवश्य होती

है । **यथेति** । जैसे अग्नि के साथ धूम के संबंध में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि की उपलब्धि होती है । **हिंसात्वस्येति** । जिस प्रकार 'हिंसात्व' के साथ 'अधर्मसाधनत्व' के संबंध में 'निषिद्धत्व' उपाधि की उपलब्धि होती है । **मैत्रीतनयत्वस्येति** । उसी तरह मैत्रीतनयत्व के साथ श्यामत्व के सम्बन्ध में 'शाकाद्यन्नपरिणतिभेद' अर्थात् हरे-हरे रंग के शाकादि के आहार का विशिष्ट परिणाम यानी 'शाकपाकजन्यत्व' **उपाधि** की उपलब्धि होती है ।

माधुरी

'धूम' में अग्निसहचार के बार-बार देखने (भूयोदर्शन) से 'धूम' में अग्नि के अनौपाधिकसम्बन्धरूप व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है, किन्तु 'अग्नि' में धूम के सहचार को बार-बार देखने से 'अग्नि' में धूम के अनौपाधिकसंबंधरूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पाता है । क्योंकि अग्नि में धूम का सम्बन्ध अनौपाधिक नहीं है; वह तो 'आर्द्र-इन्धनसंयोग' रूप उपाधि से प्रयुक्त है । 'धूम' का होना केवल 'अग्नि' के होने पर निर्भर नहीं है, किन्तु 'अग्नि' के साथ 'गीली लकड़ी' आदि के **संयोग** पर निर्भर है । अन्यथा तपे हुए 'अयोगोल' से भी धूम निकलता । 'अग्नि' से धुँआ निकलने में प्रयोजक (निमित्त) 'आर्द्रेन्धनसंयोग' आदि ही हैं, केवल अग्नि नहीं । प्रयोजक (निमित्त) को ही उपाधि कहते हैं । 'उपसमीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्मम् इति उपाधिः'—यह 'उपाधि' शब्द की व्युत्पत्ति है । जो अपने 'धर्म' को समीपस्थित 'वस्तु' में संक्रान्त कर देता है उसे 'उपाधि' कहते हैं । अत एव 'स्फटिक' में संक्रान्त होनेवाली जपाकुसुमनिमित्तक (प्रयुक्त) 'लालिमा' **औपाधिक** कहलाती है । उस लालिमा की उपाधि 'जपाकुसुम' है । किन्तु 'धूम' और 'अग्नि' के सम्बन्ध में कोई **उपाधि** नहीं है ।

ग्रंथकार ने 'उपाधि' का निश्चय कराने के लिये तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—(१) 'अग्नि और धूम' के संबंध में **उपाधि** होती है । (२) 'हिंसात्व और अधर्मसाधनत्व' के संबंध में **उपाधि** होती है । (३) 'मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व' के संबंध में **उपाधि** होती है ।

'सर्वव्याख्याविकल्पानां द्वयमिष्टं प्रयोजनम् ।
पूर्वत्राऽपरितोषो हि विषयव्याप्तिरेव च ॥'

इस कथन के अनुसार विषयव्याप्त्यर्थ उदाहरणान्तरों को प्रदर्शित किया गया है । **प्रथम उदाहरण**—'अग्नि और धूम' के **सोपाधिक सम्बन्ध** का निरूपण हो चुका ।

अब **दूसरा उदाहरण**—'हिंसात्व और अधर्मसाधनत्व' के **सम्बन्ध** पर विचार किया जा रहा है ।

वास्तविकता को न समझकर केवल 'अहिंसा परमो धर्मः' इस वचन की ओर दृष्टि-

पात करके अहिंसा का केवल अभिमान करने वाले पण्डितम्मन्य आर्हत (जैन) बौद्ध आदि समझते हैं कि 'अग्निष्टोमीया हिंसा अधर्मः, हिंसात्वात् व्यर्थहिंसावत्'। अग्निष्टोमयाग में वेदविहित हिंसा अधर्म है, क्योंकि व्यर्थहिंसा की तरह वह भी हिंसा ही है। किन्तु सकल-लोकानुग्राहक शिष्ट महाजनों के द्वारा परिगृहीत वेद के द्वारा विहित धर्म का आचरण करनेवाले वैदिकशिरोमणि विद्वानों का कहना है कि 'आर्हत' के द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुमान से 'जो भी हिंसा है, वह सभी हिंसा, अधर्म का साधन है' यह जो बताया गया है, वह उचित नहीं है। क्योंकि 'हिंसात्व' में अधर्मसाधनत्व के सहचार का भूयोदर्शन होनेपर भी **दोनों में** 'अनौपाधिकसंबंध' नहीं है, यानी स्वाभाविक संबंध नहीं है। अपितु **औपाधिक** है। उस संबंध के औपाधिक होने में **'निषिद्धत्व'** उपाधि है। कोई भी हिंसा केवल हिंसा होने के नाते अधर्म या अधर्म का साधन नहीं कहलाती, किन्तु 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादि शास्त्रवचनों से उसका निषेध होने से वह अधर्म का साधन कहलाती है। अत एव यज्ञ में शास्त्रवचन के आधार पर होने वाली 'हिंसा' से अधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि 'हिंसा' में अधर्मसाधनत्व का निर्णय करने में उसका प्रयोजक (निमित्त) 'निषिद्धत्व' रूप उपाधि, शास्त्रवचन के आधार पर उपलब्ध हो रहा है। क्योंकि 'अमुकहिंसा' अधर्म है और 'अमुकहिंसा' धर्म का साधन है इसका निर्णय प्रत्यक्ष अनुमान या किसी आगम प्रमाण के आधार पर ही किया जा सकता है। तब 'हिंसा' में अधर्मसाधनत्व का ज्ञान 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' से तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। 'अनुमानप्रमाण' से भी अधर्मसाधनत्व का ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें तद्व्याप्तलिङ्ग नहीं है। अतः 'निषेधशास्त्ररूप आगम प्रमाण' से ही उसका ज्ञान हो पाता है। अतः स्पष्ट है कि अधर्मत्व का प्रयोजक (निमित्त) 'निषिद्धत्व' ही है। अर्थात् जहाँ निषिद्धत्व नहीं हैं वहाँ अधर्मत्व या अधर्मसाधनत्व भी नहीं है। जैसे देवपूजा आदि में हमें दिखाई देता है।

इसी प्रकार **तीसरे उदाहरण** में—'मैत्रीतनयत्व' में श्यामत्व का सम्बन्ध भी **औपाधिक** ही है और वह उपाधि 'शाकपाकजन्यत्व' है, जो मैत्री नामक स्त्री के कहने से उपलब्ध हो रहा है।

(१) उपाधि का प्रथम उदाहरण—लौकिक **प्रत्यक्ष से** उपलब्ध होने वाली उपाधि का है।

(२) उपाधि का द्वितीय उदाहरण—शास्त्रवचन से उपलब्ध होने वाले उपाधि का है। ये दोनों उदाहरण **'निश्चितोपाधि'** के है।

(३) उपाधि का तीसरा उदाहरण—**शंकितोपाधि** का है। इस शंकितोपाधि में यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि शाकपाकजन्यत्व रूप उपाधि, 'साधनभूत

मैत्रीतनयत्व' का अव्यापक है। बहुत संभव है कि पक्षभूत मैत्रीपुत्र में भी शाकपाक-जन्यत्व हो, किन्तु किसी अन्य निमित्त से (दूध-दही आदि के खाने से) उसमें श्यामता न आ पाई हो। इसलिये यह **शंकितोपाधिक** है। जहाँ पर साधनाऽव्यापकत्व का अथवा साध्यव्यापकत्व का अथवा तदुभय का संदेह हो, वहाँ पर 'हेतु' में साध्य-व्यभिचारसंशयाधायकत्व के होने से संदिग्ध (शंकित) उपाधि होता है। जैसे मित्र-तनयत्वेन रूपेण श्यामत्व को 'साध्य' कहने पर 'शाकाद्याहारपरिणति जन्यत्व' शंकितो-पाधि है। क्योंकि व्याप्तिग्राहक कार्यकारणभाव में सन्देह है। एवं च मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व के सहचार का 'भूयोदर्शनरूप ग्राहक' रहने पर भी 'स्वाभाविक सम्बन्धरूप ग्राह्य' के न होने के कारण मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व की व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। एवं च साधनभूत मैत्रीतनयत्व के प्रति शकपाकजन्यत्वरूप उपाधि की 'अव्याप-कता' में संदेह रहने से वह शंकितोपाधि है। तौतातिक ने शंकितोपाधि के रहने पर हेतु को अगमक बताया है—

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम् ॥' इति।

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्ततोऽद्रक्ष्यत्, ततो दर्शनाभावान्नास्ति। इति तर्कसहकारिणानुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवोपाध्य-भावोऽवधार्यते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

न चेति। यहाँ पर 'अग्नि' के साथ धूम के साहचर्य में कोई 'उपाधि' नहीं है। यदि 'उपाधि' होता तो अवश्य दिखाई देता। जब कि वह दिखाई नहीं दे रहा है, अतः वह नहीं है। इस प्रकार 'तर्कसहकृत' और 'अनुपलब्धि' युक्त प्रत्यक्ष से ही 'उपाधि के अभाव' का निश्चय हो जाता है। इस कारण 'उपाधि के अभाव' के ज्ञान से जो संस्कार उत्पन्न हुआ, उसके सहित और 'भूयो भूयः (बार-बार) सहचारदर्शनजनित संस्कार' के सहित धूम और अग्नि के साहचर्य को ग्रहण करने वाले 'प्रत्यक्षप्रमाण' से ही धूम और अग्नि की 'व्याप्ति' का निश्चय हो जाता है। इसलिये 'धूम और अग्नि' का सम्बन्ध **स्वाभाविक** ही है, **औपाधिक** नहीं। स्वाभाविक सम्बन्ध को ही व्याप्ति कहते हैं।

माधुरी

अभी तक यह बताया गया कि 'उपाधि' के रहने पर उसकी उपलब्धि अवश्य होती है। उपाधि के उपलब्ध होने पर 'सम्बन्ध' को औपाधिक कहना पड़ता है। उसे स्वाभाविक नहीं कहते।

अब यह बता रहे हैं कि 'उपाधि के अभाव' का निश्चय हो जाने पर ही 'भूयो भूयः सहचारदर्शन' से 'स्वाभाविक सम्बन्ध' (व्याप्ति) का निश्चय हो पाता है।

शंका—'धूम के साथ अग्नि' के सम्बन्ध का प्रयोजक (निमित्त) कोई नहीं है, अर्थात् कोई **उपाधि** नहीं है। प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं। उपाधि के अभाव का निश्चय कैसे किया जाता है ? अर्थात् किस प्रमाण से किया जाता है ?

समा०—'धूम और अग्नि' के सम्बन्ध होने में किसी उपाधि के न होने का निश्चय 'प्रत्यक्षप्रमाण' से ही हो जाता है। नैयायिक लोग अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष-प्रमाण से होना बताते हैं। इस अभाव का प्रत्यक्ष करने में 'प्रत्यक्षप्रमाण' के दो सहायक रहते हैं—एक 'अनुपलब्धि' और दूसरा 'अनुकूल तर्क'। लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि कोई भी व्यक्ति जब सनाथ रहता है, तभी वह किसी काम को कर सकता है। उसी तरह 'अनुपलम्भ' (अनुपलब्धि) की सहायता से सनाथ हुआ 'प्रत्यक्षप्रमाण', उपाधि के अभाव का निश्चय (प्रत्यक्ष) कर पाता है।

शंका—अनुपलम्भ के सहित होकर भी 'प्रत्यक्ष', उपाधि के अभाव का ग्रहण करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? घट का उपलंभ होने पर 'घटाऽभाव' का निश्चय करना जैसे कठिन हो जाता है, उसी तरह 'उपाधि' का उपलंभ होने पर भी उपाधि के अभाव का निश्चय कर पाना कठिन है।

समा०—धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई 'उपाधि' उपलब्ध नहीं हो रहा है, यह तो 'अनुपलब्धि' है। अर्थात् 'उपाधि' का उपलंभ न होना ही उसकी (उपाधि की) **अनुपलब्धि** है। और 'यदि यहाँ उपलब्धि के योग्य कोई उपाधि होती तो अवश्य ही वह दिखलाई पड़ती'—यह **अनुकूल तर्क** है—'यदि अभविष्यत् ततोऽद्रक्ष्यत्, अतो दर्शनाभावात् नास्ति' इस प्रकार 'अनुपलब्धि' और 'तर्क' दोनों से युक्त हुए प्रत्यक्ष-प्रमाण से 'उपाधि के अभाव' का निश्चय हो जाता है। 'अभविष्यत्' में क्रियातिपत्ति अर्थ में 'लृङ्' लकार का प्रयोग किया गया है। जैसे अग्नि से व्याप्त हुए 'धूम' के होने पर 'अग्नि के अस्तित्व' का निश्चय हो ही जाता है, उसी तरह उपलब्धि के योग्य वस्तु का होना भी उपलंभ से व्याप्त है। तब 'व्याप्य' के रहने पर 'व्यापक' को रहना ही होगा। एवं च उपलब्धि के योग्य रहते हुए भी यदि उसका उपलंभ नहीं हो रहा है, तो वह नहीं है—ऐसा निश्चय किया जाता है। इस प्रकार 'तर्क और अनुपलब्धि' की सहायता से **प्रत्यक्षप्रमाण** के द्वारा 'उपाधि के अभाव' का निश्चय हो जाता है। एवं च 'उपाधि के अभावज्ञान' से जो संस्कार उत्पन्न हुए उनके सहित भूयः सहचारदर्शनजनितसंस्कार के साथ 'धूम और अग्नि' के साहचर्य को ग्रहण करने वाले 'प्रत्यक्षप्रमाण' से ही 'धूम और अग्नि' की व्याप्ति का ज्ञान होता है। अतः 'धूम और अग्नि का सम्बन्ध,' **स्वाभाविक** ही है, औपाधिक नहीं है। **'व्याप्ति'** और **'स्वाभाविक सम्बन्ध'** ये दोनों शब्द पर्याय हैं। केवल संज्ञाभेद है, संज्ञी का भेद नहीं है।

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम् । पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद् द्वितीयम् । ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति । अस्त्यत्र पर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति । तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम् ।

तदनेनेति । तो इस प्रकार से यानी व्यभिचाराऽदर्शनसहकृत-भूयः सहचारदर्शन से 'धूम' और 'अग्नि' की व्याप्ति (स्वाभाविक सम्बन्ध) का ज्ञान प्राप्त करते समय **रसोईघर** (पाकशाला) में जो **'धूम-ज्ञान'** होता है, वह **प्रथम ज्ञान** है । अर्थात् धूमरूप हेतु (लिङ्ग) का वह **प्रथम दर्शन** है । तदनन्तर 'पर्वत' आदि **'पक्ष'** में जो 'धूम' का ज्ञान होता है, वह **द्वितीय ज्ञान** (धूमरूप हेतु का दूसरी बार का दर्शन) है । तदनन्तर पूर्वनिश्चित धूम और अग्नि की **व्याप्ति** (जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है—'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः') **का** स्मरण करके उसी **पर्वत** में पुनः 'धूम का परामर्श' इस प्रकार करता है कि "यहाँ पर्वत पर अग्नि से व्याप्त धूम है" अर्थात् **'अग्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः'** इस आकार में **धूम** (लिङ्ग) का **परामर्श ज्ञान** होता है । 'लिङ्ग' का यह **परामर्शात्मक ज्ञान** ही **तृतीय ज्ञान** है । इसी ज्ञान को 'लिङ्ग-परामर्श' या 'अनुमान' कहते हैं । उसी से **'पर्वतो वह्निमान्'** यह **अनुमिति** होती है ।

माधुरी

इस लिङ्गपरामर्शात्मक **तृतीय ज्ञान** के होने में 'व्याप्तिज्ञान' कारण है । यदि पूर्व से 'व्याप्तिज्ञान' हुआ न रहे तो 'अग्निना व्याप्तो धूमः' यह **परामर्श** (अनुसन्धान) कैसे हो सकेगा ? क्योंकि किसी भी प्रतिपत्ति (ज्ञान) में 'विशेषणज्ञान' अंग होता है । इसलिये **'व्याप्तिं स्मृत्वा'** कह कर व्याप्तिस्मरण की आवश्यकता को बताया गया है ।

एतच्चावश्यमभ्युपेतव्यम् । अन्यथा यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येव स्यात् । इह तु कथमग्निना भवितव्यम् । तस्मादिहापि धूमोऽस्ति इति ज्ञानमन्वेषितव्यम् । अयमेव लिङ्गपरामर्शः । अनुमितिम्प्रति करणत्वाच्चानुमानम् । तस्मात्, अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते ।

एतच्चेति । इस 'लिङ्गपरामर्शात्मक तृतीय ज्ञान' को अवश्य मानना होगा । अन्यथा 'जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि होगी'—यह सामान्य ज्ञान ही हो पायेगा । किन्तु 'यहाँ पर्वत पर अग्नि होनी चाहिये' यह ज्ञान नहीं हो पायेगा । उसके उपपादनार्थ 'पर्वत में भी धूम है'—इस प्रकार का ज्ञान (लिङ्गपरामर्शात्मक ज्ञान) मानना ही पड़ेगा । इसी को (पर्वत पर व्याप्तिस्मृति के अनन्तर होने वाले धूम के परामर्शात्मक ज्ञान को) **'लिङ्गपरामर्श'** कहते हैं । और वही 'तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' इस 'अनुमिति ज्ञान' के प्रति 'करण' होता है । इसलिये उसे ही 'अनुमान' शब्द से कहते हैं । क्योंकि

इस 'लिङ्गपरामर्शरूप तृतीयज्ञान' से ही 'इस पर्वत पर अग्नि है' इस प्रकार का **अनुमितिज्ञान** हो पाता है।

माधुरी

न्यायकन्दलीकार श्रीधर ने जो कहा है कि '**प्रथम ज्ञान**' अर्थात् **लिङ्गदर्शन** तथा '**द्वितीय ज्ञान**' अर्थात् **व्याप्तिस्मरण** इन दो ज्ञानों से ही 'साध्यरूप अग्नि' का अनुमिति ज्ञान हो सकता है। तब इस **तृतीय ज्ञान** अर्थात् लिङ्गपरामर्शात्मक ज्ञान को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कन्दलीकार के उपर्युक्त कथन के खण्डनार्थ **ग्रन्थकार** ने 'एतच्च' से 'अन्वेषितव्यम्' तक के ग्रन्थ को उपस्थित किया है। इस ग्रन्थ के द्वारा **ग्रन्थकार** यह बताना चाह रहे हैं कि लिङ्गपरामर्शात्मक तृतीय ज्ञान' को न मान कर केवल दो ही ज्ञान अर्थात् '**व्याप्तिनिश्चय** और **पर्वत पर धूमदर्शन**' को अर्थात् '**व्याप्तिनिश्चय** और **व्याप्तिस्मरण**' इन दो ज्ञानों को ही मानेंगे तो 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' ऐसा **सामान्य ज्ञान** ही होगा। किन्तु जो 'अनुमितिज्ञान' **अभीष्ट** है, वह नहीं हो सकेगा। हमको तो 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार का **अनुमितिज्ञान** अभीष्ट है, वह नहीं होगा। यह अभीष्ट **अनुमितिज्ञान** तो तभी संभव हो सकेगा कि जब 'पर्वते अग्निना व्याप्तो धूमः अस्ति'— पर्वत पर अग्नि का व्याप्य धूम है—इस प्रकार का **विशिष्ट ज्ञान** होगा। अभिप्राय यह है कि अनुमेय जो साध्य (अग्नि) है, उसकी अनियत देश में प्रतीति न होकर नियत देश में ही प्रतीति हो। इसलिये **तृतीय ज्ञान** (लिङ्गपरामर्शात्मकज्ञान) को स्वीकार करना ही चाहिये। जब 'तृतीय ज्ञान' को स्वीकार करते हैं, तब '**पर्वतो वह्निमान्**' यह अनुमिति हो जाती है। एवं च यह **तृतीय ज्ञान**, 'अनुमितिज्ञान' का **करण** है और 'अनुमिति के करण' को **अनुमान** कहते हैं। इसलिये **लिङ्गपरामर्श** को ही 'अनुमान' कहते हैं।

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमापयति ?

सत्यम्। व्याप्तेरगृहीतत्वात्। गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्।

अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम्।

नैवम्। अग्नेर्दृष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात्। सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते। यथोक्तं भाष्यकृता। 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धे'[1]।

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुंसो यद्धूमज्ञानं, तत् कथं नाग्निमनुमापयति ? अस्ति चात्राग्निसन्देहः। साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तत्वात्।

सत्यम्। अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात्। धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति।

---

१. न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य १।१।१

यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं 'धूमवांश्चायम्' इति। तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत्। तदेवानुमानम्। स एव लिङ्गपरामर्शः। तेन व्यवस्थितमेतद्—लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति।

शंका—नन्विति। पाकशाला में जो प्रथम 'धूमज्ञान' होता है, वह अग्नि का अनुमापक क्यों नहीं होता ?

साम०—सत्यमिति। ठीक है। व्याप्ति का ग्रहण (ज्ञान) न हो पाने से प्रथमतः होने वाला धूमज्ञान, अग्नि का अनुमापक नहीं होता है। क्योंकि 'व्याप्ति' का ज्ञान होने पर ही अनुमिति का उदय होता है।

शंका—अथेति। व्याप्ति का निश्चय होने पर पाकशाला में ही अग्नि का अनुमान कर लिया जाय।

समा०—मैवमिति। ऐसा मत कहो। क्योंकि पाकशाला में 'अग्नि' का प्रत्यक्ष हो रहा है, इसलिये 'अग्नि' के बारे में सन्देह का उदय ही नहीं हो पाता और सन्दिग्ध वस्तु का ही अनुमान किया जाता है। जैसा कि भाष्यकार **वात्स्यायन** ने कहा है—"नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तु सन्दिग्धे।" अर्थात् न तो अज्ञात (अनुपलब्ध) और न निश्चित वस्तु के विषय में अनुमान (न्याय) प्रवृत्त होता है, किन्तु सन्दिग्ध वस्तु (अर्थ) के विषय में ही वह प्रवृत्त होता है।

शंका—अथेति। अच्छा तो पर्वत के पास पहुँचते ही मनुष्य को जो धूमज्ञान (द्वितीय लिङ्गज्ञान) हो रहा है, उसी से 'अग्नि' का अनुमान क्यों नहीं होता है ? क्योंकि यहाँ पर उसे अग्नि के बारे में सन्देह भी है। उसे यहाँ पर सन्देह होना उचित भी है, क्योंकि उस समय कोई साधक-बाधक प्रमाण भी नहीं है।

समा०—सत्यमिति। ठीक है। व्याप्तिज्ञान न रहने वाले व्यक्ति के तुल्य ही व्याप्ति का ग्रहण करके विस्मृत हो जाने वाले व्यक्ति को भी अनुमिति नहीं हुआ करती। इसलिये व्याप्तिस्मरण भी अनुमिति के होने में कारण माना जाता है इसलिये व्याप्तिस्मरण के पूर्व के द्वितीय धूमज्ञान, से अग्नि का अनुमान नहीं हो पाता।

धूमदर्शनादिति। धूम को देखकर उद्बुद्धसंस्कार वाला व्यक्ति धूम और अग्नि की पूर्वगृहीत व्याप्ति का इस प्रकार से स्मरण करता है—'यो यो धूमवान् स सोऽग्निवान् यथा महानस इति।' जो-जो धूमवान् होता है, वह-वह अग्निमान् होता है, जैसे—पाकशाला (महानस)। इसलिये पर्वत पर दूसरी बार (द्वितीय) धूम ज्ञान होने के बाद व्याप्ति का स्मरण करने पर 'धूमवाँश्चायं पर्वतः'—यह पर्वत भी धूमवान् है—इस प्रकार से जो 'धूम ज्ञान' हो रहा है, वह तृतीय लिङ्ग ज्ञान है। यह तृतीय लिङ्ग (धूम) ज्ञान ही 'अग्नि' का अनुमापक होता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई

भी अग्नि का अनुमापक नहीं है। अतः वही 'अनुमान' है। वही लिङ्गपरामर्श है। इससे निश्चित हो जाता है कि 'लिङ्गपरामर्श' ही अनुमान है।

माधुरी

प्रश्न— अनुमिति ज्ञान के लिये तृतीय ज्ञान तक जाने की आवश्यकता क्यों हैं? पाकशाला में 'धूम' का जो प्रथमज्ञान होता है उसी से अग्नि की अनुमिति क्यों नहीं होती?

उत्तर— आपका प्रश्न उचित है। पाकशाला में 'धूम' के **प्रथमदर्शन** के समय धूम अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान नहीं रहता, इसलिये अनुमिति को उत्पत्ति हो नहीं सकती। व्याप्ति का ज्ञान (ग्रहण) होने पर ही अनुमिति की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न— ठीक है, तो व्याप्ति के ग्रहण (ज्ञान) होने के बाद पाकशाला में ही अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिये।

उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि पाकशाला में अग्नि तो प्रत्यक्ष है। अतः वहाँ अग्नि के होने या न होने का सन्देह ही नहीं है। यह नियम है कि जो पदार्थ जहाँ सन्दिग्ध होता है वहीं पर उसकी अनुमिति होती है। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने (भाष्य १।१।१) कहा है कि सर्वथा अज्ञात (अनुपलब्ध) अर्थ के विषय में न्याय (अनुमान) की प्रवृत्ति नहीं होती, और न सर्वथा निर्णीत अर्थ में न्याय होता है, किन्तु सन्दिग्ध अर्थ में ही न्याय (अनुमान) की प्रवृत्ति होती है।

प्रश्न—अच्छा; यह बताइये कि जिस मनुष्य ने पहले पाकशाला में अग्नि और धूम की **व्याप्ति** का निश्चय कर लिया है, बाद में वही मनुष्य जब पर्वत के पास पहुँचता है और केवल 'धूम' को देखता है, तब उसे उस 'धूमदर्शनमात्र' से पर्वत पर **अग्नि** की अनुमिति क्यों नहीं होती? क्योंकि **व्याप्तिनिश्चय** के पश्चात् तथा **व्याप्तिस्मरण** से पूर्व का 'धूम ज्ञान' अर्थात् लिङ्ग ज्ञान है ही। और **साधक प्रमाण** (अग्नि का निश्चय) तथा **बाधक प्रमाण** (अग्नि के अभाव का निश्चय) न होने से यहाँ सन्देह का होना भी उचित है। अतः साध्यभूत 'अग्नि' का **सन्देह** भी है। इस रीति से पक्ष में 'साध्य' का **सन्देह**, 'हेतु' में साध्य की **व्याप्ति** का ज्ञान, और 'पक्ष' में **हेतु का दर्शन**—जबकि अनुमिति होने के ये तीनों कारण विद्यमान हैं। तब **अनुमिति** क्यों नहीं होती?

उत्तर—आप का सोचना और कहना उचित है, किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि जैसे व्याप्ति का ज्ञान (निश्चय) न रहने पर अनुमिति नहीं होती, उसी प्रकार व्याप्ति का विस्मरण हो जाने पर भी अनुमिति नहीं होती। अतः व्याप्तिस्मरण को भी अनुमिति के होने में कारण माना जाता है। इसलिये पर्वत पर जो धूमदर्शन हुआ, उससे पूर्वगृहीत व्याप्ति के संस्कार उद्‌बुद्ध हुए, तब 'यो यो धूमवान् स सोऽग्नि-मान् यथा महानसम्'—जो-जो धूम का आश्रय होता है, वह-वह अग्नि का आश्रय होता है, जैसे महानस। इस प्रकार धूम में अग्नि की व्याप्ति का स्मरण हो

आता है। इस रीति से पक्ष (पर्वत) पर धूमदर्शन, उस धूमदर्शन से पूर्वगृहीत व्याप्ति का स्मरण हो जाता है, तब पक्ष (पर्वत) में **'अग्निव्याप्यधूमवांश्चायम् पर्वतः'**—अग्नि से व्याप्त धूम वाला यह पर्वत है—इस प्रकार 'अग्निव्याप्यधूम' का जो **तृतीय ज्ञान** है, उसी से 'अग्नि' का अनुमान होता है, अर्थात् **लिङ्ग** (हेतु) का **तृतीय ज्ञान** ही **'अग्नि का'** अनुमापक होता है। अन्य ज्ञान नहीं। उस 'तृतीय ज्ञान' को ही **अनुमान** और **लिङ्गपरामर्श** कहते हैं। इस विवेचन से यह निश्चय हो जाता है कि लिङ्ग-परामर्श ही अनुमान है।

अनुमान प्रक्रिया—

अभी तक किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि 'अनुमिति' को उत्पन्न करने के लिये 'लिङ्ग का तृतीय ज्ञान' अत्यन्त आवश्यक है। अनुमिति के होने का मार्ग इस प्रकार है—(१) व्याप्तिग्रहण, (२) पक्षता (साध्यसन्देह), (३) व्याप्तिस्मरण, (४) पक्षधर्मता (हेतु की पक्ष में स्थिति)। अनुमिति के होने में ये चार आवश्यक अंग हैं।

(१) व्याप्तिग्रहण (व्याप्ति का निश्चय) के पूर्व महानस में होने वाला जो धूमज्ञान है, उसे **प्रथम** लिङ्गज्ञान कहते हैं। उससे अग्नि का अनुमान नहीं होता, क्योंकि उस समय तक व्याप्ति का निश्चय नहीं हो पाया है।

(२) व्याप्तिग्रहण (व्याप्तिनिश्चय) के बाद भी महानस में जो 'धूम' (लिङ्ग) ज्ञान हो रहा है, वह भी अग्नि का अनुमापक नहीं हो सकता, क्योंकि महानस में 'अग्नि' का सन्देह नहीं है, 'अग्नि' तो वहाँ प्रत्यक्ष है। जहाँ 'साध्य' (अनुमेय) की सत्ता (अस्तित्व) में सन्देह रहता है, वहीं अनुमान किया जाता है। महानस में 'अग्नि' की सत्ता सन्दिग्ध नहीं है।

(३) महानस में 'व्याप्तिनिश्चय' कर लेने के बाद जब वह पर्वत के समीप जाता है और 'धूम' (लिंग = हेतु) का दर्शन करता है, इसी 'धूमज्ञान' को द्वितीय-ज्ञान (लिङ्ग का द्वितीय ज्ञान) कहते हैं। इस 'द्वितीय ज्ञान' से भी अग्नि की अनुमिति नहीं होती। यद्यपि वहाँ पर्वत पर 'साध्य' की सत्ता का 'साधक या बाधक' प्रमाण न होने से 'साध्य' की सत्ता में सन्देह है, और 'धूमाग्नि को व्याप्ति' का निश्चय भी हो चुका है, तथापि 'पर्वत' के पास पहुँच कर 'व्याप्ति' का स्मरण नहीं हो पा रहा है इसलिये उस मनुष्य को **अनुमिति ज्ञान** नहीं हो रहा है। क्योंकि अनुमिति ज्ञान के होने में 'व्याप्तिस्मरण' भी निमित्त होता है। क्योंकि 'व्याप्तिग्रहण' होने पर भी बाद में यदि वह व्यक्ति उस 'गृहीत व्याप्ति' को भूल जाता है तो उसे अनुमिति नहीं हो पाती।

(४) 'व्याप्तिस्मृति' होने के बाद जब लिङ्ग का **तृतीय ज्ञान**—'अग्नि से व्याप्त

धूम इस पर्वत पर विद्यमान है'—होता है, तभी उसे अनुमिति होती है। इस 'तृतीय लिङ्ग ज्ञान' को ही **लिङ्गपरामर्श** कहते हैं, और इसी को **अनुमान** कहते हैं।

उपर्युक्त 'समस्त अंगों' को **दो अंगों** के अन्तर्गत कर सकते हैं—एक **व्याप्ति** और दूसरी **पक्षधर्मता**। अत एव 'परामर्श' का लक्षण 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' किया गया है। यहाँ 'व्याप्ति' शब्द से 'व्याप्तिग्रहण' और 'व्याप्तिस्मरण' दोनों को संगृहीत किया गया है। 'पक्षधर्मता' का अर्थ होगा कि 'व्याप्य' (धूम आदि) का **पक्ष** में होना। जिस स्थान पर 'साध्य' का 'सन्देह' होता है उसे **'पक्ष'** कहते हैं। इसलिये 'पक्ष' का लक्षण **'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः'** किया गया है। 'पक्ष' के भाव को **पक्षता** (साध्य-संशयरूपा) कहते हैं। **'पक्षधर्मता'** में 'पक्षता' का अन्तर्भाव हो गया है। **'अथ पर्वतगतमात्रस्य पुंसः'** इस पङ्क्ति में **'मात्र'** के संनिवेश से 'व्याप्तिस्मरण' की व्यावृत्ति बतायी गयी है। **'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्'** इस पङ्क्ति से 'लिङ्गपरामर्श' को **अनुमान** कहा गया है। क्योंकि वह 'अनुमिति' का करण है। **'करण'** उसे कहते हैं कि जिसके समनन्तर ही अविलम्ब (शीघ्रतर) फलोत्पत्ति होती है। इसीलिये 'करण' का लक्षण "फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्" किया गया है। इस लक्षण के अनुसार हम देखते हैं कि **'लिङ्गपरामर्श'** के अनन्तर ही तुरन्त **अनुमिति** होती है। इसलिये **'लिङ्गपरामर्श'** को अनुमिति प्रमा का **करण** कहा गया है। 'करण' का एक और अन्य लक्षण 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' भी किया जाता है। तदनुसार 'अनुमिति प्रमा' का करण **'व्याप्तिज्ञान'** होता है। और 'लिङ्गपरामर्श' को उसका **व्यापार** कहा जाता है, तथा 'अनुमिति' को **फल** माना जाता है। नैयायिक लोग 'अनुमिति' में **परामर्श** की अनिवार्यता को देखकर उसी को 'अनुमिति' के प्रति **करण** मानते हैं। 'व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान' के **विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध** से 'परामर्श' की उत्पत्ति होती है, इसलिये वह एक **वैशिष्ट ज्ञान** है। इसीलिये **परामर्श का** लक्षण 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' किया गया है।

किन्तु **भाट्टमीमांसक** तथा **वेदान्ती** अनुमितिज्ञान की उत्पत्ति में इस परामर्शात्मक-'विशिष्टज्ञान' का होना आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि इने गिने कुछ स्थलों में 'अनुमिति' के पहले भले ही परामर्श होता हो किन्तु 'सभी स्थलों' में ऐसी बात नहीं है। प्रायः सर्वत्र केवल 'व्याप्ति-ज्ञान' और 'पक्षधर्मता-ज्ञान' के होने पर ही अनुमिति हो जाया करती है। 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' की आवश्यकता वहाँ नहीं पड़ती। अतः नैयायिक लोग ऐसे स्थलों पर 'वैशिष्ट्यरहित व्याप्तिज्ञान' तथा 'पक्षधर्मताज्ञान' को ही 'अनुमिति का करण' स्वीकार कर लें। अन्यथा दो प्रकार की अनुमिति के लिये दो प्रकार के कार्य-कारणभाव को मानना पड़ेगा। अतः हमारे कथन के अनुसार 'वैशिष्ट्यरहित व्याप्तिज्ञान' तथा 'पक्षधर्मताज्ञान' को ही सर्वत्र अनुमिति

के प्रति कारण मानने में लाघव है। 'परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान' को कारणकोटि में रखने की आवश्यकता नहीं है।

इस पर **नैयायिक** कहते हैं कि अनुमिति के सभी स्थलों में 'लिङ्गपरामर्श' को ही करण कहना होगा। क्योंकि जहाँ पर 'वैशिष्टचरहित व्याप्तिज्ञान' तथा 'पक्षधर्मता-ज्ञान' से ही अनुमिति का होना आप समझ रहे हैं, वहाँ भी मध्य में अर्थात् व्यापार के रूप में 'परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान' तो अनिवार्यरूप में रहता ही है। उसकी अनिवार्य उपस्थिति रहने पर भी 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' की तरह **अनुमिति** की ओर 'मन' इतनी शीघ्रतम गति से चला जाता है कि 'मध्यस्थित परामर्श' का अनुभव होता हुआ-सा प्रतीत नहीं हो पाता।

तच्चानुमानं द्विविधम्। स्वार्थं परार्थं चेति। स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः। तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। ततोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम्।

तच्चेति। और वह **अनुमान** दो प्रकार का है—एक '**स्वार्थानुमान**' और दूसरा '**परार्थानुमान**'।

स्वार्थमिति। स्वयं के ज्ञान का हेतुभूत जो अनुमान होता है, उसे 'स्वार्थानुमान' कहते हैं। **तथाहीति**। जैसे—कोई आदमी 'महानस' (पाकशाला) आदि अनेक जगह जाकर 'धूम' और 'अग्नि' के सहचार को देखता है, और उससे 'धूम' में अग्नि की व्याप्ति का निश्चय करता है, उसके बाद जब कभी **पर्वत** के समीप पहुँचता है, तब उसे पर्वत पर 'अग्नि है या नहीं' इस प्रकार का **सन्देह** होता है, किन्तु जब वहाँ मूलस्थान से आकाश तक अविच्छिन्नरूप में फैले हुए धूम को देखता है, तब उस 'धूम' में पूर्व-ग्रहण की हुई 'अग्नि' की **व्याप्ति** के 'संस्कार' उद्बुद्ध हो उठते हैं। उन संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने से 'यत्र धूमः तत्र अग्निः'—जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है—इस आकार में 'धूम में अग्नि की व्याप्ति' का उसे **स्मरण** होता है, तदनन्तर पर्वत पर 'अग्निव्याप्य' के रूप में **धूम** दिखाई देता है। अर्थात् 'अग्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' यह ज्ञान होता है, तब 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार की 'पर्वत' पर **अग्नि** की अनुमिति होती है। इस प्रकार से 'अग्निरूप साध्य' की अनुमिति **उसी को** हो पाती है, जिसे 'पर्वतरूप पक्ष' में **हेतु** का 'साध्यव्याप्य' रूप से अर्थात् 'वह्निव्याप्यो धूमः' इस आकार में 'हेतु' (धूम) का निश्चय हुआ रहता है। यही **स्वार्थानुमान** का स्वरूप है। **अभिप्राय** यह है कि पर्वतगत अग्नि का सन्देह होने पर पर्वत से

निकलती हुई अविच्छिन्नमूला धूमरेखा को देखने पर पूर्वगृहीत धूमाग्निव्याप्ति के संस्कार जगते हैं। उस कारण धूमाग्नि की व्याप्ति का उसे स्मरण हो जाता है। तब 'इस पर्वत पर भी धूम है'—इस प्रकार से वह्निव्याप्य धूम का ज्ञान उसे होता है। यही 'धूम ज्ञान', **तृतीय ज्ञान** है। इससे वह स्वयं समझ लेता है कि इस **पर्वत पर** भी 'अग्नि' है। यही स्वार्थानुमान है।

माधुरी

मूलकार ने 'विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा कहा है। यह कहने से '**प्रथम लिङ्गज्ञान**' का स्वरूप समझ में आता है। उपाधि के अभाव का निश्चय और भूयो (बार-बार) दर्शनसहकृत जो प्रत्यक्ष होता है, वही विशिष्ट प्रत्यक्ष कहलाता है।

'पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः' इस कथन से साध्यविषयक सन्देह को प्रदर्शित कर '**पक्ष**' के स्वरूप को बताया गया है। पक्ष का लक्षण भी 'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः' किया गया है।

'धूमलेखां पश्यन्' यह कहकर **द्वितीय** लिङ्गज्ञान को बताया है।

'ततोऽत्रापि धूमोऽस्तीति' अर्थात् धूमः वह्निना व्याप्तोऽस्ति यानी 'वह्निव्याप्य-धूमवानयं पर्वतः'—यह **तृतीय लिङ्गज्ञान** है। यही परामर्श का स्वरूप है।

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा—'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः, तथा चायं, तस्मात्तथा, इति।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते। तेनैतत् परार्थानुमानम्।

यत्त्विति। जब कोई व्यक्ति स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके, उस अनुमित अग्नि का ज्ञान किसी अन्य मनुष्य को कराने के लिये पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग करता है, तब उसे परार्थानुमान कहते हैं। **तद्यथेति।** जैसे—(१) 'पर्वतोऽग्निमान्'—पर्वत अग्निमान् है—यह '**प्रतिज्ञा**' है। (२) 'धूमवत्त्वात्'—क्योंकि वह धूमवान् है—यह '**हेतु**' है। (३) जो-जो धूमवान् होता है, वह-वह अग्निमान् होता है, जैसे—महानस (रसोई-घर)—यह '**उदाहरण**' है। (४) यह (पर्वत) भी उसी प्रकार का (धूमवान्) है—यह **उपनय** है (इस उपनय को 'वह्निव्याप्य-धूमवाँश्चायम्' के आकार में कहा जाता है। इसी को संक्षेप में '**तथा चायम्**' के आकार में कह दिया है। इस उपनय में 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' दोनों की प्रतीति होती है। इसलिये इसे 'व्याप्ति-विशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञान' अथवा 'लिङ्गपरामर्श' या 'अनुमान' भी कहते हैं। अनुमान-वाक्य के—**प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय**—ये चार अवयव अभी तक बताये गये। अब '**निगमन**' रूप पाँचवाँ अवयव '**तस्मात् तथा**'—इसलिये वैसा, यानी अग्निमान्

है—इस प्रकार का **'अनुमिति'** रूप ज्ञान होता है। अनुमानवाक्य के इस पाँचवें अवयव को **'निगमन'** कहते हैं।

अनेनेति। इस रीति से प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों के सहित इस अनुमान वाक्य के द्वारा प्रतिपादित—(१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्तत्व, (४) अबाधितविषयत्व, (५) असत्प्रतिपक्षत्व—पाँच रूपों से युक्त हुए हेतु (लिङ्ग) से अन्य व्यक्ति भी अग्नि को जान जाता है। इसीलिये इसे **'परार्थानुमान'**—दूसरे का बोधक अनुमान—कहते हैं।

माधुरी

(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय, (५) निगमन—ये पाँच अवयव परार्थानुमान वाक्य के होते हैं। इस ग्रन्थ में पाँचों अवयवों के व्यावहारिक स्वरूप को बताया गया है। किन्तु उपनय (तथा चायम्) तथा निगमन (तस्मात्तथा) के केवल संक्षिप्त रूप ही बताये हैं। 'तथा चायम्' इस उपनय का स्पष्ट व्यावहारिक रूप (पर्वत, अग्नि, धूम के सन्दर्भ में) यह होगा—"वह्निव्याप्य-धूमवाँश्चायम्"। उसी प्रकार 'तस्मात्तथा' इस निगमन का स्पष्ट व्यावहारिकरूप (पर्वत, अग्नि, धूम के सन्दर्भ में) यह होगा—'तस्मात् पर्वतोऽग्निमान्'।

'पञ्चरूपोपपन्नात् लिङ्गात्'—पाँच रूपों से युक्त हुए लिङ्ग से—इस कथन का अभिप्राय यह है कि 'लिङ्ग' के पाँच रूप होते हैं—(१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्ति, (४) अबाधितविषयत्व, (५) असत्प्रतिपक्षत्व। इनको आगे बताया जायेगा।

परार्थानुमान के पाँच अवयवों के नामों में कुछ भिन्नता न्याय तथा वैशेषिक ग्रन्थों में पायी जाती है। न्यायसूत्र के अनुसार तो 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयननिगमनान्यवयवाः'—(न्या० सू० १।१।३२)। और वैशेषिक के अनुसार—'अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः'। (प्रशस्तपाद)—अर्थात् (१) प्रतिज्ञा, (२) अपदेश, (३) निदर्शन, (४) अनुसन्धान, (५) प्रत्याम्नाय—ये पाँच अवयव हैं।

उक्त अवयवों की संख्या में भी दार्शनिकों का मतभेद है। वात्स्यायन के पूर्ववर्ती प्राचीन नैयायिक दस अवयव मानते हैं। वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते—जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं, संशयव्युदासः इति'—(न्या० भा० १।१।३२)। भाष्यकार ने यह भी कह दिया है कि साधनवाक्य के दस अवयव नहीं होते, बल्कि प्रतिज्ञा आदि पाँच ही अवयव होते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) दृष्टान्त—ये तीन अवयव माने जाते हैं—(सांख्यका० ५)।

भाट्टमीमांसक भी तीन अवयव मानते हैं। (श्लो० वा० अनु० ५४),

प्राभाकरमीमांसक भी तीन अवयवों को ही स्वीकार करते हैं।

बौद्ध दार्शनिक 'उदाहरण और उपनय' इन दो अवयवों को ही मानते हैं।

जिन पाँच अवयव वाक्यों से परार्थानुमान सम्पन्न किया जाता है, उन पाँचों के समूह को 'न्याय' कहते हैं। और उस समूह के एक-एक वाक्य को 'न्यायावयव' कहते हैं। **'प्रतिज्ञावाक्य'**—यह पहला अवयव है। इस अवयववाक्य से पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। **'हेतुवाक्य'**—यह दूसरा अवयव है। इस अवयववाक्य से 'हेतु' में 'साध्य' की ज्ञापकता का बोध होता है। **'उदाहरणवाक्य'**—यह तीसरा अवयव है। इस अवयववाक्य से 'हेतु' में 'साध्य' की व्याप्ति का बोध होता है। **'उपनयवाक्य'**—यह चौथा अवयव है। इस अवयववाक्य से पक्ष में साध्यव्याप्य हेतु के संबंध का (पक्ष-धर्मता का) बोध होता है। **'निगमनवाक्य'**—यह पाँचवाँ अवयव है। इस अवयव-वाक्य से व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट हुए हेतु में अबाधितत्व और असत्प्रति-पक्षत्व के बोधन के साथ ही पक्ष में साध्य के संबंध का भी ज्ञान होता है।

जो 'हेतु' पक्षसत्त्व आदि पाँच रूपों से युक्त होता है, वही हेतु किसी 'साध्य' का अनुमापक हो सकता है। जिस व्यक्ति को अनुमापकताप्रयोजक पाँच रूप वाले लिङ्ग (हेतु) का ज्ञान रहता है, उसे 'व्याप्ति' और पक्षधर्मता का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। उस पञ्चरूपोपपन्न हेतु के ज्ञान होने मात्र से ही 'अग्नि' (साध्य) की अनुमिति हो जाती है। हेतु के पाँच रूपों में से जो 'पक्षसत्त्व' रूप है, उसका अर्थ है—पक्ष में रहना, यानी जहाँ पर (जिस धर्मी में) साध्य की अनुमिति करना है, उस धर्मी में 'हेतु' का रहना। उसी तरह 'हेतु' का जो **दूसरा रूप** 'सपक्ष-सत्व' है, उसका अर्थ है—'सपक्ष' में रहना, अर्थात् जिस जगह (जिस धर्मी में) साध्य (जैसे—अग्नि) के रहने का निश्चय हो, उस धर्मी में 'हेतु' का रहना। 'हेतु' का जो **तृतीय रूप** 'विपक्षाऽसत्त्व' है उसका अर्थ है कि 'विपक्ष' में न रहना अर्थात् जिस जगह (जिस धर्मी में) साध्य के अभाव का निश्चय हो, उस जगह हेतु का न रहना। 'हेतु' का जो **चतुर्थ रूप** 'अबाधितत्व' है, उसका अर्थ यह है कि 'पक्ष' में 'साध्य' का बाध न होना, अर्थात् जिस जगह पर (जिस धर्मी में) 'साध्य' की अनुमिति कराने के लिये 'हेतु' का प्रयोग किया गया है, उस धर्मी में साध्य के अभाव का निश्चय न होना। अब 'हेतु' का जो **पञ्चम रूप** 'असत्प्रतिपक्षत्व' है, उसका अर्थ यह है कि 'सत्प्रतिपक्ष' का न होना, अर्थात् जहाँ पर (जिस धर्मी में) 'साध्य' की अनुमिति कराने के लिये 'हेतु' का प्रयोग किया गया है, उस जगह में 'साध्याभाव-व्याप्य' का निश्चय न होना। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' कहने से यह समझ में आता है कि 'पर्वत' (पक्ष) पर 'अग्नि' (साध्य) की अनुमिति कराने के निमित्त 'धूम' (हेतु) का प्रयोग किया गया है। यह 'धूम' (हेतु) उक्त पाँच रूपों से युक्त है। जैसे—वह धूम हेतु, पक्ष (पर्वत) पर रहने के कारण अपने 'पक्षसत्त्व' रूप से युक्त

है, उसी तरह 'सपक्ष' (महानस) में 'धूम' रहता ही है, इसलिये अपने 'सपक्षसत्त्व' रूप से (धूम हेतु) युक्त है, और 'विपक्ष' (जलह्रद, तालाब आदि) में 'धूम हेतु' कभी भी नहीं रहता, इसलिये अपने 'विपक्षाऽसत्त्व' रूप से भी वह (धूम हेतु) युक्त है, तथा 'पक्ष' (पर्वत) में साध्य (अग्नि) का बाध नहीं है, इसलिये अपने 'अबाधितत्व' रूप से भी वह (धूम हेतु) युक्त है, और 'पक्ष' (पर्वत) में 'साध्याऽभाव-व्याप्य' यानी अग्न्यभाव व्याप्य (अग्निरूप साध्य के अभाव का साधक किसी अ य हेतु) का निश्चय भी नहीं है, इसलिये अपने 'असत्प्रतिपक्षत्व' रूप से भी वह (धूम-हेतु) युक्त है। इस प्रकार पञ्चरूपोपपन्नता 'धूम' हेतु में उपलब्ध होती है। इस कारण पञ्चरूपोपपन्न हुआ **'धूम'** हेतु पर्वतरूपी पक्ष पर अग्निरूप साध्य की अनुमिति कराने में समर्थ होता है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रतिज्ञा' आदि पाँच वाक्यों से किया जाने वाला अनुमान, परार्थ होता है, यानी दूसरे व्यक्ति के प्रयोजन को संपन्न कर देता है, इसलिये इसे **'परार्थनुमान'** कहते हैं।

अत्र पर्वतस्याग्निमत्त्वं साध्यं धूमवत्त्वं हेतुः। स चान्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्त्वात्। तथा हि यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वं यथा महानसे इत्यन्वयव्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भावात्। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

अत्रेति। इस परार्थानुमान (पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्) में 'पर्वत' पर 'वह्नि-मत्त्व—**साध्य** है यानी वह्निमत्त्व सिद्ध करना है। 'धूमवत्त्व' 'हेतु' है, और वह अन्वय-व्यतिरेकी हेतु है। क्योंकि 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' दोनों व्याप्तियों से वह (हेतु) युक्त है। अर्थात् उक्त हेतु में दोनों प्रकार की व्याप्तियाँ (अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति) घटित हुईं उपलब्ध होती हैं। और घटित हुई व्याप्ति के उदाहरण भी मिलते हैं। **तथा हीति।** जैसे—जहाँ-जहाँ धूमवत्त्व रहता है, वहाँ-वहाँ अग्निमत्त्व (वह्नि-मत्त्व) रहता है 'यत्र-यत्र धूमवत्त्वं, तत्र-तत्र अग्निमत्त्वं'। जैसे—'महानस' में—यथा महानसे—अन्वय-व्याप्ति है। क्योंकि महानस (पाकशाला) में धूम और अग्नि दोनों विद्यमान रहते हैं।

एवमिति। इसी प्रकार—'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रदे'—जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे—महाह्रद यानी जलाशय में—यह **'व्यतिरेकव्याप्ति'** है। क्योंकि महाह्रद में धूम और अग्नि का 'अभाव' (व्यतिरेक) रहता है। 'महानस' का उदाहरण देकर अन्वयव्याप्ति बतायी गयी है, और महाह्रद का उदाहरण देकर व्यतिरेक-व्याप्ति बतायी गयी है। इसीलिये 'धूमवत्त्व' हेतु को 'अन्वय-व्यतिरेकी' कहा गया है।

माधुरी

पञ्चावयव-वाक्य के प्रयोग में जो 'हेतु' का निर्देश किया जाता है, वह हेतु, 'अन्वयव्यतिरेकी', 'केवलव्यतिरेकी' और 'केवलान्वयी', भेद से तीन प्रकार का होता है। अतः हमे देखना होगा कि 'पर्वतः अग्निमान् धूमवत्त्वात्' इस अनुमानवाक्य में दिया गया 'हेतु' किस प्रकार का है। 'हेतु' के तीन प्रकार करने का आधार दो प्रकार की व्याप्ति होती है—(१) अन्वयव्याप्ति और (२) व्यतिरेकव्याप्ति। ऊपर प्रदर्शित किये गये अनुमान में दिये गये हेतु (धूमवत्त्वात्) में दोनों प्रकार की व्याप्ति बन जाती है। अतः 'धूमवत्त्वात्' हेतु 'अन्वय-व्यतिरेकी' है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस 'हेतु' में अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति (साहचर्यनियम अर्थात् अविनाभाव) का निश्चय रहता है, उस हेतु को अन्वय-व्यतिरेकी 'हेतु' कहते हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने 'अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्त्वात्' कह दिया है।

जब 'व्याप्ति' शब्द से 'व्याप्य-व्यापकभाव' विवक्षित रहता है तब 'अन्वयेन-व्यतिरेकेण च' यह 'तृतीया', इत्थंभाव के अर्थ में समझनी चाहिये। तब उससे यह निष्पन्न हुआ कि दो प्रकार का व्याप्य-व्यापकभाव होता है (१) अन्वयरूप और (२) व्यतिरेकरूप। भासर्वज्ञ अपने भूषणग्रन्थ में कहते हैं—'तत्र साधनसामान्यं व्याप्यं, साध्यसामान्यं व्यापकम् इत्ययं व्याप्य-व्यापकभावोऽन्वयः। साध्यसामान्याभावो व्याप्यः, साधनसामान्याभावो व्यापक इत्ययं व्याप्यव्यापकभावो व्यतिरेकः' इत्युभय-रूपव्याप्तेः सद्भावादित्यर्थः'।

और जब 'व्याप्ति' शब्द से साहचर्यनियम (अविनाभाव) विवक्षित रहता है, तब 'अन्वयेन-व्यतिरेकेण च' यह 'तृतीया', 'चक्षुषा रूपं पश्यति' की तरह 'करण' अर्थ में समझनी चाहिये। तब उससे यह अर्थ निष्पन्न होगा कि 'अन्वय-व्यतिरेक, व्याप्ति—निश्चयक होते हैं।

प्रस्तुत परार्थानुमान—'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्'—में 'अग्निमत्त्व' यानी 'अग्निसम्बन्ध' अर्थात् 'अग्नि' तो 'साध्य' है, और 'धूमवत्त्व' ('धूमसम्बन्ध') अर्थात् 'धूम' हेतु है। इस हेतु में अन्वयमूलक (साध्यसहचारमूलक) व्याप्ति उपलब्ध होती है, और व्यतिरेकमूलक (साध्याभाव में हेत्वभावसहचारमूलक) व्याप्ति भी उपलब्ध होती है। जैसे—महानस में धूम और अग्नि का सम्बन्ध रहने से 'जिस-जिस स्थान में धूमवत्त्व है, उस-उस स्थान में अग्निमत्त्व है' अर्थात् 'यत्र-यत्र धूमवत्त्वं तत्र-तत्र अग्निमत्त्वम्' इस प्रकार धूमवत्त्व (धूम) हेतु में साध्यसहचार का ज्ञान हो जाने से धूमवत्त्व (धूम) हेतु में अग्निमत्त्व (अग्निरूप साध्य) की अन्वयव्याप्ति का ज्ञान हो रहा है। उसी तरह जलह्रद (जलाशय) में अग्नि (साध्य) और धूम (हेतु) का अभाव रहने से 'जिस-जिस स्थान में अग्निमत्त्व (अग्नि) का अभाव है,

उस-उस स्थान में धूमवत्त्व (धूम) का अभाव है', अर्थात् 'यत्र-यत्र अग्निमत्त्वाऽभावः तत्र-तत्र धूमवत्त्वाऽभावः' इस प्रकार साध्याभाव में हेत्वभावसहचार का ज्ञान हो जाने से धूमवत्त्व हेतु में अग्निमत्त्वरूप साध्य की व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान भी हो रहा है।

अन्वयव्याप्ति का स्वरूप—

'हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्य' ही अन्वयव्याप्ति का स्वरूप है। अर्थात् हेतु का व्यापक जो साध्य, उसके अधिकरण में हेतु का रहना। यथा—जब हम धूमरूप हेतु से अग्निरूप साध्य का अनुमान करते हैं तो कहना होगा कि हेतु तो 'धूम' है। और वह (हेतु) हमेशा व्याप्य रहता है। उस हेतुरूप व्याप्य का व्यापक अग्निरूप साध्य है। साध्य हमेशा व्यापक रहता है। व्याप्य और व्यापक को पहचानने का सरल मार्ग यह है कि जो 'यत्र-यत्र' के साथ बोला जाता है उसे 'व्याप्य' और जो 'तत्र-तत्र' के साथ बोला जाय उसे 'व्यापक' कहते हैं। जैसे—'यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र अग्निः' यहाँ पर 'यत्र' के साथ 'धूम' बोला गया है, इसलिये 'धूम' व्याप्य है, और 'तत्र' के साथ 'अग्नि' को बताया गया है, इसलिये 'अग्नि' व्यापक है। एवञ्च 'व्याप्यरूप हेतु (धूम) का जो व्यापकरूप साध्य (अग्नि) है, उसके अधिकरण (महानस) में धूम (व्याप्य) रहता है'। उस रीति से 'धूम' के व्यापक 'अग्नि' के अधिकरण में 'धूम' का रहना ही 'धूम' में 'अग्नि' की अन्वयव्याप्ति है। इसी को 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः' कह कर बताया गया है।

व्यतिरेकव्याप्ति का स्वरूप—

'साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्व' ही व्यतिरेकव्याप्ति का स्वरूप है। अर्थात् साध्याभाव का व्यापक अभाव होगा—हेत्वभाव; यानी हेतु का अभाव, उसका प्रतियोगी हेतु ही होगा। इस प्रकार हेतु में 'साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्व' के आजाने से हेतु में व्यतिरेकव्याप्ति भी बन जाती है। यथा—धूम (हेतु) से अग्नि (साध्य) का अनुमान जब हम करते हैं तब साध्याभाव कहने से हम अग्नि का ही अभाव लेंगे, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में अग्नि ही साध्य है। उस साध्याऽभाव (अग्न्यभाव) का व्यापक अभाव होगा 'धूमाभाव', उसका प्रतियोगी होगा 'धूम'। इस रीति से व्याप्य-रूप अग्न्यभाव (साध्याभाव) का व्यापक जो हेत्वभाव (धूम का अभाव), उसका प्रतियोगित्व धूम (हेतु) में रहेगा। इसलिये धूम (हेतु) में अग्नि (साध्य) की व्यतिरेकव्याप्ति भी उपलब्ध हो रही है। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'धूमवत्त्वात्' (धूम) हेतु अन्वय-व्यतिरेकी है।

अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति में जो भेद है, वह यह कि अन्वयव्याप्ति में 'हेतु' व्याप्य होता है, और 'साध्य' व्यापक होता है। क्योंकि धूम और अग्नि में व्याप्य-व्यापक भाव संबंध है। तथा व्यतिरेक-व्याप्ति में 'साध्याभाव' व्याप्य होता है और 'हेत्वभाव'

व्यापक होता है। व्याप्य-व्यापक को पहचानने का तरीका ऊपर बता ही चुके हैं। 'अन्वयव्याप्ति' में जो 'अन्वय' शब्द है, उसका अर्थ 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्' अर्थात् एक के होने पर दूसरे का होना है। तात्पर्य यह है कि 'साधन के रहने पर साध्य की सत्ता का रहना' अन्वयव्याप्ति है। दो भाव पदार्थों की व्याप्ति को अन्वयव्याप्ति कहते हैं।

व्यतिरेक-व्याप्ति में 'व्यतिरेक' शब्द है, उसका अर्थ 'तदभावे तदभावः' अर्थात् एक के न होने पर दूसरे का न होना। तात्पर्य यह है कि 'साध्य' के अभाव में 'साधन' का अभाव रहना ही व्यतिरेकव्याप्ति है। जैसे—यत्र अग्निर्नास्ति (अग्नेः अभावः) तत्र धूमोऽपि नास्ति (धूमस्यापि अभावः) अर्थात् जहाँ अग्नि का अभाव है, वहाँ धूम का भी अभाव है।

व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः। अन्वयव्याप्तौ यद्व्याप्यं तदभावोऽत्र व्यापकः। यच्च व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति। तदुक्तम्—

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
तदभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः[1]॥

तदेवं धूमवत्त्वे हेतावन्वये व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनापि चरितार्थत्वात्। तत्राप्यन्वयस्यावश्यकत्वात् प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्धयतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात्।

तदेवं धूमवत्त्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी। एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवत्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने।

व्यतिरेकेति। व्यतिरेकव्याप्ति का प्रयोग इस रीति (क्रम) से किया जाता है— **'अन्वयव्याप्ति'** में जो **'व्याप्य'** होता है, उसका **'अभाव'**, **'व्यतिरेकव्याप्ति'** में **'व्यापक'** होता है। तथा **'अन्वयव्याप्ति'** में जो **'व्यापक'** होता है, उसका **'अभाव'** **'व्यतिरेकव्याप्ति'** में **'व्याप्य'** होता है।

जैसा कि **कुमारिलभट्टपाद** ने अपने **'श्लोकवार्तिक'** में कहा है—

व्याप्येति। भावपदार्थों (सत् पदार्थों) का (जैसे— धूम और अग्नि का) जैसा **'व्याप्य-व्यापकभाव'** (जैसे—**साधन** ('धूम') **'व्याप्य'** और साध्य (वह्नि) व्यापक)

---

१. कुमारिलभट्ट—श्लोकवार्तिक १२१–१२३।

होता है, उनके अभाव (जैसे--वह्न्यभाव और धूमाभाव) का उसके विपरीत व्याप्य-व्यापकभाव (वह्न्यभाव 'व्याप्य' धूमाभाव 'व्यापक') होता है।

अन्वय इति। **'अन्वयव्याप्ति'** में—'दो भावपदार्थों के व्याप्य-व्यापकभाव में 'साधन' (हेतु) **व्याप्य** और 'साध्य' **व्यापक** माना जाता है', किन्तु **'व्यतिरेकव्याप्ति'** में अन्यथा (भिन्न प्रकार से) होता है, अर्थात् 'साध्याभाव' (साध्य का अभाव) **व्याप्य** और 'साधनाभाव' (साधनात्यय = साधन का अभाव) व्यापक होता है।

व्याप्यस्येति। 'व्याप्ति' को जब बोलकर बताना हो तब 'व्याप्य' को पहले (यत्र-यत्र के साथ) और 'व्यापक' को उसके बाद (तत्र-तत्र के साथ) कहना चाहिये। इस प्रकार अच्छी तरह परीक्षित की गई व्याप्ति, तत्त्वतः स्पष्ट हो जाती है।

इस विवेचन से यह निश्चित होता है कि 'धूमवत्त्वात्' हेतु 'अन्वय-व्यतिरेकी' है। अब इस प्रसंग का उपसंहार करने के लिये 'तदेवं धूमवत्त्वे' यह ग्रन्थ उपस्थित कर रहे हैं।

तदेवमिति। इस प्रकार 'धूमवत्त्व' हेतु में 'अग्निमत्त्व' की अन्वयव्याप्ति भी है और व्यतिरेकव्याप्ति भी है।

शंका—'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो-यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात् तथा'—इस परार्थानुमानवाक्य के प्रयोग में केवल 'अन्वय-व्याप्ति' को ही क्यों बताया गया है?

उत्तर—वह इसलिये किया गया है कि दोनों में से किसी एक प्रकार की व्याप्ति का प्रदर्शन करने से भी काम चल सकता है। **तत्रापीति।** किसी अन्यतर व्याप्ति से काम चलने पर भी अन्वयव्याप्ति आवश्यक होने से उसी को प्रदर्शित किया गया है।

शंका—दो प्रकार की व्याप्तियों में से किसी एक व्याप्ति से भी काम चल सकता है, तो परार्थानुमानवाक्य में अन्वयव्याप्ति को ही क्यों कहा जाता है? व्यतिरेकव्याप्ति को ही क्यों नहीं प्रदर्शित किया जाता है?

उत्तर—उन दो व्याप्तियों में भी व्यतिरेकव्याप्ति की अपेक्षा अन्वयव्याप्ति सरल एवं सुबोध होती है, इसलिये अन्वयव्याप्ति को ही दिखाया गया है। और नीति भी यह है कि सरलमार्ग से सिद्ध होने वाले प्रयोजन (अर्थ) को वक्र (टेढे) मार्ग से नहीं करना चाहिये, अर्थात् उस प्रयोजन को वक्रमार्ग से साधन करना उचित नहीं है। जहाँ सरल (ऋजु) मार्ग से प्रयोजन की सिद्धि न होती हो, वहाँ तो वक्रमार्ग का आश्रय करना ही पड़ता है। एवं च व्यतिरेकव्याप्ति को न बताने का कारण यह कदापि नहीं है कि 'धूमवत्त्व' हेतु में 'अग्निमत्त्व' साध्य की व्यतिरेकव्याप्ति ही नहीं है। अर्थात् धूमवत्त्व हेतु में व्यतिरेकव्याप्ति का अभाव रहने से अन्वयव्याप्ति को बताया गया है, ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिये।

तदेवमिति। इस प्रकार अन्वयव्याप्ति में 'महानस' और व्यतिरेकव्याप्ति में 'महाह्रद' दोनों प्रकार के 'उदाहरण' प्राप्त होने से 'धूमवत्त्व' हेतु, 'अन्वय-व्यतिरेकी हेतु'

है। इसी प्रकार 'अनित्यत्वादि' साध्यों के अनुमापक 'कृतकत्वादि' अन्य हेतुओं को भी 'अन्वयव्यतिरेकी' हेतु ही समझना चाहिये। जैसे—'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, घटवत्'—शब्द अनित्य है, कृतक (कार्य) होने से, घट के समान। जहाँ 'कृतकत्व' होता है, वहाँ 'अनित्यत्व' भी होता है—यह अन्वय-व्याप्ति है। और जहाँ 'अनित्यत्वाऽभाव' होता है, वहाँ 'कृतकत्वाऽभाव' भी होता है, जैसे—आकाश (गगन) में।

माधुरी

यह व्यतिरेक-व्याप्ति है। 'यत् कृतकं तदनित्यम्' इस अन्वयव्याप्ति में 'कृतकत्व' हेतु 'व्याप्य' है। इसलिये उसका प्रयोग पहले किया जाता है। और पूर्वोक्त व्यतिरेकव्याप्ति के बनाने के क्रम के अनुसार व्यतिरेकव्याप्ति बनाते समय उन दोनों के साथ 'अभाव' शब्द को जोड़ देना चाहिये। और उनका व्याप्य-व्यापकभाव परिवर्तित कर देना चाहिये। अतः 'यत्र-यत्र अनित्यत्वाऽभावः तत्र-तत्र कृतकत्वाऽभावः' इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति बना लेनी चाहिये। उसके लिये उदाहरण 'गगन' उपलब्ध होता है। अतः 'कृतकत्व' हेतु में दोनों प्रकार की व्याप्ति रहती है, तथा उदाहरण भी मिल जाने से यह 'कृतकत्व' हेतु 'अन्वय-व्यतिरेकी' कहा जाता है। कहा भी है—

'व्यावृत्तं यद्विपक्षेभ्यः सपक्षेषु कृतान्वयम्।
व्याप्त्या पक्षे वर्तमानमन्वयव्यतिरेकि तत्॥'

एवं च 'शब्दः अनित्यः, कृतकत्वात्' इस अनुमान में 'कृतकत्व' हेतु 'अन्वय-व्यतिरेकी' है। क्योंकि जिस-जिस में 'कृतकत्व' रहता है, उस-उसमें 'अनित्यत्व' रहता है, जैसे—'घट' में उन दोनों का अन्वय है। उसी प्रकार जिसमें 'अनित्यत्व' का अभाव होता हैं, उसमें 'कृतकत्व' का भी अभाव होता है। जैसे—आकाश में अनित्यत्व और कृतकत्व दोनों का अभाव है। उसी तरह महानस में धूम और अग्नि का अन्वय तथा जलह्रद में अग्नि और धूम का व्यतिरेक है। अतः अग्नि के अनुमान में 'धूम' अन्वय-व्यतिरेकी हेतु है। उसी तरह 'घट' में कृतकत्व और अनित्यत्व का अन्वय, तथा आकाश में अनित्यत्व और कृतकत्व का व्यतिरेक है, अतः अनित्यत्व के अनुमान में कृतकत्व भी अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी। तद्यथा, सात्मकत्वे साध्ये प्राणादिमत्त्वं हेतुः। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्। यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति। यथा घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात्। तथाहि यत् प्राणादिमत् तत् सात्मकं यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव।

केवल-व्यतिरेकी हेतु—

कश्चिदिति। कोई हेतु 'केवलव्यतिरेकी' होता है। **तद्यथेति।** जैसे—'सात्मकत्व

(आत्मा से युक्त होना) को साध्य बनाने में 'प्राणादिमत्त्व' (प्राण आदि से युक्त होना) को 'हेतु' बनाते हैं। इस 'हेतु' से अनुमानप्रयोग इस प्रकार किया जाता है। **यथेति**। 'जीवच्छरीरं सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वात्'—जीवित शरीर सात्मक (आत्मा से युक्त) है, (प्रतिज्ञा), प्राणादिमान् होने से (हेतु), 'यत् सात्मकं न भवति, तत् प्राणादिमत् न भवति, यथा घटः'। **यदिति**। जो सात्मक नहीं होता, वह प्राणादिमान् नहीं होता, जैसे—घट (उदाहरण)। 'न चेदं जीवच्छरीरं तथा'—जीवित शरीर प्राणादिहीन नहीं होता (उपनय)। 'तस्मात् न तथा'—इसलिये यह वैसा (निरात्मक) भी नहीं है (निगमन)। **अत्रेति**। इस अनुमान में जीवित शरीर का सात्मक होना 'साध्य' है। और उसका प्राणादिमान् होना 'हेतु' है। **स चेति**। वह (हेतु) 'केवलव्यतिरेकी' है। क्योंकि उस हेतु में अन्वय-व्याप्ति नहीं है। **तथाहीति**। क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं दीख रहा है, जहाँ प्राणादिमत्त्व के साथ सात्मकत्व ज्ञात हो सके। अर्थात् 'जो प्राणादिमान् है, वह सात्मक है, यथा 'अमुक'—इस प्रकार 'अन्वय-व्याप्ति' का दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि उदाहरण बन सकने योग्य यच्च यावत् सभी जीवित शरीर 'पक्ष' के ही अन्तर्भूत हो गये हैं। अतः उनमें से किसी का भी दृष्टान्त देने में उपयोग नहीं किया जा सकता है।

माधुरी

पहले बताया गया है कि 'अन्वयव्यतिरेकी' हेतु पञ्चरूपोपपन्न यानी पाँचरूपों (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितविषयत्व, और असत्प्रतिपक्षत्व) से युक्त था, किन्तु 'केवलव्यतिरेकी हेतु' चार रूपों से युक्त अर्थात् 'चतूरूपोपपन्न' होता है। 'केवलव्यतिरेकी हेतु' वह होता है, जिसके साथ केवल 'व्यतिरेकव्याप्ति' बनती है, अन्वयव्याप्ति नहीं बन पाती। इसका उदाहरण—जीवच्छरीरं सात्मकम्' दिया गया है। इस अनुमानप्रयोग की आवश्यकता चार्वाक-सिद्धान्त के खण्डनार्थ हुई है, क्योंकि चार्वाक के मत में देह के अतिरिक्त आत्मा नहीं है। किन्तु उसके समक्ष देहातिरिक्त आत्मा की सिद्धि उक्त अनुमान से हो जाती है। उक्त अनुमान में 'जीवित् शरीरम्' **पक्ष** हैं उसमें 'सात्मकत्व' की सिद्धि करना है। यहाँ 'शरीर' में 'जीवित' विशेषण इसलिये दिया गया है कि 'मृतशरीर' में, न प्राणादिमत्त्व है और न सात्मकत्व है। यहाँ 'सात्मकत्व' साध्य है। सात्मकत्व का अर्थ है आत्मा से युक्त होना। अभिप्राय यह है कि 'जीवित शरीर में आत्मा का अस्तित्व' सिद्ध करना है। उसकी सिद्धि में 'प्राणादिमत्त्व' को (प्राण आदि से युक्त होना) 'हेतु' बनाया है। यहाँ 'आदि' शब्द से अपान, निमेष, उन्मेष, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार आदि का ग्रहण किया जाता है। क्योंकि तृतीयाध्याय के द्वितीय आह्निक में कणाद का सूत्र 'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि' है, इसमें उक्त प्राणादिक ही यहाँ विवक्षित हैं। चार्वाक के समक्ष उक्त अनुमान के द्वारा यह बताया जा रहा

है कि जीवितशरीर में प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष आदि देखने के कारण जीवितशरीर में आत्मा का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है। इसके स्पष्टीकरणार्थ व्यतिरेकव्याप्ति को दिखाया गया है, जो इस प्रकार है—"यत् सात्मकं नास्ति, तत् प्राणादिमत् नास्ति, यथा—घटः" अर्थात् 'यत्र सात्मकत्वाभावः तत्र प्राणादिमत्त्वाभावः' जैसे—'घट'। 'घट' में सात्मकत्वरूप साध्य का अभाव होने से प्राणादिमत्त्वरूप हेतु का भी अभाव दीखता है। इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति का यह उदाहरण दिखाया गया है।

इस व्यतिरेक-व्याप्ति की तरह 'प्राणादिमत्त्व' हेतु की 'सात्मकत्व' के साथ अन्वय-व्याप्ति को नहीं बताया जा सकता। क्योंकि अन्वयव्याप्ति का स्वरूप यह होगा—'यत्र-यत्र प्राणादिमत्त्वं, तत्र-तत्र सात्मकत्वम्'—जहाँ प्राणादिमत्त्व है वहाँ सात्मकत्व है—इस प्रकार व्याप्ति तभी कह पायेंगे, जब उसमें किसी उदाहरण (दृष्टान्त) को दिखा सकेंगे। उदाहरण के रूप में पशु-पक्षी-मनुष्य आदि किसी जीवित शरीर को ही दिखाना होगा। किन्तु इस प्रकार का कोई भी जीवित शरीर हम नहीं दिखा सकते। क्योंकि अन्वयव्याप्ति में 'उदाहरण' वही हो सकता है, जहाँ साध्य का अस्तित्व, निश्चित रहता है। किन्तु प्राणादिमत्त्व के होने से सात्मकत्व के होने का कोई उदाहरण नहीं मिल सकेगा। क्योंकि चार्वाक के मत में सभी पशु-पक्षी मनुष्यादि के जीवित शरीर, प्राणादिमान् रहते हुए भी सात्मक नहीं हुआ करते। अतः उन सभी में साध्य (सात्मकत्व) का सन्देह है, अतः वे सभी पक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं—'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः'—यह पक्ष का लक्षण है। अतः अन्वयव्याप्ति यहाँ नहीं बन पा रही है। यहाँ तो केवल व्यतिरेकव्याप्ति ही बनती है, इसलिये यह 'केवलव्यतिरेकी' हेतु है।

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्। विवाद-पदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यं, गन्धवत्त्वात्। यन्न पृथिवीति व्यवह्रियते तन्न गन्धवत् यथापः।

लक्षणमपीति—कोई लक्षण जब हेतु के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तब, वह भी 'केवलव्यतिरेकी' हेतु कहलाता है। **यथेति**। जैसे 'गन्धवत्त्व' 'पृथ्वी' का लक्षण है। अर्थात् 'गन्धवती पृथ्वी' यह पृथ्वी का लक्षण किया गया है। इस लक्षण को हेतु बनाकर यदि हम किसी विवादास्पद वस्तु को 'पृथ्वी' सिद्ध करना चाहते हैं तब हमें उस विवाद-विषयीभूत वस्तु को पृथ्वी शब्द से ही व्यवहार करना चाहिये क्योंकि उसमें गन्धवत्त्व है। जैसे 'विवादपदं पृथ्वीति व्यवहर्तव्यम्, गन्धवत्त्वात्।' **यन्नेति**। जहाँ 'पृथ्वी' शब्द से व्यवहार नहीं किया जाता है तब वहाँ 'गन्धवत्त्व' भी नहीं रहता है। यह व्यतिरेक व्याप्ति है। इस व्यतिरेक व्याप्ति के दृष्टान्त में 'यथा आपः' कह कर 'जल' को बताया गया है। किन्तु अन्वयव्याप्ति—'यत्र-यत्र गन्धवत्त्वं तत्र तत्र पृथ्वीति व्यवहारः'—यही की जा सकती है। इस व्याप्ति में उदाहरण के लिए किसी पार्थिव पदार्थ को ही दिया जा सकेगा, लेकिन सभी पार्थिव पदार्थ यहाँ 'पक्ष' कोटि में ही

उपस्थित हुए हैं। इसलिए उक्त अन्वयव्याप्ति में किसी दृष्टान्त (उदाहरण) की उपलब्धि न होने से यहाँ अन्वयव्याप्ति नहीं बतायी गयी है, क्योंकि व्यतिरेकव्याप्ति में ही उदाहरण का मिलना सम्भव है। इसलिए यहाँ पर प्रयुक्त 'हेतु' 'केवलव्यतिरेकी' कहा गया है।

माधुरी

'लक्षण' भी केवलव्यतिरेकी होता है। जैसे—'पृथिवी लक्षणं गन्धवत्त्वम्'—पृथिवी का लक्षण 'गन्ध' है। उसे 'हेतु' बनाकर विवादास्पद वस्तु को 'पृथिवी' कह कर व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि वह गन्धवती है। जहाँ 'पृथिवी' इस प्रकार का व्यवहार नहीं किया जाता, वहाँ वह वस्तु गन्धवाली नहीं होती, जैसे 'जल'। अतः 'पृथिवी' का 'गन्धवत्त्व' लक्षण केवलव्यतिरेकी है। उसी के बल पर 'पृथिवी' शब्द से व्यवहृत होने की योग्यता 'पृथिवी' में है। अभिप्राय यह है कि लक्षण (गन्धवत्त्व) को हेतु बता कर, विवादास्पद (संशयास्पद) वस्तु के रूप में 'पृथ्वी' को 'पक्ष' बना कर अनुमान प्रयोग इस प्रकार होता है—'विवादास्पदं पृथिवी इति व्यवहर्तव्यं गन्धवत्त्वात्'। 'गन्धवत्त्व' का अर्थ नैयायिकों की भाषा में 'गन्धात्यन्ताभावाऽनधिकरणत्वम्' कहा जाता है। इस अनुमानप्रयोग से यह स्पष्टतया समझ में आता है कि पृथिवी से अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें 'पृथ्वी' शब्द से व्यवहृत होने की 'योग्यता-रूप'-साध्य तथा 'गन्ध' रूप-हेतु का सहचार (सहभाव) संभव हो। अतः यहाँ पर अन्वयी दृष्टान्त को दिखाना संभव नहीं है। 'जल' में उक्त 'साध्य' और 'हेतु' का अन्वय नहीं है किन्तु उन दोनों का व्यतिरेक (अभाव) है। इसलिये 'यथा आपः'—जैसे—'जल'—इस व्यतिरेकी दृष्टान्त को बताया गया है। एवं च 'गन्धवत्त्वात्' यह हेतु (केवलव्यतिरेकी हेतु), 'पृथिवी' रूप पक्ष में 'पृथिवी' शब्द से व्यवहृत होने की योग्यतारूप' साध्य का साधक होता है। क्योंकि इसकी अन्वयव्याप्ति 'यत्र यत्र गन्धवत्त्वं तत्र तत्र पृथिवीति व्यवहारः' में यदि कोई दृष्टान्त (उदाहरण) देना चाहे तो उसे किसी पार्थिव पदार्थ को ही दृष्टान्त के रूप में देना होगा, परन्तु पार्थिव पदार्थ तो सब के सब यहाँ 'पक्ष' के रूप (कोटि) में रखे गये हैं। अतः अन्वय-व्याप्ति में कोई भी दृष्टान्त (उदाहरण) न मिलने से यहाँ अन्वयव्याप्ति नहीं है, और व्यतिरेकव्याप्ति में दृष्टान्त (उदाहरण) **'आपः'** जल के मिल जाने से यह **'गन्धवत्वात्'** हेतु **'केवलव्यतिरेकी'** हेतु कहा गया है।

प्रमाणलक्षणं वा। यथा प्रमाकरणत्वम्। तथाहि, प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्। यत्प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं यथा प्रत्यक्षाभासादि। न पुनस्तथेदं, तस्मान्न तथेति। न पुनरत्र यत्प्रमाकरणं तत्प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं यथाऽमुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति, प्रमाणमात्रस्य पक्षीकृतत्वात्।

प्रमाणलक्षणमिति । अथवा 'पृथिवी' के 'गन्धवत्त्व' लक्षण के समान **'प्रमाण'** का **'प्रमाकरणत्व'** लक्षण भी **'केवलव्यतिरेकी'** हेतु है। **'प्रमाकरणत्व'** रूप हेतु से अनुमान प्रयोग इस प्रकार होता है—**तथाहीति । प्रत्यक्ष, अनुमान** आदि विवादास्पद पदार्थ का **प्रमाण शब्द** से व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि वे सब (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) **प्रमा** के **करण** हैं । **यदिति ।** जिनका **प्रमाण शब्द** से व्यवहार नहीं किया जाता, वे **प्रमा** के **करण** नहीं होते हैं । यह **'व्यतिरेकव्याप्ति'** है । इसमें दृष्टान्त (उदाहरण) दिखाते हैं, जैसे—**प्रत्यक्षाभास** = मिथ्या-प्रत्यक्ष, **अनुमानाभास** = मिथ्या-अनुमान आदि । प्रत्यक्ष, अनुमान आदि, 'प्रमा' के अकरण नहीं हैं, अपि तु **'करण'** ही हैं । अतः वे **'प्रमाण'** शब्द से व्यवहार करने के अयोग्य नहीं हैं, अपि तु योग्य ही हैं ।' इसी बात को **'न पुनस्तथेदं, तस्मान्न तथा'** से बताया गया है । अर्थात् जहाँ पर 'यह प्रमाण है' ऐसा व्यवहार नहीं होता, इसलिये 'यह वैसा' यानी प्रमाकरणत्व के अभाव से युक्त भी नहीं है । यहाँ पर जो **प्रमाकरण** है, उसके लिये 'यह प्रमाण है'—यह व्यवहार करना चाहिये । किन्तु इस अनुमान में 'जैसे अमुक'—ऐसा अन्वय दृष्टान्त दिखा सके ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें 'प्रमाकरणत्व' रूप—**हेतु** और 'प्रमाण शब्द से व्यवहृत होने की योग्यता रूप'—**साध्य** रहते हों, क्योंकि ये 'दोनों धर्म', प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों में ही रहते हैं । और वे सभी प्रमाणमात्र 'पक्ष' कोटि में ही प्रविष्ट किये गये हैं । इसीलिये इस प्रदर्शित अनुमानप्रयोग में भी प्रत्यक्षाभास आदि व्यतिरेकी दृष्टान्त ही उपलब्ध होता है ।

माधुरी

पहले बताया गया है कि 'असाधारणधर्मो लक्षणम्' वस्तु के **असाधारण धर्म** को 'लक्षण' कहते हैं । 'लक्ष्य' तथा 'लक्षण' को साध्य और 'साधन' के रूप में रखा गया है । अतः **'लक्षण'** को भी एक प्रकार से 'हेतु' कहा गया है । यह 'लक्षण' रूप हेतु 'केवल-व्यतिरेकी' कहलाता है । क्योंकि यच्च यावत् 'लक्ष्य' पदार्थ 'पक्ष' के ही अन्तर्गत होते हैं । कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं बचा रहता, जो अन्वयव्याप्ति का उदाहरण बन सके । 'गन्धवती पृथिवी' कहने पर विवादास्पद सभी पार्थिव पदार्थों में यह पृथिवी है' यह **'व्यवहार'** ही साध्य है, दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि इसे 'पृथिवी' नाम से कहना चाहिये । अर्थात् पार्थिव परमाणु से लेकर भूतलपर्यन्त सभी पदार्थ 'पक्ष' के अन्तर्गत हो जाते हैं । दृष्टान्त के लिये तत्सजातीय पदार्थ ही होना चाहिये । परन्तु यहाँ तो पक्ष के अन्तर्गत हुए यच्च यावत् पार्थिव पदार्थों के अतिरिक्त ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं दिखाया जा सकता, जिसमें 'गन्धवत्त्व' होने से 'पृथिवी' शब्द का व्यवहार होता हो । इसलिये अन्वयव्याप्ति न होने से लक्षणात्मक हेतु को केवल-व्यतिरेकी हेतु बताया गया है । इसी प्रकार प्रमाण के लक्षण को भी केवलव्यतिरेकी

हेतु कहा गया है। इसमें भी 'यत् प्रमाकरणं तत् प्रमाणम् इति व्यवहर्तव्यम्, यथा अमुकः' कह कर किसी को दृष्टान्त में नहीं बताया जा सकता। क्योंकि सजातीय पदार्थ को ही दृष्टान्त के रूप में दिखाया जा सकता है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से ही कोई दृष्टान्त हो सकेगा, परन्तु वे सभी प्रमाण तो 'पक्ष' कोटि में ही प्रविष्ट हो गये हैं। अतः अन्वयव्याप्ति न बन पाने से इसे (लक्षण को) केवलव्यतिरेकी हेतु कहा गया है। इस 'केवलव्यतिरेकी' का लक्षण **तार्किकरक्षा** में यह किया गया है—

'असपक्षं विपक्षेभ्यो व्यावृत्तं पक्षभूमिषु।
सर्वासु वर्तमानं यत् केवलव्यतिरेकि तत् ॥'

अत्र च व्यवहारः साध्यो न तु प्रमाणत्वं, तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोरभेदेन साध्याभेददोषप्रसङ्गात्। तदेवं केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

शंका—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' में जैसे कहा जाता है, वैसे ही 'प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं प्रमाकरणत्वात्' कहना चाहिये।

समा०—अत्रेति। 'अत्र च व्यवहारः साध्य' इति।

यहाँ अर्थात् 'प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्' इस अनुमान में हमारा साध्य—**'व्यवहार'** है। 'प्रमाणत्व' हमारा 'साध्य' नहीं है। क्योंकि उस 'प्रमाणत्व, रूप **साध्य** का और 'प्रमाकरणत्व' रूप **हेतु** का अर्थात् दोनों का अभेद है, यानी दोनों परस्पर भिन्न नहीं हैं। अतः 'प्रमाणत्व' को साध्य कहने पर 'साध्याऽभेद' नाम का दोष होगा। इस प्रकार से 'केवलव्यतिरेकी हेतुओं' को दिखाया गया है।

माधुरी

'प्रत्यक्षादि प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्, प्रमाकरणत्वात्' इस प्रकार के लक्षणविषयक अनुमान में (अनुमान के प्रयोग में) और 'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्' इस प्रकार के अनुमान में (अनुमान के प्रयोग में) कुछ भिन्नता है। 'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यादि में तो पर्वत पर 'अग्नि' की सत्ता (अस्तित्व) सिद्ध करना है, अतः वहाँ **'अग्नि' साध्य** है। किन्तु 'प्रत्याक्षादि प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्' इत्यादि अनुमान में हम 'प्रमाणत्व' को सिद्ध करना नहीं चाह रहे हैं। अपि तु 'यह प्रमाण है' इस प्रकार का **'व्यवहार'** सिद्ध करना चाह रहे हैं। अर्थात् "प्रत्यक्ष, अनुमान आदि को 'प्रमाण' शब्द से कहना चाहिये"—यह बताना चाह रहे हैं। इसलिये यहाँ तो **'व्यवहार'** साध्य है, 'प्रमाणत्व' साध्य नहीं है। यही दोनों में अन्तर है। अगर यहाँ 'प्रमाणत्व' को साध्य मानेंगे तो 'साध्य और हेतु' दोनों में कोई भेद ही नहीं रहेगा। क्योंकि 'साध्य' होगा—'प्रमाणत्व',। उसका स्पष्ट अर्थ होगा—**'प्रमाकरणत्व'**, और 'हेतु' भी **'प्रमाकरणत्व'** ही है। तव 'प्रत्यक्षादि प्रमाकरणं (प्रमाणम्) प्रमाकरणत्वात्'—कहने से 'प्रमाकरण' (प्रमाण) अर्थात् 'प्रमाकरणत्व' रूप साध्य, और 'प्रमाकरणत्व' रूप हेतु दोनों में

कोई भेद ही नहीं रहेगा, क्योंकि दोनों एक ही हैं। किन्तु साध्य और हेतु का अभिन्न होना उचित नहीं है, क्योंकि 'साध्य' तो वह होता है, जो वर्तमान में सिद्ध नहीं है, उसे अभी सिद्ध करना है। किन्तु 'हेतु' अपने स्वरूप में 'सिद्ध' रहता है, इसीलिये वह 'साध्य' को सिद्ध करने में समर्थ हो पाता है। एवं च 'साध्याऽभेद यानी साध्य तथा हेतु का अभेद रहना दोष समझा जाता है। इसलिये 'प्रत्यक्षादि प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्' इस प्रकार के अनुमान प्रयोगों में 'व्यवहार' को ही 'साध्य' माना जाता है। एवं च जहाँ भी 'लक्षण' को 'केवलव्यतिरेकी' हेतु के रूप में बताया जाय, वहाँ पर 'व्यवहार' को ही साध्य कोटि में समझना चाहिये।

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्याभिधेयत्वं साध्यं प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति यथामुक इति व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः। स च प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति।

केवलान्वयी हेतु—

कश्चिदिति। **अन्वयव्यतिरेकी** (धूम, कृतकत्व आदि), और **केवलव्यतिरेकी** (गन्धवत्त्व, प्राणादिमत्त्व और प्रमाकरणत्व आदि) हेतुओं के अतिरिक्त कोई हेतु 'केवलान्वयी' भी होता है। **जैसे—'शब्दः अभिधेयः प्रमेयत्वात्'** = शब्द अभिधेय है, प्रमेय होने से। **'यत् प्रमेयं तत् अभिधेयं, यथा घटः'** = जो प्रमेय होता है, वह अभिधेय होता है, जैसे—घट। **'तथा चाऽयं तस्मात् तथेति।'** = यह 'शब्द' भी उसी प्रकार का 'प्रमेय' है, इसलिये यह भी वैसा अभिधेय है। इस प्रकार के अनुमान प्रयोग में **'शब्द'** तो **'पक्ष'** है। और **'अभिधेयत्व'** (शब्द का आभिधेय होना) **'साध्य'** है। तथा **'प्रमेयत्व'** (प्रमेय होना) **'हेतु'** है। यह **'हेतु'** 'केवलान्वयी' ही होता है। यह 'अन्वयव्यतिरेकी' अथवा 'केवलव्यतिरेकी' नहीं होता। क्योंकि इस अनुमान प्रयोग में 'अभिधेयत्व' रूप साध्य, और 'प्रमेयत्व' रूप हेतु के आश्रयभूत 'घट, पट' आदि 'अन्वयी दृष्टान्त' ही उपलब्ध हो सकते हैं। जो 'अभिधेय' नहीं होता है, वह 'प्रमेय' भी नहीं होता है, जैसे 'अमुक'—इस प्रकार का कोई पदार्थ, व्यतिरेकी दृष्टान्त के रूप में उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि सर्वत्र प्रमाणसिद्ध (प्रामाणिक) पदार्थ ही दृष्टान्त के रूप में दिखाया जाता है। जो प्रमाणसिद्ध पदार्थ रहता है, वह 'प्रमेय' भी तथा 'अभिधेय' भी होता है। एवं च किसी भी प्रामाणिक पदार्थ में 'अभिधेयत्व और 'प्रमेयत्व' का अभाव (व्यतिरेक) न रहने से 'व्यतिरेकव्याप्ति' का उपलब्ध होना संभव ही नहीं है। अतः 'अभिधेयत्व' रूप साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किये गये 'प्रमेयत्व' रूप हेतु को 'केवलान्वयी' ही कहना चाहिये।

माधुरी

"सर्वेषु केषुचिद्वापि सपक्षेषु समन्वयि ।
विपक्षशून्यं पक्षस्य व्यापकं केवलान्वयि ॥"

यह 'केवलान्वयी' का लक्षण है। उस 'हेतु' को केवलान्वयी 'हेतु' कहते हैं, जिसमें केवल 'अन्वयव्याप्ति' ही उपलब्ध होती है। 'व्यतिरेकव्याप्ति' कभी भी उसमें उपलब्ध नहीं होती। क्योंकि उसके लिए 'दृष्टान्त' ही नहीं दिखाया जा सकता। **जैसे—'शब्दः अभिधेयः प्रमेयत्वात्'।** 'अभिधेय' अर्थात् 'अभिधा' शक्तिसंज्ञक वृत्ति के द्वारा पदबोध्य होना, यानी 'अभिधा' का विषय अर्थात् शब्द का वाच्य होना अर्थात् 'शब्द' से कहने योग्य होना। इस 'अभिधेयत्व' साध्य की सिद्धि करने के लिये 'प्रमेयत्व' हेतु को उपस्थित किया गया है। 'प्रमेय' का अर्थ है—'प्रमा' का विषय होना। 'प्रमा' का अर्थ है—'यथार्थज्ञान'। जो 'प्रमेय' होता है, वह 'अभिधेय' भी होता है, अर्थात् 'यत्र-यत्र प्रमेयत्वं, तत्र-तत्र अभिधेयत्वम्' यह व्याप्ति उपलब्ध है। इसलिये 'घट-पट आदि' अन्वयी उदाहरण (दृष्टान्त) तो सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं। एवं च 'अभिधेयत्व' के व्याप्यभूत 'प्रमेयत्व' का आश्रय 'शब्द' है। इसीलिये 'प्रमेयत्व' के द्वारा ज्ञाप्यभूत 'अभिधेयत्व' का आश्रय वह (शब्द) होता है इस प्रकार का अनुमान प्रयोग किया जाता है। 'प्रमेयत्व' और 'अभिधेयत्व' में व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है। प्रमेयत्व और अभिधेयत्व की व्यतिरेकव्याप्ति यदि करेंगे यो उसे इस प्रकार बतायेंगे—"यद् 'अभिधेयं' न भवति तत् 'प्रमेयमपि' न भवति" अर्थात् यत्र अभिधेयत्वाभावः तत्र प्रमेयत्वाभावः। लेकिन इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है। क्योंकि 'दृष्टान्त' हमेशा प्रामाणिक (प्रमाणसिद्ध) पदार्थ ही हो सकता है। 'शशशृंग' जैसे अप्रामाणिक अर्थ (पदार्थ) को दृष्टान्त के रूप में नहीं रखा जाता है। 'प्रमेय' पदार्थ अर्थात् 'प्रमा' का विषय यानी प्रमाण से प्रमाणित पदार्थ ही शब्द का वाच्य (अभिधेय) हुआ करता है। अतः यहाँ पर 'प्रमेयत्वात्' हेतु 'केवलान्वयी' हेतु है।

शंका—उक्त हेतु का विपक्षाऽभाव कैसे हो सकता है? क्योंकि किसी प्रमाता अथवा वक्ता की दृष्टि से पर्वत-गुहा आदि के भीतर स्थित (रहने वाले) होने से प्रत्यक्ष न होने वाले (अप्रत्यक्ष प्रमेय) स्तंभ, कुंभ आदि पदार्थ, शब्द के वाच्य (अभिधेय) नहीं हो पाते हैं। अतः 'यत्र-यत्र प्रमेयत्वं तत्र-तत्र अभिधेयत्वम्' यह व्याप्ति कैसे हो सकती है?

समा०—आप का कहना ठीक है। कुछ पदार्थ, किसी प्रमाता या वक्ता की दृष्टि से 'अप्रमेय' या 'अनभिधेय' भले ही रहें, तथापि समस्त प्रमाता (प्रमातृमात्र) तथा समस्त वक्ताओं (अभिधातृमात्र) की दृष्टि से सभी पदार्थ 'प्रमेय' और 'अभिधेय' होते हैं। क्योंकि प्रमातृमात्र को प्रमाणमात्र की अपेक्षा रहती है। अतः अप्रमेय अर्थ

का होना असंभव ही है। इसलिये 'हेतु' का अविद्यमान विपक्षत्व जो बताया गया है, वह उचित ही है।

शंका—पुरुषमात्र की दृष्टि से अनभिधेय तथा अप्रमेय पदार्थ 'नर-विषाण' आदि हो सकते हैं। अतः उसे 'विपक्ष' माना जा सकता है। तब 'अविद्यमान विपक्ष' कहाँ रहा ?

समा०—सर्वत्र प्रामाणिक अर्थ ही दृष्टान्त हुआ करता है। आचार्यों ने अप्रामाणिक अर्थ को निषेधाऽनर्ह (निषेध के अयोग्य) बताया है—

"लब्धरूपं क्वचित् किञ्चित् तादृगेव निषिध्यते।
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः॥"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाँच रूपवाले हेतु से परार्थानुमान के द्वारा दूसरे को 'साध्य' की अनुमिति हुआ करती है।

इस प्रकार (१) अन्वयव्यतिरेकी, (२) केवलव्यतिरेकी, और (३) केवलान्वयी तीनों हेतुओं के स्वरूप को उदाहरण सहित बता चुके। इन तीन हेतुओं में से (१) 'अन्वयव्यतिरेकी हेतु' के पाँच रूप होते हैं। इनमें से किसी एक रूप की भी कमी रहने पर उसे असद् हेतु (हेतु की तरह भासित होने वाला अर्थात् हेत्वाभास) कहते हैं। अपने पाँचों रूपों से युक्त होने पर ही वह अपने 'साध्य' का साधन करने में समर्थ हो पाता है, अन्यथा नहीं। इस बात को अब बता रहे हैं—

एतेषां च अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि-हेतूनां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, न त्वेकेनापि रूपेण हीनः। तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्त्वं, सपक्षसत्त्वं, विपक्षव्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वं, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति।

एतानि तु पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यन्ते। तथाहि, धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः। पर्वते तस्य विद्यमानत्वात्। एवं सपक्षे सत्त्वम्, सपक्षे महानसे तद् विद्यत इत्यर्थः। एवं विपक्षान्महाह्रदात् व्यावृत्तिस्तत्र नास्तीत्यर्थः।

एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम्। तथाहि धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः साध्यधर्मस्तच्चाग्निमत्त्वम्, तत्केनापि प्रमाणेन न बाधितं न खण्डितमित्यर्थः।

एवमसत्प्रतिपक्षत्वम्—असन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः। तथाहि, साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्त्येवानुपलम्भात्।

तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते। तेनैतद् धूमवत्त्वमग्निमत्त्वस्य गमकम्, अग्निमत्त्वस्य साधकम्।

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोः पक्षधर्मताबलात् सिद्ध्यति। तथाहि, अनुमानस्य द्वे अङ्गे, व्याप्तिः पक्षधर्मता च। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य सिद्धिः। पक्षधर्मताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं विशेषः सिद्ध्यति। पर्वतधर्मेण, धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते। अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन।

अन्वयव्यतिरेकी हेतु की पञ्चरूपोपपन्नता—

परार्थानुमान के प्रसंग में व्याख्याकार चिन्नंभट्ट ने कहा है कि "अनेन हि वाक्येन प्रतिपादितार्थात् पञ्चरूपोपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते"। इससे स्पष्ट है कि **'अन्वयव्यतिरेकी हेतु'** पाँच रूपों से उपपन्न (युक्त) होता है। इसी को ग्रन्थकार स्वयं बता रहे हैं—

एतेषामिति। अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीनों हेतुओं में से जो 'अन्वयव्यतिरेकी हेतु' है, वह पाँच रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य की अनुमिति कराने में समर्थ होता है। किसी एक भी रूप से हीन रहने पर नहीं। वे पाँच रूप निम्नाङ्कित हैं—

(१) **पक्षसत्त्व** (हेतु का पक्ष में रहना), (२) **सपक्षसत्त्व** (हेतु का सपक्ष में रहना) (३) **विपक्षव्यावृत्ति** या विपक्षाऽसत्त्व (हेतु का विपक्ष में न रहना), (४) **अबाधितविषयत्व** (साध्य का बाधित न होना। यहाँ 'विषय' का अर्थ 'साध्य' है।), और (५) **असत्प्रतिपक्षत्व** (हेतु का प्रतिपक्षी हेतु न होना)।

एतानीति। ये पाँचों रूप 'धूमवत्त्व' आदि 'अन्वयव्यतिरेकी हेतु' में विद्यमान रहते हैं। जैसे—धूमवत्त्व (धूम, हेतु) पर्वत (पक्ष) पर विद्यमान है, इसलिये 'धूमवत्त्व' (हेतु), पक्ष (पर्वत) का धर्म है। अतः धूमवत्त्व (धूम) हेतु में पहला रूप **'पक्षसत्त्व'** उपलब्ध होता है। इसी प्रकार 'धूमवत्त्व' हेतु में 'सपक्षसत्त्व' भी उपलब्ध होता है। क्योंकि सपक्ष (महानस) में अर्थात् जहाँ साध्य (अग्नि) का निश्चय है। यानी सपक्ष जो महानस है, उसमें वह हेतु 'सत' (विद्यमान) है। यह **'सपक्षसत्त्व'**, हेतु का दूसरा रूप है। इसी प्रकार विपक्ष (जलह्रद = जलाशय) से उस हेतु की व्यावृत्ति भी है। अर्थात् जहाँ जलाशय आदि में साध्याऽभाव (अग्नि के अभाव) का निश्चय रहता है, उसे 'विपक्ष' कहते हैं। ऐसे विपक्ष में धूमवत्त्व हेतु नहीं रहता, यानी जलह्रद में धूमवत्त्व नहीं है। यह **विपक्षव्यावृत्ति** (विपक्षाऽसत्त्व), हेतु का तीसरा रूप है।

एवमबाधितेति। इसी प्रकार 'धूमवत्त्व हेतु' में 'अबाधितविषयत्व' भी है। क्योंकि 'धूमवत्त्व हेतु' का विषय है अग्निमत्त्वरूप साध्यात्मक धर्म, जो पक्ष (पर्वत) में किसी भी प्रमाण से बाधित (खण्डित) नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'धूमवत्त्व हेतु' का विषय अर्थात् साध्य जो 'अग्निमत्त्व' है, वह पर्वतरूप पक्ष में किसी प्रमाण से बाधित

(खण्डित) नहीं है, यानी पर्वत पर अग्नि का अभाव किसी प्रमाण से अवगत नहीं है। यह **अबाधितविषयत्व,** 'धूमवत्त्व हेतु' का चौथा रूप है।

एवमसदिति। इसी प्रकार 'धूमवत्त्व' हेतु में पाँचवां रूप (धर्म) 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। 'असत्प्रतिपक्ष' का अर्थ है कि 'अविद्यमान है प्रतिपक्ष जिस हेतु का'। इस प्रकार का 'असत्प्रतिपक्ष धूमवत्त्व हेतु' है। **तथाहीति।** क्योंकि 'साध्य' के साधनार्थ (साध्य की अनुमिति कराने के लिये) प्रयुक्त किये गये 'हेतु' से भिन्न कोई अन्य हेतु, जब साध्यविपरीत यानी साध्यविरोधी साध्याभाव के साधनार्थ (साध्याभाव की अनुमिति कराने के लिये) प्रयुक्त किया जाता है, तब उसे साध्य के साधक हेतु का प्रतिपक्षी कहते हैं। किन्तु यहाँ पर वह प्रतिपक्षी हेत्वन्तर अर्थात् साध्यविपरीत यानी साध्याभाव का साधक (अनुमापक) तुल्यबल प्रतिपक्षरूप अन्य हेतु (हेत्वन्तर), 'धूमवत्त्व' हेतु का नहीं है, यदि होता तो अवश्य उपलब्ध होता।

तदेवमिति। इस प्रकार 'धूमवत्त्व' हेतु में उक्त पाँचों रूप विद्यमान हैं। अतः 'धूमवत्त्व' हेतु 'अग्निमत्त्व' रूप साध्य का साधक (अनुमापक) शुद्ध हेतु (सद्धेतु) है।

अग्नेरिति। अग्नि का 'पक्षधर्मत्व' (पर्वतादिनिष्ठत्व) अर्थात् अग्नि की पक्षधर्मता, 'धूमवत्त्व' (धूमात्मक) हेतु की पक्षधर्मता के कारण सिद्ध होती है। क्योंकि पक्ष में हेतु के रहने से ही पक्ष में साध्य का अस्तित्व (रहना) प्रतीत होता है। अनुमान के दो अंग होते हैं—(१) व्याप्ति और (२) पक्षधर्मता। उनमें 'व्याप्ति' (यत्र धूमः तत्र अग्निः) से 'साध्यसामान्य' की सिद्धि होती है, और 'पक्षधर्मता' (पक्ष पर हेतु के अस्तित्व) से साध्य (अग्नि) विशेष (पक्ष पर साध्य के अस्तित्व) की सिद्धि होती है। अर्थात् 'इस पक्ष में यह साध्य है' ऐसी विशेषरूप से साध्य की सिद्धि होती है। पक्ष (पर्वत) धर्मरूप धूमवत्त्व से (पर्वत में विद्यमान धूमवत्त्व से) अग्नि भी पर्वत सम्बद्ध ही (साध्य भी पक्षसम्बद्ध ही) अनुमित (गृहीत) होता है। अन्यथा (पक्षधर्मता के अभाव में) अनुमान की कोई सार्थकता ही नहीं होगी, क्योंकि अग्निसामान्य (साध्यसामान्य) की सिद्धि तो व्याप्ति निश्चय ('यत्र धूमः तत्र अग्निः' इस निश्चय) से ही हो गई है, तो अनुमान करना व्यर्थ ही होगा। तर्कभाषा के व्याख्याकार **चिन्नंभट्ट** भी कहते हैं—

"विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात्।
तद्द्वयानुपपन्नत्वादनुमानकथा कुतः॥"

बौद्धन्याय ने साध्यसामान्य को ही अनुमान का विषय बताया है, साध्यविशेष को नहीं।

माधुरी

अन्वयव्यतिरेकी हेतु के जो पाँच रूप बताये गये हैं, उनमें 'पक्ष', 'सपक्ष', और 'विपक्ष' शब्दों का प्रयोग किया गया है। अतः उनके स्वरूप को जानना आवश्यक

है । इसलिये उनके क्रमशः लक्षण ये हैं—(१) 'संदिग्धसाध्यवान् पक्षः'—यह 'पक्ष' का लक्षण है । (२) 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः'—यह 'सपक्ष' का लक्षण है । (३) 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः'—यह 'विपक्ष' का लक्षण है ।

अभिप्राय यह है—(१) जिसमें साध्य (अग्नि आदि), सन्दिग्ध अवस्था में हो उसे 'पक्ष' कहते हैं जैसे—'पर्वतोऽग्निमान्' । इस प्रकार पर्वत पर धूम से अग्नि का अनुमान करने पर 'पर्वत' को 'पक्ष' कहा जाता है । क्योंकि अनुमान करने के पूर्व पर्वत पर अग्नि का (साध्य का) होना सन्दिग्ध है । एवं च सन्दिग्धसाध्यवान् होने से 'पर्वत' को 'पक्ष' कहा जाता है । और 'धूम' रूप हेतु उस पर्वत पर रहता है । यह प्रथमरूप अर्थात् 'पक्षसत्त्व' (पक्षनिष्ठत्व = पक्षवृत्तित्व) उस हेतु (धूम) का समझना चाहिये ।

(२) **सपक्ष**—जिसमें साध्य (अग्नि आदि) का अस्तित्व निश्चित हो—'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः' यह सपक्ष का लक्षण है । अर्थात् जिस धर्मी में साध्यात्मक धर्म का निश्चय हो उसे सपक्ष कहते हैं । जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस प्रकार वह्नि के अनुमान में 'महानस' = रसोईघर 'सपक्ष' है, क्योंकि उसमें वह्नि (साध्य) का अस्तित्व निश्चित है । इस सपक्ष (महानस) में धूम (हेतु) रहता है । यह उसका (हेतु का) 'सपक्षसत्त्व' नाम का दूसरा रूप समझना चाहिये ।

(३) **विपक्ष**—'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' । जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो उसको 'विपक्ष' कहते हैं । जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस अनुमान में 'महाह्रद', विपक्ष है । क्योंकि महाह्रद (जलाशय) में वह्नि (साध्य) का अभाव निश्चित रहता है । इसलिये महाह्रद 'विपक्ष' है । उस महाह्रदरूप विपक्ष में धूम (हेतु) भी नहीं रहता है । यह उस धूमवत्त्व (धूम) हेतु का तीसरा रूप 'विपक्षव्यावृत्तत्व' समझना चाहिये ।

(४) **अबाधितविषयत्व**—अर्थात् जिसका विषय (साध्य) बाधित न हो । बाधित विषय का लक्षण यह बताया गया है कि 'प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतु-र्बाधितविषयः ।' जिस हेतु के विषय (साध्य) का अभाव अन्य किसी प्रमाणान्तर (दूसरे प्रबल प्रमाण) से निश्चित होता हो, उस हेतु को 'बाधितविषय' कहते हैं । जैसे कोई अनुमान कर दे कि 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात् घटवत्'—वह्नि, अनुष्ण है (उष्ण नहीं है), कृतक होने से, 'घट' के समान । जैसे 'घट' कृतक (जन्य) है, और अनुष्ण (शीतल) है, उसी प्रकार 'वह्नि' (अग्नि) भी जन्य होने से घट के समान अनुष्ण है । इस अनुमान में 'अग्नि' पक्ष है, उसमें 'अनुष्णत्व' साध्य है और 'कृतकत्व' हेतु है । इस 'कृतकत्व' हेतु का जो साध्य (अनुष्णत्व) है, उसका अभाव (उष्णत्व), वह्नि (अग्नि) में स्पर्श द्वारा 'त्वाचप्रत्यक्ष' प्रमाण से सिद्ध है । इसलिये 'त्वाचप्रत्यक्ष' रूप जो प्रमाणान्तर है, उससे 'कृतकत्वात्' हेतु का विषय (साध्य) जो

'अनुष्णत्व' है, उसका अभावरूप 'उष्णत्व', अग्नि में पूर्वसिद्ध (पूर्वनिश्चित) होने से यह 'बाधितविषय' नाम का हेत्वाभास है।

इसी प्रकार यदि 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस वह्निविषयक अनुमान में प्रयुक्त हुए 'धूमवत्त्व' हेतु के साध्यरूप वह्नि का पर्वतरूप पक्ष में किसी अन्य प्रबल प्रमाण से अभाव निश्चित होता तो 'धूमवत्त्व' हेतु को 'बाधितविषय' कहा जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये 'धूमवत्त्व' हेतु अबाधित विषय है। क्योंकि 'धूमवत्त्व' हेतु का विषय (साध्य) जो 'वह्निमत्त्व' है वह पर्वतरूप पक्ष में किसी प्रमाण से बाधित नहीं हो रहा है। यानी पर्वत पर वह्नि का अभाव किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं है। अतः यह 'धूमवत्त्व' हेतु 'अबाधित-विषय' है। एवंच 'धूमवत्त्व' हेतु का यह 'अबाधित-विषयत्व' नाम का चौथा रूप है।

इसी प्रकार 'धूमवत्त्व' हेतु में पाँचवाँ धर्म, 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाले 'हेतु' को 'प्रतिपक्ष' कहते हैं। जैसे—किसी ने अनुमान किया कि 'शब्दः अनित्यः नित्यधर्मरहितत्वात्'—शब्द, अनित्य है, नित्यधर्म से रहित होने के कारण—यहाँ पर 'अनित्यत्व' साध्य है, इस साध्य के विपरीत है 'नित्यत्व'। इस 'नित्यत्व' को सिद्ध करने के लिये दूसरा हेतु भी दिया जा सकता है—'शब्दः, नित्यः, अनित्यधर्मरहितत्वात्'। एवं च दोनों हेतु एक दूसरे के विपरीत अर्थ को सिद्ध करते हैं। ये दोनों हेतु परस्पर एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। इसलिये दोनों हेतुओं को 'सत्प्रतिपक्ष' कह सकते हैं। ऐसे सत्प्रतिपक्षित हेतुओं से साध्य का निश्चय नहीं किया जाता है। पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' में धूमवत्त्व हेतु का साध्य जो वह्निमत्त्व है, उसके विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु नहीं है। अतः धूमवत्त्व हेतु असत्प्रतिपक्ष है। एवं च 'धूमवत्त्व' इस अन्वयव्यतिरेकी हेतु का यह 'असत्प्रतिपक्षत्व' पाँचवाँ रूप है। इस रीति से 'धूमवत्त्व' हेतु, उक्त पाँचों रूपों से उपपन्न (युक्त) है। इस कारण वह अपने वह्निमत्त्व रूप साध्य को निश्चत करने में पूर्णतया समर्थ है, इसलिये वह धूमवत्त्व हेतु शुद्ध हेतु (सद्धेतु) है।

यस्त्वन्योऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्धेतुः। अन्यथा हेत्वाभासः, अहेतुरिति यावत्।

यस्त्विति। 'धूमवत्त्वात्' हेतु के अतिरिक्त भी जो कोई अन्वय-व्यतिरेकी हेतु होते हैं, वे सभी 'धूमवत्त्व = धूम' के समान पाँच रूपों से युक्त होने पर ही सद्धेतु कहलाते हैं। अन्यथा = पाँचरूपों में से किसी एक रूप से भी हीन होता है तो वह **'हेत्वाभास'** यानी **'अहेतु'** ही होता है। अर्थात् वह हेतु के जैसा प्रतीत होता है। **हेतुवत् आभासमान** होने से ही उसे **हेत्वाभास** कहते हैं। वह हेतु अशुद्ध होने से ही **'अहेतु'** कहा गया है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने पञ्चरूपोपपन्न होने पर ही अन्वयव्यतिरेकी हेतु को सद्धेतु कहा है। प्रशस्तपाद ने 'हेतु' के तीन ही रूप बताये हैं।

"यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्"॥ जो, अनुमेय (साध्य) से सम्बद्ध है, साध्य से युक्त में (सपक्ष में) प्रसिद्ध है और साध्य के अभाव (विपक्ष) में नहीं है, ऐसा लिङ्ग (हेतु), साध्य का अनुमापक होता है। इसके अनुसार हेतु के तीन रूप (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, और विपक्षासत्त्व) होते हैं। बौद्धन्याय के अनुसार भी हेतु के तीन ही रूप बताये जाते हैं। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में 'त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चाऽसत्त्वमेव निश्चितम्'—(न्या० बि० २।५)। दिङ्नाग ने भी प्रमाणसमुच्चय में लिङ्ग के तीन ही रूप बताये हैं। संख्यकारिका की व्याख्या माठरवृत्ति में भी लिङ्ग के तीन ही रूप बताये गये हैं। एवं च वैशेषिक, बौद्ध, और सांख्य इन तीनों ने हेतु के तीन रूप ही माने हैं। किन्तु नैयायिकों ने उक्त तीन रूपों के साथ दो रूप (अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) और अधिक जोड़ कर हेतु के पाँच रूप बताये हैं।

केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति। तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावात्।

केवलान्वयीति। दूसरा जो **'केवलान्वयी'** हेतु है, उसके चार रूप हैं। उक्त पाँच रूपों में से तीसरा रूप जो **'विपक्षव्यावृत्ति'** है, उसमें वह नहीं रहता है। क्योंकि वहाँ पर उसका कोई विपक्ष ही नहीं है।

माधुरी

यह **केवलान्वयी हेतु** 'विपक्षव्यावृत्ति' वाले रूप को छोड़कर अन्य चार रूपों से युक्त होने पर ही अपने 'साध्य' का साधक बन पाता है। केवलान्वयी हेतु में विपक्ष व्यावृत्ति नाम का तीसरा रूप नहीं हुआ करता, क्योंकि 'केवलान्वयी हेतु' का जो साध्य होता है, उसका सर्वत्र सद्‌भाव (अस्तित्व) रहता है। इसलिये केवलान्वयी हेतु का कोई 'विपक्ष' नहीं है। इस कारण इस हेतु में 'विपक्षव्यावृत्ति' नामक तीसरे रूप से युक्त होने का कोई अवसर ही नहीं हैं। जैसे—'घटः, अभिधेयः, प्रमेयत्वात्' इस अनुमान में 'प्रमेयत्वात्' हेतु 'केवलान्वयी' है। यहाँ पर 'घट' पक्ष है, और जितने भी अभिधेय (शब्द वाच्य) पदार्थ हैं, वे सभी 'सपक्ष' हैं। उनमें 'प्रमेयत्व' हेतु रहता है। इस कारण यहाँ 'पक्षसत्त्व' तथा 'सपक्षसत्त्व' ये दो रूप हेतु में हैं। इस हेतु के 'साध्य' (अभिधेयत्व) का किसी प्रमाण से बाध भी नहीं होता है। अतः इस हेतु में 'अबाधितविषयत्व' भी है। एवं 'साध्य' के अभाव का साधक कोई अन्य हेतु भी नहीं है। इसलिए उक्त हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। इस रीति से 'प्रमेयत्व' रूप केवलान्वयी हेतु में चार रूप विद्यमान हैं। यहाँ 'विपक्षव्यावृत्ति वाला रूप' नहीं है।

यहाँ पर 'विपक्ष' तो वही होगा, जहाँ 'अभिधेयत्व' रूप साध्य के अभाव का निश्चय हो, क्योंकि 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः 'यह विपक्ष का लक्षण है। लेकिन ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है, जो 'अभिधेय' न हो। सभी यच्च यावत् पदार्थ—अभिधेय ही हैं। ऐसी स्थिति में जब कि कोई 'विपक्ष' ही नहीं है, तब 'विपक्षाद् व्यावृत्तिः'—अर्थात् विपक्ष में न रहना, यह कहने की कोई बात ही नहीं उठती। एवं च केवलान्वयी हेतु अपने चार रूपों से समन्वित होकर ही अपने 'साध्य' की अनुमिति कराता है।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव। तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति, सपक्षाभावात्।

केवलव्यतिरेकीति। तीसरा जो '**केवलव्यतिरेकी हेतु**' है, वह भी चार रूपों से युक्त होता है। वह '**सपक्ष**' में विद्यमान नहीं रहता, क्योंकि वहाँ '**सपक्ष**' है ही नहीं।

माधुरी

केवलव्यतिरेकी हेतु में '**सपक्षसत्त्व**' नामका दूसरा रूप नहीं रहता। इस हेतु का जो 'साध्य' होता है, वह अनुमान से पूर्व कहीं सिद्ध नहीं है, क्योंकि अनुमान से पूर्व, 'पक्ष' में तो वह सन्दिग्ध ही रहता है, और 'पक्ष' से भिन्न स्थल में उसका बाध होने से वहाँ उसके सिद्ध रहने की कोई बात ही नहीं है। इसलिये **केवलव्यतिरेकी** हेतु का कोई 'सपक्ष' न होने से उस हेतु में '**सपक्षसत्त्व**' रूप नहीं है।

के पुनः पक्ष-सपक्ष-विपक्षाः? उच्यन्ते। सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः। यथा धूमानुमाने पर्वतः पक्षः। सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी। यथा महानसो धूमानुमाने। विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी। यथा तत्रैव महाह्रद इति। तदेवमन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

प्रश्न—के पुनरिति। ऊपर किये गये विवेचन में '**पक्ष, सपक्ष और विपक्ष**' शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, तो '**पक्ष, सपक्ष और विपक्ष**' किसे कहते हैं?

उत्तर—उच्यन्त इति। बताते हैं—**सन्दिग्ध इति।** जिस 'धर्मी' में '**साध्य**' रूप धर्म **सन्दिग्ध** होता है, उस '**धर्मी**' को **पक्ष** कहते हैं। जैसे—धूमहेतुक अग्नि के अनुमान में (धूम से अग्नि का अनुमान करने पर) '**पर्वत**' **पक्ष** होता है। क्योंकि अनुमान करने के पूर्व '**पर्वत**' पर '**अग्नि**' का **अस्तित्व सन्दिग्ध है**। अतः '**पर्वत**' सन्दिग्ध साध्यवान् है, इस कारण '**पर्वत**' **पक्ष** है।

सपक्षस्त्विति। जिस धर्मी में '**साध्य**' रूप धर्म, **निश्चित** होता है, उसे '**सपक्ष**' कहते हैं। जैसे—धूमहेतुक अग्नि के अनुमान में '**महानस**' (रसोई घर) '**सपक्ष**' है, क्योंकि अनुमान करने के पूर्व भी **साध्य** (अग्नि) का निश्चय रहता है।

विपक्षस्त्विति। जिस '**धर्मी**' में **साध्य का अभाव** निश्चित रहता है, उसे '**विपक्ष**'

कहते हैं। जैसे—उसी धूमहेतुक अनुमान में **'महाह्रद'**, **विपक्ष** है, क्योंकि अनुमान करने के पूर्व भी **साध्य** (अग्नि) की **अविद्यमानता** निश्चित रहती है। यानी **साध्य का अभाव** निश्चित रहता है।

तदेवमिति। इस प्रकार (१) **अन्वयव्यतिरेकी** (२) **केवलान्वयी** और (३) **केवलव्यतिरेकी** तीनों प्रकार के हेतुओं को प्रदर्शित किया गया।

माधुरी

उक्त तीन प्रकार के हेतुओं में पहला **अन्वयव्यतिरेकी** हेतु, **पञ्चरूपोपन्न** होकर ही 'साध्य' का अनुमापक होता है। **केवलान्वयी हेतु, चतूरूपोपन्न** होकर ही 'साध्य' का अनुमापक होता है। क्योंकि इसका कोई **विपक्ष** न रहने से 'विपक्षव्यावृत्ति' नामक रूप की हानि हुई है। उसी तरह **केवलव्यतिरेकी** हेतु भी **चतूरूपोपन्न** होकर ही 'साध्य' का अनुमापक होता है। क्योंकि इसका कोई **सपक्ष** न रहने से सपक्षसत्त्व नामक रूप की हानि हुई है।

दो प्रकार की 'व्याप्ति' (अन्वय और व्यतिरेक) के—आधार पर हेतु के दो भेद (केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी) किये गये हैं। और दोनों के सम्मिश्रण से यह तीसरा भेद (अन्वयव्यतिरेकी) नाम से किया गया है। उक्त द्विविध व्याप्तियों में से 'अन्वयव्याप्ति', **भाव पदार्थों** (धूम तथा अग्नि आदि) की होती है। तथा 'व्यतिरेकव्याप्ति', **अभाव पदार्थों** (अग्न्यभाव और धूमाभाव) की होती है।

'केवलान्वयी' में 'अन्वयव्याप्ति' का ही उदाहरण प्राप्त होगा। 'व्यतिरेकव्याप्ति' का नहीं। क्योंकि उसमें 'विपक्ष' कोई होता ही नहीं।

'केवलव्यतिरेकी' में 'व्यतिरेकव्याप्ति' का ही उदाहरण प्राप्त होगा। 'अन्वयव्याप्ति' का नहीं। क्योंकि उसमें 'सपक्ष' कोई होता ही नहीं। अतः ये दोनों हेतु 'चार रूपों' से ही युक्त रहते हैं। और अन्वयव्याप्ति (अन्वयसहचार) तथा व्यतिरेकव्याप्ति (व्यतिरेकसहचार) दोनों के आधार पर जब 'अनुमिति' होगी तब उस हेतु को **'अन्वयव्यतिरेकी'** नाम दिया जाता है। **उदयनाचार्य** तथा तत्त्वचिन्तामणिकार **गंगेशोपाध्याय** के अनुसार 'व्याप्तिग्राहक सहचार' के आधार पर हेतु का विभाजन माना जाता है। एवं च 'एक ही हेतु' कभी केवलान्वयी, कभी केवलव्यतिरेकी और कभी अन्वयव्यतिरेकी का रूप धारण कर लेता है। दीधितिकार **रघुनाथ** ने साध्यभेद के आधार पर हेतु का विभाजन किया है।

किन्तु तर्कभाषाकार **केशवमिश्र** ने दृष्टान्तभेद के आधार पर हेतु का विभाजन किया है।

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव।

हेत्वाभास—

सामान्यतया 'अनुमान' का निरूपण करने के पश्चात् अनुमान-प्रकरण के अन्तिम भाग रूप 'हेत्वाभासों' का निरूपण किया जा रहा है।

अत इति। तीन प्रकार के (अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी) **सद्धेतुओं** (शुद्ध हेतुओं) के अतिरिक्त अन्य सब **हेत्वाभास** होते हैं। **ते चेति**। और वे (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक, (४) प्रकरणसम, तथा (५) कालात्ययापदिष्ट भेद से पाँच प्रकार के ही होते हैं।

माधुरी

'असद् (अशुद्ध) हेतु' को **हेत्वाभास** कहते हैं। वास्तव में वह 'हेतु' नहीं होता है, किन्तु 'हेतु' के समान भासित होता है। 'हेत्वाभास' शब्द की द्विविध व्युत्पत्ति के अनुसार उसके दो तरह से अर्थ किये जाते हैं।

(१) 'हेतु का दोष' (हेतुगत दोष)—इस अर्थ में व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—**'आभासन्ते इति आभासाः, हेतोः आभासाः हेत्वाभासाः'**। इससे फल यह हुआ कि जिसके ज्ञात होने पर 'अनुमिति' के कारण का अथवा साक्षात् अनुमिति का ही प्रतिबन्ध हो जाता है, उसे 'हेत्वाभास' या हेतुदोष यानी हेतुगत दोष कहते हैं। इसके अनुसार उपर्युक्त 'असिद्धत्व' आदि दोष ही 'हेत्वाभास' हैं।

इन पाँच प्रकार के 'हेतुदोषों' में से प्रथम तीन (असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक) के ज्ञात होने पर अनुमिति के कारणभूत 'लिङ्गपरामर्श' का और अन्तिम दो (प्रकरणसम, कालात्ययापदिष्ट) के ज्ञात होने पर 'अनुमिति' का प्रतिबन्ध होता है।

(२) दुष्टहेतु—इस अर्थ में व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—**'हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासाः'**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास शब्द का अर्थ होगा कि वास्तव में 'हेतु' न होते हुए भी 'हेतु के समान भासित होने वाला, अर्थात् दोषयुक्त (दुष्ट) हेतु। दोषयुक्त होने से वस्तुतः वह 'हेतु' कहलाने योग्य ही नहीं है, इसीलिये उसे हेत्वाभास कहा जाता है। इससे फल हुआ कि जिनमें 'असिद्धत्व' आदि-दोष होते हैं। उन दोषयुक्त असिद्ध आदि हेतुओं को ही हेत्वाभास कहा जाता है।

अर्थात् प्रयोग किये जाने वाले जिन अनुमानों में 'असिद्धत्वादि' उक्त दोष उपलब्ध होते हैं, उन अनुमानों में प्रयुक्त हुए 'हेतु' 'दुष्ट हेतु' के अर्थ में हेत्वाभास समझे जाते हैं। उनके भी वे ही उपर्युक्त असिद्ध आदि पाँच भेद होते हैं।

१. तत्र लिङ्गत्वेनाऽनिश्चितो हेतुरसिद्धः। तत्रासिद्धस्त्रिविधः। आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

आश्रयासिद्धो यथा, गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव।

स्वरूपासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवत्। अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव, तस्य श्रावणत्वात्।

असिद्ध—

'पञ्चविध दुष्ट हेतुओं' में से 'असिद्ध' नाम का जो प्रथम हेत्वाभास है उसका लक्षण (स्वरूप) ग्रन्थकार बता रहे हैं—**तत्रेति**। जिस **हेतु** में 'लिङ्गत्व' निश्चित न हो, यानी **व्याप्ति** और **पक्षधर्मता** दोनों अथवा 'दोनों में से कोई एक' निश्चित (सिद्ध) न हो, उसे **'असिद्ध'** नाम का हेत्वाभास कहते हैं। **तत्रेति**। वह असिद्ध, तीन प्रकार का होता है—(१) आश्रयासिद्ध (२) स्वरूपासिद्ध, (३) व्याप्यत्वा-सिद्ध। इनमें से 'आश्रयासिद्ध' और 'स्वरूपासिद्ध' इन दोनों में **'पक्षधर्मता'** की सिद्धि नहीं हो पाती तथा 'व्याप्यत्वासिद्ध' में **व्याप्ति** की सिद्धि नहीं हो पाती।

आश्रयासिद्ध इति। इनमें **'आश्रयासिद्ध'** का लक्षण यह है—'यस्य हेतोः आश्रयः न अवगम्यते स आश्रयाऽसिद्धः'—जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) निश्चित (सिद्ध) न हो, उसे आश्रयाऽसिद्ध कहते हैं। **जैसे**—गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजार-विन्दवत्। अर्थात् आकाशकमल सुगन्ध से युक्त है, क्योंकि वह भी कमल है, तालाव के कमल के समान। इस अनुमान में 'गगनारविन्द' (आकाशकमल), को 'हेतु' (अर-विन्दत्वात्) का आश्रय (पक्ष) बताया गया है, किन्तु उसका (गगनारविन्द का) वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है। आकाश में 'कमल का पुष्प' होते न कभी किसी ने देखा है और न सुना है। जव हेतु का 'पक्ष' (आश्रय) ही सिद्ध नहीं है तो उस 'हेतु' में **पक्षधर्मता** कैसे बन सकेगी? उसके न बन पाने से 'हेतु' में लिङ्गत्व भी नहीं है। इस कारण आश्रय (पक्ष) के न होने से **'अरविन्दत्वात्'** यह हेतु **आश्रयासिद्ध** नाम का हेत्वाभास है। अर्थात् वह **सद्धेतु** नहीं है।

स्वरूपासिद्ध इति। जो **'हेतु'**, 'आश्रय' (पक्ष) में अपने स्वरूप से न पाया जाय, अर्थात् जिस हेतु का 'आश्रय' (पक्ष) में अस्तित्व न हो, उसे **स्वरूपासिद्ध** कहते हैं—"यो हेतुः आश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः।"

जैसे—**अनित्य इति**। शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह चाक्षुष (चक्षु से ग्रहण करने योग्य) है (हेतु), घट के समान (उदाहरण)। **अत्रेति**। यहाँ पर 'चाक्षुषत्व' (चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किया जाना) हेतु है, किन्तु वह (हेतु), शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द तो श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होता है अर्थात् वह श्रावण प्रत्यक्ष का विषय होता है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने उक्त तथ्य को इस प्रकार बताया है—'शब्दः अनित्यः, चाक्षुषत्वात्, घटवत्।'—शब्द अनित्य है, अर्थात् नश्वर है। उसकी अनित्यता में हेतु बताया—

'चाक्षुषत्वात्'—क्योंकि वह (शब्द) 'चाक्षुष' है। उदाहरण दिया—जैसे 'घट'। इस अनुमान प्रयोग में 'चाक्षुषत्व' हेतु है, किन्तु वह हेतु, 'पक्ष' (शब्द) में कभी नहीं रहता, क्योंकि 'शब्द' में तो श्रावणत्व रहता है अर्थात् 'श्रवण' (कान) से उसका (शब्द का) प्रत्यक्ष होता है, 'चक्षु' से नहीं। अतः 'चाक्षुषत्वात्' हेतु अपने पक्ष (शब्द) में स्व-स्वरूप से न रहने के कारण उक्त अनुमान में 'चाक्षुषत्व' हेतु, स्वरूपासिद्ध है। यानी 'स्वरूपासिद्धि' दोष से युक्त है। इसलिये यह 'स्वरूपासिद्ध हेतु' अपने 'साध्य' (अनित्यत्व) के साधन में असमर्थ है।

'आश्रयासिद्ध' के लक्षण में 'हेतोः आश्रयः नावगम्यते' कहा गया है, और 'स्वरूपासिद्ध' के लक्षण में 'हेतुः आश्रये नावगम्यते' कहा है। यही दोनों में अन्तर है। तात्पर्य यह है कि स्वरूपासिद्ध में 'हेतु' का आश्रय तो है, किन्तु 'हेतु' उस आश्रय (पक्ष) में रहता नहीं है। और आश्रयासिद्ध में तो 'हेतु' के आश्रय (पक्ष) का ही अस्तित्व नहीं है। दोनों के इस अन्तर को ध्यान में रखना चाहिये।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्। अपरस्तूपाधिसद्भावात्। तत्र प्रथमो यथा, शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यत्सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरपटलं तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया सत्त्वस्य व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्।

व्याप्यत्वासिद्धस्त्विति। 'असिद्ध' का 'तीसरा भेद' 'व्याप्यत्वासिद्ध' है। जिस हेतु में 'व्याप्ति' सिद्ध न हो उस हेतु को **'व्याप्यत्वासिद्ध'** कहते हैं। अर्थात् जिस 'हेतु' में **व्याप्ति** का अभाव हो, यानी 'हेतु' व्याप्य नहीं होता हो (हेतु में व्याप्यत्व नहीं रहता हो) उस 'हेतु' को **व्याप्यत्वासिद्ध** कहते हैं। **तात्पर्य** यह है कि उस 'हेतु' में 'व्याप्यत्वासिद्धि' नाम का दोष है। इसलिये वह **व्याप्यत्वासिद्ध हेतु** अपने 'साध्य' के साधन में समर्थ नहीं हो पाता है। व्याप्यत्वासिद्ध हेतु दो प्रकार का होता है—

एक इति। (१) 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्' अर्थात् 'व्याप्तिग्राहक प्रमाण' का अभाव होने से, और **अपरस्त्विति।** (२) 'उपाधि' का सद्भाव होने से। अर्थात् पहिले में 'व्याप्ति' का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है, इसलिये 'व्याप्ति' की सिद्धि नहीं होती, और **दूसरे में** 'उपाधि' के रहने से 'व्याप्ति' की सिद्धि नहीं हो पाती। इन दोनों में से **प्रथम** 'व्याप्तिग्राहक-प्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध' का उदाहरण दे रहे हैं—**तत्रेति।** शब्दः क्षणिकः, सत्त्वात्, यत् सत् तत् क्षणिकं, यथा जलधरपटलं; तथा च शब्दादिरिति।' अर्थात् शब्द क्षणिक है (अपनी उत्पत्ति के अनन्तर उत्तरक्षण में नश्वर है), उसमें 'हेतु' बताया कि 'सत्त्वात्', क्योंकि वह 'सत्' है। इस अनुमान प्रयोग में न्याय के अनुसार अवयव प्रदर्शित किये गये हैं। वास्तव में यह 'अनुमान-

प्रयोग' बौद्धों के अनुसार है। बौद्धों ने 'अनुमान' के दो ही अवयव माने हैं—(१) हेतु और (२) दृष्टान्त। इसलिये यहाँ भी दो ही अवयवों को दिखाना चाहिये था।

बौद्धों का सिद्धान्त है कि 'यत् सत्' 'तत् क्षणिकम्' प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। जो पदार्थ (वस्तु) 'प्रथम क्षण' में है, वह 'द्वितीय क्षण' में नहीं रहता। प्रत्येक पदार्थ 'प्रतिक्षण' उत्पन्न एवं 'नष्ट' होता रहता है। बौद्धों के दर्शन में 'सत्त्व' (सत्ता) हेतु के द्वारा 'क्षणिकत्व' की सिद्धि की जाती है। उसके यहाँ 'सत्त्व' (सत्ता) का अर्थ 'अर्थक्रियाकारिता' किया गया है। 'अर्थक्रियाकारिता' का तात्पर्य है कि 'वस्तु के द्वारा उचित कार्य किया जाना। जैसे 'घट' की अर्थक्रियाकारिता 'जल का लाना' आदि है। एवं 'बीज' की अर्थक्रिया 'अङ्कुरोत्पादन' आदि है। स्थिर (अक्षणिक) वस्तु में 'सत्त्व' (सत्ता) नहीं हो सकता। जैसे—**'जलधरपटल'** यानि मेघसमुदाय 'सत्' होने से क्षणिक है। **तथा च शब्दादिरिति।** उसी तरह 'शब्द' भी 'सत्' होने से 'क्षणिक' होना ही चाहिये। क्योंकि जो 'सत्' होता है वह 'क्षणिक' होता है। इस प्रकार 'सत्त्व' और क्षणिकत्व' की व्याप्ति बनती है।

न चेति। किन्तु इस 'सत्त्व और 'क्षणिकत्व' की व्याप्ति का ग्राहक (बोधक) कोई प्रमाण' नहीं है। प्रत्युत (उसके विपरीत) 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के द्वारा 'घटादि' 'सत् पदार्थ स्थिर (अक्षणिक) ही दिखाई देते हैं। **सोपाधिकतयेति।** यदि हम उसे सोपाधिक होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध कहें तो शब्द में क्षणिकत्व को अन्यप्रयुक्त कहना होगा। किन्तु यह कथन नैयायिकों को सम्मत नहीं है।

माधुरी

'व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव' में 'सत्त्वात्' हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध नाम का हेत्वाभास ही कहा जायेगा। एवं च 'सत्त्वात्' हेतु यहाँ पर सद्धेतु नहीं है, बल्कि असद्धेतु है। 'सत्त्व' हेतु की 'क्षणिकत्व' रूप साध्य के साथ 'व्याप्ति' का निश्चय करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, किसी प्रमाण से भी 'सत्त्व तथा क्षणिकत्व' के 'नियतसाहचर्यरूप व्याप्ति' का ज्ञान नहीं होता है। इस रीति से 'व्याप्तिग्राहक प्रमाणाभाव' रहने से 'सत्त्व' हेतु यहाँ पर व्याप्यत्वासिद्ध ही है।

शंका—ऊपर 'व्याप्यत्वासिद्ध' के दो प्रकार बताये गये हैं, उनमें से पहले प्रकार के द्वारा 'सत्त्वात्' हेतु को 'व्याप्यत्वासिद्ध' बताया है। परन्तु उसे (सत्त्व हेतु को) 'उपाधि' के सद्भाव के कारण (उपाधिसद्भावमूलक) **व्याप्यत्वासिद्ध** क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान—उपर्युक्त शंका का समाधान ग्रन्थकार ने 'सोपाधिकतया सत्त्वस्य व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्'। इस ग्रन्थ से दिया है। 'उपाधिस्थल' में भी 'साध्य' का अस्तित्व तो होता ही है। अन्तर केवल

इतना ही है कि अनुमान में प्रयुक्त किये गये 'हेतु' को 'साध्य' का प्रयोजक (कारण) नहीं कह सकेंगे। अर्थात् अनुमान प्रयोग करते समय 'हेतु' के रूप में प्रयुक्त धर्म, 'साध्य' का प्रयोजक (कारण) नहीं बन पायेगा। बल्कि 'उपाधिभूत धर्म' उस 'साध्य' का प्रयोजक (कारण) बनेगा। पीछे बता चुके हैं—'स श्यामः, मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमान-मैत्रीतनयसमूहवत्' इत्यादि उदाहरण में 'श्यामत्व' (साध्य) का प्रयोजक (कारण), 'मैत्रीतनयत्व' (हेतु) नहीं है, अपितु 'शाकपाकजन्यत्व' (उपाधि) है। उसी प्रकार प्रस्तुत में भी 'क्षणिकत्व' रूप साध्य का प्रयोजक (कारण) 'सत्त्व' रूप हेतु न होकर कोई 'अन्य धर्म' ही है—ऐसा कहना होगा। अर्थात् 'सत्त्व' हेतु को सोपाधिक कहने पर 'घट' आदि वस्तुओं के 'क्षणिकत्व' का प्रयोजक 'सत्त्व' न होकर किसी अन्य उपाधिभूत धर्म को प्रयोजक मानना होगा। किन्तु ऐसा मन्तव्य तो नैयायिक को कभी भी अभीष्ट नहीं होगा।

'उपाधि' के सद्भाव से व्याप्यत्वासिद्ध होने का प्रसिद्ध उदाहरण—'अयोगोलकः धूमवान् अग्निमत्त्वात्, इस अनुमान प्रयोग में 'अग्निमत्त्व' हेतु, सोपाधिक होने से 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहा जाता है। यहाँ साध्यधर्म 'धूम', अयोगोलक में तो नहीं है, तथापि उसका 'अस्तित्व' तो है ही। किन्तु वह 'धूम' अग्नि के कारण नहीं है बल्कि 'आर्द्रेन्धनसंयोग' के कारण है। एवं च साध्यधर्म 'धूम' 'अग्निप्रयुक्त' न होकर 'अन्य प्रयुक्त' होने से 'अग्निमत्त्व' हेतु सोपाधिक व्याप्यत्वासिद्ध है।

'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' में 'सत्त्व' हेतु को 'सोपाधिक' होने से व्याप्यत्वासिद्ध कहेंगे, तो प्रथमतः 'क्षणिकत्व' रूप साध्य को मानकर यह बताना पड़ेगा कि साध्यधर्म जो 'क्षणिकत्व' है, वह 'सत्त्व' हेतु से नहीं सिद्ध हो रहा है, बल्कि किसी 'अन्यनिमित्त' से सिद्ध हो रहा है। बौद्ध सम्मत 'क्षणिकत्व' नैयायिक को मान्य नहीं है। 'बौद्ध' के मत में किसी भी 'वस्तु' की 'उत्पत्ति' और 'विनाश' एक ही क्षण में होता है। 'वस्तु' में इसी प्रकार का क्षणिकत्व बौद्धों को मान्य है। शब्द की क्षणिकता (नश्वरता) में तो बौद्ध और नैयायिक दोनों एक मत हैं, किन्तु 'क्षणिकता' का स्वरूप दोनों के मत में भिन्न है। नैयायिक के मतानुसार 'शब्द' आदि किसी भी पदार्थ की 'उत्पत्ति और विनाश' एक ही क्षण में नहीं होते। इनके मत में 'एक क्षण' तो उत्पत्ति का, और 'दूसरा क्षण' स्थिति का तथा 'तीसरा क्षण' विनाश का होता है। शीघ्र विनाशशील वस्तु भी 'तृतीय क्षण' में ही नष्ट होती है। एवं च पदार्थ-स्थैर्यवादी नैयायिक के मत में 'बौद्धसम्मत क्षणिकत्व' तो कहीं है ही नहीं। न वह 'सत्त्व' के निमित्त से है और न किसी अन्य निमित्त से ही है। अगर वह किसी 'अन्य निमित्त' से होता तो 'सत्त्वात्' हेतु को 'सोपाधिक' कहा जा सकता था। अतः 'सत्त्वात्' हेतु को 'उपाधि' के सद्भाव से व्याप्यत्वासिद्ध नहीं कह सकते। उसे तो 'व्याप्तिग्राहक प्रमाण' के अभाव

से ही **व्याप्यत्वासिद्ध** कहना होगा। त्रिन्नंभट्ट ने अपनी व्याख्या में बड़े ही सुन्दर ढंग से इसी बात को स्पष्ट किया है—"ननु सत्त्वहेतोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावाद् व्याप्यत्वासिद्धतेत्युक्तमुपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धता किमिति नोच्यते। तत्राह—सोपाधिकतयेति। यथाऽधर्मत्वं हिंसात्वप्रयुक्तं न भवति। किन्तु निषिद्धत्वप्रयुक्तमितिवत् क्षणिकत्वं सत्त्वप्रयुक्तं न भवति, किन्तु परप्रयुक्तमित्युच्यमाने ब्रह्महननादौ अधर्मत्वमिव क्वचित् क्षणिकत्वमभ्युगतं स्यात्। तच्चानिष्टम्। क्षणमात्रावस्थायित्वं निर्हेतुको विनाशो वा क्षणिकत्वमिति सौगतमतानुसारिभिः कक्षीकृतत्वात्। तस्मादेतादृशं क्षणिकत्वं क्वापि न दृष्टं नेष्टमिति सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावादेव सत्त्वहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धत्वमित्यर्थः।

द्वितीयो यथा क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्। अत्र ह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं, किन्तु निषिद्धत्वमेव प्रयोजकम्, उपाधिरिति यावत्। तथा हि 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक' उपाधिरित्युपाधिलक्षणम्। तच्चास्ति निषिद्धत्वे। निषिद्धत्वं हि साध्यस्याधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम्। यतो यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमपीति। एवं साधनं हिंसात्वं, न व्याप्नोति निषिद्धत्वम्। न हि यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्। तदेवं निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्भावादन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव।

दूसरे प्रकार के व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण—

'अहिंसा परमो धर्मस्त्वधर्मः प्राणिनां वधः' ऐसा कहने वाले जैन दार्शनिक पक्षान्तर से परिचित न रहने के कारण एक अनुमान प्रयोग करते हैं, जैसे—**द्वितीय इति**। क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्।' यज्ञ में होनेवाली **हिंसा** 'अधर्म' का साधन है (प्रतिज्ञा), **हिंसा** होने से (हेतु), यज्ञ के बाहर की जाने वाली **हिंसा** के समान (उदाहरण)। **अत्रेति**। यहाँ पर 'अधर्मसाधनत्व' रूप साध्य की सिद्धि करने में '**हिंसात्व**' हेतु निमित्त (कारण) नहीं है। **किन्त्विति**। किन्तु '**शास्त्रनिषिद्धत्व**' ही उसमें निमित्त (कारण या प्रयोजक) है, अर्थात् 'उपाधि' ही उसमें निमित्त है। **तथा हीति**। उपाधि' का लक्षण यह किया गया है—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः उपाधिः।' साध्य का व्यापक होने पर भी जो साधन का अव्यापक (व्यापक न होने वाला) धर्म हो, वह 'उपाधि' शब्द से कहा जाता है। **तच्चेति**। यह उपाधि का लक्षण 'निषिद्धत्व' में घटित हो रहा है। जो इस प्रकार है—'**निषिद्धत्वमिति**। अधर्मसाधनत्व' रूप साध्य का व्यापक 'निषिद्धत्व' है, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ अधर्मसाधनत्व है, वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व अवश्य ही रहता है।' इस रीति से '**निषिद्धत्व**' में

साध्यव्यापकत्व निश्चित होता है, **एवमिति**। किन्तु इसी तरह 'हिंसात्व' रूप साधन का व्यापक 'निषिद्धत्व' नहीं हो पा रहा है। **न हीति**। क्योंकि जहाँ-जहाँ 'हिंसात्व' है वहाँ-वहाँ 'निषिद्धत्व' भी अवश्य हो, यह दृष्टिगोचर नहीं है। इसलिये यह उपाधि 'साधन' का व्यापक नहीं है, अपितु अव्यापक ही है। जैसे **यज्ञीय-पशुहिंसा** में हिंसात्व तो है, लेकिन निषिद्धत्व नहीं है। **तदेवमिति**। इस रीति से 'निषिद्धत्व' में 'साधनाऽव्यापकत्व' भी निश्चित होता है। एवं च 'निषिद्धत्व' अधर्मसाधनत्वरूप साध्य का व्यापक है तथा हिंसात्वरूप साधन का अव्यापक है। अतः 'निषिद्धत्व' में साध्य का 'व्यापकत्व' और साधन का 'अव्यापकत्व' निश्चित होने से 'निषिद्धत्व' उपाधि है। इस प्रकार 'निषिद्धत्व' उपाधि के रहने से अन्य (निषिद्धत्व) प्रयुक्त व्याप्ति (यत्र-यत्र हिंसात्वं तत्र-तत्र निषिद्धत्वं) पर आश्रित अर्थात् उपजीवी 'हिंसात्व' हेतु व्याप्यत्वासिद्ध ही है।

माधुरी

'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'—किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। इस श्रुतिवचन से 'हिंसामात्र' का निषेध किया गया है ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'**—यह भी एक श्रुतिवचन है। इसे देखने पर ध्यान में आता है कि प्रथम प्रदर्शित 'निषेधवाक्य' का तात्पर्य 'हिंसामात्र' के निषेध में नहीं है। उसका क्षेत्र 'शास्त्रविहित हिंसा' के स्थलों को छोड़ कर ही है। यह स्वीकार करने पर ही श्रुति के विरुद्ध प्रतीत होने वाले वचनों की सार्थकता एवं प्रामाणिकता सिद्ध हो सकती है। यही परस्पर विरुद्ध वचनों के समन्वय करने का मार्ग है।

अधर्मसाधनत्व (अधर्मजनकत्व) का प्रयोजक (निमित्त कारण) 'निषिद्धत्व' (उपाधि) ही है। 'उपाधि' शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि **'उप समीपवर्तिनि आदधाति सङ्क्रामयति स्वीयं धर्ममिति उपाधिः'**—'उप' अर्थात् अपने समीपवर्ती 'हिंसात्व' में अपने धर्म का आधान (आरोप) करने के कारण उसे 'उपाधि' कहा जाता है। यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'निषिद्धत्व' में समन्वित हो रहा है। वह समन्वय इस प्रकार है—मिथ्याभाषण, परद्रव्यापहरण, परस्त्रीसेवन, मद्यपान आदि 'कोई भी कार्य', निषिद्ध होने से ही 'अधर्म का साधन' यानी अधर्मजनक समझा जाता है। अधर्मसाधमत्व के साथ निषिद्धत्व विद्यमान है। इसलिये 'अधर्मसाधनत्व' का प्रयोजक 'निषिद्धत्व' है। इस प्रकार 'अधर्मसाधनत्व' की निषिद्धत्व के साथ व्याप्ति है। इस 'व्याप्ति' का हिंसात्व में आरोप (आधान) कर लिया जाता है। इस कारण 'हेतु' के रूप में उपस्थित हुआ 'हिंसात्व' अन्य प्रयुक्त है, अर्थात् निषिद्धत्व प्रयुक्त व्याप्ति पर वह आश्रित है। वास्तव में वह 'हिंसात्व' (हेतु) व्याप्य नहीं है, यानी उसकी व्याप्य-स्वरूपता सिद्ध नहीं हो पा रही है। अतः 'हिंसात्व' हेतु को यहाँ पर सोपाधिक-व्याप्यत्वासिद्ध बताया गया है।

निष्कर्ष यह है कि 'मा हिंस्यात्' इस सामान्य वचन से हिंसामात्र का निषेध न होने से 'यज्ञीय हिंसा' में 'निषद्धत्व,' हिंसात्व हेतु का 'अव्यापक' हो जाता है। इसलिये जहाँ भी 'हिंसात्व' में अधर्मसाधनत्व की व्याप्ति उपलब्ध हो, वहाँ उसे अन्य-प्रयुक्त औपाधिक ही समझना चाहिये। एवं च 'हिंसात्व' से अधर्मसाधनत्व का अनौपाधिक संबंध नहीं है, इसलिये 'हिंसात्व' हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहने में किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।

'व्याप्यत्वासिद्ध' की द्विविधता जो बतायी गयी है, वह उपलक्षण (संकेत) मात्र है। क्योंकि 'हेतुओं' में व्याप्यत्व की असिद्धि, अन्य अनेक कारणों से भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे—'पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान्, काञ्चनमयधूमात्'—'पर्वत' काञ्चनमय वह्नि से युक्त है, 'काञ्चनमय धूम' से युक्त होने के कारण। ऐसा अनुमान यदि कोई करे तो यहाँ प्रयुक्त हेतु (काञ्चनमय धूम) को 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहना होगा। इस अनुमान में प्रयुक्त 'साध्य' और 'साधन' किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हैं। 'काञ्चनमय वह्नि' और 'काञ्चनमय धूम' के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः उनका अस्तित्व कौन मानेगा ? तब 'काञ्चनमय वह्नि' की सिद्धि के लिये दिये गये हेतु में 'काञ्चनमय वह्नि' की व्याप्ति, उसी तरह 'काञ्चनमय धूम रूप हेतु' में 'अन्य साध्य' की भी व्याप्ति कैसे हो सकेगी ? अतः ऐसे अनुमानों में प्रयुक्त 'हेतुओं' को व्याप्यत्वासिद्ध कहना ही पड़ेगा।

इसी तरह 'व्यर्थविशेषण' से युक्त हेतु का प्रयोग किसी अनुमान में कर देने पर वह 'हेतु' भी व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है। जैसे—पर्वतोऽग्निमान् नीलधूमात्' इस अनुमान में 'अग्नि' के साधनार्थ 'शुद्ध धूम' को न रखकर 'नीलधूम' को हेतु के रूप में रखा गया है। किन्तु 'नीलत्व' विशेषण देना व्यर्थ है। अतः लाघवात् 'शुद्ध धूम' में ही 'अग्नि' की व्याप्ति मानी जायेगी। 'नीलधूम' में अग्नि की व्याप्ति मानने में गौरवदोष होगा। अतः 'नीलधूम' रूप हेतु को भी 'व्याप्यत्वासिद्ध' ही कहना होगा। इसलिये पूर्वोक्त 'व्याप्यत्वासिद्ध' की द्विविधता को उपलक्षण के रूप में ही समझना चाहिये।

२. साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्। अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तम्। यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो विरुद्धं कृतकत्वमिति।

विरुद्ध हेत्वाभास—

साध्येति। साध्य के अभाव (विपर्यय = विपरीत) से व्याप्त हुए हेतु को 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—**स यथेति।** 'शब्दो नित्यः, कृतकत्वात् आत्मवत्'—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कृतक (जन्य) है (हेतु), जैसे आत्मा (उदाहरण)।

अत्रेति । इस अनुमान में 'कृतकत्व' हेतु, 'नित्यत्व' रूप साध्य के विपरीत (अभाव-रूप) 'अनित्यत्व' से व्याप्त है । **यत्कृतकमिति** । 'जो कृतक (जन्य) होता है, वह अनित्य होता है, नित्य नहीं' । यहाँ पर 'नित्यत्व' साध्य है, और 'कृतकत्व' हेतु है । 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है'—यह व्याप्ति है । 'अनित्यत्व' का अर्थ है—'नित्यत्वाभाव' यानी साध्याभाव । इसलिये इस अनुमान में प्रयुक्त जो 'कृतकत्व' हेतु है, वह साध्याभाव यानी नित्यत्वाभाव से व्याप्त है । अतः यहाँ पर 'कृतकत्व' हेतु में 'विरुद्ध' दोष आ जाने से उसे 'विरुद्ध' संज्ञक हेत्वाभास समझना चाहिये ।

माधुरी

पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में यह विरुद्धसंज्ञक हेत्वाभास अत्यन्त निकृष्ट है, क्योंकि इसके प्रयोग करने से अनुमान प्रयोग करने वाले की मूर्खता स्पष्ट हो जाती है । क्योंकि यह नियम है कि 'हेतु को हमेशा साध्य का व्याप्य करके दिखाना चाहिये ।' किन्तु उक्त अनुमान प्रयोग में प्रयुक्त हेतु को साध्य का व्याप्य हुआ न दिखाकर उसके विपरीत साध्य के विरोधी साध्याभाव का व्याप्य बनाकर उसे दिखाया जा रहा है । उक्त अनुमान में 'शब्द' पक्ष है, उसमें 'आत्मा' का दृष्टान्त देकर 'नित्यत्व' को सिद्ध करने के लिये 'कृतकत्व' हेतु को दे रहे हैं, जो 'नित्यत्व' का साधक न बन कर—उलटे 'नित्यत्वाभाव' का साधक बन रहा है । यह तो वैसा ही हुआ कि चले 'नित्यत्व' सिद्ध करने किन्तु कर बैठे अनित्यत्व' को सिद्ध । 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' की तरह ही हुआ । अतः उक्त अनुमान में 'कृतकत्व' हेतु विरुद्ध हो गया है ।

३. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स द्विविधः, साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति । तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः । यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत् । अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति । सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते सोऽसाधारणानैकान्तिकः । स यथा भूर्नित्या गन्धवत्त्वात् । गन्धवत्त्वं हि सपक्षान्नित्याद् विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्तं भूमात्रवृत्ति ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—

सव्यभिचार इति । 'सव्यभिचार हेतु' अनैकान्तिक हेत्वाभास है । जिस हेतु में साध्य का व्यभिचार यानी जो हेतु, साध्य के साथ नियमेन नहीं रहता, अपितु कहीं साध्याभाव के साथ भी रहता है, उस हेतु को 'अनैकान्तिक' कहते हैं । **स द्विविध इति** । यह अनैकान्तिक दो प्रकार का है—(१) साधारण अनैकान्तिक और (२) असाधारण-अनैकान्तिक । **तत्रेति** । साधारण अनैकान्तिक उस हेतु को कहते हैं, जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहता है । **यथेति** । जैसे—'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्, व्योमवत्'—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह प्रमेय है (हेतु) जैसे आकाश अर्थात् आकाश

क समान (उदाहरण)। **अत्रेति ।** इस अनुमान में 'प्रमेयत्व' हेतु, साधारण अनैकान्तिक है, क्योंकि वह नित्य (पक्ष या सपक्ष) और अनित्य (विपक्ष) दोनों में रहता है, अर्थात् शब्दरूप पक्ष में, आकाशरूप सपक्ष आदि नित्य पदार्थों में, एवं विपक्षरूप घट-पट आदि अनित्य पदार्थों में यानी तीनों जगह रहता है। इसलिये ऐसे अनैकान्तिक हेतु को **'साधारण'** अनैकान्तिक कहा जाता है।

सपक्षादिति । दूसरा अर्थात् असाधारण अनैकान्तिक हेतु वह है, जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में न रहकर यानी सपक्ष तथा विपक्ष दोनों से व्यावृत्त होकर केवल 'पक्ष' में ही रहता है। जैसे—'भूर्नित्या, गन्धवत्त्वात्' ।—भूमि नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि उसमें गन्ध है (हेतु)। इस अनुमानप्रयोग में 'गन्ध' हेतु (गन्धवत्त्व हेतु) सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में नहीं रहता यानी दोनों से व्यावृत्त है। स्पष्टार्थ यह है कि जिनमें 'नित्यत्व' रूप साध्य निश्चित है, उन आकाश आदि 'सपक्षों' में एवं जिनमें 'नित्यत्वाभाव (अनित्यत्व) रूप साध्याभाव निश्चित है, उन जल, तेज आदि 'विपक्षों' में न रहकर वह हेतु केवल भू (भूमि) रूप 'पक्ष' में ही रहता है। इसलिये उक्त अनुमान में प्रयुक्त 'गन्धवत्त्वात्' हेतु को 'असाधारण अनैकान्तिक' हेत्वाभास कहा गया है।

माधुरी

सूत्रकार के 'अनैकान्तिकत्वलक्षणम् अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' इस सूत्र में ही कुछ व्यत्यास करके ग्रन्थकार ने 'सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः' यह अनैकान्तिक हेत्वाभास का लक्षण किया है। इसमें सव्यभिचार शब्द आया है। उसका अर्थ होगा कि 'व्यभिचार के सहित।' इसलिये 'व्यभिचार' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। **'व्यभिचार'** का अर्थ है अव्यवस्था, औचित्य का उल्लंघन (अनौचित्य), नियमपूर्वक न रहना। इससे यह समझ में आता है कि हेतु का साध्य के साथ व्यवस्थितरूप से न रहना अर्थात् हेतु का व्यभिचरित होना, जहाँ हेतु का रहना उचित है, वहाँ पर न रहना, अर्थात् जिसके साथ उसे नियमित रूप से रहना है, उसके साथ वैसा न रहना, यही सब हेतु के व्यभिचार कहलाते हैं। हेतु के व्यभिचार की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है (१) कहीं पर हेतु, अपने उचित स्थान पर रहने के साथ-साथ उससे भिन्न स्थान पर (अनुचित स्थान पर) भी रहता है, यानी औचित्य का उल्लंघन करता है। ऐसी स्थिति में उस हेतु को 'साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहते हैं। स्पष्ट अर्थ यह है कि यह 'साधारण अनैकान्तिक हेतु' पक्ष तथा सपक्ष में रहता हुआ भी विपक्ष में भी रहता है। जैसे 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत्' अनुमान में 'नित्यत्व' साध्य है, 'प्रमेयत्व' हेतु है, 'शब्द' पक्ष है, 'व्योम' सपक्ष है। और 'घट-पट' आदि अनित्य पदार्थ, विपक्ष हैं। इन सभी में 'प्रमेयत्व' हेतु विद्यमान रहता है। घट-पटादि अनित्य पदार्थ रूप जो विपक्ष हैं, उनमें भी यह 'प्रमेयत्व' हेतु रहता है। इसलिये यह 'प्रमेयत्व' हेतु

यहाँ पर साधारण अनैकान्तिक हो जाता है। अतः यह असद् हेतु कहलाता है। पीछे बता चुके हैं कि अनुमान-प्रयोग करते समय प्रयोक्ता को हेतु के प्रयोग में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। क्योंकि सद्हेतु के प्रयोग करने पर ही साध्य की सिद्धि होगी, असद्हेतु के प्रयोग करने पर नहीं। 'सद्हेतु' हमेशा पक्ष और सपक्ष दोनों में रहता है, परन्तु वह विपक्ष में कभी भी नहीं रहता, इसे भूलना नहीं चाहिये।

जब हेतु, उचित स्थल पर भी नहीं रहता, अर्थात् औचित्य का अतिक्रमण करता है, तब उसे असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। यह असाधारण अनैकान्तिक हेतु, जैसे विपक्ष में नहीं रहता, वैसे ही वह 'सपक्ष' में भी नहीं रहता। किन्तु उसका 'सपक्ष' में रहना उचित है, तथापि जब वह उस औचित्य का अतिक्रमण करता है, तब उसे 'असाधारण अनैकान्तिक' कहते हैं। 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' यहाँ पर 'नित्यत्व' साध्य है। 'गन्धवत्त्व' हेतु है, 'भूः' पक्ष है, 'आकाशादि नित्यपदार्थ' सपक्ष हैं, 'जल' आदि अनित्य पदार्थ विपक्ष हैं। 'गन्धवत्त्व' हेतु का अनित्य 'जल' आदि विपक्ष स्थल में न रहना तो उचित है, किन्तु 'आकाशादि' नित्यपदार्थरूप सपक्ष में भी न रहना नितान्त अनुचित है। जैसे वह पक्ष में रहता है, वैसे ही उसका सपक्ष में भी रहना आवश्यक है। यह औचित्य का उल्लंघन (अतिक्रमण) उसने किया है, इसलिये वह असद् हेतु हो गया है।

'सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः' में 'अनैकान्तिक' शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—'एकस्य साध्यस्य तदभावस्य वा योऽन्तःसहचारः अव्यभिचरित-सहचारः एकान्तः तद्वान् ऐकान्तिकः, तदन्योऽनैकान्तिकः।' वात्स्यायन ने 'नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्' इस उदाहरण के सन्दर्भ में 'अनैकान्तिक' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'नित्यत्वमप्येकोऽन्तः अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः। एकस्मिन्नन्ते विद्यत इत्यैकान्तिकः। विपर्ययादनैकान्तिक उभयव्यापकत्वादिति। (न्या. भा. १।२।४६)। तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास के तीन भेद बताये हैं— (१) साधारण अनैकान्तिक, (२) असाधारण अनैकान्तिक और (३) अनुप-संहारी अनैकान्तिक। जो 'हेतु' अन्वयी तथा व्यतिरेकी दोनों प्रकार के उदा-हरणों से रहित रहता है उसे 'अनुपसंहारी' बताया गया है। अर्थात् उस हेतु से पक्ष में साध्य का उपसंहार (समर्पण) नहीं किया जाता। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व को ही पक्ष बनाकर विश्वभर में साध्य का सन्देह हो जाता है, जिससे कहीं पर भी हेतु में साध्य के सहचार का निर्णय नहीं किया जा सकता। जैसे—'सर्वम् अनित्यम् प्रमेयत्वात्'—सब अनित्य है, क्योंकि सब प्रमेय है। यहाँ सभी विश्व, 'पक्ष' के अन्तर्गत है। जिसमें साध्य का सन्देह हो रहा है। अतः ऐसा कहीं भी कोई उदाहरण नहीं दिखाया जा सकता कि 'यत्र-यत्र प्रमेयत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वम्'—जहाँ-जहाँ प्रमेयत्व है, वहाँ-वहाँ अनित्यत्व है—जैसे अमुक। और न ही ऐसा कोई उदाहरण

है कि 'जहाँ अनित्यत्व नहीं है, वहाँ प्रमेयत्व भी नहीं है। इसलिये 'अनुपसंहारी' को हेत्वाभास बताया गया है।

किन्तु तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने अनैकान्तिक के दो ही भेद किये हैं, तीन नहीं। क्योंकि विश्वमात्र-पक्षक अनुमान करना संभव नहीं है। किसी 'साध्य' के साधनार्थ अनुमान का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब कहीं हेतु में साध्य की व्याप्ति दिखाई जा सके। लेकिन जब सम्पूर्ण विश्व को ही पक्ष बना डाला तो संपूर्ण विश्व में ही साध्य का संशय अवश्य ही रहेगा। तब हेतु में साध्य की व्याप्ति कैसे संभव हो सकेगी? और जब व्याप्ति का ज्ञान ही नहीं होगा तब अनुमान प्रयोग का अवकाश ही कहाँ रहेगा? इस दृष्टि से ग्रन्थकार ने अनुपसंहारी को अनैकान्तिक नहीं माना है।

४. प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। स यथा शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्। शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वादिति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते।

प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)—

प्रकरणसमस्त्विति। जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु उपस्थित (विद्यमान) रहता है, तब साध्यसाधनार्थ प्रयुक्त हुए उसी हेतु को प्रकरण-'सम' कहते हैं। **स यथेति।** जैसे—'शब्दः अनित्यः नित्यधर्मरहितत्वात्' शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह नित्य के धर्म से रहित है—अर्थात् नित्यत्वज्ञापक धर्म से रहित है (हेतु) यह एक अनुमान प्रयोग है।

इस अनुमान प्रयोग के विपरीत शब्द नित्यवादी विद्वान् शब्द में नित्यत्व सिद्ध करने के लिये, उपर्युक्त अनुमान के तुल्यबलवाला विरोधी दूसरा अनुमान करता है—**शब्दो नित्य इति।** जैसे—'शब्दः नित्यः अनित्यधर्मरहितत्वात्'—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह अनित्य धर्म से रहित है (हेतु) अर्थात् अनित्यत्वज्ञापक धर्म से रहित है—यह दूसरा अनुमान प्रयोग है। इस प्रकरणसम को ही 'सत्प्रतिपक्ष' कहते हैं।

माधुरी

प्रतिपक्ष का अर्थ है—'साध्यविपरीत-साधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः'—साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु। जिस हेतु का प्रतिपक्ष विद्यमान् रहता है उसे 'सत्प्रतिपक्ष' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर दो हेतु परस्पर एक दूसरे के विपरीत अर्थ को (साध्य को) सिद्ध करते हों वहाँ वे दोनों हेतु, सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास समझे जाते हैं। पहले अनुमान में 'नित्यधर्मरहितत्वात्' और दूसरे अनुमान में 'अनित्यधर्मरहितत्वात्' ये दोनों हेतु एक दूसरे के साध्य से विपरीत अर्थ को सिद्ध करना चाहते हैं। एक हेतु, शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करना चाहता है तो दूसरा हेतु

शब्द में नित्यत्व सिद्ध करना चाहता है। अतः साध्य-विपरीत-साधक तुल्यबलवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहने से ये दोनों हेतु परस्पर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हैं। इन दोनों में से कोई भी हेतु अपने साध्य के साधन करने में समर्थ नहीं है। चिन्नंभट्ट ने यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित किया है कि सत्प्रतिपक्ष स्थल में क्या दोनों हेतु तुल्य बल वाले होते हैं अथवा न्यूनाधिक बल वाले होते हैं? किन्तु प्रथम पक्ष तो उचित नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तु के दो रूप नहीं हुआ करते। वस्तु का स्वरूप एक होता है, निश्चित होता है। अतः परस्पर विपरीत स्वरूप को बताने वाले दोनों हेतु, उसके निश्चित स्वरूप को नहीं बता सकते। अतः दोनों हेतुओं को तुल्यबल (समानबल) नहीं कह सकते। तथा द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो हेतुओं में से किसी एक को दुर्बल (न्यूनबल वाला) और दूसरे हेतु को प्रबल (अधिक बलवाला) कहें तो प्रबल हेतु से ही दुर्बल हेतु का बाध हो जायेगा, तब बाधित हेत्वाभास ही कहलायेगा। सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास नहीं कहलायेगा। अतः दोनों पक्ष ठीक नहीं हैं। इस पर चिन्नंभट्ट ने यह समाधान दिया है कि वस्तुतः दोनों हेतु यद्यपि समानबल के नहीं हो सकते तथापि उन दोनों को तुल्यबल मान लिया जाता है। इस आभिमानिक समबलत्व के आधार पर कह दिया गया है कि सत्प्रतिपक्ष में दोनों हेतु तुल्यबल होते हैं। इस प्रकार से प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) की उपपत्ति लगा ली जाती है। 'प्रकरण' शब्द की निष्पत्ति 'प्र' पूर्वक 'कृ' धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय से तथा करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय से अर्थात् दो प्रकार से होती है। भावे ल्युट् करने पर 'प्रकरण' शब्द का अर्थ होगा—'परिस्थिति'। अर्थात् प्रकृत-प्रसंग में 'साध्य सन्देह की स्थिति'। और करणे ल्युट् करने पर 'प्रकरण' शब्द का अर्थ होगा—'पूर्व की परिस्थिति' (साध्यसन्देह की स्थिति) जिससे बनी रहे, यानी जो साध्य के संशय को कायम रखे। प्रकृत प्रसंग में करणल्युडन्त 'प्रकरण' शब्द है। अतः 'प्रकरणसम' शब्द का अर्थ होगा—साध्यसन्देह उत्पन्न करने वाले के समान। अतः दोनों हेतुओं की साध्यसन्देहोत्पादकता के कारण साध्य का निश्चय नहीं होता। साध्यसाधनार्थ हेतु का प्रयोग होने पर भी साध्य सन्देह की परिस्थिति बनी ही रहती है। इसलिये प्रकरण (साध्य-सन्देह) को कायम रखने वाले साधारण धर्म के समान होने से 'हेतु' को यहाँ पर प्रकरणसम कहा गया है।

(१) बाधित हेत्वाभास और (२) विरुद्ध हेत्वाभास से सत्प्रतिपक्ष (प्रकरण-सम) हेत्वाभास का अन्तर—

(१) बाधित हेत्वाभास में प्रबल प्रमाण के द्वारा साध्याभाव का निश्चय रहता है। और सत्प्रतिपक्ष में दोनों में से कोई भी हेतु अपने साध्य का निश्चायक नहीं होता है। दोनों हेतु समान-बल के ही माने जाते हैं।

(२) **'विरुद्ध'** हेत्वाभास में साध्यसाधनार्थं प्रस्तुत किया गया हेतु ही 'साध्याभाव' को सिद्ध कर देता है। जैसे 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'; यहाँ 'कृतकत्वात्' हेतु ही साध्याभावरूप अनित्यत्व' को सिद्ध करता है। क्योंकि कृतकत्व की व्याप्ति अनित्यत्व के साथ है। किन्तु सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम) में साध्यसाधनार्थ प्रस्तुत किये गये हेतु से भिन्न (दूसरा) हेतु, साध्य विपरीत अर्थ को सिद्ध करता है। एक दूसरे के विपरीत अर्थ-साधनार्थ भिन्न-भिन्न हेतु रहते हैं।

५. पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः। कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते। यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तदभावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात्।

॥ इति व्याख्यातमनुमानम् ॥

बाधितविषय अथवा कालात्ययापदिष्ट—

पक्ष इति। जिस हेतु के पक्ष में किसी अन्य प्रबल प्रमाण से साध्याभाव निश्चित कर दिया जाता है, उस हेतु को 'बाधित विषय' और कालात्ययापदिष्ट कहते हैं। **यथेति।** जैसे—'अग्निः अनुष्णः कृतकत्वात् जलवत्'—अग्नि अनुष्ण (शीतल) है, कृतक (जन्य) होने से, जल के समान। **अत्रेति।** यहाँ पर 'कृतकत्व' हेतु का साध्य 'अनुष्णत्व' है, उसका अभाव अर्थात् 'उष्णत्व' की उपलब्धि 'अग्नि' रूप पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित हो चुकी है। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से ही अग्नि में उष्णत्व का ज्ञान हो जाता है।

माधुरी

'कालात्ययापदिष्ट' और **'बाधितविषय'** शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है। 'विषय' शब्द का अर्थ है—'साध्य'। अतः बाधितविषय का अर्थ हुआ—जिस हेतु के साध्य का अभाव, किसी अन्य प्रमाण से (प्रमाणान्तर से) पक्ष में निश्चित हो। अर्थात् जिसका विषय बाधित हो, उस हेतु को 'बाधित विषय' नाम का हेत्वाभास कहते हैं। इसके उदाहरणभूत अनुमान में प्रस्तुत किया गया हेतु (कृतकत्व) बाधित-विषयक है, क्योंकि 'त्वाच (स्पार्शन) प्रत्यक्ष' से अग्नि में 'उष्णत्व' की उपलब्धि होती है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि 'कृतकत्व' हेतु के साध्य 'अनुष्णत्व' का अभाव जो उष्णत्व है, उसका निश्चय प्रत्यक्षप्रमाण से हुआ है।

'कालात्ययापदिष्ट' का अर्थ है—'उचितकाल' का 'अत्यय' (अतिक्रमण) हो जाने पर 'अपदिष्ट' (प्रयुक्त होने वाला) हेतु। 'पक्ष' में साध्य के साधनार्थ हेतु के प्रयोग का उचितकाल तभी तक है, जब तक 'पक्ष' में साध्य के बाध का (साध्याभाव का) निश्चय नहीं होता है।

बाधित विषय तथा सत्प्रतिपक्ष में अन्तर—

बाधितविषय में प्रमाणान्तर से (अन्य प्रमाण से) 'साध्याभाव' का निश्चय रहता है, किन्तु सत्प्रतिपक्ष में अन्य हेतु से 'साध्याभाव' की सम्भावना मात्र रहती है। बाधितविषय में 'अन्य प्रमाण' (प्रमाणान्तर) प्रवल रहता है, किन्तु सत्प्रतिपक्ष में 'दोनों' को समबल (तुल्यबल) समझा जाता है।

अनुमान की आवश्यकता—

आस्तिक हो चाहे नास्तिक हो सभी दार्शनिक 'प्रत्यक्ष प्रमाण' को स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति 'अनुमान प्रमाण' के विषय में नहीं है। चार्वाक (नास्तिक) दार्शनिक 'अनुमान प्रमाण' का स्वीकार नहीं करते। किन्तु वाचस्पतिमिश्र आदि आस्तिक दार्शनिकों ने अनेक युक्तियों से यह स्पष्ट कर दिया है कि चार्वाक जैसे नास्तिक दार्शनिक को भी 'अनुमान प्रमाण' को स्वीकार करना ही होगा। आस्तिक दार्शनिकों का कहना है कि नास्तिक दार्शनिक जब किसी 'अनुमान प्रमाण' मानने वाले आस्तिक से कहता है कि 'अनुमान प्रमाण' नहीं है, तव उसका अभिप्राय यही रहता है कि 'अनुमान प्रमाण' मानने वाले का 'भ्रम' दूर कर दे, और वह 'अनुमान प्रमाण' को स्वीकार न करे। तव चार्वाक से यह प्रश्न किया जायेगा कि तुम्हें (चार्वाक को) यह कैसे मालूम हुआ कि वह (आस्तिक) अज्ञान, सन्देह या भ्रम में है ? चार्वाक के पास कौन सा साधन है ? जिससे उसने इसके 'भ्रम, अज्ञान या सन्देह' को जान लिया ? इसके उत्तर में चार्वाक कहेगा कि इसके 'वचन' (शब्द) से उसके भ्रम की प्रतीति हो रही है। किन्तु 'वचन'(शब्द) से होने वाली भ्रम की प्रतीति को 'प्रत्यक्ष' तो नहीं कह सकते। क्योंकि दूसरे व्यक्ति में स्थित 'भ्रम, अज्ञान या सन्देह' का 'प्रत्यक्ष' किसी लौकिक पुरुष को हो नहीं सकता। उसे जानने का एकमात्र मार्ग होगा उस व्यक्ति के द्वारा 'उच्चरित शब्द' (वचन) रूप 'लिङ्ग'। अतः लिङ्ग से होने वाले 'ज्ञान' को ही 'लैङ्गिक' या 'अनुमान' कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि दूसरे पुरुष के 'भ्रम, अज्ञान या विपर्यय' का ज्ञान (ग्रहण) **'अनुमान प्रमाण'** से ही होता है। एवं च जब चार्वाक दार्शनिक दूसरे से कहता है कि 'अनुमान प्रमाण' नहीं है, तब वह उसके अज्ञान, भ्रम आदि को अनुमान से जान कर ही यह कहता है कि 'अनुमान प्रमाण' का अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में उस चार्वाक दार्शनिक को भी 'अनुमान प्रमाण' का अस्तित्व मानना ही पड़ता है। उसे स्वीकार किये बिना उसका काम चल ही नहीं सकता। यदि वह दूसरे के अज्ञान, भ्रम 'विपर्यय' को बिना जाने ही दूसरे से कह देगा कि 'अनुमान प्रमाण' नहीं है तो उसे (चार्वाक को) उन्मत्त (पागल) ही समझ जायेगा। इस उन्मत्तता से बचने के लिये उसे **'अकामेनापि अनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम्'** न चाहते हुए भी अनुमान प्रमाण मानना ही होगा। केवल 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के मानने से ही काम नहीं चलेगा।

अनुमान प्रमाण को मानने में एक कारण यह भी है कि चार्वाक जब घर से बाहर कहीं जाता है, तब उसे अपने घर के लोगों का 'प्रत्यक्ष' तो नहीं रहता, तब क्या वह अपने घर के लोगों का अभाव (आस्तित्व नहीं है) मानेगा ? ऐसा मानने पर तो सब व्यवहार ही बिगड़ जायेगा। अतः 'घरवालों' को जीवित समझने के लिये उसे 'अनुमान' का स्वीकार करना ही होगा। 'अनुमान' के स्वीकार करने में एक कारण यह भी है कि चार्वाक को 'अनुमान' का अप्रमाणत्व (अप्रामाण्य) ज्ञात है या नहीं है ? यदि उसे अनुमान का अप्रामाण्य ज्ञात नहों है तो उसे 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह कहना ही नहीं चाहिये, क्योंकि सभी लोग उसी बात को कहते हैं, जो स्वयं को ज्ञात रहती है। 'अज्ञात बात' को कहने वाला व्यक्ति 'मिथ्याभाषी या वञ्चक' कहलाता है। अतः चार्वाक कह देगा कि 'अनुमान का अप्रामाण्य' उसे ज्ञात है। तब तो उसे अपना दुराग्रह तत्काल त्यागना होगा। क्योंकि 'हेतु' के उपाधियुक्त अथवा व्यभिचारी होने का सन्देह होने से 'व्याप्तिज्ञान' तो हो नहीं सकेगा, तब अनुमान कहाँ होगा ? और जब 'अनुमान' का अस्तित्व ही नहीं होगा तो उसके 'अप्रामाण्य' के ज्ञान का प्रश्न ही कैसे पैदा होगा ? 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसरी'। अतः 'अनुमान' का अप्रमाणत्व ज्ञात है, यह भी वह नहीं कह सकता। इसी तरह 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह भी वह नहीं कह सकता, क्योंकि 'अनुमान' को छोड़ 'अनुमान के अप्रामाण्य' का ज्ञापक अन्य कोई नहीं है। इसलिये 'अनुमान' तो उसे मानना ही पड़ेगा।

वैशेषिक दर्शन में इस पर अच्छा विचार किया गया है। प्रत्यक्ष के योग्य रहने पर भी 'उपाधि' जब ज्ञात नहीं हो पाती तब उसे संशय के योग्य नहीं माना जाता अर्थात् 'संशयानर्ह' माना जाता है। तथा 'प्रत्यक्ष' के योग्य उपाधि की उपलब्धि न होने से उसका (उपाधि का) अभाव माना जाता है। तब अनौपाधिक सम्बन्ध रूप 'व्याप्ति' का ज्ञान सरलता से हो जाता है। जिससे 'अनुमान का प्रामाण्य' निराबाध सिद्ध हो जाता है। यह भी बताया गया है कि लोकव्यवहार में 'कार्य-कारण भाव' को समझ-कर ही सब कार्य किये जाते हैं। निरर्थक (निष्फल) कार्य करना कोई नहीं चाहता। फलप्राप्ति के विश्वास से कार्य करने में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। 'अनुमान' को प्रमाण न मानने पर यह विश्वास किसी को नहीं होगा कि 'अमुक कार्य' करने से 'अमुक फल' की प्राप्ति होगी। क्योंकि जो भी कार्य है, वह तो अभी वर्तमान में है नहीं, वह तो 'साध्य कोटि' में अर्थात् अभी अनुष्ठेय कोटि में है, और उससे होने वाला जो 'फल' है, वह भी अभी वर्तमान में नहीं है। वर्तमान में जिसका 'आस्तित्व' ही नहीं है, उसका प्रत्यक्ष, वर्तमान में कैसे हो सकेगा ? अतः चार्वाक को भी 'अनुमान' का अस्तित्व और उसका प्रामाण्य अगत्या मानना ही पड़ेगा। चार्वाक केवल 'प्रत्यक्ष' को ही एकमात्र प्रमाण मानता है—**'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः'**। किन्तु उसे यह

समझना चाहिये कि 'प्रत्यक्ष का प्रामाण्य' भी अनुमान के प्रामाण्य पर ही निर्भर है। अन्यथा 'संशय' की अनुपपत्ति रहेगी। क्योंकि बात वही मानी जाती है जो प्रमाण सिद्ध होती है। अतः 'प्रत्यक्ष' के प्रामाण्य को भी प्रमाण से सिद्ध करना होगा, तभी उसका 'प्रामाण्य' माना जायेगा। 'प्रत्यक्ष' के प्रामाण्य को सिद्ध करने वाला प्रमाण, तो 'प्रत्यक्ष' से भिन्न ही होगा। अतः केवल एकमात्र प्रत्यक्ष के मानने से काम नहीं चलेगा।

अनुमान का लक्षण और भेद—

दार्शनिक जगत् में **अनुमानप्रमाण** के विषय में दो प्रकार की परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। (१) वैदिक परम्परा, और (२) अवैदिक परम्परा। वैदिक परम्परा की भी दो शाखाऐं हैं—'अनुमान' के दो भेद मानने वाली एक शाखा है और तीन भेद मानने वालों की दूसरी शाखा है। वैशेषिक और मीमांसादर्शन, 'पहली' वैदिक शाखा के अन्तर्गत हैं। इन दोनों दर्शनों में 'अनुमान' के दो भेद कहे गये हैं। वैशेषिक-दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में 'अनुमान निरूपण' के प्रसंग में बताया गया है कि **'तत्तु द्विविधं दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च'**। उसी तरह मीमांसा दर्शन के शबरभाष्य (१।१।५) में बताया है—**'तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च'**। 'दृष्ट' (प्रत्यक्षतोदृष्ट) तथा 'सामान्यतो दृष्ट' दोनों अनुमानों में अत्यन्त साम्य है।

वैदिक परम्परा की दूसरी शाखा में न्याय, सांख्य, आदि दर्शन समाविष्ट हैं। इनमें 'अनुमान' के तीन भेद कहे गये हैं। न्यायदर्शन में 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च' (१।१।५)। तथा सांख्य दर्शन में ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्य-कारिका में **'त्रिविधमनुमानमाख्यातम्'** (का० ५) द्वारा 'अनुमान' के तीन भेद बताये हैं। आयुर्वेद के आचार्य महर्षि चरक ने भी सूत्रस्थान (२१।२२) में **'प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते'** कहा है। अर्थात् चरक ने न्याय और सांख्य के समान ही 'अनुमान' को त्रिविध माना है। श्री वाचस्पति मिश्र ने वैदिक परम्परा की दोनों मान्यताओं के समन्वय करने की दृष्टि से सांख्यतत्त्वकौमुदी में 'पाँचवी कारिका' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'अनुमान' के दो भेद हैं—(१) **वीत** और (२) **अवीत**। जो अनुमान साध्य और साधन के 'अन्वयसहचार' (अन्वयव्याप्ति) के आधार पर विधि (भाव) रूप से किसी 'साध्य' के साधनार्थ प्रवृत्त होता है, तब उसे **'वीत'** अनुमान कहते हैं—**'अत्र अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वतिम्'**। और जो अनुमान 'साध्य-साधन' के 'व्यतिरेकसहचार' (व्यतिरेकव्याप्ति) के आधार पर प्रवृत्त होता है तथा किसी का 'विधायक' न होकर प्रतिषेधक होता है, उसे **'अवीत'** अनुमान कहते हैं—**'निषेधमुखेन प्रवर्तमानम् अविधायकम् अवीतम्'**। इस 'अवीत अनुमान' को ही न्यायदर्शन में **'शेषवत्'** शब्द से कहा गया है—'तत्र अवीतं शेषवत्' 'शिष्यते परि-

शिष्यते इति शेषः, स एव विषयतया यस्य अस्ति अनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत् । तदाहुः—**प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणो सम्प्रत्ययः परिशेषः ।'** 'शेषवत्' का अर्थ है—'शेषविषयक अनुमान'। और 'शेष' का अर्थ है—परिशेष, अर्थात् 'परितः' यानी सब ओर से 'शेष' यानी बचने वाला (बचा हुआ)। ऐसा 'पदार्थ' जिस अनुमान से सिद्ध हो, उसे **'शेषवत्'** अनुमान कहा गया है। जैसे—'शब्दः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यश्रितः, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति समवायिकरणकत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथा रूपम्' यह परिशेषानुमान या शेषवत् अनुमान अथवा अवीत अनुमान है। इस 'अनुमान' से शब्द का आश्रय, अष्टद्रव्यों से अतिरिक्त आकाशद्रव्य है—यह सिद्ध किया गया है। शब्द के आश्रयरूप में 'आकाश' का यह अनुमान 'पृथ्वी' आदि प्रसक्त और 'गुण' आदि अप्रसक्त पदार्थों से 'शेष' रह जाने वाले 'आकाश' को विषय करने से 'शेषवत् अनुमान' कहलाता है। यह 'पृथ्वी आदि द्रव्यों' में तथा 'गुण आदि अद्रव्यों' में शब्द के निषेध का बोधन करते हुए 'शब्द' के एक अतिरिक्त आश्रय भूत 'आकाश' का साधन करता है। इसलिये 'अवीत' की परिभाषा के अनुसार 'अवीत' अनुमान कहलाता है। चौबीस गुणों में से 'शब्द' एक गुण है। उसके 'आश्रय रूप में' पृथ्वी, जल, तेज, वायु, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये आठ द्रव्य प्रसक्त होते हैं, किन्तु 'शब्द' श्रोत्रग्राह्य होता है, और उक्त 'आठों द्रव्यों' के गुण श्रोत्रग्राह्य नहीं होते। इस कारण उक्त 'आठ द्रव्यों का' प्रतिषेध हो जाता है, अर्थात् वे 'शब्द' के आश्रयरूप में नहीं आ पाते। तथा २३ 'गुण' भी शब्द के आश्रय रूप में प्रसक्त नहीं हो सकते, क्योंकि कोई भी 'गुण' दूसरे 'गुण' पर आश्रित नहीं हुआ करता। इस प्रकार प्रसक्त और अप्रसक्त (प्राप्त और अप्राप्त) दोनों वर्गों से अतिरिक्त रह जाता है 'आकाश'। उसी को 'शब्द' के आश्रय में अनुमान-प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया गया है।

अनुमान का दूसरा भेद **'वीत'** है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसके पुनः दो भेद किये गये हैं। उनमें से एक को **'पूर्ववत्'** तथा दूसरे को **'सामान्यतोदृष्ट'** कहा है। 'पूर्ववत्' का अर्थ है—'पूर्वविषयक' और 'पूर्व' का अर्थ है—'प्रसिद्ध'। और 'प्रसिद्ध' का अर्थ है—'दृष्टस्वलक्षणसामान्य'। अर्थात् वह 'सामान्य', जिसका कोई 'स्वलक्षण' (स्व के लक्षित होने का आश्रय) कहीं दृष्ट हो। ऐसे 'सामान्यों' में उदाहरणार्थ 'वह्नित्व' को प्रस्तुत कर सकते हैं। क्योंकि उसका स्वलक्षण (उसके लक्षित होने का आश्रय) एक 'वह्नि' महानस में 'दृष्ट' है। जब उसी सामान्य के दूसरे 'स्वलक्षण' का (दूसरे वह्नि का) अनुमान पर्वत में करते हैं; तब वह अनुमान, **दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयक** होने से **'पूर्ववत्'** अनुमान कहलाता है। इसी को श्रीवाचस्पति मिश्र के शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—"वीतं च द्वेधा—पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च। तत्रैकं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं तद् पूर्ववत्। पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत्, तदस्य विषयत्वेन अस्ति अनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्। यथा धूमाद् वह्नित्वसामान्यविशेषः पर्वते

अनुमीयते, तस्य च वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम् ।' (सां० त० कौ० ५) ।

'वीत' अनुमान का दूसरा भेद **'सामान्यतोदृष्ट'** है । 'सामान्यतोदृष्ट' का अर्थ है—'उस सामान्य को विषय करने वाला, जिसका अपना स्वलक्षण (अपना कोई आश्रय) दृष्ट नहीं है । किन्तु उसके 'व्यापक सामान्य' का स्वलक्षण (आश्रय) दृष्ट है । अतः वह 'सामान्य' स्वरूपः दृष्ट न होने से स्वयं दृष्ट नहीं है, किन्तु अपने 'व्यापक सामान्य' के दृष्ट होने से 'सामान्यतोदृष्ट' है, और उसको विषय करने वाला अनुमान, 'सामान्यतोदृष्ट' नाम से कहा जाता है ।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण—

जैसे—'रूपादिज्ञानानि करणवन्ति कियात्वात् छिदिक्रियावत्' । यहाँ पर 'क्रियात्व' हेतु से 'रूपादिज्ञान के करण' (इन्द्रिय) का अनुमान किया गया है । यह 'अनुमान' रूपादि ज्ञान के कारण रूप में 'इन्द्रिय' का साधन कर रहा है, और उसमें 'इन्द्रियत्व' ऐसा सामान्य है, जिसका कोई 'स्वलक्षण' (आश्रय) हम जैसे स्थूलदर्शी लोगों को कभी दृष्ट नहीं है, क्योंकि 'इन्द्रिय' में अदृष्टता निश्चित है । वह 'निरवयव और अतीन्द्रिय' है । किन्तु उसके 'व्यापक सामान्य' (करणत्व) का ही स्वलक्षण (आश्रय-भूत कुठार) दृष्ट है । अतः 'सामान्यतो दृष्ट' अर्थ को विषय करने के कारण 'क्रियात्व' हेतु से रूपादिज्ञान के कारणभूत 'चक्षुरादि इन्द्रिय' का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है । 'सामान्यतः' में षष्ठयन्त से 'तसिल्' प्रत्यय है । अतः **'सामान्यतः'** का अर्थ हुआ 'सामान्यस्य' । तब 'सामान्यस्य दर्शनम्' यह अर्थ उपलब्ध होने से 'विशेष का अदर्शन' (अज्ञान) यह अर्थ भी प्रतीत होता है । इसी अभिप्राय से 'सामान्यतो दृष्टम्' अर्थात् 'अदृष्ट स्वलक्षणसामान्यविषयम्' कहा गया है । एवं च विशेषदर्शन में 'पूर्ववत् अनुमान' और सामान्यदर्शन में 'सामान्यतोदृष्टानुमान' होता है । इस प्रकार 'दृष्टाऽदृष्टत्व प्रयुक्त भेद इन दोनों में पाया जाता है ।

उपर्युक्त कथन को श्री वाचस्पति मिश्र के शब्दों में पढ लेना उचित है । "अपरं च वीतं सामान्यतोदृष्टम् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं, यथेन्द्रियविषयमनुमानम् । अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणत्वमनुमीयते, यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदादौ वास्यादि स्वलक्षणमुपलब्धं, तथापि यज्जातीयस्य रूपादिज्ञाने करणत्वमनु-मीयते, तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण । इन्द्रियजातीयं हि तत्करणं, न चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशां यथा वह्नित्व-सामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः ।"

बौद्धपरम्परा में अनुमान के भेद—

बौद्धों की भी 'अनुमान' के विषय में एक परम्परा है । इस परम्परा में भी दो

प्रकार की धाराएँ पाई जाती हैं। प्रारम्भ में बौद्धों ने वैदिक परम्परा का ही अनुसरण किया और न्यायसूत्र के अनुसार ही त्रिविध अनुमान का निरूपण भी किया। इस त्रिविध अनुमान का उल्लेख 'उपायहृदयम्' नामक बौद्धग्रन्थ में पृ. १३ पर उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ को कुछ विद्वान् नागार्जुनकृत कहते हैं। बौद्धविद्वान् 'दिङ्नाग' के पूर्व ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक बौद्धदार्शनिक न्यायदर्शन की वैदिक परम्परा से ही अनुमान करते रहे। किन्तु पाँचवीं शताब्दी में बौद्धविद्वान् दिङ्नाग ने वैदिकपरम्परा से अनुमान करना छोड़कर अपनी स्वतन्त्र नवीन परम्परा स्थापित की और न्यायदर्शन की 'परम्परा' से भिन्न प्रकार के अनुमान लक्षण, भेद आदि बना डाले। तब से बौद्ध-विद्वानों ने 'दिङ्नाग' की नवीन पद्धति को ही अपना कर अपना मार्ग भिन्न बना लिया। तथापि बौद्धों ने 'स्वार्थानुमान' और 'परार्थानुमान' नामक अनुमान के भेदों को अपनाया है। 'अनुमान के लक्षण' पर भी वैशेषिक की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, वैशेषिक ने अनुमान को 'लैङ्गिक' शब्द से निर्दिष्ट किया है। और 'लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम्' यह लक्षण किया है। बौद्धों के 'अनुमानं लिङ्गार्थदर्शनम्' (न्याय-प्रवेश पृ. ७ तत्त्वसंग्रहकारिका १३६२ तथा न्यायबिन्दु २।३) इस लक्षण पर वैशेषिक के 'पूर्वोक्त लक्षण' की छाया स्पष्ट दिखाई दे रही है। और उनके स्वार्थानु-मान तथा परार्थानुमान भेदों पर भी वैशेषिक की छाया स्पष्ट है। इस प्रकार यद्यपि बौद्धदार्शनिकों ने न्याय-वैशेषिक परम्परा के अनुमान, लक्षण तथा भेदों का खण्डन करने का प्रबल प्रयत्न किया है, फिर भी वे वैदिक-परम्परा के प्रभाव से अपने को बचा नहीं पाये हैं। न्यायपरम्परा के 'अथ तत्पूर्वकमनुमानम्' इस लक्षण और 'त्रिविध-मनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च' इन भेदों को स्वीकार न करने पर भी वैशेषिक-प्रतिपादित अनुमान लक्षण और भेदों का अनुसरण उन्होंने किया ही है।

जैनदार्शनिकों ने जो अनुमान के लक्षण किये हैं उन पर भी वैदिक परम्परा का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है।

तर्कभाषा में अनुमान के भेद—

ग्रन्थकार केशवमिश्र ने अपनी 'तर्कभाषा' में अनुमान के 'प्रत्यक्षतोदृष्ट और सामान्यतोदृष्ट' और 'वीत, अवीत', 'पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतो दृष्ट' आदि भेदों को नहीं कहा हैं, किन्तु उनके स्थान पर नव्यन्याय की पद्धति का अनुसरण कर 'स्वार्थानुमान' और 'परार्थानुमान' नाम के दो भेद बताये हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उन्हें उक्त भेद सम्मत नहीं हैं। उनके किये 'द्विविध विभाजन' में ही न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में प्रदर्शित अनुमान भेदों के प्रकारों का अन्तर्भाव हो जाता है। यह द्विविध भेदों का प्रतिपादन स्पष्टतः वैशेषिक परम्परा से पाया जाता है। प्रशस्त-पाद भाष्यकार ने कहा है—"पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्था-

नुमानम्। पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थ-प्रतिपादनं परार्थानुमानम् विज्ञेयम्।"

परार्थानुमान के पञ्चावयव—

वैशेषिकदर्शन के प्रशस्तपादभाष्य के परार्थानुमान लक्षण में पञ्चावयवों का उल्लेख मिला है—'पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्'। यह परार्थानुमान जिस वाक्य से सम्पन्न होता है, उसे 'न्याय' कहते हैं। और उसके घटक वाक्यों को 'न्यायावयव' कहते हैं। इन अवयवों की संख्या के विषय में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। न्यायदर्शन में उनकी संख्या पाँच बतायी गयी है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय, और (५) निगमन—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः"—(न्या० १।१।३२)। तर्कभाषा में भी इसी प्रकार परार्थानुमान का लक्षण किया गया है। और उसके पाँच अवयवों का भी इसी प्रकार उल्लेख किया गया है।

परन्तु वैशेषिकदर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में प्रथम अवयव का नाम तो वही (प्रतिज्ञा) रखा है, परन्तु अन्य चार अवयवों के नाम न्यायदर्शन के नामों से सर्वथा भिन्न रखे गये हैं। जैसे—'हेतु' का नाम 'अपदेश', 'उदाहरण' का नाम 'निदर्शन'; 'उपनय' का नाम 'अनुसन्धान, और 'निगमन' का नाम 'प्रत्याम्नाय' किया गया है। तथाहि—"अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः"—(प्रश० भा० पृ० ११४)

न्यायदर्शन के 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः' सूत्र के वात्सायन भाष्य में 'न्याय' के दश अवयवों को बताया है, जिसमें 'प्रतिज्ञा' आदि के अतिरिक्त 'जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन, और संशयव्युदास' को गिनाया है। तथा हि—'दशावयवान् एके नैयायिका वाक्ये संचक्षते—जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्यिः, प्रयोजनं, संशयव्युदास इति।' न्यायभाष्य में जिज्ञासा आदि पाँच अवयवों का खण्डन कर प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों को ही स्वीकार किया है।

वैशेषिकदर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में एक विशेष बात और है कि न्यायदर्शन में केवल 'हेतु' को दूषित मानकर हेत्वाभासों का उल्लेख किया गया है। तर्कभाषा में भी न्याय के अनुसार पाँच प्रकार के हेत्वाभासों का निरूपण किया गया है। परन्तु प्रशस्तपादभाष्य में हेत्वाभासों के अतिरिक्त प्रतिज्ञाभास तथा निदर्शनाभासों का भी निरूपण किया गया है। तथाहि—"तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा।..........अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्र स्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति। (१) यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी। (२) घनमम्बरमित्यनुमानविरोधी। (३) ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागमविरोधी। (४) वैशेषिकस्य सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी।

(५) न शब्दोऽर्थप्रत्यायकः इति स्ववचनविरोधी ।—(प्रश० भा० पृ० ११५) प्रशस्तपाद भाष्य में पञ्चविध हेत्वाभासों के समान पञ्चविध प्रतिज्ञाभासों तथा निदर्शनाभासों का भी निरूपण किया गया है । तथाहि—"अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति ।.... लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः लिङ्गानुमेयोभयव्यावृत्ताश्रयासिद्धव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासाः ।"

अर्थात् (१) लिङ्गासिद्ध, (२) अनुमेयासिद्ध, (३) उभयासिद्ध, (४) आश्रयासिद्ध, (५) अननुगत, (६) विपरीतानुगत—इस प्रकार ६ प्रकार के साधर्म्यनिदर्शनाभास और (१) लिङ्गव्यावृत्त, (२) अनुमेयव्यावृत्त, (३) उभयव्यावृत्त, (४) आश्रयासिद्धव्यावृत्त, और (५) विपरीतव्यावृत्त—ये पाँच प्रकार के वैधर्म्यनिदर्शनाभासों को भी बताया गया है । इन प्रतिज्ञाभासों और निदर्शनाभासों का उल्लेख न्यायदर्शन में नहीं पाया जाता । अत एव न्यायप्रधान तर्कभाषा में भी उनका निरूपण नहीं किया गया है ।

पञ्चावयवों के प्रयोग में भिन्नता—

१—न्याय और वैशेषिकदर्शन में अनुमान के पाँच (५) अवयव माने गये हैं ।

१—सांख्यदार्शनिक 'प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त' इन तीन अवयवों को ही मानते हैं ।

३—प्राभाकर मीमांसक और भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती 'प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण' अथवा—'उदाहरण, उपनय और निगमन' इन तीन ही अवयवों को बताते हैं । किन्तु जैनदार्शनिक हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य ने चार अवयव मानने वाले किसी मीमांसक सम्प्रदाय का भी उल्लेख (प्रमेयरत्नाकर ३।३७) में किया है । परन्तु वैसा कोई प्रसिद्ध सम्प्रदाय उपलब्ध नहीं है । संभव है कदाचित् मुरारि-सम्प्रदाय हो । क्योंकि 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' यह कहावत प्रसिद्ध है ।

४—बौद्धदार्शनिक 'उदाहरण और उपनय' दो ही अवयव मानते हैं ।

५—जैनदार्शनिक कभी दो और कभी एक, कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच अवयवों को भी मानते हैं । अवयव-संख्या कोई नियत नहीं है । जिसके प्रति न्याय का प्रयोग किया जाता है, उसकी योग्यता के अनुसार अवयवों का प्रयोग करते हैं । प्रमाणवार्तिक (१।२८) तथा स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ५५९) में हेतु तथा दृष्टान्त दो अवयवों तथा एक अवयव के प्रयोग का भी उल्लेख है । जैनदार्शनिक माणिक्यनन्दी ने प्रदेशभेद (स्थलभेद) की दृष्टि से दो तथा पाँच अवयवों के प्रयोग-व्यवस्था का भी उल्लेख किया है । इनका कहना है कि 'वाद' प्रदेश (स्थल) में तो पाँच अवयवों का प्रयोग नियमतः करे, परन्तु शास्त्रप्रदेश में अधिकारी के अनुसार दो अथवा पाँच अवयवों का प्रयोग वैकल्पिक है । वादिदेव नाम के जैनदार्शनिक तथा कोई बौद्ध आचार्य भी, विशिष्ट विद्वानों के लिये केवल हेतुमात्र (एक अवयव) का प्रयोग ही बताते हैं ।

हेतु के पाँच गमकतौपयिक रूप—

हेतु के जिन रूपों का ज्ञान होने पर अनुमिति होती है, उन रूपों को 'गमकतौपयिकरूप' कहते हैं,। 'गमकता' पद का अर्थ है—'अनुमापकता', और 'औपयिक' पद का अर्थ है—'प्रयोजक'। अतः 'गमकतौपयिक' का अर्थ है—अनुमापकता का प्रयोजक। इन रूपों की संख्या के विषय में भी दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

तर्कभाषाकार ने (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्तत्व, (४) असत्प्रतिपक्षत्व, और (५) अबाधितविषयत्व--इन पाँचरूपों को बताया है। कोई भी अन्वय-व्यतिरेकी सद्धेतु उक्त पाँच रूपों से उपपन्न होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है, यह न्याय का सिद्धान्त है।

वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध इन तीन दर्शनों में हेतु की त्रिरूपता को स्वीकार किया गया है। किन्तु न्यायदर्शन में हेतु की पञ्चरूपता को स्वीकार किया गया है। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में हेतु (लिङ्ग) को बताते हुए लिखा है—

'यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥'

जो अनुमेय अर्थात् पक्ष से सम्बद्ध—पक्षसत्, और तदन्वित अर्थात् सपक्ष में प्रसिद्ध—सपक्षसत् हो, और असके अभाव अर्थात् विपक्ष में न हो—विपक्षव्यावृत्त हो, वही लिङ्ग (हेतु) अनुमापक होता है। एवं च (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, और (३) विपक्षव्यावृत्तत्व—ये तीन ही रूप (धर्म) हेतु के माने गये हैं। प्रशस्तपादभाष्य में उल्लिखित उक्त कारिका से प्रतीत होता है कि अपने पूर्ववर्ती काश्यपाचार्य के मतानुसार इस त्रैरूप्य सिद्धान्त का विवेचन प्रशस्तपाद ने किया है। 'बुद्धिस्ट लॉजिक' नाम की पुस्तक में (पृ० २४) प्रो० चारावास्की ने लिखा है कि वैशेषिकों पर बौद्धदर्शन का प्रभाव रहने से उन्होंने त्रैरूप्य का सिद्धान्त अपनाया है। बौद्धों के अभिधर्मकोश प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश (पृ० १), न्याय बिन्दु (२।५), हेतुबिन्दु (पृ० १) और तत्त्वसंग्रह (कारिका १३६२) आदि सभी ग्रन्थों में त्रैरूप्य सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है। और पञ्चरूपता के न्यायसिद्धान्त का खण्डन किया गया है। सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में भी पञ्चमकारिका की व्याख्या में इसी त्रैरूप्य-सिद्धान्त का अनुमोदन किया गया है। एवं च वैशेषिक, सांख्य और बौद्धदर्शन हेतु के तीन रूपों (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व) को ही मानते हैं।

न्याय के पञ्चरूपता-सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्तक कदाचित् श्री उद्योतकर रहे हों। तदनन्तर श्री वाचस्पतिमिश्र तथा जयन्तभट्ट आदि ने भी इस 'पञ्चरूपता-सिद्धान्त' का समर्थन किया है। तर्कभाषाकार ने भी उसी का अनुकरण किया है। किन्तु यह सिद्धान्त उतना स्थिर नहीं रहने पाया। नव्यन्याय में श्रीगदाधरभट्टाचार्य आदि विद्वानों ने हेतु

की गमकतोपयोगी 'व्याप्ति तथा पक्षधर्मता' को प्रधानता देकर वस्तुतः हेतु की त्रिरूपता को ही परिपुष्ट किया है।

हेत्वाभासों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद—

वैशेषिकदर्शन ने हेतु की त्रिरूपता बताने से साथ ही हेत्वाभासों की भी त्रिरूपता बता दी है। तथाहि—

"विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धाऽसिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥

—(प्रश० भा० पृ० ६००)

न्यायदर्शन ने 'हेत्वाभास' पाँच प्रकार के स्वीकार किये हैं। इन्होंने हेतुरूपों की संख्या पाँच मानी है, अतः उनके ज्ञान के विरोध के आधार पर 'हेत्वाभासों' की पाँच संख्या की गई है। और उनके नाम—सव्यभिचार, विरुद्ध, असिद्ध (साध्यसम), सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम), और बाधित (अतीतकाल) रखे गये हैं। तर्कभाषाकार ने 'सव्यभिचार' को ही **'अनैकान्तिक'**, 'सत्प्रतिपक्ष' को **'प्रकरण सम'**, और 'बाधित' को **'कालात्ययापदिष्ट'**[1] नाम से कहा है।

उपमानप्रमाण के पूर्व अनुमान निरूपण का रहस्य—

अभी तक 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' का निरूपण किया गया। 'उपमानप्रमाण' की चर्चा का अवसर अब क्रमप्राप्त है। अनुमान निरूपण के पूर्व उसकी चर्चा, क्रमप्राप्त नहीं थी। क्योंकि किसी भी पदार्थ का प्रतिपादन उसकी जिज्ञासा होने पर ही उचित होता है। प्रत्यक्ष के बाद जिज्ञासा अनुमान की होती है, उपमान की नहीं, यह अनुभव-सिद्ध है। क्योंकि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य, अनुमान पर ही निर्भर है, उपमान पर नहीं। दूसरी बात यह है कि 'उपमान' के प्रामाण्य में अधिक विवाद है, और अनुमान के प्रामाण्य में स्वल्प विवाद है। अतः सूचीकटाहन्याय के अनुसार अनुमान का निरूपण पूर्व किया गया है। तीसरी बात यह है कि अनुमान के बल पर अनन्तानन्त पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध होने से उसका क्षेत्र विशाल है, और उपमान से अत्यन्त सीमित पदार्थों का ज्ञान होता है। एवंच उपमान की अपेक्षा अनुमान का उपयोग अत्यधिक है। इसलिये भी उसका निरूपण 'उपमान' से पूर्व किया गया है।

इति अनुमानव्याख्यानं समाप्तम्।

---

१. कालात्ययापदिष्टः—कालातीत इति सूत्रे निर्दिष्टपक्षोपन्यासानन्तरं हेतूपन्यासस्य कालस्तस्यात्ययेऽतिक्रमे सति अपदिश्यते प्रयुज्यते।

उपमानप्रमाणनिरूपणम्

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। यथा गवयमजानन्नपि नागरिको 'यथा गौस्तथा गवय' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात्पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात्। गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानानन्तरमयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिरुपमितिः। सैव फलम्। इदन्तु प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति।

इति व्याख्यातमुपमानम्।

प्रत्यक्ष और अनुमान के बाद तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। अतः उसके स्वरूप और प्रक्रिया को बताया जा रहा है।

अतिदेशेति। यथा गौः तथा गवयः—जैसी गाय, वैसा गवय—इस **'अतिदेश' वाक्य** के अर्थ का स्मरण करने के साथ 'गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड'—(गाय की समानता से युक्त पिण्ड—शरीर यानी आकृति) अर्थात् 'गवय पशुप्राणी' का जो ज्ञान होता है, वही **'उपमान' प्रमाण** है।

यथेति। जैसे—'गवय' (नीलगाय) को न जानने वाला कोई नागरिक (शहरी) आदमी, किसी वनवासी (देहाती—आरण्यक) आदमी से **'यथा गौस्तथा गवयः'** (जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है) यह वाक्य सुनकर जब कभी वह वन में जाता है और 'यथा गौस्तथा गवयः' इस प्रकार देहाती आदमी से पहले सुने हुए वाक्य के अर्थ की **याद** (स्मरण) के साथ **'गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड'**—गाय की (समानता से युक्त आकृति—) को देखता है, अथवा 'आकृति' को देखकर उस अतिदेशवाक्य के अर्थ का जब उसको स्मरण हो आता है, तब उस वाक्यार्थ के स्मरणसहित जो उसे **'गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड'** का ज्ञान होता है, तब वही **'ज्ञान'**, 'उपमिति' (संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध बोधरूप फल) का **'करण'** कहलाता है। उसी 'ज्ञान' को **'उपमानप्रमाण'** कहते हैं।

गोसादृश्येति। 'गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड' का ज्ञान होने के बाद **'अयमसौ 'गवयशब्दवाच्यः'** यह आकृति (पिण्ड) ही 'गवय' शब्द की **'वाच्य'** (अर्थ) है। इस प्रकार से **'संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध'** की जो प्रतीत होती है, वह **'प्रतीति'** ही 'उपमानप्रमाण' का फल है।

इदन्त्विति। उपमानप्रमाण, 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' प्रमाणों के समान ही पृथक् प्रमाण है, क्योंकि यह 'उपमानप्रमाण' अपने पूर्ववर्ती 'प्रत्यक्ष', और 'अनुमान' के

द्वारा **असाध्य प्रमा** का साधन करता है। इसलिये यह **'उपमानप्रमाण'** स्वतन्त्र प्रमाण है।

इस रीति से ग्रन्थोक्त **उपमानप्रमाण** का निरूपण समाप्त किया गया है।

माधुरी

अनुमानप्रमाण का निरूपण करने के पश्चात् उपमानप्रमाण का निरूपण किया गया है। **'अतिदिश्यते प्रतिपाद्यते अनेन साधर्म्यादिरित्यतिदेशः', स चासौ वाक्यं चेति समानाधिकरणसमासः।**

शंका—पुं-नपुंसक का 'सामानाधिकरण्य' कैसे होगा ?

समा०—'परोपदेशः पञ्चावयवं वाक्यं' की तरह 'सामानाधिकरण्य' की उपपत्ति हो जायेगी। इसीलिये 'प्रसिद्ध साधर्म्य के कारण ही साध्य का साधन **'उपमान'** होता है'— यह आचार्यों ने बताया है। अर्थात् 'अतिदेशवाक्य' से अवगत हुए 'साधर्म्य' के अनन्तर 'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धरूप साध्य' के साधन-(ज्ञापक-) भूत सादृश्यविशिष्टपिण्ड-प्रत्यभिज्ञान' को 'उपमान' कहा गया है। कहा भी है—

'अव्युत्पन्नपदोपेतवाक्यार्थस्य च संज्ञिनि।
प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानमुपमानमिहोच्यते ॥'

सूत्रगत साधर्म्य का ग्रहण 'वैधर्म्य' आदि का भी उपलक्षण है। निष्कर्ष यह निकला कि 'समानता' आदि को बताने वाले वाक्य को 'अतिदेशवाक्य' कहते हैं। अथवा यों कहिये 'एकत्र श्रुतस्य अन्यत्र सम्बन्धः; अन्यधर्मस्य अन्यत्र आरोपणम्' जिसके द्वारा किसी एक पदार्थ के धर्म का दूसरे में सम्बन्ध दिखाने वाले वाक्य को 'अतिदेशवाक्य' कहते हैं। 'यथा गौस्तथा गवयः' यह वाक्य 'गौ' तथा 'गवय' के सादृश्य (समानता) को बताता है, इसलिये यह वाक्य 'अतिदेशवाक्य' है। यह 'वाक्य' भी 'उपमान प्रमाण' का एक अंग कहलाता है।

'उपमान' प्रमाण की प्रक्रिया—

'गवय' को कभी न देखे हुए और न पहिचानने वाले किसी शहरी आदमी को किसी देहाती आदमी ने बताया कि 'यथा गौस्तथा गवयः'—(यही अतिदेशवाक्य है)। यह वाक्य 'गवय' का 'गौ' के साथ सादृश्य (समानता) बताता है। इस वाक्य को सुनने के पश्चात् वह शहरी आदमी अरण्य में जाकर 'गौ' जैसे 'पशु' को देखता है। उसे देखकर 'देहाती आदमी के द्वारा बताये गये वाक्य' के अर्थ की उसे याद हो आती है कि **'यथा गौस्तथा गवयः'**—जैसी गाय वैसी ही 'नीलगाय'। उसके बाद उसे निश्चय हो जाता है कि इस 'पशुविशेष' को नीलगाय (गवय) कहते हैं।

उपमान प्रक्रिया के तीन अंग—

(१) गोसदृश पशुविशेष का प्रत्यक्षज्ञान (प्रत्यक्ष देखना)।

(२) अतिदेशवाक्य के अर्थ का स्मरण।

(३) गोसदृश पशुविशेष को 'गवय' कहते हैं। अर्थात् यह पशुविशेष 'गवय' शब्द का वाच्य है ऐसा ज्ञान।

तर्कभाषाकार ने प्रथम तथा द्वितीय अंगों को 'उपमान प्रमाण' बताया है, और तीसरे अंग को 'उपमिति' प्रमा बताया है। क्योंकि प्रमाण का स्वरूप इन्होंने 'गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञान' अर्थात् अरण्य में गोसदृश पशुविशेष को प्रत्यक्ष देखना और साथ ही 'अतिदेशवाक्यार्थस्मारणसहकृतम्' अर्थात् अतिदेशवाक्य के अर्थ का स्मरण करना बताया है। इस प्रमाण के द्वारा इस आरण्यक पशुविशेष को 'गवय' कहते हैं। अर्थात् यह पशुविशेष 'गवय' शब्द का वाच्य है। ऐसी प्रमा (यथार्थज्ञान) होती है। यही 'उपमिति' है। इसी को उपमानप्रमाण का फल कहते हैं।

'उपमिति' का स्वरूप—

'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध प्रतीतिः' यही उपमिति का स्वरूप है। किसी पदार्थ (वस्तु) के नाम को 'संज्ञा' कहते हैं और उस पदार्थ (वस्तु) को 'संज्ञी' कहते हैं। आरण्यक पशुविशेष (गवय) 'संज्ञी' है और 'गवय' उस पशुविशेष की 'संज्ञा' है। **'अयं गवयपदवाच्यः'**—इस पशुविशेषको 'गवय' नाम से कहते हैं। अर्थात् 'गवय' शब्द, 'वाचक' है और 'आरण्यक पशुविशेष' उसका 'वाच्य' है। इस 'वाच्य-वाचक-सम्बन्ध' (संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध) की प्रतीति का होना ही 'उपमान' प्रमाण का फल है। यह 'फल' 'प्रत्यक्ष तथा अनुमान' प्रमाण से साध्य नहीं है।

न्ययासूत्रकार ने उपमान का लक्षण 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' किया है। भाष्यकार ने 'समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः' कहकर उसकी व्याख्या की है। आगे चलकर उसका परिष्कृत स्वरूप हुआ। उसी को तर्कभाषाकार ने लिया है। तर्कभाषाकार ने उपमान के लक्षण में 'करण' तथा 'व्यापार' को अलग से नहीं बताया है किन्तु आगे चलकर उसे स्पष्ट किया गया। 'सादृश्यज्ञान' ही उपमिति का 'करण' है और 'अतिदेशवाक्यार्थस्मरण' उसका 'अवान्तरव्यापार' है। तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट लिखते हैं कि 'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः।

प्रश्न—नैयायिक ने जो यह बताया कि 'संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध' की प्रतीति की सिद्धि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती, उसके लिये तो एक अन्य प्रमाण अर्थात् 'उपमान' प्रमाण की आवश्यकता होती है। इसलिये अन्य प्रमाणों की तरह 'उपमान' भी स्वतंत्र प्रमाण है। किन्तु बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, योग के दार्शनिक 'उपमान' को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते हैं तो उनके मत में वह 'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध प्रतीति' कैसे उपपन्न होगी ?

उत्तर—उक्त प्रश्न के उत्तर में वैशेषिक कदाचित् कह सकता है कि 'नीलगाय' में 'गवय' शब्द के वाच्यत्व का निश्चय 'अयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्डः'—'नीलगाय' गवय शब्द का वाच्य है, इस रूप में नहीं किया जायेगा, अपितु 'अयमसौ पिण्डः अमुकरूपेण गवयशब्दस्य वाच्यः'—'नीलगाय' अमुकरूप से 'गवय' शब्द का वाच्य है—इस रूप में करना होगा। मह 'अमुकरूप' 'गोसदृशत्व, इदन्त्व, और गवयत्व' भेद से तीन प्रकार का हो सकता है। क्योंकि गोसदृश आरण्यक पशुविशेष को देखते समय ये तीनों रूप उसमें प्रतीत होते हैं। अतः यह बताना होगा कि उक्त तीनों रूपों में से किस रूप में 'नीलगाय' को 'गवय' शब्द का वाच्य बता रहे हैं? यदि 'गोसदृशत्व' रूप से वाच्य कहें तो केवल 'नीलगाय' ही 'गवय' शब्द का वाच्य नहीं होगी, अपितु 'गोसदृशत्व' जिन अन्य पशुओं में रहेगा, वे भी 'गवय' शब्द के वाच्य कहने होंगे। यदि 'गोसदृशत्व, इदन्त्व, और गवयत्व' तीनों की अपेक्षा करके उसे (नीलगाय को) गवय–शब्द का वाच्य कहें, तो महान् गौरवदोष होगा। अतः इस रूप में भी उसे गवय शब्द का वाच्य नहीं कह सकते। अच्छा तो 'इदन्त्व' रूप से उसको गवय–शब्द का वाच्य कहें तो वह भी ठीक न होगा, क्योंकि 'इदन्त्व' तो केवल प्रत्यक्ष पुरोवर्ती नीलगाय में ही विद्यमान है। अतः केवल उसी में गवय शब्द की वाच्यता रह सकेगी, और जो नीलगायें सामने प्रत्यक्ष नहीं हो रही हैं, वे गवय शब्द की वाच्य नहीं हो पायेंगी। साथ ही 'इदन्त्व' तो 'पुरोवर्तित्व अथवा पुरोदृश्यमानत्व'—स्वरूप है। इसलिये 'गवयत्व' की अपेक्षा वह गुरुतर है। एवं च इस रूप में भी नीलगाय को गवयशब्दवाच्य कहने में गौरव होगा।

अतः 'गवय' पिण्ड के तीनों रूपों में से 'गवयत्व' रूप से ही उसकी वाच्यता उचित प्रतीति होती है। क्योंकि 'गवयत्व' अपने लक्ष्य (समस्त नीलगायों अर्थात् समस्त गवयों) में पूर्णरूपेण व्याप्त है, और अपने लक्ष्य से भिन्न (गवय = नीलगाय से भिन्न) किसी भी वस्तु में नहीं रहता है। अतः 'गवयत्व' धर्म की न कहीं अव्याप्ति है और न अतिव्याप्ति ही है। इसलिए उसमें कोई दोष न होने से वह निर्दुष्ट है। 'गवयत्व' धर्म तो 'जातिरूप' है। अतः उस रूप के मानने में लाघव भी है। एवं च 'नीलगाय' गवयत्वरूपेण 'गवय' शब्द का वाच्य है। परन्तु उक्त निश्चय करने के पूर्व एक प्रश्न उपस्थित होता है कि 'क्या, गवय शब्द का कोई प्रवृत्तिनिमित्त धर्म है? अथवा जिन पदार्थों के बोधनार्थ 'गवय' शब्द का उच्चारण किया जाता है, वे पदार्थ, 'गवय' शब्द के वाच्य, किसी न किसी निश्चित रूप सेहुआ करते हैं? इसका निर्णय हुए बिना किस रूप से नीलगाय को 'गवय' शब्द का वाच्य माना जाय, अथवा गोसदृशत्व इदन्त्व, और गवयत्व—इन तीनों में से किस रूप को 'गवय' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त कहा जाय'—यह विचार पैदा होने की बात ही नहीं है। किन्तु वह निर्णय, अनुमान से ही हो सकता है। वह अनुमान इस प्रकार होगा—

'गवयपदं गवयत्व-प्रवृत्तिनिमित्तकं असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, यथा गोपदं गोत्व-प्रवृत्तिनिमित्तकम् ।' यह गवय पद, गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तक है, गवय से भिन्न पदार्थ में उसकी शक्ति न होकर वृद्ध पुरुषों के द्वारा गवय में ही उसका प्रयोग होने से । जैसे गो पद की गो पदार्थ से भिन्न पदार्थ में शक्ति नहीं होती तथा वृद्धलोग गोपद का गोरूप अर्थ में ही प्रयोग करते हैं । इसलिये गोपद गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तक ही माना जाता है । वैसे ही गवय पद की भी गवयरूप अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ में शक्ति नहीं है, तथा वृद्ध पुरुषों ने गवय पद का गवय रूप अर्थ में ही प्रयोग किया है । इसलिये गवय पद भी गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तक ही होगा । इस प्रकार से अनुमान के द्वारा ही गवय पद गवयत्व रूपेण ही नीलगाय (गवय) का वाचक है, यह मानने में लाधव है । अतः गवयपद-वाच्यत्व के ज्ञानार्थ उपमानप्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये—यह वैशेषिकों का अपना मत है ।

उस पर नैयायिक कहता है कि अनुमान से इतना ही अवगत हो सकता है कि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाला कोई भी साधु शब्द, किसी एक निश्चित अर्थ का वाचक होता है । अनुमान यह नहीं बताता कि 'अमुक शब्द अमुक रूप से अपने अर्थ का वाचक है ।' एवं च अनुमान से इतना ही ज्ञात हो पाता है कि 'गवय' शब्द किसी एक अर्थ का वाचक है ।' 'वह गवयत्वरूपेण गवय का वाचक है' यह निश्चय नहीं हो पाता है । उस निश्चय के लिये 'उपमान' प्रमाण की ही शरण लेनी होगी ।

किञ्च—व्याप्ति में जिस रूप से साध्य का प्रवेश रहता है उसी रूप से साध्य की अनुमिति होती है, अन्यरूप से नहीं । जैसे—'जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होता है' इस व्याप्तिनियम के बल पर होने वाले अनुमान से 'अग्नित्व' इस सामान्यरूप से ही अग्नि की अनुमिति हुआ करती है, द्रव्यत्व, तेजस्त्व, या तद्व्यक्तित्व रूप से नहीं हुआ करती । अतः विशेषरूप से निश्चयार्थं उपमान प्रमाण की ही आवश्यकता रहेगी, केवल अनुमान से काम नहीं चलेगा ।

किञ्च—व्याप्ति ज्ञान के विना भी उपमिति का अनुभव होता है । गवयपदवाच्यत्व का ज्ञान होने पर 'उपमिनोमि' इस—प्रकार से उपमितिज्ञानविषयक ही मानस प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय ज्ञान होता है । 'अनुमिनोमि' इस प्रकार का अनुमितिज्ञान विषयक मानसप्रत्यक्षरूप अनुव्यवसायज्ञान नहीं हुआ करता । अतः उपमिति को अनुमिति से भिन्न ही मानना चाहिये ।

उपमान प्रमाण का क्षेत्र—

संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध ही उपमान प्रमाण का क्षेत्र है । उसके निश्चयार्थं जैसे अप्रसिद्ध वस्तु में प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य ज्ञान को उपमान प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार अप्रसिद्ध वस्तु में प्रसिद्ध वस्तु के वैसादृश्य (वैधर्म्य ज्ञान) को भी उपमान प्रमाण मानना आवश्यक है । जैसे—'उष्ट्र' शब्द का अर्थ जिसको ज्ञात नहीं

उत्तर—उक्त प्रश्न के उत्तर में वैशेषिक कदाचित् कह सकता है कि 'नीलगाय' में 'गवय' शब्द के वाच्यत्व का निश्चय 'अयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्डः'—'नीलगाय' गवय शब्द का वाच्य है, इस रूप में नहीं किया जायेगा, अपितु 'अयमसौ पिण्डः अमुकरूपेण गवयशब्दस्य वाच्यः'—'नीलगाय' अमुकरूप से 'गवय' शब्द का वाच्य है—इस रूप में करना होगा। यह 'अमुकरूप' 'गोसदृशत्व, इदन्त्व, और गवयत्व' भेद से तीन प्रकार का हो सकता है। क्योंकि गोसदृश आरण्यक पशुविशेष को देखते समय ये तीनों रूप उसमें प्रतीत होते हैं। अतः यह बताना होगा कि उक्त तीनों रूपों में से किस रूप में 'नीलगाय' को 'गवय' शब्द का वाच्य बता रहे हैं? यदि 'गोसदृशत्व' रूप से वाच्य कहें तो केवल 'नीलगाय' ही 'गवय' शब्द का वाच्य नहीं होगी, अपितु 'गोसदृशत्व' जिन अन्य पशुओं में रहेगा, वे भी 'गवय' शब्द के वाच्य कहने होंगे। यदि 'गोसदृशत्व, इदन्त्व, और गवयत्व' तीनों की अपेक्षा करके उसे (नीलगाय को) गवय–शब्द का वाच्य कहें, तो महान् गौरवदोष होगा। अतः इस रूप में भी उसे गवय शब्द का वाच्य नहीं कह सकते। अच्छा तो 'इदन्त्व' रूप से उसको गवय–शब्द का वाच्य कहें तो वह भी ठीक न होगा, क्योंकि 'इदन्त्व' तो केवल प्रत्यक्ष पुरोवर्ती नीलगाय में ही विद्यमान है। अतः केवल उसी में गवय शब्द की वाच्यता रह सकेगी, और जो नीलगायें सामने प्रत्यक्ष नहीं हो रही हैं, वे गवय शब्द की वाच्य नहीं हो पायेंगी। साथ ही 'इदन्त्व' तो 'पुरोवर्तित्व अथवा पुरोदृश्यमानत्व'—स्वरूप है। इसलिये 'गवयत्व' की अपेक्षा वह गुरुतर है। एवं च इस रूप में भी नीलगाय को गवयशब्दवाच्य कहने में गौरव होगा।

अतः 'गवय' पिण्ड के तीनों रूपों में से 'गवयत्व' रूप से ही उसकी वाच्यता उचित प्रतीति होती है। क्योंकि 'गवयत्व' अपने लक्ष्य (समस्त नीलगायों अर्थात् समस्त गवयों) में पूर्णरूपेण व्याप्त है, और अपने लक्ष्य से भिन्न (गवय = नीलगाय से भिन्न) किसी भी वस्तु में नहीं रहता है। अतः 'गवयत्व' धर्म की न कहीं अव्याप्ति है और न अतिव्याप्ति ही है। इसलिए उसमें कोई दोष न होने से वह निर्दुष्ट है। 'गवयत्व' धर्म तो 'जातिरूप' है। अतः उस रूप के मानने में लाघव भी है। एवं च 'नीलगाय' गवयत्वरूपेण 'गवय' शब्द का वाच्य है। परन्तु उक्त निश्चय करने के पूर्व एक प्रश्न उपस्थित होता है कि 'क्या, गवय शब्द का कोई प्रवृत्तिनिमित्त धर्म है? अथवा जिन पदार्थों के बोधनार्थ 'गवय' शब्द का उच्चारण किया जाता है, वे पदार्थ, 'गवय' शब्द के वाच्य, किसी न किसी निश्चित रूप सेहुआ करते हैं? इसका निर्णय हुए बिना किस रूप से नीलगाय को 'गवय' शब्द का वाच्य माना जाय, अथवा गोसदृशत्व इदन्त्व, और गवयत्व—इन तीनों में से किस रूप को 'गवय' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त कहा जाय'—यह विचार पैदा होने की बात ही नहीं है। किन्तु वह निर्णय, अनुमान से ही हो सकता है। वह अनुमान इस प्रकार होगा—

'गवयपदं गवयत्व-प्रवृत्तिनिमित्तकं असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, यथा गोपदं गोत्व-प्रवृत्तिनिमित्तकम् ।' यह गवय पद, गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तक है, गवय से भिन्न पदार्थ में उसकी शक्ति न होकर वृद्ध पुरुषों के द्वारा गवय में ही उसका प्रयोग होने से। जैसे गो पद की गो पदार्थ से भिन्न पदार्थ में शक्ति नहीं होती तथा वृद्धलोग गोपद का गोरूप अर्थ में ही प्रयोग करते हैं। इसलिये गोपद गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तक ही माना जाता है। वैसे ही गवय पद की भी गवयरूप अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ में शक्ति नहीं है, तथा वृद्ध पुरुषों ने गवय पद का गवय रूप अर्थ में ही प्रयोग किया है। इसलिये गवय पद भी गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तक ही होगा। इस प्रकार से अनुमान के द्वारा ही गवय पद गवयत्व रूपेण ही नीलगाय (गवय) का वाचक है, यह मानने में लाधव है। अत: गवयपद–वाच्यत्व के ज्ञानार्थ उपमानप्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये—यह वैशेषिकों का अपना मत है।

उस पर नैयायिक कहता है कि अनुमान से इतना ही अवगत हो सकता है कि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाला कोई भी साधु शब्द, किसी एक निश्चित अर्थ का वाचक होता है। अनुमान यह नहीं बताता कि 'अमुक शब्द अमुक रूप से अपने अर्थ का वाचक है।' एवं च अनुमान से इतना ही ज्ञात हो पाता है कि 'गवय' शब्द किसी एक अर्थ का वाचक है।' 'वह गवयत्वरूपेण गवय का वाचक है' यह निश्चय नहीं हो पाता है। उस निश्चय के लिये 'उपमान' प्रमाण की ही शरण लेनी होगी।

किञ्च—व्याप्ति में जिस रूप से साध्य का प्रवेश रहता है उसी रूप से साध्य की अनुमिति होती है, अन्यरूप से नहीं। जैसे—'जहां-जहां धूम रहता है, वहां-वहां अग्नि होता है' इस व्याप्तिनियम के बल पर होने वाले अनुमान से 'अग्नित्व' इस सामान्यरूप से ही अग्नि की अनुमिति हुआ करती है, द्रव्यत्व, तेजस्त्व, या तद्व्यक्तित्व रूप से नहीं हुआ करती। अत: विशेषरूप से निश्चयार्थं उपमान प्रमाण की ही आवश्यकता रहेगी, केवल अनुमान से काम नहीं चलेगा।

किञ्च—व्याप्ति ज्ञान के बिना भी उपमिति का अनुभव होता है। गवयपदवाच्यत्व का ज्ञान होने पर 'उपमिनोमि' इस—प्रकार से उपमितिज्ञानविषयक ही मानस प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय ज्ञान होता है। 'अनुमिनोमि' इस प्रकार का अनुमितिज्ञान विषयक मानसप्रत्यक्षरूप अनुव्यवसायज्ञान नहीं हुआ करता। अत: उपमिति को अनुमिति से भिन्न ही मानना चाहिये।

उपमान प्रमाण का क्षेत्र—

संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध ही उपमान प्रमाण का क्षेत्र है। उसके निश्चयार्थं जैसे अप्रसिद्ध वस्तु में प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य ज्ञान को उपमान प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार अप्रसिद्ध वस्तु में प्रसिद्ध वस्तु के वैसादृश्य (वैधर्म्यं ज्ञान) को भी उपमान प्रमाण मानना आवश्यक है। जैसे—'उष्ट्र' शब्द का अर्थ जिसको ज्ञात नहीं

है, उसे जब किसी अन्य व्यक्ति से यह ज्ञात होता है कि 'अन्य सभी पशुओं से विसदृश दीखने वाले पशु को 'उष्ट्र' कहते हैं'। पश्चात् वह जब कभी अत्यन्त लम्बी गर्दन, अत्यन्त चञ्चल होंठ और कछुए जैसे अत्यन्त कठोर ऊँची-नीची पीठ वाले पशु को कठोर काँटे चबाते देखता है तब अन्य सभी पशुओं से इस प्रकार के वैसादृश्य का ज्ञान होने पर 'जो अन्य सभी पशुओं से विसदृश होता है उस पशु को उष्ट्र कहते हैं' इस पूर्वश्रुत अतिदेशवाक्य के अर्थ का स्मरण होने से उस पुरुष को उस विसदृश पशु में 'उष्ट्र' शब्द की वाच्यता का उपमितिरूप निश्चय होता है। इस अनुभव के आधार पर सादृश्य ज्ञान के समान ही वैसादृश्य-ज्ञान को भी उपमान प्रमाण मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

उपमान प्रमाण के विषय की विविधता—

उपमान प्रमाण केवल संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध का ही निश्चय नहीं कराता बल्कि अन्य विषय का भी निश्चय कराता है। जैसे—'मूँग के आकार में दीखने वाला पौधा विषदूर करने की औषधि है'—यह सुनने के बाद जब जंगल में जाकर मूँग के आकार का पौधा देखता है, तब उसे उस पूर्वश्रुत वाक्य का स्मरण हो आता है और निश्चय होता है कि 'मूँग के आकार का यह पौधा विषहारक है'। अतः स्पष्ट है कि अतिदेश-वाक्यार्थ के स्मरण से सादृश्यज्ञान रूप उपमान प्रमाण से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध (संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध) का ही निश्चय नहीं होता, अपितु विषहरणसाधनत्व जैसे अन्य पदार्थ का भी निश्चय होता है। अतः उपमान प्रमाण का क्षेत्र शब्दार्थ-सम्बन्ध तक ही सीमित न होकर अन्य पदार्थ तक भी फैला हुआ है।

मीमांसकों की दृष्टि में उपमान की आवश्यकता पर भिन्न कल्पना—

मीमांसक के मत में 'गवय पिण्ड दर्शन' ही उपमान प्रमाण है। उस गवय को देखकर उसके सादृश्य का ज्ञान अपनी गाय में उसे होने लगता है, यही 'उपमिति' है। अपनी गाय में गवयसादृश्य का जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष तो तभी होगा जब चक्षु का सन्निकर्ष रहेगा। वह यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि गवयदर्शन करने वाला पुरुष तो जंगल में स्थित है, और जिसमें गवय के सादृश्य का स्मरण कर रहा है, वह गाय, नगर में है। उसी तरह अनुमान भी नहीं कर सकता, क्योंकि अनुमान के लिये अनुमापक हेतु में अनुमेय (साध्य) की व्याप्ति और पक्ष-धर्मता का ज्ञान होना आवश्यक है। उसके न होने से इसे अनुमान भी नहीं कह सकते। अतः यह उपमान स्वतंत्र प्रमाण है। नैयायिक और मीमांसक के उपमान में यही अन्तर है कि नैयायिक को गाय का सादृश्य गवय में प्रतीत होता है और मीमांसक को गवय का सादृश्य गाय में प्रतीत होता है।

इति उपमानप्रमाणनिरूपणम्।

शब्दप्रमाणनिरूपणम्

आप्तवाक्यं शब्दः । आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः । वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः । अत एव 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इति पदानि न वाक्यम् । परस्पराकाङ्क्षाविरहात् । 'वह्निना सिञ्चेदि'ति न वाक्यं योग्यताविरहात् । न ह्यग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यतास्ति । तथाहि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम् । न चाग्निः सेकं करणीभवितुं योग्यः । तेन कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम् ।

एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादिपदानि न वाक्यम् । सत्यामपि परस्पराकाङ्क्षायां सत्यामपि परस्परान्वययोग्यतायां परस्परसान्निध्याभावात् । यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यम् । यथा—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादि । यथा च—नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति इति । यथा च तान्येव—गामानय -इत्यादिपदान्यविलम्बितोच्चरितानि ।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान के पश्चात् चतुर्थ प्रमाण 'शब्द' है । 'शब्दप्रमाण' में संकेतग्रह के समय अनुमान की आवश्यकता होती है । इसलिये अनुमान के अनन्तर 'शब्द' का निरूपण किया जा रहा है । और प्रमाण निर्देश करते समय चतुर्थ प्रमाण 'शब्द' बताया गया है—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' । अतः उपमान प्रमाण का निरूपण करने के बाद अवसरप्राप्त 'शब्द' प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है ।

आप्तवाक्यमिति । आप्तपुरुष के वाक्य को **'शब्द' प्रमाण** कहते हैं । **आप्तस्त्विति ।** यथाभूत (जैसा पदार्थ हो वैसा) अर्थ का ही उपदेश करने वाला पुरुष **'आप्त'** कहलाता है । और उसके वाक्य को 'शब्द' प्रमाण कहा जाता है ।

वाक्य का लक्षण—

वाक्यन्त्विति । आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं । **अत इति ।** इसी कारण गाय, घोड़ा, मनुष्य, हाथी—ये पद यानी पदसमूह, वाक्य नहीं कहलाते, क्योंकि इन पदों में परस्पर **आकांक्षा** नहीं है । **वह्निनेति ।** इसी प्रकार 'अग्नि से सिंचन करे',—इस पदसमूह को भी वाक्य नहीं कह सकते । क्योंकि अग्नि और सेचन में परस्पर अन्वित होने की योग्यता नहीं है । 'वह्निना'=अग्नि से—यह तृतीया विभक्ति का रूप है । इस तृतीया विभक्ति से सेचनक्रिया के प्रति वह्नि को करण=साधन यद्यपि बताया गया है, तथापि वह्नि में सेचनक्रिया के प्रति करण (साधन) बनने की **योग्यता** नहीं है । **तेनेति ।** उस कारण कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के होने में सेचन की योग्यता अग्नि में न रहने से 'अग्निना सिञ्चेत्'—अग्नि से सिञ्चन करे, इस पदसमूह को 'वाक्य' शब्द से नहीं कहा जाता है ।

एवमिति । इसी प्रकार एक-एक प्रहर के बाद एक साथ उच्चारण न किये गये 'गाम् आनय'—गाय को ले आओ—इत्यादि पदसमूह को भी वाक्य नहीं कह सकते । क्योंकि, यद्यपि यहाँ पर परस्पर अन्वय की आकांक्षा है, और परस्पर अन्वित होने की योग्यता भी है, तथापि परस्पर **सन्निधि** (आसत्ति) का अभाव है । एक-एक पद का उच्चारण इतने विलम्ब से किया गया है, कि उन पदों का सामीप्य नहीं हो पा रहा है ।

यानीति । इससे निष्कर्ष यह निकला कि जो आकांक्षायुक्त, योग्यतायुक्त और सन्निधियुक्त पद हों, उस पदसमूह को ही वाक्य कहते हैं । जैसे—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्गेच्छु पुरुष, ज्योतिष्टोमनामक याग को करे—इत्यादि वैदिक वाक्य, और जैसे—'नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति'—नदी के किनारे पर पाँच फल (के पेड़) हैं,—यह लौकिक वाक्य है । और विलम्ब न करते हुए उच्चारण किये गये वही 'गाम् आनय'—गाय को ले आओ—इत्यादि पद, वाक्य कहलाते हैं । इन तीनों उदाहरणों के पदसमूह अलग-अलग तीन वाक्य हैं । क्योंकि इन पदसमूहों में जो पद हैं, वे परस्पर साकांक्ष हैं, परस्पर अन्वययोग्य अर्थ के बोधक हैं, और उनके उच्चारण में विलम्ब न करने के कारण वे परस्पर सन्निहित भी हैं । अतः वे सब 'वाक्य' कहलाते हैं ।

नन्वत्रापि न पदानि साकाङ्क्षाणि किन्त्वर्था फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकाङ्क्षितत्वात् । न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकाङ्क्षाः । आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात् ।

सत्यम् । अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योन्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन साकाङ्क्षा इत्युच्यन्ते । तद्द्वारेण तत्प्रतिपादिकानि पदान्यपि साकाङ्क्षाणीत्युपचर्यन्ते । यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्यार्थान्तरविषयाकाङ्क्षाजनकानीत्युपचारात् साकाङ्क्षाणि । एवमर्थाः साकाङ्क्षाः परस्परान्वययोग्याः । तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते ।

सन्निहितत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वम्, तच्च साक्षादेव पदेषु सम्भवति नार्थं द्वारा ।

तेनाऽयमर्थः सम्पन्नः । अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वाकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम् ।

शंका—नन्विति । यहाँ वाक्य के उदाहरणों में भी 'पदों' को परस्पर आकांक्षा नहीं है, अपितु फलादि जो आधेयरूप अर्थ है, उसको 'तीरादि' जो आधाररूप अर्थ है, उसकी आकांक्षा है । इसलिये 'पद' साकांक्ष न होकर 'अर्थ' ही साकांक्ष है । **न चेति ।** और वस्तुतः विचार करने पर 'आकांक्षा' तो इच्छारूप होती है, इसलिये वह आकांक्षारूप इच्छा चेतन (आत्मा) का धर्म है, उस कारण 'अर्थ' को भी साकांक्ष नहीं कह

सकते। क्योंकि 'अर्थ' तो अचेतन है, अतः आकांक्षा को उसका धर्म कैसे कहा जायेगा ? निष्कर्ष यह है कि वाक्य के लक्षण में 'आकांक्षा' को पद का विशेषण बताना ठीक नहीं है।

उपर्युक्त पूर्वपक्षी के प्रश्न का सिद्धान्ती समाधान कर रहा है—

समाधान—सत्यमिति। आकांक्षा पदों में साक्षात् नहीं रहती है—यह तुमने जो कहा है, वह ठीक है। किन्तु 'अर्थ' अपने वाचक पदों के श्रोताओं के मन में एक दूसरे पद के प्रति आकांक्षा के उत्पादक होते हैं। अतः पदों को परम्परया साकांक्ष कहा जाता है, यानी उन अर्थों के द्वारा उनके वाचक पद भी (परम्परया) उपचार से साकांक्ष कहे जाते हैं। अथवा 'पद' ही अपने अर्थों को बताकर अन्य (दूसरे) अर्थों के विषय में आकांक्षा को पैदा करते हैं। इसलिये उपचार (गौणरूप) से साकांक्ष (आकांक्षा युक्त) कहे जाते हैं,

एवमिति। उसी प्रकार (परम्परा से) अर्थ भी साकांक्ष होकर परस्पर अन्वय के योग्य (योग्यताविशिष्ट) होते हैं। और उनके (उन अर्थों के) द्वारा 'पद' भी (उपचार से) परस्पर अन्वय के योग्य कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि योग्यता और आकांक्षा ये दोनों धर्म यद्यपि पदों के साक्षात् धर्म नहीं हैं क्योंकि 'योग्यता' पदार्थ का साक्षात् धर्म है और 'आकांक्षा' आत्मा (चेतन) का साक्षात् धर्म है। तथापि ऊपर प्रदर्शित रीति से (उपचार से) वे दोनों (आकांक्षा और योग्यता) 'पदों' के धर्म कहे जा सकते हैं। इसी अभिप्राय से वाक्य के लक्षण में 'योग्यता और आकांक्षा' को पद का विशेषण बनाया गया है।

सन्निहितत्वमिति। एक ही मनुष्य, जब पदों का उच्चारण अविलम्ब से करता है, तब पदों में 'सन्निहितत्व' धर्म रहता है। पदों का काल-व्यवधान से रहित यानी विलम्ब न करके उच्चारण करना ही 'सन्निधि' है। वह 'सन्निहितत्व' पदों का साक्षात् धर्म है। उसे अर्थ द्वारा मानने की आवश्यकता नहीं है।

तेनायमिति। इसलिए वाक्य के लक्षण का यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि अर्थप्रतिपादन के द्वारा अन्य पदों के विषय में अथवा अन्य अर्थों के विषय में श्रोता के मन में आकांक्षा उत्पन्न करने वाले, तथा—अबाधित अर्थात् स्पष्टरूप से परम्परान्वय-योग्य अर्थों को बताने वाले और अविलम्ब से बोले जाने वाले (सन्निधि युक्त) पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं।

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त हुए पद समूह को 'वाक्य' शब्द से बताया गया। तब जिज्ञासा होती है कि 'पद' किसे कहते हैं ? इसलिये 'पद' का स्वरूप बताते हैं।

माधुरी

'शब्दप्रमाण' नैयायिकों का चतुर्थ प्रमाण है। **'शब्द'**प्रमाण का लक्षण 'आप्त-

वाक्यं शब्दः' किया गया है। उक्त लक्षण में 'शब्दः' पद 'लक्ष्य' को बताने के लिये प्रयुक्त किया गया है, और 'आप्तवाक्यम्' पद 'लक्षण' को बताने के लिये है। यथाभूत अर्थ का उपदेश करने वाला 'आप्त' कहलाता है। यानी जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताने वाला मनुष्य 'आप्त' होता है। इस प्रकार का आप्त कोई साधारण से साधारण तथा विशिष्ट भी हो सकता है, उसमें उच्च या नीच जाति की अपेक्षा नहीं हुआ करती। अतएव भाष्यकार ने कहा है कि 'ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्'— [न्या० भा० १।१।७] यह तो हुआ—लक्षणगत 'आप्त' शब्द का अर्थ। उसी प्रकार लक्षणगत 'वाक्य' शब्द का अर्थ है—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों का समुदाय (समूह)। एवञ्च लक्षण का अर्थ यह निष्पन्न हुआ कि 'आप्तपुरुष के द्वारा बताया गया जो आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि से विशिष्ट (युक्त) पदसमुदाय (पदसमूह = वाक्य) हो, उसे 'शब्दप्रमाण' कहते हैं।

ग्रन्थकार ने वाक्य का लक्षण—'वाक्यं तु आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिमतां पदानां समूहः' किया है। उक्त लक्षण में 'पदानाम्' का विशेषण 'आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिमताम्' दिया है। इस विशेषण को देने का प्रयोजन यह है कि 'वाक्य-लक्षण की अपूर्णता को दूर करना'। यदि 'पदानां समूहः वाक्यम्'—इतना ही 'वाक्य' का लक्षण करें तो वह वाक्य का पूर्ण लक्षण नहीं हो पायेगा, क्योंकि 'पदों' के विशेषण—'आकाक्षा-योग्यता-सन्निधि'—में से किसी एक की भी कमी रहने पर कोई भी पद समूह किसी पूर्ण अर्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं हो पायेगा। तब उसे 'वाक्य' कैसे कहा जायेगा? 'वाक्य' तो वही कहलाता है, जो पूर्ण अर्थ का बोध कराता है। इसीलिये शबर स्वामी ने वाक्य का लक्षण किया है—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्'। इसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने 'पदानाम्' में आकांक्षादि विशेषणों को जोड़ दिया है और 'आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिमतां पदानां समूहो वाक्यम्' लक्षण किया है। लक्षण में 'आकांक्षा' पद न दें तो 'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती' इस प्रकार कहे गये पदों के समूह को भी 'वाक्य' कहना पड़ेगा, क्योंकि इन पदों में परस्पर सन्निधान है और इनके अर्थों में भी परस्पर अन्वित होने की योग्यता भी है, तथापि परस्पर आकांक्षा न होने के कारण उसे वाक्य नहीं कहा जाता। अतः निराकांक्ष पदसमूह में वाक्यत्व की अतिप्रसक्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'आकांक्षा' का निवेश करना आवश्यक है। यदि लक्षण में से 'योग्यता' पद को हटा दें तो 'वह्निना सिञ्चेत्' इस पदसमूह को भी 'वाक्य' कहना होगा। क्योंकि यहाँ पर भी पद परस्पर सांकांक्ष हैं और परस्पर सन्निहित भी हैं। 'वह्निना' पद के श्रुत होने पर 'वह्निना किं कुर्यात्' इस आकांक्षा की शान्ति 'सिञ्चेत्' पद से हो जाती है, और 'सिञ्चेत्' पद के सुनने पर 'केन सिञ्चेत्' इस आकांक्षा की शान्ति 'वह्निना' पद से हो जाती है। इसलिये 'वह्निना' और 'सिञ्चेत्' ये दोनों पद परस्पर साकांक्ष हैं। तथा एक के उच्चारण

के बाद दूसरे के उच्चारण विलम्ब में भी नहीं किया गया है। इसलिये दोनों पद परस्पर सन्निहित भी हैं। परन्तु वह्नि तो दाहक होता है, उसमें जल की तरह सिञ्चन की योग्यता नहीं है। अतः 'वह्नि' शब्दोत्तर श्रूयमाण तृतीया विभक्ति से उक्त दोनों पदों के अर्थों में कार्य-कारणभाव की प्रतीति तो होती है, किन्तु, उन अर्थों में परस्पर अन्वय की योग्यता न होने के कारण 'वह्निना सिञ्चेत्' यह पदसमूह 'वाक्य' नहीं कहलाता। यदि वाक्य लक्षण में 'योग्यता' का निवेश न करें तो उक्त पदसमूह में वाक्यत्व की अतिप्रसक्ति होगी। तन्निवारणार्थ लक्षण में 'योग्यता' का निवेश किया गया है। इसी तरह लक्षण में यदि 'सन्निधि' पद का निवेश न करें तो 'गाम्' और 'आनय' इन पदों को एक साथ उच्चारण न कर केवल 'गाम्' का उच्चारण करके दूसरे पद 'आनय' का उच्चारण चार प्रहर बाद करें; तब भी उसे वाक्य कहना होगा, क्योंकि दोनों पद परस्पर साकांक्ष हैं और परस्परान्वय की योग्यता भी रखते हैं। तथापि अविलम्ब सहोच्चारणरूप सन्निधि के न रहने से उक्त पदसमूह को वाक्य नहीं माना गया है। अतः असन्निहित पदसमूह में वाक्यत्व की अतिप्रसक्ति के वारणार्थ 'सन्निधि' पद का निवेश, लक्षण में करना आवश्यक है। एवं च निष्कर्ष यह है कि जो पद परस्पर साकांक्ष, अन्वययोग्य, और सन्निहित होते हैं, वे ही 'वाक्य' कहलाने योग्य होते हैं। जैसे—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति' और अविलम्ब से कहे गये 'गाम् आनय' इत्यादि पदसमूह को वाक्य कहते हैं। क्योंकि ये पद परस्पर साकांक्ष तथा परस्परान्वययोग्य अर्थ के प्रतिपादक हैं और उनके उच्चारण में विलम्ब न होने से परस्पर सन्निहित हैं।

शंका—ऐसा परिष्कृत लक्षण होने पर भी लक्षण-गत आकांक्षा शब्द में शंका की जा रही है। उन पदों को 'वाक्य' नहीं कह सकते, क्योंकि आकांक्षा, उन पदों को नहीं रहती, अपितु उनके अर्थों को रहती है। जैसे किसी भी वाक्य को ले सकते हैं, 'नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति'—इस वाक्य के—नदीतीरे, पञ्च, फलानि, सन्ति—पदों को परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा नहीं है, क्योंकि ये सभी पद, एक दूसरे के विना भी अपना अस्तित्व रखते हैं। आकांक्षा तो उन पदों के अर्थों को हो रही है, क्योंकि 'तीर' आधार के रूप में और 'फल' आधेय के रूप में ज्ञात हो रहा है। तीर की अधारता, फलरूप आधेय के बिना तथा फल की आधेयता, तीररूप आधार के बिना हो नहीं सकती। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर 'अर्थ' भी साकांक्ष नहीं रहते। क्योंकि 'आकांक्षा' तो इच्छारूप है। वह आकांक्षा रूप इच्छा तो चेतन आत्मा का ही धर्म हो सकती है, तीर आदि अचेतन अर्थों का धर्म नहीं हो सकती। तब पद या अर्थों को साकांक्ष कैसे कहा जाय ?

समा०—आकांक्षा को चेतन आत्मा का धर्म कहना उचित ही है वह अचेतन अर्थ या पद का धर्म नहीं है। तथापि अचेतन अर्थ और पदों पर उसका आरोपित व्यवहार

(औपचारिक व्यवहार) तो कर ही सकते हैं। अर्थात् आकांक्षा का आश्रय, अचेतन न हो सकने पर भी उन अचेतन अर्थ के बोधक पदों का श्रवण करने वालों के मन में वे अर्थ, परस्पराकांक्षा (अन्योन्यविषयक आकांक्षा) के उत्पादक तो होते ही हैं। इसलिये उपचार से उन्हें साकांक्ष कह सकते हैं। इस प्रकार साकांक्ष हुए अर्थों के द्वारा 'पद' भी साकांक्ष कहे जाते हैं, क्योंकि पद उन अर्थों के प्रतिपादक होते हैं।

अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'पद' अपने अर्थों को बताकर अन्य अर्थ की आकांक्षा को पैदा करते हैं। इस कारण 'पद' सीधे ही उपचार से साकांक्ष कहे जा सकते हैं। जब कि 'अर्थ' परस्पर साकांक्ष और परस्परान्वय के योग्य हैं तो उनके द्वारा उनके प्रतिपादक पद भी परस्पर साकांक्ष और परस्परान्वय के योग्य हैं—यह कह सकते हैं। अर्थात् पदों की साकांक्षता वास्तविक न होकर साकांक्ष अर्थों द्वारा आपस में औपचारिक हुआ करती है। लेकिन पदों की सन्निधि 'अर्थ' द्वारा न होकर साक्षात् ही होती है। क्योंकि एक आदमी के द्वारा अविलम्ब से उच्चरित होने को ही 'सन्निधि' कहते हैं, और उच्चरित होना 'पदों' का अपना धर्म है। इस प्रकार से अपने अर्थ के प्रतिपादन द्वारा सुनने वाले को अन्य पदविषयक अथवा अन्य अर्थविषयक आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले और आपस में प्रतीत होने वाले सम्बन्ध के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले, तथा एक ही आदमी के द्वारा अविलम्ब उच्चरित होने वाले 'पदों' के समूह को 'वाक्य' कहते हैं।

पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः। एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेन एकदाऽनेकवर्णानुभवासम्भवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय, अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते, सहकारिदाढर्च्यात् प्रत्यभिज्ञानवत्। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे ह्यतीतापि पूर्वावस्था स्फुरत्येव। ततः पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते।

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। फलन्त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम्। तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम्। लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः। अतः किञ्चिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं, यदाप्तवक्तृकम्। वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं, सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्।

पद का लक्षण और 'पद प्रतीति' का प्रकार—

पदं चेति। 'वर्णसमुदाय' (वर्णसमूह) को 'पद' कहते हैं। पद के लक्षण में प्रयुक्त समुदाय (समूह) का अर्थ है—एक ज्ञान का विषय होना। इस प्रकार क्रमिक और क्षणिक

(शीघ्रतर विनाशी) अनेक वर्णों का एक काल में एक साथ अनुभव होना संभव ही नहीं है । तथापि पूर्व-पूर्व वर्णों का अनुभव करके अन्तिम वर्ण के श्रवण के समय, पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से सहकृत अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध, पद-व्युत्पादन समयग्रह से अनुगृहीत, हुए श्रोत्र (कान) के द्वारा एक काल में ही विद्यमान् सत् (अन्तिमवर्ण) और अविद्यमान् = असत् (नष्ट हुए पूर्व वर्ण) अनेक वर्णों का ग्रहण (अवगाहन) करने वाली पद-प्रतीति उत्पन्न होती है, किन्तु यह तभी होता है, जब सहकारी (संस्कार) की प्रबलता (दृढता) रहती है । जैसा कि प्रत्यभिज्ञा में हुआ करता है । **प्रत्यभिज्ञेति** । प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष 'सोऽयं देवदत्तः' में अतीत पूर्वावस्था, (जो 'सः' पद से सूचित होती है) प्रतीत (स्फुरित = भासित) होती ही है । **तत इति** । उस पदप्रतीति के बाद उसी क्रम से पूर्व-पूर्व पद के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार के सहयोग से युक्त, अन्तिम पद का ग्रहण करने वाले, तथा पदों के अर्थज्ञान से अनुगृहीत हुए श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अनेक पदों को ग्रहण करने वाली पदसमूहात्मक वाक्य की प्रतीति होती है ।

तदिदमिति । यही वाक्य, आप्तपुरुष के द्वारा प्रयुक्त होने पर उसे 'शब्दप्रमाण' कहते हैं । और उसका फल है—'वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना' । यह 'शब्द' संज्ञक प्रमाण लोक तथा वेद दोनों में समानरूप से होता है ।

लोके त्विति । वेद की अपेक्षा लोक में इतना ही अन्तर (विशेष-भेद—भिन्नता) है कि लोक में कोई विरला ही मनुष्य 'आप्त' कहने योग्य होता है, सभी 'आप्त' कहलाने योग्य नहीं रहते । इसलिये कहीं कहीं यदा कदा कोई एकाध लौकिक वाक्य ही प्रमाण होता है जिसे कहने वाला आप्त पुरुष होता है ।

वेदे त्विति । किन्तु वेद के तो सभी वाक्य, परम आप्त परमात्मा के द्वारा रचित हैं, अतः वेद के सभी वाक्य प्रमाण हैं, क्योंकि सभी वैदिक वाक्य, आप्तवाक्य हैं ।

माधुरी

ग्रन्थकार ने 'पदं च वर्णसमूहः' यह पद का लक्षण किया है । किन्तु वर्णों का समूह होना संभव न होने से उक्त लक्षण को कैसे संगत कहा जाय ? क्योंकि 'समूह' शब्द का प्रयोग वहाँ किया जाता है, जहाँ पर बहुत से सहावस्थित पदार्थों का अनुभव किया जाता है । जैसे किसी एक ही जगह सहावस्थित रूप में अनुभव किये जाने वाले धव, खदिर, पलाश आदि पदार्थों का अथवा हाथी, आदमी घोड़ों का 'समूह' शब्द से व्यवहार किया जाता है । किन्तु 'वर्णों' की उत्पत्ति-विनाश होते रहने से उनका अनुभव वैसा नहीं हो पाता है । अतः वर्णों का समूह होना कदापि संभव नहीं है ।

इसके समाधानार्थ ग्रन्थकार ने कहा कि 'समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः' । अर्थात् वास्तविक समूह का संभव न बन पाने पर भी बुद्धि में उनका (वर्णों का) समूह संभव हो सकता है अर्थात् बौद्ध समूह का बनना संभव है ।

इस पर पुनः शंका हो सकती है कि 'एकज्ञानविषयत्व' जिन में हो उसे 'एक वर्ण' कहेंगे। इस रीति से ज्ञानविषयत्व होने से वर्णों का बौद्धसमूह यदि कहें तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक घटों के रहने पर 'एको घटः' यह ज्ञान नहीं होता, उसी तरह अनेक वर्णों के रहने पर 'एको वर्णः' यह ज्ञान नहीं हुआ करता। अर्थात् अनेकों में अनेक की और एक में एक की ही—प्रतीति होती है। अतः वर्णों का वास्तविक समूह जैसे असंभव है, वैसे ही उनका कल्पनिक समूह भी असंभव है। उस पर यह समाधान दिया कि 'एकज्ञानविषयत्वं नाम एकं पदं, इति ज्ञानविषयत्वम्— एक ज्ञान विषयत्व का अर्थ है एक पद, इत्याकारक ज्ञान का विषय होना। यह विषयता तो वर्णों में हो ही सकती है।

तब वैयाकरण कहता है कि 'एकं पदम्' यह प्रतीति **'स्फोट'** से होती है। स्फोट के होने में प्रत्यक्ष और अर्थापत्ति दो प्रमाणों को दे सकते हैं। जैसे—'गौः' यह एक पद है, यह प्रतीति, नानावर्णों के अतिरिक्त ही है, इसमें किसी का विवाद नहीं है। बिना किसी बाधक के उक्त पदानुभव को मिथ्या भी नहीं कह सकते। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से 'स्फोट' का आस्तित्व सिद्ध हो जाता है। उसी तरह 'पदार्थप्रतीत्यन्ययानुपपत्ति (अर्थापत्ति) से भी **'स्फोट'** की सिद्धि माननी होगी।

यदि यह कहो कि 'वर्णों से ही अर्थप्रतीति होती है'—तो तुम्हें यह बताना होगा कि वह 'अर्थप्रतीति' व्यस्त-वर्णों से होती है, या समस्त-वर्णों से होती है? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि अर्थ-प्रत्यायक किसी एक वर्ण के अतिरिक्त अन्य सभी वर्णों को व्यर्थ कहना होगा। और दूसरा कारण यह भी है कि एक-एक वर्ण से अर्थ प्रतीति का होना कहीं दृष्टिगोचर भी नहीं है। उसी तरह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पन्न-विनाशी वर्णों का समस्त (एकत्रित) होना असंभव है। व्यस्त और समस्त के सिवाय कोई तीसरा प्रकार हो नहीं सकता। इसलिये वर्णों की वाचकता अनुपपन्न हो जाती है। अतः उसकी उपपत्ति के लिये **'स्फोट'** को स्वीकार करना ही चाहिये जिसके प्रभाव से अर्थ-प्रतिपत्ति हुआ करती है। इसी अभिप्राय से वैयाकरण कहते हैं कि 'वर्णातिरिक्त, तथा वर्णाभिव्यङ्ग्य एवं अर्थप्रत्यायक जो नित्य शब्द है, वही स्फोट है। अत एव **'स्फोट'** शब्द के अर्थ को दो प्रकार से वैयाकरण बतलाते हैं—'स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैः इति स्फोटः वर्णाभिव्यङ्ग्यः।' और 'स्फुटति स्फुटीभवति अस्मात् अर्थः इति स्फोटः अर्थप्रत्यायकः।'

इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में बताया है—**'अयं गौरित्यत्र कः शब्द। येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणानां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थकी लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते इति॥** अतः वैयाकरण का कहना है कि **'स्फोट'** का अवलम्बन करके ही **'एक पदम्'** यह प्रतीति होती है।

इसका उत्तर ग्रन्थकार ने 'सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते' कहकर दिया है। अर्थात् 'पदप्रतीति जो होती है, 'वर्णों' से अतिरिक्त नहीं है। वह किसी लौकिक 'स्फोट' से नहीं होती है। 'स्फोट' के होने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से स्फोट की सिद्धि नहीं की जा सकती। 'गौः' कहने पर 'गकार' 'औकार' 'विसर्ग' आदि वर्णों के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ का अनुभव नहीं हो रहा है। वैयाकरण भी आँख वन्द करके अन्तर्दृष्टि होकर यदि विचार करे तो उसे भी यही अनुभव होगा कि 'गौः' कहने पर 'वर्णों' की ही प्रतीति हो रही है। वर्णों की प्रतीति के सिवाय अन्य किसी की प्रतीति नहीं हो रही है। अतः **'स्फोट'** के होने में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण नहीं है—यह स्पष्ट हो जाता है। तथा उसके होने में 'अर्थापत्ति' प्रमाण को भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'वर्णों' से ही अर्थप्रतिपत्ति के हो जाने पर, 'अर्थापत्ति' की उपपत्ति अन्यथा भी वतायी जा सकती है। किंच—वैयाकरण यह बताये कि 'अभिव्यक्त हुआ स्फोट,' अर्थ का प्रत्यायन (वोधन) कराता है, या 'अनभिव्यक्त स्फोट', अर्थ का प्रत्यायन कराता है ? विचार करने पर यही कहा जायेगा कि 'अनभिव्यक्ति' पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि 'अनभिव्यक्त' रहकर ही यदि वह 'अर्थ का प्रत्यायन' करेगा तो 'सर्वपदार्थप्रत्ययलक्षणकार्य' को भी कर देगा। क्योंकि वैयाकरणों ने 'स्फोट' को नित्य माना है। तव निरपेक्ष हेतु (कारण) के सर्वदा विद्यमान रहने से 'कार्योत्पत्ति' में विलम्ब होने की कोई वात ही नहीं है। अच्छा, यदि 'सर्वपदार्थप्रत्ययलक्षणकार्यो-त्पादकत्व' प्रसंग के निरसनार्थ 'अभिव्यक्त स्फोट' को अर्थ का प्रत्यायक कहेंगे, तो अभिव्यक्ति करने वाले 'वर्णों' में से प्रत्येक वर्ण अभिव्यक्ति करता है, या समस्त वर्ण मिलकर अभिव्यक्ति करते हैं ? दोनों ही पक्षों में उन्हीं दोषों की पुनरावृत्ति होगी, जिन दोषों को आप वर्णों के वाचकत्वपक्ष में उपस्थित किया करते हैं। एवं च 'स्फोटाभिव्यञ्जकत्वपक्ष' में भी वे ही दोष पुनः उपस्थित होंगे।

'यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः।
सोऽपि पर्यनुयोगेन न वै तेन विमुच्यते ॥

—(श्लो० वा० सू० ५ स्फो० वा० श्लो० ९१)

तथा च—'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥'

इस नियम के अनुसार वैयाकरणों को तूष्णीम्भाव की ही शरण लेनी चाहिये।

किंच—वैयाकरणों को प्रथमतः 'स्फोट' की कल्पना, तदनन्तर उसमें 'वाचकत्व-शक्ति' की कल्पना करनी पड़ रही है। इस प्रकार दो नयी कल्पनाओं के करने की अपेक्षा उभयवादिसिद्ध वर्णों में ही केवल 'वाचकत्वशक्ति' की कल्पना कर लेना ही अच्छा होगा। एवं च यह स्पष्ट हो रहा है कि 'पदप्रतीति' जो है, वह 'वर्णावगाहिनी'

ही है। वह 'वर्णों' के अतिरिक्त शशविषाणसदृश किसी स्फोट का अवगाहन नहीं कर रही है। यह ध्यान रखना होगा कि किसी एक वर्ण से 'एकं पदम्' इत्याकारक पद प्रतीति का होना हम नहीं कह रहे हैं, क्योंकि उसी से अर्थप्रतिपत्ति हो जाने पर तदितर वर्णों का होना व्यर्थ ही हो जायेगा। हम तो यह कह रहे हैं कि 'अनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते'। वैयाकरण यह भी नहीं कह सकता कि चरम (अन्तिम) वर्ण के श्रवणकाल में अन्य वर्णों के न रहने से अनेक वर्णावगाहिनी प्रतीति कैसे हो सकेगी? क्योंकि हम 'सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिः जन्यते' कह रहे हैं। चरमवर्ण 'सत्' है, और उसके पूर्व के वर्ण 'असत्' हैं। वह यह भी नहीं कह सकता कि 'सदसदनेकवर्णावगाहन' के क्रमिक होने से पदप्रतीति नहीं होगी। क्योंकि हम 'एकदैव सदसदनेकवर्णागाहिनी पदप्रतीति' कह रहे हैं। जब एक साथ (युगपत्) 'सदसदनेकवर्णावगाहन' होगा, तब 'पदप्रतीति' अवश्य ही होगी। इस प्रकार की 'पदप्रतीति' श्रोत्र से होती है। किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय तो विद्यमान अर्थ का ही ग्रहण कर सकती है, अविद्यमान अर्थ का नहीं, क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय है—**'श्रोत्रेन्द्रियं सन्तमेव अर्थं गृह्णाति नाऽसन्तं बाह्येन्द्रियत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्'**—इस अनुमान से असद् वर्णों का ग्रहण, 'श्रोत्र' से कैसे होगा? इस पर ग्रन्थकार ने कहा है कि 'पूर्व-पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कार सहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन' अर्थात् सहकारी के प्रभाव से असद्वर्णों का ग्रहण उपपन्न हो जाता है। ऊपर दिया गया अनुमान तो प्रत्यभिज्ञायमान विषय के ग्राहक चक्षुरादि में अनैकान्तिक (व्यभिचरित) हो जाता है। इस पर वैयाकरण पुनः कह सकता है कि 'पूर्व-पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत हुए श्रोत्र' से सदसदनेकवर्णों की प्रतीति भले ही हुआ करे, किन्तु 'पद' की प्रतीति कैसे हो सकती है? इस पर **ग्रन्थकार** (नैयायिक) ने कहा 'पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेण' पदव्युपादन का जो समय ग्रह (संकेतग्रह) उस सेअनुगृहीत 'श्रोत्र' रहता है। जैसे—'अमुक पद' से 'अमुक अर्थ' समझना चाहिये (अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः) इत्याकारक संकेतग्रह से 'पद' के अर्थ (पदार्थ) का ज्ञान होता है। वैसे ही घ्+अ ट्+अ वर्णों के मिश्रण से 'घट' शब्द निष्पन्न होता है, और उक्त प्रकार के संकेतग्रह से 'घट' पद का बोध होता है। 'पद' का संकेतग्रह करने वाले श्रोता को ही 'घट' के अन्तिमवर्ण का अनुभव करते हुए 'घट' पद की प्रतीति होती है। इस प्रकार के **संकेतग्रह** को 'पदप्रतीति' में निमित्त बताया गया है।

महर्षिपाणिनि ने **'सुप्तिङन्तं पदम्'** सूत्र से पदसंज्ञा का विधान करते हुए विभक्त्यन्त को 'पद' कहा है। और न्यायसूत्रकार गौतम महर्षि ने **'ते विभक्त्यन्ताः पदम्'** इस प्रकार 'पद' का स्वरूप बताया है। इस प्रकार के 'पदस्वरूप' को जाननेवाला जो श्रोता, इस पदबोधन-विषयक संकेतग्रह से परिचित रहता है वही 'घटम् आनय' इत्यादि वाक्य को सुनकर 'घटम्' पद के अन्तिम वर्ण का अनुभव करते समय 'पद'

की प्रतीति कर सकता है। यदि वह 'पद' के स्वरूप से परिचित नहीं रहेगा तो उसे 'पद' की प्रतीति नहीं हो पायेगी। अतः आशुतर विनाशी वर्णों में भी 'पद' की प्रतीति हो सकती है। पद प्रतीति के लिये 'स्फोट' की कल्पना करना आवश्यक नहीं है—यह नैयायिक ने बताया। एवं च ग्रन्थकार ने **'पदं च वर्णसमूहः'** कहकर वर्णों के समूह को 'पद' बताया है। और 'समूह' का अर्थ किया कि 'एकज्ञानविषयीभावः' अर्थात् एक ज्ञान का विषय होना। अर्थात् 'एक ज्ञान में भासित होने वाले वर्णों' का नाम 'पद' है। 'पद' के लक्षण में प्रयुक्त 'समूह' का तात्पर्य यह नहीं है कि 'अनेकवर्णात्मक' ही पद होता है। बहुत से स्थलों पर 'एकवर्णात्मक' भी पद होता है। जैसे—विष्णु का वाचक 'अ' यह एकवर्णात्मक ही 'पद' है। सुख का वाचक 'क' पद, आकाश का वाचक 'ख' पद इत्यादि एक वर्णात्मक ही पद हैं। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि एकवर्णात्मक भी 'पद' होगा तो 'घट' को एक पद नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि उसमें तो अनेक वर्णों के होने से वह कई पदों का समूह कहलायेगा। किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि 'वर्णसमूहः पदम्'—यह 'पद' का पूर्णलक्षण नहीं है, यह तो एक संकेतमात्र है। पद का सम्पूर्ण लक्षण इस प्रकार होगा—**'शक्तः साभिप्रायः वर्णो-वर्णसमूहो वा पदम्'**। अर्थात् जो वर्ण या वर्णसमूह किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय होता है, उसे 'पद' कहना चाहिये। ऐसा लक्षण करने पर कहीं पर भी दोष नहीं होगा। इस पर पुनः प्रश्न हो सकता है कि 'अनेक वर्णों' में पदप्रतीति मानने पर 'सरः' पद में जितने वर्ण हैं, ठीक उतने ही वर्ण 'रसः' पद में भी हैं। उसी प्रकार 'वनम्-नवम्', 'नदी-दीनः', 'मारः-रामः', 'राजा-जारा' इत्यादि पदों से अर्थभेद की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। उस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि हमने 'वर्णानां क्रमवताम्' कहा है। 'क्रम' का अर्थ है 'पौर्वापर्य'। वह 'पौर्वापर्यरूप क्रम' उत्पन्न होने वाले वर्णों में ही रहना संभव है। किन्तु 'वर्णों की नित्यता' तो अनुमानप्रमाण से सिद्ध है। अनुमान इस प्रकार है—'शब्दो नित्यः, अमूर्तद्रव्यत्वात्, आकाशवत्'। उस पर नैयायिक कहता है कि शब्द का नित्यत्व बताने के लिये आपने जो 'हेतु' दिया है, वह 'सद्धेतु' न होकर 'हेत्वाभास' है, क्योंकि वह 'असिद्धि' दोष से दूषित होने से वह स्वयं ही असिद्ध है। शब्द में 'गुणत्व' की सिद्धि निश्चित हो चुकी है। अतः ऐसे दुष्ट अनुमान से 'शब्द' में नित्यता को प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। तस्मात् 'वर्णात्मक शब्द,' उत्पत्ति-विनाशवान् होने से 'अनित्य' है, क्योंकि उसके 'उत्पत्ति और विनाश' प्रत्यक्ष-सिद्ध है। ऊपर 'वर्णों के क्रमविपर्यय' को प्रदर्शितकर उनमें 'अर्थभेदप्रतीति' के न हो सकने की आपत्ति उपस्थित की थी। किन्तु इस प्रकार आक्षेप करना निरर्थक है, क्योंकि हमने 'विपरीत क्रम' वाले वर्णों में वाचक शक्ति नहीं मानी है। किन्तु 'शक्ति' तो कार्य से उन्नेय हुआ करती है। जैसा उनका कार्य देखा जाता है तदनुसार उनकी शक्ति की कल्पना की जाती है।

'यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥

इस प्रकार से 'वाक्य में स्थित वर्ण' उच्चरित-प्रध्वंसी होने के कारण उनका 'युगपत् अनुभव' संभव न होने से पूर्वोक्त 'सहकारियों के द्वारा उपकृत हुए श्रोत्र' से 'अनेक वर्णों' में पदप्रतीति होती है। अर्थात् इस प्रकार की प्रतीति पैदा कराने का सामर्थ्य जो 'श्रोत्र' में देखा जाता है, वह 'सहकारियों के दाढर्य' से (बल से) होता है। 'श्रोत्रेन्द्रिय' के तीन सहकारी होते हैं—(१) पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न होने वाला संस्कार, (२) अन्तिम (चरम) वर्ण का श्रोत्र से ग्रहण किया जाना, (३) श्रोता को होने वाली पदप्रतीति। इस पर भी पूर्वपक्षी पुनः कह सकता है कि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभवजन्य संस्कार के बल पर (संस्कार से युक्त हुए) श्रोत्र से सत्-असत् (विद्यमान् तथा अतीत) वर्णों की एक साथ (युगपत्) प्रतीति कैसे हो सकेगी ? क्योंकि जिस विषय के अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे संस्कार उसी विषय का स्मरण कराने में समर्थ रहते हैं, उसके अतिरिक्त अन्य किसी कार्य को करने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। इसीलिये मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि में कहा भी है—

'संस्काराः खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याविभाविताः ।
फलं तत्रैव जनयन्त्यतोऽर्थे धीर्न कल्प्यते ॥'

तस्मात् उन संस्कारों के सहयोग से भी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सत्-असत् वर्णों का एक साथ (युगपत्) अवगाहन करने वाली 'पदप्रतीति' नहीं की जा सकती। इस पर नैयायिक कहता है कि यदि संस्कार दृढ होता है तो वह स्मृति के अतिरिक्त अन्य कार्य को भी करा देता है। जैसे 'प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष' में संस्कार 'चक्षुरिन्द्रिय' का सहकारी हो जाता है और 'चक्षु' से ही 'सोऽयं देवदत्तः' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। इस प्रत्यभिज्ञा में 'पूर्वानुभूतविषय' की अतीतावस्था और वर्तमान में अनुभूयमान वर्तमानावस्था' दोनों का स्फुरण (भान) होता है। अर्थात् इसमें 'स्मरण और प्रत्यक्ष' दोनों रहते हैं। एवं च 'संस्कारसहकृतचक्षु' में 'स्मृति'-व्यतिरिक्तप्रत्यभिज्ञानजनन सामर्थ्य का होना सर्वानुभवसिद्ध है। न्यायशास्त्रकारों ने कहा भी है—

'यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम् ।
कार्यान्तरेऽपि सामर्थ्यं तस्य न प्रतिहन्यते ॥'

तस्मात् 'पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार' की दृढता से 'श्रोत्र' द्वारा भी 'सत्-असत् वर्णों' का एक साथ भान हो सकता है। 'अकेली इन्द्रिय' या 'अकेले संस्कार' में ऐसी प्रतीति कराने का सामर्थ्य नहीं है, किन्तु दोनों के मिल जाने पर वह सामर्थ्य हो जाता है।

वाक्यार्थज्ञानप्रक्रिया—

'पदसमूहो वाक्यम्'। 'अनेक पदों' में वाक्य प्रतीति का प्रकार भी इसी तरह है। 'श्रोत्र' से ही वाक्यप्रतीति भी होती है। वह 'वाक्यप्रतीति' भी अनेक पदों का ग्रहण करती है, अर्थात् अनेक पदावगाहिनी होती है। यहाँ भी 'समूह' का अर्थ 'एकज्ञान-विषयत्व'—एक प्रतीति का विषय होना है। जब 'अनेक पदों' में या 'एक पद' में 'इदम् एकं वाक्यम्'—यह एक वाक्य है ऐसी प्रतीति होती है, तब उस 'पदसमूह' को या 'एक पद' को 'वाक्य' कहते हैं। जैसे एक वर्णात्मक 'पद' होता है, वैसे ही एक पदात्मक 'वाक्य' भी होता है। उस 'वाक्यप्रतीति' में भी 'पदप्रतीति' की तरह तीन सहायक होते हैं। (१) पूर्व-पूर्व पदानुभवजनित संस्कार, (२) चरम पद का श्रोत्र से ग्रहण, (३) श्रोता को होने वाली पदार्थप्रतीति। इस प्रकार 'आकांक्षा', 'योग्यता', 'सन्निधि' से युक्त पद समूह को 'वाक्य' कहा गया है।

इस पर वैयाकरण कह सकता है कि अनेक पदों में 'एकं वाक्यम्' प्रतीति का होना जो आपने बताया है, वह नानापदातिरिक्त वाक्यस्फोट को स्वीकार किये बिना कैसे संभव होगा ? जैसे परस्पर विलक्षण पुष्पों में अनुस्यूत हुए सूत्र के बिना 'माला' की प्रतीति नहीं होती, उसी तरह 'पदों की माला' में भी किसी 'भिन्न निमित्त' के बिना 'एकप्रतीति' नहीं हो सकेगी। जब तक 'वाक्यस्फोट' का स्वीकार नहीं किया जायेगा तब तक 'वाक्यार्थप्रतीति' का होना संभव ही नहीं है।

इस पर नैयायिक कहता है कि 'वर्णों' में वाचकत्व बताकर 'पदस्फोट' का निराकरण करने से ही 'वाक्यस्फोट' का भी निराकरण हो ही गया है। जैसे 'पदस्फोट' का निराकरण करने पर 'वर्णों' में ही 'पदप्रतीति' हो जाती है, वैसे ही 'वाक्यस्फोट' के निराकरण से 'पदों' में ही 'वाक्यप्रतीति' हो जाती है। अर्थात् 'पदसंस्कार-सहकृत अन्तिम पद' से सम्बद्ध हुए श्रोत्रेन्द्रिय से वह वाक्यप्रतीति हो जाती है। एवं च 'वाक्यप्रतीति' में 'पदार्थप्रतीति' अंग है, क्योंकि 'पदार्थ' की प्रतीति न होने पर कितना ही पदश्रवण करता रहे, 'वाक्यप्रतीति' नहीं हो पाती। अतः 'वर्णसमूह' को 'पद' और 'पदसमूह' को 'वाक्य' कहा गया है। ऐसे 'पदसमूह रूप वाक्य' का प्रयोग यथार्थदर्शी एवं यथार्थवक्ता 'आप्त' जब करता है तब उस वाक्य को ही 'शब्दप्रमाण' कहते हैं। 'शब्द' शब्द की व्युत्पत्ति—'शब्दयते अनेन इति शब्दः' की जाती है। इस प्रकार करण व्युत्पत्ति से 'शब्द' शब्द की निष्पत्ति होती है। किन्तु 'करण' उसी को कहा जाता है, जो 'फलवान्' रहता है। अतः उक्त 'शब्द-प्रमाण' का फल है—वाक्यार्थ-'ज्ञान'।

कुछ लोग 'शब्द' का फल निरूपण इस प्रकार करते हैं—

'पद', पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं, 'पदार्थ' वाक्यार्थ ज्ञान को पैदा करते हैं।

तथा च 'वाक्यार्थज्ञान' में 'पदार्थ' ही करण है, और पदार्थों के प्रतिपादन करने में पदों का उपयोग होता है।

किन्तु इसका खण्डन तो 'वाक्य' का फल वाक्यार्थ ज्ञान है—यह कहने से ही हो जाता है। 'पदार्थ' तो कारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'नियत पूर्वभावित्व'—इस कारणत्व रूप के अवगत होने पर ही 'पदार्थ' को कारण कहा जा सकेगा। जब कि वह 'सामान्य कारण' भी नहीं है तो उसे 'विशेष कारण' (करण) कैसे कहा जायेगा? किन्तु 'पद' तो नियमतः पूर्वभावी होते हैं। वाक्यार्थप्रतीति के कराने में वे अवान्तर व्यापार के रूप में 'पदार्थप्रतिपादन' करते हैं। इस रीति से 'पदार्थप्रतिपादन' को अवान्तरव्यापार बनाकर 'वाक्यार्थ प्रतीति' के वे जनक कहलाते हैं। 'नहि स्वाङ्गं स्वस्य व्यवधायकम्'—अपना ही अंग, अपना व्यवधायक नहीं हुआ करता है—इस न्याय से 'व्यापार' कभी व्यवधायक नहीं होता है। कहा भी है—

'साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥ ३४२ ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥' इति ॥ ३४३ ॥

—(श्लो० वा० वाक्याधिकरण)

इस प्रसंग में प्राभाकर मतानुसारी कुछ लोग 'वैदिकवाक्य' का प्रामाण्य पृथक् मानकर 'लौकिकवाक्य' को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं। अर्थात् 'लौकिकवाक्य' का प्रामाण्य अनुमानविधया मानते हैं।

इस पर नैयायिक कहता है कि 'वेद' के तुल्य ही 'लोक' में भी 'आकांक्षादिमान् वाक्य' ही वाक्यार्थ प्रतिपादन करने में समर्थ समझा जाता है। तब वाक्य से ही वाक्यार्थप्रतिपत्ति—(वाक्यार्थज्ञान) के संभव हो जाने से, 'जो वैदिक हैं, वे ही लौकिक हैं'—इस 'लोक-वेदाधिकरणन्याय' से लौकिक वाक्य और वैदिक वाक्य दोनों की समानयोगक्षेमता होने के कारण अनुमान में 'लौकिकवाक्य' का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। 'शब्दप्रमाण' अन्यप्रमाणों की तरह स्वतंत्र प्रमाण ही है। इसीलिये उसका लक्षण '**आप्तवाक्यं शब्दः**' किया गया है। अर्थात् 'शब्दप्रमाण' का 'लक्षण' यानी असाधारणधर्म 'आप्तवाक्यत्व' है, जो लौकिक और वैदिकवाक्यों में साधारण रूप से स्थित है। 'वेद' की तरह 'लोक' में भी 'वाक्यरूप शब्द' वाक्यत्वेन रूपेण ही (अर्थात् अपने निजी रूप से ही) प्रमाण है। अनुमानत्वेन रूपेण (अनुमानप्रमाण के रूप में) उसे 'प्रमाण' समझना उचित नहीं है। फिर भी लोक और वेद की सर्वात्मना समानता नहीं है। 'आप्त' और 'अनाप्त' की विशेषता को देखते हुए लोक और वेद में अन्तर उपलब्ध होता है। क्योंकि 'यथार्थदर्शी' एवं 'यथार्थवादी' को ही 'आप्त' कहा जाता है।

जो 'स्वयं भ्रान्त' और 'विप्रलम्भक' (वंचक) हो उसे 'आप्त' नहीं समझा जाता। उसे 'अनाप्त' कहते हैं। लौकिक पुरुषों में भ्रान्ति-विप्रलम्भ (भ्रम-विप्रलिप्सा = वंचकता) की उपलब्धि होने से 'किंचिदेव लौकिक वाक्य' को प्रमाण माना जाता है। सभी लौकिक वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जाता। जो लौकिकवाक्य आप्तपुरुष के द्वारा कहा गया हो, उसे ही प्रमाण माना जाता है। किन्तु ऐसी स्थिति वेद में नहीं है। वेद का 'अक्षर-अक्षर' प्रमाण है, उसमें अप्रामाण्य की गन्ध तक नहीं है, क्योंकि 'वह' परमेश्वरप्रणीत है।

शंका—वेद यदि परमेश्वर प्रणीत हैं तो भी उसका प्रामाण्य निराशंक नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुषों में राग-द्वेषादि की संभावना रहने से अयथार्थ वाक्यों का भी प्रणयन हो सकता है। कहा भी है—

'रागद्वेषादिकालुष्यं पुरुषेषूपलभ्यते।
अतः प्रामाण्यशङ्काऽपि निष्कलङ्के प्रसज्यते ॥

अतः वेद का निर्विचिकित्स प्रामाण्यलाभ करने के लिये उसे (वेद को) 'नित्य' मान लेना चाहिये।

समा०—वेदकर्ता परमेश्वर, साधारण पुरुषों (लौकिक पुरुषों) के समान नहीं है। वह केवल 'आप्त' ही नहीं, बल्कि 'परम-आप्त' है। 'प्रक्षीणरागादिदोषत्वे सति उपदेष्टृत्वम्'—आप्तत्वम्, यह 'आप्त' का लक्षण है। इस प्रकार आप्तत्व, दो प्रकार का होता है—(१) पर (२) अपर। उनमें 'पर-आप्तत्व' उसी में हो सकता है जिसने सबको विषय बना लिया हो, ऐसा सर्वज्ञ के सिवाय दूसरा है, कोई नहीं है, एक मात्र सर्वज्ञ ही है। किन्तु दूसरा 'अपर आप्तत्व' असर्वविषयक है। वह आर्य-म्लेच्छ आदि असर्वज्ञों का भी हो सकता है। यथार्थतः सर्वार्थदर्शी होने से परम आप्त, जिसके राग-द्वेषादि दोषों का क्षय हो गया है ऐसा कृपालु परमेश्वर, लोगों को उपदेश देने के लिये प्रवृत्त होकर यथार्थ उपदेश ही देता है। अतः उसके द्वारा प्रणीत सभी वाक्य प्रमाण माने जाते हैं। शंका करने वाले ने जो यह कहा था कि 'वेद' को 'नित्य' मानकर उसका 'प्रामाण्य' मानना चाहिये—यह कथन निःसार है, क्योंकि 'प्रामाण्य' तो 'दोषाभावप्रयुक्त, है, 'नित्यत्वप्रयुक्त' नहीं। वेद को नित्य मानने पर भी 'मन' या 'श्रवणेन्द्रिय' में आगन्तुकदोष की सम्भावना रहने पर संशय या विपर्यय (मिथ्याज्ञान) के होने से अप्रामाण्य की उपलब्धि देखी जाती है। और नित्यत्व के न मानने पर भी दोषशून्य चक्षुरादि इन्द्रियों में प्रामाण्य की उपलब्धि होती देखी जाती है। किन्तु पुरुषधौरेय में किसी प्रकार के भी दोषों की सम्भावना नहीं की जा सकती। इसलिये कहा गया है कि—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'।

इस प्रकार के ईश्वर के मानने में अनुमान-प्रमाण जागरूक है—'अङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् कुम्भवत्'—इत्यादि, ईश्वरसाधक अनेक अनुमान दिये जा सकते हैं। श्री उदयनाचार्य ने कहा भी है—

'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥'

—न्या० कु० ५।१

'वेद वाक्यों के अनादि होने में प्रमाण नहीं है'—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'वेदवाक्यानि अनित्यानि वाक्यत्वात् कालिदासदिवाक्यवत्'—इत्यादि अनुमान किया जा सकता है। इस पर यदि कहें कि वेदवाक्य के नित्य होने में भी अनुमान किया जा सकता है—'वेदवाक्यानि नित्यानि अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्, आकाशवत्'। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अननुभूयमानकर्तृक-घटादि में व्यभिचार होगा। यदि 'अज्ञायमानकर्तृकत्व' को हेतु बनाएँ तो 'असिद्धि' होगी। क्योंकि अनुमान और आगम से उसका ज्ञान हो सकता है। यदि यथाश्रुत को ही मान लिया जाय, तो भी जीर्ण कूप-आराम आदि पदार्थों में व्यभिचार होगा। इन दोषों के निरसनार्थ यदि 'सम्प्रदायाऽविच्छेदे सति' यह विशेषण दें तो भी गाथादिशब्द और सुभाषितश्लोकों में व्यभिचार होगा। किंच—'सम्प्रदाय' का अर्थ है—वृद्धव्यवहारानुगत पदवर्णस्वर आदि का नियम, उसका अविच्छेद यानि 'यथापूर्व उच्चारण'। तो सपक्ष और विपक्ष में उसके न रहने से 'दृष्टान्ताऽसिद्धि' होगी। अतः परम आप्त परमेश्वर के द्वारा प्रणीत होने से वेद का प्रामाण्य निराबाध सिद्ध हो जाता है। इसीलिये महर्षि कणाद ने कहा है—'तद्वचनादाप्तप्रामाण्यम्'।

इस प्रसंग में वैशेषिकों का मत भिन्न है—न्यायशास्त्र में प्रत्यक्षादि चार ही प्रमाण बताये गये हैं, किन्तु न्याय के समानतंत्र कहलाने वाले वैशेषिक दर्शन में केवल दो ही 'प्रत्यक्ष और अनुमान' प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। और इन से भिन्न उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अनुपलब्धि (अभाव) इन छह प्रमाणों का अनुमान में ही अन्तर्भाव, वैशेषिकों ने माना है। वैशेषिक दर्शन में 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'-(वै० सू० १।१।१) सूत्र के द्वारा 'धर्मव्याख्यान' की प्रतिज्ञा की गई है। तदनन्तर तृतीय सूत्र—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'—(वै० सू० १।१।३) से वेदप्रामाण्य को बताया गया है। तथापि 'शब्द' को पृथक् प्रमाण न मानकर उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव किया गया है। अनुमान में अन्तर्भाव करने का कारण 'समानविधि' बताते हैं। जैसे 'अनुमान' में—(१) व्याप्तिग्रह, (२) लिङ्गज्ञान, (३) व्याप्तिस्मृति के पश्चात् (४) 'अनुमिति' उत्पन्न होती है, उसी प्रकार 'शब्दप्रमाण' में (१) संकेत-ग्रह (२) वाक्यश्रवण, (३) पदार्थस्मृति के पश्चात (४) 'शाब्दबोध' होता है।

इसी 'समानविधि' के कारण 'शब्द' का 'अनुमान' में 'अन्तर्भाव किया गया है। वैशेषिक दर्शन ने श्रुति-स्मृतिरूप आम्नाय को भी 'अनित्य' और उसका 'प्रामाण्य'—वक्तृप्रामाण्याधीन माना है और 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्',—(वै० सू० १।१।१), 'बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे'—(वै० सू० ६।१।१) इन सूत्रों से 'वेद' की अनित्यता और 'परतः प्रामाण्य' बताया है।

किन्तु न्यायदर्शन शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानता है। और मीमांसादर्शन 'वेद' को नित्य और उसका 'स्वतःप्रामाण्य' बताता है। और 'शब्द' को स्वतंत्र प्रमाण मानता है।

यद्यपि मीमांसादर्शन के प्राभाकर संप्रदायानुयायी श्रीशालिकनाथ मिश्र आदि ने वैशेषिक के समान 'अनुमान' में ही शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव कर लिया है, तथापि वे 'वैदिक शब्द' को 'स्वतन्त्र शब्दप्रमाण' के रूप में स्वीकार करते हैं। हाँ, केवल 'लौकिक शब्द' को स्वतंत्र शब्दप्रमाण के रूप में नहीं मानते, उसी को 'अनुमान' के अन्तर्गत मानते हैं। प्राभाकर मीमांसकों का कहना है कि 'पदार्थ-संसर्ग बोध' रूप शाब्द-बोध ही 'शब्दप्रमाण' का फल है। और लौकिक वाक्यों के प्रति 'प्रामाण्य' बोध होने के लिये 'आप्तोक्तत्व' का ज्ञान आवश्यक है। आप्तपुरुष उसी को कह सकते हैं, जिसे उच्चरित वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान हो। एवं च 'पदार्थसंसर्ग' रूप 'वाक्यार्थ' जो है, वह, वक्ता के ज्ञान के अन्तर्गत हो जाता है। उस 'ज्ञान का बोध' 'अनुमान' से हो जाता है। इसलिये लौकिक वाक्य को 'शब्द-प्रमाण' के रूप में नहीं माना गया है। वह तो अनुमान से गृहीत किये गये 'पदार्थ-संसर्ग' रूप वाक्यार्थ का अनुवाद मात्र करता है। किन्तु वैदिक-वाक्य तो अपौरुषेय है। इसलिये उनमें 'आप्तोक्तत्व' होने की अपेक्षा ही नहीं है। अतः 'वैदिकवाक्यरूप शब्द' स्वतंत्र प्रमाण है।

प्रभाकर मिश्र के इस कथन का खण्डन श्री उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमांजलि में किया है। श्री उदयनाचार्य कहते हैं कि प्राभाकर के कथनानुसार प्रथमतः अनुमान की प्रक्रिया से तथा बाद में शब्द की प्रक्रिया से 'पदार्थसंसर्ग' के बोध को मानकर 'शब्द' को अनुवादक और अनुमान को प्रमाण माना गया है। किन्तु यह कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि अनुमानप्रक्रिया और शब्दप्रक्रिया में अन्तर है, क्योंकि अनुमान करने के लिये 'व्याप्तिस्मरण' आवश्यक है। व्याप्तिस्मरण करते हैं तो विलम्ब होना निश्चित है और शब्दप्रक्रिया में वैदिक वाक्यों में 'संसर्गबोध' की शक्ति तो पहले से निश्चित हो चुकी है। अतः 'निश्चित शक्ति वाले वाक्य' से पहिले ही 'संसर्ग का बोध' हो जायेगा और अनुमान की प्रक्रिया से 'संसर्ग का बोध' विलम्ब से होगा। इसलिये 'अनुमान' को ही 'अनुवादक' कहना होगा।

यदि 'लौकिकवाक्य' को 'अनुवादक' ही कहना चाहते हो तो वैदिकवाक्यों में भी 'अमी वैदिकाः पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः, व्यस्तपुन्दूषणाशङ्कैः पदैः स्मारितत्वात्'—

इस अनुमान से, संसर्ग का निर्णय पहिले ही हो जाने से 'वैदिकवाक्य' को भी 'अनुवादक' कहना होगा। अतः लौकिक-वैदिक दोनों प्रकार के वाक्यों को 'अनुवादक' मान लो या दोनों को प्रमाण मान लो। केवल वैदिक वाक्यों को 'प्रमाण' कहना और लौकिकवाक्यों को 'अनुवादक' कहना तो 'अर्धजरतीयन्याय' होगा, वह ठीक नहीं है।

इसी कथन को न्यायकुसुमाञ्जलिकार के शब्दों में दे रहे हैं—

"प्राभाकरास्तु वेदस्याऽपौरुषेयतया तत्र वक्तृज्ञानानुमानाऽसम्भवात् शब्दः प्रमाणम्। लोके त्वाप्तोक्तत्वज्ञानमपेक्षितम्। तथा च 'अयं वक्ता स्वप्नयुक्तवक्यार्थज्ञानवान्, भ्रमाद्यजन्यवाक्यार्थज्ञानजन्यवाक्यप्रयोक्तृत्वात्' इत्यनुमानाद् वक्तृज्ञानावच्छेदकतया, उत्तरकालं वा 'एते पदार्थाः परस्परं संसृष्टा वक्तृयथार्थज्ञानविषयत्वात्' इत्यनुमानात्साक्षाद् वाक्यार्थसिद्धेः, क्लृप्तसामर्थ्यात् शब्दात्पुनरन्वयधीरित्यनुवादको लौकिकः शब्दो न प्रमाणमिति प्राहुः।

तत्राह—

"निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥
व्यस्तपुन्दूषणाशङ्कैः स्मारितत्वात् पदैरमी।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कुतः ॥"

—(न्या० कु० ३, १४, १५ हरिदासीय वि०)

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध किया गया कि 'शब्द' एक स्वतंत्र प्रमाण है। अब उसके 'अर्थ' पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाय। 'शब्द' अपनी 'सहजशक्ति' से जिसको बतावे, वही उसका 'अर्थ' है। शब्द अपनी सहजशक्ति रूप संबंध से अर्थ बोध को नियन्त्रित कर देता है। उस सहज शक्ति को ही 'अभिधा' शक्ति के नाम से कहा जाता है। उस 'अर्थ' के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। नैयायिकों का अपना मत है कि 'शब्द' को सुनने पर श्रोता को जो-जो बोध होता है, वह सभी अर्थ है। उन सभी में उस 'शब्द' की सहजशक्ति है। जैसे 'गो' शब्द के सुनने पर एक विशेष 'जाति', 'विशेष आकार की व्यक्ति' का बोध होता है। अर्थात् 'गोत्व' 'सास्ना' 'व्यक्ति' इन सभी में 'गो' शब्द की शक्ति है। जैसे कि सूत्रकार गौतममहर्षि ने 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः'—सूत्र से बताया है। इस सूत्र गत 'आकृति' शब्द पर भी अनेक मत हैं।

प्राचीन नैयायिकों ने 'आकृति' शब्द से 'अवयवसंस्थान रूप आकार' को माना है। किन्तु नवीननैयायिकों ने 'आकृति' शब्द से 'जाति और व्यक्ति के सम्बन्धरूप 'समवाय' को माना है। एवं च 'जाति, आकृति, और व्यक्ति' को 'शब्द' का अर्थ मानने वाला प्राचीन मत है, और 'जाति और व्यक्ति दोनों के सम्बन्धरूप समवाय' को 'शब्द' का अर्थ मानने वाला नवीनमत है।

किन्तु मीमांसक विद्वान्, उपरिनिर्दिष्ट नैयायिकों के मतों को न मान कर केवल 'जाति' को ही 'शब्द' का अर्थ मानते हैं। आकृति और व्यक्ति को ये 'शब्द' का अर्थ नहीं कहते। लाघव की दृष्टि से इन्होंने एक मात्र 'जाति' को ही शब्दार्थ के रूप में माना है। शब्दश्रवण करने पर 'व्यक्ति' का ज्ञान तो आक्षेप से हो जाता है। जैसे 'प्रभाकरमीमांसक' के मत मे 'शब्द' के वाच्य (शक्य) अर्थ केवल 'जाति' को मानकर 'जातिबोधक सामग्री' से ही 'व्यक्ति' का बोध होना बताया गया है। क्योंकि 'व्यक्ति' में तुल्यवित्तिवेद्यता (समानसामग्रीग्राह्यता) रहती है।

श्रीकुमारिलभट्टपाद ने भी 'शब्द' का शक्यार्थ (वाच्यार्थ) केवल 'जाति' को ही माना है। इतने अंश में दोनों की समानता है। और 'व्यक्ति' का ज्ञान, अनुमान से होना उन्होंने बताया है। मण्डन मिश्र के मत में भी 'जाति' का बोध 'शब्द' की 'अभिधाशक्ति' से होना बताया है। अर्थात् 'शब्द' का शक्यार्थ (वाच्यार्थ) 'जाति' है, और 'व्यक्ति' का ज्ञान, लक्षणा से होता है। कुब्जशक्तिवादी श्रीकर ने भी 'जाति' को ही शब्द का वाच्यार्थ (शक्यार्थ) माना है, और 'व्यक्ति' का बोध, 'व्यक्ति' के बिना 'जाति' की अनुपपत्ति को देखकर 'अर्थापत्ति' प्रमाण से शब्दजन्य ही माना है। तात्पर्य यह है कि 'शब्द' की शक्ति केवल 'जाति' में ही है, 'व्यक्ति' में नहीं। इसलिये 'व्यक्ति' का ज्ञान, 'शब्दशक्ति' से नहीं है। अपितु प्रकारान्तर से होता है।

मीमांसकमत का खण्डन—

नैयायिक का कहना है कि उपर्युक्त मीमांसकमत में कोई औचित्य प्रतीत नहीं हो रहा हैं, क्योंकि शब्दश्रवण होने पर 'जाति' और 'व्यक्ति' दोनों का ज्ञान, समानरूप से ही होता है। उसमें किसी प्रकार का कोई कालभेद या प्रक्रियाभेद नहीं है। अतः 'जाति' का ज्ञान, 'शब्दशक्ति' से और 'व्यक्ति' का ज्ञान प्रकारान्तर से बताना उचित नहीं है। इसलिये 'जाति' की तरह ही 'व्यक्ति' को भी 'शब्द' का शक्यार्थ (वाच्यार्थ) ही मान लेना चाहिये।

मीमांसकों का जो यह कहना है कि 'शब्द' का अर्थ वही माना जाता है, जो 'अनन्यलभ्य' हो। अर्थात् 'प्रकारान्तर' से जिसका ज्ञान नहीं होता, उसे ही 'शब्द' का वाच्यार्थ (शक्यार्थ) माना जाता है। किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'व्यक्ति' की 'अनन्यलभ्यता' अप्रामाणिक है। उनकी बताई हुई सभी पद्धतियाँ सदोष हैं। जैसे—

प्रभाकर के मत में दोष—

केवल 'तुल्यवित्तिवेद्यता' कहकर 'व्यक्ति' के बोध की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि किसी भी 'कार्य' की उत्पत्ति, किसी 'कारण' से ही हुआ करती है, 'कारण' के अभाव में नहीं। केवल **'तुल्यवित्तिवेद्यता'** के नियम को कहने मात्र से नहीं हो सकती।

श्रीकुमारिलभट्टपाद के मत में दोष—

इस मत में अभिधाशक्ति से 'जाति' का बोध और अनुमान से 'व्यक्ति' का बोध होना माना जाता है। किन्तु 'अनुमान' से 'व्यक्ति' का बोध इसलिये नहीं हो सकता कि अनुमान से होने वाले ज्ञान में 'वस्तु' का भान, पक्ष, साध्य और उन दोनों के सम्बन्ध के रूप में ही होता है। किन्तु व्यवहारोपयोगिनी व्यक्ति, इन तीनों में से किसी भी रूप में अनुमान-जन्यज्ञान (अनुमिति) का विषय नहीं हो सकती। क्योंकि मीमांसकभट्ट के मतानुसार 'व्यक्ति' तो 'शब्द' का वाच्य होती ही नहीं है। अतः शब्द-श्रवण करने वाले श्रोता को उसका (व्यक्ति का) ज्ञान होना संभव ही नहीं है। और श्रोता को उसके ज्ञात हुए बिना अनुमान-जन्य बोध में उसका भान कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि उक्त त्रिविध रूपों में से किसी भी रूप में उसका भान होने के लिये उसका (व्यक्ति का) परामर्श के रूप में ज्ञान होना चाहिये। परन्तु शब्दश्रवण करने वाले श्रोता के लिये वह (व्यक्ति) शब्दवाच्य न रहने से उसकी अनुपस्थिति है, इसलिये वह परामर्श का विषय नहीं हो सकती। अतः अनुमान से व्यक्ति का बोध कहना समुचित नहीं है।

मण्डनमिश्र के मत में दोष—

मण्डनमिश्र के मतानुसार 'जाति' तो शब्द का वाच्य (शक्य) है, और 'व्यक्ति' का ज्ञान 'लक्षणा' से होता है। किन्तु यह कथन निःसार-सा प्रतीत होता है। क्योंकि 'लक्षणा' के बीज 'अन्वयानुपपत्ति' के रहने पर ही 'लक्षणा' हुआ करती है। किन्तु 'गौः अस्ति' कहने पर 'गोत्व' में 'अस्तित्व' के अन्वय की अनुपपत्ति तो है नहीं। तब 'अन्वयानुपपत्ति'रूप बीज के न होने के कारण 'गोव्यक्ति' में 'गो' शब्द की लक्षणा न होने पर भी तथा 'गो' शब्द का वाच्य न होने पर भी 'गो' व्यक्ति का बोध तो हो ही जाता है। अर्थात् बिना लक्षणा के ही 'गोव्यक्ति' का बोध हो जाता है। एवं च इस मत में 'व्यक्ति' के बोध का उपपादन नहीं हो पाया है।

कुब्जशक्तिवादी श्रीकर के मत में दोष—

इनके मत के अनुसार 'जाति' का भान 'शब्द' की शक्ति से होता है, और 'व्यक्ति' का भान 'अर्थापत्ति' प्रमाण से होना बताया गया है। किन्तु विजातीय प्रमाणों से 'एक ज्ञान' की उपपत्ति नहीं होती। इसलिये 'शब्द' और 'अर्थापत्ति' के परस्पर सहयोग से 'व्यक्ति' का भान नहीं हो सकता। नैयायिक का कहना है कि शब्द को सुनने पर 'जाति' और 'व्यक्ति' दोनों का ज्ञान युगपत् (एक साथ) ही होता है, क्रम से नहीं। किन्तु 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' मानने पर दोनों का युगपत् ज्ञान कैसे संभव हो सकता है ? अतः 'जाति' की तरह 'व्यक्ति' को भी शब्द का वाच्य ही मानना चाहिये।

शब्द को सुनने के बाद केवल किसी पदार्थ का ज्ञान न होकर अनेक पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान हुआ करता है। किन्तु पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान किस कारण होता है? इसे भी विचार कर लें। क्या पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में 'पद' की शक्ति होने से उस संबंध का ज्ञान होता है? अथवा वाक्य के अवयवभूत पदों की परस्पराकांक्षा से उस सम्बन्ध का ज्ञान होता है? अर्थात् वाक्य के सामर्थ्य (वाक्यरचना के प्रभाव) से उस संबंध का ज्ञान होता है।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मीमांसकों ने दो प्रकार से दिया है। मीमांसाशास्त्र का दूसरा नाम 'वाक्यशास्त्र' भी है। किसी भी वाक्य का अर्थ लगाने का उत्तरदायित्व मीमांसकों पर ही होता है। उपर्युक्त दो प्रकारों में से 'एक प्रकार' का नाम 'अभिहितान्वयवाद' है, और 'दूसरे प्रकार' का नाम 'अन्विताभिधानवाद' है।

अभिहितान्वयवाद—

श्रीकुमारिलभट्टपाद 'अभिहितान्वयवादी' हैं। **नैयायिक** भी इसी के समर्थक हैं। प्रश्न यह उपस्थित है कि **'वाक्यार्थ'** किसे कहते हैं? इस पर सर्ववादिसम्मत उत्तर यह है कि **'पदार्थसंसर्गबोध'** को 'वाक्यार्थ' कहते हैं। इस वाक्यार्थ की निष्पत्ति का प्रकार अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट यह बताते हैं कि किसी भी वाक्य के घटक पद अपनी-अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा अपने-अपने अर्थों को बताते हैं, उन अर्थों के सम्बन्ध को नहीं बताते। पदों के द्वारा अभिहित (बताये हुए) अर्थों का परस्पर सम्बन्ध-ज्ञान तो उन पदों के पौर्वापर्यरूप वाक्य-सामर्थ्य के बल पर हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि पदों (शब्दों) के अपने-अपने अर्थ से भिन्न एक नया अर्थ वाक्यार्थ के रूप में प्रकट होता है। उसका क्रम इस प्रकार है—प्रथमतः 'पद' अपनी-अपनी अभिधा-शक्ति (अभिधावृत्ति) से अपने अर्थों (पदार्थों) को अभिहित करते (बताते) हैं। तदनन्तर उन अभिहित हुए अर्थों की अथवा अर्थप्रतिपादक पदों की आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि को देखते हुए उनका परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) हो जाता है। इस प्रकार पदों से अभिहित हुए अर्थों का परस्पर अन्वय होता है—यही 'अभिहिता-न्वय' शब्द का अर्थ है 'अभिहितानाम् अन्वयः—अभिहितान्वयः'। अभिहितान्वय-सम्बन्धी वाद यानी सिद्धान्त। इस अभिहितान्वयवाद को जो मानता है, उसे 'अभि-हितान्वयवादी' कहते हैं। ग्रन्थकार ने 'वाक्यं तु आकांक्षा योग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः' तथा 'पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेन' कहा है, इससे अवगत होता है कि कुमारिल की तरह न्याय-वैशेषिक दर्शन के विद्वान् भी अभिहितान्वयवादी ही हैं। वाच्य के अर्थ के विषय में मीमांसक कुमारिलभट्ट और नैयायिक-वैशेषिक तीनों का सिद्धान्त समान ही हैं। इस मत में 'पदार्थ' तो वाच्यार्थ है और पदार्थसंसर्ग वाक्यार्थ है। एवं च वाक्यार्थ और वाच्यार्थ अलग-अलग हैं।

अन्विताभिधानवाद—

वाक्यार्थ के विषय में दूसरा प्रकार—'अन्विताभिधानवाद' है। इसको मानने वाले प्रभाकर मीमांसक हैं, इन्हीं को 'गुरु' कहा जाता है। इनके मत को 'गुरुमत' या 'प्राभाकरमत' कहते हैं। प्रभाकर मीमांसक वाक्यार्थ की प्रक्रिया को इस प्रकार बताते हैं—

वाक्यघटक पद, अपने-अपने शुद्ध अर्थ (केवल अर्थमात्र) को न बताकर परस्पर अन्वित (परस्पर सम्बद्ध) अर्थ को ही अभिधाशक्ति के द्वारा अभिहित करते (बताते) हैं। व्यवहार आदि के द्वारा अन्वित-अर्थ में ही शक्तिग्रह हुआ करता है। अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा पद 'अन्वित अर्थ' का ही अभिधान करता है इस कारण ही इसे 'अन्विताभिधान' कहा जाता है—अर्थात् अन्वित का अभिधान। इस अन्वित के अभिधान के सिद्धान्त को 'अन्विताभिधानवाद' कहा गया है। इसके मानने वाले प्रभाकर और उनके अनुयायियों को 'अन्विताभिधानवादी' कहते हैं। इस मत में—पदों का अर्थ ही 'वाक्यार्थ' है और (अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादित होने से) वही वाच्यार्थ भी है। एवं च इनके मत में 'वाक्यार्थ' और वाच्यार्थ–एक ही है, अलग-अलग नहीं है।

इस अन्विताभिधान में भी तीन प्रकार हैं—(१) कार्यान्विताभिधान, (२) इतरान्विताभिधान, और (३) अन्विताभिधान।

इन तीनों में से प्रभाकर मीमांसक—

१—'कार्यान्विताभिधान' को ही मुख्यतया मानते हैं। इसमें प्रत्येक शाब्दबोध कार्यत्वविषयक ही होता है। इस कारण कार्यत्वबोधक लिङादि-प्रत्ययरहित वाक्यों से शाब्दबोध नहीं होता है।

२—कार्यत्वविषयक ही शब्दबोध होता है—इस नियम को स्वीकार न करने वाले लोगों ने 'इतरान्विताभिधान' पक्ष माना है।

३—इतर अर्थ का लाभ पदान्तर से संभव होने के कारण कुछ विद्वानों ने 'अन्विताभिधान' पक्ष को माना है।

गदाधर के शक्तिवाद की हरिनाथी व्याख्या में 'अन्विताभिधान' को 'भट्ट' मत कहा है, किन्तु यह भट्ट कौन है—यह अवगत नहीं हो सका है।

'पद' के अर्थ को 'पदार्थ' कहते हैं। तथापि 'पदार्थ' क्या है? यानी उसका स्वरूप क्या है? इस विषय में दार्शनिकों के अपने-अपने भिन्न-भिन्न विचार हैं।

मीमांसक के मत में पद का अर्थ—जाति है।

प्राचीन नैयायिक के मत में पद का अर्थ—जातिविशिष्ट व्यक्ति है।

नव्य नैयायिक के मत में पद का अर्थ—व्यक्ति ही है।

वैयाकरण के मत में पद का अर्थ—जाति, गुण, क्रिया, तथा द्रव्य (यादृच्छिक) है।

अलङ्कारशास्त्रियों के मत में पद का अर्थ—वैयाकरणों के अनुसार 'गौः शुक्लः चलः डित्थः' इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः'—इस भाष्यवचन को उद्धृत करते हुए जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा को ही स्वीकार किया गया है।

बौद्धों के मत में पद का अर्थ—अपोह (अतद्व्यावृत्ति यानी तद्भिन्न-भिन्नत्व) है।

तर्कभाषाकार के मत में पद का अर्थ—प्राचीन नैयायिकों के अनुसार जातिविशिष्टव्यक्ति (अथवा जाति-आकृति-व्यक्ति) तीनों ही है।

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम्, प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात्।

॥ न्यायदर्शनोक्तप्रमाणचतुष्टयनिरूपणं समाप्तम् ॥

वर्णितानीति। नैयायिक-सम्मत चारों प्रमाणों का वर्णन अभी तक किया गया इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त और कोई अधिक प्रमाण नहीं है। **प्रमाणस्येति।** क्योंकि जो भी प्रमाण हो सकता हो तो उसका इन्हीं चार प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये नैयायिक के मत में चार ही प्रमाण माने जाते हैं। जब इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण ही नहीं है, तब इन चारों में अन्तर्भाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता…यह सूचित करने के लिये ही 'प्रमाणस्य सतः' कहा गया है।

माधुरी

न्यायशास्त्र के अनुसार चार ही प्रमाण हैं, अधिक नहीं। किन्तु भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने मतों में उनकी संख्या के विषय में कुछ न्यूनाधिक भाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

(१) **चार्वाक** दार्शनिक के मत में केवल एक **प्रत्यक्ष** ही प्रमाण है।

(२) **बौद्धदार्शनिक** और वैशेषिक के मत में **प्रत्यक्ष** और **अनुमान** दो ही प्रमाण हैं (वैशेषिक ने उपमान और शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव कर लिया है)

(३) **सांख्य-योग** दार्शनिकों ने **प्रत्यक्ष; अनुमान और आगम** तीन ही प्रमाणों को माना है। (उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं)

(४) **नैयायिक** दार्शनिकों के मत में **प्रत्यक्ष, अनुमान; उपमान और शब्द** इन चार प्रमाणों को माना गया है।

(५) **प्रभाकर मीमांसक,** के मत में **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द** और **अर्थापत्ति**—ये पाँच प्रमाण हैं।

(६) **कुमारिलभट्ट** मीमांसक तथा **वेदान्तियों** के मत में **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति** और **अनुपलब्धि** इन छह प्रमाणों को स्वीकार किया गया है।

(७) **पौराणिकों** ने उपर्युक्त छह प्रमाणों के साथ-साथ **ऐतिह्य** और **संभव** दो और अधिक प्रमाण मानकर कुल आठ प्रमाणों को स्वीकार किया है।

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि दार्शनिक विद्वान् ने अपनी दर्शनमीमांसा में उक्त सभी प्रमाणों का संग्रह एक पद्य में कर दिया है—

'प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका बौद्धा वैशेषिका द्वयम् ।
सांख्या योगास्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतष्टयम् ॥
पञ्च प्राभाकरा, भाट्टास्तथा वेदान्तिनश्च षट् ।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणानि ब्रुवन्ति वै ॥

न्यायदर्शनसम्मत चार प्रमाणों का निरूपण समाप्त ।

अर्थापत्तिप्रमाणविचारः

नन्वर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति । अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् 'अर्थापत्तिः' । तथाहि, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते । दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम् । तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् ।

शंका—**नन्वर्थापत्तिरपीति** । **मीमांसक** अथवा **वेदान्ती**, 'नैयायिक' से कहता है कि **'अर्थापत्ति'** भी तो एक पृथक् प्रमाण है। जिसका लक्षण इस प्रकार है—**अनुपपद्यमानेति** । अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना **'अर्थापत्ति'** कहलाती है। **तथा हीति** । जैसे—'देवदत्त दिन में नहीं खाता है, परन्तु मोटा है।' यह देखने पर या सुनने पर उसके रात्रिभोजन की कल्पना कर ली जाती है क्योंकि दिन में न खाने वाले का मोटा होना, 'रात्रिभोजन किये विना उपपन्न नहीं हो सकता। अतः 'अन्यथा (रात्रिभोजन के विना) पीनत्व की अनुपपत्ति ही उसके रात्रिभोजन में प्रमाण है।

'अर्थापत्ति' शब्द का प्रयोग 'प्रमा' और 'प्रमाण' दोनों के लिये होता है। 'अर्थस्य आपत्तिः'—अर्थापत्तिः, ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर 'अर्थापत्ति' शब्द की 'कल्पना' अर्थ होने से—अर्थापत्ति का अर्थ 'प्रमा' होता है। और अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्' ऐसा बहुव्रीहि समास करने पर अर्थापत्ति का अर्थ 'प्रमाण' होता है। इसलिये 'प्रमा' और 'प्रमाण' दोनों अर्थों में 'अर्थापत्ति' संज्ञक एक ही शब्द का प्रयोग होता है। एवं च बहुव्रीहि के अनुसार 'अर्थापत्ति शब्द', अर्थ की विजातीय प्रमा के साधनभूत 'अर्थापत्ति'

नामक प्रमाण का वाचक है। और षष्ठीतत्पुरुष समास के अनुसार 'अर्थापत्ति' शब्द, अर्थापत्तिनामक विजातीय प्रमा का वाचक है। शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त यदि एक हो तो एक शब्द, दो अर्थों का वाचक नहीं होता है। किन्तु यहाँ पर 'प्रमा और प्रमाण' अर्थ में अर्थापत्ति शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न है।

तच्चेति। और वह (अर्थापत्ति) प्रमाण, अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न है, क्योंकि 'रात्रिभोजन', प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण का विषय नहीं है। इसलिये 'अर्थापत्ति' स्वतन्त्र प्रमाण है।

नैतत्। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथा हि, अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो, यथा दिवा रात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो, न चायं तथा, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया।

॥ इति अर्थापत्तिप्रमाणविचारः ॥

इस प्रकार मीमांसक या वेदान्ती के कहने पर नैयायिक कहता है कि—**नैतदिति**। ऐसी बात नहीं है। क्योंकि 'रात्रिभोजन' तो अनुमान का विषय है। अर्थात् अनुमान से ही उसके रात्रिभोजन करने का ज्ञान हो जाता है। इसलिये 'अर्थापत्ति' को अलग से स्वतंत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। देवदत्त के रात्रिभोजन का अनुमान यह होगा—**तथा होति**। 'अयं देवदत्तः रात्रौ भुङ्क्ते' दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्'—यह देवदत्त रात में भोजन करता है—यह **प्रतिज्ञा** है। 'दिन में भोजन न करने पर भी पुष्ट रहने से—यह **हेतु** है। 'यस्तु रात्रौ न भुङ्क्ते, नाऽसौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनः—यथा दिवारात्रौ च अभुञ्जानः अपीनः'—जो रात में भोजन नहीं करता है, और दिन में भी भोजन नहीं करता है वह पुष्ट नहीं हो पाता है—जैसे दिन और रात में भी भोजन न करने वाला दुबला होता है—यह व्यतिरेकव्याप्ति और उसका उदाहरण है। 'न चायं तथा'—यह देवदत्त वैसा दुबला नहीं है—**यह उपनय है**। 'तस्मात् न तथा'—इसलिये वैसा यानी दिन और रात में भोजन न करने वाला नहीं है—अर्थात् 'रात्रि में भोजन करता है'—**यह निगमन है। इति केवलव्यतिरेकीति**। इस रीति से 'केवलव्यतिरेकीअनुमान' द्वारा ही रात्रिभोजन की प्रतीति जब हो रही है, तब 'अर्थापत्ति' को अलग स्वतंत्र प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है?

माधुरी

'मानाधीना मेयसिद्धिः'—किसी भी 'प्रमेय' की सिद्धि 'प्रमाण' के अधीन होती है। इसीलिये दार्शनिकों को 'प्रमाण' केनिरूपण की आवश्यकता हुई। और अपने-अपने विचार से प्रमाणों को उन्होंने निर्धारित किया। नैयायिकों ने अपने विचार से

प्रमेय की सिद्धि के लिये प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों को ही माना है और उससे अधिक किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं—यह भी सूचित कर दिया है।

इस पर मीमांसक तथा वेदान्ती जैसे दार्शनिक विद्वानों ने कहा कि जिन प्रमेयों का ज्ञान प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से नहीं हो पाता उनके ज्ञान के लिये और भी अन्य प्रमाण का स्वीकार करना होगा। जैसे—हमने देखा या सुना है कि 'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी वह खूब पुष्ट, स्थूलकाय है। तब हमारे मन में आता है कि बिना खाये-पीये तो पुष्ट होना, स्थूलकाय रहना संभव नहीं हैं। इसलिये जबकि वह दिन में बिना खाये-पीये भी मोटा-पुष्ट बना हुआ है तो वह रात में अवश्य ही खाता पीता होगा। एवं च 'देवदत्त रात में खाता है'—यह ज्ञान (प्रमा) हमें हो रहा है, उसके होने में कोई प्रमाण (प्रमा का करण यानी साधन) अवश्य ही होना चाहिये। वह प्रमाण 'अर्थापत्ति' ही है, क्योंकि स्वीकृत चार प्रमाणों में से किसी से भी 'रात्रिभोजन' का ज्ञान नहीं हो रहा है। अर्थापत्ति का लक्षण ग्रन्थकार ने किया है कि **'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः'**। उक्त उदाहरण में अनुपपद्यमान अर्थ है–'भोजन न करने वाले देवदत्त का पुष्ट बना रहना'। इस अनुपपद्यमान अर्थ का उपपादक है—'रात्रिभोजन'। इस प्रकार अनुपपद्यमान अर्थ के देखने से या सुनने से यहाँपर 'रात्रिभोजन' की कल्पना जो की गई है, वह 'अर्थापत्ति' प्रमाण से की गई है। यहाँ पर 'अनुपपद्यमान अर्थ' का दर्शन या श्रवण ही 'रात्रिभोजन' की कल्पना (प्रमा) का करण है। प्रमा का कारण होने से ही 'अर्थापत्ति' को प्रमाण कहा गया है। और उपपादक अर्थ की कल्पनारूप जो प्रमा है, वही उस प्रमाण का फल है। मीमांसकों के मत में यह अर्थापत्ति 'दृष्टार्थापत्ति' और 'श्रुतार्थापत्ति' भेद से दो प्रकार की मानी जाती है। दृष्टार्थापत्ति में **'अर्थ'** का अध्याहार किया जाता है। और श्रुतार्थापत्ति में **'शब्द'** का अध्याहार किया जाता है। अर्थापत्ति को अन्य प्रमाणों से पृथक् सिद्ध करने के लिये मीमांसकों ने अनुमान किया है कि 'अर्थापत्तिः प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्प्रमाणं रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्'। 'देवदत्त रात में भोजन करता है' इस तथ्य को किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं है, इसलिये 'रात्रिभोजन' को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं कह सकते। 'रात्रिभोजन' को अनुमान का विषय भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'रात्रिभोजनव्याप्य-हेतु में पक्षधर्मतानिश्चयरूप लिङ्गपरामर्श के बिना भी 'रात्रिभोजन' की कल्पना होती है। अर्थात् रात्रिभोजन के साथ व्याप्ति का निश्चय नहीं है। यह रात्रिभोजन की कल्पना 'उपमान' प्रमाण का भी विषय नहीं है क्योंकि अतिदेश वाक्य के अर्थस्मरण के साथ होने वाले सादृश्यज्ञान से 'रात्रिभोजन' की प्रमा (ज्ञान) नहीं हो रही है। तथा इस 'रात्रिभोजन' के ज्ञान को 'शब्दप्रमाण' (आप्तवाक्य) से उत्पन्न भी नहीं कहा जा सकता। अतः यह उपपादक ज्ञान (रात्रि-भोजन) शब्दप्रमाण का भी विषय नहीं है। अन्त में यही कहना पड़ेगा कि इस

'रात्रिभोजन' रूप प्रमा का जो करण है, वह अर्थापत्ति' ही है। एवं च 'अर्थापत्ति-प्रमाण' एक स्वतंत्र प्रमाण है।

इस पर **नैयायिक** कहता है कि यह रात्रिभोजन की कल्पना रूप जो प्रमा है, वह कोई 'विजातीयप्रमा' नहीं है। वह तो 'अनुमिति' प्रमा ही है। यह प्रमा तो केवल-व्यतिरेकी-अनुमान से हो जाती है। उस केवलव्यतिरेकीअनुमान का प्रयोग तर्क-भाषाकार ने 'तथा हि अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते, दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्' कहकर प्रदर्शित किया है। इस अनुमानप्रयोग में 'देवदत्त'—पक्ष है। और 'रात्रि-भोजन' साध्य है, तथा 'दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्'—यह हेतु है। 'यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते नाऽसौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनः' जो रात में भोजन नहीं करता और दिन में भी भोजन नहीं करता, वह पीन यानी पुष्ट, मोटा-ताजा नहीं रह सकता—यह व्यतिरेकव्याप्ति है। 'साध्याभाव के साथ साधनाभाव की व्याप्ति' को **व्यतिरेक-व्याप्ति** कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में 'रात्रिभोजन' रूप साध्य का अभाव अर्थात् 'रात्रि-भोजनाभाव'—यह साध्याभाव है और 'दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्व'—दिन में न खाने वाले की पुष्टतारूप साधन का अभाव अर्थात् दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वाभाव—यह साधनाभाव है। इस व्यतिरेकव्याप्ति में अन्वयी उदाहरण नहीं होता है। बल्कि व्यतिरेकी उदाहरण होता है। जैसे—'दिवा रात्रौ अभुञ्जानः अपीनः'। एवं च केवल-व्यतिरेकी अनुमान से 'रात्रिभोजन' रूप कल्पना (प्रमा) का साधनभूतज्ञान, हमें रात्रिभोजनरूप साध्य की व्यतिरेकव्याप्ति से विशिष्ट दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्व-रूप हेतु के परामर्श में जब उपलब्ध हो रहा है। तब आपकी कल्पना को 'अनुमिति' कहने में कौन-सी अड़चन है? अतः 'अर्थापत्ति' को पृथक् प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि आपने ही 'पीनत्व और रात्रिभोजनत्व' के कार्य-कारण भाव को बताकर धूम-धूमध्वज की तरह 'नियम्यनियामकभाव' को प्रदर्शित किया है। हाँ, अनियम्य की नियामक के अभाव में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है। कहा भी है।

'अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः। इति।
'न चानयोर्विरोधोऽस्ति प्रत्यक्षे चाप्यसौ समः।' इति।

—(न्या० कु० स्त० ३।१९)

जो अव्याप्य पदार्थ होता है उसकी ही व्यापक के बिना कोई अनुपपत्ति नहीं होती है। और जो अनुपपद्यमान का व्यापक नहीं है, वह उस अनुपपद्यमान का उपपादक भी नहीं हो सकता। इसलिये उपपाद्यज्ञान से कल्प्य जो उपपादकज्ञान है, वह तो व्याप्यज्ञानजन्य-व्यापकज्ञानरूप अनुमान ही है।

इति अर्थापत्तिप्रमाणविचारः।

अभावप्रमाणविचारः

नन्वभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति। तच्चाभावग्रहणायाङ्गीकरणीयम्। तथाहि घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते। अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभावः। इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते।

नैतत्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्।

शंका—नन्वभावाख्यमपीति। मीमांसकों में भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती 'अभाव' संज्ञक प्रमाण भी पृथक् मानते हैं। क्योंकि 'अभाव पदार्थ' (प्रमेय) के ज्ञान (ग्रहण) के लिये उस 'अभावप्रमाण' (अनुपलब्धि प्रमाण) को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि घटादि पदार्थ की अनुपलब्धि से घटादि पदार्थ के अभाव का ग्रहण (ज्ञान) होता है।

समा०—नैतदिति। यह बात नहीं है। यदि यहाँ 'घट' होता तो भूतल की तरह दिखाई देता। इस प्रकार तर्क के साथ अनुपलब्धि से युक्त 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से ही 'अभाव' पदार्थ (प्रमेय) का ग्रहण हो जाता है। एवं च अभाव पदार्थ के ज्ञानार्थ अलग से 'अभाव' (अनुपलब्धि) प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

माधुरी

वेदान्ती तथा **भाट्टमतानुयायी** मीमांसकों का कहना है कि **'भूतले घटो नास्ति'** कहने पर घट के **'अभाव'** का ज्ञान होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः उस 'अभाव' का ज्ञान जिस साधन से होता है, उसे **'अभावप्रमाण'** कहते हैं। घटादि भावपदार्थ की उपलब्धि के सभी साधनों के विद्यमान रहने पर भी जब घटादि भावपदार्थ की उपलब्धि नहीं हो रही है तब हमें निश्चय हो जाता है कि यहाँ पर 'घट' आदि पदार्थ नहीं है। भावपदार्थ की उपलब्धि के साधन— प्रकाश (आलोक), चक्षु, और भावपदार्थ के साथ उस चक्षुरिन्द्रिय का संयोग, होते हैं। इन तीनों साधनों के रहने पर भी यदि केवल भूतल का ही प्रत्यक्ष हो रहा है, 'घट' की उपलब्धि (ग्रहण) नहीं हो रही है। उपलब्धि के प्रकाशादि सभी साधनों के रहते प्रत्यक्षयोग्य भूतल की उपलब्धि के समान ही प्रत्यक्षयोग्य घट की भी उपलब्धि होनी चाहिये थी, किन्तु नहीं हो रही है, इससे हमें विश्वास (निश्चय) हो जाता है कि 'भूतल में घट का अभाव' है। एवं च अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय हो रहा है। अनुपलब्धि का अर्थ है उपलब्धि का अभाव। अतः अनुपलब्धि (अभाव) रूप प्रमाण से ही 'अभाव' रूप प्रमेय का निश्चय होता है। अतः अभाव के ज्ञान का साधन (प्रमाण); उपलब्धि का अभाव (अनुपलब्धि) ही है।

मीमांसकों का कहना है कि घटादि भावपदार्थों के अभाव का ज्ञान (ग्रहण), प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों से कोई प्रमाण नहीं करा सकता। जैसे—प्रत्यक्ष इसलिये नहीं हो सकता कि इन्द्रिय का व्यापार भूतलादि अधिकरण का ज्ञान कराने में ही समाप्त होता है। दूसरी बात यह है कि 'अभावपदार्थ' के साथ इन्द्रिय का संयोग (सन्निकर्ष) भी हो नहीं सकता।

उसी तरह 'अभाव' के साथ व्याप्ति न होने से अनुमान के द्वारा भी उसका ग्रहण नहीं होगा। तथा उपमान या शब्द प्रमाण से भी 'अभाव' पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थापत्ति से भी 'अभावपदार्थ' का ग्रहण नहीं होता। इसलिये एक स्वतंत्र रूप से ही 'अभाव' (अनुपलब्धि) प्रमाण का स्वीकार करके 'अभाव' पदार्थ का ज्ञान होना सुलभ हो जाता है।

इस पर नैयायिक कहता है कि 'अभाव पदार्थ' के ग्रहणार्थ एक स्वतन्त्र 'अभाव-प्रमाण' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस 'अभावप्रमाण' का तो 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् 'अभावपदार्थ' का ज्ञान 'प्रत्यक्षप्रमाण' से ही हो जाता है। प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा भावपदार्थ के ग्रहण में और अभावपदार्थ के ग्रहण में अन्तर इतना ही है कि 'अभावपदार्थ' के ग्रहण करने में प्रत्यक्षप्रमाण (चक्षुरादि इन्द्रिय) के सहकारी कारण दो होते हैं—(१) तर्क और (२) अनुपलब्धि। 'तर्क' तो इस प्रकार होगा कि 'यदि अत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिव अद्रक्ष्यत्'—यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान वह भी दिखाई देता। और दूसरा सहकारी कारण 'अनुपलब्धि' इस प्रकार होगी—प्रकाश, इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सभी उपलब्धि-साधनों के रहने पर भी प्रत्यक्ष होने योग्य घट का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। एवं च घटाभावादिपदार्थ के ग्रहण में प्रकृष्ट (साधकतम) कारण अर्थात् करण तो चक्षु-रिन्द्रिय आदि (प्रत्यक्ष) ही हैं, और तर्क तथा घटादि की अनुपलब्धि ये दोनों उसके सहकारी कारण हैं। अतः प्रत्यक्ष से ही जब अभाव पदार्थ का ग्रहण हो जाता है. तब उसके लिये एक स्ततन्त्र प्रमाण यानी अनुपलब्धि संज्ञक 'अभावप्रमाण' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ग्रन्थकार ने 'अभावप्रमाण' का अन्तर्भाव 'प्रत्यक्षप्रमाण' में किया है।

किन्तु न्यायसूत्रकार ने—**'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावा-नर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः'**—(न्या० सू० २।२।२) इस सूत्र से अनुमान में उसका अन्तर्भाव बताया है। भाष्यकार और वार्तिककार ने भी अनुमान में ही अन्तर्भाव बताया है। किन्तु श्रीवाचस्पतिमिश्र ने 'अभावप्रमाण' का अन्तर्भाव 'प्रत्यक्ष' में किया है। उसी के आधार पर तर्कभाषाकार ने भी उसका अन्तर्भाव, प्रत्यक्ष में बताया है। वैशेषिकों ने भी 'अभावोऽप्यनुमानमेव' कहकर अनुमान में ही अभाव का अन्तर्भाव किया है। न्यायबिन्दु (२। २। ५) को देखने से अवगत होता है कि बौद्ध नैयायिकों ने भी 'अभाव' को अनुपलब्धिलिङ्गक अनुमान ही कहा है।

नन्विन्द्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकाणि। तथा हीन्द्रियाणि वस्तुप्राप्यप्रकाशकारीणि ज्ञानकारणत्वादालोकवत्।

यद्वा चक्षुःश्रोत्रे वस्तुप्राप्यप्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्। त्वगादीनान्तु प्राप्यप्रकाशकारित्वमुभयवादिसिद्धमेव।

इस पर अर्थात् अभावप्रमाण का 'प्रत्यक्षप्रमाण' में अन्तर्भाव हुआ सुनकर मीमांसक पुनः नैयायिक के उक्त कथन में दोष प्रदर्शन करने के लिये तैयार हुआ है। प्रत्यक्ष में अभावप्रमाण का अन्तर्भाव न हो सकने में मुख्य तीन कारण हैं—

(१) जो भी इन्द्रिय हो, वह सम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक होती है।

(२) अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा विशेषण-विशेष्यभाव नामक सन्निकर्ष तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

(३) असंबद्ध-अभाव का इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो सकता।

'नन्विन्द्रियाणीति।' मीमांसक और **वेदान्ती** कहते हैं कि 'घटाभाव या पटाभाव आदि अभावपदार्थ के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता क्योंकि सम्बन्ध तो विद्यमान भावपदार्थ के साथ ही हुआ करता है, यह तो अभावपदार्थ है उसके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होना कथमपि संभव नहीं है इसलिये उस अभाव पदार्थ के ग्रहणार्थ 'अभाव' (अनुपलब्धि) नामक पृथक् प्रमाण हमने माना है। मीमांसक अपने मन्तव्य 'इन्द्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकाणि' को बड़े विस्तारसे बता रहा है—**तथा हीति।** इन्द्रियाँ अपने सम्बद्ध अर्थ का ही सर्वदा ज्ञान कराती हैं। उसी बात को अनुमान प्रमाण से पुष्ट कर रहे हैं—'इन्द्रियाणि वस्तुप्राप्यप्रकाशकारीणि ज्ञानकारणत्वात्'—'इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती हैं'—यह प्रतिज्ञावाक्य है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ, ज्ञान कराने में कारण हैं—यह हेतु है। जैसे प्रकाश (आलोक)—यह उदाहरण है।

यद्वेति। अथवा—'चक्षुःश्रोत्रे वस्तुप्राप्यप्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्'—'चक्षु और श्रोत्र ये दो इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करती है'—यह प्रतिज्ञावाक्य है। क्योंकि ये दोनों इन्द्रियाँ बाह्य इन्द्रियाँ हैं—यह हेतु है। जैसे—त्वक् आदि इन्द्रियाँ—यह उदाहरण है। **त्वगादीनान्त्विति।** त्वक् आदि इन्द्रियों का वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करना'—पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों वादियों को सम्मत ही है।

माधुरी

मीमांसक और वेदान्तियों ने कहा कि 'इन्द्रियाँ अपने से सम्बद्ध हुए अर्थ का ही ज्ञान करा सकती हैं, अर्थात् 'इन्द्रियाँ प्राप्यप्रकाशकारी होती हैं' यानी वस्तु को प्राप्त करके ही उसे प्रकाशित करती हैं। यह उभयवादिसम्मत सिद्धान्त है यह कहकर

सूचित कर दिया कि इन्द्रिय के द्वारा किये जाने वाले प्रत्यक्ष से 'अभावपदार्थ' का ग्रहण नहीं हो सकता।

इन्द्रियद्वारा सम्बद्ध अर्थ के ग्रहण करने में अनुमान के दो प्रयोग उपस्थित किये हैं—(१) इन्द्रियाणि वस्तुप्राप्यप्रकाशकारीणि ज्ञानकारणत्वात् आलोकवत्'—इस प्रथम अनुमान का अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान कराता है, वह ज्ञेयवस्तु के साथ सम्बद्ध होकर ही उसका ज्ञान करा पाता है, जैसे प्रकाश (आलोक); चाक्षुष-प्रत्यक्ष में निमित्त होकर किसी वस्तु का ज्ञान कराता है। यही कारण है कि अन्धेरे में 'वस्तु' का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इसीलिये आलोक (प्रकाश) को ज्ञान का सहकारी कारण कहते हैं। वह प्रकाश जिस वस्तु से सम्बद्ध होता है, उसी वस्तु का यह चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष करा पाता है। वैसे ही इन्द्रियाँ भी ज्ञान की कारण हैं। अतः वे भी सम्बद्ध वस्तु का ही ज्ञान कराती है, असम्बद्ध वस्तु का नहीं। अर्थात् इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके ही उसको प्रकाशित करती हैं। ऊपर निर्दिष्ट अनुमान-प्रयोग में 'इन्द्रियाणि' यह पक्ष है, 'वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्व'—यह साध्य है, और 'ज्ञानकरणत्वात्'—यह हेतु है।

उस पर कोई शंका करने वाला आपत्ति कर सकता है कि मीमांसक ने जो यह कहा है कि 'सभी ज्ञानकारण, वस्तु को प्राप्त होकर ही उसे प्रकाशित करते हैं'—वह ठीक नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष में हमारा शरीर भी कारण होता है, किन्तु शरीर क्या प्रत्येक वस्तु के समीप जाता है? वह तो नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि 'मन' भी प्रत्येक ज्ञान के होने में 'कारण' है। नैयायिकों के मतानुसार वह अणुपरिमाणवाला मन, सर्वदा शरीर के भीतर ही रहता है, उसे वस्तु के समीप बाहर जाते हुए किसी ने नहीं देखा। तीसरी बात यह है कि स्मृतिज्ञान के होने में 'मन' भी कारण है, और वह साधारण कारण नहीं, अपितु प्रकृष्ट कारण होने से उसे 'करण' ही कहना होगा। परन्तु देखा जाता है कि हमारी स्मरणीय वस्तु के साथ, मन का संबन्ध होना असंभव है। अतः 'ज्ञानकारणत्वात्' यह हेतु 'मन' में व्यभिचरित है। बौद्धों के मत में तो चक्षु और श्रोत्र दोनों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं मानी गई हैं। न चक्षुरिन्द्रिय घट के समीप पहुचती है और न घट ही चक्षुरिन्द्रिय के पास जाता है। उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी शब्द के उत्पत्तिप्रदेश में नहीं जाता। बौद्धों के अभिधर्मकोष में बताया है कि मन, चक्षु, और श्रोत्र ये तीनों 'प्राप्यप्रकाशकारी' नहीं हैं—'अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा'—(अभिध० को० २।४२)। जैन-दार्शनिक भी 'मन' और 'चक्षु' को प्राप्य प्रकाशकारी नहीं मानते हैं। मीमांसक केवल 'मन' को ही अप्राप्यप्रकाशकारी कहते हैं। नैयायिक-वैशेषिक तो समस्तबाह्य इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी ही बताते हैं। लेकिन अन्तरिन्द्रिय मन को भी कुछ विद्वानों ने संस्कारलक्षण प्रत्यासत्ति से प्राप्यप्रकाशकारी माना है। और कुछ विद्वानों ने मन

को प्राप्यकारी नहीं माना है। सांख्य, योग और वेदान्त ने सभी इन्द्रियों को प्राप्य-प्रकाशकारी माना है। इन मत-मतान्तरों के कारण सन्देह हो जाता है, उसे दूर करने के लिये दूसरा अनुमान प्रयोग 'यद्वा' कहकर किया गया है—'चक्षुःश्रोत्रे वस्तु-प्राप्यप्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात्, त्वगादिवत्' 'त्वगादीनान्तु प्राप्यप्रकाशकारित्व-मुभयवादिसिद्धमेव।' अर्थात् चक्षु और श्रोत्र, स्वसंबद्ध वस्तु के ही ग्राहक होंते हैं, क्योंकि वे दोनों बाह्येन्द्रिय हैं, जैसे त्वगिन्द्रिय संयोग संबंध से स्वसंबद्ध द्रव्य का ग्रहण करती है। घ्राणेन्द्रिय आदि स्वसंयुक्त-समवायसंबंध से स्वसंबद्ध गन्ध का ग्रहण करती है। त्वक् आदि इन्द्रियों की स्वसम्बद्ध-ग्राहकता तो उभयवादिसम्मत है। विवाद तो केवल चक्षु और श्रोत्र की सम्बद्धग्राहकता के बारे में है। कुछ लोग इन दोनों को सम्बद्धग्राहक कहते हैं और कुछ लोग इनको असम्बद्धग्राहक बतलाते हैं। चक्षु और श्रोत्र को प्राप्यकारी कहने वालों से यह पूछ सकते हैं कि क्या चक्षु, अर्थ के देश में जाकर उससे संबद्ध होता है? या अर्थ स्वयं चक्षु के देश में जाकर उससे सम्बद्ध होता है? इस प्रश्न पर प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं होगा क्योंकि अनुभव के विरुद्ध है। जैसे बाण, अर्थ के देश में पहुँचकर उसके साथ सम्बद्ध होता है, वैसे चक्षु का अर्थदेश में पहुचना किसी को उपलब्ध नहीं हुआ है। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं होगा कि अग्नि, या छुरी के दर्शन से दाह का होना या कटना आदि होने लगेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः चक्षु को प्राप्यकारी नहीं कह सकते। क्योंकि आँख के खुलते ही शाखा और चन्द्र की उपलब्धि एक ही समय में होती है। और काँच, अभ्रपटल, स्फटिकादि के व्यवधान से भी उपलब्धि होती है। तो वीचीतरंगन्याय से श्रवण-पथ पर अवतीर्ण हुए शब्द की उपलब्धि होती है—यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि श्रूयमाण शब्द, प्राच्य है कि प्रतीच्य है, उदीच्य है कि अवाच्य है इत्यादि देशविशेष का व्यवहार उपपन्न नहीं होगा। अतः चक्षु और श्रोत्र को प्राप्यकारी नहीं कह सकते। इस प्रकार कहने वालों के प्रति चक्षु और श्रोत्र को पक्ष बनाकर अनुमान-प्रयोग के द्वारा उनका प्राप्यकारित्व सिद्ध करने के लिये यह दूसरा अनुमान 'यद्वा' से कहा गया है। स्मृति के प्रति मन को करण न कहने वालों को 'बाह्येन्द्रियत्वात्' यह हेतु कहना होगा। विपक्ष में बाधक तर्क यह होगा कि 'इन्द्रियों को अप्राप्तप्रकाशक कहने पर समस्त अर्थ की उपलब्धि होने लगेगी। चक्षु का अर्थ के साथ सम्बन्ध चक्षुरश्मियों के द्वारा हो सकता है। एककाल में उपलब्धि का होना तो संभव ही नहीं है। इन्द्रियों का व्यापार इतना आशुसंचारी होता है कि शतकमलपत्र के भेद की तरह कालसन्निकर्ष के होने से यौगपद्याभिमान होता है। और काँच, अभ्रकादि के स्वच्छ रहने से उनकी तेजोगति का प्रतिघातक कोई नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने आक्षेप-समाधानों को बताया है—'अप्राप्य-ग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः, कुड्यादिव्यवहितानुपलब्धेरप्रतिषेधः, अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः'। (न्या० सू० ३।१।४५-

४६-४७) अर्थात् तृण, रुई आदि लघुद्रव्य वायु से उड़कर काँच या अभ्रक में टकराते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि व्यवधानरहित चक्षु का ही पदार्थ के साथ संयोगादि सन्निकर्ष होता है। और व्यवधान रहने से पदार्थ के समीप इन्द्रिय की प्राप्ति होने में व्याघात होता है। अर्थात् इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में यदि चक्षु के किरणों का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष न होने के कारण काँचादिकों के नीचे रहने वाले पदार्थों का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा। किन्तु काँचादि पदार्थों के व्यवधान में भी पदार्थों का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता है। इससे स्पष्ट होता है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ व्यापक होने से अपने अपने विषयों के समीप न पहुँच कर ही विषयों का ज्ञान उत्पन्न करती हैं। अतः इन्द्रिय अप्राप्यप्रकाशकारी हैं। अत एव चक्षुरादि इन्द्रियाँ अभौतिक यानी आहंकारिक हैं। क्योंकि भौतिक पदार्थों का भौतिक दूसरे पदार्थ के समीप पहुँचकर ग्रहण करने का धर्म दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार ने कहा कि सांख्यमत के अनुसार यदि इन्द्रियाँ, विषय के समीप बिना पहुँचे ही अपने अपने विषयों का ज्ञान कराती हैं तो भीत की आड में रहने वाले पदार्थों का भी चाक्षुष ज्ञान होने लगेगा, किन्तु होता नहीं है। अतः इन्द्रियाँ भौतिक ही हैं। आहंकारिक नहीं हैं।

शंका—नैयायिक के प्राप्यकारीपक्ष में भी काँच, अभ्रक, स्फटिकमणि आदि के व्यवधान में पदार्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिये।

समा०—इस पर नैयायिक ने समाधान दिया कि काँच, अभ्रक, स्फटिकमणि ये स्वच्छ द्रव्य हैं। वे चक्षुरिन्द्रिय के रश्मियों (किरणों) को नहीं रोक पाते, इसलिये कांचादि से व्यवहित रहने पर भी पदार्थों का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाता है।

यह जो कहा था कि शब्दग्रहणपक्ष में दिग्विशेष का व्यवहार न हो सकेगा। किन्तु वह भी ठीक नहीं है। दिग्विशेष का अनुसंधान करने वाला व्यक्ति, किस दिग्विशेष से शब्द हो रहा है, उसे जान सकता है। क्योंकि अनुसंधान-शून्य व्यक्ति को किधर से शब्द हो रहा है—यह सन्देह हुआ करता है। अतः चक्षु और श्रोत्र की प्राप्यप्रकाशकारिता सिद्ध हो जाती है। त्वगिन्द्रिय का जो दृष्टान्त दिया था, वह भी साध्यविकल नहीं है।

शंका—अच्छा तो उक्त रीति से इन्द्रियों की प्राप्यकारिता यदि है तो अभावग्राहक जो इन्द्रिय है, वही स्व-संबद्ध अभाव का भी ग्रहण करेगी, तब उसे षष्ठप्रमाणगम्य होने की कल्पना क्यों की जा रही है ?

न चेन्द्रियाभावयोः सम्बधोऽस्ति संयोगसमवायौ ही सम्बन्धौ, न च तौ तयोः स्तः। द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्। अयुतसिद्धयभावान्न समवायोऽपि।

समा०—**न चेति**। मीमांसक कहता है कि इन्द्रिय का अभाव के साथ संबंध नहीं

हो सकता। अर्थात् इन्द्रिय और अभाव दोनों का कोई संबन्ध नहीं है। नैयायिक एवं वैशेषिक के मतानुसार संयोग और समवाय दो ही संबन्ध तो हैं। और वे दोनों उनमें (इन्द्रिय और अभाव में) नहीं हुआ करते। **द्रव्ययोरेवेति**। क्योंकि संयोगसम्बन्ध तो दो द्रव्यों में ही होता है। किन्तु 'अभाव' तो द्रव्य नहीं है। उसी तरह इन्द्रिय और अभाव दोनों का समवाय संबन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि उन दोनों में अयुतसिद्धता नहीं है।

माधुरी

पूर्वपक्ष—मीमांसक तथा वैशेषिकों के मत में 'संयोग' और 'समवाय' नामक दो ही सम्बन्ध हैं। इन दोनों में से कोई भी सम्बन्ध, इन्द्रिय का अभाव के साथ नहीं है। क्योंकि संयोग सम्बन्ध तो दो द्रव्यों में ही होता है। जैसे इन्द्रिय का घट-पटादि के साथ संयोग संबन्ध होता है क्योंकि इन्द्रिय और घट या पट दोनों द्रव्य हैं। किन्तु 'अभाव' तो द्रव्य नहीं है। इस कारण इन्द्रिय का अभाव के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। उसी तरह इन्द्रिय का अभाव के साथ 'समवाय' सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि अयुतसिद्ध पदार्थों का ही 'समवाय' सम्बन्ध हुआ करता है। अयुत-सिद्ध पदार्थ पाँच ही गिनाये गये हैं। जैसे—अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य-विशेष। जिन दो पदार्थों में से कोई एक अविनश्यद् अवस्था में दूसरे से अलग नहीं रह सकता उन दो पदार्थों को 'अयुत सिद्ध' कहते हैं। और उन्हीं का परस्पर 'समवाय सम्बन्ध' होता है। इन्द्रिय और अभाव ये दोनों ही एक दूसरे से अलग रहा करते हैं। इसलिये ये दोनों अयुतसिद्ध पदार्थ नहीं है। इन दोनों की अयुतसिद्ध में गणना न रहने से इनका परस्पर समवाय-संबन्ध भी नहीं माना गया है।

विशेषणविशेष्यभावश्च सम्बन्ध एव न सम्भवति भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च। यथा भेरीदण्डयोः संयोगः। स हि भेरीदण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च। न च विशेषणविशेष्यभावस्तथा। तथाहि दण्डपुरुषयोर्विशेषणविशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते। न हि दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरं, नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तर-मपि तु स्वरूपमेव। अभावस्यापि विशेषणत्वाद् विशेष्यत्वाच्च। न चाभावे कस्यचित् पदार्थस्य द्रव्याद्यन्यतमस्य सम्भवः। तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धि-जनकत्वं यत्स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं, न तु पदार्थान्तरम्।

उक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती (नैयायिक) ने कहा कि इन्द्रिय का अभाव के साथ तो हम भी 'संयोग' या 'समवाय' सम्बन्ध' नहीं मानते। हम तो कहते हैं कि इन्द्रिय और अभाव दोनों में 'विशेषण-विशेष्यभाव' सम्बन्ध हो सकता है। इस सम्बन्ध से

इन्द्रिय को 'अभाव' का ज्ञान हो सकता है। पीछे हम बता चुके हैं कि "यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति तदा विशेषण-विशेष्य भावः सम्बन्धः।"

नैयायिक के उक्त कथन का खण्डन करने के लिये **पूर्वपक्षी** (मीमांसक) कह रहा है—

विशेषणेति। इन्द्रिय और अभाव दोनों का सम्बन्ध **'विशेषण-विशेष्यभाव'** जो नैयायिक बता रहा है, वह तो बन ही नहीं सकता। **भिन्नेति**। क्योंकि वह (विशेषण-विशेष्यभाव) तो सम्बन्धियों से भिन्न; उभयाश्रित (दोनों पर आश्रित) और एक न होने से उसे सम्बन्ध ही नहीं कह सकते हैं। **सम्बन्धो हीति**। सम्बन्ध का स्वरूप तो यह है कि वह (सम्बन्ध) तो अपने दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है, तथा अपने दोनों सम्बन्धियों पर आश्रित रहता है और स्वयं अकेला (एक) होता है। **यथेति**। जैसे—भेरी और दण्ड का **संयोगसम्बन्ध** है, वह (संयोगसम्बन्ध) भेरी और दण्ड दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है, तथा दोनों (भेरी और दण्ड) पर आश्रित है, और स्वयं एक (अकेला) भी है। किन्तु 'विशेषण-विशेष्यभाव' नामक सम्बन्ध वैसा नहीं है।

तथा हीति। जैसे—'दण्डी पुरुषः' इस विशिष्ट प्रतीति में क्रमशः दण्ड और पुरुष का जो 'विशेषण-विशेष्यभाव' है, वह, उन (दण्ड और पुरुष के स्वरूप) से भिन्न नहीं है, अपितु उनका (दण्ड और पुरुष का) स्वरूप ही है। क्योंकि 'अभाव' भी विशेषण तथा विशेष्य हुआ करता है। यदि 'विशेषण-विशेष्यभाव' को सम्बन्धियों का स्वरूप-मात्र न मानकर उनसे अलग माना जाय तो 'संयोग' (गुण) आदि के समान द्रव्यादि पदार्थों में ही उसका भी अन्तर्भाव हो जायेगा। किन्तु द्रव्यादि पदार्थों में उसका अन्तर्भाव नहीं है। और सात पदार्थों के अतिरिक्त आठवाँ पदार्थ कोई माना नहीं गया है। विशेषणता को तथा विशेष्यता को द्रव्यादि छह पदार्थों में से कोई एक (अन्यतम) इसलिये भी नहीं मान सकते, कि 'अभाव' में कोई पदार्थ नहीं रहता। क्योंकि 'अभाव' किसी का आश्रय नहीं होता है। 'गुण' आदि केवल भाव पदार्थ के ही आश्रित रहते हैं। 'विशेषण-विशेष्यभाव' को अभाव के आश्रित कैसे कह सकते हैं? **तस्मादिति**। इसलिये स्व (घटाभाव) से उपरक्त (विशिष्ट) ज्ञान (बुद्धि या प्रतीति) को पैदा (उत्पन्न) करना अर्थात् 'स्वोपरक्त बुद्धिजनकत्व' जो 'अभाव' का स्वरूप है, वही 'विशेषणभाव' है, उससे अलग कोई अर्थान्तर नहीं है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने 'सम्बन्ध' का लक्षण किया है—**'सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवति, उभयसम्बन्ध्याश्रितश्च, एकश्च'**। इस लक्षण में तीन अंश हैं। ये तीनों अंश 'संयोग'

तथा 'समवाय' सम्बन्ध में प्राप्त होने से सम्बन्ध का लक्षण उक्त दोनों सम्बन्धों में संगत हो जाता है। किन्तु 'विशेषण-विशेष्यभाव' में सम्बन्ध का लक्षण घटित न हो पाने से उसको 'सम्बन्ध' कहना कदापि उचित नहीं है। विशेषण-विशेष्यभाव' को यदि सम्बन्ध कहें तो उसे अपने सम्बन्धियों से भिन्न रहना होगा, किन्तु वह तो सम्बन्धी का स्वरूपमात्र ही है, उनसे अलग नहीं है। जैसे—'दण्डी पुरुषः' कहने पर 'दण्ड विशिष्ट पुरुष' की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में 'दण्ड' विशेषण है और 'पुरुष' विशेष्य है। अर्थात् दण्ड में विशेषणता और पुरुष में विशेष्यता है। दण्ड की विशेषणता, दण्ड के स्वरूप से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, तथा पुरुष की विशेष्यता भी पुरुष के स्वरूप से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'विशेषण-विशेष्यभाव' दोनों, अपने सम्बन्धियों के स्वरूपमात्र ही हैं, भिन्न नहीं है।

शंका—विशेषण-विशेष्यभाव को सम्बन्धि (वस्तु) स्वरूप न मानकर उनसे भिन्न ही उसे क्यों न माना जाय ?

समा०—ग्रन्थकार ने उत्तर दिया है कि 'अभावस्यापि विशेषणत्वात् विशेष्यत्वाच्च'। 'अभाव' भी विशेषण तथा विशेष्य होता है। जैसे—'घटाभाववद् भूतलम्' घटाभाव से विशिष्ट (युक्त) भूतल है। इस प्रतीति में 'घटाभाव' विशेषण है तथा 'भूतल' विशेष्य है। और 'भूतले घटाभावः' घटाभाव, भूतल से विशिष्ट है। इस प्रतीति में 'भूतल' विशेषण है, तथा 'घटाभाव' विशेष्य है। एवं च 'घटाभाव' और 'भूतल' में विशेषण-विशेष्यभाव तो है ही। अतः भूतल के द्वारा घटाभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने में कोई अड़चन नहीं है। एवं च आपके कथित नियम—'इन्द्रिय, स्वसम्बद्ध अर्थ का ही ग्राहक होता है'—के अनुसार भी इन्द्रिय से 'अभाव' का ज्ञान (ग्रहण) हो सकता है। उसके लिये 'अभाव' (अनुपलब्धि) नामक प्रमाण को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

आक्षेप—इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि घटाभाव से इन्द्रिय का सम्बन्ध या भूतल के द्वारा घटाभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है—यह नहीं कह सकते। क्योंकि उसमें सम्बन्ध का लक्षण घटित नहीं हो रहा है। क्योंकि वह (सम्बन्ध अर्थात् विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध) दो संबन्धियों (व्यक्तियों) के आश्रित नहीं है, तथा आश्रयभूत दोनों सम्बन्धियों (व्यक्तियों) से भिन्न भी नहीं हैं, और वह स्वयं एक व्यक्तिरूप (अकेला) भी नहीं है। क्योंकि 'विशेषण-विशेष्यभाव' का अर्थ है—विशेषणता और विशेष्यता। 'विशेषणता' केवल विशेषण में ही रहती है, और वह विशेषणस्वरूप ही रहती है, विशेषण से भिन्न नहीं रहती। उसी तरह 'विशेष्यता' केवल विशेष्य में ही रहती है, और वह विशेष्यस्वरूप ही रहती है, विशेष्य से भिन्न नहीं रहती। विशेषण और विशेष्य दोनों परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। एवं च विशेषण और विशेष्य अपने-अपने वैयक्तिक (प्रातिस्विक) रूप से एक-एक व्यक्ति के आश्रित रहते

हैं। और आश्रयरूप होने से आश्रय से भिन्न नहीं हैं। और स्वयं एक नहीं है अर्थात् परस्पर भिन्न विशेषणता-विशेष्यतारूप है। एवं च सम्बन्ध का लक्षण उसमें घटित न हो पाने से उस को (विशेषण-विशेष्यभाव को) 'सम्बन्ध' नहीं कह सकते। जैसे दण्ड और पुरुष के बीच में रहने वाला 'विशेषण-विशेष्यभाव' विशेषणता रूप और विशेष्यतारूप है। अतः वह कोई 'एक पदार्थ' नहीं है। वह दण्ड और पुरुष में आश्रित है, वह दण्ड और पुरुष से भिन्न कोई एक–पदार्थ नहीं है। उसी तरह घटाभाव और भूतल के बीच रहने वाला 'विशेषण-विशेष्यभाव भी विशेषणतारूप और विशेष्यतारूप है और वह घटाभाव और भूतल के आश्रित है। वह, घटाभाव और भूतल से भिन्न कोई एक-पदार्थ नहीं है। यदि उसे घटाभाव और भूतल से भिन्न भी मान लिया जाय तो भी वह कोई नवीन पदार्थ नहीं होगा अपितु उसे द्रव्यादि छह पदार्थों में से ही कोई पदार्थ कहना होगा। तब वह 'अभाव' में आश्रित नहीं हो सकेगा। क्योंकि द्रव्यादि छह पदार्थों में से कोई भी पदार्थ 'अभाव' में नहीं रहता। अतः यह कहना होगा कि 'अभाव' में जो 'स्वोपरक्तबुद्धिजनकता' (घटाभाव विशिष्टं भूतलमित्याकारक प्रतीति की उत्पादकता) है, वही 'अभाव' गत विशेषणता है। और वह विशेषणता 'अभाव' से भिन्न नहीं है, अपितु 'अभावस्वरूप' ही है। उसी प्रकार 'स्वोपरक्तबुद्धिजनकता' जो भूतल में है, वही भूतलगत 'विशेष्यता' है, वह भी भूतलस्वरूप ही है, भूतल से भिन्न नहीं है। निष्कर्ष यह है कि घटाभाव और भूतल के बीच रहनेवाला जो 'विशेषण-विशेष्यभाव' है, वह दो सम्बन्धियों (व्यक्तियों) के आश्रित नहीं है, और दोनों व्यक्तियों से भिन्न भी नहीं है, और स्वयं एक व्यक्तिरूप नहीं है। अतः उसे (विशेषण-विशेष्यभाव को) 'सम्बन्ध' के नाम से नहीं कह सकते। जब 'विशेषण-विशेष्यभाव' नाम का कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं है, तब उसके द्वारा 'अभाव' का या भूतल द्वारा अभाव का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होना कैसे संभव होगा? इसलिये 'अभाव' के ग्रहणार्थ (ज्ञानार्थ) किसी अन्य प्रमाण को स्वीकार करना ही होगा। 'विशेषण-विशेष्यभाव' में 'विशेषणं च विशेष्यं च = विशेषण-विशेष्ये, तयोर्भावः = विशेषण-विशेष्यभावः' इस प्रकार 'इतरेतरद्वन्द्व और षष्ठीतत्पुरुष' समास होगा। और 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदम्प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते' नियम के अनुसार 'भाव' शब्द का 'विशेषण' और 'विशेष्य' दोनों में सेप्रत्येक के साथ 'अन्वय' होगा अर्थात् 'विशेषणभाव' और 'विशेष्यभाव' ऐसा कहा जायेगा।

जिस प्रकार 'विशेषण-विशेष्यभाव' को 'सम्बन्ध' नहीं मान सकते उसी तरह 'व्याप्य-व्यापकभाव' तथा 'कार्य-कारणभाव' को भी 'सम्बन्ध' के नाम से नहीं कह सकते—इस बात को ग्रन्थकार कह रहे हैं।

एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयोऽप्यूह्याः। स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्। कारणत्वमपि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि स्वरूप-

मेव हि तत्त्वादीनां, न त्वर्थान्तरमभावस्यापि व्यापकत्वात्कारणत्वाच्च। नह्यभावे सामान्यादिसम्भवः। तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न विशेषणविशेष्य-स्वरूपाभ्यां भिन्नः।

एवमिति। इसी प्रकार अर्थात् जैसे **'विशेषण-विशेष्यभाव'** को 'सम्बन्ध' शब्द से नहीं कह सकते। उसी प्रकार **'व्याप्य व्यापकभाव'** तथा **'कार्य-कारणभाव'** को भी 'सम्बन्ध' शब्द से नहीं कह सकते। क्योंकि 'व्यापकत्व' का स्वरूप यह है—**स्व-प्रति-बद्धेति। 'स्व-प्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वं व्यापकत्वम्'।** जैसे—'अग्निमान् धूमात्' में 'अग्नि' व्यापक है और 'धूम' व्याप्य है। क्योंकि 'यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र अग्निः' ऐसी प्रतीति होती है। व्यापकत्व के लक्षणगत 'स्व' शब्द से 'अग्नि' को लीजिये। 'स्व' (अग्नि) से 'प्रतिबद्ध' (व्याप्त) 'धूम' है अर्थात् 'अग्निना व्याप्तो धूमः' इस ज्ञान का उत्पादक जो 'अग्नि' का स्वरूप है, वही उसकी 'व्यापकता' है। **कारणत्वमपीति।** उसी तरह **'कार्यानुकृतान्वय-व्यतिरेकित्वं कारणत्वम्'**—जिसके अन्वय-व्यतिरेक का कार्य के द्वारा अनुकरण (अनुसरण) किया जाता है, उसे 'कारण' कहते हैं। अर्थात् तन्तु का स्वरूप ही 'कारणता' है। क्योंकि 'पट' कार्य के द्वारा तन्तु के ही अन्वय-व्यतिरेक का अनुकरण किया जाता है। यह 'व्याप्य-व्यापकभाव' और 'कार्य-कारण-भाव' कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। **अभावस्यापीति।** 'अभाव' में भी व्यापकता और कारणता रहती है। वह व्यापकता, कारणता यदि द्रव्यादिस्वरूप होगी तो वह 'अभाव' में नहीं रह सकेगी। क्योंकि 'अभाव' में कोई द्रव्यादि पदार्थ नहीं रहता है।

उपर्युक्त कथन पर यदि कोई शंका करे कि जैसे 'घटत्व' आदि जाति की तरह ही 'व्यापकत्व' आदि जाति (सामान्य) भी है, वह 'अभाव' में रहती ही है। तव कैसे कहा जाता है कि द्रव्यादि छह पदार्थों में से कोई भी पदार्थ 'अभाव' में नहीं रहता है। उस पर उत्तर यह है—**'नहि अभावे सामान्यादिसम्भवः इति।'** 'अभाव' में तो सामान्य आदि कोई पदार्थ कभी भी नहीं रहता। **नहीति।** अभाव में 'सामान्य' आदि पदार्थ का रहना संभव ही नहीं है। **तदेवमिति।** उसी तरह 'विशेषण-विशेष्य भाव' भी विशेषण तथा विशेष्य के स्वरूप से अलग (भिन्न) नहीं है।

नाप्युभयाश्रितो, विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्त्वाद् विशेष्यभावस्याभावाद् विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावाद्, विशेषणभावस्याभावात्। नाप्येको, विशेषणं च विशेष्यं च तयोर्भाव इति द्वन्द्वात्परं श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तथा च विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेत्युपपन्नम्। द्वावेतावेकश्च सम्बन्धः। तस्माद् विशेषणविशेष्यभावो न सम्बन्धः। एवं व्याप्यव्यापक-भावादयोऽपि। सम्बन्धशब्दप्रयोगस्तूभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येणोपचारात्।

तथा चासम्बद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति।

नाप्युभयाश्रित इति। वह 'विशेषण-विशेष्यभाव' उभयाश्रित भी नहीं है। क्योंकि विशेषण में केवल विशेषणभाव (विशेषणता) रहता है। उसमें विशेष्यभाव (विशेष्यता) नहीं रहता। उसी तरह विशेष्य में केवल विशेष्यभाव (विशेष्यता) रहता है, उसमें विशेषणभाव (विशेषणता) नहीं रहता। उक्त दोनों में से कोई भी 'उभयाश्रित' नहीं है। **नाप्येक इति**। और न एक ही है। क्योंकि विशेषण और विशेष्य दोनों के भाव को विशेषण-विशेष्यभाव कहते हैं। इस विग्रह में द्वन्द्व समास के अन्त में जो 'भाव' शब्द सुनाई दे रहा है, उसका प्रत्येक (विशेषण तथा विशेष्य) के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होता है। क्योंकि 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'— यह नियम है। तब 'विशेषण-विशेष्यभाव' का अर्थ होता है—विशेषणभाव और विशेष्यभाव। इससे स्पष्ट होता है कि ये दो हैं, किन्तु सम्बन्ध तो एक होता है। **तस्मादिति**। इसलिये 'विशेषण-विशेष्यभाव' को सम्बन्ध शब्द से नहीं कह सकते। **एवं व्याप्यव्यापके इति**। इसी प्रकार 'व्याप्य-व्यापकभाव' आदि भी सम्बन्ध नहीं हैं। फिर भी इसे 'सम्बन्ध' जो कहा जाता है, वह 'उभयनिरूपणीय' (दो के द्वारा बताया जाने से) होने की समानता के आधार पर लक्षणा से किया जाता है। अर्थात् उसके लिये 'सबन्ध' शब्द का व्यवहार गौण रूप से होता है। इसी बात को ग्रन्थकार ने 'उभयनिरूपणीयत्व' साधर्म्येणोपचारात्' से बताया है।

तथा चेति। इस प्रकार इन्द्रिय से असम्बद्ध रहने वाले 'अभाव' का इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हुआ करता है।

सत्यम्। भावावच्छिन्नत्वाद् व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति, नत्वभावमपि। अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्यभावमुखेनैवेति सिद्धान्तः।

असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसङ्गदोषस्तु विशेषणतयैव निरस्तः समश्च परमते।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥

॥ इति अभावप्रमाणविचारः॥

मीमांसक के आक्षेप का नैयायिक समाधान दे रहा है—

सत्यमिति। 'इन्द्रिय अपने से सम्बद्ध हुए अर्थ का ही ग्रहण करती है', यह कहना सत्य है। परन्तु यह व्याप्ति (नियम) 'भावपदार्थ' के लिये ही है। अर्थात् 'भाव पदार्थ को प्रकाशित (ग्रहण) करने वाली इन्द्रिय, प्राप्त (सम्बद्ध) अर्थ को ही प्रकाशित (ग्रहण) करती है। वह 'अभाव' पदार्थ का ग्रहण नहीं करती। **अभावं प्रकाशयदिति**। 'अभाव पदार्थ' को प्रकाशित (ग्रहण) करने वाली इन्द्रिय तो 'विशेषण-विशेष्यभाव' के द्वारा ही उसे ग्रहण (प्रकाशित) करती है।

असम्बद्धाऽभावग्रहे इति । असम्बद्ध अभाव का प्रकाशन (ग्रहण) स्वीकार करने पर जो अतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) दोष का भय है, उसका निराकरण तो 'विशेषणता' (इन्द्रिय सम्बद्ध-विशेषणविशेष्यभाव) के द्वारा ही हो जाता है। **समश्चेति ।** और यह अतिप्रसंग दोष तो दूसरे (पूर्वपक्षी) के मत में भी तुल्य (वैसा ही) है।

यत्रोभयोरिति । जहाँ (जब) उभय (दोनों) पक्षों में 'दोष' तुल्य रहता है, और उस दोष का परिहार भी तुल्य (समान) रहता है, वहाँ (उस स्थिति में) अर्थात् उस प्रकार के 'अर्थ' का विचार करते समय किसी एक ही पक्ष पर आक्षेप (पर्यनुयोग) नहीं करना चाहिये।

माधुरी

'विशेषण-विशेष्यभाव' यानी विशेषणता और विशेष्यता जैसे अपने सम्वन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं है, वैसे ही 'व्याप्य-व्यापकभाव' यानी व्याप्यता और व्यापकता, और 'कार्य-कारण भाव' यानी कार्यता और करणता, भी अपने सम्वन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं है। जैसे—'धूम और अग्नि' में व्याप्य-व्यापकभाव है। यहाँ 'धूम' व्याप्य (व्याप्त) है। अर्थात् 'धूम' प्रतिबद्ध है। 'प्रतिवन्ध' का अर्थ है 'व्याप्ति'। जिसमें किसी की व्याप्ति रहती है, उसे 'प्रतिवद्ध' (व्याप्त) कहते हैं। 'धूम' में अग्नि की व्याप्ति रहती है। इसलिए 'अग्नि' से प्रतिबद्ध 'धूम' है। इसी बात को ग्रन्थकार ने सूचित किया है—'स्व-प्रतिवद्धवुद्धिजनकत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्'। यहाँ 'स्व' शव्द से अग्नि (व्यापक) को समझना चाहिये। एवं च 'स्व-प्रतिबद्ध' यानी अग्नि से प्रतिवद्ध अर्थात् व्याप्त धूम हुआ है। तव 'अग्नि-प्रतिवद्धो धूमः' (अग्निना व्याप्तो धूमः) इस प्रकार के ज्ञान (प्रतीति) को पैदा करने वाला जो अग्नि का स्वरूप है, वही उसका (अग्नि का) व्यापकत्व (व्यापकता) है। उसके स्वरूप से अलग कोई ऐसा 'व्यापकता' नाम का पदार्थ नहीं है, जो अग्नि में रहता हो। उसी प्रकार 'अग्निः धूमव्यापकः'—अग्नि, धूम का व्यापक है—इस प्रतीति को पैदा करने वाला (जनक) जो धूम का स्वरूप है, वही 'धूम' की व्याप्यता (व्याप्यत्व) है। उससे अलग (भिन्न) कुछ नहीं है। एवं च 'व्याप्य-व्यापकभाव' भी अपने संवन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं है, अर्थात् तत्स्वरूप ही है।

इसी प्रकार 'कार्य-कारणभाव' के वारे में भी जानना चाहिये। जैसे—'तन्तु' का कार्य 'पट' है। अर्थात् 'तन्तु' कारण है और 'पट' कार्य है। 'तन्तु' में जो कारणता है, वह तन्तु का स्वरूप ही है। उससे अलग कुछ नहीं है। यह 'तन्तुस्वरूप' वही है, जिसके 'अन्वय-व्यतिरेक' का 'पट' (कार्य) के द्वारा अनुसरण (अनुकरण) किया जाता है। यानी 'तन्तु' के होने पर ही 'पट' की उत्पत्ति होती है और 'तन्तु' के न रहने पर (अभाव में) पट की उत्पत्ति नहीं होती। 'तन्तु' का जो यह स्वरूप

है, वही उसकी 'कारणता' कहलाती है। उसके स्वरूप से भिन्न 'कारणता' नाम की कोई वस्तु नहीं है। उसी तरह 'पट' में जो कार्यता है, वह भी 'पट' का स्वरूप ही है। उसके स्वरूप से भिन्न 'कार्यता' नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसलिये 'कार्य-कारणभाव' को भी उसके अपने सम्बन्धियों के स्वरूप से अलग नहीं कर सकते। इसीतरह आधाराधेयभाव, स्वस्वामिभाव, प्रतियोग्यनुयोगिभाव, आदि भी अपने सम्बन्धिव्यक्तियों के स्वरूपमात्र ही हैं। उनसे अलग नहीं हैं। अतः इन्हें 'सम्बन्ध' शब्द से नहीं कह सकते।

यदि 'कार्य-कारणभाव, व्याप्य-व्यापकभाव, विशेषण-विशेष्यभाव' को उनके अपने सम्बन्धियों से पृथक् (भिन्न) कहा जाय तो उनका 'द्रव्य, गुण' आदि छह पदार्थों में से ही किसी एक में अन्तर्भाव कहना होगा। परन्तु वह उचित नहीं है। क्योंकि 'अभाव' में व्यापकत्व, कारणत्व विशेषणत्व भी रहता है। उन व्यापकत्व, कारणत्व, विशेषणत्व को द्रव्यरूप यदि कहें तो वे 'अभाव' में नहीं रह पायेंगे। क्योंकि 'अभाव' में कोई द्रव्य नहीं रहता, यह प्रसिद्ध है। उपर्युक्त जितने संवन्ध बताये हैं, वे एक व्यक्तिरूप नहीं हैं। तथापि इनमें 'संवन्ध' का व्यवहार जो किया जाता है, उसे गौण व्यवहार ही समझना चाहिये। क्योंकि उनमें 'सम्बन्ध' का 'उभयनिरूपणीयत्वरूप साधर्म्य' है। जैसे भेरी और दण्ड का 'संयोगसंवन्ध' भेरी और दण्ड के विना नहीं जाना जाता। उन दोनों के द्वारा ही वह जाना जाता है। उसी तरह 'विशेषण-विशेष्यभाव' आदि संबन्ध विशेषण और विशेष्य आदि दोनों के विना नहीं जाना जाता। अर्थात् उन दोनों से ही जाना जाता है। अतः 'उभयनिरूपणीयत्व' (उभयबोध्यत्व) के कारण ही इन संवन्धों में साधर्म्य होने से ही इनमें 'सम्बन्धत्व' न रहने पर भी इनको उपचार से (गौणरूप से) सम्बन्ध कह दिया जाता है। एवं च इन्द्रिय का 'अभाव' के साथ कोई सम्बन्ध न होने से 'अभाव' सर्वथा इन्द्रिय से असम्बद्ध है। इन्द्रिय तो स्वसम्बद्ध वस्तु का ही ग्रहण किया करता है। अतः 'अभाव' रूप प्रमेय का ग्रहण करने के लिये 'अभाव' (अनुपलब्धि) नामक प्रमाण को स्वतन्त्र रूप में मानना ही होगा।

इस पर नैयायिक कहता है कि 'इन्द्रिय स्वसंबद्ध अर्थ का ही ग्रहण करती हैं'—यह नियम सभी पदार्थों के लिये नहीं है। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) भाव-पदार्थ और (२) अभावपदार्थ। उनमें से केवल 'भावपदार्थ' के लिये ही उक्त नियम है। 'भावपदार्थ' का ज्ञान तभी हो पायेगा, जब वह इन्द्रिय से सम्बद्ध होगा, अन्यथा नहीं। अभाव पदार्थ के लिये उक्त नियम नहीं है। क्योंकि अभाव पदार्थ का ज्ञान तो 'विशेषण-विशेष्यभाव' की सहायता से इन्द्रिय के द्वारा ही हो जाता है। उस (अभाव पदार्थ) के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है। अतः अभावपदार्थ के ज्ञान के लिये 'अभाव' संज्ञक स्वतंत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

पहले बता चुके हैं कि 'संयोग' आदि पाँच प्रकार के संबंधों में से किसी एक संबंध से सम्बद्ध हुए विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष के द्वारा 'अभाव' पदार्थ का ग्रहण होता है। अर्थात् अनुकूल तर्क तथा अनुपलब्धि की सहायता से 'इन्द्रिय' अपने से असम्बद्ध अभाव का भी ग्रहण करती है।

नैयायिक के इस कथन पर पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि अपने से असम्बद्ध अभाव का इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण मानने पर तो किसी भी असम्बद्ध पदार्थ का ग्रहण इन्द्रिय से होने लगेगा। व्यवहित पदार्थ का भी इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकेगा। जैसे चक्षु से संयुक्त हुए भूतल पर घटाभाव का ज्ञान होता है, वैसे ही चक्षु से असंयुक्त अन्य भूतल पर भी घटाभाव का ज्ञान होने लगेगा। किन्तु यह अनुभवविरुद्ध होने से दोनों पक्षों को मान्य नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंगदोष प्राप्त होगा। अर्थात् अनभिमत विषयों का ग्रहण होने लगेगा।

इस पर नैयायिक ने समाधान दिया कि '(१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्तसमवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय'—इन पञ्चविध सम्बन्धों में से अन्यतम सम्बन्ध से सम्बद्ध हुए विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से इन्द्रिय के द्वारा अभाव का ग्रहण हो जाता है। जैसे—'घटाभाववद् भूतलम्' यहाँ पर 'भूतल' के साथ इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध है। इस संयुक्त हुए भूतल में विशेषण के रूप में 'घटाभाव' का ग्रहण होता है। अतः अतिप्रसंगादि कोई दोष नहीं हो पाता। व्यवहित-पदार्थ के ज्ञान का प्रसंग भी नहीं प्राप्त होगा। इन्द्रिय से असंयुक्त स्थल पर भी अभाव के ज्ञान का प्रसंग नहीं होगा। क्योंकि व्यवहित पदार्थ के साथ और असन्निकृष्ट-स्थल के साथ संयोग आदि पंचविध सम्बन्धों में से कोई भी संबन्ध नहीं है। एवं च इन्द्रिय संयुक्त (सम्बद्ध) हुए पदार्थ में विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से अभाव का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में कोई भी दोष नहीं है।

इस पर पूर्वपक्षी पूछता है कि संबंध का लक्षण घटित न हो पाने से जब विशेषण-विशेष्यभाव नाम का कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो इन्द्रिय से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण, नैयायिक को मानना पड़ेगा। तब अतिप्रसंगदोष को तो मानना ही होगा।

तब नैयायिक कहता है कि 'अभाव' को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वाले तुम्हारे पक्ष में भी यही दोष है। तुम्हें भी 'प्रमाण' के द्वारा असम्बद्ध अर्थ का ग्रहण मानना पड़ता है। क्योंकि 'अभाव' संज्ञक प्रमाण का 'घटाभाव' रूप प्रमेय के साथ कोई सम्बन्ध तो है नहीं। इस प्रकार जब कि दोनों के पक्षों में दोष और उसका परिहार समान रूप से हो रहा हो, वहाँ एक पक्ष को ही दोष प्रदर्शन कर दबाना उचित नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि नैयायिक चार प्रमाणों को ही मानता है वह 'अभाव' संज्ञक पृथक् प्रमाण का स्वीकार नहीं करता। उसके मत में तो योग्य पदार्थ की उपलब्धि

न होने पर अनुकूल तर्क की सहायता से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही, 'अभाव' का ग्रहण किया जाता है।

उक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य दो प्रमाणों (मीमांसकसम्मत अर्थापत्ति और अनुपलब्धि) का अन्तर्भाव उक्त चार प्रमाणों में ही नैयायिक किया करते हैं।

सिंहावलोकन—

तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने मीमांसक सम्मत **'अर्थापत्ति'** प्रमाण का अन्तर्भाव **'केवलव्यतिरेकीअनुमान'** में और मीमांसक सम्मत **'अभावप्रमाण'** का अन्तर्भाव **'प्रत्यक्ष-प्रमाण** में ही कर दिया है। क्योंकि **अर्थापत्ति** के विषय का ग्रहण **अनुमान** से ही हो जाता है, और **'अभाव'** का ग्रहण **'प्रत्यक्ष'** से ही हो जाता है। इस **न्यायसिद्धान्त** के अनुसार **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** और **शब्द**—ये चार ही प्रमाण सिद्ध होते हैं। परन्तु न्यायशास्त्र की अपेक्षा भी कम प्रमाण मानने वाले **सांख्य, योग, वैशेषिक** आदि आस्तिक दर्शन भी हैं। अधिक प्रमाणों को मानने वाले भी आस्तिक दर्शन हैं। उसी तरह कम प्रमाण मानने वालों में नास्तिक दर्शन भी हैं।

१ एक प्रमाणवादी (प्रत्यक्षप्रमाण मात्र) चार्वाक नास्तिक दर्शन है।

२ द्वि-प्रमाणवादी (प्रत्यक्ष तथा अनुमान) बौद्ध तथा वैशेषिक हैं।

३ त्रिप्रमाणवादी (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) सांख्य और योग हैं।

४ चतुःप्रमाणवादी (प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द) नैयायिक हैं।

५ पञ्चप्रमाणवादी (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति,) प्राभाकर-मीमांसक हैं।

६ षट्प्रमाणवादी (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव) कुमारिलभट्ट मीमांसक और वेदान्ती हैं।

७ अष्टप्रमाणवादी (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य, सम्भव) पौराणिक हैं।

उपमानप्रमाण पर सांख्यदर्शन के विचार—

श्रीवाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी (कारिका ५) **'उपमान'** प्रमाण के भिन्न-भिन्न **तीन लक्षण** किये हैं, तदनुसार क्रमशः **प्रत्यक्ष, अनुमान** और **शब्द** इन तीन प्रमाणों में उस (उपमान) का अन्तर्भाव कर दिया है।

(१) 'उपमानं तावत्, यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम्। तज्जनिता धीरागम एव।

(२) योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव। यो हि शब्दो वृद्धैर्यत्र प्रयुज्यते सोऽसति वृत्यन्तरे तस्य वाचकः। यथा गोशब्दो गोत्वस्य। प्रयुज्यते चैप गवयशब्दो गोसदृशे इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव।

(३) यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव। अत एव

स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् । न ह्यन्यत् गवि सादृश्यमन्यच्च गवये । भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते । सामान्ययोगश्चैकः । सचेद् गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति, यत्र प्रमाणान्तरमुपमानं भवेदिति न प्रमाणान्तरमुपमानम् ।

उपमान के उक्त 'तीन लक्षणों' के अनुसार **'उपमान'** का स्वाभिमत 'तीन प्रमाणों' में अन्तर्भाव हो जाता है । **'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'** इस नैयायिकोक्त-लक्षण के अनुसार **'यथा गौस्तथा गवयः'** इस 'वाक्य' को 'उपमान प्रमाण' कहें तो उससे उत्पन्न 'ज्ञान' (वाक्यार्थज्ञान) को ही उसका **फल** कहना होगा । तब 'वाक्यजन्य वाक्यार्थज्ञान' तो **शब्दप्रमाण** का विषय है । अतः 'शब्द प्रमाण' से ही जब कार्य हो जाता है तो उसके लिये स्वतन्त्ररूप से 'उपमान-प्रमाण' को मानने की क्या आवश्यकता है ।

उपमान का लक्षण गोतम ने **'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'** सूत्र के द्वारा बताया है । भाष्यकार ने उसकी व्याख्या **'समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः'** की है । उसी के परिष्कृतस्वरूप 'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः' को तर्कभाषाकार ने दिखाया है । तदनुसार 'उपमानप्रमाण' का फल 'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति' को ही माना जाता है । अतः श्रीवाचस्पति मिश्र ने उसका अन्तर्भाव 'अनुमान' में कर दिया है । **'गवय शब्दः गोसदृशस्य वाचकः वृद्धजनव्यवहारात्'** इस प्रकार अनुमान प्रयोग करते हैं । अतः **'उपमान'** को अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

'उपमान' में विषय में **मीमांसकों** का कहना है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्यश्रवण के पश्चात् वन में गया हुआ व्यक्ति वहाँ पर जब 'गोसदृश पशु' (गवय) को देखता है, तब यह सर्वप्रथम यही विचार करने लगता है कि 'इसके समान मेरी गौ है' अर्थात् 'अनेन सदृशी मदीया गौः' यहाँ पर सामने न रहने वाली (अप्रत्यक्ष) **गौ** में प्रत्यक्ष दृश्यमान **'गवय'** का जो **सादृश्य** प्रतीत होता है, वह **'उपमान प्रमाण'** से ही प्रतीत होता है ।

किन्तु वाचस्पति मिश्र ने उक्त 'सादृश्यज्ञान' को **प्रत्यक्षप्रमाण** का विषय माना है । क्योंकि यद्यपि **'गौ'** **प्रत्यक्ष नहीं है, 'गवय' प्रत्यक्ष** है । किन्तु गौ तथा गवय का 'सादृश्य' तो **एक ही** है । वह 'सादृश्य', जब कि 'गवय' में **प्रत्यक्ष** हो रहा है तो उससे 'अभिन्न गोनिष्ठ सादृश्य' भी **प्रत्यक्ष** है । इस रीति से 'उपमान' प्रमाण को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है ।

अभावप्रमाण के विषय में सांख्यशास्त्र के विचार—

नैयायिकों ने 'अभाव' प्रमाण का अन्तर्भाव अपने **'प्रत्यक्ष'** प्रमाण में किया है । उसी तरह **सांख्यशास्त्र** ने भी 'उसका' अन्तर्भाव 'प्रत्यक्षप्रमाण' में ही किया है । तथापि उसके **उपपादन** का मार्ग, नैयायिकों से भिन्न है । **सांख्य** कहता है कि **'भूतल**

का स्वरूप' प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। इन परिवर्तनों में कभी तो 'भूतल' घट से युक्त (घटवत्) होता है। और घट के हट जाने पर 'केवलभूतल' शेष रह जाता है। जब 'केवलभूतल' रह जाता है तब की अवस्था को 'घटाभाववद्भूतलम्' कहते हैं। अतः 'घटाभाव' भी भूतल का **स्वरूपविशेष** ही है। 'भूतल का ज्ञान' (ग्रहण) इन्द्रिय के द्वारा होने से '**कैवल्य**' रूप विशेप भी, जो 'घटाभाववद्भूतलम्' शब्द से कहा जाता है, वह भी **प्रत्यक्ष** ही है। अतः 'अभाव' का अन्तर्भाव 'प्रत्यक्ष' में ही करना चाहिये। और 'अर्थापत्ति' तथा 'संभव' दोनों का **अनुमान** में और 'ऐतिह्य' का **'शब्दप्रमाण'** में अन्तर्भाव कर दिया गया है।

वैशेषिकों के विचार—

वैशेषिक शास्त्र ने 'प्रत्यक्ष और अनुमान' दो ही प्रमाणों को माना है। तदतिरिक्त सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव 'अनुमानप्रमाण' में कर दिया है। **वैशेषिकशास्त्र** में बताया गया है—

'प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रतिपत्तिदर्शनात् तदप्यनुमानमेव।

आप्तेनाऽप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयत्वप्रतिपादनादुपमानमप्याप्तवचनमेव।

दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव। श्रवणादनुमितानुमानम्।

सम्भवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव। अभावोऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्'।

इस रीति से **वैशेषिकशास्त्र** ने 'उपमान' 'शब्द', 'अर्थापत्ति', 'सम्भव' तथा 'अभाव' इन प्रमाणों का साक्षात् या परम्परया **अनुमान** में ही अन्तर्भाव कर दिया है। इन्होंने 'ऐतिह्य' की जगह 'चेष्टा' कहकर उसका अन्तर्भाव बताया है।

इति अभावप्रमाणविचारः।

प्रामाण्यवादः

इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते, तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चित्तु सन्देहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः।

इदमिति। अब यह (प्रामाण्यवाद) निरूपण करते हैं। **नैयायिकों** के कथनानुसार यह ध्यान में आता है कि कोई व्यक्ति जल आदि का ज्ञान होने पर उसका प्रामाण्य निश्चित करके उसके (जलादि के) लेने में प्रवृत्त होता है। और कोई व्यक्ति जलादि के सन्देह से भी प्रवृत्त होता है, तदनन्तर जल की प्राप्ति यदि हो जाती है तो जल ज्ञान के पूर्व प्रमाण्य का निश्चय कर लेता है—यह वास्तविक स्थिति है।

माधुरी

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने प्रामाण्य के सम्बन्ध में केवल महामीमांसक कुमारिल-भट्टपाद के मन्तव्य की ही मुख्यरूप से आलोचना की है। पहले बता चुके हैं कि 'प्रमा' के करण को **प्रमाण** कहते हैं 'प्रमाकारणम्प्रमाणम् इति। 'प्रमा' का अर्थ है **'यथार्थ अनुभव'**। जैसे—**'प्रमा के करण'** के अर्थ में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही **'प्रमा'** (यथार्थ अनुभव यानी ज्ञान) के अर्थ में भी 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। **'प्रमाण्यवाद'** में प्रमाण्य का अर्थ है 'प्रमाण का भाव'। यहाँ 'भाव' अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय किया गया है। 'भाव' अर्थ में 'त्व' प्रत्यय भी होता है, तब 'प्रमाणत्व' बनता है। 'प्रमाणत्व' या 'प्रामाण्य' दोनों का अर्थ एक ही है। **प्रामाण्य** या **प्रमाणत्व** का अर्थ हुआ 'ज्ञान की यथार्थता'। अत एव तर्कभाषाकार ने कहा है कि 'ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणम्प्रामाण्यम्'। 'ज्ञान की यथार्थता' ही ज्ञान का प्रामाण्य है। **'प्रामाण्यसम्बन्धी वादः—प्रामाण्यवादः'** अर्थात् 'ज्ञान' के प्रामाण्य का विचार।

अब अमुक ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ है, इसका निर्णय कैसे किया जाता है? इसे शास्त्रीयभाषा में इस प्रकार कहा जायेगा 'ज्ञान का प्रामाण्य कैसे गृहीत होता है? या 'ज्ञानों का 'प्रामाण्यग्रह' कैसे होता है? इस विषय पर दार्शनिकों ने बहुत ही गम्भीर विचार किया है। यह प्रामाण्य विचार सर्वप्रथम 'वेद' के लिये ही उदित हुआ। क्योंकि वेदविरोधियों का उस समय जमघट बहुत था। उस स्थिति में वैदिक-कर्मानुष्ठान, वेद प्रामाण्य के बिना होना संभव ही नहीं था। अत एव मीमांसकों ने अपना सर्वस्व ही उसके प्रामाण्य की सिद्धि में लगा दिया। **'स्वतःप्रमाणं परतःप्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति'**—यह अद्भुत वातावरण पैदा हो गया था। उसके फलस्वरूप 'वेद' के प्रामाण्य की सिद्धि में यशोरूप दुग्ध का पान सर्वप्रथम मीमांसकों ने ही किया है। तदनन्तर उसी न्याय से सामान्यतः सभी ज्ञानों को लेकर प्रामाण्य का विचार करते हुए व्यवहार को शुद्ध किया गया है। लोकव्यवहार में अहर्निश देखते हैं कि प्रत्येक आदमी की प्रवृत्ति, किसी प्रयोजन से ही हुआ करती है। किसी पदार्थ का जब ज्ञान होता है, तब 'वह पदार्थ' अपने लिए लाभकर है या नहीं—यह सोचते हैं। यदि वह पदार्थ 'लाभकर' प्रतीत हुआ तो उसका 'ग्रहण' करने का प्रयत्न करते हैं। यदि 'हानिकर' प्रतीत हुआ तो उसे 'त्यागने' की सोचते हैं। यदि वह पदार्थ, 'लाभ कर भी नहीं और हानिकर भी नहीं' हो तो उसकी ओर से 'उदासीन' (तटस्थ) हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति का कारण उसकी 'हान-उपादान-उपेक्षाबुद्धि' ही है। अर्थात् सबकी प्रवृत्ति में निमित्त उसका 'ज्ञान' (बुद्धि) ही है।

व्यवहार में हम देखते हैं कि किसी भी वस्तु के 'यथार्थज्ञान' से तथा 'संशयात्मक-ज्ञान' से भी मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। किसी आदमी के घर के समीप ही एक जल-सरोवर है, वहाँ से प्रतिदिन वह जल लाया करता है। उसके पास कोई दूसरा

व्यक्ति आकर उससे पूछता है कि यहाँ कहीं जल है ? तब उत्तर देने वाला व्यक्ति अपने मन में निश्चितरूप से समझता है कि 'मुझे समीपस्थित जल का जो ज्ञान है, वह निश्चितरूपेण प्रामाणिक है। अपने प्रामाणिक ज्ञान के अनुसार वह जल लाने के लिए प्रवृत्त हुए आदमी से कहता है। यह अभ्यासदशापन्न प्रमाणिक (यथार्थ) ज्ञान है।

कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि मारवाड आदि मरुभूमि में प्रखर ग्रीष्मर्तु की धूप से तृषित हुआ व्यक्ति जल की खोज में भटकते-भटकते किसी कारण कहीं दूरी पर उसे जल का सन्देह (सम्भावना) हो जाता है। जल का सन्देह होने मात्र से ही वह जल लेने तथा अपनी तृष्णाशान्ति के किये प्रवृत होता है। और सौभाग्यवश उसे जल की प्राप्ति हो जाती है, तब वह कह उठता है कि मेरी प्रवृत्ति सफल हुई। इस सफल प्रवृत्ति को ही 'समर्थ प्रवृत्ति' यानी ज्ञान के अनुकूल प्रवृत्ति (प्रवृत्तिसामर्थ्य) कहते हैं। इसी के बल पर वह 'सन्दिग्धजल ज्ञान' का प्रामाण्य (प्रामाणिकता) समझता है। यह अनभ्यासदशापन्न प्रामाणिक (यथार्थ) ज्ञान है।

इस द्विविध प्रवृत्ति को देखकर मन में संदेह उठता है कि 'ज्ञान के प्रामाण्य' का **निश्चय,** क्या **प्रवृत्ति के पहले** होता है या **प्रवृत्ति के बाद** 'ज्ञान के प्रामाण्य' का निश्चय किया जाता है ?

उपर्युक्त स्थिति न्यायदर्शन के मतानुसार बतायी गयी है। एक ज्ञान अभ्यासदशापन्न स्थिति का है और दूसरा ज्ञान अनभ्यासदशापन्न स्थिति का है।

अत्र कश्चिदाह। प्रवृत्तेः प्रागेव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः। येनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्। अनधिगते धर्मिणिसन्देहानुदयात्। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते। ततः पुरुषः प्रवर्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।

अत्रेति। इस विषय में कोई (मीमांसक) कहता है—'प्रवृत्ति के पूर्व ही 'प्रामाण्य' का अवधारण (निश्चय) हो जाता है। अतः **'प्रवृत्तिसाफल्य'** 'प्रामाण्य' का अनुमापक नहीं होता है।

अस्येति। इसका अर्थ यह है कि जिस सामग्री से जिस 'ज्ञान' का ग्रहण होता है, उसी सामग्री से 'उस ज्ञानगत-(ज्ञान में रहने वाले) प्रामाण्य' का भी ग्रहण होता है। ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न अन्य कोई सामग्री उस (ज्ञान) के 'प्रामाण्य' की ग्राहक नहीं है। अर्थात् नैयायिक का जो कथन है कि 'ज्ञान' का ग्रहण **'अनुव्यवसाय'**

से और उसके 'प्रामाण्य' का ग्रहण **'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान'** से होता है—वह उचित नहीं है। **तेनेति।** इसलिए अर्थात् **'ज्ञानग्राहक'** और **'तत्प्रामाण्य-ग्राहक' सामग्री** के एक होने से (ज्ञानग्राहक सामग्री के अतिरिक्त उसके प्रामाण्य ग्रहण में अन्य सामग्री की अपेक्षा न रहने से) 'ज्ञान' के प्रामाण्य का 'स्वतस्त्व' स्वभावतः ही सिद्ध है। इसलिए ग्रन्थकार ने स्पष्ट कर दिया है कि **ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य।'**

ज्ञानं चेति। 'ज्ञान' का ग्रहण तो प्रवृत्ति होने के पूर्व ही हो जाता है, यह निश्चित है। अन्यथा 'ज्ञान' रूप धर्मी का ग्रहण हुए विना उसके 'प्रामाण्य' या 'अप्रामाण्य' का सन्देह ही कैसे होगा ? ज्ञान **'धर्मी'** है और **'प्रमाण्य'** या **'अप्रामाण्य'** उसका **धर्म** है। 'धर्मी' के अज्ञात रहने पर उसके 'धर्म' के विषय में सन्देह ही नहीं हो सकता।

तस्मादिति। इसलिये 'प्रवृत्ति' होने के पूर्व (अभ्यासदशा में) ही **ज्ञातताऽन्यथा-नुपपत्त्या** ('ज्ञान' रूप **कारण** के बिना 'ज्ञातता' रूप **कार्य** की अनुपपत्ति होने से) उत्पन्न होने वाले **'अर्थापत्ति'** प्रमाण से 'ज्ञान' का ग्रहण होने पर उसमें (ज्ञान में) रहनेवाले 'प्रामाण्य' का भी उसी **'अर्थापत्ति'** से ग्रहण हो जाता है। उसके बाद 'पुरुष की प्रवृत्ति' होती है। यह **मीमांसकों** का कहना है। नैयायिकों के मन्तव्य के अनुसार प्रथमतः केवल **'ज्ञान' का ग्रहण** और उसके बाद **प्रवृत्ति** उसके अनन्तर **'फल'** को देखकर उस 'ज्ञान' के **'प्रामाण्य'** का निश्चय किया जाता है किन्तु नैयायिकों का यह **सिद्धान्त** ठीक नहीं है। मीमांसकों के द्वारा यह **पूर्वपक्ष** उपस्थित किया गया है।

माधुरी

शास्त्रकारों ने **'उत्पत्ति'** तथा **'ज्ञप्ति'** दो दृष्टियों से 'प्रामाण्य' के **स्वतस्त्व** का विचार किया है। अतः 'प्रामाण्य' और 'अप्रामाण्य' का स्वतस्त्व दो प्रकार का होता है। एक 'उत्पत्ति' में 'स्वतस्त्व' और दूसरा 'ज्ञप्ति' में 'स्वतस्त्व'। उत्पत्ति में 'स्वत-स्त्व' का अभिप्राय यह है कि जिस 'कारण सामग्री' से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी 'सामग्री' से उसका (ज्ञान) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य भी उत्पन्न होता है—**उत्पत्तौ स्वतस्त्वं नाम ज्ञानकारणमात्रजन्यत्वम्। ज्ञानं येन जायते तेनैव प्रमाणं सदेव जायत इत्यर्थः।'** और 'ज्ञाप्ति' में 'स्वतस्त्व' का अभिप्राय यह है कि 'जिस साधन' के द्वारा 'ज्ञान' का ग्रहण होता है, 'उसी के द्वारा' ज्ञान के 'प्रामाण्य या अप्रामाण्य' का भी निश्चय होता है—**'ज्ञप्तौ स्वतस्त्वं तु ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वम्। येन ज्ञानं जायते तेनैव प्रमाणं सदेव ज्ञायते इत्यर्थः।**

इसी तरह 'प्रामाण्य' का परतस्त्व भी दो प्रकार से होता है—एक तो 'उत्पत्ति' में परतस्त्व और दूसरा 'ज्ञप्ति' में परतस्त्व। उत्पत्ति में 'परतस्त्व का तात्पर्य यह है कि जिस 'कारणसामग्री' से ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे 'भिन्न कारणों' से 'प्रामाण्य' तथा 'अप्रामाण्य' उत्पन्न होते हैं। **इन्द्रियार्थसन्निकर्ष** आदि से 'ज्ञान'

उत्पन्न होता है किन्तु **'गुण'** अथवा **'दोष'** से 'ज्ञान' का प्रामाण्य या अप्रामाण्य उत्पन्न होता है—**'परतस्त्वमपि द्विविधमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च। तत्रोत्पत्तौ परतस्त्वं च ज्ञान-कारणातिरिक्तकारणजन्यत्वम्। इन्द्रियार्थ संयोगादिना ज्ञानं जायते तदतिरिक्तेन गुणेन दोषेण वा तज्ज्ञानं प्रामाणमप्रमाणं वा जायत इत्यर्थः।'**

'ज्ञप्ति' में परतस्त्व का अभिप्राय है—'जिस साधन के द्वारा ज्ञान' का ग्रहण होता है, उससे भिन्न साधन के द्वारा 'ज्ञान के प्रामाण्य' तथा 'अप्रामाण्य' का निश्चय करना – **ज्ञप्तौ परतस्त्वं च ज्ञानग्राहकातिरिक्तग्राह्यत्वम्। ज्ञानं च मनसा गृह्यते, तद्गतं प्रामाण्यमनुमानेनेत्यर्थः।** तर्कभाषाकार ने उत्पत्तिविषयक स्वतस्त्व-परतस्त्व पर विचार नहीं किया है। केवल **ज्ञप्तिविषयक** 'स्वतस्त्व-परतस्त्वं' का ही विचार प्रदर्शित किया है। लोकव्यवहार में जैसे 'यथार्थज्ञान' से प्रवृत्ति होती है तथैव 'सन्दिग्ध ज्ञान' से भी प्रवृत्ति हुआ करती है। कोई तृषार्त (प्यासा) आदमी अपनी तृषा (प्यास) शान्ति के लिये 'जल' चाहता है। उसे यह भी ज्ञात है कि कहाँ पर जल है। क्योंकि अनेक वार उसी स्थान से उसने जल लिया है। एवं च जल ज्ञान की 'अभ्यास-दशा' से युक्त रहने पर भी 'समर्थ प्रवृत्ति जनकत्व' लिङ्ग (हेतु) से अपने मन में हुए 'जल ज्ञान' की यथार्थता का निश्चय करके, बाद में वह उस ओर प्रवृत्त होता है। अर्थात् 'ज्ञान' के अनन्तर ही (प्रवृत्ति होने के पूर्व ही) उसके प्रामाण्य का भी उसे ज्ञान (ग्रहण) हो जाता है। और वाद में 'प्रवृत्ति' होती है। किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में 'प्रामाण्य' का निश्चय न होने पर भी 'प्रवृत्ति' हुआ करती है। क्योंकि इस स्थिति में 'प्रामाण्य' का निश्चय करना सुलभ होता है। नैयायिकों को 'प्रवृत्ति' के पहले 'ज्ञानगत प्रामाण्य' के निश्चय कर लेने की आवश्यकता नहीं होती। उनके मत में 'केवल ज्ञान' होने मात्र से ही 'प्रवृत्ति हो जाती है। इतना ही आवश्यक है कि उस ज्ञान में 'अप्रामाण्य' की गन्ध न आती हो। अतः नैयायिकों को ज्ञान के 'प्रामाण्य' की स्वतोग्राह्यता मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

प्रश्न—'अभ्यासदशापन्नज्ञान' में तो 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु हो सकता है। जैसे विमतं जलज्ञानं, समर्थ-प्रवृत्तिजनकत्वात्' यह अनुमान प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु 'अनभ्यासदशापन्न ज्ञान' में जहाँ 'प्रवृत्ति' हुई ही नहीं है, वहाँ 'समर्थप्रवृत्ति-जनकत्वात्' यह हेतु कैसे उपपन्न हो सकेगा ?

उत्तर—यहाँ 'अनभ्यासदशापन्न ज्ञान' में 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' इस हेतु में कुछ और अधिक जोड़ देंगे, अर्थात् 'समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञानसजातीयत्वात्' को 'हेतु' बना देंगे। तब कोई दोष नहीं होगा। 'अभ्यासदशापन्न' शब्द का उल्लेख बौद्धों ने तथा जैनों ने भी अपने दर्शनों में 'स्वतः-प्रमाण्यवाद' की चर्चा करते समय किया है। एवं च यहाँ अनभ्यासदशा' में अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'विमतं जलज्ञानं प्रमाणं समर्थ-प्रवृत्तिजनकज्ञानसजातीयत्वात्' इति।

नैयायिक विद्वान् 'ज्ञान' का प्रमाण्य तथा अप्रामाण्य 'स्वतोग्राह्य' नहीं कहते हैं। वे तो 'ज्ञान' के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य को 'परतोग्राह्य' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन कारणों से 'ज्ञान' (प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान) का ज्ञान होता है, उन्हीं कारणों से उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु उसके लिये 'अन्य कारणों की अपेक्षा होती है। 'ज्ञान' के प्रामाण्य-ज्ञान के लिये 'सफलप्रवृत्तिजनकत्व'—हेतुक अनुमानरूप 'अन्य कारण' की अपेक्षा होती है। उसी तरह 'ज्ञान' के अप्रामाण्यज्ञान के लिये 'विफलप्रवृत्तिजनकत्वात्' हेतुक अनुमान रूप 'अन्य कारण' की अपेक्षा होती है। परन्तु प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत 'ज्ञान' का ज्ञान करने के लिये उपर्युक्त 'हेतुओं' की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि 'अनुव्यवसाय' से ही उसका ज्ञान हुआ रहता है। उदाहरणार्थ 'जलज्ञान' प्रमात्मक हो चाहे अप्रमात्मक हो, वह 'अनुव्यवसाय' रूप मानसप्रत्यक्ष से जाना जाता है। और उसका प्रामाण्य (प्रमात्व) या अप्रामाण्य (अप्रमात्व) 'अनुव्य-वसाय' रूप मानसप्रत्यक्ष से गृहीत न होकर उपर्युक्त-हेतुक अनुमान से होता है। अत एव न्यायदर्शन के अनुसार 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य' 'स्वतोग्राह्य' न होकर 'परतोग्राह्य' माने जाते हैं।

'ज्ञान' के प्रामाण्य (प्रमात्व) और अप्रामाण्य (अप्रमात्व) के बारे में न्याय-वैशेपिक सांख्य-योग और मीमांसा-वेदान्त के भिन्न-भिन्न मत हैं।

न्याय-वैशेपिक दर्शनों का कथन है कि 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' के अतिरिक्त जितने भी 'ज्ञान' हैं वे सब 'यथार्थज्ञान' और 'अयथार्थज्ञान' (प्रमा और अप्रमा) के भेद से दो प्रकार के होते हैं। 'यथार्थज्ञान' कभी 'प्रमा' शब्द से और कभी 'प्रमाण' शब्द से भी कहा जाता है। तथा 'अयथार्थ ज्ञान' को कभी 'अप्रमा' शब्द से और कभी 'अप्रमाण' शब्द से भी कहा जाता है। जब 'यथार्थ ज्ञान' को 'प्रमा' शब्द से कहते हैं, तब उसके 'असाधारण-धर्म' को 'प्रमात्व' कहते हैं। और जब 'यथार्थ ज्ञान' के 'प्रमाण' शब्द से कहते हैं, तब उसके 'असाधारण धर्म' को प्रामाण्य शब्द से कहते हैं। उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' शब्द से कहने पर उसके 'असाधारण धर्म' को "अप्रमात्व' शब्द से कहते हैं और 'अयथार्थ ज्ञान' को 'अप्रमाण' शब्द से कहने पर उसके असाधारण धर्म को 'अप्रामाण्य' शब्द से कहते हैं।

इस विवेचन से न्याय-वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है कि किसी पदार्थ के हानोपादानार्थं (ग्रहण, त्याग) की जाने वाली प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये उस 'पदार्थ' का केवल ज्ञानमात्र होने की आवश्यकता है, उसके 'प्रमात्व' और 'अप्रमात्व' के निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं है। उक्त न्यायसिद्धान्त को न्याय-मञ्जरी, कन्दली आदि ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ बताया गया है।

नैयायिकों के प्रतिद्वन्द्वी महामीमांसक श्रीकुमारिलभट्ट हैं। इनके मत में 'ज्ञान' का 'प्रामाण्य' स्वतः है, और 'अप्रामाण्य' परतः है। वे कहते हैं—

'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥'

—(श्लो० वा० सू० २ वा० ४७)

'प्रमाणों' का प्रामाण्य स्वतःगृहीत होता है। क्योंकि 'ज्ञान' में स्व-विषय के अवधारण की शक्ति यदि 'स्वतः' न हो तो उसे किसी अन्य के द्वारा उसमें उत्पन्न नहीं करायी जा सकती। भाट्टमीमांसक 'स्वतः-प्रामाण्यवादी' हैं। जहाँ 'प्रमाण्यग्रह' के लिये ज्ञानग्राहक सामग्री के अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा नहीं की जाती वहाँ उस 'ज्ञान' को 'स्वतःप्रमाण' कहा जाता है। अर्थात् जहाँ 'ज्ञान' तथा तद्गत 'प्रमाण्य' दोनों का ग्रहण एक ही सामग्री से होता है, तब उसे 'स्वतःप्रमाण' कहते हैं। अतः स्वतःप्रमाण का लक्षण—'ज्ञानग्राहकातिरिक्ताऽनपेक्षत्व' किया गया है। और जहाँ ज्ञान-ग्राहकसामग्री और तद्गत प्रामाण्यग्राहक सामग्री भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) रहती है, वहाँ 'परतःप्रामाण्य' माना जाता है। अत एव 'परतस्त्व' का लक्षण—'ज्ञानग्राहका-तिरिक्ताऽपेक्षत्व' किया गया है। एवं च मीमांसकों के मत से 'ज्ञान' का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है, और 'अप्रामाण्य' परतोग्राह्य है।

मीमांसाशास्त्र के तीन सम्प्रदाय (प्रस्थान) हैं। (१) भाट्ट-सम्प्रदाय, (२) प्रभाकर-(गुरु) सम्प्रदाय, (३) मुरारि-(मिश्र-) सम्प्रदाय।

प्राभाकर सम्प्रदाय में भी ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञानग्राहकसामग्री अलग-अलग नहीं है। इसलिये घटज्ञानोत्पत्ति की समग्री का सन्निधान होने पर उत्पन्न होने वाले 'घटज्ञान' का आकार 'अयं घटः' नहीं है, अपितु 'घटमहं जानामि' है। क्योंकि इस ज्ञान में (१) घट, (२) घटज्ञान, (३) घटज्ञाता—इन तीनों का (ज्ञेय, ज्ञान, और ज्ञाता का) ज्ञान होता है। अत एव प्राभाकरमत में 'त्रिपुटी विषयकज्ञान' माना जाता है।

प्राभाकर सम्प्रदाय के अनुसार 'ज्ञान' को स्वप्रकाश माना जाता है। वह (ज्ञान) अपने 'जन्म (उत्पत्ति) क्षण' में भी 'अज्ञात' नहीं रहता है। वह 'ज्ञायमान' होकर ही उत्पन्न होता है। क्योंकि 'ज्ञान' की उत्पादक और ग्राहक सामग्री एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है। अन्यथा दोनों भिन्न-भिन्न सामग्रियों के सन्निधान में कदाचित् काल-भेद भी हो सकता है। कभी 'ज्ञानोत्पादक सामग्री का सन्निधान' पहले हो जाय और 'ज्ञानग्राहक सामग्री का सन्निधान' बाद में हो, तब 'ज्ञान' उत्पन्न होकर भी 'अज्ञात' ही रह सकता है, उस कारण उसकी 'स्व-प्रकाशता' का ही भंग हो जायेगा। इसलिये 'ज्ञान' की स्वप्रकाशता को कायम रखने के लिए 'ज्ञानोत्पादकसामग्री और ज्ञानग्राहक

सामग्री' को एक ही मानना होगा, अलग-अलग नहीं। इसी प्रकार (प्राभाकर सिद्धान्त में) 'ज्ञान' की उत्पादक सामग्री को ही ज्ञानग्राहकसामग्री मान कर उसी को 'ज्ञान' के 'प्रामाण्य' का भी ग्राहक बताया गया है। इसलिये 'ज्ञान' के साथ ही 'ज्ञान' का प्रामाण्य भी ज्ञात हो जाता है। एवं च 'ज्ञान' जब उत्पन्न होता है, तब वह जिस प्रकार अपने विषय को (घट को) तथा स्वयं को और अपने आश्रय (ज्ञाता) को विषय करता है, उसी प्रकार वह अपने 'प्रामाण्य' को भी विषय करता है। 'प्रामाण्य' को विषय बना लेने पर **'घटमहं प्रमिणोमि'** उसका आकार होता है। क्योंकि उसमें **'घट'**, **'घटज्ञान'**, **'घटज्ञाता'**, के समान **'घटज्ञान'गत प्रामाण्य** की भी प्रीति होती है।

मीमांसाशास्त्र के तीसरे सम्प्रदाय के प्रवर्तक **श्रीमुरारिमिश्र** का सिद्धान्त, नैयायिकों से कुछ मिलता-जुलता सा ही है। इन के मत में भी 'ज्ञान' का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से ही होता है किन्तु उसके प्रामाण्य (ज्ञानगत प्रामाण्य) का ग्रहण किसी अन्य कारण से न होकर उसी 'अनुव्यववसाय' से ही होता है। क्योंकि श्रीमुरारिमिश्र भी श्रीकुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट (गुरु) के समान ही 'ज्ञान' के विषय में स्वतःप्रामाण्यवादी हैं। क्योंकि इनके मत में भी ज्ञानग्राहक और तद्गत प्रामाण्यग्राहक सामग्री (अनुव्यवसाय) एक ही है, भिन्न नहीं है।

श्रीकुमारिलभट्टपाद 'ज्ञान' को **अतीन्द्रिय** कहते हैं। अतः उनके मत में उसका (ज्ञान का) 'ज्ञान' (ग्रहण) 'ज्ञाततालिङ्गकअनुमान' से होता है। और उसी अनुमान से 'ज्ञान' के 'प्रामाण्य' का भी ग्रहण हो जाता है। एवं च तीनों मीमांसक-सम्प्रदायों में 'ज्ञानग्राहक-सामग्रीग्राह्यत्व' रूप **स्वतोग्राह्यत्व** सुस्थिर रहता है। इस रीति से तीनों सम्प्रदायों में 'ज्ञान' का जो पहला (प्रथम) ज्ञान जिस सामग्री से होता है, उसी से उसका प्रामाण्य (प्रमात्व) भी समझ में आ जाता है।

किन्तु 'ज्ञान' का अप्रामाण्य, तीनों मतों में परतोग्राह्य ही है, उसे स्वतोग्राह्य नहीं माना है। क्योंकि उसका ग्रहण (ज्ञान), ज्ञानाग्रहकसामग्री से न होकर 'ज्ञानाधीन प्रवृत्तिवैफल्य ज्ञान' आदि अन्य कारणों से होता है।

शंका—प्रमाणभूत ज्ञान के प्रथमज्ञानकाल में ही जैसे उसका 'प्रामाण्य' स्वतः ज्ञात हो जाता है, वैसे ही अप्रमाणभूत ज्ञान के प्रथमज्ञानकाल में ही उसका आप्रामाण्य भी स्वतः ज्ञात हो जाता है, ऐसा क्यों नहीं कहते ? उसे (अप्रामाण्य को) परतोग्राह्य मानने का आग्रह क्यों किया जा रहा है ?

समा०—प्रत्येक ज्ञान के मुख्य प्रयोजन दो ही होते हैं—(१) प्रवृत्ति और (२) निवृत्ति। ज्ञात हुआ पदार्थ (वस्तु) यदि 'अनुकूल' हो तो प्रवृत्ति और 'प्रतिकूल' हो तो निवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप प्रयोजन, 'ज्ञान' को प्रमाण मानने पर ही हो सकता है। उसे अप्रमाण मान लेने पर तो प्रवृत्ति-निवृत्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। किंच ज्ञान को प्रमाण (स्वतः प्रमाण) मानने पर ही विरोधी ज्ञान

का प्रतिवन्ध होता है। जैसे भूतल पर 'घट' का ज्ञान होने पर भूतलपर घटाभाव के ज्ञान का प्रतिवन्ध हो जाता है। किन्तु उस ज्ञान को अप्रमाण ही मान लेने पर विरोधी ज्ञान के प्रतिवन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता है।

किञ्च 'प्रामाण्य' को स्वतोग्राह्य कहने में युक्ति है, और अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य कहने में कोई युक्ति नहीं है। क्योंकि प्रवृत्ति' आदि के होने में निमित्त, 'ज्ञान' है, शर्त इतनी ही है कि उसमें अप्रामाण्य की गन्ध न आती हो। अप्रामाण्य की गन्ध (ज्ञान-प्रतीति) आते ही उस ज्ञान से प्रवृत्ति आदि नहीं होती है। अतः ज्ञान के प्रयोजन-भूत प्रवृत्ति आदि के सम्पादनार्थ, उसके कारणभूत ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय रहना आवश्यक है। यदि ज्ञान में अप्रामाण्य की प्रतीति रहेगी तो ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकेगा। और प्रामाण्य का निश्चय न हो सकने पर प्रवृत्ति आदि प्रयोजन भी सम्पन्न नहीं हो पायेंगे। यदि 'प्रामाण्य' को स्वतोग्राह्य न मानकर परतोग्राह्य मानेंगे तो जिस 'पर' (किसी अन्य कारण) से प्रामाण्य की प्रतीति होगी, उसकें सन्निहित होने के पूर्व प्रामाण्य का निश्चय तो हो ही नहीं सकेगा, तब 'प्रवृत्ति' आदि के कारणभूत 'ज्ञान' के उत्पन्न होने पर भी प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। तव 'ज्ञान' का उत्पन्न होना ही व्यर्थ होगा। अतः उत्पन्न हुए ज्ञान की सार्थ-कता के लिये 'प्रामाण्य' को स्वतोग्राह्य मानना ही योग्य है। अप्रामाण्य को स्वतः मानने पर प्रामाण्य का निश्चय न हो सकने से प्रवृत्ति न हो सकेगी, और प्रवृत्ति आदि प्रयोजन के न होने पर 'ज्ञान' की उत्पत्ति ही व्यर्थ होगी। इसलिए अप्रामाण्य को परतः मानना ही उचित है।

अत्रोच्यते। ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव। तथा हि इदं किल परस्याभिमतम्। घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसन्धीयते। तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जात इत्यनु-मीयते। स च ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते। एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्त-रेण नोपपद्यते कारणाभावे कार्यानुदयात्। तेनार्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञात-तयाऽऽक्षिप्यत इति।

न चैतद्युक्तम्। ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञाततायाः अभावात्।

मीमांसक के इस पूर्वपक्ष पर नैयायिक का 'उत्तरपक्ष' प्रस्तुत किया जा रहा है—अत्रोच्यत इति। नैयायिक कहता है कि 'ज्ञातता' की अन्यथानुपपत्ति से प्रसूत 'अर्था-पत्ति' से ज्ञान का ग्रहण किया जाना, जो आपने बताया है, उसे हम नैयायिक लोग स्वीकार नहीं कर सकते हैं। तव उसके द्वारा (अर्थापत्ति के द्वारा) 'प्रामाण्यग्रह'

का होना तो बहुत दूर की बात है। **तथा हीति**। परपक्षी (मीमांसक के पूर्वपक्ष) का अभिप्राय यह है कि 'घट' आदि किसी विषय का ज्ञान होने पर **'मया ज्ञातोऽयं घटः'**— मैंने यह घट जान लिया है—इस प्रकार 'घट' की 'ज्ञातता' का अनुभव (प्रतीति) होता है। इस अनुभव के बल पर 'घट' ज्ञान होने के वाद उसमें (घट में) 'ज्ञातता' नामक किसी 'धर्म' के उत्पन्न होने का अनुमान होता है। **स चेति**। उस 'धर्म' (ज्ञाततारूप धर्म) का 'ज्ञान' से पहिले उत्पन्न न होना तथा 'ज्ञान' के उत्पन्न होने के बाद उत्पन्न होना इस 'अन्वय और व्यतिरेक' के बल पर स्पष्ट हो जाता है कि वह 'ज्ञातता' धर्म तो 'ज्ञान' से ही उत्पन्न होता है।

एवं चेति। इस प्रकार 'ज्ञान' से उत्पन्न (जन्य) होने वाले उस 'ज्ञातता' नामक धर्म की उपपत्ति, 'ज्ञान' के विना तो हो नहीं सकती। क्योंकि 'कारण' के अभाव में 'कार्य' की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। **तेनार्थापत्त्येति**। इसलिये 'अर्थापत्ति' प्रमाण के बल पर वह 'ज्ञातता' नाम का धर्म, अपने कारणभूत (हेतुभूत) 'ज्ञान' का आक्षेप करता है। इस प्रकार से ग्रन्थकार ने पूर्वपक्षी मीमांसक के मत का अनुवाद कर दिया है। अब ग्रन्थकार उसके मत का खण्डन करेंगे।

न चेतदिति। मीमांसकों के पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए **नैयायिक** कहता है— ज्ञानविषयता से भिन्न 'ज्ञातता' नाम का कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अतः मीमांसकों का कहना ठीक नहीं है।

ननु ज्ञानजनितज्ञातताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम्। तथा हि न तावत् तादात्म्येन विषयता, विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः। इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमनुमीयते। ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्यः। इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यैव ज्ञातता-सिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

नैयायिक के समाधान को सुनकर मीमांसक पुनः अपने मतके अनुसार 'ज्ञातता' की सिद्धि कर रहा है—**नन्विति**। मीमांसक कहता है कि **विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति'** के आधार पर ही **'ज्ञातता'** की सिद्धि हो जाती है। नैयायिक ने हमारी 'ज्ञातता' को जो **'ज्ञानविषयता'** रूप बताया है, उसका स्वरूप यही होगा कि 'ज्ञान' से जन्य जो ज्ञातता है, उस (ज्ञातता) का आधार होना ही 'ज्ञानविषयता' है। अर्थात् 'घट' आदि में ज्ञानविषयता है।

तथा हीति। क्योंकि 'विषय' (घट आदि) और 'विषयी' (ज्ञान) का 'तादात्म्य' न होने के कारण उस (तादात्म्य) से 'विषयता' नियन्त्रित नहीं हो सकती है। **तदुत्पत्त्येति**। 'तदुत्पत्ति' से यानी 'घटज्ञान' की उत्पत्ति 'घट' से होती है, इसलिये

उसमें 'विषयता' को स्वीकार करने पर तो 'इन्द्रिय, आलोक आदि' से भी 'ज्ञान' की उत्पत्ति होने के कारण इन्द्रिय आदि में भी 'विषयता' माननी होगी। अर्थात् इन्द्रिय, आलोक आदि भी 'घटज्ञान' के **विषय** कहलाने लगेंगे। क्योंकि 'इन्द्रिय आदि' से भी 'उसज्ञान' की उत्पत्ति होती है। **तेनेति**। अतः 'तादात्म्य' अथवा 'तदुत्पत्ति' या अन्य किसी भी प्रकार से 'विषय-नियन्त्रण' का उपपादन संभव न हो सकने से यह अनुमान किया जाता है—**ज्ञानेनेति**। 'ज्ञान' से **घट** में कुछ (ज्ञातता नाम का धर्म) उत्पन्न कर दिया है। जिसके कारण 'घट' ही उस ज्ञान का 'विषय' होता है, 'अन्य पटादि' उसके विषय नहीं होते हैं। **इत्यत इति**। इसलिये 'विषयत्व' की अन्यथा (ज्ञातता के विना) अनुपपत्ति होने से प्रसूत (उत्पन्न) जो 'अर्थापत्ति' प्रमाण है, उसके द्वारा ही 'ज्ञातता' धर्म की सिद्धि होती है। नैयायिक के कथनानुसार केवल 'प्रत्यक्षमात्र' से नहीं। 'ज्ञातता' धर्म की सिद्धि के लिये मीमांसक ने इस प्रकार से अपने कथन को प्रस्तुत किया है, जो नैयायिक के दृष्टि से पूर्वपक्ष के रूप में है।

मैवम् स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विषयविषयिभावः। इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात्। ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात्।

किञ्च, ज्ञाततायाअपि स्वज्ञानविषयत्वात् तत्रापि ज्ञाततान्तरप्रसङ्गस्तथा चाऽनवस्था। अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणापि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः। एव चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति।

मीमांसक से नैयायिक कहता है—**मैवमिति**। मीमांसकजी ! आपका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'विषय-विषयिभाव' तो स्वाभाविक है। **अर्थज्ञानयोरिति**। 'अर्थ' (पदार्थ) और 'ज्ञान' की ऐसी ही कुछ स्वाभाविक विशेषता है, जिससे उन दोनों में 'विषय-विषयिभाव' हो जाता है अर्थात् स्वभाव से ही 'पदार्थ' (वस्तु) विषय होता है और 'ज्ञान' विषयी होता है। **इतरथेति**। अन्यथा (अगर ज्ञानजनित 'ज्ञातता' के बलपर ही 'विषय-विषयिभाव' माना जाय तो) **'अतीत'** और **'अनागत'** पदार्थों में 'विषयता' नहीं बन पायेगी। **ज्ञनेनेति**। क्योंकि 'ज्ञान' के द्वारा 'अतीत-अनागत पदार्थों' में 'ज्ञातता' का उत्पन्न होना संभव नहीं है। उसका कारण यह है कि जो 'धर्मी' अस्तित्व में (विद्यमान) ही नहीं है, उसमें 'धर्म' को उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

किञ्चेति। दूसरा दोष यह भी होगा कि **'ज्ञातता'** को भी अपने (ज्ञातता विषयक) 'ज्ञान' का **'विषय'** यदि कहा जाय तो उसमें पुनः दूसरी 'ज्ञातता' माननी होगी—इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञाततारूप विषय पर एक-एक ज्ञातता को मानते जाने से **'अनवस्था'** होगी। **अथेति**। इस अनवस्था दोप से वचने के लिये 'ज्ञातता' में एक अन्य 'ज्ञातता' को स्वीकर किये विना ही उसे (ज्ञातता को) स्वाभाविकरूप से 'ज्ञान'

का विषय माना जाता है—ऐसा यदि मीमांसक कहे तब तो **'घट'** आदि में भी **'ज्ञातता'** को मानने से क्या लाभ है? **'अभिप्राय'** यह है कि जैसे एक **अन्य ज्ञातता** के स्वीकार किये बिना ही **'ज्ञातता'** अपने **'ज्ञान'** का (ज्ञातताविषयक ज्ञान का) **विषय** हो सकती है, वैसे ही **'घट'** आदि पदार्थ भी **'ज्ञातता'** के बिना ही **स्वाभाविकरूप से** **'ज्ञान'** के **विषय** हो सकते हैं। तब उन 'घटादि' पदार्थों में भी **'ज्ञातता'** को मानने की आवश्यकता क्यों है?

माधुरी

मीमांसक **स्वतःप्रामाण्यवादी** हैं। इन्होंने 'स्वतःप्रमाण' का लक्षण 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्' किया है। अर्थात् ज्ञानग्राहक सामग्री से अतिरिक्त सामग्री प्रामाण्यग्रह के लिये जहाँ अपेक्षित नहीं होती हो उसे स्वतःप्रामाण्य कहते हैं। अर्थात् 'ज्ञान' और उसका 'प्रामाण्य' जहाँ एक ही सामग्री से गृहीत होता है, वहाँ 'स्वतःप्रामाण्य' समझा जाता है।

इसके विपरीत 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम्' अर्थात् जहाँ 'ज्ञान' और उसका 'प्रामाण्य' दोनों की ग्राहक सामग्री पृथक्-पृथक् रहती है वहाँ 'परतः प्रामाण्य' समझा जाता है।

मीमांसकों के सिद्धान्तानुसार 'ज्ञान' और उसके 'प्रामाण्य' की ग्राहकसामग्री एक ही है यानी 'ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति' ही है।

किन्तु नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार 'ज्ञान' की ग्राहकसामग्री **'अनुव्यवसाय'** है और ज्ञानगत **'प्रामाण्य'** की ग्राहकसामग्री पूर्वोक्त ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न **'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' है।**

किन्तु मीमांसक के मत में 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान से 'घट' में 'ज्ञातता' नाम का एक धर्म पैदा होता है। यह धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञान के पहिले नहीं था, किन्तु इस ज्ञान के अनन्तर उत्पन्न हुआ है। इसलिये उस धर्म (ज्ञातता) को 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान से जन्य कहा जाता है, इसलिये उस 'धर्म' की उत्पत्ति में कारण (हेतु) भूत पहिले उत्पन्न हुए 'ज्ञान' को कहना होगा।

इस 'ज्ञातता' धर्म की प्रतीति 'ज्ञातो मया घटः' इस ज्ञान में हो रही है। यह 'ज्ञातता' धर्म, अपने हेतुभूत (कारणरूप) 'ज्ञान' के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिये 'ज्ञातता' की अन्यथा अनुपपत्ति से प्रसूत (पैदा हुई) 'अर्थापत्ति' प्रमाण से ही उस 'ज्ञातता' नामक धर्म का ग्रहण (ज्ञान) होता है। और 'ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति' से 'ज्ञान' का ग्रहण होने पर उस 'ज्ञान' में रहनेवाले 'प्रामाण्य' का ग्रहण (ज्ञान) भी 'अर्थापत्ति' प्रमाण से हो जाता है। इस रीति से 'ज्ञान' ग्राहक और तद्गत 'प्रामाण्य' की ग्राहकसामग्री एक होने से मीमांसकों के मत में 'ज्ञान' का **स्वतःप्रामाण्य** सिद्ध होता है।

किन्तु नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार उनके (नैयायिकों के) मत में 'ज्ञातता' नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। मीमांसक को 'स्वतःप्रामाण्य' के सिद्धयर्थं 'ज्ञातता' की कल्पना करनी पड़ती है, क्योंकि उसकी कल्पना किये बिना उनका 'स्वतःप्रामाण्य' सिद्ध नहीं हो सकता है। उक्त कल्पनागौरव से बचने के लिये नैयायिक के परितोषार्थं एक दूसरी रीति से अर्थात् 'ज्ञाततान्यथानुपपत्ति' के बजाय 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति' से 'ज्ञातता' को सिद्ध करते हैं। निष्कर्ष यह है कि 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान का विषय 'घट' होता है, 'पट' नहीं। यदि 'ज्ञानजनितज्ञातताधारत्व' को विषय-नियामक नहीं मानते हैं तो इस 'विषय नियन्त्रण' का उपपादन, नैयायिक के सिद्धान्त में **'तदुत्पत्ति सिद्धान्त'** को मानकर भी किया जा सकता है। और बौद्धों के सिद्धान्त में **'तादात्म्य सिद्धान्त'** को मानकर भी किया जा सकता है।

'तदुत्पत्तिसिद्धान्त' का अभिप्राय यह है कि 'ज्ञानोत्पत्ति' में 'विषय' भी कारण होता है। एवं च 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान, 'घट' से उत्पन्न होता है। इसलिये 'घटज्ञान' का विषय 'घट' होता है, 'पट' नहीं। नैयायिकों को समझाने के लिये 'तदुत्पत्ति' पक्ष का आश्रय करके यह समाधान मीमांसक ने किया है।

किन्तु यह 'समाधान' निर्दुष्ट नहीं है। इसमें दोष यह होगा कि 'घटज्ञान' की उत्पत्ति में जैसे 'घट' (विषय) कारण होता है, उसी प्रकार 'आलोक' (प्रकाश) तथा 'इन्द्रिय' भी कारण होता है तब 'घट' से उत्पन्न होने के कारण यदि 'घटज्ञान' का विषय 'घट' हो सकता है, तो 'घटज्ञान' आलोक से तथा इन्द्रिय से भी उत्पन्न होता है। अतः 'घटज्ञान' का विषय आलोक तथा इन्द्रिय को भी समझना होगा। किन्तु नैयायिक आदि कोई भी व्यक्ति 'घटज्ञान' का विषय 'आलोक तथा इन्द्रिय' को मानने के लिये तैयार नहीं है। इसलिये 'तदुत्पत्ति' के आधार पर विषयनियन्त्रण' (विषयनियम) का उपपादन नहीं कर सकते। अतः उक्त समाधान उचित नहीं है। अतः 'ज्ञानजनितज्ञातताधारत्व' को ही 'विषयनियामक' मानना चाहिये।

अब द्वितीय पक्ष—**'तादात्म्य'** (तदाकारता) का है। यह पक्ष, बौद्धों का तथा वेदान्तियों का है। बौद्धों में भी 'वैभाषिक' बौद्धों का मत है कि 'ज्ञान' यद्यपि स्व-भावतः निराकार है, तथापि 'पदार्थ' के (विषय के) आकार से वह (ज्ञान) आकार-वान् कहलाता है। यही कारण है कि वह ज्ञान कभी-कभी घटाकार 'पटाकार', तो कभी 'गृहाकार' आदि भिन्न-भिन्न आकारों में प्रतीत होता है। इस आधार पर यह कल्पना कर सकते हैं कि जो ज्ञान, जिस पदार्थ के आकार से आकारवान् होता है, वही पदार्थ, उस 'ज्ञान' का विषय कहा जाता है। 'घटज्ञान' 'घट' के आकार से आकारवान् होता है, 'पट' आदि किसी अन्य पदार्थ के आकार से आकारवान् नहीं होता है, इसलिये 'घट' ही 'घटज्ञान' का विषय कहलाता है। इस रीति से 'तत्तद् ज्ञान' के

आकार से 'विषयत्व' का नियन्त्रण (नियमन) किया जा सकता है। अतः 'ज्ञान-विषयता' के नियमनार्थ 'ज्ञातता' की कल्पना उचित नहीं है।

किन्तु यह कथन भी ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'तत्तद् ज्ञान' में 'तत्तद् अर्थविषयकत्व' से अतिरिक्त 'तत्तद् अर्थाकारत्व' असिद्ध है। अतः 'आकार' से 'विषयता' का नियमन करना शक्य नहीं है।

सौत्रान्तिक बौद्ध के मतानुसार बाह्यपदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करके 'ज्ञान' को तज्जन्य (विषयजन्य) तदाकार माना जाता है। इनके मत में 'घट' और 'घट-ज्ञान' का 'तादात्म्य' (तदाकारता) माना जाता है। इसलिए 'घटज्ञान' का विषय 'घट' ही होता है, 'पट' नहीं। अतः 'ज्ञानविषयता' के नियमनार्थ 'ज्ञातता' की कल्पना करना अनावश्यक है। किन्तु 'तादात्म्य' के आधार पर भी 'विषय' नियमन करना उचित नहीं है, क्योंकि 'ज्ञान' और 'विषय' दोनों नितान्त भिन्न-भिन्न हैं। 'घटादि' विषयों का बाह्य अस्तित्व है और उससे भिन्न 'ज्ञान' का अस्तित्व आभ्यन्तर है। इसलिये भिन्नदेश होने के कारण 'घट' और 'ज्ञान' का तादात्म्य नहीं हो सकता है। एवं च 'विषय' का नियमन 'तदुत्पत्ति' पक्ष से या 'तादात्म्य' पक्ष से भी नहीं बन पा रहा है। उसका उपपादन एकमात्र 'ज्ञातता' के आधार पर ही हो सकता है। 'घटज्ञान' से उत्पन्न हुई 'ज्ञातता' केवल 'घट' में ही रहती है, 'पट' में नहीं। इसलिये 'घटज्ञान' का विषय 'घट' ही होता है, 'पट' नहीं। इस रीति से 'ज्ञातता' के आधार पर ही 'विषय का नियमन' हो सकता है, अन्यथा नहीं। एवं च 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति' ही 'ज्ञातता' के होने में प्रमाण है।

'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति' से जब 'ज्ञातता' की प्रतीति हो जाती है, तब वह (ज्ञातता) अपने उत्पादककारणरूप 'ज्ञान' को 'ज्ञातान्यथानुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति' प्रमाण से सिद्ध कर देती है। और उसी '**अर्थापत्ति**' से 'ज्ञानगत प्रामाण्य' की भी प्रतीति हो जाती है। एवं च ज्ञानग्राहक सामग्री और प्रामाण्यग्राहक सामग्री के एक ही रहने से **ज्ञानग्राहकातिरिक्ताऽनपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्** यह 'स्वतःप्रामाण्य' का लक्षण पूर्णरूपेण समन्वित हो जाता है। इसलिये 'मीमांसक' ने '**स्वतःप्रामाण्य**' वाद को ही माना है।

'मीमांसक' सम्मत स्वतःप्रामाण्य का 'नैयायिक' के द्वारा खण्डन—

'स्वतःप्रामाण्य' के विपरीत 'नैयायिक' अपने सिद्धान्त को उपस्थित करते हुए कहता है कि 'मीमांसक' ने 'विषय–विषयिभाव' के उपपादनार्थ 'ज्ञातता' को जो स्वीकार किया है, वह अनुचित है। क्योंकि 'ज्ञातता' के आधार पर 'विषय-विषयि-भाव' को मानने में दो दोष प्रसक्त होंगे। एक दोष तो यह होगा कि अनागत (भविष्यद्) और अतीत (भूतकाल) के पदार्थ, कभी भी 'ज्ञान' के विषय नहीं हो

सकेंगे। क्योंकि मीमांसकों के मत में 'ज्ञान' का 'विषय' वही हो सकता है, जो 'ज्ञान' से उत्पन्न (जन्य) हुई 'ज्ञातता' का आधार होता हो। वर्तमान कालीन 'ज्ञातता' का आधार तो वर्तमान 'पदार्थ' ही हो सकता है। क्योंकि अतीत और अनागत वस्तुओं (पदार्थों) का वर्तमानकाल में तो अस्तित्व ही नहीं है। उस स्थिति में 'ज्ञान' से उत्पन्न होने वाली 'ज्ञातता', उन अतीतादि पदार्थों में कैसे रह सकेगी? एवं च 'ज्ञातता' के आधार पर 'विषयनियम' को मानने पर 'अतीत-अनागत पदार्थों' को 'ज्ञान' का विषय नहीं कह पायेंगे। अतः 'विषयनियमन' को स्वाभाविक ही कहना चाहिये।

'ज्ञातता' के आधार पर 'विषय-विषयिभाव' मानने पर दूसरा दोष 'अनवस्था' नाम से उपस्थित होगा। क्योंकि 'ज्ञानजन्य ज्ञातता' का जो 'ज्ञान' होगा, उस ज्ञान का 'विषय' स्वयं 'ज्ञातता' होगी। किन्तु वह (ज्ञातता) तभी विषय बन सकेगी, कि जब वह स्वयं, 'ज्ञानजन्यज्ञातता' का आधार बनेगी। एवं च 'एक ज्ञातता' में ज्ञान की विषयता सिद्ध करने के लिये उसमें दूसरी 'ज्ञातता' माननी होगी। वह 'दूसरी ज्ञातता' भी अपने 'ज्ञान' का 'विषय' होती है। उसमें 'तीसरी ज्ञातता' माननी होगी। इस रीति से—एक में दूसरी, दूसरी में तीसरी, तीसरी में चौथी, इस प्रकार से एक पर एक मानते रहने की विश्रान्ति कभी होगी ही नहीं। इसी को 'अनवस्था' दोष कहते हैं। इस कारण 'ज्ञातता' के आधार पर 'विषय-नियम' (विषय-विषयिभाव) नहीं माना जा सकता। क्योंकि उसके न मानने में 'अनवस्था' दोष बाधक हो रहा है। अतः 'विषय नियम' को स्वाभाविक ही कहना चाहिये। एवं च नैयायिकसम्मत 'ज्ञान-विषयता' से भिन्न 'ज्ञातता' नाम की कोई वस्तु नहीं है।

अस्तु वा ज्ञातता तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा प्रमाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य। अथ केनचिज्ज्ञाततविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते। एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुम्। केनचिज्ज्ञातताविशेषेण अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्येते इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्।

अस्त्विति। नैयायिक कहता है कि यदि भट्टपाद के प्रति आदर होने से 'ज्ञातता' को स्वीकार भी कर लें तो भी 'ज्ञातता' मात्र से 'ज्ञान' का ग्रहण होता है। अर्थात् यथार्थज्ञान हो चाहे अयथार्थज्ञान हो सभी प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की 'ज्ञातता' से 'ज्ञान' का ग्रहण हो ही जायेगा। **ज्ञाततविशेषेणेति।** और 'प्रमाणज्ञान' के साथ नियमपूर्वक (निश्चितरूप से) रहने वाली यानी अव्यभिचारिणी 'विशेष प्रकार की ज्ञातता' से 'प्रामाण्य' का ग्रहण होता है। तब 'ज्ञान और प्रामाण्य' दोनों की ग्राहकसामग्री एक ही है—यह कैसे कहा जायेगा? अर्थात् ज्ञानग्राहकसामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण भी हो जाता है—यह कैसे कह सकते हैं? **अथ केनचिदिति।** इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि प्रमाणज्ञान के अव्यभिचारी (यथार्थज्ञान से

उत्पन्न हुए) किसी 'ज्ञाततविशेष' से 'ज्ञान' और उसके 'प्रामाण्य' का ग्रहण एक साथ ही होता है। **एवं चेदिति।** तब तो यह भी कह सकते हैं कि अप्रमाणज्ञान की अव्यभिचारिणी किसी ज्ञाततविशेष (अयथार्थ अथवा भ्रमज्ञान से उत्पन्न हुई ज्ञातता) से 'ज्ञान' और उसके अप्रामाण्य का ग्रहण भी एक साथ ही होता है। अतः 'प्रामाण्य' को भी स्वतोग्राह्य ही कहना चाहिये। मीमांसक तो 'अप्रामाण्य' को 'परतोग्राह्य' मानते हैं। और 'प्रामाण्य' को स्वतोग्राह्य बताते हैं।

माधुरी

'यथार्थज्ञान' से जिस प्रकार 'ज्ञातता' उत्पन्न होती है उसी प्रकार अयथार्थ-ज्ञान से भी ज्ञातता उत्पन्न होगी तब 'यथार्थज्ञानजन्यज्ञातता' से यदि 'ज्ञान' और उसके 'प्रामाण्य' दोनों का ग्रहण होता है, तो 'अयथार्थज्ञानजन्यज्ञातता' से 'ज्ञान' और उसके 'प्रामाण्य' का ग्रहण भी एक साथ होता है—यह कहना होगा। अभिप्राय यह है कि जिस 'ज्ञातान्यथानुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति' से 'प्रामाण्य' का ग्रहण होता है, उसी अर्थापत्ति से 'अप्रामाण्य' का भी ग्रहण हो सकता है। एवं च 'प्रामाण्य' और अप्रामाण्य दोनों को ही 'स्वतः' ही मानना चाहिये।

नैयायिक कहता है कि दोनों के समान रहने पर मीमांसक की तरह हम उनमें वैषम्य दृष्टि नहीं रखते हैं। परतः प्रामाण्यवादी हम नैयायिकों के मत में 'ज्ञान' और तद्गत 'प्रामाण्य' दोनों की ग्राहकसामग्री भिन्न-भिन्न है। 'अनुव्यसाय' से तो 'ज्ञान' का ग्रहण होता है और तद्गत 'प्रामाण्य' या 'अप्रामाण्य' का ग्रहण 'प्रवृत्तिसाफल्य' या 'प्रवृत्तिवैफल्य' मूलक अनुमान से क्रमशः होता है। दोनों की (ज्ञान और प्रामाण्य या अप्रामाण्य की) ग्राहक सामग्री भिन्न-भिन्न रहने से हम परतः प्रामाण्य को ही स्वीकार करते हैं। 'अयं घटः' इत्याकारक जो प्रथम ज्ञान है, उसे हम 'व्यवसाय' ज्ञान कहते हैं। उसके अनन्तर 'घटज्ञानवानहम्' अथवा 'घटमहं जानामि' इत्याकारक जो 'ज्ञान' होता है, अर्थात् 'ज्ञानविषयक ज्ञान', उसे हम 'अनुव्यवसाय' ज्ञान कहते हैं। इसी 'अनुव्यवसाय' से पूर्वोत्पन्न 'ज्ञान' का ग्रहण होता है।

मीमांसक के मत में 'ज्ञातता' की उत्पत्ति भी 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान से होती है, और नैयायिकों के मत में 'अनुव्यवसाय' की उत्पत्ति भी 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान से ही होती है। तथापि दोनों में भेद यह है कि मीमांसक की 'ज्ञातता' **तो 'घट' में रहने वाला एक धर्म है।** किन्तु नैयायिकों का 'अनुव्यवसाय', 'घट' में रहने वाला धर्म नहीं है, वह तो **'आत्मा' में रहनेवाला धर्म है।**

अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्। ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः। ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथाहि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा, फलवती, अफला चेति। तत्र या

फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यंलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते । प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् । यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी ।

अर्थेवमिति । इस पर भी (हमारी युक्तियुक्त उक्ति को सुनकर भी) 'अप्रामाण्य' को 'परतोग्राह्य' ही यदि कहते हो तो 'प्रामाण्य' को भी 'परतोग्राह्य' मान लो । यानी ज्ञानग्राहकसामग्री के अतिरिक्त किसी अन्य सामग्री के द्वारा ही 'प्रामाण्य' का ग्रहण होता है, इसे मान लेना चाहिए । अपने आग्रह को त्याग दीजिये—यह अर्थ है । **ज्ञानं हीति ।** 'ज्ञान' का ग्रहण मानसप्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) से होता है । और 'प्रामाण्य' का ग्रहण प्रवृत्तिसाफल्यमूलक 'अनुमान' से होता है । **तथा हीति ।** इस विषय को इस प्रकार समझिये, जैसे—जलज्ञान के बाद जलार्थी पुरुष की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती हुई देखने में आती है । अर्थात् एक सफल प्रवृत्ति और दूसरी निष्फल प्रवृत्ति यानी विफल प्रवृत्ति । उसमें से जो सफल (फलवती) प्रवृत्ति है, उसे 'समर्था' कहते हैं । उस समर्था प्रवृत्ति से पूर्व हुए उस ज्ञान का यथार्थ्यरूप प्रामाण्य अनुमित किया जाता है । अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्'—संदिग्ध (विवादग्रस्त) जलज्ञान, प्रमाण है, क्योंकि उससे प्रवृत्ति सफल हुई है यानी वह (जलज्ञान) सफल प्रवृत्ति का जनक है । जो सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं हो पाता, वह प्रमाण नहीं होता है, जैसे 'प्रमाणाभास'—यह 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान है ।

माधुरी

मीमांसक 'अप्रामाण्य' को यदि 'परतः' स्वीकार करते हैं तो वे 'प्रामाण्य' को भी 'परतः' मान लें । किन्तु मीमांसक ऐसा स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है । वह 'प्रामाण्य' को तो 'स्वतः' कहता है, किन्तु 'अप्रामाण्य' को 'करणदोष' जन्य यानी 'परतः' मानता है । उस पर नैयायिक का कहना है कि जब 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य' दोनों की एक-सी स्थिति है, तो दोनों को ही 'स्वतः' मान लो अथवा दोनों को ही 'परतः' मान लो । दोनों की स्थिति समान रहते हुए भी एक को 'स्वतः' कहना और दूसरे को 'परतः' कहना उचित नहीं है ।

अत्र च फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत्पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं याथार्थ्यमित्यर्थः । न तु प्रमाकरणत्वं, स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः । हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत् ।

अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते । तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति ।

अत्रेति । यहाँ व्यतिरेकी अनुमान में सफल प्रवृत्ति का जनक जो 'जलज्ञान' है, वह 'पक्ष' है। और उसका प्रामाण्य (याथार्थ्य) 'साध्य' है। 'स्मृति' में व्यभिचरित हो जाने से 'प्रमाकरणत्व' को यहाँ 'साध्य' नहीं समझना चाहिए। और साध्यरूप 'प्रामाण्य' का साधक जो 'हेतु' है, वह 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्व' है। अर्थात् सफल (समर्थ) प्रवृत्ति का जनक होना यह 'हेतु' है।

अनेनेति । इस केवलव्यतिरेकी अनुमान से 'अभ्यासदशापन्न' ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाने पर उसको दृष्टान्त मानकर जलप्रवृत्ति के पहिले भी 'तज्जातीयत्व' रूप लिङ्ग (हेतु) से 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान के द्वारा 'अनभ्यासदशापन्न' ज्ञान के प्रामाण्य का भी अनुमान कर लिया जाता है। **तस्मादिति** । इसलिए 'परतः प्रामाण्य' ही स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि ज्ञानग्राहक सामग्री से ही उसके 'प्रामाण्य' का ग्रहण नहीं होता है।

माधुरी

पहले बता चुके हैं कि प्रत्यक्षज्ञान 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' के भेद से दो प्रकार का होता है। हमारा सम्पूर्ण व्यवहार 'सविकल्पक' से ही हुआ करता है, तथापि 'सविकल्पक' का मूल 'निर्विकल्पक' ही रहता है। 'निर्विकल्पक' के पश्चात् ही 'सविकल्पक' ज्ञान होता है। यही 'सविकल्पक' ज्ञान, प्रत्येक वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान कराता है। इसी सविकल्पक ज्ञान से प्रत्येक वस्तु के नाम, जाति, रूपरंग, परिमाण आदि का निश्चय होता है। इस 'निश्चयात्मक ज्ञान' को ही 'व्यवसायज्ञान' कहते हैं। जैसे 'यह घट है' 'यह गृह है', 'यह आदमी है' इत्यादि। इस व्यवसायात्मकज्ञान के अनन्तर (अनु) 'मया ज्ञातोऽयं घटः'—मैंने यह घट जान लिया है, अथवा 'घटमहं जानामि'—मैं घट को जानता हूँ—इस आकार में पुनः 'ज्ञान' होता है। इसी द्वितीयज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। 'व्यवसाय' ज्ञान के पश्चात् (बाद) होने से इस द्वितीयज्ञान को 'अनुव्यवसाय' ज्ञान कहते हैं। 'अयं घटः' इत्यादि घटविषयक ज्ञान 'व्यवसायात्मकज्ञान' है। इस ज्ञान में 'घट' का ज्ञान होने से 'घट' विषय है। इसके पश्चात् 'मया ज्ञातोऽयं घटः' अथवा 'घटमहं जानामि' इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध जो ज्ञान होता है, इसमें 'घटज्ञान' का 'ज्ञान' होता है, इसलिए यहाँ पर 'द्वितीय ज्ञान' का विषय 'पूर्वज्ञान' होता है। अर्थात् पूर्व हुआ 'घटज्ञान' (व्यवसायात्मक ज्ञान) इस द्वितीय ज्ञान (अनन्तरोत्पन्न अनुव्यवसायात्मकज्ञान) का 'विषय' होता है। अभिप्राय यह है कि 'अनुव्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्षरूप **ज्ञान**' से पूर्व हुए व्यवसायात्मक 'अयं घटः अस्ति' इत्याकारक '**ज्ञान**' का **प्रत्यक्ष** होता है।

'व्यवसायज्ञान' के मानसप्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) से जिस प्रकार 'ज्ञान' होता है, उसी प्रकार इस 'ज्ञानगत प्रामाण्य' का 'ज्ञान' (ग्रहण) मानस प्रत्यक्ष से नहीं किया जाता। यदि 'व्यवसाय ज्ञान' का ज्ञान (ग्रहण) होने के साथ ही 'तद्गत

प्रामाण्य' का भी ज्ञान (ग्रहण) हुआ करता तो 'अनुव्यवसायज्ञान' के पश्चात् जो सन्देह हुआ करता है, वह न होता।

इस सर्वानुभवसिद्ध परिस्थिति की ओर देखते हुए नैयायिक कहता है कि 'व्यवसायात्मकज्ञान' के 'प्रामाण्य' या 'अप्रामाण्य' का निश्चय, किसी वस्तु के उपादान (ग्रहण) या हान (त्याग) की चेष्टारूप प्रवृत्ति को देखकर 'अनुमान' से किया जाता है। वह 'प्रवृत्ति' सफला और विफला भेद से दो प्रकार की हुआ करती है। प्रवृति के सफल होने पर 'ज्ञान' का 'प्रामाण्य' (यथार्थता), जैसे होता है उसी तरह प्रवृत्ति के विफल होने पर 'ज्ञान' के 'अप्रामाण्य' (अयथार्थता) को 'अनुमान' से निश्चित किया जाता है। इस बात को ग्रन्थकार ने 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान का प्रयोग करके दिखाया है। क्योंकि इस प्रसंग में 'अन्वय-व्यतिरेकी' अनुमान प्रयोग नहीं हो सकेगा। 'जलज्ञान' में 'प्रामाण्य' की सिद्धि करना है, इसलिये 'सफल प्रवृत्ति के जनक 'जलज्ञान' को 'पक्ष' कहा गया है। जलज्ञान में 'प्रामाण्य' का सन्देह है, और वही (प्रामाण्य) साध्य है। जिस में 'साध्य' का सन्देह रहता है, उसे 'पक्ष' कहते हैं—'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः'।

प्रमाण के भाव को 'प्रामाण्य' (यथार्थत्व या याथार्थ्य) कहते हैं। किन्तु 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षण के अनुसार 'प्रमाण' का अर्थ 'प्रमा का करण' होगा, तब 'प्रामाण्य' का अर्थ 'प्रमाकरणत्व' होना चाहिये। अतः 'प्रामाण्य' का अर्थ 'याथार्थ्य' या 'यथार्थता' कैसे किया जा रहा है? ग्रन्थकार ने इसका उत्तर 'स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः' कहकर दिया है। उनका कहना है कि 'प्रामाण्य' का अर्थ यदि 'प्रमाकरणत्व' करेंगे और उसको यदि 'साध्य' बनावेंगे तो 'यथार्थ स्मृति' में 'प्रामाण्य' नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'सफलप्रवृत्तिजनकत्व' रूप हेतु, उस 'साध्य' का व्यभिचारी हो जायेगा। तब अनुमान ही नहीं हो पायेगा।

अभिप्राय यह है कि 'स्मृति' और 'अनुभव' दोनों ही 'यथार्थ' और 'अयथार्थ' भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। यथार्थ अनुभव को ही 'प्रमा' कहते हैं और उसके 'करण' को 'प्रमाण' समझते हैं। इस पारिभाषिक 'प्रमाण' शब्द से 'यथार्थस्मृति' गृहीत नहीं होती है। क्योंकि यथार्थस्मृति 'प्रमा' की कोटि में नहीं है। इस प्रसंग में 'प्रमाकरणत्वरूप प्रामाण्य' को साध्य बनाकर उसकी सिद्धि केलिये 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्व' को हेतु बनावें तो उसमें व्यभिचार दोष होने से वह 'अनैकान्तिक' असद् हेतु हो जायेगा। उदाहरणार्थ—किसी वस्तु को हमने किसी जगह पर रखा हुआ देखा था। दूसरे दिन उस वस्तु की आवश्यकता होने पर हमें स्मरण हो आया कि वह 'वस्तु' अमुक जगह पर रखी है। इस प्रकार स्मरण हो आने से हम उस वस्तु को लेने के लिये प्रवृत्त हुए और वह 'वस्तु' उसी जगह पर मिल गई। ऐसे स्थलों में 'स्मृति' भी समर्थ (सफल) प्रवृत्ति की जनक तो है, किन्तु इसमें (स्मृति में) 'समर्थप्रवृत्ति-

जनकत्व' रूप जो हेतु है, वह तो विद्यमान है, किन्तु यहाँ साध्य जो प्रामाण्य (प्रमा-करणत्व) है, वह नहीं है। अतः उक्त हेतु, व्यभिचारी हो जाने से असद्धेतु हो गया है। इसलिए उक्त अनुमान प्रयोग में 'प्रामाण्य' शब्द से 'याथार्थ्य' को ही समझना चाहिये। तब कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि ऐसी स्मृति भी एक 'यथार्थ ज्ञान' ही है। एवं च यहाँ पर 'ज्ञान की यथार्थता' ही प्रामाण्य शब्द का अर्थ है।

इस केवलव्यतिरेकी अनुमान से 'अभ्यासदशापन्न ज्ञान' में 'प्रामाण्य' का ज्ञान होने पर उसी दृष्टान्त से 'तज्जातीयत्व' हेतुक अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से अनभ्यास-दशापन्न ज्ञान में भी प्रामाण्य की प्रतीति जलप्रवृत्ति के पूर्व भी हो जाती है। यह प्रामाण्यप्रतीति हमेशा 'परतः' ही होती है। स्वतः कभी नहीं होती। क्योंकि ज्ञानग्राहक सामग्री के अतिरिक्त तद्गतप्रामाण्यग्राहक सामग्री रहती है। एक ही सामग्री से दोनों सम्पन्न नहीं होते हैं।

चत्वार्येव प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम्।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत्॥

इति प्रमाणपदार्थः समाप्तः।

चत्वार्येवेति। इस ग्रन्थ में तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने बालकों के बोधार्थ संक्षिप्त युक्तियों के साथ न्यायशास्त्रसम्मत चार ही प्रमाणों का वर्णन किया है।

इति प्रमाणपदार्थनिरूपणं समाप्तम्।

अथ प्रमेयनिरूपणम्

प्रमाणान्युक्तानि, अथ प्रमेयाण्युच्यन्ते ।

'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्'[1] इति सूत्रम् ।

प्रमाणानीति । न्यायशास्त्रसम्मत **'प्रमाणों'** को बता दिया गया । उसके बाद अब **'प्रमेयों'** को बताया जा रहा है ।

आत्मेति । (१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अर्थ, (५) बुद्धि, (६) मन, (७) प्रवृत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव, (१०) फल, (११) दुःख (१२) अपवर्ग—ये **बारह 'प्रमेय'** हैं । न्याय दर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक का यह नवाँ सूत्र है । साधारणतया 'प्रमा' (यथार्थ ज्ञान) के विषय को **'प्रमेय'** कहते हैं । किन्तु 'प्रकरण' के अनुसार यहाँ पर उस **प्रमा** के विषय को **'प्रमेय'** कहा गया है, जिसके 'ज्ञान' से **निःश्रेयस** (मोक्ष) की उपलब्धि में सहायता प्राप्त होती है । इन प्रमेयों के मिथ्या ज्ञान से मनुष्य संसारसमुद्र में डूबा रहता है । किन्तु इनके 'तत्त्वज्ञान' से मनुष्य संसारसमुद्र में डूबने से बचता है और मुक्त हो जाता है ।

(१) आत्मनिरूपणम्

तत्रात्मत्वसामान्यवानात्मा । स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च । स च मानसप्रत्यक्षः । विप्रतिपत्तौ तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः । तथा हि बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः, अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् । गुणश्च गुण्याश्रित एव ।

उक्त बारह प्रमेयों में से पहिले प्रमेय को बता रहे हैं—क्योंकि वही (आत्मा ही) बारह प्रमेयों में प्रधान हैं ।

तत्रेति । 'आत्मत्व' सामान्य (जाति) जिस पर रहता है उसे **'आत्मा** कहते हैं । **स चेति ।** वह देह, इन्द्रिय आदि से व्यतिरिक्त (पृथक्) है । वह प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक्, नित्य और विभु (व्यापक) है तथा **मानसप्रत्यक्ष** का विषय है यानी उसका ज्ञान, मानसप्रत्यक्ष से होता है । **विप्रतिपत्ताविति ।** उसकी प्रत्यक्षगम्यता में मतभेद (विप्रतिपत्ति) होने पर उसे बुद्धि आदि गुणलिङ्गक बताते हुए अनुमानगम्य बताते हैं और उससे (अनुमान से) 'आत्मा' की सिद्धि की जाती है । क्योंकि

---

१. न्यायसूत्र १. १. ९ ।

'बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न'—इन गुणों की प्रत्यक्षसिद्धता में (अस्तित्व में) किसी का भी मतभेद नहीं है। इन गुणों का अस्तित्व सभी को स्वीकार है। इसलिये इन गुणरूप लिङ्गों (हेतुओं) से उनके आश्रयभूत देह आदि से भिन्न 'आत्मा' का अनुमान सरलता से हो सकता है।

शंका—यह कहना तो ठीक है कि 'गुण' निराश्रय नहीं रहते। इसलिये उन बुद्धि आदि गुणों के आश्रयरूप में 'आत्मा' का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु जब तक बुद्धि आदि पदार्थों में 'गुणत्व' सिद्ध न किया जाय, तब तक उनके आश्रय के रूप में 'आत्मा' को आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं? क्योंकि यदि बुद्धि आदि में गुणत्व न हो कर कुछ अन्य ही हो तो वे 'बुद्धि' आदि निराश्रय भी रह सकते है। अतः 'बुद्धि' आदि के द्वारा 'आत्मा का अनुमान करने के पूर्व उनमें 'गुणत्व' का अनुमान प्रदर्शित करिये। अतः अनुमान प्रयोग इस प्रकार कर रहे हैं।

तथा होति। बुद्धि आदि अनित्य हैं, तथापि वे केवल एक इन्द्रिय से ही ग्राह्य होने के कारण 'गुण' हैं। 'गुण', गुणी के **आश्रित** ही रहता है।

माधुरी

निरूपित और निरूपयिष्यमाण (वृत्त-वर्तिष्यमाण) दोनों की संगति प्रदर्शित करने के लिये निरूपित विषय का अनुवादमात्र करते हुए निरूपयिष्यमाण विषय को बता रहे हैं। प्रमाण निरूपण करने के पश्चात् उन प्रमाणों के द्वारा प्रमातव्य (बोद्धव्य) क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर 'प्रमेय' निरूपण करना उचित ही है। न्यायसूत्र के द्वारा 'प्रमेयविभाग' का बोधन कराया गया है। 'प्रमा' का जो विषय होता है उसे **प्रमेय** कहते हैं **'सामान्येन नपुंसकं प्रयोक्तव्यम्'**—इस नियम के अनुसार सामान्याभिप्राय से 'नपुंसकलिंग' का निर्देश किया है। 'आत्मा' से लेकर 'मोक्ष' तक **द्वादश प्रमेय** हैं। सूत्रकार ने 'आत्मा आदि प्रमेयों' का जिस क्रम से निर्देश किया है, वह भी हेतु पुरःसर है। 'भाक्तृत्वेन' प्रधानता होने से **आत्मा** का प्रथम उद्देश (नाम ग्रहण) किया हैं। तदनन्तर भोक्ता के **शरीर** (भोगायतन) का, तदनन्तर शरीरसंयुक्त रहने से ज्ञानसाधन **चक्षुरादि इन्द्रिय का,** तदनन्तर इन्द्रिग्राह्य द्रव्यादि **अर्थ** का, तत्पश्चात् अर्थ-प्रकाशरूप **बुद्धि** का, तदनन्तर बुद्धिसाधनभूत **मन** का तदनन्तर—'इष्टअनिष्ट बुद्धि के प्रति कारणभूत' प्रवृत्तिलक्षण **अदृष्ट** का, तदनन्तर 'धर्म-अधर्म का कारणीभूत' प्रवर्तना-लक्षण **रागादिदोष** का, तत्पश्चात् 'अतीत-अतागत जन्मदर्शनात्' न्याय से जन्म होने के बाद जन्मान्तर (पूर्वजन्म) के अनुभव की सूचक स्तन्यपान आदि प्रवृत्तिरूप हेतु से (प्रवृत्ति से) **आत्मा** का अनादित्व सिद्ध हो जाता है। इसलिये एक ही आत्मा के स्व-उपार्जित अदृष्टवशात् अनेक (नाना) शरीरत्याग का, जो उसके (आत्मा के) साथ संबंध (योग) रहता है, वही 'प्रेत्यभाव' (मरण) है, उस **प्रेत्यभाव** का

नामग्रहण किया गया है, तदनन्तर पुनः उत्पन्न हुए (जात) प्राणी को ही सुख-दुःख का का अनुभव होता है, इसलिये तत्स्वरूप (सुख-दुःखरूप) **फल** का, तदनन्तर शरीरादि विंशति तत्त्व भी दुःखरूप होने से उसकी हेयता को सूचित करने के लिये पीडारूप **दुःख** का उसके समनन्तर ही एकविंशति प्रभेदभिन्न दुःखों की आत्यन्तिकनिवृत्ति का अर्थात् **अपवर्ग (मोक्ष)** का निर्देश किया गया है—यही कार्य-कारणभाव सौत्रक्रम में नियामक है। 'आत्मा' से लेकर 'मोक्ष' तक बारह प्रमेयों में से प्रथम प्रमेय **'आत्मा'** का लक्षण—**'आत्मत्वसामान्यवान् आत्मा'**—किया गया है। क्योंकि 'लक्षण' के द्वारा ही 'लक्ष्यभूत पदार्थ' को सजातीय-विजातीय पदार्थों से भिन्न किया जा सकता है। प्रमेयभूत 'आत्मा' के सजातीय पदार्थ 'शरीर' आदि सभी प्रमेय हैं, क्योंकि सभी में **'प्रमेयत्व'** धर्म समानरूप से है। और 'प्रमाण' आदि 'विजातीय पदार्थ' हैं। इन सभी 'सजातीय-विजातीय' पदार्थों में 'आत्मत्व' जाति नहीं रहती। वह तो केवल 'आत्मा' पर ही रहती है। अतः 'आत्मत्वजाति (सामान्य) मान् को ही 'आत्मा' कहा गया है।

शंका—यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को 'अहमस्मि'—मैं हूँ—यह मानसप्रतीति हुआ करती है। उस मानसप्रतीतिरूप अनुभव को 'अहं करोमि, अहं जानामि, अहंमिच्छामि, अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यादि शब्दों से प्रत्येक व्यक्ति प्रकट करता रहता है। अतः इस प्रतीति का जो आधार (आलम्बन) है, उसी को 'आत्मा' कहना चाहिये। इस प्रकार 'आत्मा' का अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। तब उसका अलग से लक्षण करने की क्या आवश्यकता है?

समा०—तथापि 'धर्मम्प्रति विप्रतिपन्ना बहुविदः' इस न्याय से आत्मा के स्वरूप आदि के विषय में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं। अर्थात् 'अहं सुखी, अहं जानामि' इत्यादि रूपों में 'आत्मा' का **मानस प्रत्यक्ष** सभी को होता है, तथापि कुछ लोग उस अनुभव के बारे में विप्रतिप्रत्ति करते हैं कि 'मैं' (अहम्) शब्द से 'आत्मा' का ज्ञान न होकर 'देह, इन्द्रिय, अथवा मन' का ही उससे ग्रहण होता है। क्योंकि 'ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख' आदि के साधनों (विषयों) का साक्षात्, सम्बन्ध, **'देह'** से ही रहता है। 'शरीर, इन्द्रिय, मन' में ही उनकी उत्पत्ति और अनुभव होता रहता है। अतः इनमें से ही किसी को 'आत्मा' कहना उचित होगा। इनसे भिन्न 'आत्मा' नाम की कोई वस्तु (पदार्थ) नहीं है। ऐसा माननेवालों के भ्रम का निरसन करने के लिये स्वाभिमत (न्याय-वैशेषिक-सम्मत) **'आत्मस्वरूप'** को ग्रन्थकार ने बताया है। **'आत्मा'** के सम्बन्ध में **चार सिद्धान्त** किये गये हैं—

(क) देहादिव्यतिरिक्तः, (ख) प्रतिशरीरं भिन्नः, (ग) विभुः, (घ) नित्यः।

(क) देहादिव्यतिरिक्तः—यह आत्मा, सशिरस्कपिण्ड (देह) तथा चक्षुरादि इन्द्रिय से, तथा 'आदि' शब्द से 'मन' को समझना चाहिये, इन तीनों से भिन्न (व्यतिरिक्त) है।

इस सम्बन्ध में चार्वाक (चारुवाक्) नाम का नास्तिक दार्शनिक अपना विचार उपस्थित करता है—

(१) **चार्वाक**—'पृथिव्यादि भूतों' से 'चैतन्य' की उत्पत्ति वैसे ही होती है, जैसे किण्वादि से मदशक्ति उत्पन्न होती है। और 'स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्'—मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ—इत्यादि प्रयोगों से भी देह में ही 'अहम्' की प्रतीति होती है। क्योंकि 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि प्रयोगों में 'समानाधिकरण्य' का अनुभव होता है। एवं 'स्थूलत्व' आदि देह के ही धर्म हैं। तदतिरिक्तत्वेन 'अहमर्थ' का परिग्रह न होने से 'चैतन्य-विशिष्टदेह' ही 'आत्मा' है—यह 'मत' भूतचतुष्टयवादी चार्वाक का है।

(२) **एक अन्य चार्वाक**—'सुषुप्ति अवस्था' में शरीर के अस्तित्व में भी 'चक्षुरादि इन्द्रियों' का उपरम होने से 'रूप' आदि का ज्ञान नहीं होता है। 'वरगोष्ठी' के समान 'परस्पर गुण-प्रधान भाव' से अनुरोध (अनुसरण) करना संभव न होने से तथा 'काणोऽहम्, मूकोऽहम्'—मैं काना हूँ, मैं गूँगा हूँ—इत्यादि प्रयोगों से, और 'इन्द्रिय धर्मों' (काणत्व, मूकत्वादि धर्मों) का सामाधिकरण्य दृष्टिगत होने से 'इन्द्रियाँ' ही 'अहम्' प्रतीति का आलम्बन है—ऐसी प्रतीति होती है—ऐसा कहता है। अर्थात् 'इन्द्रियाँ' ही 'आत्मा' हैं।

(३) **एक अन्य चार्वाक**—स्वप्नावस्था में चक्षुरादि इन्द्रियों का उपरम होने-पर भी (इन्द्रियों का व्यापार रुक जाने पर भी) 'मन' से ही समस्त व्यवहार होते रहते हैं। अतः 'अहम्' का अर्थ 'मन' ही है। अर्थात् 'मन' ही 'आत्मा' है। इस प्रकार मन-आत्मवादी चार्वाक अपने मत को उपस्थित करता है।

इन सभी चर्वाकों के मतों के निरसनार्थ ग्रन्थकार ने कह दिया है कि 'आत्मा' तो 'देह, इन्द्रिय और मन' इन तीनों से भिन्न है। अर्थात् न 'देह' आत्मा है, न 'इन्द्रियाँ' ही 'आत्मा' है, तथा न 'मन' ही 'आत्मा' है।

(ख) प्रतिशरीरं भिन्नः—प्रत्येक शरीर (देह) में अलग-अलग (भिन्न-भिन्न) 'एक-एक' 'आत्मा' है। **वेदान्तियों** का मत है कि जैसे 'एक' ही **'आकाश'** भिन्न-भिन्न-उपाधियों के कारण 'घटाकाश, मठाकाश' के रूप में अलग-अलग प्रतीत होता है, वैसे ही एक ही ब्रह्म (आत्मा), शरीररूप उपाधि के भेद से 'अनेक' भासित होता है। वस्तुतः 'ब्रह्म' (आत्मा) एक ही है—यह वेदान्तियों का मत है। उसका खण्डन 'प्रतिशरीरं भिन्नः' कहकर कर दिया गया है।

(ग) विभुः—'आत्मा' व्यापक (विभु) है। 'आत्मा' के 'परिमाण' के सम्बन्ध में रामानुजादि कुछ वैष्णवों के विचार भिन्न हैं। वे आत्मा का परिमाण 'अणु' कहते हैं। जैनदार्शनिक 'आत्मा' का 'मध्यमपरिमाण' (देहपरिमाण) बताते हैं। शरीर के छोटे-बड़े परिमाण के अनुसार 'आत्मा' का भी संकोच विकासशील

परिमाण, 'दीपक की प्रभा' के समान होता है। अतः इनके मतों के निरसनार्थ 'आत्मा' का सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व' रूप **'विभु'** परिमाण ग्रन्थकार ने बताया है।

(घ) **नित्यः**—'आत्मा' नित्य है। बौद्धदार्शनिकों का कहना है कि 'पञ्चस्कन्ध' (रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध) से भिन्न 'आत्मा' नाम की कोई वस्तु नहीं है। 'अहम्' प्रतीति का आलम्बन 'पञ्चस्कन्ध' ही है, और वह **'क्षणिक'** है (प्रतिक्षण वह नवीन-नवीन उत्पन्न होता, और नष्ट होता रहता है)। इस बौद्धमत के खण्डनार्थ ग्रन्थकार ने 'आत्मा' को 'नित्य' बताया है।

शंका—'शरीर-इन्द्रिय आदि' से पृथक् 'आत्मा' के होने में कोई प्रमाण तो है नहीं क्योंकि आज तक किसी ने भी उसे शरीरादि से अलग रहता हुआ अपनी आँखों से देखा नहीं है। अतः 'आत्मा' है भी या नहीं ?

समा०—'चाक्षुष प्रत्यक्ष' से 'आत्मा' की पृथक् उपलब्धि न हो सकने पर भी 'मानसप्रत्यक्ष' (मन [मनस्] संज्ञक इन्द्रिय से किया जाने वाला प्रत्यक्ष) से 'आत्म-तत्त्व' (आत्मनामक वस्तु) की 'पृथक्' उपलब्धि हुआ करती है। एवं च 'आत्मा' के होने में 'मानस प्रत्यक्ष' प्रमाण है। घने से भी घने (निविड घने) अन्धकार में छिपा व्यक्ति, जिसे अन्य कोई भी व्यक्ति चक्षुरिन्द्रिय (आँख) से देख नहीं पा रहा है। न देख पाने के कारण उसकी अनुपलब्धि का निश्चय करके एक स्वर से कह देते हैं कि 'वह नहीं है'। सबके द्वारा उसके 'आस्तित्व' का निषेध होते रहने पर भी उस छिपे हुए व्यक्ति को 'अहमस्मि'—मैं हूँ—इस प्रकार से उसका 'मन' संज्ञक इन्द्रिय उसे (आत्मा को) देखकर बताता रहता है। 'मन' के द्वारा देखा जाना ही 'मानस प्रत्यक्ष' कहलाता है। अत एव 'उस व्यक्ति' को 'मैं हूँ' यह प्रतीति होती रहती है। एवं च उस 'आत्मा' के होने में यह 'मानस-प्रत्यक्ष' ही सबसे बड़ा प्रमाण है।

शंका—उक्त युक्ति से 'आत्मा' का अस्तित्व होने पर भी देह-इन्द्रियादि से उसकी भिन्नता (पृथक्त्व) तो सिद्ध नहीं हो पा रही है। अतः देह, इन्द्रिय, मन आदि में से ही किसी को 'आत्मा' समझ लिया जाय। इनसे भिन्न 'आत्मा' नाम की कोई वस्तु नहीं है।

समा०—इन देहात्मवादियों के साथ आत्मा के स्वरूप और उसके अस्तित्व का विचार करने के लिये अनुमान प्रमाण का प्रयोग कर रहे हैं। क्योंकि 'आत्मा' सब के प्रत्यक्ष का विषय रहने पर भी उसमें देहात्मवादियों को भ्रान्ति होने के कारण विप्रतिपत्ति हो रही है।

'देह, इन्द्रिय, मन' आदि वस्तुएँ (पदार्थ) अचेतन (जड़) हैं। किन्तु 'आत्मा' चेतन वस्तु है। अतः वह सभी 'जड़ वस्तुओं' से भिन्न है। तथा उसके भिन्न होने में दूसरी युक्ति यह है कि 'देह' (शरीर) का प्रत्यक्ष, बाह्येन्द्रिय 'चक्षु' अथवा 'त्वक्' से होता है। 'अन्तरिन्द्रिय मन' से नहीं। अतः 'देह' को 'आत्मा' नहीं कह सकते।

अब रही 'इन्द्रियों' की बात। 'इन्द्रियों' का प्रत्यक्ष न हो पाने से उन्हें अतीन्द्रिय कहा जाता है। इन्द्रियों के अस्तित्व की सिद्धि 'अनुमान' प्रमाण से की जाती है। अनुमान प्रयोग से चार्वाकैकदेशी के द्वारा सम्मत 'देहात्मवाद' का खण्डन हो जाता है।

अनुमान प्रयोग—'न तावद् देहस्य आत्मकत्वं सम्भवति बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् घटवत्'। यहाँ 'देह' पक्ष है, 'आत्मकत्वाभाव' साध्य है, 'बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' हेतु है, और 'घट' उदाहरण है। "जहाँ-जहाँ 'बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' रहता है, वहाँ-वहाँ 'आत्मकत्व' का सम्भव नहीं होता है', जैसे—घट"। इस अनुमान के बल पर 'देह' को 'आत्मा' नहीं कह सकते। और 'देह' को 'आत्मा' कहने में 'बाधक तर्क' भी उपस्थित होता है। वह बाधक तर्क यह है—'बचपन में जिन माता-पिता का 'मैंने' अनुभव किया था, वही मैं आज बुढ़ापे में भी उन मृत (नष्ट) हुओं का अनुभव कर रहा हूँ।' योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूत्वं स एव स्थाविरे प्रणष्टृन् अनुभवामि-इत्याकारक जो प्रतिसंधान होता है; वह नहीं बन पायेगा। क्योंकि 'बालशरीर' और 'स्थविरशरीर' कभी भी एक न होने से उसमें 'प्रत्यभिज्ञा' (वही यह शरीर है) की गन्ध भी नहीं है। अतः दोनों शरीर एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। जैसे बदर (बेर), आमलक (आँवला), बिल्व (बेलफल) का परिमाण भिन्न-भिन्न होने से उन्हें भिन्न समझा जाता है, वैसे ही बाल्य-कौमार-स्थविर अवस्था के शरीर भी भिन्न-भिन्न परिमाण के अधिकरण (भिन्न-भिन्न परिमाण वाले) होने से भिन्न-भिन्न ही हैं, वे भिन्न-भिन्न शरीर एक ही नहीं हैं।

तथा किण्वादि से मदशक्ति के समान देह के आकार में परिणत हुए भूतों से 'चैतन्य' की उत्पत्ति को बताना भी उचित नहीं है। क्योंकि हरिद्रा संयुक्त हुए चूर्ण में 'राग' आदि के तुल्य प्रत्येक अवयव में 'चैतन्य' का उत्पन्न होना अनिवार्य है। इस प्रकार 'अनेक स्वतन्त्र चेतनों' का एक-एक के प्रति संभव न होने से तथा 'युगपत् परस्पर विरुद्ध क्रिया' के होने से 'शरीर' में उन्मथन आदि होता रहेगा।

यदि 'संघात' से चैतन्य का योग होना कहें तो 'एक अवयव' के छिन्न होने पर भी 'आत्मा' का अवयव छिन्न हो गया कहना होगा। तब अचेतनत्व की प्राप्ति होगी। एवं च 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि बुद्धि तो भ्रम ही है। अतः अनात्मा में आत्म-बुद्धि करना ही 'अविद्या' है—'अनात्मन्यात्मबुद्धिरविद्या' यही अविद्या का स्वरूप है। इसलिये 'देह' को आत्मा कहना ठीक नहीं है।

दूसरे चार्वाक ने 'इन्द्रियों' को आत्मा बताया था। किन्तु वह भी ठीक नहीं है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'इन्द्रियाणाम् आत्मत्वं न सम्भवति करणत्वात् वाष्पादिवत्'। यहाँ 'इन्द्रिय' पक्ष है, 'आत्मत्वाभाव' साध्य है, 'करणत्व' हेतु है, 'बाष्प' आदि दृष्टान्त हैं। इस अनुमान से 'इन्द्रियों' में आत्मत्व की सिद्धि नहीं हो रही है। अन्यथा 'चक्षुरिन्द्रिय' के नष्ट होने पर भी आदमी कहता है कि जिस मैंने

पहले कभी किसी वस्तु के रूप को चक्षु से देखा था, वहीं मैं इस समय उस वस्तु का स्पर्श कर रहा हूँ 'योऽहं चक्षुषा रूपमद्राक्षं स एवैतर्हि स्पृशामि' यह **प्रतिसन्धान** उत्पन्न नहीं हो सकेगा। इस प्रकार बाधकतर्क के उपस्थित रहने से 'इन्द्रियों' को आत्मा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'अन्य पुरुष' के द्वारा अनुभव किये गये पदार्थ का 'अन्य पुरुष' को प्रमितिसन्धान नहीं हुआ करता। यहाँ पर 'वरगोष्ठीन्याय' को जोड़ना भी उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है। क्योंकि 'प्रत्येक पुरुष' का भोग्य नियत होने से 'वर' का भोग्य असाधारण है। किन्तु यहाँ वैसा न होने से 'साधारण' है। अनेक के सन्निधि में 'भोग्य' के साधारण रहने पर 'प्रतिनियत भोग्य-व्यवस्था' का सम्भव नहीं हो सकता है। किञ्च—'चक्षुरादीन्द्रियम् अचेतनम्, नियत-विषयत्वात् प्राच्योदीच्यगवाक्षादिवत्' चक्षुरादि इन्द्रिय अचेतन है, नियत विषय होने से, प्राच्य-उदीच्य झरोखे की तरह। अतः **'इन्द्रियों'** को भी 'आत्मा' कहना ठीक नहीं है।

यदि देह तथा इन्द्रिय को आत्मा नहीं मान सकते हैं, तो न सही। 'मन' को ही आत्मा मान लीजिये। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'मन' को आत्मा कहने वाले से हम यह पूछते हैं कि वह 'मन', जो रूप का साक्षात्कार करता है, उस समय उसे चक्षुरादि इन्द्रियों के व्यतिरिक्त अन्य किसी कारण की अपेक्षा होती है अथवा नहीं? तब प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'अर्थ' में कोई विवाद ही नहीं है, केवल संज्ञा भेदमात्र है, उसी के कारण विवाद चल रहा है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय से संयुक्त हुए रूपादिकों में युगपत् अनेक ज्ञानोत्पत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये मन को भी आत्मा नहीं कह सकते। अतः 'आत्मा' तो देह, इन्द्रिय और मन से व्यतिरिक्त (भिन्न) ही है।

इस प्रकार "**देह, इन्द्रिय** और **मन** इन सब से पृथक् (भिन्न) **'आत्मा'** है"—यह सिद्ध कर देने पर भी 'चार्वाक दार्शनिक' की विप्रतिपत्ति दूर नहीं हो रही है। वह कहता है कि **'अहम् अस्मि'**—मैं हूँ—यह प्रतीति तो 'देह या इन्द्रिय' के विषय में ही हो रही है। उसके इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए **नैयायिक** 'अनुमान प्रमाण' को उपस्थित कर रहा है—'बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न' ये अनित्य होते हुए केवल एक इन्द्रिय से ही ग्राह्य होते हैं, अतः ये **सब 'गुण'** हैं। और 'गुण' सर्वदा गुणी के आश्रित ही रहते हैं। एवं च 'बुद्धि आदि गुण' जिस 'गुणी' के आश्रित रहते हैं वही **'आत्मा'** है। इसे परिशेष-अनुमान से नैयायिक सिद्ध करेगा। समस्त विश्व में नौ ही 'द्रव्य' हैं। इन नौ द्रव्यों में 'आत्मा' को यदि छोड़ देते हैं तो आठ ही द्रव्य बचते हैं—(१-५) पञ्चभूत, (६) दिक् (७) काल और (८) मन। ये आठों बुद्धि (ज्ञान) के आश्रय तो हो नहीं सकते। अतः इन आठों द्रव्यों से पृथक् किसी 'नवम द्रव्य' को ही बुद्धि का आश्रय मानना होगा, जो बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय हो सके। वही

'नवम द्रव्य' 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है। इस 'परिशेषानुमान' से 'आत्मा' की सिद्धि होती है। क्योंकि 'बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न' आदि **गुण** ही 'आत्मा' के ज्ञापक लिङ्ग (हेतु) हैं। 'बुद्धि आदि' में विशेष गुणत्व सिद्ध करने के लिये 'अनित्यत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्'—यह हेतु ग्रन्थकार ने प्रदर्शित किया है। तथाहि—**बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः, अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्'** इति। यहाँ पर 'हेतु' का इतना लम्बा स्वरूप न देकर केवल 'ग्राह्यत्वात्' इतना ही कहते तो 'परमाणु' में उक्त गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'परमाणु' आदि द्रव्य भी 'अनुमान' से ग्राह्य होते हैं। अतः उक्त अतिव्याप्ति से बचने के लिये 'गुणलक्षण' में 'इन्द्रिय' पद का निवेश किया गया है। उससे 'परमाणु' में अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि वह (परमाणु) इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, अपितु 'अनुमान' से ग्राह्य है। अब यदि 'इन्द्रिय-ग्राह्यत्वात्' इतना ही हेतु, 'गुणत्व' की सिद्धि के लिये रखें, तो 'घट-पटादि' द्रव्यों में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि वे 'घट-पटादि द्रव्य' भी 'इन्द्रियग्राह्य' होते हैं। इस अतिव्याप्ति के निरसनार्थ लक्षण में 'एक' और 'मात्र' पद का निवेश किया है। उससे 'घट-पटादि' द्रव्यों में लक्षण नहीं जा पायेगा। क्योंकि 'घट-पटादि' द्रव्यों का 'चक्षुरिन्द्रिय' से भी ग्रहण होता है तथा 'चक्षु' के बिना टटोल कर 'स्पर्श' के द्वारा 'त्वगिन्द्रिय' से भी ग्रहण किया जाता है। अर्थात् 'घट-पटादि द्रव्यों' का ग्रहण दोनों इन्द्रियों से होता है। अतः वे 'घट-पटादि द्रव्य' 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' नहीं हैं। इसलिये उनमें लक्षण के न जाने से अतिव्याप्ति नहीं होती है। अब यदि 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' इतना ही कहें तो 'सुखत्व', रूपत्व' जाति को भी 'विशेषगुण' कहना पड़ेगा। क्योंकि 'सुखत्व' आदि 'जाति' का भी येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावस्तत्समवायश्च गृह्यते'—इस नियम के अनुसार 'एकेन्द्रिय' (चक्षुरिन्द्रिय) से ही ग्रहण किया जाता है। अतः 'सुखत्वादिजाति' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'अनित्यत्वे सति' यह विशेषण देना चाहिये। उसके देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'सुखत्व, रूपत्व' आदि जाति, 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' होने पर भी 'अनित्य' नहीं हैं, अपितु '**नित्य**' हैं। एवं च 'अनित्यत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' इस हेतु से 'बुद्धि आदि गुण' ही प्राप्त होते हैं। और 'गुण', गुणी के ही आश्रित रहता है। इसे बताने के लिये 'बुद्ध्यादिः गुण्याश्रितो भवितुमर्हति, गुणत्वात् रूपवत्' यह अनुमान प्रयोग किया जा सकता है। अतः बुद्धि आदि विशेष गुणों का 'आश्रय' किसी गुणी (द्रव्य) को अवश्य मानना ही होगा। एवं च 'आत्मा' के अतिरिक्त अन्य जो पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् और मन 'आठ द्रव्य' हैं, वे 'बुद्धि' आदि गुणों के आश्रय (गुणी द्रव्य) नहीं हो सकते। इसलिये परिशेषात् उन आठ द्रव्यों से भिन्न किसी नवम द्रव्य (गुणी) को ही स्वीकार करना होगा। वह स्वीकार किया जाने वाला 'द्रव्य' ही 'आत्मा' है।

तत्र बुद्धयादयो गुणा न भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात्। ये हि भूतानां गुणास्ते न मनसा गृह्यन्ते यथा रूपादयः। नापि दिक्कालमनसां गुणा, विशेषगुणत्वात्। ये हि दिक्कालादिगुणाः संख्यादयो न ते विशेषगुणास्ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव। बुद्धयादयस्तु विशेषगुणाः। गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत् अतो न दिगादिगुणाः।

तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्धयादीनां गुणानामाश्रयो गुणी वक्तव्यः स एवात्मा।

शंका—उपर्युक्त प्रकार से नवमद्रव्य (आत्मा) की सिद्धि होने पर भी मन में उपस्थित हुई शंका अभी दूर नहीं हो पा रही है। क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों को ही बुद्धयादि गुणों का आश्रय क्यों नहीं कहते ? जिससे एक अतिरिक्त नवम द्रव्य 'आत्मा' की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी।

समा०—तत्रेति। 'बुद्धि आदि' मानसप्रत्यक्ष के विषय होने से वे, 'पृथिवी आदि पाँच भूतों' के 'गुण' नहीं हैं, क्योंकि 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द,' जो **पञ्चभूतों के गुण** हैं, उनका **'मन'** से ग्रहण नहीं होता है। जैसे—'रूप' आदि गुणों का 'मानस प्रत्यक्ष' (मन से प्रत्यक्ष) नहीं होता है। यह एक **'अनुमान प्रयोग'** हुआ, जिससे वताया गया कि 'पृथिवी आदि आठ द्रव्य' 'बुद्धि' आदि के आश्रय नहीं हैं।

नापीति। दूसरा अनुमान यह होगा कि 'दिक्, काल और मन' इन तीन द्रव्यों के भी गुण 'बुद्धि आदि' नहीं हो सकते हैं। क्योंकि 'बुद्धि आदि' तो **विशेष गुण** हैं। **ये हीति।** और 'दिक्, काल' आदि द्रव्यों के जो 'संख्या' आदि गुण हैं, वे **'विशेष गुण'** नहीं हैं। वे तो सभी द्रव्यों में रहने वाले **'साधारण गुण'** ही हैं। **बुद्धयादयस्त्विति।** किन्तु 'बुद्धि' आदि तो **'विशेष गुण'** हैं। **गुणत्वे सतीति।** क्योंकि 'रूप' के समान केवल 'एक इन्द्रिय मात्र' से ग्राह्य गुण होने से 'बुद्धि' आदि 'विशेष गुण' सिद्ध होते हैं। जो 'गुण' होता हुआ एकेन्द्रियमात्रग्राह्य होता है, उसे 'विशेष गुण' कहते हैं। **अत इति।** इसलिये 'बुद्धि आदि' को **दिगादि द्रव्यों** के 'गुण' नहीं समझना चाहिये।

तस्मादिति। इसलिये इन आठ (पृथिवी आदि पञ्चभूत, दिक्, काल और मन) द्रव्यों से भिन्न किसी नवम द्रव्य (गुणी) को 'बुद्धि' आदि गुणों का आश्रय कहना चाहिये। उसी 'नवम द्रव्य' को आत्मा कहते हैं।

माधुरी

परिशेषानुमान के आधार पर—'बुद्धयादिगुण, आत्मा के आश्रित होते हैं'—इसे सिद्ध करने के लिये प्रथमतः प्रसक्त प्रतिषेध बताया गया है। पृथिवी आदि जो आठ गुणी (द्रव्य) हैं, उनमें से पृथिव्यादि पञ्चभूतों के तो ये 'बुद्धि आदि' गुण हो नहीं सकते। क्योंकि बुद्धि आदि गुणों का मानस प्रत्यक्ष हुआ करता है। इसी बात को अनुमान प्रयोग के द्वारा वता रहे हैं—'बुद्धयादयो भूतगुणा न भवन्ति; (प्रतिज्ञा)

मानसप्रत्यक्षत्वात्, (हेतु), 'ये हि भूतानां गुणाः ते न मनसा गृह्यन्ते, यथा रूपादयः (व्यतिरेकी उदाहरण) इस ग्रन्थ से वैधर्म्य का उदाहरण बताकर बुद्धि आदि में भूतगुणत्व का निषेध प्रदर्शित किया है। आठ द्रव्यों में से—(१) पृथ्वी, (२) जल (अप्) (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश—ये पाँच द्रव्य, 'पञ्चभूत' शब्द से कहे जाते हैं। 'भूतत्वं नाम बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्,—बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य विशेषगुण जिसमें होता है, उसे 'भूत' कहते हैं। अतः यहाँ पर 'भूत' शब्द से पृथिवी आदि पाँच का ग्रहण किया जाता है। उक्त पञ्च भूतों के 'गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द' इन गुणों का 'प्रत्यक्ष' बाह्य इन्द्रियों से होता है। 'मन' से नहीं। किन्तु 'बुद्धि' आदि का प्रत्यक्ष 'मन' से होता है, 'बाह्येन्द्रिय' से नहीं। यह भेद होने से 'बुद्धि' आदि को 'पञ्चभूतों' का गुण नहीं कहते हैं। तथा दूसरा अनुमान यह होगा कि 'ये बुद्धि आदि, 'विशेषगुण' होने से 'दिक्, काल, मन' इन तीन द्रव्यों के भी 'गुण' नहीं कहलाते। क्योंकि 'दिक् आदि तीन द्रव्यों' में 'सामान्यगुण' रहते हैं, विशेषगुण नहीं। बुद्धि आदि तो विशेषगुण हैं, इनकी विशेषगुणता को पीछे बता चुके हैं। इसी को ग्रन्थकार ने दूसरे अनुमान प्रयोग के द्वारा बता दिया है कि 'नापि दिक्काल-मनसां गुणाः (प्रतिज्ञा), 'विशेषगुणत्वात्' (हेतु), अतः यह व्याप्ति है कि 'ये हि दिक्कालादिगुणाः न ते विशेषगुणाः। यथा संख्यादयः'—(व्यतिरेकी उदाहरण) है। 'संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व—ये सात, सभी द्रव्यों के 'सामान्यगुण' माने गये हैं। और बाकी अवशिष्ट गुणों को विशेषगुण कहा जाता है।

प्रयोगश्च, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्ट-द्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यस्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नासौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणोऽपि भवति यथा रूपादिरिति केवलव्यतिरेकी। अन्वयव्यतिरेकी वा। तथाहि, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुण-त्वात्। यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति। यथा पृथिव्याद्यना-श्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति। तथा च बुद्ध्यादयः पृथिव्या-द्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः।

तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तो नवमं द्रव्यमात्मा सिद्धः।

प्रयोगश्चेति। आत्मा के अस्तित्व का साधक अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—(१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न—ये बुद्ध्यादिषट्क (छह), (१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक् (८) मन, इन आठ द्रव्यों से अतिरिक्त (भिन्न) द्रव्य में आश्रित रहते हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि ये, पृथिव्यादि आठ द्रव्यों पर आश्रित न रहकर भी 'गुण' कहलाते हैं (हेतु)। **यस्त्विति।** जो, पृथिव्यादि आठ

द्रव्यों से अतिरिक्त किसी द्रव्य में आश्रित नहीं रहता, वह पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में अनाश्रित (आश्रित न होता हुआ) गुण भी नहीं हो सकता है, जैसे 'रूप'। यह 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान है, क्योंकि यह साध्यव्यतिरेक में हेतुव्यतिरेक की व्याप्ति के आधार पर किया गया है।

इसी बात को 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान से भी बता सकते हैं—**अन्वयव्यति-रेकीति**। अथवा अन्वयव्यतिरेकी अनुमानप्रयोग इस प्रकार कर सकते हैं। **तथा हीति**। बुद्ध्यादिगुण, पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि ये, पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में अनाश्रित होकर गुण हैं (हेतु), जो जिस द्रव्य में अनाश्रित गुण होता है, वह गुण, उससे भिन्न द्रव्य में आश्रित होता है। जैसे—पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रित 'शब्द' पृथिवी आदि से भिन्न नवम द्रव्य आकाश में आश्रित रहता है (उदाहरण)। **तथा चेति**। अतः बुद्धि आदि गुण, पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित है।

तदेवमिति। इस रीति से पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से पृथक् नवम द्रव्य 'आत्मा' सिद्ध किया जाता है।

माधुरी

अभी तक किये गये विवेचन से यह सिद्ध किया गया कि पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न जो द्रव्य, इन बुद्ध्यादि गुणों का आश्रय होगा, वही 'आत्मा' पदार्थ है यह निष्कर्ष अनुमान प्रमाण के आधार पर प्राप्त हुआ है। इस आधारभूत अनुमान का प्रयोग दो प्रकार से किया गया है—(१) केवलव्यतिरेकी और (२) अन्वय-व्यतिरेकी। पहले बता चुके हैं कि 'गुण' अवश्य ही 'गुणी' (द्रव्य) में आश्रित रहता है। अतः इस नियम के अनुसार 'बुद्धि' आदि गुणों को भी 'गुणी' (द्रव्य) के आश्रित रहना ही होगा। विचार करने पर निश्चित हो जाता है कि वे बुद्धि आदि गुण, पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश-कालदिक् और मन इन आठ द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य पर आश्रित नहीं हैं। इसलिये उन बुद्ध्यादि गुणों के आश्रयभूत, उक्त आठ द्रव्यों से अतिरिक्त नवम द्रव्य को मानना ही होगा, वही 'आत्मा' पदार्थ है।

शंका—उक्त प्रकार से एक नवम द्रव्य को मानने की अपेक्षा पृथिव्यादि आठ-द्रव्यों में से ही किसी एक द्रव्य में बुद्ध्यादिगुणों को आश्रित मान लिया जाय तो क्या हानि है?

समा०—हमें दो अनुमानों के आधार पर निश्चित हो गया है कि वे बुद्धि आदि, पृथ्वी आदि द्रव्यों के गुण नहीं हैं। वे दो अनुमान इस प्रकार हैं—'बुद्ध्यादयो न गुणाः भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात्। ये ही भूतानां गुणाः, ते न मनसा गृह्यन्ते, यथा रूपादयः'। अर्थात् बुद्धि आदि, 'पृथ्वी आदि भूतों' के गुण नहीं हो सकते, क्योंकि उन गुणों का मानसप्रत्यक्ष होता है। 'जो भूतों के गुण होते हैं, उनका मानसप्रत्यक्ष नहीं

होता' —यह नियम है। जैसे रूपादि गुणों का मानसप्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि वे, भूतों के गुण हैं। दूसरा अनुमान इस प्रकार है—'नापि दिक्कालमनसां गुणा विशेषगुणत्वात्। ये हि दिक्कालादिगुणाः, संख्यादयः, न ते विशेषगुणाः, ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव'। अर्थात् बुद्धि आदि गुण, 'दिक्, काल और मन' इन द्रव्यों के भी 'गुण' नहीं हो सकते, क्योंकि वे विशेष गुण हैं। यह एक नियम है—'जो, दिक्, काल और मन इन तीनों में से किसी का गुण होता है, वह 'विशेषगुण' नहीं कहलाता। जैसे—संख्या, परिमाण आदि, 'दिक्, काल और मन' के गुण हैं, इसलिये वे विशेषगुण नहीं कहलाते, अपितु उन्हें समस्त द्रव्यों का साधारण गुण कहा जाता है।

इन दो अनुमानप्रमाणों ने यह निश्चित कर दिया कि पृथिव्यादि आठ द्रव्य, बुद्ध्यादि 'गुणों' के आश्रय नहीं हैं।

शंका—बुद्ध्यादिगुणों को ही 'विशेषगुण' क्यों मान रहे हैं ?

समा०—'बुद्ध्यादयस्तु विशेषगुणाः (प्रतिज्ञा), गुणत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् (हेतु), रूपवत् (उदाहरण) अतो न दिगादिगुणाः। अर्थात् (बुद्धि आदि तो विशेषगुण हैं, क्योंकि ये गुण होते हुए केवल एक इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। जैसे—रूप। अतः बुद्धि आदि, 'दिशा' आदि के गुण नहीं हैं। इस प्रकार 'बुद्धि' आदि में विशेषगुणत्व का निश्चय किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि बुद्धि आदि ये 'विशेषगुण' होने से इन्हें 'दिशा, काल, मन' के गुण नहीं कहा जाता। क्योंकि दिक्, काल, मन के जो गुण होते हैं वे सामान्यगुण होते हैं। और बुद्धि आदि गुणों का 'मानसप्रत्यक्ष' होने से वे पृथिवी आदि के भी गुण नहीं हो सकते। पृथिवी आदि के गुणों का तो बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। अतः परिशेष्यात् नवम द्रव्य की कल्पना अनिवार्य होती है। आकाश-निरूपण के प्रसंग में 'पारिशेषानुमान' का परिचय दिया जायेगा। इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि परिशेषानुमान से 'आत्मा' पदार्थ सिद्ध होता है। पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट—इन तीन अनुमानों में से 'शेषवत्' को परिशेषानुमान भी कहते हैं। ऐसा न्यायभाष्यकार ने (१।१५ में) कहा है।

यहाँ पर ग्रन्थकार ने इस परिशेषानुमान का दो प्रकार से प्रयोग किया है—एक 'केवलव्यतिरेकी' के रूप में और दूसरा 'अन्वयव्यतिरेकी' के रूप में।

(१) केवलव्यतिरेकी-अनुमान को 'प्रयोगश्च' कहकर ग्रन्थकार स्वयं बता रहे है—'बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः (प्रतिज्ञा), पृथिव्याद्यष्टद्रव्याऽनाश्रितत्वे सति गुणत्वात्, (हेतु), यस्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नाऽसौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्याऽनाश्रितत्वे सति गुणोऽपि भवति (व्यतिरेकव्याप्ति) यथा रूपादिरिति (उदाहरण), अर्थात्—बुद्धि आदि पदार्थ पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से पृथक् किसी अन्य द्रव्य में रहते हैं, क्योंकि ये बुद्ध्यादि पदार्थ, 'पृथिव्यादि' आठ द्रव्यों में न रहते हुए भी 'गुण' हैं, जो पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न अन्य किसी

द्रव्य में आश्रित नहीं रहता, वह पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में अनाश्रित हुआ 'गुण' भी नहीं होता' (अपितु पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में आश्रित ही गुण होता है)—यह व्यतिरेकव्याप्ति' है। जैसे 'रूप' आदि गुण, अथवा 'आकाश' आदि द्रव्य। निष्कर्ष यह है कि जो पदार्थ, पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में आश्रित नहीं हैं, तो उसकी दो प्रकार से ही स्थिति हो सकती है—(१) यदि वह 'गुण' है तो उसे पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में से किसी न किसी द्रव्य में आश्रित रहना ही होगा। जैसे 'रूप' आदि पदार्थ। ये रूपादि पदार्थ, 'पृथिव्यादि' आठ द्रव्यों से भिन्न अन्य किसी द्रव्य में आश्रित नहीं हैं, तथापि 'गुण' कहलाते हैं। इसलिये 'पृथिव्यादि' आठ द्रव्यों में से ही किसी न किसी द्रव्य में वे आश्रित होते हैं।

जो पदार्थ, 'पृथिव्यादि' आठ द्रव्यों से भिन्न किसी अन्य द्रव्य में भी आश्रित नहीं है तथा पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में से किसी द्रव्य में भी आश्रित नहीं है, तो वह पदार्थ 'गुण' नहीं हो सकता। जैसे 'आकाश' आदि द्रव्य। किन्तु 'बुद्धि' आदि पदार्थ की स्थिति तो उक्त स्थितियों से विलक्षण ही है। वे बुद्धि आदि पदार्थ, पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों में से किसी द्रव्य में आश्रित नहीं हैं, तथापि 'गुण' कहलाते हैं। अतः कहना होगा कि वे अवश्य ही पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य में आश्रित हैं—यह अनुमान केवलव्यतिरिकी है; क्योंकि यह साध्यव्यतिरेक में हेतुव्यतिरेक की व्याप्ति के आधार पर—अर्थात् 'जो पदार्थ पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों से पृथक् किसी अन्य द्रव्य में आश्रित न होकर भी पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों में भी आश्रित नहीं रहता, वह 'गुण' भी नहीं कहलाता'—यही व्यतिरेकव्याप्ति है—यह केवलव्यतिरेकी-अनुमान किया गया है।

बुद्धि आदि गुणों का आश्रय, पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों से भिन्न द्रव्य को केवलव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा बताने का अभिप्राय यह है—'वह नवम द्रव्य 'आत्मा' ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि 'सभी आत्मा' पक्ष के ही अन्तर्गत हैं। इसलिये कोई 'अन्वयी दृष्टान्त' उपलब्ध नहीं होता है। जिसे बुद्ध्यादि पदार्थों के आश्रय रूप में प्रदर्शित किया जा सके। एवं च यहाँ पर अन्वयव्याप्ति के न बन सकने से केवलव्यतिरेकी अनुमान ही दिखाया गया है।

(२) किन्तु विचार करने पर इस प्रसंग में अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान की भी संभावना हो सकती है। अतएव 'अन्वयव्यतिरेकी वा' कहकर ग्रन्थकार ने अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान को भी प्रदर्शित किया है। क्योंकि नियम (व्याप्ति) के स्वरूप में 'यत्-तत्' शब्दों से 'बुद्धि आदि' किसी 'गुणविशेष' को न बताकर केवल 'गुणसामान्य' को बताया गया है। इस सामान्य नियम का आधार लेकर उदाहरण (दृष्टान्त) बता दिया कि जैसे 'शब्द' (गुण) पृथिवी आदि द्रव्य में आश्रित नहीं रहता, अतः वह पृथिवी आदि द्रव्यों से भिन्न आकाश द्रव्य में आश्रित होता है। उसी तरह

बुद्धि आदि गुण भी पृथिवी आदि अष्ट द्रव्य के आश्रित न होने से उनसे भिन्न द्रव्य में आश्रित होते हैं। इसतरह अन्वय तथा व्यतिरेक उपलब्ध हो जाने से अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान से भी 'आत्मा' को बताया जा सकता है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का प्रयोग **'अन्वयव्यतिरेकी वा। तथाहि'** कह कर किया गया है 'बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, (प्रतिज्ञा), पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् (हेतु), यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति, (व्याप्ति) यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति (उदाहरण)। अर्थात् बुद्धि आदि पदार्थ, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यों से अतिरिक्त किसी द्रव्य में आश्रित हैं, क्योंकि वे बुद्ध्यादि पदार्थ, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यों में आश्रित न रहते हुए भी 'गुण' कहलाते हैं। जो, जिसमें आश्रित न होते हुए भी 'गुण' कहलाता है, वह उससे भिन्न में आश्रित रहता है—यह व्याप्ति (नियम) है। जैसे—'शब्द' पदार्थ, पृथिव्यादि द्रव्यों में आश्रित न होता हुआ भी 'गुण' कहलाता है, अतः वह (शब्द), पृथिवी आदि द्रव्य से भिन्न 'आकाश' संज्ञक नवम द्रव्य में आश्रित रहता है। उसी तरह बुद्धि आदि पदार्थ, पृथिव्याद्यष्ट द्रव्यों में अनाश्रित होते हुए भी 'गुण' कहलाते हैं, इसलिये मानना ही होगा कि वे, पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त अन्य द्रव्य में अवश्य ही आश्रित होंगे। एवं च केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी दोनों अनुमानों से 'बुद्धि आदि' गुणों के आश्रयरूप में पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों से अतिरिक्त जिस द्रव्य की सिद्धि की गई है वह 'आत्मा' संज्ञक नवम द्रव्य है।

इस प्रकार आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने के बाद नैयायिकों के 'नानात्मवाद' पर **वेदान्तियों** का कहना है कि **'ब्रह्म'** ही अपनी अविद्या से संसार में आता है अर्थात् संसारिक बन्धनों से बद्ध होता है और अपनी विद्या से वह मुक्त भी होता है। 'अविद्योपहित ब्रह्म' ही 'जीव'रूप को ग्रहण करता है। अर्थात् 'जीव' शब्द से कहा जाता है। एवं च घटाकाश-मठाकाश में परस्पर भेद न होने से जीवों का भी परस्पर भेद नहीं है। अतः घटाकाश-मठाकाश की तरह व्यवहृत होने वाले 'जीव-ब्रह्म' दोनों का एकत्व ही है—ऐसा कहने वाले वेदान्तियों के पास **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतिवचन ही प्रमाण है।

किन्तु इनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अनुमान प्रमाण' की कसौटी पर उनका कथन खरा नहीं निकल रहा है। अनुमान इस प्रकार होगा—'विमतौ भिन्नौ, किञ्चिज्ज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादिविरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्, दहन तुहिनवत्'। जीव और ब्रह्म दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनके परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, अग्नि और हिम की तरह। कहा भी है—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च'। **अतः जीव और ब्रह्म** की एकता नहीं है, वे दोनों **परस्पर भिन्न** हैं।

शंका—'जीव-ब्रह्म' का **अभेद** (एकत्व) **आगम** के बल पर तो सिद्ध ही है।

समा०—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह श्रुति, 'दोनों' के **अभेद** (एकत्व) को नहीं बता रही है, अपितु 'परमेश्वर' की अपेक्षया 'अन्य कोई पुरुष' उससे अधिक नहीं है—यह बता रही है। अर्थात् अन्य किसी पुरुष में परमेश्वर से अधिकता का निराकरण कर रही है। हजारों आगम इकट्ठा (एकत्रित) जो जाँय तो भी 'घट' को पट नहीं बना सकते। इसलिये 'ब्रह्म और जीव' दोनों में परस्पर भेद का संभव होने से तथा 'सुखादि की विचित्रता' दीखने से 'उनमें' भेद का ही स्वीकार करना होगा। अत एव यह कहा गया है कि 'नानात्मानो व्यवस्थातः।'

स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः, परममहत्परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्। सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः।

स चेति। और वह आत्मा, सर्वत्र कार्य (अदृष्टानुरूप फल) की उपलब्धि होने से 'विभु' है, अर्थात् 'परम महत् परिमाण' वाला है। और 'विभु' होने से वह 'आकाश' (व्योम) के समान नित्य भी है। और प्रत्येक व्यक्ति के सुख आदि भोग, भिन्न-भिन्न होने से प्रत्येक शरीर में 'आत्मा' भी भिन्न-भिन्न है। अर्थात् सभी का 'आत्मा' एक नहीं है।

माधुरी

आत्मा का परिमाण—

'आत्मा' यह एक अतिरिक्त नवम द्रव्य है, यह निश्चित हुआ है। तथापि कोई भी द्रव्य, परिमाणशून्य नहीं हुआ करता। इसलिये उस आत्मा के परिमाण का विचार करना भी आवश्यक है। उसके परिमाण के सम्बन्ध में विद्वान् दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। रामानुजादिदार्शनिकों ने उसे 'अणु' परिमाण माना है। जैन दार्शनिकों ने उसका 'मध्यम' परिमाण बताया है। मध्यम परिमाण का अर्थ है 'शरीरसम परिमाण'। किन्तु न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के विद्वानों ने उसका 'विभु' अर्थात् परममहत् परिमाण माना है। अत एव तर्कभाषाकार ने 'आत्मा' का परिमाण' 'विभु' बताया और उसका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है कि 'आत्मा' परममहत्परिमाणवान् है। यहाँ पर 'महत्' कहकर 'भावप्रधान निर्देश' किया है। अन्यथा 'आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः' सूत्र से 'महापरिमाण' शब्द का प्रयोग किया गया होता। भावप्रधान-निर्देश होने से ही 'परममहत्परिमाणवान्' का अर्थ यह हुआ कि 'परमं निरवधिकं महत्त्वं परिमाणं यस्य सः' ऐसा **'आत्मा'**। 'विभुत्व'—से **'सर्वमूर्त-द्रव्य-संयोगित्व या इयत्तानवच्छिन्न-परिमाणयोगित्व'** अर्थ बताया गया है। **सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व** का अर्थ है—विश्व के यच्च यावत् समस्त मूर्त द्रव्यों से संयुक्त होना। समस्त मूर्त-द्रव्यों से **'संयोग' तीन प्रकार से संभव हो सकता है।**

उनमें **पहला** प्रकार तो यह है कि 'आत्मा' कहीं एक जगह पर स्थिर रहे और समस्त मूर्तद्रव्य, उसके समीप आ जाँय।

दूसरा प्रकार यह है कि 'आत्मा' स्वयं, उन मूर्तद्रव्यों के समीप पहुँचे।

तीसरा प्रकार यह है कि उस (आत्मा) का इतना महान् परिमाण हो कि विश्व के समस्त मूर्त द्रव्य उसकी परिधि में आ जाँय।

इन तीन प्रकारों में से पहला प्रकार अव्यावहारिक होने से उपहासास्पद है। दूसरा प्रकार भी बुद्धिग्राह्य नहीं है, क्योंकि यदि वह (आत्मा) मूर्त द्रव्यों के समीप निरर्थक जाता ही रहेगा तो जगत् के अन्यान्यव्यवहार कब और कैसे कर पायेगा। दूसरी बात यह भी है कि संसार के सभी मूर्तद्रव्यों में एक ही समय में वह संयुक्त नहीं हो पायेगा, जिससे उसकी व्यापकता (विभुता) सिद्ध नहीं हो पायेगी। परिशेषात् **तीसरा प्रकार** ही एक ऐसा है, जिससे समस्त मूर्तद्रव्य उसकी परिधि में आकर युगपत् उससे संयुक्त हो सकते हैं। ऐसा होने पर ही उस (आत्मा) की 'व्यापकता' निर्बाध सिद्ध हो सकेगी।

एक व्यावहारिक उदाहरण से भी उसकी विभुता सरलता से समझ में आ सकेगी। किसान धान (शालि) बोता है, व्यावहारिक प्रत्यक्ष (दृष्ट) सहकारिकारण का सान्निध्य सभी 'शालि' बीजों को यद्यपि समानरूप से प्राप्त है, तथापि किसी की 'शालि' तो फलती है और किसी की नहीं फलती है। अतः कहना होगा कि दृष्ट सहकारिकारण के अतिरिक्त 'अदृष्ट भी सहकारी होता है। वह 'अदृष्ट' स्वोपकारक पवन-पावकादि पदार्थों में क्रिया को उत्पन्न करता है। कहा भी है—'अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्-पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्म इत्येतानि अदृष्टकारितानि'। जैसे भिन्न-भिन्न स्थानों में शालिसम्पत्तिरूप फल दिखाई देता है, उससे स्पष्ट होता है कि उसके कारणभूत 'अदृष्ट' का अधिकरण जो आत्मा है, वह 'विभु' है। अनुमानप्रमाण से भी उसकी 'विभुता' बतायी जा सकती है। जैसे—'विमतम् अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्त एव आश्रयान्तरे क्रियां जनयति अन्योन्याभाव-विरोधक्रियाहेतुगुणत्वात् गुरुत्ववत्'। अथवा 'आत्मा अणुत्वरहितः इन्द्रियग्राह्यगुणाधिकरणत्वात् कुम्भवत्'। इन अनुमानों से भी 'आत्मा' का 'विभुत्व' सिद्ध होता है। विभुत्व की सिद्धि हो जाने से उसका 'नित्यत्व' भी सिद्ध हो जाता है। एवं च 'आत्मा' का विभु परिमाण है।

निष्कर्ष यह है कि शरीरस्थित जीवात्मा को 'विभु' अर्थात् व्यापक यानी परम-महत्परिमाणवान् स्वीकार किया है। उसे 'विभु' सिद्ध करने के लिये 'सर्वत्र कार्यो-पलम्भात्' हेतु को बताया है। इस हेतु के अभिप्राय को समझना आवश्यक है। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी वस्तु का किसी न किसी प्रकार से उपभोग करता रहता है। उस उपभोग्य वस्तु की उत्पत्ति में उसकी उत्पादक कारण सामग्री के अतिरिक्त उस उपभोक्ता व्यक्ति का 'अदृष्ट' भी उस सामग्री के साथ जुड़ा रहता है।

अतएव किसी 'घट' आदि के निर्माण में उसकी उत्पादक सामग्री—चक्र, चीवर, कुलाल, कपाल आदि के साथ उसके उपभोक्ता व्यक्ति का 'अदृष्ट' भी जुड़ा रहता है। अतः घटोत्पत्ति में अन्य उत्पादक सामग्री जैसे 'कारण' कही जाती है, वैसे ही उपभोक्ता व्यक्ति के 'अदृष्ट' को भी उसमें कारण मानना चाहिए। क्योंकि एक ही कुलाल के बनाये और एक ही 'आवे' में पकाये गये घटों में भी परस्पर भेद दिखाई देता है। कोई घट अधिक पका तो कोई घट कम पका रहता है। इस प्रकार कार्य में जो भिन्नता उपलब्ध होती है उसमें उपभोक्ता व्यक्तियों का 'अदृष्ट' भेद ही कारण होता है। उसी तरह एक ही बगीचे में लगे हुए, एक ही पानी से सींचे हुए वृक्षों के फलों में भी भिन्नता दिखाई देती है। उस भिन्नता का कारण उन फलभोक्ताओं का 'अदृष्ट' ही समझना चाहिए। एक ही व्यक्ति के जीवनकाल में जिस-जिस वस्तु से उसको भोग मिलता है, वह 'वस्तु' किन-किन स्थानों में विभक्त है, उसे गिना नहीं जा सकता। जहाँ भी वह व्यक्ति चला जाय, वहीं पर उसे वह भोग उपलब्ध हो जाता है। इसी बात को महाकवि श्रीहर्ष ने अपनी काव्यभाषा में कहा है—'क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग् जनः।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस भाग्यवान् के भोग की सामग्री सर्वत्र सुलभ रहती है। उस सुलभता में उस व्यक्ति का 'अदृष्ट' ही कारण होता है। जब अदृष्ट का सर्वत्र सम्बन्ध है, तब उस अदृष्ट के अधिकरण 'आत्मा' की सत्ता भी सर्वत्र है, यह मानना ही होगा। उसकी सर्वत्र 'सत्ता' तभी रहेगी, जब उसे विभु (परममहत्परिमाणवान्) माना जाय। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए 'सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः' कहा गया है।

शंका—आत्मा को 'विभु' मानने की आवश्यकता क्या है? उसका 'मध्यम परिमाण' अर्थात् पूरे शरीर में व्यापक रहना तो समझ में आता है, किन्तु उसे 'परम-महत् परिमाण' वाला कहना समझ में नहीं आ रहा है। क्योंकि सरदी-गर्मी के समय में सम्पूर्ण शरीर में शीतता-उष्णता का अनुभव युगपत् होता है। अतः उसकी 'विभुता' को शरीर तक सीमित समझना चाहिए उसकी व्यापकता को सम्पूर्ण संसार में मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः उसका 'मध्यमपरिमाण' ही उचित प्रतीत हो रहा है।

समा०—उक्त शंका का समाधान ग्रन्थकार ने 'सर्वत्र कार्योपलम्भ' कहकर दे दिया है कि समस्त विश्व में आत्मा का कार्य उपलब्ध होने से उसका सर्वत्र अस्तित्व है। केवल शरीर में ही नहीं।

संसार में दो पद्धतियों से कार्य हुआ करता है। कुछ कार्य जो स्वयं के प्रयत्न से किये जाते हैं, वहाँ शरीर उपस्थित होने की आवश्यकता रहती है। और कुछ कार्य 'अदृष्ट' के भरोसे होते हैं जिन्हें भगवान् के भरोसे, भाग्य के भरोसे आदि शब्दों से कहा जाता है। ऐसे कार्यों के लिये सशरीर उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं रहती। वहाँ तो 'अदृष्ट' ही उपस्थित रहता है। अदृष्ट की उपस्थिति 'आत्मा' के विना नहीं

हो सकती। क्योंकि—अदृष्ट की स्थिति आत्मा में ही रहती है। अदृष्ट का अधिकरण 'आत्मा' होता है। अतः कार्योत्पत्ति स्थल में आत्मा की सत्ता (अस्तित्व) मानने से उस पर स्थित 'अदृष्ट' की स्थिति भी सिद्ध हो जाती है।

यदि 'आत्मा' मध्यमपरिमाण वाला ही (शरीर में ही सीमित) माना जायेगा तो उसपर स्थित 'अदृष्ट' की पहुँच दूर-दूर तक के स्थानों में कैसी हो सकेगी ? क्योंकि 'अदृष्ट' (पुण्य-पाप या धर्म-अधर्म) तो 'आत्मा' का गुण है, वह अपने आश्रय (आत्मा) को छोड़कर इधर-उधर जा नहीं सकता। साथ ही वह 'अमूर्त' तथा 'अद्रव्य' होने से गतिशील भी नहीं है। अतः विश्वभर में 'अदृष्ट' की युगपत् उपस्थिति कराने के लिए उसके अधिकरण 'आत्मा' को 'विभु' परिमाण वाला कहना ही होगा। उसे विभु (व्यापक) मानने पर वह सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र युगपत् (एक ही समय) व्याप्त होकर रह सकेगा, तब उसपर स्थित उसका 'अदृष्ट' भी सर्वत्र युगपत् उपस्थित हो सकेगा। जिससे विश्व के भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही समय कार्योत्पत्ति के होने में कोई बाधा नहीं हो सकेगी।

शंका—जो व्यक्ति जहाँ है वहीं पर वह किसी न कसी कार्य को पैदा करता रहता है। अतः कोसों दूर रहने वाले व्यक्ति के 'अदृष्ट' को उस कार्य का उत्पादक मानने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—सभी वस्तुएँ सभी के काम में नहीं आती हैं। कोई वस्तु किसी के काम की होती है तो कोई वस्तु किसी दूसरे के काम की होती है। कोई वस्तु ऐसी भी होती है जो सभी के काम में आती है। कोई वस्तु ऐसी भी होती है जो एक के लिये सुखकर होती है तो वही दूसरे के लिये दुःखद होती है। यह भी देखने में आता है कि अपनी उपयोगी वस्तु हमेशा अपने पास नहीं रह पाती। अनेक वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं, जो देश-देशान्तर, विदेश आदि की भी बनी रहती हैं। उन देश-देशान्तरों में या विदेशों में उन वस्तुओं का उपयोग करने वाला व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन में जा भी नहीं पाता। ऐसी स्थिति में यह मानना ही होगा कि जो व्यक्ति चाहे कहीं का भी हो, उसके अदृष्ट से जहाँ कहीं भी पैदा हुई वस्तु, उसके अदृष्ट के बल पर उस व्यक्ति के पास पहुँचकर उसके उपयोग में आती रहती है। एवं च जो वस्तु जिस व्यक्ति के शुभ अदृष्ट से पैदा होकर उसके पास तक आती है, और उसे वह सुखप्रद होती है। और जो वस्तु जिस व्यक्ति के अशुभ अदृष्ट से पैदा हुई हो, वह उसके उस अशुभ अदृष्ट के बलपर उसके पास पहुँचकर उसके लिये दुःखप्रद होती है। तथा जो वस्तु, अनेक व्यक्तियों के अदृष्ट से पैदा हुई हो, वह वस्तु अनेक व्यक्तियों के काम में आती है। तात्पर्य यह है कि तत्तद् व्यक्ति के उपयोग में आने वाली वस्तु, उस व्यक्ति के अदृष्ट से समीप भी पैदा हो सकती है, और दूर-सुदूर भी पैदा हो सकती है। यह सब तभी संभव हो सकता है जब 'आत्मा' को व्यापक (विभु) परिमाण का

स्वीकार किया जायेगा। अत एव ग्रन्थकार ने 'सर्वत्र कार्योलब्धि' के आधार पर 'आत्मा' के विभु होने का ही निर्णय किया है।

शंका—नैयायिक के मत में 'आत्मा' तो अनेक है, और सभी 'विभु' हैं। तब वे सभी विभु आत्मा एक स्थान में एक साथ कैसे रह सकेंगे? जब छोटी-छोटी वस्तुएँ अपने-अपने छोटे बड़े परिमाण के कारण एक स्थान में एक साथ नहीं रह पाती हैं, तब 'परम-महत्परिमाण वाले' अनेक आत्मा, एक स्थान में एक साथ रहें, यह संभव ही नहीं हो सकता।

समा०—अन्य वस्तुओं का दृष्टान्त देना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा को छोड़कर छोटे-बड़े परिमाण वाली मूर्त वस्तुएँ तो जगह को घेर कर रहा करती हैं। जगह घिर जाने के कारण दूसरी वस्तु के लिये उस स्थान में अवकाश नहीं मिल पाता। परन्तु 'आत्मा' पदार्थ तो 'मूर्त' नहीं है, जिससे वह किसी स्थान को घेर ले। अर्थात् 'अमूर्त पदार्थ' अपनी स्थिति से जगह को घेरते नहीं हैं। अतः उनके साथ रहने में कोई बाधा नहीं है। जैसे एक ही फल, फूल आदि में 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श' आदि अनेक गुण रहते हैं, क्योंकि वे अमूर्त हैं—इसलिए वे स्थान का घिराव नहीं करते हैं। उसी तरह 'आत्मा' भी अमूर्त पदार्थ है, वह कोई ठोस मूर्त पदार्थ नहीं है। अतः एक स्थान में अनेक अमूर्त आत्माओं का एक साथ संयोग होने में कोई बाधा नहीं है।

शंका—अमूर्त विभु आत्माएँ यदि सर्वत्र हैं तो सभी का 'अदृष्ट' समानरूप से ही सर्वत्र रहेगा। तब सभी कार्य, सभी के अदृष्ट से पैदा होंगे। ऐसी स्थिति में यह कैसे कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति के अदृष्ट से जो वस्तु पैदा होती है, वह उसी व्यक्ति के काम में आती है। और जो वस्तु जिसके अदृष्ट से पैदा नहीं होती वह उस व्यक्ति के काम में नहीं आती।

समा०—किसी वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व उस स्थान में किसी के रहने मात्र से वह उस वस्तु का उत्पादक नहीं होता है। अपितु उस वस्तु की उत्पत्ति में यदि उसकी आवश्यकता अपेक्षित हो तभी वह उस वस्तु का उत्पादक बनता है, अन्यथा नहीं। जैसे किसी गुरु के पास अनेक छात्र अध्ययनार्थ बैठे हुए हैं। गुरु उन छात्रों को पढा रहा है। पढ़ाते समय गुरु ने कोई प्रश्न पूछा। उस प्रश्न का उत्तर सभी छात्र जानते हैं वे सब छात्र उत्तर देने में समर्थ भी हैं। तथापि गुरु जिस छात्र से उत्तर प्राप्त करने की अपेक्षा रखता है, वही छात्र उत्तर देता है। अन्य छात्र चुप-चाप बैठे रहते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे कोई तन्तुवाय अथवा कुलाल किसी कपड़े को अथवा घट को बुनता है या बनाता है, उस समय उसके माता, पिता, बच्चे अथवा अन्यान्य कितने ही पट-घट-निर्माणदक्ष लोग भी वहाँ उपस्थित रहते हैं, किन्तु वे पट-घट को बनाने नहीं लग जाते हैं। अपितु उस पट या घट को बनाने में लगा हुआ तन्तवाय या कुलाल ही उसका निर्माण किया करता है। और वहाँ उपस्थित अन्य

सभी लोग चुप-चाप स्थित रहते हैं। उसी प्रकार वस्तु की उत्पत्ति के समय अनेक आत्माओं के अनेक अदृष्टों की उपस्थिति रहने पर भी तत्तद् वस्तु की उत्पत्ति उसी व्यक्ति के अदृष्ट से होती है, जिसके लिये उस वस्तु का उपयोग होना है। उसी व्यक्ति का अदृष्ट उस वस्तु की उत्पत्ति में आवश्यकरूप से अपेक्षित है। अन्य व्यक्तियों के अदृष्ट उस समय वहाँ उपस्थित रहने पर भी वे सब उस वस्तूत्पत्ति के प्रति 'अन्यथा सिद्ध' होते हैं।

शंका—सभी आत्माओं की विभुता यदि समान है तो उन आत्माओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले अदृष्ट तथा अन्य गुणों में सांकर्य होने की भी संभावना हो सकती है। कभी किसी समय किसी कारण से किसी आत्मा में कोई गुण उत्पन्न होता है तो उस गुण को अन्य सभी आत्माओं में भी होना चाहिये। क्योंकि उस गुणोत्पादक करण का सम्बन्ध अन्य सभी विभु आत्माओं से समान ही है।

समा०—पट के उत्पादक तन्तुओं का पट निर्माण के अन्यान्य उपकरण तुरी-वेमा आदि के साथ सामान्य सम्बन्ध रहता ही है, तथापि उन उपकरणों में पट की उत्पत्ति नहीं होती। अपितु तन्तुओं में ही (पट की) उत्पत्ति होती है। तन्तुओं में ही पट की उत्पत्ति होने के लिये उसके कारणभूत तन्तुओं का 'तादात्म्य' अपेक्षित रहता है। वह तादात्म्य, पट निर्मापक अन्यान्य उपकरणों में न होने से उनमें पटोत्पत्ति नहीं होती, किन्तु तन्तुओं का पट से तादात्म्य होने के कारण तन्तुओं में ही पट की उत्पत्ति होती है। इस उदाहरण से यह निष्पन्न हुआ कि किसी वस्तु के उत्पादक कारणों के साथ कथंचित् सम्बन्ध हो जाने मात्र से वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। अपितु उसकी उत्पत्ति के लिए उसके कारणों के साथ जिस सम्बन्ध की अपेक्षा हो, उस अपेक्षणीय सम्बन्ध के रहने पर ही उस वस्तु की उत्पत्ति होती है।

उसी प्रकार कर्म करने वाले के जिस कर्म से जिस अदृष्ट की उत्पत्ति होती है, वह अदृष्ट उसी कर्मकर्ता की आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः सांकर्य होने की कोई बात ही नहीं है।

सांख्यदर्शन ने भी 'आत्मा' का विभु परिमाण ही माना है। परन्तु इनके मत में वह 'सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व' रूप नहीं है। अपितु वह (विभुत्व) अपरिच्छिन्नत्वरूप है। अर्थात् परिमाणशून्य है। अतः उसका कोई परिमाण नहीं है।

जैनदार्शनिकों ने 'आत्मा' को 'मध्यमपरिमाण वाला' बताया है। अर्थात् आवश्यकतानुसार रबर की तरह जिसमें संकोच-विकास (वृद्धि-ह्रास) होता रहता है। चीटी के शरीर में वह छोटा, मनुष्य के शरीर में उसके शरीर के अनुमाप से वैसा और हाथी के शरीर में उसके परिमाण का होता है। अर्थात् जिस प्राणी का जैसा शरीर रहता है, तदनुरूप ही वह उस आकार में हो जाता है। जैन दार्शनिकों के मत में 'आत्मा' में दो अंश होते हैं। एक अंश तो ऐसा है, जिसमें वह सर्वदा एकरूप (अपने स्वा-

भाविकरूप) में बना रहता है। इस 'अंश' को द्रव्य कहते हैं। और दूसरा अंश, प्रत्येक क्षण में परिवर्तित होता रहता है। इस दूसरे अंश को वे लोग 'पर्याय' शब्द से कहते हैं। एवं च 'आत्मा' द्रव्य और पर्याय एतदुभयअंशवाला होता है। द्रव्यात्मक 'अंश' परिमाण रहित होता है। और पर्यायात्मक 'अंश' मध्यमपरिमाण वाला होता है। इस अंश की दृष्टि से उसका 'मध्यम परिमाण' कहा जाता है।

इस पर आस्तिक दार्शनिकों का कहना है कि 'आत्मा' के द्रव्य और पर्याय दोनों अंश यदि आपस में एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हों तो पर्याय अंश के संकोच-विकास का उसके 'द्रव्यात्मक अंश' पर कोई प्रभाव नहीं होगा, तब 'आत्मा' को 'मध्यम परिमाण' का कैसे कहा जायेगा ?' और यदि दोनों अंशों को एक ही (अभिन्न) कहें तो पर्यायात्मक एक अंश के अनित्य रहने से दूसरे द्रव्यात्मक अंश को भी अनित्य कहना होगा। इस तरह अंशद्वयात्मक सम्पूर्ण आत्मा जब अनित्य रहेगा, तो मृत्यु के पश्चात् उसके किये हुए सभी 'कर्म' निष्फल होंगे। और दूसरे जन्म में बिना कर्म के ही सुख-दुःखादि फल प्राप्त होंगे। अर्थात् 'कृतहान' और 'अकृताभ्यागम' दोष उपस्थित होगा।

वेदान्तदर्शन में इसके परिमाण के सम्बध में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। अद्वैत वेदान्ती 'आत्मा' को ब्रह्मरूप मानते हैं। और 'ब्रह्म' परिमाणशून्य है,इसलिये 'आत्मा' भी परिमाणशून्य है। उसका 'विभुत्व' परिमाणशून्यत्वरूप है। इनके मत में 'जीवात्मा' अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप है। इसलिये अन्तःकरण के परिमाण की दृष्टि से उसे मध्यमपरिमाण वाला कह सकते हैं।

अन्य वैष्णवदार्शनिकों ने 'आत्मा' को अणुपरिमाण वाला कहा है। अणु होने से यद्यपि वह शरीर के हृदयभाग में स्थित है, तथापि, उसकी ज्ञानरूप प्रभा (प्रकाश) सम्पूर्ण शरीर में फैली रहती है। अत एव सुख-दुःख आदि का युगपत् अनुभव होने में कोई रुकावट नहीं होती। क्योंकि शरीर में स्थित ज्ञानवाहिनी-क्रियावाहिनी धमनियों के द्वारा शरीर में होने वाली क्रियाओं के संवेदन में कोई बाधा नहीं हो पाती। आत्मा के 'अणुत्व' का प्रतिपादक श्रुतिवचन भी है—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'(मुं० उ० ३।९)।

किन्तु श्रुति में प्रतिपादित 'अणुत्व' का तात्पर्य अणुपरिमाण के बताने में नहीं है। अपितु बाह्येन्द्रियों से उसकी अवेद्यता बताने में है। और अनुमान प्रमाण से भी स्पष्ट होता है कि वह अणुपरिमाण वाला नहीं है। 'आत्मा अणुत्वरहितः इन्द्रियग्राह्य-गुणाधिकरणत्वात् कुम्भवत्' इति। अतः 'आत्मा' को अणुपरिमाणवाला समझना उचित नहीं है। उसी तरह आत्मा को मध्यमपरिमाणवान् समझना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सावयवत्वादि दोप प्रसक्त होते हैं। इन सब बातों का विचार करने पर अन्ततोगत्वा आत्मा का विभुत्व पक्ष ही समीचीन प्रतीत होता है।

ईश्वर—

ईश्वर की चर्चा का प्रसंग इसलिये उपस्थित कर रहे हैं कि न्यायदशनकार ने 'आत्मा' को द्विविध बताते हुए 'ईश्वर' का भी संग्रह किया है। तर्कसंग्रहकार ने 'आत्मा द्विविधः, जीवात्मा-परमात्मा चेति' कहकर उसका स्पष्ट उल्लेख भी किया है। अत एव दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि अनुमान की व्याख्या के आरम्भ में ही 'ॐ-नमः सर्वभूतानि विष्टभ्य परितिष्ठते। अखण्डानन्दबोधाय पूर्णाय परमात्मने ॥' मंगलाचरण किया है।

'आत्मत्वजातिमान् और ज्ञानगुणवान्'—ये दोनों लक्षण आत्मा की तरह ही परमात्मा (ईश्वर) में भी घटित हो रहे हैं। न्याय दर्शनकार ने परमात्मा (ईश्वर) को समस्त जगत् के कर्ता के रूप में, वेदरचयिता के रूप में और शुभाशुभ कर्मों के अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया है।

शंका—किसी पदार्थ के सिद्ध रहने पर ही उसका लक्षण बनाया जाता है। तथा जगत्कर्तृत्व और वेदरचयितृत्व, तथा कर्माधिष्ठातृत्व, ये सभी तब घटित हो सकते है जब 'ईश्वर' नाम का कोई तत्त्व किसी प्रमाण से प्रथमतः सिद्ध हो जाय ! बिना उसे सिद्ध किये उसमें कर्तृत्वादिधर्म बताना तो 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' के समान ही है।

यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, श्रुति आदि प्रमाणों से **'जीवात्मा'** की सिद्धि हो चुकी है, तथापि **'ईश्वर'** साधक किसी प्रमाण की उपलब्धि न होने से 'ईश्वर' की सिद्धि अभी नहीं हो पायी है। 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से **ईश्वर** की सिद्धि कहें, तो वह संभव नहीं है। क्योंकि बाह्य-आभ्यन्तर भेद से प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है। 'घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय' इन पाँच इन्द्रियों से **'बाह्य प्रत्यक्ष'** हुआ करता है। 'बाह्य-प्रत्यक्ष' के होने में उक्त पाँच इन्द्रियों को 'प्रमाण' कहा जाता है। और 'मन' इन्द्रिय को आभ्यन्तर प्रत्यक्ष में 'प्रमाण' कहते हैं। अर्थात् 'मन' इन्द्रिय से **आन्तर प्रत्यक्ष** होता है। उक्त पञ्चविध बाह्य प्रत्यक्ष में भी 'चक्षु' और 'त्वक्' ये दो इन्द्रिय ही महत्त्वविशिष्ट तथा उद्भूतरूप, और स्पर्श वाले 'द्रव्य' का ग्रहण करते हैं। और 'घ्राण', 'रसन' तथा 'श्रोत्र'—ये तीन इन्द्रियाँ, 'द्रव्य' का ग्रहण नहीं करतीं हैं।

नैयायिकों ने तो 'ईश्वर' नामक द्रव्य को 'आकाशादि' द्रव्यों के समान रूप, स्पर्श गुणों से रहित माना है। इसलिये 'बाह्य प्रत्यक्ष प्रमाण' से तो 'ईश्वर' का प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। 'मन' रूप आभ्यन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण से भी उसका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता, क्योंकि 'मन' से तो 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इत्याकारक प्रत्यक्ष, **'जीवात्मा'** का ही होता है। एवं च 'मन' से भी 'ईश्वर' संज्ञक परमात्मा का प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है। अथवा जैसे 'चैत्र' नामक पुरुष का 'जीवात्मा' और 'मैत्र' नामक पुरुष का 'जीवात्मा'

दोनों परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। भिन्न होने से चैत्र के 'मन' से 'मैत्र' के जीवात्मा का प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। उसी प्रकार 'जीवात्मा' से 'परमात्मा' भी अत्यन्त भिन्न है। अतः इस 'जीवात्मा' के मन से उस परमात्मा (ईश्वर) का प्रत्यक्ष होना भी सम्भव नहीं हो सकता। तथा 'अनुमान प्रमाण' से भी 'ईश्वर' का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। क्योंकि जैसे 'धूम' रूप **हेतु** से 'अग्नि' रूप **साध्य** की व्याप्ति प्रसिद्ध है, वैसी व्याप्ति किसी हेतु में ईश्वररूप साध्य की प्रसिद्ध हो तो उस 'हेतु' से ईश्वररूप 'साध्य' का अनुमान भी किया जा सकेगा। किन्तु किसी भी 'हेतु' में उस ईश्वररूप 'साध्य' निरूपित व्याप्ति (साध्य की व्याप्ति) प्रसिद्ध नहीं है। और अव्यभिचरित सम्बन्ध रूप 'व्याप्ति' ज्ञान के बिना 'अनुमान' हो नहीं सकता। अतः 'ईश्वर' के विषय में 'अनुमान प्रमाण' का भी संभव नहीं है।

यदि यह कहो कि 'ईश्वर' के विषय में 'द्यावाभूमीजनयन् देव एकः', 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्यादि वेद-वाक्य ही प्रमाण हैं, तो उसका भी संभव नहीं हो रहा है। क्योंकि 'वेदों' का प्रामाण्य तो 'ईश्वर' के द्वारा प्रणीत होने से ही माना जाता है। अतः प्रथमतः 'ईश्वर' की सिद्धि किसी प्रमाण से होने पर ही 'ईश्वरोच्चरितत्व' रूप हेतु के द्वारा 'वेदों' का प्रामाण्य सिद्ध हो सकेगा। किन्तु 'ईश्वर' की सिद्धि अभी तक किसी प्रमाण से हुई नहीं है। इसलिये 'ईश्वर' के विषय में 'वेद' को प्रमाण कहना कैसे संभव हो सकता है? जब 'वेद' ही अभी प्रमाण नहीं हो पाये हैं, तो 'वेदमूलक स्मृति' को भी ईश्वर के विषय में प्रमाण नहीं कह सकते। एवं च प्रमाणाभाव के कारण 'ईश्वर' नाम की कोई वस्तु नहीं है।

समा०—अनेक अनुमान प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। जैसे—'क्षित्यङ्कुरादिकं कार्यं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्'—क्षिति, अङ्कुर आदि कार्य, किसी कर्ता के द्वारा ही उत्पन्न होने योग्य हैं, क्योंकि वे 'कार्यरूप' हैं। 'यद् यत् कार्यं, तत्तत् कर्तृजन्यम्'—जो-जो कार्यरूप पदार्थ होता है, वह किसी कर्ता से ही जन्य हुआ करता है—बिना कर्ता के कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता है। जैसे—'घट' कार्यरूप होने से 'कुलाल' रूप कर्ता से ही जन्य होता है। उसी तरह क्षिति, अङ्कुरादि कार्य भी 'कार्य रूप' होने से किसी 'कर्ता' के द्वारा अवश्य ही जन्य होंगे। ऐसी स्थिति में उन क्षिति, अङ्कुरादि कार्यों का कर्तृत्व किसी जीवात्मा में होना कभी भी सम्भव नहीं है, किन्तु 'ईश्वर' में ही उनका कर्तृत्व सम्भव हो सकता है। अतः अनुमान प्रमाण से 'ईश्वर' की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार 'ईश्वर' की सिद्धि हो जाने से तत्प्रणीत 'वेद' की प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है। अतः प्रमाणभूत वेद बता रहा है कि—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (ऋ० १।१६४।२०)

एक वृक्ष पर दो पक्षी, जो एक दूसरे के सखा (मित्र) और सहयोगी हैं, बैठे हुए हैं। उनमें से एक सुस्वादु फलों को खाता है, और दूसरा उसके फलों को नहीं खाता, किन्तु अपने मित्र का साक्षी और सहायक के रूप में केवल स्थित रहता है। उसी तरह 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः,' 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता,' ईश्वर-मुपासीत', 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्', 'यस्य ज्ञानमयं तपः', 'सोऽकामयत'—स्वर्ग और भूमि को उत्पन्न करने वाला एक ईश्वर सम्पूर्ण-विश्व का कर्ता है तथा सम्पूर्ण भुवनों का रक्षक है, ईश्वर की उपासना करनी चाहिये, जो ईश्वर सामान्यरूप से सब को जानने वाला है, वही विशेष रूप से भी सब को जानने वाला है, जिस ईश्वर का ज्ञानमय ही तप है, उस ईश्वर ने इच्छा की, इत्यादि अनेक वेद-वचन ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण रूप में दिये जा सकते हैं। तथा—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' (भ० गी० १८।६१)

ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित है और देह (शरीर) यन्त्र पर बैठे प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यापारों में नियुक्त करता रहता है—इत्यादि स्मृतियों के भी अनेक वचन ईश्वर के सद्भाव में उपलब्ध होते हैं।

ईश्वर में आठ गुण रहते हैं। 'ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न'—ये तीन विशेष गुण तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—ये पाँच समान्यगुण। 'ईश्वर' संख्या में एक है और परिमाण में 'परम-महान्' है। उसका ज्ञान, उसकी इच्छा, और उसका प्रयत्न—नित्य और सर्वविषयक रहता है।

जीवात्मा में 'ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न' की उत्पत्ति, शरीर के सम्बन्ध से होती है। और शरीर का सम्बन्ध, पूर्वार्जित कर्मों के फलोपभोगार्थ होता है। किन्तु ईश्वर का कोई पूर्वकर्म नहीं है, जिसके फलभोगार्थ उसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो। एवं च उसका शरीर से कोई सम्बन्ध न रहने कारण उस में ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः ईश्वर में 'ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न' को नित्य स्वीकर किया जाता है एवं च उसमें पूर्वोक्त जगत्कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व वेदप्रणेतृत्व, वेदार्थज्ञत्व, अधिष्ठातृत्व आदि सभी की उपपत्ति सरलता से हो जाती है। पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति कराने में वह सहायक रहता है। उसकी सहायता और उसके अनुग्रह प्राप्ति के लिये ही मनुष्य अहर्निश उसकी उपासना करता रहता है। श्रीमदुदयनाचार्य अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में कहते हैं—

'स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥'—(कुसु० १।२)।

जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की भिन्नता—

न्यायदर्शन की दृष्टि में 'जीवात्मा' अनेक हैं और वे स्व-कर्म पराधीन हैं। संसार

दशा' में वह सशरीर है, किन्तु तत्त्वज्ञानसाध्य 'मोक्षदशा' में वह अशरीर है। श्रुति ने उसकी इस स्थिति को 'अशरीरं वा वसन्तम्' कह कर बताया है कि मोक्षदशा में 'मुक्तजीवात्मा शरीर से रहित कहा जाता है।

किन्तु 'ईश्वर' एक है, वह कर्मपराधीन नहीं है, धर्माधर्मादि अदृष्ट के न-रहने से उसे शरीर की प्राप्ति नहीं है अर्थात् सर्वदा ही वह अशरीर है। वह नित्य मुक्त ही रहता है। इस प्रकार से जीवात्मा और परमात्मा में न्यायदर्शन की दृष्टि में भिन्नता स्पष्ट होती है।

किन्तु शांकरवेदान्त की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा दोनों में अभेद है। इनका कहना है कि 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म।' 'नेह नानास्ति किञ्चन।' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति। द्वितीयाद् वै भयं भवति।'—एक अद्वितीय ब्रह्म है। इस अद्वितीय ब्रह्म के सिवाय किञ्चिन्मात्र भी नाना जगत् नहीं है, इस अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त नाना जगत् को जो देखता है, वह भेददर्शी मनुष्य पुनः पुनः जन्म-मरणात्मक संसार को प्राप्त होता है। जो पुरुष उस अद्वितीय ब्रह्म में किञ्चिन्मात्र भी भेद को देखता है, उस भेददर्शी को भय की प्राप्ति होती है, क्योंकि द्वितीय से ही भय की प्राप्ति हुआ करती है। इत्यादि अनेक श्रुतिवचन 'अद्वितीय ब्रह्म' को ही बताते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म'—वह ब्रह्म 'सत्यरूप' है, तथा 'ज्ञानरूप' है, तथा 'अनन्तरूप' है। 'ब्रह्म आनन्दरूप' है। अर्थात् वह अद्वितीय ब्रह्म, (१) **देशपरिच्छेद**, (२) **कालपरिच्छेद** (३) **वस्तुपरिच्छेद**—इन तीनों परिच्छेदों से रहित है, इसलिये 'ब्रह्म' को 'अनन्त' कहा जाता है। 'ब्रह्म', उत्पत्ति-विनाश से रहित है, इसलिये उसे 'सत्य' कहा जाता है। वह 'ब्रह्म' अपने प्रकाश के लिये अन्य किसी प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता, इसलिये उसे 'ज्ञानरूप' (चैतन्यस्वरूप) कहा जाता है। उसकी आनन्दरूपता से ही सर्वत्र 'आनन्द' की प्रतीति होती है, इसी लिये उसे 'आनन्दरूप' कहा जाता है।

जितने भी अनात्म पदार्थ घट-पटादि हैं, वे सभी तीन परिच्छेदों वाले ही है। उन तीन परिच्छेदों में से 'अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं **देशपरिच्छेदः**'—अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को 'देशपरिच्छेद' कहते हैं। जैसे—घट-पटादि पदार्थ, जिस भूतलादि देश में रहते हैं, उस देश को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र उनका अत्यन्ताभाव रहता है। उस अत्यन्ताभाव की 'प्रतियोगिता' उन घट-पटादि पदार्थों में रहती है। यही उन घट-पटादिकों का 'देशपरिच्छेद' है। उसी तरह 'ध्वंसप्रागभाव-प्रतियोगित्वं **कालपरिच्छेदः**'—ध्वंसाभाव तथा प्रागभाव की प्रतियोगिता को 'कालपरिच्छेद' कहते हैं। जैसे—'घट' आदि जन्य पदार्थों का अपनी उत्पत्ति से पहले कपालादिकों में 'प्रागभाव' रहता है, और अपने विनाश के बाद उन कपालादिकों में उनका 'प्रध्वंसाभाव' रहता है। उस प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव की 'प्रतियोगिता' उन घटादि पदार्थों में

रहती है। यही उन घटादि पदार्थों का 'कालपरिच्छेद' है। तथा 'अन्योन्याभाव-प्रतियोगित्वं **वस्तुपरिच्छेदः'** —भेदरूप अन्योन्याभाव की जो प्रतियोगिता है, उसी को वस्तुपरिच्छेद कहते हैं। जैसे—'घटः पटो न'—घट, 'पट' नहीं है। इस प्रतीति में भासमान जो 'घट' आदि वस्तु में 'पट' आदि वस्तु का भेदरूप 'अन्योन्याभाव' है। उस अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता उस 'पट' आदि वस्तु में रहती है। यही पटादि वस्तुओं का 'वस्तुपरिच्छेद' है।

ये तीनों परिच्छेद, उस 'ब्रह्म' में नहीं हैं। क्योंकि वह तो सर्वत्र व्यापक (विभु) है, इसलिये 'ब्रह्म' में 'देशपरिच्छेद' का होना संभव नहीं है। 'ब्रह्म' उत्पत्ति-विनाश से रहित है, इसलिये 'ब्रह्म' में कालपरिच्छेद' का होना भी संभव नहीं है। एवं 'ब्रह्म', सभी का 'आत्मा' है, इसलिये 'ब्रह्म' में वस्तु-परिच्छेद का होना भी संभव नहीं है। अतः 'ब्रह्म' अपरिच्छिन्न है। उस 'ब्रह्म' के एक देश में 'अव्याकृत' नाम की 'मूल प्रकृति' रूपा शक्ति रहती है। वह 'शक्ति' सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका होने से 'त्रिगुणात्मिका' कहलाती है। वह त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति ही 'शुद्ध सत्त्वगुण' की प्रधानता से 'माया' कही जाती है। और 'मलिन सत्त्वगुण' की प्रधानता से 'अविद्या' कही जाती है। 'रजोगुण', 'तमोगुण' से अनभिभूत 'सत्त्वगुण' को 'शुद्ध' कहते हैं। और 'रजोगुण, तमोगुण' से अभिभूत हुए 'सत्त्वगुण' को 'मलिन' कहते हैं। एवं च एक ही 'मूलप्रकृति' मायारूपा तथा अविद्यारूपा होती है। श्रुति कहती है—'माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति'। इसी माया—अविद्यारूप प्रकृति को 'अज्ञान' भी कहते हैं।

जीव और ईश्वर का भेद—

'माया' से विशिष्ट हुए 'ब्रह्म' (चेतन) को 'ईश्वर' कहते हैं। और 'अविद्या' से विशिष्ट हुए 'ब्रह्म' (चेतन) को 'जीवात्मा' कहते हैं। अर्थात् एक ही 'ब्रह्मचेतन' 'मायारूप' उपाधि के सम्बन्ध से 'ईश्वर' संज्ञा प्राप्त करता है, और 'अविद्यारूप' उपाधि के सम्बन्ध से 'जीवात्मा' की संज्ञा को प्राप्त करता है। जैसे एक ही 'आकाश' घट-मठादि उपाधियों के सम्बन्ध से 'घटाकाश, मठाकाश' संज्ञा प्राप्त करता है, वैसे ही शुद्धसत्त्वप्रधान-मायारूप उपाधि के सम्बन्ध से वह 'ईश्वर' कहलाता है और वह 'सर्वज्ञ' सर्वशक्तिमान् तथा उसका अपना 'शुद्धब्रह्म' स्वरूप, 'आवरण' से रहित रहता है। इसीलिए 'माया' उसके अधीन रहती है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अत एव उसे 'मा-या' संज्ञा दी गई है। किन्तु 'जीवात्मा' मलिनसत्त्वप्रधान 'अविद्यारूप' उपाधि के सम्बन्ध से 'अल्पज्ञ' होता है। अल्पशक्तिमान् होता है। उसके अपने 'शुद्धब्रह्मस्वरूप' पर आवरण छाया रहता है। जिससे वह 'अविद्या' के अधीन रहता है। यद्यपि 'ईश्वर-चेतन' में तथा 'जीवचेतन' में सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व आदि धर्म उसके स्वरूपभूत नहीं हैं, तथापि 'माया' और 'अविद्या' रूप उपाधि के संबंध से वे धर्म उसमें प्रतीत होते हैं।

तत्त्वज्ञान होने पर 'जीवात्मा' जब उपाधि से रहित हो जाता है तब उसकी 'जीवात्मा' संज्ञा नष्ट होकर 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' वह 'ब्रह्म' ही हो जाता है। इसलिए इनकी दृष्टि में 'जीव-ब्रह्म' का अभेद ही माना जाता है।

नैयायिक कहता है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के बल पर वेदान्तियों ने 'ब्रह्म' को नित्यज्ञानस्वरूप जो स्वीकार किया है, वह उचित नहीं है। क्या वेदान्ती, जीव-ईश्वरोभयसाधारण ब्रह्ममात्र को 'ज्ञानरूप' कहता है, अथवा केवल 'जीवात्मा' को ही 'ज्ञानरूप' कह रहा है, अथवा केवल 'ईश्वर' को ही 'ज्ञानरूप' बता रहा है ?

उक्त तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प को यदि कहें तो 'जीवात्मा' को भी 'ज्ञानरूपता' प्राप्त होगी। इसी प्रसंग में पुनः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वह 'ज्ञान' निर्विषय है अथवा सविषय है ? इन दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प की संभावना तो नहीं की जा सकती। क्योंकि 'निर्विषयज्ञान' के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव जो भी ज्ञान होता है, वह सविषय ही होता है। यह नियम है—'यद्यज्ज्ञानं तत्तत् सविषयं भवति'। इसलिये प्रथम विकल्प का स्वीकार नहीं कर सकते हैं। अब यदि दूसरा विकल्प स्वीकार करें तो यह सोचना होगा कि वह 'ज्ञान' सम्पूर्ण जगद्विषयक है, अथवा यत्किंचित् 'वस्तु'विषयक है ? किन्तु इन दो विकल्पों में से भी प्रथम-विकल्प को यदि स्वीकार करते हैं तो सभी जीवात्माओं को 'सर्वज्ञ' होना चाहिये। परन्तु कोई भी जीवात्मा सर्वज्ञ होता देखा नहीं है। अतः दूसरा विकल्प मान लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यत्किञ्चिद्वस्तुविषयक कहने पर 'यत्-किञ्चित्' शब्द से 'एक घटव्यक्ति' का ग्रहण होता है, उससे भिन्न 'पट' आदि वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता। अथवा 'यत्किञ्चिद्' शब्द से 'एक पट व्यक्ति' का ग्रहण हो तो 'घट' आदि वस्तुओं का ग्रहण नहीं होगा। एवं च एक अर्थ की साधक कोई युक्ति नहीं है। अतः विनिगमनाविरह के कारण इस विकल्प के स्वीकार करने पर भी 'ज्ञान' में सर्वजगद्विषयकता ही प्राप्त होगी। उससे इस विकल्प में भी जीवात्मा की सर्वज्ञता प्राप्ति का दोष उपस्थित होगा। किञ्च सविषयज्ञानरूप जीवात्मा, 'सुपुप्ति' में भी विद्यमान रहने से सुपुप्ति की अवस्था में भी उसे विषय का भान होना चाहिये। किन्तु सुपुप्ति अवस्था में किसी भी विषय का भान नहीं हुआ करता। इसलिये जीव-ईश्वरो-भयसाधारण ब्रह्ममात्र की ज्ञानरूपता का प्रथम विकल्प ठीक नहीं है। तथा उक्त श्रुतिवचनों के आधार पर स्वीकृत किया गया जीवात्मा की ज्ञानरूपता का द्वितीयपक्ष भी पूर्वोक्त दोषों की प्राप्ति होने से ठीक नहीं है। उक्त श्रुतिवचनों के आधार पर केवल ईश्वर की ही 'ज्ञानरूपता' का जो तृतीय विकल्प है, उसे स्वीकार करें तो 'सर्वज्ञता-प्राप्ति' को दोषरूप तो नहीं माना जायेगा, क्योंकि उसकी 'सर्वज्ञता' का स्वीकार सभी शास्त्रों ने किया है। कोई भी शास्त्र उसे 'अल्पज्ञ' नहीं कहता। तथापि 'ईश्वर' की 'ज्ञानरूपता' उससे सिद्ध नहीं हो पा रही है। क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'

का अर्थ तो यह है कि 'जो ईश्वर सम्पूर्ण जगत् को सामान्यरूप से विषय करने वाले ज्ञान का आश्रय है, वही ईश्वर, सम्पूर्ण जगत् को विशेषरूप से विषय करने वाले ज्ञान का आश्रय है।' एवं च उक्त श्रुतिवचन से ईश्वर में सम्पूर्णजगद्-विषयक 'नित्यज्ञान' की आश्रयता ही स्पष्ट प्रतीत हो रही है। उसकी 'ज्ञानरूपता' (ज्ञानस्वरूपता) प्रतीत नहीं हो रही है। इसलिये 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिगत 'ज्ञान' शब्द से 'ज्ञान के आश्रय' का ही ग्रहण करना उचित है। उसी प्रकार 'आनन्द' पद से 'आनन्द के आश्रय' का ही ग्रहण करना चाहिये। यद्यपि 'सुखरूप आनन्द' ईश्वर में नहीं रहता है, वह तो जीवात्मा में ही रहता है। इसलिये ब्रह्मरूप ईश्वर में आनन्द की आश्रयता का संभव नहीं है, तथापि 'आनन्द' शब्द यहाँ पर लक्षणावृत्ति के द्वारा 'दुःखाभाव' को बता रहा है। वह 'दुःखाभाव' ईश्वर में रहता ही है। लोकव्यवहार में सभी लोग 'सुख' शब्द का प्रयोग 'दुःखाभाव' में किया करते हैं। जैसे किसी 'भार' से दुःखी हुआ आदमी उस भार के दूर हो जाने पर अपने को 'सुखी' हुआ समझता है और कहता है कि 'अब मैं सुखी हुआ हूँ।' अतः दुःखाभाव में ही 'सुख' शब्द का प्रयोग हुआ करता है। अतः श्रुतिवचन के 'आनन्द' शब्द से भी 'दुःखाभाव' का ही ग्रहण करना चाहिये। अथवा उस ईश्वर में 'नित्यज्ञान' के समान 'नित्य आनन्द' माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि 'ईश्वर' आनन्दरूप नहीं है। उसकी आनन्दरूपता के न होने में 'असुखं ब्रह्म' यह श्रुतिवचन है। इस श्रुति ने 'ईश्वर' को 'सुख' से भिन्न बताया है। जो 'वस्तु' सुख से भिन्न होती है, वह 'वस्तु' सुखरूप नहीं हुआ करती। जैसे—'सुख' से भिन्न 'दुःख' को सुखरूप नहीं कहा जाता। यदि सुख से भिन्न 'वस्तु' को भी 'सुखरूप' माना जाय तो 'सुख' से भिन्न 'दुःख' को भी 'सुख' कहना होगा।

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन'—यह अधिकारी पुरुष 'ब्रह्म' के आनन्द को जानता हुआ किसी से भी 'भय' को प्राप्त नहीं होता है—इस श्रुतिवाक्य ने 'ब्रह्म' और 'आनन्द' के भेद को स्पष्ट कर दिया है। इसलिये 'ब्रह्मरूप ईश्वर' की आनन्दरूपता न होकर 'आनन्द' (सुख) गुण की उसमें 'अधिकरणता' (आश्रयता) ही स्पष्ट होती है।

अभेदवाद का खण्डन—

वेदान्तियों ने 'जीव और ईश्वर' का जो अभेद बताया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि संसार में कोई 'जीव' सुखी है, तो कोई 'जीव' दुःखी है, तथा कोई 'जीव' ज्ञानी है, तो कोई 'जीव' अज्ञानी है। इस प्रकार जीवों की विलक्षणता संसार में प्रसिद्ध है। यह विलक्षणता, जीवात्माओं को नाना (अनेक) माने बिना संभव नहीं हो सकती। समस्त शरीरों में एक ही जीवात्मा के मानने पर किसी एक शरीरी के सुखी या दुःखी

होने पर सभी शरीरधारियों को सुखी या दुःखी हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः सुख-दुःखादिकों की विचित्रता से 'जीवात्माओं' को नाना (अनेक) ही मानना होगा। तब अनेक जीवों के साथ ईश्वर का अभेद कैसे संभव हो सकेगा ? यदि कदाचित् 'एक ईश्वर' को ही अनेक जीवरूप मानते हैं तो 'ईश्वर' में एकत्व तथा अनेकत्व दोनों प्राप्त होंगे किन्तु दोनों का एकत्र रहना अत्यन्त विरुद्ध है। जिस 'वस्तु' में एकत्वधर्म रहता है, उस वस्तु में अनेकत्व धर्म नहीं रहता। और जिस वस्तु में अनेकत्व धर्म रहता है, उस में एकत्व धर्म नहीं रहता। इसलिये 'ईश्वर' से जीवात्मा को भिन्न ही मानना चाहिए।

किञ्च—एक ईश्वर के साथ अनेक (नाना) जीवात्माओं का अभेद मानने पर तो 'कोई जीवात्मा बद्ध है तो कोई जीवात्मा मुक्त है'—यह बन्ध-मोक्ष व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्'—न्याय से एक ईश्वर से अभिन्न बद्ध जीवों का तथा मुक्तजीवों का परस्पर भी अभेद सिद्ध हो जायेगा। उससे बद्धजीवों में भी मुक्तता प्राप्त हो जायेगी। तथा मुक्त जीवों में भी बद्धता प्राप्त हो जायेगी। किन्तु ऐसा होना नितान्त असंगत ही कहा जायेगा। अतः एक ईश्वर के साथ नाना जीवात्माओं का अभेद कहना उचित नहीं है।

वेदान्तियों ने जीव-ईश्वर दोनों में अभेदसाधनार्थ 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म'। इत्यादि श्रुतिवाक्यों को जो उपस्थित किया है, उनसे 'जीव-ईश्वर' की एकता (अभेद) सिद्ध नहीं हो रही है। क्योंकि ये सभी वाक्य कर्मकर्ता जीवात्मा की स्तुति (प्रशंसा) करते हैं इसलिए वे सब 'अर्थवाद' हैं। अर्थात् 'यह कर्मकर्ता जीव ईश्वर ही है'—इस प्रकार स्तुति करते हैं। ऐसे अर्थवादवाक्यों से 'जीवात्मा' को ईश्वररूप सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यदि स्तुतिरूप अर्थवादवाक्य से भी अभेदसिद्धि के प्रदर्शन का आग्रह (हठ) करते हो तो 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः'—यूप ही आदित्य है, और प्रस्तर ही यजमान है—इत्यादि स्तुत्यर्थरूप अर्थवादवाक्यों से भी 'यूपसंज्ञक काष्ठमय स्तंभ' को आदित्यरूप कहना चाहिए, उसी तरह दर्भमुष्टिरूप प्रस्तर को भी यजमानरूप कहना चाहिए। किन्तु इस प्रकार की समझ तो प्रत्यक्षप्रमाण के विरुद्ध ही कही जायेगी। अभिप्राय यह है कि उन स्तावक अर्थवादवाक्यों से 'जीवात्मा' को ईश्वररूप सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। जब कि सभी लोगों को 'मैं ईश्वर नहीं हूँ'—इस प्रकार जीवेश्वरभेदविषयक अनुभव होता है, तो उस अनुभव के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन, वेद कैसे करेगा ? एवं च उक्त श्रुतिवाक्य, स्तुत्यर्थवादरूप होने से 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्यों के समान अभेदार्थ के साधक नही हैं। अथवा 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (शु० र० १।२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों ने उपासना का विधान किया है—यह कहा जा सकता है। क्योंकि ईश्वर की उपासना किये बिना अधिकारी पुरुष को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना संभव

नही है। इसलिये 'ईश्वरमुपासीत' इत्यादि श्रुतिवाक्यों ने ईश्वर की उपासना का विधान किया है। अभेद का बोधन नहीं।

जीव और ईश्वर के भेदबोधक श्रुतिवचन—

नैयायिक ने अभी तक युक्तियों के द्वारा जीवेश्वर के भेद को सिद्ध किया, किन्तु अब वह श्रुति से भी उस भेद को सिद्ध कर रहा है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' अर्थात् एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखाभाव रखने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के कर्मरूप फलों का स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किन्तु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। 'दो ब्रह्म ज्ञातव्य हैं' 'लोक में ये दो पुरुष हैं'—इत्यादि श्रुति के अनेक वचन जीवेश्वर के भेद को बता रहे हैं। अतः जीवेश्वर के भेद को स्वीकार करना ही चाहिये।

शंका—जीवात्मा को ईश्वर से भिन्न मानने पर तथा आकाशादि जगत् को सत्य मानने पर 'ब्रह्म' की अद्वयता बताने वाली 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' श्रुति कैसे संगत हो सकेगी ?

समा०—उक्त श्रुति में जो 'अद्वितीय' पद है, वह 'ब्रह्म' से भिन्न जो सम्पूर्ण जगत् है, उसके अभाव को नहीं बता रहा है, अपितु उस ब्रह्मरूप ईश्वर में रहने वाली जो 'एकत्व' संख्या है, उस 'एकत्व संख्या' के समनियत विजातीय पदार्थों की विलक्षणता को ही वह बता रहा है। ईश्वर में स्थित जो सम्पूर्णजगत्कर्तृत्व है तथा नित्यज्ञान, नित्य-इच्छा, नित्य-प्रयत्न की जो आश्रयता है, वही तो उस ईश्वर में विजातीय जीव आदि पदार्थों से विलक्षणता है। अर्थात् समस्त जगत् का कर्ता तथा नित्य ज्ञान आदि का आश्रय एक ईश्वर ही है, उसके अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य नहीं है—इस अर्थ को 'अद्वितीय' पद ने बताया है। लोकव्यवहार में देखा जाता है कि 'किसी' में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अत्यधिक ज्ञान (विद्या) रहने पर उस 'व्यक्ति' को 'एको विद्वान् अद्वितीयः' इस प्रकार से लोग कहा करते हैं, तो क्या; यहाँ कहे गये 'अद्वितीय' शब्द से 'उस विद्वान्' से भिन्न सब लोगों के 'अभाव' को बताया जा रहा है ? अर्थात् नहीं। किन्तु उस 'विद्वान् पुरुष' में अन्य समस्त लोगों से विद्या की अधिकतारूप विलक्षणता को बताया जा रहा है। उसी तरह उक्त श्रुतिवाक्य में स्थित 'अद्वितीय' शब्द से उस एक ईश्वर में पूर्वोक्त विलक्षणता को ही बताया गया है। एवं च उक्त श्रुति के द्वारा ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् के अभाव की सिद्धि नहीं की गई है। वैसे ही 'सर्वं-खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति भी आकाशादि समस्त जगत् को 'ब्रह्मरूप' नहीं बता रही हैं, किन्तु यह समस्त जगत् 'ब्रह्म' के द्वारा व्याप्त है, अर्थात् ब्रह्मरूप ईश्वर से सम्बन्धित

है। यदि कदाचित् समस्त जगत् को ब्रह्मरूप मानने का हठ ही करेंगे तो अनित्य घट-पटादि जड़ जगत् से अभिन्न हुए ब्रह्मरूप ईश्वर में भी अनित्यरूपता तथा जड़रूपता प्राप्त होगी, जो आपको भी अभीष्ट नहीं है। इसलिये समस्त जगत् को 'ब्रह्मरूप' कहना उचित नहीं है।

शंका—'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय'—मैं एक ब्रह्म बहुत (अनेक) रूप होकर उत्पन्न होऊँ—इस श्रुति ने तो उस ब्रह्म (ईश्वर) को ही समस्त जगद्रूप बताया है। यदि इस समस्त जगत् को ब्रह्मरूप नहीं मानोगे तो उक्त श्रुति की संगति कैसे लगेगी ?

समा०—वेदान्ती ने जो अर्थ किया कि 'मैं एक ब्रह्म ईश्वर, घट-पटादि अनित्य-जड़ जगद्रूप हो जाऊँ'—वह ठीक नहीं है। उक्त-श्रुति, यह नहीं बता रही है, किन्तु वह तो यह बता रही है कि 'मैं निराकार एक ईश्वर, अपने भक्तजनों के उद्धारार्थ ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप से बहुत होऊँ। क्योंकि लोकव्यवहार में देखते हैं कि सामान्य व्यक्ति भी अपनी स्थिति से निकृष्ट होने की इच्छा नहीं करता, तो जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-सम्पन्न चेतन ईश्वर है; वह घट-पटादि जड़-प्रपञ्च (जगत्) रूप होना कैसे चाहेगा ? ईश्वर में ऐसी निकृष्ट ईच्छा की सम्भावना करना कदापि युक्तियुक्त नहीं है।

शंका—ब्रह्म (ईश्वर) से जड़ जगत् को भिन्न मानने पर समस्त प्रपञ्च द्वैत का निषेध करने वाली, तथा अद्वितीय ब्रह्म में द्वैत प्रपञ्च देखने वाले भेददर्शी व्यक्ति को पुनः पुनः जन्म-मरणरूप संसार की प्राप्ति का प्रतिपादन करने वाली 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादि श्रुतिवचनों की संगति कैसे लगेगी ?

समा०—इन श्रुतिवचनों का अर्थ, अभेदवादी ने जो बताया, वह नहीं है। उन वचनों का अर्थ इस प्रकार है—एक ब्रह्मरूप ईश्वर में नाना (अनेक) ईश्वरता नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक ही ईश्वर से इस विशाल जगत की उत्पत्ति हो सकती है। उसके लिये नाना (अनेक) ईश्वरों को मानने की आवश्यकता नहीं है। उस एक ईश्वर के विद्यमान रहते हुए भी जो भ्रान्त हुए लोग नाना ईश्वर मानते हैं, वे लोग पुनः पुनः जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होते हैं। एवं च सम्पूर्ण जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता एक ही ईश्वर है, अनेक नहीं। अतः वेदान्तियों का आत्म विषयक मत ठीक नहीं है।

आत्मा के विषय में महामीमांसक कुमारिलभट्टपाद का मत—

मीमांसादर्शन के भाट्टसम्प्रदाय में 'आत्मा' को देह (शरीर), इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, सुख इत्यादि सभी पदार्थों से भिन्न (पृथक्) तथा नित्य और भोग-स्वर्गापवर्ग-भाक् माना गया है। शांकर वेदान्तियों के समान उसे अकर्ता न मानकर, 'कर्मकर्ता' के रूप में माना है। 'आत्मा' में भट्टपाद ने 'चेतनरूप अंश' (चिदंश) तथा जड़रूप

अंश दोनों माने हैं। आत्मा की चित्-जड़रूपता के विषय में वे युक्ति यह देते हैं कि 'नींद (सुषुप्ति) से जगने पर आदमी यह कहता है—'मैं जड़रूप होकर सोता रहा'। जगने पर उसे इस प्रकार से स्मरण होना ही बताता है कि 'आत्मा' में जड़रूप अंश है। स्मरण उसी का होता है, जिसका पूर्वानुभव हो चुका हो। अनुभूत विषय का ही स्मरण हुआ करता है—यह नियम है। इस नियम के अनुसार जगने पर हुए स्मरण के कारण सुषुप्ति में हुए 'आत्मा' के जड़ अंश-विषयक अनुभव को अवश्य मानना होगा। क्योंकि उस सुषुप्ति में अनुभव-ज्ञान कराने वाले अन्य इन्द्रियादि साधन तो हैं नहीं, जो अनुभव करावें। परिशेषात् आत्मस्वरूप-विषयक ज्ञान को ही अपने उस जड़ अंश के ज्ञान का कराने वाला कहना होगा। अर्थात् सुषुप्ति में 'आत्मा' का चेतनरूप अंश ही 'आत्मा' के जड़रूप अंश को प्रकाशित करता है। जैसे खद्योत (जुगनू) में प्रकाशरूप अंश तथा अप्रकाशरूप अंश दोनों होते हैं, वैसे ही 'आत्मा' में भी प्रकाशरूप (चेतन) अंश तथा अप्रकाशरूप (जड़) अंश दोनों हैं। अर्थात् 'चेतन' (ज्ञान) रूप अंश के होने से वह उसका प्रकाश रूप भी होता है और 'जड़' रूप अंश के होने से वह उसका अप्रकाशरूप भी है।

किञ्च—कुछ दार्शनिकों ने 'आत्मा' को ही 'अहम् प्रत्यय' का विषय माना है। अतः उस 'आत्मा' में अहम्प्रत्ययजन्य 'ज्ञातता' धर्म की जो आश्रयता है, वही, उसमें (आत्मा में) अहम्प्रत्यय की 'विषयता' है। इस प्रकार की 'अहम्प्रत्यय' की विषयता का होना उस आत्मा के 'चेतन' अंश में तो संभव हो नहीं सकता। क्योंकि 'कर्म-कर्तृभाव' का विरोध होता है। उस विरोध के कारण वह 'चेतन अंश' स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसके 'चेतन अंश' को यदि अन्य (दूसरे) चेतन से प्रकाशित माना जाय तो घट-पटादि जड़ पदार्थों के समान उस 'चेतन अंश' में भी जड़ता प्राप्त होगी। अतः 'ज्ञानमात्र' को ही अतीन्द्रिय मानना चाहिये। तब अतीन्द्रियज्ञानस्वरूप 'चेतन' अंश में उस 'अहम्प्रत्यय' की विषयता संभव न हो पाने से उसके निर्वाहार्थ उस 'आत्मा' में 'जड' अंश का भी स्वीकार करना चाहिये, जिस 'जड' अंश को विषय करता हुआ वह 'अहम्प्रत्यय' आत्मविषयक सिद्ध हो सके। इस प्रकार 'आत्मा' में 'चित्-जड़रूपता' (अंशता) का स्वीकार सयुक्तिक है। उसी तरह उसकी 'चित्-जडरूप उभयअंशता' श्रुतिवचनों से भी सिद्ध होती है। तथाहि—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' यह श्रुति 'आत्मा' में मनोजन्यज्ञान-विषयता को बता रही है, और 'एतदप्रमेयं ध्रुवम्'—यह 'ब्रह्म', अप्रमेय (प्रमाण का अविषय) तथा नित्य है—इस श्रुति के द्वारा—'अप्रमेयम्' पद से 'आत्मा' में उस ज्ञान की विषयता का निषेध किया गया है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक दोनों श्रुतिवचन तभी प्रमाण कहे जायेंगे, जब उस 'आत्मा' में चेतनरूप अंश तथा जड़रूप अंश दोनों माने जाँय। प्रथम श्रुति से तो 'आत्मा' के 'जड़' अंश में उस ज्ञान की विषयता को बताया

गया है, और द्वितीयश्रुति से 'आत्मा' के 'चेतन' अंश में उस ज्ञान की विषयता का निषेध किया गया है। इस रीति से 'आत्मा' को चित्-जडरूप अंशवाला मानने पर ही दोनों श्रुतिवचनों का प्रामाण्य सुरक्षित रह पाता है। अन्यथा 'आत्मा' में केवल 'चेतन' रूप अंश मानने पर उस चेतन में ज्ञानविषयता का संभव न हो पाने से वह प्रथमश्रुति वचन 'अप्रमाण' होगा। तथा 'आत्मा' में केवल 'जडरूप' अंश मानने पर उस 'जड' में अप्रमेयता का असंभव होने से वह द्वितीय श्रुतिवचन 'अप्रमाण' होगा। एवं च दोनों श्रुतिवचनों के प्रामाण्यरक्षणार्थ 'आत्मा' में 'चित्-जड' रूप दोनों अंशों को मानना होगा।

निष्कर्ष यह है कि 'आत्मा' कर्ता तथा अपने किये कर्मों का फलभोक्ता भी है। वह व्यापक और प्रतिशरीर में भिन्न है अर्थात् एक न होकर अनेक है। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, आदि गुणों का वह आश्रय है। अर्थात् ज्ञान-सुखादिरूप नहीं है। उसमें क्रिया का अस्तित्व भी है। क्रिया दो प्रकार की होती है—(१) स्पन्दरूप और (२) परिणामरूप। आत्मा में 'स्पन्दन' क्रिया नहीं होती। वार्तिककार कुमारिलभट्ट ने कहा है—

'यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया न कणभोजिवत्॥ (श्लो० वा०)

किन्तु परिणामरूप क्रिया उसमें होती है, तथापि उसे वे नित्य मानते हैं। आत्मा में चित् तथा अचित् दो अंश रहते हैं। अपने उस 'चिदंश' से उसे प्रत्येक ज्ञान का अनुभव होता है और अपने 'अचित्' अंश से वह 'परिणाम' को प्राप्त होता है। नैयायिकों के समान सुःख, दुःख, इच्छा, प्रयत्नादिकों को आत्मा के विशेषगुण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। अपितु वे आत्मा के 'अचित्' अंश के परिणामरूप हैं। आत्मा 'चैतन्यस्वरूप नहीं है, अपितु 'चैतन्य' का आश्रय है। शरीर तथा विषय से संयोग की अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर उसमें 'चैतन्य' का उदय होता है। सुषुप्ति में वैसी अनुकूल परिस्थिति न रहने से उसमें 'चैतन्य' अंश का उदय नहीं हो पाता। ऐसे अंशद्वयात्मक 'आत्मा' का मानस प्रत्यक्ष होता है। 'अहमात्मानं जानामि'— मैं अपने को जानता हूँ—यह अनुभव सभी को होता है। इस अनुभव के आधार पर वह अपने अस्तित्वज्ञान का 'कर्ता' है और इस आत्मप्रतीति का 'विषय' भी वही (आत्मा) है। एवं च कुमारिलभट्टपाद ने 'ज्ञान' का कर्ता तथा उसका विषय, 'आत्मा' को ही माना है। आत्मा को ही अपने ज्ञान का कर्ता और उसी को अपने ज्ञान का विषय (कर्म) मानने पर 'कर्म-कर्तृ विरोध' की शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि 'आत्मा स्वयं ज्योतिषा आत्मानं प्रकाशयति' इस वचन से 'आत्मा' में कर्तृत्व, करणत्व और कर्मत्व' तीनों विरुद्ध धर्मों को एकत्र जैसे माना जाता है, वैसे ही 'कर्तृत्व और कर्मत्व' का एकत्र समावेश भी हो सकता है। लौकिक-व्यवहार में भी 'आत्मानं जानीहि'—

अपने को समझो (जानो) आदि तथा वैदिक-व्यवहार में भी 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इत्यादि प्रयोग होते हैं। अतः लौकिक-वैदिक प्रयोगव्यवहार के आधार पर 'कर्तृत्व-कर्मत्व' की भी एकत्र स्थिति होने में कोई अनौचित्य नहीं है। जैसे 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' में देवदत्त की गमन क्रिया से उत्पन्न प्राप्तिरूप फल की आश्रयतारूप 'कर्मता' ग्राम में मानी जाती है, उसी तरह आत्मा में रहनेवाले ज्ञान से उत्पन्न प्राकटच-रूप 'ज्ञातता' (फल) की आधारता को आत्मा में आत्मस्वयंप्रकाशवादियों को भी स्वीकार करनी होगी, अन्यथा 'आत्मा' का प्रकाश नहीं हो सकेगा। अतः वह, मानस-प्रत्यक्ष का विषय होने से उसका प्रत्यक्ष माना जाता है।

किन्तु प्राभाकर मीमांसक 'आत्मा' को अहं प्रत्ययवेद्य मानते हैं। प्रत्येक ज्ञान में कर्ता के रूप में 'आत्मा' की सत्ता है। प्राभाकर मीमांसक भी 'आत्मा' को देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी से भिन्न मानते हैं। इनके मत में भी वह नित्य और विभु है। किन्तु वह स्वरूप से तो 'जड़' ही है। उसके साथ मन का संयोग होने पर ही उसमें 'ज्ञान' गुण उत्पन्न होता है। ज्ञानगुण से युक्त होने पर उसे 'चेतन' कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में 'पुरीतति' नाडी में प्रविष्ट हुए मन का 'आत्मा' के साथ ज्ञानादिकों के हेतुभूत 'संयोग' के न होने से सुषुप्ति अवस्था में समस्त ज्ञानों से रहित हुआ 'आत्मा' अपने 'जड' स्वरूप से स्थित रहता है। और जाग्रत्, स्वप्न अवस्थाओं में 'मन' के साथ संयोग होने से चाक्षुष प्रत्यक्षादि ज्ञान से युक्त हुआ 'चेतन' रूप में स्थित रहता है। यही कारण है कि सुषुप्ति से जगा हुआ आदमी 'न किञ्चिदवेदिषम्' मैंने कुछ भी नहीं जाना इत्यादि वाक्य कहता है। इस लौकिक व्यवहार से भी सुषुप्ति में समस्त ज्ञानों का अभाव सिद्ध होता है। 'जड़-आत्मा' में जैसे मन के संयोग से आत्मा में 'ज्ञान' गुण उत्पन्न होता है, वैसे ही उसमें सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार से ये गुण भी मन के संयोग से हो उत्पन्न होते हैं। यह प्रभाकर मत प्रायः न्यायदर्शन के समान ही है।

किन्तु भट्टपाद का मत न्यायदर्शन के तुल्य न होने से नैयायिक उसका खण्डन करते हैं—लोक-व्यवहार में परस्पर विरुद्धधर्मवाली वस्तु दिखाई नहीं देती। यदि एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध उभयरूपता हो तो एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध तेज-तिमिर-उभयरूपता होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है। अतः एक ही आत्मा में परस्पर विरुद्ध 'चित्-जडात्मक उभयांशात्मकता' नहीं रह सकती। अन्यथा एक ही शरीर में एक 'चेतनअंश वाला' आत्मा और दूसरा 'जडअंश वाला' आत्मा, ऐसे दो आत्माओं का स्वीकार करना होगा। किन्तु यह स्वीकार करना तो अत्यन्त विरुद्ध होगा। किंच—एक ही आत्मा में 'चित्-जड' दोनों अंशों को मानने वाले भट्ट पाद से पूछा जा सकता है कि वे 'चित्-जड' दोनों अंश उस अंशी 'आत्मा' से भिन्न हैं या अभिन्न हैं? प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर 'चित्-जड' दोनों अंशों से भिन्न रहने

वाला आत्मा 'चित्-जड' स्वरूप सिद्ध नहीं होगा। तब "आत्मा चित्-जड स्वरूप है"—यह आपकी प्रतिज्ञा भंग होगी। और द्वितीय पक्ष के मानने पर 'आत्मा' से भिन्न रहने वाले 'जड' अंश में 'अहं प्रत्यय' की विषयता रहते हुए भी उसमें वह सिद्ध नहीं हो सकेगी। किञ्च—आत्मा से अभिन्न रहने वाले चित्-जड दोनों अंश 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्' न्याय के अनुसार परस्पर आपस में भी अभिन्न ही होंगे। उस कारण जड अंश को विषय करनेवाला वह 'चित्' अंश, उस 'जड' अंश से अभिन्न रहने के कारण स्वयं अपने को भी विषय करेगा। तथा अपने को अविषय करने वाला वह 'चित्' अंश, अपने से अभिन्न उस 'जड' अंश को भी विषय नहीं कर पायेगा। किन्तु आत्मा का 'चित्' अंश तो आत्मा के 'जड' अंश को विषय करता है। यह भट्टपाद का कथन अनुपपन्न होगा। एवं 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' यह श्रुति तो आत्मा में मनोजन्य-ज्ञान की विषयता को बता रही है। और 'अप्रमेयम्' यह श्रुति आत्मा में चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय-जन्य ज्ञान की विषयता का निषेध कर रही है। और दोनों वचन श्रुति के ही होने से वे प्रमाण माने जाते हैं। अतः दोनों श्रुतिवचनों की प्रमाणता के रक्षणार्थ आत्मा में चित्-जडरूपता बताना ठीक नहीं है।

॥ इति आत्मनिरूपणं समाप्तम् ॥

---

(२) शरीरनिरूपणम्

तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि 'शरीम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद्भोगायतनं, तदेव शरीरम्। चेष्टाश्रयो वा शरीरम्। चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु स्पन्दनमात्रम्।

इति शरीरनिरूपणं समाप्तम्।

तस्येति। उस 'आत्मा' के भोग का आयतन (आश्रय) अन्त्य अवयवी **'शरीर'** है। **सुखेति**। सुख-दुःख में से अन्यतर (किसी-एक) का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष अनुभव) **'भोग'** कहलाता है। और वह भोग, जिससे सीमित (अवच्छिन्न, परिमित) आत्मा में होता है, वह (उस विभु आत्मा का) **'भोगायतन'** है। और वही **'शरीर'** है। अथवा चेष्टा का आश्रय 'शरीर' कहलाता है। **चेष्टा त्विति**। हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार के लिये की जाने वाली क्रिया 'चेष्टा' कहलाती है। केवल गतिमात्र (स्पन्दन) 'चेष्टा' नहीं कहलाती।

माधुरी

ग्रन्थकार ने 'शरीर' का लक्षण—**'भोगायतनम् अन्त्यावयवि शरीरम्'** किया है। अर्थात् जो आत्मा के भोग का आयतन (आश्रय) हो तथा अन्त्य अवयवी हो, उसे 'शरीर' कहते हैं।

शंका—न्यायदर्शन में 'आत्मा' को विभु (व्यापक) बताया गया है। विभु होने के कारण सभी मूर्तद्रव्यों के साथ उसका संयोग रहना स्वाभाविक है। इसलिये सभी मूर्तद्रव्यों से वह अवच्छिन्न है। तो क्या उस अवच्छिन्न आत्मा को सभी मूर्तद्रव्यों से सुख-दुःख का अनुभव होता है ? यदि होता हो; तो क्या सभी मूर्तद्रव्य, उस आत्मा के शरीर कहलायेंगे ?

समा०—जिस किसी भी मूर्तद्रव्य से अवच्छिन्न हुए आत्मा को जिस किसी भी मूर्तद्रव्य में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है, अपितु शरीर से अवच्छिन्न (परिमित, सीमित) हुए आत्मा को ही सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है। जिससे परिमित (अवच्छिन्न) हुए आत्मा को उसी में सुखादि का भोग प्राप्त होता है। जहाँ जिस आत्मा का शरीर है, वहीं वह आत्मा, सुख-दुःख का अनुभव कर पाता है। जहाँ उसका शरीर नहीं है, वहाँ वह सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं कर सकता। अर्थात् जिस शरीर से वह अवच्छिन्न रहता है, उसी शरीर में उसे सुख आदि का अनुभव होता है। इसलिए उस आत्मा के भोग का वही आयतन है। उस भोगायतन को ही शरीर कहते हैं।

शंका—'शरीर' का इतना लम्बा-चौड़ा लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? केवल 'भोगायतनं शरीरम्'—यह छोटा-सा लक्षण ही पर्याप्त है।

समा०—'भोगायतनम्' इतना ही लक्षण यदि शरीर का करें तो कर-चरण आदि एक-एक अवयव को भी शरीर कहना होगा, क्योंकि प्रत्येक अवयव से सुख-दुःखादि की उपलब्धि (अनुभव) आत्मा को होती रहती है। जैसे शरीर के किसी अवयव में काँटा लगने पर दुःख तथा किसी अवयव में सुन्दर स्पर्शादि के होने पर सुख होता है। तब हस्तपादाद्यवच्छिन्न आत्मा ही उन हस्त-पादादि अवयवों में उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। अतः वे हाथ पैर आदि सभी, 'भोग' के आयतन होने से उन्हें 'शरीर' कहना होगा। तब प्रत्येक मनुष्य के अनेक शरीर कहलायेंगे, जो अनुभव के विरुद्ध होगा। इस अतिव्याप्ति के निरासार्थ 'अवयवी' शब्द का निवेश आवश्यक है। अतः यद्यपि हस्त-पाद आदि अवयव 'भोगायतन' तो हैं, किन्तु 'अवयवी' नहीं है। वे तो शरीर के 'अवयव' हैं। उन अवयवों से बना हुआ 'अवयवी' ही शरीर है। इसलिये लक्षण की अतिव्याप्ति 'अवयवों' में नहीं होगी। एवं च 'भोगायतनम् अवयवि शरीरम्' यह लक्षण शरीर का करना चाहिये।

शंका—तथापि हस्तपादादि अवयवों के भी 'अंगुली' आदि 'अवयव' होते हैं। अतः (उनकी दृष्टि से) वे 'हस्त-पादादि' भी अवयवी हैं। अतः 'भोगायतनं अवयवि शरीरम्' लक्षण की 'हस्त-पाद' आदि में पुनः अतिव्याप्ति वैसी ही स्थिर रही।

समा०—इस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'अवयवी' में अन्त्य विशेषण लगा देना चाहिये। हस्त-पाद आदि 'अंगुली' आदि अवयवों की दृष्टि से 'अवयवी' तो

हैं, किन्तु वे हस्त-पादादि 'अन्त्य अवयवी' नहीं हैं। अन्त्य-अवयवी तो 'सम्पूर्ण शरीर' ही है।

अन्त्यावयवी उसे कहते हैं—जो 'द्रव्य', अवयवों से जन्य (उत्पन्न) हुआ हो किन्तु अन्य किसी अवयवी का जनक नहीं होता हो—उस 'द्रव्य' को 'अन्त्यावयवी कहते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार होगा—'अवयवजन्यत्वे सति अवयव्यजनकः अन्त्यावयवी'। जैसे—मनुष्यादिकों के 'शरीर', हस्त-पादादि अवयवों से जन्य हैं, किन्तु स्वयं 'समवाय-सम्बन्ध' से अन्य (दूसरे) अवयवी के जनक नहीं होते हैं अर्थात् अजनक हैं। इसलिये मनुष्यादिकों के 'शरीर' अन्त्यावयवी कहलाते हैं। उसी तरह घट-पटादि द्रव्य भी अपने कपाल-तन्तु आदि अवयवों से जन्य तो हैं, किन्तु वे स्वयं 'समवाय-सम्बन्ध' से दूसरे अवयवी को उत्पन्न नहीं करते। इसलिये वे 'अन्त्यावयवी' कहलाते हैं।

उक्त 'अवयवी' लक्षण में से 'अवयवजन्यत्वे सति' अंश को यदि हटा दें तो 'अवयवी-अजनकः = अवयव्यजनकः अन्त्यावयवी' इतना अंश ही शेष रहेगा। तब 'आकाशादि' द्रव्यों में तथा गुण-कर्म आदि पदार्थों में उसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि आकाशादि द्रव्य स्वयं 'समवाय-सम्बन्ध' से किसी भी अवयवी के जनक नहीं हैं, तब उन्हें भी 'अन्त्यावयवी' कहना होगा, किन्तु उन्हें 'अन्त्यावयवी' नहीं कहा जाता है। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'अवयवजन्यत्वे सति' यह विशेषण देना चाहिये। तब अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि आकाशादि द्रव्य तथा गुण, कर्मादि पदार्थ किन्हीं अवयवों से जन्य (उत्पन्न) नहीं हैं। अतः पूर्णलक्षण उनमें घटित न हो पाने से अतिव्याप्ति नहीं है।

अब 'अवयवजन्यः' इतना ही कहें और 'अवयव्यजनकः' न कहें तो हस्त-पादादि अवयवों में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि हस्त-पादादि अवयव भी अपने-अपने अवयवों से जन्य ही हैं। तथापि उन्हें अन्त्यावयवी कोई नहीं कहता है। उसके निवारणार्थ 'अवयव्यजनकः' पद कहना ही होगा। उससे अतिव्याप्ति दूर हो जाती है क्योंकि वे हस्त-पादादि तो शरीर आदि अवयवी के जनक ही हैं, अजनक नहीं हैं। अब लक्षण में से 'अवयवी' पद को हटाकर केवल 'अवयवजन्यत्वे सति अजनकः' इतना ही 'अन्त्यावयवी' का लक्षण करें, तो 'असंभव' दोष होगा। क्योंकि यच्च यावत् जितने भी शरीर-घट-पट आदि 'अन्त्यावयवी' हैं, वे सभी स्वनिष्ठगुण, क्रिया आदि के जनक ही हैं। कोई भी अन्त्यावयवी 'अजनक' नहीं है। यद्यपि उत्पन्न-विनष्ट घट आदि 'स्वनिष्ठ गुण, क्रिया के अजनक हैं, तथापि वे भी 'स्वध्वंसादि' के जनक तो होते ही हैं। इस असंभव दोष के वारणार्थ 'अवयवी' पद देना आवश्यक है। तब घट आदि अन्त्यावयवी स्वनिष्ठगुण, कर्मादि के जनक रहने पर भी किसी 'अवयवी' के जनक नहीं हैं। अतः लक्ष्यमात्र-अवृत्तित्वरूप असंभव दोष नहीं है।

इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'भोगायतनम् अन्त्यावयविशरीरम्'—यह लक्षण 'शरीर' का किया है। अब यह लक्षण 'हस्त-पाद' आदि अवयवों में अर्थात् अंगुली आदि की दृष्टि से उसके अवयवी होने पर भी अतिव्याप्त नहीं हो रहा है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

अवयव का लक्षण है—'द्रव्यसमवायिकारणम् अवयवः'। द्रव्य का जो समवायिकारण होता है उसे अवयव कहते हैं। जैसे—'तन्तु', पट (द्रव्य) का समवायिकारण है, इसलिये उसे 'पट' का अवयव कहते हैं। जैसे—'कपाल', घट (द्रव्य) के समवायिकारण हैं, उसी तरह हस्त-पाद आदि, 'शरीर' (द्रव्य) के समवायिकारण हैं। अत एव कपाल तथा हस्तपादादि को 'अवयव' कहते हैं।

यदि हम अवयव के लक्षण में से 'द्रव्य' पद को हटाकर 'समवायिकारणम् अवयवः' इतना ही लक्षण करें तो 'आकाशादि' द्रव्यों में अवयवलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'आकाशादि' द्रव्य भी 'शब्दादि' गुणों के समवायिकारण ही हैं। तथापि आकाशादि पदार्थों में 'अवयवरूपता' को किसी ने स्वीकार नहीं किया है। अतः इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ अवयवलक्षण में 'द्रव्य' पद की आवश्यकता होती है। उसका निवेश कर देने पर अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि उन आकाशादि पदार्थों में किसी द्रव्य की समवायिकारणता नहीं है।

हस्त-पाद आदि, शरीर के अवयव हैं। इसलिये वे अन्तिम अवयवी नहीं हैं, अपितु शरीर ही अन्तिम अवयवी है। क्योंकि 'अन्त्यावयवी' उसे कहते हैं, जो द्रव्यान्तर का अनारम्भक अवयवी हो। अन्य द्रव्य का आरम्भक (समवायिकारण) जो होता है, उसे 'अवयव' कहते हैं। हस्त-पादादि अवयव, 'शरीर' रूप द्रव्यान्तर के आरम्भक (समवायिकारण) होने से उन्हें 'अन्त्यावयवी' नहीं कह सकते। और 'शरीर', किसी अन्य (दूसरे) द्रव्य का आरम्भक (समवायिकारण) नहीं है। अतः वही 'अन्त्यावयवी' है। एवं व 'भोगायतनम् अन्त्यावयविशरीरम्' लक्षण से वह शरीर ही भोग का आयतन (आश्रय) अन्त्य अवयवी लक्षित होता है। उसके हस्त-पादादि अवयव लक्षित नहीं हो पाते। यदि इस लक्षण से 'भोगायतनम्' शब्द को हटा दें तो 'अन्त्यावयविशरीरम्' इतना ही लक्षण शेष रहेगा। तब उस लक्षण की 'घट-पट' आदि पदार्थों में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि घट-पटादि भी अन्य द्रव्य (द्रव्यान्तर) के आरम्भक नहीं हैं यानी अनारम्भक हैं, इसलिये वे अन्त्यावयवी तो हैं ही। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'भोगायतनम्' शब्द का निवेश करना अत्यन्त आवश्यक है। इसका निवेश कर देने पर 'घट' आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'घट' आदि, उस 'आत्मा' के भोगायतन (भोग के आश्रय) नहीं होते हैं। आत्मा का भोगायतन तो उसका शरीर ही होता है। उसी से अवच्छिन्न हुआ वह आत्मा उसी शरीर में सुखादि भोगों का अनुभव करता रहता है। अतः

उस आत्मा का भोगायतन उसका शरीर ही है, अन्य घटपटादि द्रव्य नहीं। एवं च 'भोगयतनमन्त्यावयवि शरीरम्' यह लक्षण जितने प्रसिद्ध शरीर हैं, उन सभी में समन्वित हो जाता है। अतः यही लक्षण ठीक है।

'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुतियों से तथा पुराणों से भी ज्ञात होता है कि ईश्वर ने अपने शरीर से भूमि आदि पदार्थों को उत्पन्न किया। अत एव उदयनाचार्य ने पृथिवी आदि के 'परमाणुओं' को ईश्वर का शरीर माना है। अतः पूर्वोक्त शरीरलक्षण का समन्वय 'परमाणुरूप शरीर' में भी होना चाहिए। किन्तु वह नहीं हो सकता है, क्योंकि 'ईश्वर' कर्मपराधीन न रहने से उसमें 'भोग' की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिये ईश्वर के 'परमाणुरूप शरीर' को भोगायतन नहीं कह सकते। एवं च ईश्वर के शरीर में उक्त लक्षण की अव्याप्ति है।

अतः ग्रन्थकार ने न्यायसूत्र को दृष्टिगत करते हुए 'चेष्टाश्रयो वा शरीरम्'— जो चेष्टा का आश्रय हो, उसे 'शरीर' समझो—यह दूसरा शरीर लक्षण किया है। न्यायसूत्रकार ने 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्'—(न्या० सू० १।१।११) यह शरीर लक्षण किया है। यहाँ पर 'चेष्टा' का अर्थ केवल स्पन्दन (गतिमात्र) नहीं है। अर्थात् साधारणगति या साधारण क्रिया नहीं है। अपितु 'प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणिका क्रिया' है। प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग, जिसका असवायिकारण है, उस क्रिया को 'चेष्टा' कहते हैं। अतएव किसी वाहन की गति (क्रिया) को 'चेष्टा' नहीं कहा जाता है। चेष्टा का आश्रय शरीर ही होता है।

शंका—मृत मनुष्य के शरीर में 'चेष्टा' नहीं होती है, तब उसे क्या शरीर नहीं कहेंगे ?

समा०—जो कभी किसी समय चेष्टा का आश्रय रहा हो यह कहने पर कोई व्यभिचार नहीं होगा। इसी बात को श्रीचिन्नम्भट्ट ने कहा है—'कादाचित्कस्य तदाश्रयत्वस्य विवक्षितत्वात्'। अथवा यह भी कह सकते हैं कि 'चेष्टा के आश्रयभूत अन्त्यावयवी में रहने वाली जाति, उस मृत शरीर में भी रहती है। अतः इस लक्षण में कोई दोष नहीं।

'चेष्टा' का अर्थ अदि 'क्रिया मात्र' करें तो पवन, पावक आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ कहना होगा कि यह क्रिया हित की प्राप्ति और अहित के परिहारार्थ ही हुआ करती है। अत एव ग्रन्थकार ने 'हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया चेष्टा' यह 'चेष्टा' का लक्षण किया है। यह 'चेष्टा' घट-पटादि जड़ वस्तुओं में नहीं रह सकती। किन्तु चेतन के शरीर में ही रह सकती है। यही कारण है कि शरीर का अन्य लक्षण 'चेष्टाश्रयः शरीरम्' किया गया है।

ईश्वर का अपना निजी कोई हित या अहित नहीं है। हित-अहित तो जीवों का

हुआ करता है । अतः उसी के लिये वह ईश्वर, 'परमाणुओं' में क्रिया उत्पन्न करता है। एवं च ईश्वर के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली चेष्टा का आश्रय 'परमाणु' होते हैं। अत एव 'परमाणु' को ईश्वर का शरीर माना गया है।

शंका—'चेष्टाश्रयः शरीरम्' इस लक्षण की हस्त-पादादि अवयवों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि शरीर के समान हस्त-पादादि अवयव भी चेष्टा के आश्रय हैं, तथापि उन्हें कोई शरीर नहीं कहता।

समा०—उक्त अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'अन्त्यावयवी' पद को चेष्टा के आश्रय-का विशेषण बना देना चाहिये। उससे अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है, क्योंकि हस्तपादादि अवयवों में 'अन्त्यावयवित्व' नहीं है। तब लक्षण इस प्रकार होगा—'अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयः शरीरम्।' निष्कर्ष यह है कि शरीरावच्छिन्न आत्मा में ही सुख-दुःख का साक्षात्काररूप भोग होता है। घटावच्छिन्न आत्मा में वह भोग नहीं होता। यदवच्छिन्न आत्मा में भोग के होने से उस अवच्छेदक को 'शरीर' कहा जाता है। अत एव शरीर का लक्षण 'भोगायतनं अन्त्यावयविशरीरम्' किया है।

शंका—शरीरादि मूर्तद्रव्यों से 'आत्मा' का अवच्छिन्न (सीमित) होना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि वह तो अपरिच्छिन्न (निःसीम) है, निरंश है।

समा०—नैयायिक कहता है कि 'आत्मा' का मूर्तद्रव्यों के साथ जैसे संयोग सम्बन्ध होता है, वैसे ही उसका मूर्तद्रव्यों के साथ 'अवच्छेदकता' सम्बन्ध भी होता है। वह 'अवच्छेदकता' सम्बन्ध 'मूर्तद्रव्यस्वरूप' ही होता है। इसीलिये इस सम्बन्ध को 'स्वरूप-सम्बन्ध विशेष' भी कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि आत्मा और मूर्तद्रव्य के बीच में जैसे 'संयोग' सम्बन्ध है, वैसे ही उन दोनों के बीच में यह 'स्वरूप सम्बन्ध' भी है। तात्पर्य यह है कि मूर्तद्रव्य के साथ 'आत्मा' का जो 'स्वरूपात्मक' सम्बन्ध है, उसी को 'अवच्छेदकता' सम्बन्ध कहा गया है। मूर्तद्रव्यों से 'आत्मा' 'अवच्छिन्न' होता है, अर्थात् आत्मा का 'स्वरूप सम्बन्ध' से मूर्तद्रव्यों के साथ सम्बद्ध होना—यह अभिप्राय विवक्षित है।

शंका—मूर्तद्रव्यों के साथ 'आत्मा' का 'संयोग' सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—दोनों के बीच 'संयोग' सम्बन्ध को माने विना उस 'आत्मा' की व्यापकता (विभुता) उपपन्न नहीं होती है। अतः 'संयोगसम्बन्ध' की वहाँ कल्पना करना आवश्यक है।

॥ इति शरीरनिरूपणम् ॥

---

(३) इन्द्रियनिरूपणम्

शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियं 'इन्द्रियम्' । अतीन्द्रियमिन्द्रियमित्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति । तथापीन्द्रियसन्निकर्षेऽति-प्रसङ्गोऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति । शरीर संयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियमित्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति । तानि चेन्द्रियाणि षट् । घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि ।

शरीरेति । शरीर से संयुक्त, अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से गृहीत न होने वाला, अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय न होने वाला) ज्ञान के करण (साधन) को **'इन्द्रिय'** कहते हैं ।— यह तो **'इन्द्रिय'** का लक्षण किया गया है । अब उक्त लक्षण में **'पदकृत्य'** बताते हैं— **अतीन्द्रियमिति** । **'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'**—यह 'इन्द्रिय' का पूर्ण लक्षण है । इसमें से यदि हम 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम्' इतना अंश निकाल दें और केवल **'अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'** इतना ही लक्षण करें तो **'काल'** आकाश आदि पदार्थों में भी 'इन्द्रियत्व' प्राप्त होगा, अर्थात् 'इन्द्रिय' का लक्षण 'काल' आदि में भी चला जायेगा, यानी 'काल' को भी 'इन्द्रिय' कहना पड़ेगा । क्योंकि वे भी शरीर से संयुक्त हैं और अतीन्द्रिय हैं अर्थात् चक्षुरादि से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है । एवं च 'काल' में इन्द्रिय लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । उसके वारणार्थ **'ज्ञानकरणम्'** पद का निवेश, लक्षण में करना आवश्यक है । उससे अतिव्याप्ति नहीं हो पायेगी । क्योंकि 'काल' आदि, 'ज्ञान के करण' नहीं होते हैं ! यदि 'ज्ञानकरणम्' के बजाय 'ज्ञानकारणम्' कहें, तो भी 'काल' में अतिव्याप्ति पूर्ववत् ही स्थिर रहेगी, क्योंकि 'कार्य' मात्र के प्रति 'काल' को साधारण कारण माना जाता है, अतः वह 'ज्ञान' का भी 'कारण' है ही । इसलिये 'लक्षण' में 'ज्ञानकरणम्' ही कहना चाहिये, तभी 'काल' में अति-व्याप्ति नहीं हो सकेगी । क्योंकि 'ज्ञानकरण' का अर्थ होगा—'व्यापार द्वारा ज्ञान का असाधारण कारण' । 'करण' का लक्षण है—'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' । एवं च 'काल' तो कार्यमात्र के प्रति 'साक्षात्' कारण होता है । वह 'ज्ञान' के प्रति व्यापार द्वारा असाधारण कारण नहीं है । अतः 'काल' में अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

शरीरसंयुक्तमिति । यदि हम **'अतीन्द्रिय'** पद को निकाल दें, और केवल **'शरीर-संयुक्तं ज्ञानकरणम् इन्द्रियम्'** लक्षण करें तो 'आलोक' में अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि 'शरीर' के साथ 'आलोक' संयुक्त भी है, और वह चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक 'ज्ञान' का करण (साधन) भी है । इसलिये इन्द्रियलक्षण 'आलोक' में अतिव्याप्त हो रहा है । उसके वारणार्थ लक्षण में 'अतीन्द्रियम्' पद का निवेश करना आवश्यक है । तब 'आलोक' तो इन्द्रिय वेद्य है, वह अतीन्द्रिय नहीं है । एवं च अतीन्द्रिय न होने से, उसमें लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो सकेगा ।

तथापीति। अब यदि हम 'शरीरसंयुक्तम्' पद को निकाल दें और केवल 'ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्' इतना ही लक्षण करें तो विषय के साथ होनेवाले 'इन्द्रिय सन्निकर्ष' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' अपने—निर्विकल्पकज्ञानरूप व्यापार के द्वारा 'सविकल्पकज्ञान' का करण है, और अतीन्द्रिय भी है। अतः लक्षण की उसमें ('इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' में) अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ 'शरीरसंयुक्तम्' पद का निवेश करना चाहिये। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' द्रव्यस्वरूप नहीं है, अतः वह 'शरीरसंयुक्त' नहीं है। इसलिये उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

यहाँ पर 'अतीन्द्रिय' का अर्थ 'इन्द्रिय' से परे अर्थात् इन्द्रियातीत अथवा इन्द्रिय से अग्राह्य नहीं करना है। अन्यथा 'इन्द्रिय' के लक्षण में ही 'इन्द्रिय' का प्रवेश होने पर 'आत्माश्रय' दोष होगा। इसलिये 'अतीन्द्रिय' का अर्थ यहाँ पर 'अप्रत्यक्ष' (प्रत्यक्षज्ञान का विषय न होना) करना चाहिये। तथा 'प्रत्यक्षज्ञान' का अर्थ होगा—'ज्ञानाऽकरणकज्ञान'। अर्थात् जिस ज्ञान का 'करण' कोई 'ज्ञान' यानी सविकल्पकज्ञान न हो। इस प्रकार अर्थ करने पर 'आत्माश्रय' दोष नहीं हो सकेगा, क्योंकि लक्षणगत 'अतीन्द्रिय' शब्द के अर्थ में 'इन्द्रिय' का प्रवेश नहीं है।

शंका—'इन्द्रिय' का इतना लम्बा चौड़ा लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि 'इन्द्र' शब्द से 'घ' प्रत्यय करने पर 'इन्द्रिय' शब्द बनता है। 'इन्द्र' शब्द का अर्थ 'आत्मा' है, और 'घ' 'प्रत्यय' का अर्थ है 'सम्बन्धी'। एवंच 'इन्द्रिय' का अर्थ होगा 'आत्मसम्बन्धी'। अतः 'इन्द्रिय' शब्द के प्रदर्शित योगलभ्य अर्थ को ही **इन्द्रिय** का लक्षण क्यों न मान लिया जाय?

समा०—'इन्द्रिय' शब्द के यौगिक अर्थ को ही उसका लक्षण मानने पर उसकी 'आत्मसम्बन्धी शरीर' में अतिव्याप्ति होगी। इसलिये उसका (इन्द्रिय का) अलग ही 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'—लक्षण किया गया है।

इन इन्द्रियों की संख्या छह है—(१) घ्राण, (२) रसना, (३) चक्षु, (४) त्वक्, (५) श्रोत्र—ये पाँच तो बाह्येन्द्रियाँ हैं, और (६) 'मन' आभ्यन्तर इन्द्रिय है, जिसे 'अन्तःकरण' कहते हैं।

तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्। नासाग्रवर्ति। तच्च पार्थिवं गन्धवत्त्वाद् घटवत्। गन्धवत्त्वञ्च गन्धग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसंयुक्तं, यथा चक्षू रूपग्राहकं रूपवत्।

(१) घ्राणेन्द्रिय का निरूपण—

तत्रेति। उन षड्विध इन्द्रियों में से 'गन्ध' की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) के साधनभूत 'इन्द्रिय' को **घ्राण** कहते हैं। वह 'नासिका' के अग्रभाग में रहती है। **तच्चेति**। वह घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है (प्रतिज्ञा), क्योंकि उसमें (घ्राणेन्द्रिय में) गन्धवत्त्व है (हेतु),

जैसे 'घट' (उदाहरण), वह गन्ध का ग्राहक होने से उसमें गन्धवत्त्व है। **यदिति**। जो इन्द्रिय, रूपादि (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) पाँचों में से जिस गुण को ग्रहण करती है वह इन्द्रिय, उसी गुण से युक्त होती है (यह व्याप्ति है)। जैसे 'रूप' की ग्राहक चक्षुरिन्द्रिय, 'रूप गुण' से युक्त होती है।

माधुरी

घ्राणादि इन्द्रियाँ, पृथिव्यादि-प्रकृतिक होने से पृथिवी आदि के उद्देशक्रम (कथनक्रम) के अनुसार ही घ्राण आदि का उद्देशक्रम रखा गया है।

शंका—किसी भी पदार्थ का जो संज्ञाकरण (नामकरण) किया जाता है, वह व्यवहारसिद्धयर्थ ही किया जाता है। तो 'लघ्वर्थं संज्ञाकरणम्' न्याय से "अचोऽन्त्यादि टि" "दाधाघ्वदाप्" "यचि भम्" इत्यादि में 'टि, घु, भ' आदि संज्ञाओं के समान एक-एक अक्षर वाली 'संज्ञा' की जाय।

समा०—ये घ्राणादि संज्ञाएँ, डित्थ, डवित्थादि के समान नहीं है, किन्तु अन्वर्थक संज्ञाएँ हैं। उक्त षडिन्द्रियों में से 'गन्ध' की उपलब्धि का साधनभूत जो 'इन्द्रिय' हो, उसे 'घ्राण' कहते हैं। 'आत्मा जिघ्रति गन्धं वा गृह्णाति' इस व्यवहार से गन्धोपलब्धि का साधन 'घ्राण' संज्ञक इन्द्रिय ही प्रतीत होता है। 'घ्रा' धातु से 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र के द्वारा 'करण' अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'घ्राण' शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः 'घ्राण' का निर्दुष्ट लक्षण **'गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्'** ही किया गया है। उक्त लक्षण का पदकृत्य समझने के लिये यदि हम 'गन्ध' पद को हटाकर केवल **'उपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्'**—इतना ही लक्षण करें तो 'उपलब्धिसाधन' 'चक्षुरादि इन्द्रिय' भी होते हैं। अतः उक्त लक्षण 'चक्षुरादि' में अतिव्याप्त होगा। किया 'घ्राणेन्द्रिय' का लक्षण और उसका समन्वय होने लगा 'चक्षुरादि' इन्द्रियों में। अलक्ष्येषु लक्षणसमन्वयः 'अतिव्याप्तिः' घ्राण का लक्षण करते समय हमारा लक्ष्य तो केवल 'घ्राण' है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं हैं। अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है। 'उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'गन्ध' पद का निवेश करना आवश्यक है। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि 'घ्राण' इन्द्रिय को छोड़कर अन्य इन्द्रियाँ, गन्धोपलब्धि की साधन नहीं होती हैं। एक मात्र 'घ्राण' इन्द्रिय ही गन्धोपलब्धि का साधन होता है। अतः उसमें लक्षण के समन्वित होने से लक्ष्य में लक्षण का समन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में उपलब्धि शब्द के वजाय यदि हम ज्ञान शब्द को रख दें तो लक्षण का आकार यह होगा—**'गन्धज्ञानसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्'**—गन्धज्ञान के साधनभूत इन्द्रिय को 'घ्राण' कहते हैं। तब उक्त लक्षण की **'मन'** में अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि गन्ध के स्मृतिज्ञान में 'मन' इन्द्रिय भी कारण (साधन) होता है। उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'उपलब्धि' पद का निवेश करना चाहिये। 'उपलब्धि'

का अर्थ होता है—'प्रत्यक्ष'। 'मन' गन्ध के प्रत्यक्ष का साधन (करण) नहीं है। प्रतिश्याय (सर्दी, जुखाम) के रोगी को कोई गन्ध नहीं आती है। क्योंकि रोग के कारण उसकी घ्राणेन्द्रिय 'गन्ध' ग्रहण करने में पूर्णतया असमर्थ रहती है। अन्यथा अर्थात् 'मन' को उपलब्धि का साधन यदि माना जाय तो प्रतिश्याय के रोगी को भी 'गन्ध' आनी चाहिये, किन्तु आती नहीं है। एवं च गन्ध प्रत्यक्ष का साधन 'मन' नहीं है, इसलिये 'मन' में अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

शंका—यह नियम है कि 'आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ततः प्रत्यक्षम्'। इस नियम के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति में 'आत्मा' और 'मन' का परस्पर संयोग अपेक्षित होता है तथा मन और इन्द्रिय का भी परस्पर संयोग 'प्रत्यक्ष' में अपेक्षित रहता है। उसके बिना 'ज्ञान' की तथा 'प्रत्यक्ष' की उत्पत्ति ही नहीं होती है। अतः गन्ध की उपलब्धि में 'मन' को कारण मानना ही होगा। तब लक्षण में 'उपलब्धि' पद का निवेश करने पर भी पूर्वोक्त अतिव्याप्ति वैसी ही स्थिर रही। एवं च 'उपलब्धि' के बजाय 'ज्ञान' पद के रखने से जो अतिव्याप्ति प्रदर्शित की गई थी, वह 'उपलब्धि' पद के निवेश करने पर भी वैसी ही कायम रही।

समा०—'घ्राणेन्द्रिय' के लक्षण में **'उपलब्धिसाधनम्'** अर्थात् 'उपलब्धिकरणम्' कहा गया है। और 'करण' उसे कहते हैं—जो 'व्यापारवान् असाधारण कारण' होता है। 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्'—यह 'करण' का लक्षण है। तब घ्राणेन्द्रिय के लक्षण का अर्थ यह हुआ कि 'यदिन्द्रियं गन्धोपलब्धेर्व्यापारवद-साधारणकारणरूपं करणं भवेत् तद् 'घ्राणम्'। अर्थात् जो इन्द्रिय, गन्धोपलब्धि में व्यापरवत् असाधारणकारण यानी 'करण' हो उसे 'घ्राण' कहते हैं। इतना विश्लेषण करने से अब उक्त लक्षण की 'मन' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'मन' की गन्धोपलब्धि में 'असाधारण कारणता' नहीं है। वह तो 'ज्ञानमात्र' के प्रति सामान्य कारण होता है।

शंका—गन्ध के स्मरणात्मक ज्ञान में भी **'मन'** सामान्य कारण (साधारण कारण) होगा। तब लक्षण में **'उपलब्धि'** के बजाय **'ज्ञान'** पद के निवेश करने पर भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि वह (मन) स्मृतिज्ञान के प्रति असाधारण कारण नहीं है। तब लक्षणकार ने 'उपलब्धि' पद का ही निवेश क्यों किया ?

समा०—**'यद् यत् जन्यज्ञानम् तत्तत् इन्द्रियजन्यम्'**—अर्थात् जितने भी जन्य ज्ञान हैं, वे सभी 'इन्द्रिय' रूप असाधारण कारण से जन्य होते हैं। जैसे—जन्यप्रत्यक्ष। इस नियम के अनुसार **'स्मृतिज्ञानम् इन्द्रियजन्यं** (इन्द्रियरूपासाधारणकारणेन जन्यम्) **जन्यज्ञानत्वात् जन्यप्रत्यक्षवत्'**—इस अनुमान के बल पर स्मृतिज्ञान का भी असाधारण कारण कोई इन्द्रिय अवश्य ही होगा। वही **'मन'** संज्ञक इन्द्रिय है। एवं च मानस प्रत्यक्ष के प्रति असाधारण कारण जैसे **'मन'** है, वैसे ही वह (मन)

'स्मृतिज्ञान' के प्रति भी असाधारण कारण है। अत: लक्षण में **'ज्ञान'** पद को रखने पर **'मन'** में जो अतिव्याप्ति प्रदर्शित की है, वह ठीक है। उसके वारणार्थ **'उपलब्धि'** पद का ही निवेश करना समुचित है।

अब **'गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्'**—लक्षण में से यदि **'इन्द्रिय'** पद को हटा दें तो लक्षण इतना शेष रहेगा—**'गन्धोपलब्धिसाधनं घ्राणम्'**। तब कुंकुमगन्धाभिव्यञ्जक 'घृत' में या 'गन्ध' के आश्रयभूत पुष्प, वस्त्र आदि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'गन्ध' के साथ 'घ्राण' का सम्बन्ध होने में 'गन्ध' का आश्रय घृत, पुष्प, वस्त्र आदि भी हैं। निष्कर्ष यह है कि 'घ्राणेन्द्रिय' से गन्ध का ग्रहण तभी हो सकेगा, जब उसका 'गन्ध' के साथ सम्बन्ध (सन्निकर्ष) हो पायेगा। वह सम्बन्ध गन्ध के आश्रयभूत घृत, पुष्प, वस्त्र आदि द्रव्यों के माध्यम से (द्वारा) ही होगा। उसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। जैसे—'घ्राणेन्द्रिय' का सन्निकर्ष (संयोग सम्बन्ध) घृत, पुष्प, वस्त्र आदि के साथ और उन घृत, पुष्पादिकों का समवाय सम्बन्ध के द्वारा 'गन्ध' के साथ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होगा। तभी 'घ्राणसंयुक्तसमवाय', गन्ध के प्रत्यक्षज्ञान में कारण होगा। इसलिये उक्त सन्निकर्ष के घटक होने के कारण घृत, पुष्प आदि को भी गन्धोपलब्धि में कारण कहा जाता है।

एवं च 'गन्धोपलब्धि के साधन'—घृत, पुष्प, वस्त्र आदि के होने से उनमें तथा उक्त सन्निकर्ष में भी 'घ्राण' के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। उसके निवारणार्थ घ्राण के लक्षण में 'इन्द्रिय' पद का निवेश करना चाहिये। उसके निवेश कर देने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—'घ्राण' का सम्पूर्ण लक्षण—'गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्'—यह हुआ। तथापि सर्वार्थोपलब्धि के साधनभूत 'मन' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

समा०—उसके निवारणार्थ 'इन्द्रिय' पद के साथ 'बाह्य' विशेषण जोड़ देना चाहिये। अर्थात् 'गन्धोपलब्धिसाधनं बाह्येन्द्रियं घ्राणम्' लक्षण कर देने पर कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

उस घ्राणेन्द्रिय का निवास स्थान 'नासिका' के अग्रभाग में होता है। किसी भी सुगन्धी या दुर्गन्धी वस्तु का कोई अंश, वायु के माध्यम से नासिका के अग्रभाग तक पहुँचता है, तब वहाँ पर स्थित घ्राणेन्द्रिय का उस गन्धयुक्त 'अंश' के साथ संयोग सन्निकर्ष हो पाता है। उस 'अंश' में 'गन्ध' समवाय-सम्बन्ध से रहता है। अत: 'घ्राण' का 'गन्ध' के साथ 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष कहा जाता है। उस 'संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष' से 'घ्राण', उस 'गन्ध' को उपलब्ध करता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि 'घ्राणेन्द्रिय' स्वयं उस सुगन्धीद्रव्य के पास नहीं जाती है। अपितु उस द्रव्य का ही

कोई अंश, वायु के माध्यम से 'घ्राणेन्द्रिय' के समीप आता है। और समीप आये हुए गन्ध की प्रत्यक्षोपलब्धि उस घ्राण को हुआ करती है।

सांख्यदर्शनकार ने 'इन्द्रिय' को 'अहङ्कारप्रकृतिक' कहा है। अर्थात् 'अहंकार' से 'इन्द्रिय' की उत्पत्ति होती है। यानी 'अहंकार' कारण है और 'इन्द्रिय' उसका कार्य है। सांख्यदर्शन के इस मत का खण्डन करने के लिये ग्रन्थकार ने कहा है कि 'तच्च पार्थिवं गन्धवत्त्वात् घटवत्'। इस कथन से 'घ्राणेन्द्रिय' को 'पार्थिव' सिद्ध किया है, वह 'आहंकारिक' नहीं है। तथाहि—'घ्राणेन्द्रिय' एक 'पार्थिवद्रव्य' है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति, पृथिवी के परमाणुओं से हुई है। इसीलिये 'पृथिवी' के सभी 'विशेष गुण' उसमें रहते हैं। तथापि उन सभी गुणों की प्रत्यक्षोपलब्धि नहीं हो पाती, क्योंकि वे सब गुण, अदृष्टवशात् अनुद्भूत रहते हैं।

प्रश्न—'घ्राण' में जब कि पार्थिव गुणों की उपलब्धि नहीं हो पाती है, तो कैसे कहें कि वह 'पार्थिवपरमाणुओं' से निर्मित है।

उत्तर—जिसकी उपलब्धि, 'प्रत्यक्ष' से नहीं होती है, उसको 'अनुमान' से जाना जाता है। यद्यपि 'घ्राण' में 'गन्ध' की प्रत्यक्षोपलब्धि नहीं हो पाती है, तथापि उसका ज्ञान 'अनुमान' से हो जाता है। यह सर्वमान्य नियम (व्याप्ति) है कि 'जो, जिस गुण का ग्राहक बाह्येन्द्रिय होता है, वह उस गुण के सजातीय गुण का आश्रय होता है। जैसे 'रूप' गुण का ग्राहक बाह्येन्द्रिय 'चक्षु' है, तो वह चक्षुरिन्द्रिय तत्सजातीय 'रूप' का आश्रय कहलाता है। एवंच गन्ध की ग्राहक बाह्येन्द्रिय 'घ्राण' है, अतः वह, तत्सजातीय 'गन्ध' का आश्रय मानी जाती है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा 'घ्राण' में 'गन्ध' को सिद्ध करके, इस 'गन्ध' के ही माध्यम से 'घ्राण' में पार्थिवत्व' का अनुमान से ज्ञान हो जाता है। उस अनुमान को 'तच्च पार्थिवं' से ग्रन्थकार ने बताया है। अर्थात् 'घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, क्योंकि वह, गन्ध का आश्रय है। जो गन्ध का आश्रय होता है, वह 'पार्थिव' होता है। जैसे 'घट'। इस रीति से 'घ्राणेन्द्रिय' में 'गन्धग्राहकत्व' होने से 'गन्ध' का अनुमान, तब 'गन्ध' के 'पार्थिवत्व' का अनुमान किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'घ्राणेन्द्रिय' पार्थिव है।

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवर्ति। तच्चाप्यं रसवत्त्वात्। रसवत्त्वञ्च रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाल्लालावत्।

(२) रसनेन्द्रिय का निरूपण—

रसेति। रस की उपलब्धि का साधनभूत जो इन्द्रिय, उसी को **'रसना'** कहते हैं। वह, जिह्वा के अग्रभाग पर स्थित रहती है। **तच्चेति**। वह 'रसवती' होने से 'आप्य' (जल से उत्पन्न होने वाली जलीय) है। **रसवत्त्वमिति**। क्योंकि 'रूप' आदि पाँचों में से वह 'रस' की ही अभिव्यञ्जक होने के कारण उसमें 'रसवत्त्व' है। अर्थात्—

'रसनेन्द्रिय' रसवत् है। जैसे 'लाला' (लार), रस की अभिव्यञ्जक होने से रसवती (रस से युक्त) होती है।

माधुरी

'रसयति = रसं गृह्णाति अनेन इति रसनम्'—जिस से रस का आस्वाद (ग्रहण) किया जाता है—उसे 'रसन' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह 'रसन' संज्ञा भी अन्वर्थक (सार्थक) है। अतः 'रसनेन्द्रिय' का लक्षण यह सम्पन्न हुआ—**'रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्'**। अर्थात् जो इन्द्रिय 'रस' की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) का साधन हो, उसे 'रसन' कहा जाता है। उक्त लक्षण में 'रस' शब्द को हटाकर केवल 'उपलब्धिसाधनमिन्द्रियम्', इतना ही कहें तो उपलब्धि के साधन 'चक्षुरादि' इन्द्रिय भी हैं। तब उनमें भी उक्त लक्षण का समन्वय होने लगेगा, और अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'रस' पद का निवेश करना चाहिये। जिससे अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ, उपलब्धि की साधन होती हुई भी 'रस' की उपलब्धि की साधन नहीं हैं। रस की उपलब्धि की साधन एकमात्र 'रसन' इन्द्रिय ही होती है। अतः लक्षण की चक्षुरादि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति नहीं है।

लक्षण में 'उपलब्धि' के स्थान पर यदि 'ज्ञान' पद का सन्निवेश करेंगे तो 'रस-स्मृति' के साधनभूत 'मन' में अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ लक्षण में 'ज्ञान' पद को न रख कर 'उपलब्धि' पद को ही रखा गया है। 'उपलब्धि' का अर्थ होता है 'प्रत्यक्ष अनुभव'।

शंका—लक्षण में उपलब्धिसाधनम्' के वजाय यदि—'उपलब्धिसाधकम्' क्यों नहीं कहते ? क्योंकि साधक और साधन में कोई अन्तर नहीं है।

समा०—यदि 'उपलब्धिसाधकम्' कहते हैं तो पुनः 'मन' में ही अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'मन' तो 'ज्ञानमात्र' का साधक यानी कारण होता ही है। इस अति-व्याप्ति के वारणार्थ 'साधकम्' की जगह 'साधनम्' ही कहना चाहिये। 'साधन' का अर्थ होता है—'करण'। 'विशेष कारण' को 'करण' कहते हैं। 'मन' तो सभी ज्ञानों के प्रति 'सामान्य कारण' है, विशेषकारण नहीं। एवं च उसके विशेषकारण न होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यदि हम लक्षण में से 'इन्द्रिय' पद को हटा दें और **'रसोपलब्धिसाधनम् रसनम्'** इतना ही लक्षण करें तो 'रस' के साथ इन्द्रिय का जो 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' है, वह भी रसोपलब्धि का साधन है, तथा उस सन्निकर्ष का घटक जो रसाश्रयभूत 'द्रव्य' हैं, वह भी रसोपलब्धि का साधन है। अतः दोनों में लक्षण के समन्वित हो जाने से अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार सक्तुरसाभिव्यंजक लाला (लार) में अतिव्याप्ति हो जायेगी। उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में 'इन्द्रिय' पद का निवेश करना

चाहिये। तब अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'सन्निकर्ष' और तद्घटक 'रसाश्रयद्रव्य' दोनों ही 'इन्द्रिय' नहीं हैं। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

यह 'रसनेन्द्रिय' जिह्वा के अग्रभाग पर स्थित रहता है। जब किसी रसवाले पदार्थ का 'जिह्वा' से स्पर्श होता है, तभी अग्रभाग में स्थित रसनेन्द्रिय का उस पदार्थ से 'संयोग' हो जाता है। उस पदार्थ (द्रव्य) में समवायसम्बन्ध से 'रस' (गुण) रहता है। अतः रसनेन्द्रिय-संयुक्त द्रव्य में स्थित 'रस' के साथ उस रसनेन्द्रिय का संयुक्तसमवायसन्निकर्ष होता है। तब जिह्वा पर रखे द्रव्य के रस की उपलब्धि, उस रसनेन्द्रिय को उक्त सन्निकर्ष के द्वारा होती है।

यह 'रसनेन्द्रिय' आप्य (जलीय) द्रव्य है क्योंकि वह 'रस' का आश्रय है। जो 'रस' का आश्रय होता है, वह 'जल' होता है, या 'जलीय' होता है।—यह अनुमान ही उसके जलीय द्रव्य होने में प्रमाण है। यह 'रसनेन्द्रिय', जल के परमाणुओं से बना हुआ जलीय द्रव्य है। इसलिये उसमें जल के समस्त विशेष गुण भी होते हैं। किन्तु वे अदृष्ट के कारण अनुद्भूत रहते हैं। इस कारण उन गुणों का उनके द्वारा स्वयं उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

शंका—'रसनेन्द्रियं जलीयं रसवत्त्वात्' कहकर 'रसवत्त्व' हेतु से रसनेन्द्रिय में 'जलत्व या जलीयत्व' साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि शर्करा, द्राक्षा, दाडिमादि फलों (पार्थिव द्रव्यों) में 'रसवत्त्च' तो है किन्तु 'जलत्व' नहीं है। अतः व्यभिचार है।

समा०—उपर्युक्त अनुमान में जो हेतु (रसवत्त्वात्) दिया है, वह 'सामान्यरस' के रूप में नहीं है। अपितु 'विजातीय रस' के हेतु के रूप में दिया है। जो रस, पार्थिव द्रव्य में उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु केवल जलीय द्रव्य में ही उत्पन्न होता है, उसे 'अपाकज रस' कहते हैं। पार्थिव द्रव्य का 'रस' पाकज होता है। वह तेज के विलक्षण संयोग से परिवर्तित होता रहता है। किन्तु जल का रस सर्वदा एक-सा एकरूप रहता है। वह तेज (पाक) के संयोग से बदलता नहीं है। एवंच अपाकज रस से ही जलत्व या जलीयत्व का अनुमान किया गया है। अतः साध्य का व्यभिचार वहाँ नहीं है।

शंका—रसनेन्द्रिय में 'रस' की उपलब्धि तो होती नहीं है, तब उसे 'रसाश्रय' कैसे कहा गया है?

शंका—रसनेन्द्रिय में रस की उपलब्धि न रहने पर भी 'रस' की सिद्धि अनुमान प्रमाण से हो जाती है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'रसनेन्द्रियं रसवत् रूपादिषु पञ्चषु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, लालावत्।' अर्थात् रसनेन्द्रिय रस का आश्रय है, क्योंकि वह रूप, रस, स्पर्शादि पाँच विशेष गुणों में से केवल 'रस' का ही ग्राहक होता है तथा वह 'रस' का आश्रय भी होता है। जैसे—मुख से निकलने वाली लार

अर्थात् दन्तान्तर्गत उदक। मुख में लार के पैदा होने पर ही 'रस' का स्वाद आता है, अन्यथा नहीं। एवं च 'लार' को रसानुभूति का साधन माना गया है। वह लार, मुख में स्थित रसवद् द्रव्य के रूप आदि की ग्राहक नहीं होती, वह तो केवल 'रसमात्र' का ही ग्रहण करती है। इस दृष्टान्त से यह निष्पन्न हुआ कि जैसे रसवद् द्रव्य के रूपादिगुणों में से अन्य किसी गुण की ग्राहक न बनकर केवल रसमात्र की ही ग्राहक होने के कारण 'लार' जैसी 'रस' का आश्रय कहलाती है, वैसी ही रसनेन्द्रिय भी रसवद् द्रव्य के रूपादिगुणों में से केवल रसमात्र की ग्राहक होने से वह भी 'रस' का आश्रय कही जाती है।

रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः। कृष्णताराग्रवर्ति। तच्च तैजसं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्।

(३) चक्षुरिन्द्रिय का निरूपण—

रूपेति। रूप की उपलब्धि के साधनभूत इन्द्रिय को 'चक्षु' कहते हैं। वह 'इन्द्रिय' नेत्र की काली पुतली (कृष्ण तारा) के अग्रभाग में रहती है। **तच्चेति।** वह तैजस (तेज से उत्पन्न) है, (प्रतिज्ञा), क्योंकि रूप आदि पाँचों में से केवल 'रूप' की ही वह अभिव्यञ्जक होती है, (हेतु), जैसे—केवल 'रूप' का अभिव्यञ्जक 'प्रदीप' (तैजस) है, (उदाहरण)।

माधुरी

'चेष्टते रूपं पश्यति अनेनेति चक्षुः'—जिससे रूप देखा जाता है—इस व्युत्पत्ति के बलपर 'चक्षु' का लक्षण यह किया गया है—**'रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः'**। अर्थात् रूप की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) के साधनभूत इन्द्रिय को चक्षु कहते हैं। उक्त लक्षण में 'रूप' पद को यदि हटा दें तो किसी की भी उपलब्धि के साधन घ्राणादि इन्द्रियों में लक्षण के घटित हो जाने से अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'रूप' पद का निवेश किया गया है। 'रूपस्मृति' के साधनभूत 'मन' में अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षणगत 'उपलब्धि' के स्थान में 'ज्ञान' पद नहीं दिया गया है। उसी तरह पुनः 'मन' में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'साधन' के स्थान में 'साधक' पद का निवेश नहीं किया गया, अपितु 'साधन' पद का ही निवेश किया गया है। एवं लक्षण में 'इन्द्रिय' पद के न देने पर रूप और चक्षु के संयुक्त-समवायसन्निकर्ष तथा उसके घटक 'घट-पटादि द्रव्य' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'इन्द्रिय' पद का निवेश किया गया है। अथवा रूपाभिव्यञ्जक 'प्रभा' में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'इन्द्रिय' पद दिया गया है।

यह चक्षुरिन्द्रिय, नेत्र की कृष्ण पुतली के अग्रभाग पर स्थित रहती है। चक्षु-रिन्द्रिय में रश्मियाँ (किरणें) होती हैं। नेत्र खुलने पर उसकी किरणें बाहर

निकलती हैं और सम्मुख स्थित द्रव्य के समीप पहुँचती हैं। उन किरणों द्वारा चक्षु का द्रव्य के साथ संयोग सन्निकर्ष (संबंध) होता है, और द्रव्यगत 'रूप' के साथ 'चक्षु' का 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' होता है। इन दोनों में से प्रथम सन्निकर्ष के द्वारा 'द्रव्य' की और दूसरे सन्निकर्ष के द्वारा द्रव्यगतरूप की प्रतीति होती है। इस प्रतीति (उपलब्धि) का साधन होने के कारण 'चक्षु' को इन्द्रिय कहते हैं।

यह 'चक्षुरिन्द्रिय' तैजस द्रव्य है, क्योंकि 'तेज' के परमाणुओं से वह उत्पन्न होता है। उसमें 'तेज' के सभी 'विशेष गुण' उत्पन्न हुए रहते हैं। किन्तु वे, अदृष्ट-वशात् अनुद्भूत अवस्था में रहते हैं। इसलिये उन गुणों का तथा 'चक्षुरिन्द्रिय' का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। चक्षुरिन्द्रिय में 'तैजसत्व' की सिद्धि अनुमान से होती है। उस अनुमान को ग्रन्थकार ने **'तच्च तैजसं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्'** के द्वारा बताया है। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय तैजस है, क्योंकि वह अपने से संयुक्त हुए द्रव्य के रूपादि पाँच विशेष गुणों से केवल 'रूप' का ही ग्राहक होता है। जो अपने से संयुक्त द्रव्य के रूपादि गुणों में से केवल 'रूप' का ही ग्रहण करता है, वह 'तैजस' कहलाता है। जैसे—'प्रदीप', यह दृष्टान्त है।

स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्। सर्वशरीरव्यापि। तत्तु वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जक-व्यजनवातवत्।

(४) स्पर्शनेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) का निरूपण—

स्पर्शेति। 'स्पर्श' की उपलब्धि का साधनभूत जो इन्द्रिय है, उसे **'त्वक्'** कहते हैं। वह सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके रहती है। **तत्त्विति।** वह 'वायवीय' (वायु से उत्पन्न) है (प्रतिज्ञा), क्योंकि रूपादि पाँचों में से केवल 'स्पर्श' की ही अभि-व्यञ्जक होती है (हेतु)। **अङ्गेति।** जैसे शरीर में लगे हुए जल की शीतलता की अभिव्यञ्जक पंखे (व्यजन) की वायु (उदाहरण) केवल स्पर्श की अभिव्यञ्जक होती है।

माधुरी

'मञ्चाः क्रोशन्ति' में जैसे 'मञ्च' शब्द से तत्रस्थ पुरुष समझे जाते हैं। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'त्वक्' का लक्षण बताया गया है—**'स्पर्शोपलब्धि-साधनम् इन्द्रियम् त्वक्'**। इस लक्षण में यदि 'इन्द्रिय' पद न दें तो 'स्पर्शाभिव्यञ्जक व्यजनपवन' आदि में अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ लक्षण में 'इन्द्रिय' पद दिया गया है। उसी तरह यदि 'स्पर्श' पद को हटा दें, तो रूपादि के ग्राहक 'चक्षु' आदि में अतिव्याप्ति होती। उसके वारणार्थ 'स्पर्श' पद दिया गया है। तथा 'उपलब्धि-साधन' न कह कर उसके स्थान में 'ज्ञानसाधक' कह दें तो, 'मन' में अतिव्याप्ति

होगी। उसके वारणार्थ लक्षण में 'उपलब्धिसाधन' कहा गया है। एवं लक्षण में यदि 'इन्द्रिय' पद न रखें तो, 'स्पर्श' के साथ 'त्वक्' के 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' में और उस सन्निकर्ष के घटक 'द्रव्य' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'इन्द्रिय' पद रखा गया है। यह 'त्वगिन्द्रिय' सम्पूर्ण शरीर पर व्याप्त (फैला) रहता है। 'वायु' के परमाणुओं से इस 'त्वगिन्द्रिय' की उत्पत्ति होती है, इसलिये इसे 'वायवीय द्रव्य' कहते हैं। अनुमान प्रमाण से इसका 'वायवीयत्व' सिद्ध किया जाता है। उस अनुमान प्रयोग को ग्रन्थकार ने 'तत्तु वायवीयं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गि-सलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत्' से प्रदर्शित किया है। अर्थात् 'त्वगिन्द्रिय' वायवीय है, क्योंकि वह रूपादि पाँच गुणों में से केवल 'स्पर्श' गुण का ही अभिव्यञ्जक (ग्राहक) होता है, जो रूपादि गुणों में से केवल 'स्पर्श' गुण का ही ग्राहक रहता है, वह 'वायवीय' होता है, जैसे शरीर स्थित जलीय भाग के शीतलत्व की अनुभूति कराने वाली पंखे की हवा।

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्। तदपि शब्दग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यद्गुणव्यञ्जकं तत् तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षुरादि रूपग्राहकं रूपादियुक्तम्। शब्दग्राहकञ्च श्रोत्रमतः शब्दगुणकम्।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय का निरूपण—

शब्देति। 'शृणोति शब्दं गृह्णाति अनेनेति श्रोत्रम्' अर्थात् 'जिससे सुना जाता है'—इस व्युत्पत्ति के बल पर 'श्रोत्र' का यह लक्षण निष्पन्न होता है—'शब्दोपलब्धि-साधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्'—अर्थात् जो इन्द्रिय, 'शब्द' की उपलब्धि का साधन हो'—उसे '**श्रोत्र**' कहते हैं। उक्त लक्षण में यदि 'शब्द' पद न रखें तो रूपादि की उपलब्धि के साधन 'चक्षु' आदि में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'शब्द' पद रखा गया है। 'मन' में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'ज्ञानसाधक' (उपलब्धिसाधक) न कहकर 'उपलब्धिसाधन' कहा गया है। तथा लक्षण में 'इन्द्रिय' पद के रखने से, शब्द के साथ श्रोत्र के 'समवायसन्निकर्ष' में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है।

पहले जैसा कहा गया था कि 'घ्राण' आदि इन्द्रियों पृथिवी आदि से उत्पन्न होने के कारण पार्थिव आदि कहलाती थीं, वैसे 'श्रोत्र' इन्द्रियाँ के बारे नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'श्रोत्र' आकाशजन्य नहीं है। अपितु 'आकाशात्मक' ही है।

प्रश्न—'श्रोत्र' को आकाशात्मक (आकाशरूप) कहने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—'श्रोत्र' को आकाशात्मक कहने में अनुमान प्रमाण है।

तच्चेति। अनुमान प्रयोग यह है—'तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्'। अर्थात् श्रोत्र आकाशात्मक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह

'शब्द' का आश्रय है (हेतु), जो शब्द का आश्रय होता है, वह आकाशात्मक होता है, (सामान्यव्याप्ति), जैसे प्रसिद्ध आकाश (उदाहरण)। इस अनुमान-प्रयोग से 'शब्दगुणत्व' (शब्दगुणवाला) होने के कारण 'श्रोत्र' की आकाशात्मकता की सिद्धि बतायी गयी है।

तदनन्तर 'श्रोत्र' **शब्दगुण का आश्रय** (शब्दगुणत्ववान्) है—इसे भी दूसरे अनुमान प्रयोग के द्वारा बताया गया है—**तदपीति**। 'तदपि शब्दगुणकं शब्दग्राहकत्वात्'। अर्थात् 'श्रोत्र' शब्दगुण का आश्रय है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह 'शब्द' का ग्राहक है (हेतु)।

यदिन्द्रियमिति। जो इन्द्रिय, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन पाँच गुणों में से जिस गुण का व्यंजक (प्रकाशक या ग्राहक) होता है, वह उस गुण के सजातीय गुण का आश्रय होता है (सामान्यव्याप्ति), जैसे—चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूप आदि गुणों की ग्राहक होने से रूप आदि का आश्रय होती हैं (उदाहरण), वैसे ही शब्द गुण का ग्राहक होने से श्रोत्रेन्द्रिय भी उसका (शब्द का) आश्रय है। और 'श्रोत्र' भी शब्द का ग्राहक है (उपनय), अतः 'शब्दगुणकम्' अर्थात् वह 'शब्द'-गुणवाला है (निगमन)।

शंका—यदि 'श्रोत्र' को आकाशात्मक मानते हैं तो बहिरे आदिमी को भी 'शब्द' की उपलब्धि होनी चाहिये। क्योंकि वह (आकाश) विभु है, नित्य है। वह सर्वत्र ही सर्वदा रहता है।

समा०—नैयायिक के मत में सभी कार्यों के प्रति तथा भोगों के प्रति 'अदृष्ट' को भी निमित्त माना गया है। अतः अदृष्टविशिष्ट आकाश को ही श्रोत्र समझना चाहिये। एवं च 'अदृष्ट' के सहायक न होने से बहिरे आदमी को 'शब्द' नहीं सुनाई पड़ता।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्चाणुपरिमाणं, हृदयान्तर्वर्ति।

(६) मनोनिरूपण—

सुखेति। सुख आदि की उपलब्धि का सधानभूत अन्तरिन्द्रिय **'मनस्'** (मन) है। **तच्चेति**। वह अणुपरिमाणवाला है। और हृदय के भीतर रहता है।

माधुरी

'मनस्यति अनेन इति मनः' जिसके द्वारा 'मनन' किया जाता है, इस व्यत्पत्ति के अनुसार अहं सुखी, अहं दुःखी—इस प्रकार के सुख-दुःखादि का जो साक्षात्कार होता है, उस साक्षात्कार रूप उपलब्धि का जो 'इन्द्रिय' साधन बने उसे 'मन' कहते हैं। यह 'मन' अन्तरिन्द्रिय है, बाह्येन्द्रिय नहीं है। सुखादिकों का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष अनुभव) मनोरूप इन्द्रिय से ही होता है, तदतिरिक्त किसी अन्य इन्द्रिय से

नहीं। एवं च आत्मा के सुख-दुःखादि विशेष गुणों की उपलब्धि का साधन जो इन्द्रिय हो, उसे 'मन' कहते हैं। अतः 'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः' यह 'मन' का लक्षण किया गया है।

इस लक्षण में 'सुखादि' पद नहीं रखेंगे तो 'चक्षुरादि इन्द्रियों' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि 'मन' के समान 'चक्षुरादि' इन्द्रियाँ भी रूपादि पदार्थों के साक्षात्कार की साधन हैं ही। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उक्त लक्षण में 'सुखादि' पद का निवेश करना आवश्यक है। चक्षुरादि इन्द्रियां रूपादिकों के साक्षात्कार की साधन होती हुई भी उन सुख-दुःखादिकों के साक्षात्कार की साधन नहीं हो पातीं। उस कारण चक्षुरादि इन्द्रियों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। अब उक्त लक्षण में से 'इन्द्रिय' पद को हटा दें और केवल 'सुखाद्युपलब्धिसाधनं मनः' इतना ही लक्षण रखें तो 'आत्म-मनःसन्निकर्ष' (आत्मा का मन के साथ जो संयोग सम्बन्ध है, उसमें) में तथा 'आत्मा' में और 'काल, दिक् एवं अदृष्ट में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि सुख-दुःखादि के साक्षात्कार के प्रति 'आत्म-मनःसंयोग' असमवायिकारण है, और 'आत्मा' समवायिकारण है, तथा काल, दिक्—आदि निमित्त कारण हैं। इसलिये सभी में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'इन्द्रिय' पद का निवेश करना अत्यन्त आवश्यक है। आत्म-मनःसंयोगादिकों में 'इन्द्रियत्व' न होने से उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

उक्त लक्षण में 'उपलब्धि' पद के बजाय 'ज्ञान' पद को रखकर 'सुखादिज्ञान-साधनम् इन्द्रियं मनः' कहें तो 'त्वगिन्द्रिय' में 'मन' के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि नैयायिक विद्वान् 'सुषुप्ति' अवस्था में 'ज्ञान' की उत्पत्ति नहीं मानते। उसके उपपत्त्यर्थ वे 'जन्यज्ञानमात्र' के प्रति 'त्वङ्मनःसंयोग' को कारण बताते हैं। अतः सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि सुषुप्ति के समय 'मन' पुरीततिसंज्ञक नाडी में प्रविष्ट हो जाता है, वह 'त्वक्' को छोड़ देता है। एवं च सुषुप्ति काल में 'त्वक्' के साथ 'मन' का संयोग नहीं रहता है। और न्यायसिद्धान्त के अनुसार यच्च यावत् ज्ञान-सामान्य के प्रति 'त्वङ्मनःसंयोग' कारण हुआ करता है, तदनुसार मन जैसे 'सुखादिज्ञान' के प्रति कारण होता है। वैसे ही 'त्वक्' भी 'ज्ञानसामान्य' के प्रति कारण रहेगी। एवंच सुखादिज्ञान के प्रति उसकी भी कारणता (साधनता) रहने से उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'उपलब्धि' पद देना आवश्यक है।

शंका—आपने ज्ञानसामान्य के प्रति 'त्वगिन्द्रय' को कारण माना है। अतः उसे 'सुखज्ञान' का (सुखोपलब्धि का) भी कारण कहना होगा। तब 'उपलब्धि' पद के देने पर भी 'त्वक्'—में अतिव्याप्ति का वारण कैसे हो सकेगा ?

समा०—'उपलब्धि' पद के देने पर अतिव्याप्ति का वारण इस प्रकार होगा कि 'उपलब्धि' पद में 'उप' शब्द का अर्थ 'समीप' है। और 'लब्धि' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है। तब 'सुखाद्युपलब्धिसाधनम् इन्द्रियं मनः' इस लक्षण का अर्थ यह होगा कि 'जो इन्द्रिय, समीप (अपने सन्निकर्ष) से सुख-दुःखादि के ज्ञान का साधन (करण) हो वह 'मन' (इन्द्रिय) है तब 'त्वक्' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि–'त्वगिन्द्रिय' समीप से (अपने सन्निकर्ष से) सुख-दुःखादि के ज्ञान का साधन नहीं होता है। तथा लक्षण में 'इन्द्रिय' पद के न रखने से 'आत्मा' में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि 'मन' का 'आत्मा' के साथ 'संयोग' सम्बन्ध रहने से 'मनःसंयुक्त' आत्मा हुआ, और उस आत्मा में सुखादिगुण समवायसम्बन्ध से रहते है। अतः सुख-दुःखादिगुणों के साथ 'मन' का संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष है। अतः उस सन्निकर्ष का घटक 'आत्मा' भी है, जो 'सुख-दुःखादि' गुणों का आश्रय है, एवं च 'सुख-दुःखादि' की उपलब्धि का साधन 'आत्मा' भी हो सकता है। अतः सुखोपलब्धि के साधन 'आत्मा' में लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है। उसके वारणार्थ लक्षण में 'इन्द्रिय' पद देना आवश्यक है। तब सुखादि की उपलब्धि का साधन तो 'आत्मा' है किन्तु वह 'इन्द्रिय' नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

इस 'मनःसंज्ञक इन्द्रिय' का परिमाण 'अणु' माना गया है। वह हृदय के अन्दर रहता है। वहीं से जैसी जहाँ आवश्यकता होती है तदनुसार शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में जाता रहता है।

निष्कर्ष यह है—कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष हो जाने पर भी सभी अर्थों (विषयों) का प्रत्यक्ष युगपत् (एक साथ) नहीं हो पाता है, अपितु क्रम से होता है। क्योंकि 'मन' का परिमाण 'अणु' है। इसलिये तत्तद् इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के होने में तत्तद् इन्द्रिय के साथ जब 'मन' का संयोग होता है तभी प्रत्यक्ष हो पाता है। अतः 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' क्रम से होता है, युगपत् नहीं। क्योंकि 'मन' तो अणु है, उसका भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने वाले इन्द्रियों के साथ युगपत् संयोग सम्बन्ध हो पाना संभव नहीं है। अतः एक-एक विषय (अर्थ) का क्रम से 'प्रत्यक्ष' होता है। एवंच 'ज्ञानों' की उत्पत्ति क्रमशः हुआ करती है।

किन्तु मीमांसक 'मन' को विभु परिमाणवाला कहते हैं। उसके विभु होने में वे इस प्रकार अनुमान करते हैं—'मनः विभु स्पर्शरहितद्रव्यत्वात् आकाशादिवत्'—'मन' विभु है—क्योंकि वह 'स्पर्श' गुण से रहित 'द्रव्य' है। जो-जो स्पर्शगुण-रहित द्रव्य होता है, वह 'विभु' ही होता है।' जैसे—आकाश, काल, दिक् और आत्मा ये चारों 'द्रव्य' स्पर्शगुणरहित द्रव्य हैं, अतः वे 'विभु' होते हैं। उसी प्रकार 'मन' भी स्पर्श-गुणरहित द्रव्य है, इसलिये वह भी 'विभु' है।

किन्तु नैयायिकों की दृष्टि से मीमांसकों का यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'मन'

यदि विभु होता तो उसका सभी इन्द्रियों के साथ युगपत् ही सम्बन्ध हो सकता था, तब एक ही समय में अनेक इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषयों का प्रत्यक्ष भी हो सकता था, किन्तु ऐसा होता नहीं है। सूत्रकार ने इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिये 'मन' की सिद्धि करते हुए कहा है—'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्'—(न्या० सू० १।१।१६)। 'मन' अणु होने से ही इतनी तीव्र गति का है कि उसे शरीर के विभिन्न भागों में जाने के लिये किञ्चिन्मात्र भी देर नहीं लगती। इस रीति से वह (मन) सभी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान कराता हुआ सुखादिका ज्ञान कराता है।

ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम् ? उच्यते। अनुमानमेव। तथाहि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्।

इति इन्द्रियनिरूपणं समाप्तम्।

प्रश्न—नन्विति। चक्षुरादि इन्द्रियों के अस्तित्व में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—उच्यत इति। बताते हैं—उनके अस्तित्व में **'अनुमान'** प्रमाण ही है। **तथा हीति।** जैसे—रूप आदि विषयों का ज्ञान (उपलब्धि) किसी 'करण' से ही साध्य होता है, (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह (ज्ञान) क्रियारूप है, (हेतु), जैसे 'छेदन क्रिया' कुठारादि करण से होती है। (उदाहरण)

माधुरी

आँखों में जो 'गोलक' दिखाई देते हैं, वे 'चक्षुरिन्द्रिय' नहीं हैं, अपितु 'कृष्णतारा' में सूक्ष्मतया रहने वाली जो है, वह चक्षुरिन्द्रिय है। सूक्ष्मरूप से रहने वाली ये इन्द्रियाँ, किसी के प्रत्यक्ष का विषय नहीं हैं। वे अतीन्द्रिय हैं। तथापि उनसे होने वाली रूप आदि की उपलब्धिरूपा क्रिया का अनुभव सभी को होता है। अतः रूपोपलब्धिरूपा क्रिया का प्रत्यक्ष होने से 'मुझे रूप की उपलब्धि हुई' 'मैंने उसका रूप देखा' इस प्रकार उपलब्धि को सभी प्रकट किया करते हैं। अनुभूत विषय को ही शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है। एवं च रूप आदि की उपलब्धिरूपा क्रिया जब प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब उस क्रिया से उसके 'करण' का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। इस रीति से रूपोपलब्धिरूप क्रिया के द्वारा उसके 'करण' के रूप में जिसका अनुमान किया जाता है, वही 'चक्षुरादि' इन्द्रिय है।

शंका—'रूपोपलब्धि' में जो क्रियात्व की विवक्षा की है, वह धात्वर्थरूप है, या परिस्पन्दरूप है ? उसे 'धात्वर्थरूप' इसलिये नहीं कह सकते कि उससे निमित्त मात्र से साध्य होने वाले प्रध्वंस में अनैकान्तिकता (व्यभिचार) होती है। उसी तरह उसे परिस्पन्दरूप भी नहीं कह सकते क्योंकि असिद्ध है। एवं च उभयतः पाशारज्जुं रहने से यह सोचना व्यर्थ है। यहाँ पर 'क्रियात्व' का अर्थ 'कार्यत्व' विवक्षित है।

'कार्यत्वं च अभूत्वा भावित्वम्' जो पूर्व नहीं था उसका होना ही कार्यत्व है। ऐसा मानने पर कहीं कोई दोष नहीं है।

इति इन्द्रियनिरूपणं समाप्तम्।

---

(४) अर्थनिरूपणम्

अर्थाः षट्पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः। प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनम्।

अर्था इति। 'अर्थ' शब्द से वैशेषिकोक्त द्रव्यादि छह पदार्थ यहाँ विवक्षित हैं। जो (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि न्यायदर्शन में वर्णित 'प्रामाणादि' पदार्थ, इन वैशेषिकोक्त 'द्रव्यादि' पदार्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं, तथापि किसी विशेष प्रयोजन वश उनको अलग से बताया गया है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने प्रमेयनिरूपण के आरम्भ में ही बारह प्रमेयों (पदार्थों) को गिना दिया था। उनमें से (१) आत्मा, (२) शरीर, और (३) इन्द्रिय तीन प्रमेयों का विवेचन करने के बाद अब क्रमप्राप्त 'अर्थ' नामक चौथे प्रमेय को बताया जा रहा है। इस 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिकदर्शन के 'द्रव्य, गुण' आदि सम्पूर्ण पदार्थों को बताया जा रहा है।

वैशेषिक दर्शन में ये 'द्रव्य' से लेकर 'समवाय' तक छह 'भाव पदार्थ' हैं। वैशेषिकसूत्रोक्त इन्हीं षट् पदार्थों (छह पदार्थों) को तर्कभाषाकार ने 'अर्थ' शब्द से विवक्षित किया है। 'अर्थ' शब्द की यह व्याख्या, तर्कभाषाकार की अपनी स्वतन्त्र है। किन्तु न्यायसूत्रकार या उसके भाष्यकार के द्वारा 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य कुछ अलग ही बताया गया है। न्यायसूत्रकार ने तो यहाँ पर 'अर्थ' शब्द से 'गन्ध' आदि पाँच इन्द्रियविषयों का ग्रहण किया है। **'गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः'**— (न्या० सू० १।१।१५)। इस सूत्र में 'तदर्थाः' का अर्थ—इन्द्रियार्थाः (इन्द्रिय के विषय)—'गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द' ये पाँच हैं। ये क्रमशः पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच द्रव्यों के विशेष गुण हैं। एवंच न्यायसूत्र की दृष्टि से 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य गन्धादि गुणों में है। और वैशेषिकदर्शनकार की दृष्टि में 'अर्थ' शब्द से 'द्रव्य, गुण और कर्म' तीन पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। एवंच इनके मत में 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य 'द्रव्य, गुण और कर्म' इन तीनों में ही है। किन्तु तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने 'अर्थ' शब्द के द्वारा 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय'—ये छह

भावपदार्थ, बताये हैं। इन्होंने न 'न्याय' का मार्ग अपनाया और न ही वैशेषिक के मार्ग को अपनाया, किन्तु अपना एक अलग ही मार्ग बनाया है।

शंका—ग्रन्थकार ने ऐसा क्यों किया ? जब कि ग्रन्थकार 'प्रमेयाणि उच्यन्ते' कहकर न्यायदर्शनोक्त बारह प्रमेयों (पदार्थों) की व्याख्या करने जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'अर्थ' शब्द से उन्हीं बारह पदार्थों का ही ग्रहण करना था। वह क्यों नहीं किया ?

समा०—यह 'तर्कभाषा' ग्रन्थ, न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन दोनों का सम्मिलितरूप से 'प्रकरणग्रन्थ' है। अतः दोनों दर्शनों के पदार्थों को इसमें बताना ग्रन्थकार को अभीष्ट है। एवंच न्यायदर्शनोक्त प्रमाणादि सोलह पदार्थों को बताते हुए वैशेषिकदर्शनोक्त द्रव्यादि छह पदार्थों को भी बताने के लिये ही 'अर्थ' शब्द के भीतर उनका भी सन्निवेश कर लिया है। इस प्रकार 'अर्थ' शब्द से 'द्रव्यादि' छह पदार्थों का ग्रहण करके, वैशेषिकदर्शन में 'अर्थ' शब्द से अभिमत 'द्रव्य, गुण, कर्म' तीन का स्वतंत्ररूप से और न्यायदर्शन में 'अर्थ' शब्द से अभिमत 'गन्ध' आदि 'इन्द्रियार्थों' का गुणों के मध्य संग्रह कर दिया गया है। अतः दोनों दर्शनों में की गयी 'अर्थ' शब्द की व्याख्या के साथ ग्रन्थकार के द्वारा की गई 'अर्थ' शब्द की व्याख्या का समन्वय सरलता से हो जाता है। इस ग्रन्थ में मुख्यतया न्यायदर्शन के 'प्रमाण' आदि सोलह पदार्थों का विवेचन किया गया है और 'अर्थ' के अन्तर्गत वैशेषिकदर्शन के 'द्रव्य' आदि पदार्थों का वर्णन किया है।

न्यायसूत्र के भाष्य में एक प्रश्न और उसका समाधान किया गया है कि 'प्रमाणादि' समस्त पदार्थों का अन्तर्भाव एक मात्र 'प्रमेय' पदार्थ के भीतर ही हो सकता है। तब न्यायदर्शन में सोलह पदार्थों का निरूपण क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उनका अन्तर्भाव 'प्रमेय' में हो सकता है—यह सत्य है। तथापि उनका अलग से प्रतिपादन करने का विशेष प्रयोजन है।

नीतिशास्त्र में **'आन्वीक्षिकि त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती'** कहा गया है। इसके अनुसार 'आन्वीक्षिकी' (न्यायविद्या), 'त्रयी' (वेदविद्या), 'वार्ता' (अर्थशास्त्र—इसमें शिल्प, वाणिज्य, कृषि, भैषज्यादि जीविकोपार्जन के सभी स्रोतों विशद वर्णन किया है), और 'दण्डनीति' (राजनीति—इसमें राज्यशासन के सभी अंगों का वर्णन रहता है)—ये चार प्रकार की पृथक्-पृथक् विद्याएँ विश्वकल्याण के लिये सर्वमान्य हैं। इन सबका भी 'प्रमेय' में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है। किन्तु इनका अलग-अलग विशद विवेचन किये बिना उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव इन्हें स्वतन्त्रविद्याओं के रूप में कहा गया है।

उसी प्रकार 'प्रमाणादि' पदार्थ, न्यायविद्या के प्रधान अंग हैं। न्यायविद्या, उन प्रमाणादि पदार्थों के ऊपर ही निर्भर है। उनके निरूपण के बिना न्यायविद्या का निरूपण नहीं हो सकता। यदि 'प्रमाणादि' पदार्थों का निरूपण 'न्यायविद्या' में न किया

जाय तो 'न्यायविद्या' भी उपनिषदों के समान ही केवल अध्यात्मविद्या ही कहलायेगी। उस स्थिति में उसका अन्तर्भाव 'त्रयी' में ही करना होगा। तब इसे स्वतन्त्र विद्या नहीं कर सकेंगे। अतः उस न्यायविद्या के स्वतन्त्र-स्वरूप की रक्षा करने के लिये ही इन पदार्थों का निरूपण अलग से किया गया है।

भाष्यकार के उपर्युक्त कथनानुसार ही तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने बताया है कि यद्यपि वैशेषिक के 'द्रव्यादि' छह पदार्थों में ही नैयायिकों के प्रमाणादि सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि एक विशेष प्रयोजन से उनको अलग से बताया गया है। अन्यथा अर्थात् उनका अलग से प्रतिपादन न किया जाता तो 'न्यायदर्शन' का वैशेषिकदर्शन की अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व न दिखाई देता। एवं च उसकी स्वतन्त्रता के संरक्षणार्थ ही इन पदार्थों का पृथक् निरूपण किया गया है। इस न्याय-विद्या में ही न्यायप्रवृत्ति के अंगरूप में संशय से लेकर निग्रहस्थान तक के पदार्थों को बताया गया है। इस प्रकार अन्य किसी शास्त्र में भी संशयादि निग्रहान्त पदार्थों को नहीं बताया है। एवं च न्यायप्रधान (अनुमानप्रधान) होने से यही न्यायविद्या समस्त विद्याओं की अनुग्राहक है, और अनुग्राहक होने से ही उसे 'उत्तम' कहा जाता है। क्योंकि 'न्याय' से ही सभी विद्याओं का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। न्याय-भाष्यकार कहते हैं—"सेयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैः प्रविभज्य-माना—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता॥"

प्रमाण-प्रमेयादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, निःश्रेयसप्राप्ति में निमित्त होता है। इसलिये द्रव्यादि अर्थों से अलग प्रमाण-प्रमेयादि का वर्णन करना ही चाहिये। न्यायभाष्यकार ने कहा है कि "यद्यपि 'आत्मा' से भिन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव भी प्रमेय हैं और उनके भेदोपभेद भी असंख्य हो सकते हैं, तथापि विशेषरूप से 'आत्मा' आदि का प्रमेय के रूप में इसलिये उपदेश दिया है कि इनके तत्त्वज्ञान से 'अपवर्ग की प्राप्ति होती है, और इनके मिथ्या-ज्ञान से 'संसार' की प्राप्ति होती है। इसलिये यह न्यायविद्या एक पृथक् प्रस्थान ही है।

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। गुणाश्रयो वा। तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

तत्रेति। इन द्रव्यादि छह पदार्थों में जो पदार्थ, 'समवायिकारण' बनता है—उसे **द्रव्य** कहते हैं। **गुणेति**। अथवा जो 'गुण' का **आश्रय** रहता है—उसे द्रव्य कहते हैं। ...व्य' के ये 'दो' लक्षण हैं।

तानीति। वे 'द्रव्य' संख्या में नौ ही हैं—(१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज (अग्नि), (४) वायु (५) आकाश, (ये पञ्चभूत कहलाते हैं), (६) काल, (७) दिक्, (८) आत्मा, और (९) मन (मनस्)।

माधुरी

पूर्वोक्त द्रव्यादि छह पदार्थों में से 'द्रव्य' का लक्षण 'समवायिकारणं द्रव्यम्' अर्थात् 'समवायिकारणत्वं द्रव्यत्वम्' किया गया है। जो किसी 'कार्य' का समवायिकारण बनता है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं। उक्त लक्षण के पदकृत्य पर भी थोडा-सा विचार कर लिया जाय।

उक्त लक्षण में 'समवायि' पद को यदि हटा दिया जाय तो 'कारणं द्रव्यम्' इतना ही लक्षण शेष रह जायेगा। तब इस द्रव्य लक्षण की 'गुण, कर्म' आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि वे 'गुण, कर्म' भी असमवायिकारण तथा निमित्तकारण बनते हैं। जैसे—'तन्तुरूप', पटरूप का तथा 'कर्म', संयोग-विभाग का 'असमवायिकारण' और अपने 'प्रत्यक्ष' का 'निमित्तकारण' हुआ करता है। किन्तु 'समवायि' पद के देने पर यह अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि 'कार्य' का 'समवायिकारण' ही द्रव्य कहलाता है, दूसरा नहीं। एवं उक्त लक्षण में से 'कारणम्' (कारणत्व) को हटा दें तो शेष 'समवायि' (समवायित्वं) द्रव्यम् (द्रव्यत्वम्) इतना ही रहेगा तब उस लक्षण की 'गुण' तथा 'कर्म' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'गुण' तथा 'कर्म' में भी 'गुणत्व' तथा 'कर्मत्व' जाति 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है। अतः वे 'गुण, कर्म' भी समवाय-विशिष्ट होने से 'समवायि' हैं। किन्तु लक्षण में 'कारणम्' कहने पर अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। गुण और कर्म में यद्यपि 'जाति' का समवाय है, किन्तु 'जाति' को नित्य माना गया है, वह अनित्य नहीं है। अतः 'गुण या कर्म' उसके (जाति के) जनक (कारण) नहीं कहे जा सकते। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

किन्तु उक्त लक्षण में 'कारणत्व' का प्रवेश रहने से 'गौरव' होता है यह सोचकर दूसरा लघु लक्षण 'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्' बनाया है।

शंका—'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्' इस द्वितीय लघु लक्षण की भी घट के प्रथम क्षण में उसके 'निर्गुण' रहने से उस में 'अव्याप्ति' होती है, क्योंकि न्याय के सिद्धान्तानुसार प्रथम क्षण में (उत्पत्ति क्षण में) गुणरहित (निर्गुण) घट की उत्पत्ति हुआ करती है। इसलिये प्रथम क्षण में 'घट' (कोई भी द्रव्य) गुण का आश्रय नहीं बन सकता। तब 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्यलक्षण उसमें कैसे समन्वित हो सकेगा ? अतः अव्याप्ति है।

समा०—योग्यता के आधार पर गुणाश्रयता को मानने में अव्याप्ति दोष नहीं होगा। अर्थात् 'गुण' के आश्रय बनने की 'योग्यता' उसमें अपेक्षित है। 'योग्यता' का

अर्थ है—'गुणाऽन्त्यन्ताऽभावाऽभाव' यानी गुणों के अत्यन्ताभाव (त्रैकालिक अभाव) का अभाव। यद्यपि प्रथम क्षण में (उत्पत्ति क्षण में) 'घट' आदि द्रव्यों में 'गुणों' का अभाव है, किन्तु गुणों का 'अत्यान्ताभाव' नहीं है, क्योंकि द्वितीय क्षण में उस उत्पन्न हुए घटादि 'द्रव्य' में 'गुणों' की उत्पत्ति हो जाती है। इसी को दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि 'गुणाश्रयत्व' अर्थात् 'प्रतियोगिव्यधिकरणगुणाभाव-शून्यत्व'। जिससे 'गुणाभाव' अपने प्रतियोगी 'गुण' का व्यधिकरण होकर न रहे—वह 'द्रव्य' है। ऐसा कहने पर 'द्रव्यलक्षण' की अव्याप्ति नहीं हो पायेगी। क्योंकि घटोत्पत्ति के प्रथम क्षण में यद्यपि उसमें (उत्पद्यमान घट में) गुणाभाव रहता है (निर्गुण रहता है), किन्तु वह गुणाभाव 'प्रतियोगिव्यधिकरण' होकर नहीं रहता है, क्योंकि वही द्रव्य (घट आदि) द्वितीय क्षण में गुणविशिष्ट (सगुण) हो जाता है। अर्थात् दूसरे क्षण में वहाँ 'गुण' भी रहता है। अतः अव्याप्ति नहीं है।

शंका—जो 'घट' अपनी उत्पत्तिक्षण के द्वितीयक्षण में ही नष्ट हो जाय, तब तो उसमें 'गुण' के उत्पन्न न होने से उस 'घट' में जो 'गुणाभाव' है, वह 'प्रतियोगि-व्यधिकरण गुणाभाव' ही है। उस घट में 'प्रतियोगिव्यधिकरणगुणाभावशून्यत्व' के न रहने से 'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्' लक्षण की अव्याप्ति होगी।

समा०—उपर्युक्त दोनों लक्षणों का उल्लेख करके एक तीसरे लक्षण की ओर संकेत कर रहे हैं। वह तीसरा लक्षण है—**'द्रव्यत्वजातिमत्त्वं द्रव्यत्वम्'**। अर्थात् जो पदार्थ, समवाय सम्वन्ध से 'द्रव्यत्व जाति' विशिष्ट होता है, उस पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं। एवं च 'समवाय सम्बन्ध' से 'द्रव्यत्वजाति' पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहती है। गुणादि पदार्थों में वह नहीं रहती। इसलिये 'द्रव्यत्व जातिमत्त्व' ही द्रव्य का लक्षण समुचित है। किन्तु इस लक्षण का औचित्य तभी कहा जायेगा, जब किसी प्रमाण से 'द्रव्यत्वजाति' की सिद्धि हो जाय, अन्यथा नहीं। विचार करने पर प्रतीत होता है कि 'अनुमान' प्रमाण से 'द्रव्यत्व जाति' की सिद्धि हो सकती है। वह (द्रव्यजाति की सिद्धि) 'समवायिकारणता' के 'अवच्छेदक' के रूप में की जाती है। जो इस प्रकार है—'द्रव्य-वृत्तिर्या संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुवृत्तिकारणतावत्'—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहने वाली 'संयोगगुणरूप' कार्य की अथवा 'विभागगुणरूप' कार्य की जो समवायिकारणता है, वह (कारणता) किसी 'धर्म' से अवच्छिन्न होने योग्य है, 'कारणता' होने से। क्योंकि जो-जो 'कारणता' होती है वह किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है। निरवच्छिन्न कोई कारणता नहीं होती है। जैसे—'तन्तुओं में रहने वाली 'पट' की समवायिकारणता 'तन्तुत्व' धर्म से अवच्छिन्न रहती है। उसी प्रकार द्रव्यनिष्ठ कारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न ही रहेगी। एवं च पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहने वाली संयोग-विभागरूप कार्य की जो समवायिकारणता है, उसकी अवच्छेदक 'द्रव्यत्व' जाति (धर्म) ही होगी, अन्य कोई

'धर्म' उसका अवच्छेदक नहीं होगा। वह 'द्रव्यत्व' जाति (धर्म) नौ द्रव्यों में ही रहती है, अन्यत्र नहीं। पूर्वोक्त दो लक्षणों की दृष्टि से देखने पर भी 'द्रव्य' को जब हम 'समवायिकारण' या 'गुणाश्रय' कहते हैं, तब हमें 'संयोग-विभाग रूप गुणों की 'समवायिकारणता' का और उसके 'अवच्छेदक' के रूप में 'द्रव्यत्व' जाति (धर्म) का भी स्मरण हो आता है। इस प्रकार हमें उक्त दोनों लक्षणों में से ही तृतीय लक्षण का भी संकेत मिल जाता है। ग्रन्थकार केशवमिश्र का अभिप्राय भी इस **तृतीय लक्षण** में ही है—ऐसा प्रतीत हो रहा है।

'द्रव्याणि नवैव' कहते हुए ग्रन्थकार ने दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। एक तो कुछ लोगों के भ्रम का निराकरण और दूसरा नौ से अधिक द्रव्यों का निषेध। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि 'शब्द', वायु का ही गुण है, अतः 'आकाश' नाम से उसका कोई अतिरिक्त आश्रय नहीं है। तथा 'जन्यपदार्थ' ही 'काल' है, उससे भिन्न 'काल' नाम का कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। 'मूर्त द्रव्य' ही दिक् है, उससे भिन्न 'दिक्' नाम का कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। 'देह' (शरीर) ही 'ज्ञान' आदि गुणों के आश्रय हैं, 'आत्मा' नाम का कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। 'वायु' के परमाणु ही 'मन' है, अतः 'मन' नाम का कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। इन भ्रमों का निराकरण 'नवैव' कहने से ही हो जाता है तथा मीमांसक के अभिमत द्रव्य का निषेध भी हो जाता है।

ग्रन्थकार ने 'नवैव द्रव्याणि' में 'एव'कार का प्रयोग किया है। उस प्रयोग के द्वारा नौ से अधिक संख्या में 'द्रव्य' के होने का निषेध व्यक्त किया है। क्योंकि मीमांसकों ने 'तम' (अन्धकार) को भी एक स्वतंत्र पृथक् द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। अर्थात् मीमांसकों ने दस 'द्रव्य' माने हैं।

मीमांसकों का मत—

'तमस्' (तम) को स्वतन्त्र द्रव्य मानने में मीमांसक यह युक्ति देते हैं—

"तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्निवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥"

'तम' में चलनात्मक क्रिया रहती है, 'तम' का रूप 'नील' होता है, 'तम' की उत्पत्ति, दूर तथा समीप के स्थानों में क्रमशः होती है। 'तम' में कालकृत तथा दिक्कृत 'परत्व' तथा अपरत्व भी रहता है। उसी तरह एक जगह से विभक्त होकर दूसरी जगह से संयुक्त हुआ भी वह (तम) दिखाई देता है। इसलिये उसमें संयोग-विभाग भी होते हैं। छोटे-बड़े स्थानों में 'तम' छोटा और बड़ा भी दिखाई देता है। इसलिये उसमें कई प्रकार का परिमाण भी माना जाता है। भिन्न-भिन्न स्थानों भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ने से उसमें विभिन्न संख्यायें भी होती हैं। एक जगह का तम, दूसरी जगह के तम से पृथक् (भिन्न-अलग) दिखाई देता है। इसलिये उसमें 'पृथक्त्व' को भी मानना होगा। इस

प्रकार 'जाति और गुणों' का आश्रय होने से 'तम' को पृथिवी आदि प्रसिद्ध नौ द्रव्यों से भिन्न एक स्वतन्त्र दसवाँ द्रव्य भी मानना चाहिये। 'नीलं तमश्चलति' यह प्रतीति सभी को होती है। इस प्रतीति से 'तम' में 'नीलगुण' और 'चलनक्रिया' सिद्ध है। गुण तथा क्रिया का आश्रय 'द्रव्य' ही होता है। अतः 'तम' में द्रव्यत्व सिद्ध हो जाता है।

'तम' में 'गन्धगुण' के न रहने से उसका 'पृथिवी' में अन्तर्भाव नहीं है। 'तम' में 'नीलरूप' के रहने से उसका जल, वायु, आकाश, तेज, काल, दिक् और आत्मा आदि में भी अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि ऊपर परिगणित द्रव्यों में 'नीलरूप' नहीं है। 'जल' का रूप 'अभास्वर शुक्ल' है और तेज (अग्नि) का रूप 'भास्वरशुक्ल' है। नीलरूप नहीं है। शेष वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—इन छह द्रव्यों में किसी प्रकार का कोई रूप नहीं रहता है। किन्तु 'तम' में 'नीलरूप' रहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'तम' का अन्तर्भाव उक्त नौ द्रव्यों में नहीं है। अतः 'तम' को नौ द्रव्यों से भिन्न दशम द्रव्य मानना ही चाहिये। **मीमांसकों** के इस वक्तव्य पर **नैयायिक** उसका उत्तर देते हैं।

'तम' के द्रव्यत्व होने का खण्डन—

'तम' कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह तो 'तेज' का अभावमात्र है। जहाँ पर तेज नहीं रहता, या कम रहता है—वहीं पर 'तम' की प्रतीति होती है।

शंका—जैसे आप 'तेज' को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर उसके अभाव को 'तम' बताते हैं, तो हम उसके विपरीत ही क्यों न मान लें? अर्थात् 'तम' को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर उसके अभाव को ही 'तेज' क्यों न कहें।

समा०—उक्त शंका उचित नहीं है। 'तेज' को तो स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मानना ही होगा, क्योंकि वह उष्णस्पर्श का आश्रय है। 'तम' को स्वतन्त्र द्रव्य मानने में कोई प्रबल युक्ति नहीं है। और उसको 'तेज' का अभाव कहने में कोई बाधक भी नहीं है। किञ्च 'तम' को द्रव्य कहने में गौरव दोष भी है। जैसे—'तेज' के होने पर 'तम' की निवृत्ति हो जाती है और 'तेज' के न रहने पर 'तम' की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार 'तम' की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती रहने से वह (तम) जन्य द्रव्य ही कहलायगा, नित्य द्रव्य नहीं। इस प्रकार उसे जन्यद्रव्य कहने पर उसके 'प्रागभाव', 'प्रध्वंस', तथा अनन्त अवयव आदि की कल्पना करनी होगी अर्थात् यह सब गौरव प्रपञ्च करना पड़ेगा। और 'तेज' के अभाव को 'तम' मान लेने में किसी भी प्रकार के प्रपञ्च का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः 'तेजोऽभाव' को ही 'तम' कहने में लाघव होने से 'तेज' के अभाव को ही 'तम' कहना चाहिये। 'तम' नाम का कोई अलग द्रव्य नहीं है।

'तम' को स्वतंत्र पदार्थ मानने वालों को उसमें 'द्रव्यत्व' सिद्धि के लिये 'नीलरूप'

गुण और 'चलनरूप' क्रिया का आश्रय मानना पड़ता है। अत एव वे कह देते हैं कि 'नीलं तमश्चलति'।

किन्तु उनका इस तरह कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः ये दोनों प्रतीतियाँ (रूप और क्रिया की) निरा भ्रम हैं। जैसे—'आकाश' में नीलरूप की प्रतीति का भ्रम हुआ करता है, क्योंकि 'आकाश' तो निराकार है, निराकार रहने से वह रूप रहित है। तथापि स्वच्छ आकाश को देखकर 'नीलं नभः' का व्यवहार लोग किया ही करते हैं। अतः व्यवहार के आधार पर 'प्रतीति' को यथार्थ कह देना ठीक नहीं है। व्यवहार तो उलटे-पलटे भ्रमपूर्ण भी हुआ करते हैं। जैसे—'ऊरु' को जाँघ, और 'जाँघ' को ऊरु तथा 'रंगी' को 'नारंगी' लोग कहा करते हैं। रेलगाड़ी के चलने पर समीप के स्थावर-जंगम सभी चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। एवं च 'नीलं नभः' यह नीलरूपवत्ताप्रतीति जो होती है, वह केवल 'भ्रम' ही है। उसी तरह 'नीलं तमः' यह प्रतीति भी केवल भ्रम ही है। तथा 'तमः चलति' यह जो 'चलन क्रिया' की प्रतीति होती है, वह भी भ्रम है। वह 'प्रतीति' औपचारिक है। वस्तुतः 'तम' चलता नहीं है, अपितु 'प्रकाश' (तेज) द्रव्य, चलता है। उसके चलने से 'तेज' का जो 'भाग' आवरण में आ जाता है, उस कारण जहाँ-जहाँ 'तेज' नहीं पहुँच पाता है, वही 'भाग' (तेजोऽभाववाला) चलता हुआ-सा प्रतीत होता है। अतः 'तम' में गति (चलन क्रिया) की प्रतीति भी केवल भ्रम ही है। एवं च 'तम' को द्रव्य सिद्ध करने वाले दोनों हेतुओं के भ्रमरूप होने से 'तम' को द्रव्य नहीं कह सकते। वैशेषिक दर्शन के पञ्चमाध्याय के दूसरे आह्निक के दो सूत्र इसी बात को बता रहे हैं—

'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः' ॥ १९ ॥
'तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च' ॥ २० ॥

पृथिव्यादिद्रव्याणि

तत्र पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी। काठिन्यकोमलत्वाद्यवयवसंयोगविशेषेण युक्ता। घ्राण-शरीर-मृत्पिण्ड-पाषाण-वृक्षादिरूपा। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती। सा च द्विविधा नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या च कार्यरूपा। द्विविधायाः पृथिव्या रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा अनित्याः पाकजाश्च। पाकस्तु तेजःसंयोगः, तेन पृथिव्याः पूर्वरूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः।

(१) पृथिवीनिरूपण—

तत्र पृथिवीत्वेति। उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से 'पृथिवीत्व' जाति (सामान्य) से विशिष्ट जो द्रव्य हो, उसे 'पृथिवी' कहते हैं।

काठिन्येति। वह कठोर (पाषाण, लोहा, लकड़ी, इंट आदि में) तथा कोमल

(रुई, पुष्प, मखमल आदि) आदि अवयव संयोग-विशेष से युक्त होती है। **अभिप्राय** यह है—'पृथिवी' के कठिन-कोमल आदि अनेक भेद होते हैं। जिस पृथिवी के अवयवों का संयोग दृढ रहता है, वह पृथिवी 'कठिन' होती है। और जिस पृथिवी के अवयवों का संयोग 'शिथिल' रहता है, वह 'कोमल' होती है।

घ्राणेति। वह, घ्राण (इन्द्रिय), शरीर (मनुष्य आदि का), और मिट्टी का पिण्ड (गोला), पाषाण (पत्थर), वृक्ष आदि के रूप में होती है। निष्कर्ष यह है कि पृथिवी के अनेक स्वरूप होते हैं—घ्राण से लेकर वृक्ष आदि तक जो ऊपर बताये गये हैं। पृथिवी के इन सभी रूपों का तीन प्रकार से वर्गीकरण, न्यायशास्त्र के अन्यान्य ग्रन्थों में किया है। उसके (पृथ्वी के) कुछ रूप तो 'शरीर' के अन्तर्गत, और कुछ रूपों को 'इन्द्रिय' के अन्तर्गत, तथा कुछ रूपों को 'विषय' के अन्तर्गत कर दिया गया है। अर्थात् सभी रूपों को 'शरीर-इन्द्रिय-विषय' इन तीन वर्गों में बाँट दिया है। **शरीरवर्ग** में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वनस्पति आदि का समावेश किया गया है। **इन्द्रियवर्ग** में 'घ्राण' का समावेश किया गया है। **विषयवर्ग** में मृत्पिण्ड, पाषाण आदि का समावेश किया गया है।

वह (१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, (१४) संस्कार (वेग, और स्थिति-स्थापक) इन चौदह गुणों से युक्त होती है।

सा चेति। वह पृथिवी दो प्रकार की है—नित्य और अनित्य। नित्या पृथिवी 'परमाणुरूप' और अनित्या पृथिवी 'कार्यरूप' है। अर्थात् 'पृथिवी' के मुख्यतया दो भेद हैं—नित्यपृथिवी और अनित्य पृथिवी। जो 'पृथिवी' परमाणुरूप रहती है, उसे 'नित्य पृथिवी' कहते हैं। और जो पृथिवी परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होती है, उसे 'अनित्य पृथिवी' कहते हैं। इस 'अनित्य पृथिवी' के भी दो भेद होते हैं—(१) अणु और (२) महत्। जो पृथिवी दो परमाणुओं के संयोग से (द्वचणुक से) उत्पन्न होती है वह 'अणु' कहलाती है। तीन द्वचणुकों के संयोग से उत्पन्न होने वाली पृथ्वी को 'त्रसरेणु' कहते हैं। अर्थात् परमाणुषट्क सम्बद्ध रेणु यानी द्वचणुकत्रयात्मक रजोरूपा पृथ्वी और उससे भी बड़ी सम्पूर्ण पृथ्वी 'महत्' समझी जाती है। **द्विविधाया इति**। नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की पृथिवी से सम्बद्ध 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चारों गुण' अनित्य और पाकज होते हैं। 'पाक' से उत्पन्न होने वाले को पाकज कहते हैं। और 'पाक' का अर्थ होता है—'तेज का विलक्षण संयोग'। इस विलक्षण तेजःसंयोग रूप पाक से पार्थिव घटादिरूप पृथिवी में पूर्व रहने वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का नाश होकर उनके स्थान पर नवीन रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे कच्चे घड़े का श्यामरूप नष्ट होकर उसकी जगह 'रक्त रूप' पैदा हो

जाता है। कच्चे आम का हरा रूप, सूर्य के तेज:संयोग से लाल, पीला हो जाता है, उसका खट्टा रस नष्ट होकर, मधुर रस उत्पन्न होता है, अव्यक्त गन्ध नष्ट होकर व्यक्त सुगन्ध पैदा हो जाता है। एवं च तेज:संयोग से उत्पन्न होने वाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चारों 'पाकज' कहलाते हैं। इस रीति से सम्पूर्ण विश्व के पार्थिव द्रव्यों पर पाक का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ये पाकज गुण केवल पृथिवी में ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं।

माधुरी

ग्रन्थकार ने द्रव्यादि पदार्थों का निरूपण वैशेषिकों के अनुसार किया है। वैशेषिक-दर्शन में (१) द्वित्व, (२) पाकजोत्पत्ति, (३) विभागज विभाग तीनों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। उनके उत्पत्ति-विनाश की प्रक्रिया को प्रशस्तपादभाष्य में सविस्तर बताया गया है। ये तीनों वैशेषिकदर्शन के प्रधान, महत्त्वपूर्ण विषय कहे जाते हैं। इन्हीं तीनों के आधार पर वैशेषिक दर्शन के पाण्डित्य की परीक्षा हुआ करती थी। इस सम्बन्ध में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥"

—(सर्व० द० पृ० २२०)

पीलुपाक और पिठरपाक—

ऊपर बता चुके हैं कि कच्चे घड़े का श्यामरूप अग्निसंयोग से नष्ट होकर रक्तरूप की उत्पत्ति होती है। उस रक्तरूप की उत्पत्ति की प्रक्रिया में न्यायदर्शन तथा वैशेषिकदर्शन का कुछ मतभेद है। अत: इस सम्बन्ध में दोनों के सिद्धान्तों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। इस पाकजोत्पत्ति को वैशेषिकदर्शन 'पीलुपाक' के नाम से कहता है। 'पीलु' शब्द का अर्थ 'परमाणु' है। एवं च 'पीलुपाक' का अर्थ है—'परमाणुओं का पाक'। वैशेषिकों के मत के अनुसार 'परमाणुओं' में पाक होता है। परमाणुओं में 'पाकज रूप, रस आदि गुण' उत्पन्न होते हैं। पिण्डरूप 'घट' आदि में नहीं। 'घड़े' के प्रत्येक 'परमाणु' के बीच अग्नि (तेज) का प्रवेश होता है। इसीलिये पकते समय 'घड़े' के परमाणुओं के घटारम्भक संयोग का नाश होकर उसके 'परमाणु' अलग-अलग हो जाते हैं। तब उन विभक्त हुए परमाणुओं में 'श्यामरूप' का विनाश होकर नवीन रक्तरूप उत्पन्न होता है। तदनन्तर वे रक्त हुए परमाणु प्राणियों के अदृष्टवशात् परस्पर मिलकर 'घड़े' का पुनर्निर्माण करते हैं—इसी को 'पीलुपाक' कहते हैं। आँवे में जब घड़ा रखा जाता है, उस समय घड़े के परमाणु परस्पर एक दूसरे से संयुक्त रहते हैं, किन्तु उनके बीच जब अग्नि का प्रवेश होता है तो उनमें कुछ अन्तर हो जाता है, उस कारण उनके बीच अग्नि को प्रवेश करने की जगह मिल जाती है। इसी

अन्तर या विभाग को 'घट का नाश' कहते हैं। रक्तरूप पैदा होने के बाद घड़े के ठण्डे होते समय जैसे-जैसे उनके बीच से 'अग्नि' निकलता जाता है, वैसे-वैसे वे परमाणु पूर्ववत् पुनः परस्पर मिल जाते है। इसी पुनःसंयोग के द्वारा 'घट का पुनर्निर्माण' हुआ कहा जाता है 'पीलुपाक' के अनुसार इनके मत में यही 'पाकजोत्पत्ति' की प्रक्रिया है।

नैयायिकों के मत के अनुसार जो पाकज प्रक्रिया है उसे 'पिठरपाक' कहा जाता है। इनके मत में पाकजगुणों की उत्पत्ति 'परमाणुओं' में न हो कर 'घड़े' के सम्पूर्ण 'पिण्ड' में होती है। 'पिठर' शब्द का अर्थ 'पिण्ड' है। उस 'पिण्ड' में पाक होने के कारण ये लोग उस पाकज प्रक्रिया को 'पिठरपाक' कहते हैं। इनका कहना है कि 'परमाणुओं' के बीच अग्नि का प्रवेश मानने पर भी 'पिण्ड' (घट द्रव्य) का नाश नहीं होता है। यदि 'पिण्ड' (घट) का नाश कहें तो उत्पत्ति-विनाश की प्रक्रिया में गौरव मानना होगा। इसलिये 'पिठर' (पिण्ड) में ही पाक होता है। यही दोनों में अन्तर है। घटादिक पिण्ड (अवयवी) में सूक्ष्म छिद्र होते ही हैं। उन सूक्ष्म छिद्रों के माध्यम से अग्नि के सूक्ष्म अवयव उस पिण्ड (घट) के भीतर प्रविष्ट होते हैं। अग्नि के अवयवों के संयोग से उस पिण्ड (घट) के भीतरी अवयवों में रक्तरूप आदि उत्पन्न होते हैं।

शंका—घट आदि को छिद्रयुक्त मानने में क्या प्रमाण है ?

समा०—यदि घटादि पिण्डों में छिद्र न हों तो तण्डुल आदि का पाक नहीं होना चाहिये। घट आदि (हण्डिया) में तण्डुल और जल डालकर एवं नीचे से अग्नि के प्रज्वलित कर देने पर उन तण्डुल आदि का पाक होता दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि उस अग्नि के सूक्ष्म अवयव उस घट के भीतर उसके सूक्ष्म छिद्रों द्वारा प्रविष्ट हो कर उन तण्डुलों का पाक तैयार करते हैं। अतः घटादि पिण्ड (अवयवी) को छिद्रयुक्त मानना ही होगा।

वैशेषिकों को इस पाकजप्रक्रिया में 'द्वचणुक' से लेकर 'घट' तक समस्त अवयवियों का नाश स्वीकार करना पड़ता है। एवं च अनन्त अवयवियों का नाश, तथा अनन्त अवयवियों की पुनरुत्पत्ति, तथा उन अनन्त अवयवियों के प्रागभाव आदि की कल्पना उन्हें करनी पड़ती है, जिससे वैशेषिकों के मत में कल्पनागौरव होता है। ऐसा कल्पनागौरवरूप दोष हम नैयायिकों के मत में नहीं है। अतः हमारे (नैयायिकों के) मत में लाघव है। किंच 'स एवाऽयं घटः' वही यह घट है—जो आँवे में पकने के लिये डाला था—ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी घट के नष्ट न होने में प्रमाण है। इस प्रत्यभिज्ञा के बल पर पूर्वोत्तर घट का अभेद भी सिद्ध होता है। एवं च अवयवी (पिण्ड) का नाश नहीं होता है।

तर्कभाषाकार श्रीकेशवमिश्र की दृष्टि—

वैशेषिकदर्शन का 'पीलुपाक' और न्यायदर्शन का 'पिठरपाक' दोनों में से तर्कभाषाकार का झुकाव 'पिठरपाक' की ओर ही दिखाई देता है। क्योंकि तर्कभाषाकार ने नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की पृथ्वी को 'पाकजगुणों' का आश्रय बताया है। उनका यह कथन न्यायदर्शन के ही अनुकूल हो सकता है, क्योंकि नैयायिकों ने 'परमाणु' और 'अवयवी' दोनों में पाक का होना बताया है।

वैशेषिकों ने अनित्य पृथिवी को 'पाकज गुणों' का आश्रय नहीं माना है, क्योंकि उनके (वैशेषिकों के) मत में 'अवयवी' का द्व्यणुकान्त नाश हो जाने पर उसके परमाणुओं में ही 'पाक' का होना माना जाता है। परमाणुओं में पाक हो जाने के पश्चात् जब नवीन अवयवी की उत्पत्ति होती है तब उसमें कारणगत गुणों से ही नवीन रूप आदि का जन्म होता है। इसलिये उनके मत में 'पाकजगुणों' का आश्रय 'नित्य पृथ्वी' ही हो सकती है। अनित्य पृथिवी, पाकजगुणों का आश्रय नहीं है।

अप्त्वसामान्ययुक्ता आपः। रसनेन्द्रियशरीरसरित्समुद्रहिमकरकादिरूपाः। गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः। नित्या अनित्याश्च। नित्यानां रूपादयो नित्या एव। अनित्यानां रूपादयोऽनित्या एव।

(२) जलनिरूपण—

अप्त्वेति। 'अप्त्व' जाति (सामान्य) से युक्त 'आप्' (जल) है। **रसनेति।** उसके अनेक रूप हैं। जैसे—रसनेन्द्रिय, वरुणलोक में प्रसिद्ध जलीयशरीर, और सरित्, समुद्र, हिम और ओला (करका) आदि। **गन्धेति।** जल के इन सभी भेदों में 'गन्ध' को छोड़कर 'पृथिवी' के शेष सभी गुण रहते हैं। जल में 'गन्ध' के बदले 'स्नेह' संज्ञक एक नवीन गुण रहता है। इस प्रकार 'जल' में 'रूप, रस, स्नेह, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार—ये चौदह गुण रहते हैं। **नित्येति।** वह जल, नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का है। 'नित्यजल' परमाणुरूप होता है, और 'अनित्यजल' कार्यरूप होता है। नित्य (परमाणुरूप) जल के 'रूपादि' गुण 'नित्य' ही होते हैं, और अनित्य (कार्यरूप) जल के 'रूपादि' गुण 'अनित्य' ही होते हैं।

माधुरी

ग्रन्थकार ने 'जल' का लक्षण 'अप्त्वसामान्ययुक्ता आपः' किया है। उक्त लक्षण में जो 'अप्' शब्द है, उसका अर्थ 'जल' है। 'आपः स्त्री भूम्नि' इस कोष के अनुसार 'अप्' शब्द का प्रयोग 'नित्य स्त्रीलिङ्ग' में और बहुवचन में ही हुआ करता है। इसीलिये 'आपः' यह स्त्रीलिंग में बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है। 'अप्' शब्द का

अर्थ 'जल' है। और 'अप्त्व' का अर्थ 'जलत्व' है। यह 'अप्त्व' (जलत्व) जाति (धर्म), 'अप्' (जल) से भिन्न पदार्थ में न रहने वाली किन्तु समस्त 'अप्' (जल) में रहने वाली जाति है। अतः जल का लक्षण 'अप्त्व' (जलत्व) जातिमत्त्व ही है। एवं च 'अप्त्व' जाति से (सामान्य से) युक्त को ही 'अप्' (जल) कहा जाता है। 'जल' के भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार होते हैं। अर्थात् जलीय शरीर, जलीय इन्द्रिय और जलीय विषय—ये ही तीन प्रकार हैं। जलीय शरीर 'अयोनिज' होता है। ये जलीय शरीर 'वरुणलोक' में हुआ करते हैं। जलीय इन्द्रिय 'रसना' (रसनेन्द्रिय) है, और जलीय विषय नदी, समुद्र, कूप, तडाग आदि हैं। 'जल' में रूप, रस, स्नेह तथा स्पर्श ये चार विशेष गुण रहते हैं और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार—ये दश सामान्य गुण रहते हैं। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' यह एक नियम है। तदनुसार 'अब्भक्षो वायुभक्षः' इस न्याय से 'अप एव भक्षयति' कहने से 'वायुमेव भक्षयति' यह अर्थ उपलब्ध होता है। उसी तरह यहाँ पर भी 'जल' में शुक्लवर्ण (रूप) ही होता है, 'जल' में मधुर रस ही होता है, 'जल' में शीत स्पर्श ही होता है, और 'जल' में ही स्नेह होता है। इसी बात को वैशेषिक सूत्रकार ने बताया है—**'रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः'**— (वै० सू० २।१।२)। एवञ्च अभास्वर शुक्लमात्ररूपवत्त्वम्, शीतमात्रस्पर्शवत्त्वम्, स्नेहवत्त्वम्, सांसिद्धिकद्रवत्ववत्त्वम्' इत्यादि अनेक लक्षण, जल के हो सकते हैं। ऊपर बता चुके हैं कि नित्य-अनित्य भेद से 'जल' दो प्रकार का होता है। अतः परमाणुरूप नित्य जल का 'स्नेह' गुण भी नित्य होता है। उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है। और उससे भिन्न संपूर्ण जल, अनित्य होता है, अतः उसमें रहने वाला 'स्नेह' गुण भी अनित्य होता है। अर्थात् उसकी उत्पत्ति और विनाश हुआ करता है। 'अनित्य' को 'जन्य' शब्द से भी कहा जाता है। अनित्य स्नेह की उत्पत्ति अनित्य जल (जन्य जल) में हुआ करती है। नित्यजल (परमाणुरूप जल) में अथवा उससे भिन्न (अतिरिक्त) पदार्थ में उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इस परिस्थिति को देखने से उसका 'कार्यकारणभाव' यह निर्धारित किया जाता है कि 'समवायसम्बन्ध' से रहने वाले 'जन्यस्नेह' के प्रति 'तादात्म्यसम्बन्ध' से जन्यजल कारण होता है। 'जन्यजल' में 'जन्यस्नेह' की जो कारणता है, वही 'जन्यस्नेह' की समवायिकारणता है। क्योंकि 'जन्यस्नेह' रूप गुण, 'समवाय' सम्बन्ध से उत्पन्न होकर 'जल' द्रव्य में रहता है। इतना समझने पर 'जलत्वजाति' को सिद्ध करने के लिये जो दो अनुमान किये जाते हैं, उनका बोध सरलता से हो सकेगा। उन दो अनुमानों में से पहिले 'अनुमान' से तो **'जन्यस्नेह'** की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में **'जन्यजलत्व'** जाति की सिद्धि होती है। और दूसरे अनुमान से **'जन्यजल'** की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में 'जलत्व' जाति की सिद्धि होती है।

जन्यजल में 'जलत्व' जाति की सिद्धि का अनुमान—

'जन्यजलनिष्ठा या स्नेहसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, पटनिष्ठकार्यतानिरूपिततन्तुनिष्ठसमवायिकारणतावत्'। जल में रहने वाली स्नेहगुण की जो समवायिकारणता है, वह कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, क्योंकि वह भी एक 'कारणता' है। जो भी 'कारणता' होती है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है। कोई भी 'कारणता' ऐसी नहीं होती, जो 'निरवच्छिन्न' हो। जैसे—'तन्तु' में रहने वाली 'पट' की समवायिकारणता, 'तन्तुत्व' धर्म से अवच्छिन्न होती है! उसी प्रकार 'जल' में रहने वाली 'स्नेह' गुण की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी। उस कारता का 'अवच्छेदक धर्म' जलत्व जाति ही हो सकती है। उसके सिवाय कोई दूसरा धर्म उस कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। क्योंकि जो धर्म जिस कारणता के न्यूनदेश में तथा अधिक देश में न रहकर 'कारणता' के ही समान देश में रहता है, वही धर्म उस कारणता का अवच्छेदक हुआ करता है। जिस कारणता का धर्म उसके न्यूनाधिक देश में रहता है, वह धर्म उस कारणता का अवच्छेदक नहीं होता है। एवं च 'अन्यूनानतिरिक्त-वृत्ति धर्म ही अवच्छेदक होता है'—इस नियम को दृष्टिगत करते हुए हम देखते हैं कि जन्य 'स्नेहगुण' की समवायिकारणता केवल जन्य 'जलमात्र' में ही रहती है। नित्य जल तथा उसके अतिरिक्त किसी दूसरे द्रव्य में नहीं रहती। इसलिये जन्य 'जलत्व' जाति में ही उस जन्यस्नेह की समवायिकारणता की अवच्छेदकता का होना संभव हो सकता है। एवं च जातिबाधकाभावसहकृत उक्त अनुमान से जन्यजलनिष्ठ-जन्यस्नेहसमवायिकारणता का अवच्छेदक धर्म जन्य 'जलत्व' जाति ही हो सकती है।

शंका—जन्यजल में 'जलत्व' जाति (धर्म) की तरह 'सत्ताजाति' तथा 'द्रव्यत्व जाति' भी तो रहती है। तब उन्हीं में से किसी को 'कारणतावच्छेदक' धर्म क्यों नहीं कहते ?

समा०—'सत्ताजाति' तथा 'द्रव्यत्वजाति' केवल जल में ही नहीं रहती, अपितु 'पृथिवी' आदि द्रव्यों में भी रहती है। इसलिये अधिक देशवृत्ति होने के कारण वह सत्ताजाति या द्रव्यत्वजाति दोनों में से कोई भी उस कारणता की अवच्छेदक नहीं हो सकती। एवं च जन्यस्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में 'जन्यजलत्व' जाति की सिद्धि पहिले अनुमान के द्वारा की गई है।

अब दूसरे अनुमान से जन्यजल की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में 'जलत्व' जाति की सिद्धि की जाती है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यस्नेहत्वावच्छिन्न-जन्यस्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपिता, तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्ना या जन्यजलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारण-तात्वात्, पटनिष्ठकार्यतानिरूपित-तन्तुगतकारणतावत्'। अर्थात् समवाय सम्बन्ध से

अर्थ 'जल' है । और 'अप्त्व' का अर्थ 'जलत्व' है । यह 'अप्त्व' (जलत्व) जाति (धर्म), 'अप्' (जल) से भिन्न पदार्थ में न रहने वाली किन्तु समस्त 'अप्' (जल) में रहने वाली जाति है । अतः जल का लक्षण 'अप्त्व' (जलत्व) जातिमत्त्व ही है । एवं च 'अप्त्व' जाति से (सामान्य से) युक्त को ही 'अप्' (जल) कहा जाता है । 'जल' के भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार होते हैं । अर्थात् जलीय शरीर, जलीय इन्द्रिय और जलीय विषय—ये ही तीन प्रकार हैं । जलीय शरीर 'अयोनिज' होता है । ये जलीय शरीर 'वरुणलोक' में हुआ करते हैं । जलीय इन्द्रिय 'रसना' (रसनेन्द्रिय) है, और जलीय विषय नदी, समुद्र, कूप, तडाग आदि हैं । 'जल' में रूप, रस, स्नेह तथा स्पर्श ये चार विशेष गुण रहते हैं और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार—ये दश सामान्य गुण रहते हैं । 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' यह एक नियम है । तदनुसार 'अब्भक्षो वायुभक्षः' इस न्याय से 'अप एव भक्षयति' कहने से 'वायुमेव भक्षयति' यह अर्थ उपलब्ध होता है । उसी तरह यहाँ पर भी 'जल' में शुक्लवर्ण (रूप) ही होता है, 'जल' में मधुर रस ही होता है, 'जल' में शीत स्पर्श ही होता है, और 'जल' में ही स्नेह होता है । इसी बात को वैशेषिक सूत्रकार ने बताया है—**'रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः'**—(वै० सू० २।१।२) । एवञ्च अभास्वर शुक्लमात्ररूपवत्त्वम्, शीतमात्रस्पर्शवत्त्वम्, स्नेहवत्त्वम्, सांसिद्धिकद्रवत्ववत्त्वम्' इत्यादि अनेक लक्षण, जल के हो सकते हैं । ऊपर बता चुके हैं कि नित्य-अनित्य भेद से 'जल' दो प्रकार का होता है । अतः परमाणुरूप नित्य जल का 'स्नेह' गुण भी नित्य होता है । उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है । और उससे भिन्न संपूर्ण जल, अनित्य होता है, अतः उसमें रहने वाला 'स्नेह' गुण भी अनित्य होता है । अर्थात् उसकी उत्पत्ति और विनाश हुआ करता है । 'अनित्य' को 'जन्य' शब्द से भी कहा जाता है । अनित्य स्नेह की उत्पत्ति अनित्य जल (जन्य जल) में हुआ करती है । नित्यजल (परमाणुरूप जल) में अथवा उससे भिन्न (अतिरिक्त) पदार्थ में उसकी उत्पत्ति नहीं होती है । इस परिस्थिति को देखने से उसका 'कार्यकारणभाव' यह निर्धारित किया जाता है कि 'समवायसम्बन्ध' से रहने वाले 'जन्यस्नेह' के प्रति 'तादात्म्यसम्बन्ध' से जन्यजल कारण होता है । 'जन्यजल' में 'जन्यस्नेह' की जो कारणता है, वही 'जन्यस्नेह' की समवायिकारणता है । क्योंकि 'जन्यस्नेह' रूप गुण, 'समवाय' सम्बन्ध से उत्पन्न होकर 'जल' द्रव्य में रहता है । इतना समझने पर 'जलत्वजाति' को सिद्ध करने के लिये जो दो अनुमान किये जाते हैं, उनका बोध सरलता से हो सकेगा । उन दो अनुमानों में से पहिले 'अनुमान' से तो **'जन्यस्नेह'** की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में **'जन्यजलत्व'** जाति की सिद्धि होती है । और दूसरे अनुमान से **'जन्यजल'** की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में 'जलत्व' जाति की सिद्धि होती है ।

जन्यजल में 'जलत्व' जाति की सिद्धि का अनुमान—

'जन्यजलनिष्ठा या स्नेहसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, पटनिष्ठकार्यतानिरूपिततन्तुनिष्ठसमवायिकारणतावत्'। जल में रहने वाली स्नेहगुण की जो समवायिकारणता है, वह कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, क्योंकि वह भी एक 'कारणता' है। जो भी 'कारणता' होती है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है। कोई भी 'कारणता' ऐसी नहीं होती, जो 'निरवच्छिन्न' हो। जैसे—'तन्तु' में रहने वाली 'पट' की समवायिकारणता, 'तन्तुत्व' धर्म से अवच्छिन्न होती है। उसी प्रकार 'जल' में रहने वाली 'स्नेह' गुण की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी। उस कारता का 'अवच्छेदक धर्म' जलत्व जाति ही हो सकती है। उसके सिवाय कोई दूसरा धर्म उस कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। क्योंकि जो धर्म जिस कारणता के न्यूनदेश में तथा अधिक देश में न रहकर 'कारणता' के ही समान देश में रहता है, वही धर्म उस कारणता का अवच्छेदक हुआ करता है। जिस कारणता का धर्म उसके न्यूनाधिक देश में रहता है, वह धर्म उस कारणता का अवच्छेदक नहीं होता है। एवं च 'अन्यूनानतिरिक्त-वृत्ति धर्म ही अवच्छेदक होता है'—इस नियम को दृष्टिगत करते हुए हम देखते हैं कि जन्य 'स्नेहगुण' की समवायिकारणता केवल जन्य 'जलमात्र' में ही रहती है। नित्य जल तथा उसके अतिरिक्त किसी दूसरे द्रव्य में नहीं रहती। इसलिये जन्य 'जलत्व' जाति में ही उस जन्यस्नेह की समवायिकारणता की अवच्छेदकता का होना संभव हो सकता है। एवं च जातिबाधकाभावसहकृत उक्त अनुमान से जन्यजलनिष्ठ-जन्यस्नेहसमवायिकारणता का अवच्छेदक धर्म जन्य 'जलत्व' जाति ही हो सकती है।

शंका—जन्यजल में 'जलत्व' जाति (धर्म) की तरह 'सत्ताजाति' तथा 'द्रव्यत्व जाति' भी तो रहती है। तब उन्हीं में से किसी को 'कारणतावच्छेदक' धर्म क्यों नहीं कहते ?

समा०—'सत्ताजाति' तथा 'द्रव्यत्वजाति' केवल जल में ही नहीं रहती, अपितु 'पृथिवी' आदि द्रव्यों में भी रहती है। इसलिये अधिक देशवृत्ति होने के कारण वह सत्ताजाति या द्रव्यत्वजाति दोनों में से कोई भी उस कारणता की अवच्छेदक नहीं हो सकती। एवं च जन्यस्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में 'जन्यजलत्व' जाति की सिद्धि पहिले अनुमान के द्वारा की गई है।

अब दूसरे अनुमान से जन्यजल की समवायिकारणता के अवच्छेदक (नियामक) रूप में 'जलत्व' जाति की सिद्धि की जाती है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यस्नेहत्वावच्छिन्न-जन्यस्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपिता, तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्ना या जन्यजलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारण-तात्वात्, पटनिष्ठकार्यतानिरूपित-तन्तुगतकारणतावत्'। अर्थात् समवाय सम्बन्ध से

जन्यजल के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से 'जल' कारण होता है। एवं च 'जल' में रहनेवाली 'जन्यजल' की जो कारणता है, वही 'जन्यजल' की 'समवायिकारणता' है। इस जन्य-जल में रहनेवाली 'समवायिकारणता' को 'पक्ष' बनाया गया है। वह 'जन्यजल' की 'समवायिकारणता' किसी धर्म से अवच्छिन्न, अवश्य ही रहेगी, क्योंकि वह भी एक 'कारणता' है। जो-जो 'कारणता' कहलाती है, वह सभी किसी धर्म से अवच्छिन्न ही हुआ करती है। जैसे—'तन्तु' में रहनेवाली 'पटकारणता' 'तन्तुत्व' धर्म से अवच्छिन्न होती है। इस द्वितीय अनुमान से 'जन्यजल' की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में जिस धर्म की सिद्धि होती है, वह 'धर्म' समस्त जल में रहता है। जल के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में नहीं रहता। उसी धर्म का नाम 'जलत्व' है। उसे जातिरूप मानने में कोई बाधक नहीं है। अतः जातिबाधकाभावसहकृत उक्त अनुमान से उसमें 'जातित्व' सिद्ध हो जाता है।

'नित्यजल' में 'जलत्व' जाति की सिद्धि—

शंका—ऊपर प्रदर्शित किये गये अनुमान से द्व्यणुकादिरूप 'जन्यजल' में यद्यपि 'जलत्व' जाति की सिद्धि कर सकते हैं, तथापि 'परमाणुरूप नित्यजल' में 'जलत्व' जाति की सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि 'परमाणुरूप नित्यजल' में रहने वाला 'स्नेहगुण' भी नित्य होता है, और 'द्व्यणुकादिरूप अनित्यजल' में रहने वाला 'स्नेहगुण' अनित्य होता है। 'जो 'धर्म' नित्य-अनित्य दोनों में रहता है उस 'धर्म' को कार्यता का अवच्छेदक नहीं माना जाता। जैसे—नित्य-अनित्य 'परिमाण' में रहने वाला 'परिमाणत्व' धर्म, द्रव्यनिरूपित कार्यता का 'अवच्छेदक' नहीं हुआ करता, उसी प्रकार 'स्नेहत्व' धर्म भी नित्याऽनित्य 'स्नेह' में रहने के कारण जलनिरूपित 'कार्यता' का अवच्छेदक नहीं हो सकेगा। किन्तु 'जन्यस्नेहत्व' धर्म ही उस कार्यता का अवच्छेदक होगा। उस 'जन्यस्नेह' की 'समवायिकारणता' केवल 'जन्यजल' में ही रहेगी। 'परमाणुरूपनित्य-जल' में तो रहेगी नहीं। इस कारण उक्त अनुमान से 'परमाणुरूप नित्यजल' में 'जलत्व' जाति की सिद्धि नहीं हो सकती है।

समा०—'द्व्यणुकादिरूप जन्यजल' में 'जन्यस्नेह' की समवायिकारणता रहती है—यह कहना सत्य है, इसमें किसी का भी विवाद नहीं है। इसीलिये प्रथमतः 'जन्य-स्नेह' की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में 'जन्यजलत्व' जाति की सिद्धि कर दी है। अर्थात् जन्यजलमात्रवृत्ति 'जलत्वजाति' की सिद्धि की गई है। उसके बाद जन्य-जलत्व जाति से अवच्छिन्न 'जन्यजल' में रहने वाली 'समवायिकारणता' का अवच्छेदक होगा जन्य-अजन्य समस्त जलवृत्ति 'शुद्धजलत्व'। वही 'शुद्धजलत्व' जातिरूप धर्म है, यह सिद्ध हुआ। जैसे यहाँ पर 'द्व्यणुकादि अनित्य जल' में 'त्र्यणुकादिजन्यजल' की 'समवायिकारणता' है, वैसे ही 'परमाणुरूप नित्यजल' में भी द्व्यणुकरूप जन्यजल की समवायिकरणता है। अतः 'परमाणुरूप नित्यजल' में तथा द्व्यणुकादिरूप अनित्यजल

में भी उस जन्यजल की समवायिकारणता का अवच्छेदक धर्म 'जलत्व' होगा। उस 'जलत्व' धर्म को ही 'जलत्व' जाति कहते हैं। इस रीति से 'जलत्व' जाति के सिद्ध हो जाने से 'जलत्वजातिमत्त्व' रूप जल का लक्षण जो किया गया है, वह उचित ही है।

जल में १४ गुण रहते हैं। चतुर्दश गुणों वाले जल के दो भेद होते हैं—(१) नित्य और (२) अनित्य। उनमें 'परमाणुरूप जल' **नित्य** कहा जाता है। और परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाला 'द्वयणुकादिरूप समस्त जल' **अनित्य** कहा जाता है, उसे 'अवयवी' कहते हैं। यह अवयवीरूप अनित्यजल शरीर, इन्द्रिय, विषय के भेद से तीन प्रकार का होता है। नित्य जल के 'रूप-रस-स्नेह-स्पर्श-एकत्व-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-गुरुत्व-द्रवत्व गुण नित्य होते हैं। और अन्य गुण अनित्य होते हैं। तथा अनित्य जल के सभी गुण अनित्य होते हैं। 'नित्यजल' में केवल 'दैशिक परत्व-अपरत्व' रहता है। 'कालिक परत्व-अपरत्व' नहीं रहता। अनित्य जल में दैशिक और कालिक दोनों प्रकार के परत्व-अपरत्व रहते हैं। ऊपर बताये गये अनित्य जल के तीन वर्गों में से 'जलीय शरीर' वरुणलोक में होता है। उस शरीर की रचना जल के परमाणुओं से होती है। उस शरीर में भी पृथिवी का उतना अंश मिश्रित रहता है, जितने से कर-चरणादि की रचना होकर उसे उपयोगक्षम बनाया जा सके। एवं जलीय इन्द्रिय तो 'रसना' ही है। इन्द्रिय और शरीर के अतिरिक्त (भिन्न) जितना भी जल है, वह सब, भोगसाधन होने के कारण 'विषय' कहलाता है। जलीयशरीर का लक्षण यदि करना हो तो इस प्रकार किया जा सकता है—'शीतस्पर्शवत् शरीरं जलीयशरीरम्'—जो शरीर समवायसम्बन्ध से शीतस्पर्शवाला हो, उसे जलीयशरीर समझना चाहिये। यह जलीय शरीर 'अयोनिज' होता है।

शंका—उत्पन्न विनष्ट जलीयशरीर में तथा उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न जलीयशरीर में शीतस्पर्श का अभाव रहने से अव्याप्ति है।

समा०—अव्याप्ति के निरसनार्थ जल के लक्षण की तरह यहाँ भी 'शीतस्पर्श-समानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत् शरीरं जलीयशरीरम्' इस प्रकार 'जलत्व'-जातिघटित लक्षण कर लेने से अव्याप्ति नहीं होगी। इस लक्षण में 'शरीरम्' पद, जलीय इन्द्रिय में और जलीय-विषय में लक्षण की अतिव्याप्ति के निरसनार्थ रखा गया है।

तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः। चक्षुःशरीरसवितृसुवर्णवह्निविद्युदादिप्रभेदम्। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽपरत्व-द्रवत्व-संस्कार-वत्। नित्यमनित्यञ्च पूर्ववत्। तच्चतुर्विधम्—

१. उद्भूतरूपस्पर्शम्। २. अनुद्भूतरूपस्पर्शम्। ३. अनुद्भूतरूपमुद्भूत-स्पर्शम्। ४. उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शञ्चेति।

(३) तेजोनिरूपण—

तेजस्त्वेति । 'तेजस्त्व' जाति जिस पदार्थ में रहती है, उसे **'तेजस्'** कहते हैं । यह 'तेजस्' का लक्षण है । यह तेजस् भी शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है । **चक्षुरिति** । जैसे —चक्षु (इन्द्रिय) है, और शरीर (सूर्यलोक में रहने वाले शरीर) सूर्य, सुवर्ण, अग्नि, विद्युत् आदि भेदों से युक्त होता है ।

रूपेति । यह तेजस् पदार्थ—(१) रूप, (२) स्पर्श, (३) संख्या, (४) परिमाण, (५) पृथक्त्व, (६) संयोग, (७) विभाग, (८) परत्व, (९) अपरत्व, (१०) द्रवत्व, (११) संस्कार—ग्यारह गुणों से युक्त रहता है ।

नित्यमिति । वह तेजस् पदार्थ भी पृथिवी आदि के समान पूर्ववत् ही नित्य-अनित्य के भेद से दो प्रकार का होता है । अर्थात् परमाणु रूप अग्नि नित्य, और कार्यरूप अग्नि अनित्य होता है ।

तच्चेति । वह अनित्य तेज चार प्रकार का होता है—(१) **'उद्भूतरूपस्पर्श'** अर्थात् जिसमें अग्नि का भास्वरशुक्लरूप और उष्णस्पर्श दोनों उद्भूत (प्रत्यक्ष के योग्य) रहते हैं । जैसे—सूर्य, अग्नि आदि । इन दोनों में अग्नि का भास्वर शुक्लरूप और उसका उष्णस्पर्श दोनों उद्भूत (प्रत्यक्ष अनुभव के योग्य) रहते हैं ।

(२) **'अनुद्भूतरूपस्पर्श'** अर्थात् जिसमें तेज का भास्वर शुक्लरूप और उष्णस्पर्श दोनों में से कोई भी उद्भूत (अनुभव के योग्य) न हो । जैसे—चक्षुरिन्द्रिय । यह चक्षुरिन्द्रिय, 'रूप' का ग्राहक रहने से 'तैजस इन्द्रिय' है । परन्तु उसमें न तो 'तेज' का भास्वर शुक्ल रूप ही अनुभूत होता है, और न उष्ण स्पर्श का ही अनुभव होता है । अतः उसके रूप और स्पर्श दोनों ही अनुद्भूत हैं । जो 'चक्षु', आँख से दिखाई देती है, वह तो केवल 'गोलक' मात्र है । उस गोलक से भिन्न उसमें रहनेवाली 'चक्षुरिन्द्रिय' तो शक्तिरूप है । अतः गोलक में 'रूप-स्पर्श' के उद्भूत रहने पर भी 'चक्षुरिन्द्रिय' अनुद्भूतरूप-स्पर्श वाली ही है ।

(३) **अनुद्भूतेति** । 'अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शम्' अर्थात् जिस तेज का भास्वर शुक्लरूप उद्भूत (अनुभव के योग्य) न हो ऐसा अनुद्भूतरूप जिसमें रहता है, किन्तु उस तेज का उष्ण स्पर्श उद्भूत (अनुभव के योग्य) हो ऐसा उद्भूतस्पर्श जिसमें रहता है, उस तेज को 'अनुद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श' वाला कहते हैं । जैसे—गरम जल में रहने वाले अग्नि के उष्णस्पर्श का तो अनुभव होता है, किन्तु उसका भास्वर शुक्लरूप उसमें नहीं दीखता ।

(४) **उद्भूतेति** । 'उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शञ्चेति ।' अर्थात् जिस तेज का भास्वरशुक्लरूप उद्भूत (अनुभव के योग्य) हो, ऐसा उद्भूतरूप जिसमें रहता है, किन्तु उस तेज का उष्णस्पर्श उद्भूत (अनुभव के योग्य) न हो, ऐसा अनुद्भूतस्पर्श

जिसमें रहता है, उस 'तेज' को 'उद्भूत रूप वाला और अनुद्भूत स्पर्श वाला' कहते हैं। जैसे—दीपक का प्रभा-(प्रकाश)मण्डल। उसका भास्वर शुक्लरूप तो दीखता है, परन्तु उष्ण स्पर्श का अनुभव अधिक दूर पर नहीं होता है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने 'तेज' का लक्षण 'तेजस्त्वसामान्यवत्' अर्थात् 'तेजस्त्वजातिमत्—तेजः' किया है। इसका अर्थ यह होता है कि जो 'द्रव्य' समवायसम्बन्ध से 'तेजस्त्व' जाति से युक्त रहता है, उसे 'तेज' कहते हैं। वह 'तेजस्त्वजाति' समवायसम्बन्ध से केवल 'तेज' में ही रहती है। 'तेज' के अतिरिक्त (भिन्न) पृथिवी आदि द्रव्यों में वह (तेजस्त्वजाति) नहीं रहती। अतः 'तेजस्त्वजातिमत्त्व' या 'तेजस्त्वसामान्यवत्' रूप तेजोलक्षण ठीक ही किया गया है। किन्तु इसे तभी ठीक कहा जा सकता है, जब 'तेजस्त्वजाति' किसी प्रमाण से सिद्ध हो। उस 'तेजस्त्वजाति' को सिद्ध किये बिना उक्त लक्षण को ठीक नहीं कह सकते।

तेजस्त्वजाति की सिद्धि—

अग्नि, सूर्य, चन्द्र, दीपक, विद्युत् आदि पदार्थों में 'इदं तेजः' 'इदं तेजः' इस प्रकार की एक-धर्मप्रकारक एकाकार प्रतीति सभी को होती है। इस एकाकार प्रतीति का विषय 'तेजस्त्व' जाति ही है। अतः तेजस्त्व' जाति के होने में 'इदं तेजः' यह 'प्रत्यक्ष' ही प्रमाण है।

शंका—अग्नि, सूर्य आदि तेजों में जो 'तेजस्त्वजाति' है, उसके अस्तित्व में तो 'प्रत्यक्ष' प्रमाण हो सकता है। किन्तु जो परमाणुरूप अतीन्द्रिय तेज है, तथा चक्षुरिन्द्रियरूप अतीन्द्रिय तेज है, उसका प्रत्यक्ष तो 'इदं तेजः' इत्याकारक प्रतीति से नहीं हो पाता है। अतः अतीन्द्रिय तेजों में प्रत्यक्ष प्रमाण से 'तेजस्त्वजाति' की सिद्धि नहीं हो सकती है।

समा०—समस्त तेजों में 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि अनुमानप्रमाण से हो सकती है। अनुमान का आकार यह होगा—'तेजोनिष्ठा या उष्णस्पर्शसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुनिष्ठकारणतावत्'। 'तेज' में रहने वाली जो उष्णस्पर्श की समवायिकारणता, वह 'कारणता' किसी 'धर्म' से अवच्छिन्न होने योग्य है, 'कारणता' होने से। जो भी 'कारणता' होती है, वह किसी 'धर्म' से अवच्छिन्न ही होती है। कोई भी 'कारणता' निरवछिन्न नहीं हुआ करती है। जैसे तन्तुओं में रहने वाली पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न रहती है। वैसे ही तेज में रहने वाली उष्णस्पर्श की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी। उस कारणता के अवच्छेदकरूप में 'तेजस्त्व' जाति ही सिद्ध होती है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी जाति की उस कारणता के अवच्छेदक रूप में प्रतीति नहीं होती

है। क्योंकि 'तेज' में रहनेवाली 'द्रव्यत्व' जाति तथा 'सत्ताजाति' केवल 'तेजोमात्रवृत्ति' नहीं है, अपितु अधिकदेश-व्यावृत्त, अत: तेज में रहने वाली उष्णस्पर्श की समवायिकारणता की वे जातियाँ अवच्छेदक नहीं हो सकतीं। क्योंकि 'अवच्छेदक' वही धर्म होता है, जो 'अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति' रहता है। यहाँ पर ऐसा धर्म 'तेजस्त्व' ही है। अत: वही यहाँ पर 'कारणतावच्छेदक' होता है। एवं च समस्त तेजों में 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि हो जाती है।

शंका—अनुमानप्रमाण के द्वारा 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि होने पर भी परमाणुरूप नित्यतेज में तेजस्त्वजाति की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि 'परमाणुरूप तेज' में 'उष्णस्पर्श' नित्य रहता है, और द्वयणुकादिकार्यरूप 'समस्त तेजों' में 'उष्णस्पर्श' अनित्य रहता है। ऐसे नित्य-अनित्य उष्णस्पर्श में रहने वाला 'उष्णस्पर्शत्व' धर्म तेजोनिरूपित (तेज में रहने वाली) कार्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। किन्तु 'जन्यउष्णस्पर्शत्व' धर्म ही तेजोनिरूपित कार्यता का 'अवच्छेदक' होगा। उस 'जन्य उष्णस्पर्श' की समवायिकारणता, 'द्वयणुकादिरूप जन्यतेज' में ही रहती है। 'परमाणुरूप नित्यतेज' में नहीं रहती। अत: उस परमाणुरूप नित्य तेज में 'तेजस्त्वजाति' की सिद्धि ऊपर प्रदर्शित किये गये अनुमान के द्वारा नहीं हो सकती।

समा०—पूर्वोक्त 'जलत्व' जाति की सिद्धि के समान यहाँ भी प्रथमत: 'जन्यउष्णस्पर्श' की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में द्वयणुकादिजन्यतेजोवृत्ति 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, उसके बाद उस 'जन्यतेजस्त्वजाति' से अवच्छिन्न 'जन्यतेज' की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में नित्य-अनित्यरूप समस्त तेजोविषयक 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि करनी चाहिये। जैसे—'द्वयणुकादिरूप अनित्यतेज' में त्र्यणुकादिरूप जन्यतेज की समवायिकारणता है, वैसे ही 'परमाणुरूप नित्यतेज' में भी उस द्वयणुकरूप जन्यतेज की समवायिकारणता है। उस कारण उस जन्यतेज की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि समस्त तेजोविषयक हो सकती है। यद्यपि सूर्यलोक में स्थित तैजसशरीरादि अन्त्यावयवी तेज से तथा चक्षुरिन्द्रियरूप तेज से किसी भी जन्यतेज की उत्पत्ति नहीं होती है, तथापि उस अन्त्यावयवीरूप तेज में तथा उस चक्षुरिन्द्रियरूप तेज में भी उस जन्यतेज की 'स्वरूपयोग्यत्व'रूप कारणता तो रहती ही है। इसलिये उस तेज में भी 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि हो सकती है। अथवा 'परमाणुरूप नित्यतेज' में ही जन्य-उष्णस्पर्श की स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता को मानकर नित्य-अनित्यरूप समस्त तेजों में जन्य उष्णस्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में तेजस्त्वजाति की सिद्धि की जा सकती है। एवं च अनुमानप्रमाण से तेजस्त्वजाति की सिद्धि होने से 'तेजस्त्वजातिमत्त्व'रूप तेज का लक्षण उचित ही है।

तत्र (१) उद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादितेजः, पिण्डीभूतं तेजो वह्न्यादिकम्।

सुवर्णन्तु उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शम्, नानुद्भूतरूपस्पर्शं। तदनुद्भूतरूपत्वेऽचाक्षुषं स्यात्, अनुद्भूतस्पर्शत्वे त्वचा न गृह्येत। अभिभवस्तु बलवत्सजातीयेन पार्थिवरूपेण स्पर्शेन च कृतः।

(२) अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो यथा चक्षुरिन्द्रियम्। (३) अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा तप्तवारिस्थं तेजः। (४) उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपप्रभामण्डलम्।

उक्त चारों भेदों के उदाहरण—

उद्भूतेति। (१) उद्भूतरूप-स्पर्शवाले तेज का उदाहरण—जैसे—सूर्य आदि का तेज तथा पुञ्जीभूत तेज अग्नि आदि का है।

सुवर्ण का तेजस्त्व—

सुवर्णन्त्विति। तेज के भेद (विषय) बताते हुए 'सवितृ, सुवर्ण, वह्नि, विद्युत् आदि भेद कहे गये हैं। उन भेदों में 'सुवर्ण' भी एक भेद है। नैयायिकों ने उसको (सुवर्ण को) 'उद्भूताभिभूतरूप-स्पर्श' का बताया है। अर्थात् उसके उष्णस्पर्श और भास्वरशुक्लरूप को विजातीय बलवत् पार्थिवरूप तथा स्पर्श ने अभिभूत कर दिया है (दबा दिया है)। अतः सुवर्ण में पीतरूप और अनुष्णाशीतस्पर्श की प्रतीति होती है। उसमें रूप और स्पर्श, अनुद्भूत नहीं है। **तदनुद्भूतेति।** क्योंकि 'रूप' यदि अनुद्भूत (प्रत्यक्ष के अयोग्य) रहेगा तो उसका 'चाक्षुषप्रत्यक्ष' न हो सकेगा। और 'स्पर्श' यदि अनुद्भूत (प्रत्यक्ष के अयोग्य) रहेगा तो उसका 'त्वाचप्रत्यक्ष' नहीं हो पायेगा। इसलिये अनुद्भूतरूप-स्पर्श कहकर तेज के जो चार भेद प्रदर्शित किये गये हैं, उन चारों से अतिरिक्त 'सुवर्ण' एक अलग ही 'उद्भूताभिभूतस्पर्श'वाला पाँचवाँ भेद, 'तेज' का कहना चाहिये। क्योंकि उसमें 'अग्नि' के भास्वरशुक्लरूप तथा उष्णस्पर्श की जगह 'पीतरूप' और 'अनुष्णाशीतस्पर्श' उपलब्ध होता है। अतः उस 'सुवर्ण तेज' का 'उद्भूताभिभूतस्पर्श'वाला यह पाँचवाँ भेद है। सुवर्णात्मक तेज के रूप और स्पर्श का अभिभव तो बलवत् सजातीय पार्थिवरूप तथा स्पर्श ने कर दिया है। इसलिये सुवर्ण में पीतरूप और अनुष्णाशीतस्पर्श उपलब्ध होता है।

दूसरे प्रकार का तेज चक्षुरिन्द्रिरूप है। इसका शुक्लभास्वररूप और उष्णस्पर्श अनुद्भूत है, किसी को उसका अनुभव नहीं होता है। तीसरे प्रकार का तेज तप्तजल में स्थित तेज है। इसका उष्णस्पर्श तो उद्भूत है किन्तु उसका शुक्ल भास्वर रूप अनुद्भूत है। चौथे प्रकार का तेज है प्रदीप की प्रभा। इसका शुक्लभास्वर रूप तो उद्भूत है, किन्तु उष्णस्पर्श अनुद्भूत है।

माधुरी

तैजस विषय का प्रसंग चल रहा है। उसका लक्षण 'उष्णस्पर्शवद्विषयः तैजसविषयः'—जो विषय समवायसम्बन्ध से उष्णस्पर्शवाला हो उसे तैजसविषय कहते हैं।

द्व्यणुकरूप तेज से लेकर अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि तेज तक समस्त कार्यरूप तेज समवायसंबंध से उष्णस्पर्श वाले होते हैं, इसलिये उन्हें तैजसविषय कहा करते हैं। उक्त लक्षण, यद्यपि उत्पन्नविनष्ट तैजसविषय में तथा उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न तैजसविषय में उष्णस्पर्शगुण का अभाव होने से अव्याप्त रहता है, तथापि तेजस्त्वजातिघटित लक्षण कर लेने से अव्याप्ति नहीं हो सकेगी। जातिघटित-लक्षण का आकार यह होगा—**'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमद्विषयः तैजसविषयः।**

यह तैजसविषय भी (१) उद्भूतरूपस्पर्श, (२) अनुद्भूतरूपस्पर्श, (३) उद्भूतस्पर्शाऽनुद्भूतरूप, (४) उद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्श के भेद से चार प्रकार का बताया है। अर्थात् तेजोद्रव्य चार प्रकार का होता है।

शंका—सुवर्ण, रजतादि रूप तेज का उपर्युक्त चार प्रकार के तेजों में से किस तेज में अन्तर्भाव है ?

समा०—सुवर्णरूप तेज का 'उद्भूतरूप-स्पर्श' वाले प्रथम तेज में अन्तर्भाव होता है।

शंका—तब सुवर्ण के शुक्लभास्वररूप तथा उष्णस्पर्श का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है?

समा०—सुवर्णरूप तेज में उद्भूतरूपस्पर्श के होते हुए भी उसके ग्रहण न हो सकने में 'बलवान् सजातीय पार्थिवरूप और स्पर्श कृत-अभिभव' ही कारण है। क्योंकि तैजस सुवर्ण में मिश्रित हुआ पीतिमगुरुत्व का आश्रयभूत जो पार्थिवभाग है, उसमें जो 'पीतरूप' है, तथा 'अनुष्णाशीतस्पर्श' है, वह पीतरूप तथा अनुष्णाशीतस्पर्श अपनी 'रूपत्व' जाति तथा 'स्पर्शत्व' जाति के द्वारा उस सुवर्णात्मक तेज के 'रूप-स्पर्श' के सजातीय है, और उस सुवर्णात्मक तेज के 'रूप-स्पर्श' से वह पार्थिवभाग का रूप-स्पर्श बलवान् भी है। उस पार्थिवभाग के रूप-स्पर्श की प्रबलता, 'प्रत्यक्षज्ञान'रूप कार्य के अनुरोध से जानी जाती है। अर्थात् दोनों प्रकार के रूप-स्पर्श में से जिस रूप-स्पर्श का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसी रूप-स्पर्श को प्रबल (बलवान्) कहा जाता है। एवं च इस प्रकार की प्रबलता पार्थिवभाग के रूप-स्पर्श में ही है। उस सुवर्णात्मक तेज के रूप-स्पर्श में नहीं है। ऐसे बलवान् और सजातीय-पार्थिवरूप-स्पर्शकृत अभिभव से उस तैजस सुवर्ण के रूप-स्पर्श का ग्रहण नहीं होता है अभिभव का अर्थ है—**'बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणम् अभिभवः'**—बलवान् तथा सजातीय वस्तु के ग्रहण करने पर अन्य वस्तु का जो अग्रहण, वही उस वस्तु का अभिभव कहा जाता है।

शंका—सूर्य या दीपक के प्रकाश में पार्थिवभागके पीतरूप का ग्रहण होने से तैजस सुवर्ण के भास्वर शुक्लरूप का ग्रहण भले ही मत हो किन्तु अन्धकार में उस पार्थिवभाग के पीतरूप का भी ग्रहण (प्रत्यक्षज्ञान) नहीं होता है। अतः 'बलवत् सजातीयग्रहणकृत अग्रहणरूप अभिभव' के न हो पाने से अन्धकार में भी तैजस सुवर्ण के भास्वरशुक्लरूप का ग्रहण होना चाहिए, किन्तु होता नहीं है।

समा०—अभिभव के लक्षण में किञ्चित् परिष्कार कर देने पर उक्त शंका का समाधान हो जाता है। अभिभव का परिष्कृत लक्षण यह होगा—'बलवत्सजातीय-सम्बन्धकृतमग्रहणम् अभिभवः'—बलवान् तथा सजातीय वस्तु के **सम्बन्ध** से अन्य वस्तु का जो अग्रहण होता है, वही उस वस्तु का अभिभव है। इस प्रकार के 'अभिभव' को मानने पर 'तैजस सुवर्ण' के रूप-स्पर्श में पार्थिवभाग के रूप-स्पर्श का 'स्व-समवायिसंयुक्तसमवाय' सम्बन्ध उस अन्धकार में भी विद्यमान है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से पार्थिव भाग के 'पीतरूप' को तथा 'अनुष्णाशीतस्पर्श' को ग्रहण कीजिये। उस पीतरूप और अनुष्णाशीतस्पर्श का समवायिकारण 'पार्थिवभाग' है। उस पार्थिवभाग का संयोगसम्बन्ध 'तैजस सुवर्ण' में है। उस 'तैजस सुवर्ण' में 'भास्वरशुक्लरूप' तथा 'उष्णस्पर्श' का समवायसम्बन्ध है। इस रीति से परम्परया तैजस सुवर्ण के रूप-स्पर्श में पार्थिवभाग के रूप-स्पर्श की स्थिति है। उस स्थिति का होना ही तैजस सुवर्ण के रूप-स्पर्श का अभिभव है। उस अभिभव के कारण तैजस सुवर्ण के भास्वर शुक्लरूप का तथा उष्णस्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। अपितु उस पार्थिव भाग के 'पीतरूप' तथा 'अनुष्णाशीतस्पर्श' का ही प्रत्यक्ष होता है। इसप्रकार के अभिभव से तैजस सुवर्ण के भास्वर शुक्लरूप तथा उष्णस्पर्श का ग्रहण न हो सकने पर भी वह 'सुवर्ण' उद्भूत-रूप स्पर्शवाला ही कहा जाता है। उसे 'अनुद्भूतरूप-स्पर्शवाला' नहीं कहते।

शंका—'सुवर्ण' को 'उद्भूतरूप-स्पर्श' वाला तैजस द्रव्य मानने पर अन्धकार में भी उस सुवर्ण का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये, क्योंकि 'महत्परिमाणवाले तथा उद्भूतरूप-स्पर्श वाले तैजस द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष में 'अन्य तेज' के संयोग की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे—'सूर्य, दीपक आदि तेज' के चाक्षुषप्रत्यक्ष में दूसरे किसी तेजः-संयोग की अपेक्षा नहीं हुआ करती। उसी तरह 'सुवर्णात्मक तेज' के चाक्षुष प्रत्यक्ष में भी अन्य किसी तेजःसंयोग की अपेक्षा नहीं होगी। अतः अन्धकार में भी 'सुवर्ण' का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये किन्तु अन्धकार में सुवर्ण का चाक्षुष प्रत्यक्ष किसी को भी होता नहीं है। इसलिये 'सुवर्ण' को तैजस द्रव्य कहना उचित नहीं है।

समा०—अरूपी द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। रूपी द्रव्य का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ करता है—यह नियम है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'द्रव्य' के चाक्षुष प्रत्यक्ष में उसके 'रूप' के चाक्षुष प्रत्यक्ष की 'आलोक-संयोग' आदि सामग्री भी कारण होती है। तैजस सुवर्ण के शुक्लरूप का पार्थिव पीतरूप के द्वारा अभिभव हो जाने से उस शुक्लरूप के चाक्षुष प्रत्यक्ष का होना तो संभव ही नहीं है। और पार्थिवपीतरूप के चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामग्री (आलोकसंयोगादि) के न होने से उसके भी चाक्षुषप्रत्यक्ष का होना संभव नहीं है। इसलिये सुवर्ण के किसी रूप का अन्धेरे में चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है।

शंका—जैसे काष्ठ आदि पृथिवी के रक्त-पीतादि रूपों का अभिभव होने पर भी

अग्नि का भास्वरशुक्लरूप स्वयं को तथा अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। वैसे ही पार्थिव भाग के पीतरूप के द्वारा अभिभूत होने पर भी तैजस सुवर्ण का भास्वर शुक्लरूप स्वयं अपने को तथा स्वसमीपवर्ती अन्य पदार्थों को अवश्य ही प्रकाशित करेगा।

समा०—काष्ठादि पृथिवी के रक्त-पीतादिरूपों ने 'अग्नि' के भास्वर शुक्लरूप का अभिभव नहीं किया है, अपितु उस 'भास्वररूप' के शुक्लत्व का अभिभव किया है। इसलिये अग्नि का वह भास्वररूप, अपने को तथा स्वसमीपवर्ती अन्य पदार्थों को प्रकाशित कर पाता है। किन्तु यहाँ पर सुवर्ण रूप के 'शुक्लत्व' तथा 'भास्वरत्व' दोनों का ही अभिभव, पार्थिव पीतरूप ने किया है। इसलिये तैजस सुवर्ण का भास्वर शुक्ल-रूप अपने को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर पाता है। अतः 'सुवर्ण' उद्भूत अभिभूत-स्पर्शवाला ही तेज है।

वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः। त्वगिन्द्रियप्राणवातादिप्रभेदः। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-वेगवान्। स च स्पर्शाद्यनुमेयः। तथाहि योऽयं वायौ वाति, अनुष्णाशीतस्पर्श उपलभ्यते स गुणत्वाद् गुणिनमन्तरे-णानुपपद्यमानो गुणिनमनुमापयति। गुणी च वायुरेव। पृथिव्याद्यनुपलब्धेः। वायुपृथिवीव्यतिरेकेण अनुष्णाशीतस्पर्शाभावात्। स च द्विविधो नित्याऽनित्य-भेदात्। नित्यः परमाणुरूपो वायुः, अनित्यः कार्यरूप एव।

(४) वायुनिरूपण—

वायुत्वेति। 'वायुत्व' जाति के अभिसम्बन्ध (समवायसम्बन्ध) से युक्त जो हो, उसे 'वायु' कहते हैं। उसके 'त्वगिन्द्रिय', प्राण तथा 'वात' आदि अनेक भेद हैं। उसमें (१) स्पर्श, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) वेग—ये नौ गुण रहते हैं। **स चेति**। वह स्पर्श आदि से अनुमेय है। **तथा हीति**। जैसे—वायु के बहने पर जो यह अनुष्ण-अशीत स्पर्श का अनुभव होता है, वह 'गुण' होने से 'गुणी' के विना अनुप-पद्यमान होकर 'गुणी' का अनुमान कराता है। वह गुणी 'वायु' ही है। क्योंकि 'पृथिवी' आदि की उपलब्धि नहीं होती है। और 'वायु' तथा 'पृथिवी' के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अनुष्ण-अशीतस्पर्श नहीं है। **स च द्विविधेति**। वह वायु नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। 'परमाणुरूप' वायु, नित्य है और 'कार्यरूप' वायु अनित्य है।

माधुरी

'वायुत्व' जाति के अभिसम्बन्ध का जो आश्रय रहे, उसे 'वायु' शब्द से समझा जाता है। 'वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः'—इस वायुलक्षण में से यदि 'अभि' शब्द को

हटा दें तो 'वायुत्वसम्बन्धवान् वायुः' इतना ही वायुलक्षण शेष रहेगा। तब उस शेष-लक्षण की 'काल' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'वायुत्व' के कालिक सम्बन्ध का आश्रय 'काल' भी है। एवंच 'काल' भी 'वायुत्वसम्बन्धवान्' रहने से उसमें अतिव्याप्ति हो जाती है। उसके निवारणार्थ 'अभि' शब्द को जोड़कर कहा गया कि वायुत्व के केवल 'सम्बन्ध' के आश्रय को 'वायु' नहीं कहते, अपितु 'वायुत्व' के 'अभिसम्बन्ध' के आश्रय को 'वायु' कहते हैं। 'अभिसंबंध' का अर्थ होगा—'अभिमत सम्बन्ध'। जिस सम्बन्ध को स्वीकार करने पर कोई 'दोष' न हो, उसे 'अभिमत सम्बन्ध' कहते हैं, यानी निर्दुष्ट (दोषरहित) सम्बन्ध। प्रकृत प्रसंग में ऐसा निर्दुष्ट सम्बन्ध 'समवाय' ही हो सकता है, क्योंकि 'वायुत्व' 'समवायसम्बन्ध' से ही 'वायु' में रहता है। अर्थात् वायुत्व का समवाय वायु में ही रहता है, अन्यत्र नहीं। एवंच 'वायुत्व के अभिमत सम्बन्ध 'समवाय' को 'वायु' का लक्षण बनाने में कोई दोष नहीं है

शंका—वायुलक्षणगत 'अभिसम्बन्ध' शब्द से 'समवाय' सम्बन्ध की प्रतीति होने पर भी 'द्रव्य, गुण, और कर्म' तीनों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि सभी समवेत पदार्थों में रहने वाला 'समवाय' तो एक ही है। तब 'वायुत्व' और 'सत्ता' जाति का 'समवाय' भी एक ही है। एवं 'वायुत्व के समवाय' को 'वायु' का लक्षण मानने पर 'समवायरूप' के जो भी आश्रय होंगे वे सभी आश्रय 'वायुत्व समवाय' के भी आश्रय कहलायेंगे। तब 'वायुत्वसमवाय' रूप वायुलक्षण, 'वायु' के अतिरिक्त अन्य 'द्रव्य, गुण, कर्म, में भी समन्वित हो जायगा, जिससे अतिव्याप्ति होगी।

समा०—उक्त अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'वायुत्व के समवाय' में एक विशेषण जोड़ देंगे, अर्थात् 'वायुत्वप्रतियोगिकत्व'—विशेषण से विशिष्ट 'समवाय' कह देने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी। एवं च 'वायुत्व समवायवान् वायुः' इतना ही वायुलक्षण न होकर अब परिष्कृत लक्षण इस प्रकार होगा—'वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्ट-समवाय-वान् वायुः' ऐसा कहने पर 'वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय' का आश्रय 'वायु' ही हो पायेगा, उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होगा, क्योंकि 'आश्रयता' वायु में ही है, अन्य में नहीं। अतः यह परिष्कृत लक्षण, दोषरहित है।

शंका—लक्षण को परिष्कृत करने पर भी 'वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय' और 'समवाय' को परस्पर भिन्न नहीं कह सकते, क्योंकि समवायत्वेन 'समवाय' एक ही है। तब 'विशिष्ट समवाय' भी 'समवाय' के सभी आश्रयों में रह सकता है। अतः परिष्कृत लक्षण होने पर भी 'अतिव्याप्ति' का वारण नहीं हो रहा है।

समा०—'विशिष्टसमवाय' और 'समवाय' की एकता होने पर भी 'विशिष्ट-समवायत्व' रूपेण उसका आश्रय 'वायु' ही होगा दूसरा कोई नहीं। क्योंकि 'धर्म और उसका सम्बन्ध' दोनों जहाँ रहते हैं, वहीं पर उस धर्म के उस सम्बन्ध की 'तद्धर्म-प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्सम्बन्धरूपेण' आश्रयता होती हैं"—यह नियम है। अतएव

जैसे 'घट-भूतलसंयोग' के 'घट' और 'भूतल' दोनों आश्रय हैं; तथापि 'तद्धर्मप्रति-योगिकत्वविशिष्टतत्सम्बन्ध' रूप से 'घट' का आश्रय 'भूतल' ही कहलाता है। स्वयं 'घट' आश्रय नहीं होता। क्योंकि 'भूतल' में 'घट' की आश्रयता, केवल 'घटसंयोग' के कारण नहीं हो रही है, अपितु 'घटप्रतियोगिकत्वविशिष्ट संयोग' के कारण मानी जा रही है। 'संयोग' तो केवल 'संयोगत्व' रूप से 'घट' में रहता है, 'घटप्रतियोगि-कत्वविशिष्टसंयोगत्व' रूप से नहीं। और घट-निरूपित-भूतलनिष्ठ-आश्रयता का नियामक, उक्त 'विशिष्टसंयोगत्वेन' ही उक्त 'संयोग' होता है। अतः उसी तरह 'वायु' से भिन्न पदार्थ, वायुत्व' प्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय' के आश्रय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि 'वायु' से भिन्न जो 'द्रव्य, गुण, और कर्म' पदार्थ हैं, वे 'केवल समवाय' के आश्रय हैं अर्थात् उनमें 'केवल समवाय' ही रहता है। 'वायुत्वविशिष्ट-समवाय' नहीं रहता। वह तो एकमात्र 'वायु' में ही रहता है। अतः विशिष्टसमवाय की अतिव्याप्ति, वायु से भिन्न पदार्थों में नहीं हो रही है। एवं च 'वायुत्व' का समवायसंबंध मात्र 'वायु' का लक्षण नहीं है, अपितु 'वायुत्वाभिसंबंध' वायु का लक्षण किया गया है। एवं च वायुत्व जाति और उसके 'लक्षणत्व' का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' है। अभिप्राय इतना ही है कि 'वायुत्वजाति' समवायसम्बन्ध से जिसमें रहे, उसे 'वायु' कहते हैं।

प्रश्न—किन्तु वायुत्वजातिमत्त्वरूप वायु का लक्षण तभी सिद्ध हो सकेगा, जब किसी प्रमाण से 'वायुत्वजाति' की सिद्धि की जाय। वायुत्वजाति की सिद्धि किये बिना 'वायु' का लक्षण कर पाना संभव नहीं है।

उत्तर—अनुमान प्रमाण से 'वायुत्वजाति' की सिद्धि हो सकती है। क्योंकि प्राचीन नैयायिक-वैशेषिकों के मत से रूप रहित वायु का प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नहीं है। अतः 'अयं वायुः, अयं वायुः' ऐसी एकाकार प्रत्यक्ष प्रतीति से तो 'वायुत्वजाति' को सिद्ध करना संभव नहीं है। अतः अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में ही वायुत्वजाति की सिद्धि हो सकती है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'वायुनिष्ठा या उक्तस्पर्शसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणत्वात्, पटनिष्ठकार्यतानिरूपित-तन्तुनिष्ठकारणतावत्'। अर्थात् 'वायु' में रहने वाली अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श की जो समवायिकारणता है, वह कारणता, किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य ही है, क्योंकि वह भी 'कारणता' ही है। 'जो-जो कारणता होती है, वह (कारणता) किसी धर्म से अवच्छिन्न ही हुआ करती हैं', निरवच्छिन्न कोई कारणता नहीं हुआ करती। जैसे—तन्तुओं में रहने वाली 'पटकार्य' की समवायिकारणता, 'तन्तुत्व' धर्म से अवच्छिन्न हुआ करती है, उसी तरह यहाँ पर वायुनिष्ठसमवायि-कारणता भी किसी धर्म से अवश्य ही अवच्छिन्न होगी। तब उस कारणता का अवच्छेदक धर्म 'वायुत्वजाति' ही हो सकती है। वायुत्वजाति से भिन्न अन्य कोई धर्म,

उस कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता है। क्योंकि जो धर्म जिस कारणता के अधिक देश में तथा न्यूनदेश में न रह कर उसके समान देश में रहा करता है, वही धर्म उस कारणता का अवच्छेदक कहलाता है। उस कारणता के अधिक या न्यूनदेश में रहने वाला 'धर्म' उसका (कारणता का) अवच्छेदक नहीं हुआ करता। ऐसी स्थिति में 'स्पर्श' की समवायिकारणता भी एकमात्र 'वायु' में ही रहती है और 'वायुत्वजाति' भी केवल उसी में (वायु में) ही रहती है। अतः 'कारणता' के समान-देशवृत्ति होने से 'वायुत्वजाति' ही उस कारणता की अवच्छेदक हो रही है। 'सत्ता-जाति' तथा 'द्रव्यत्वजाति', तो उस कारणता की अपेक्षा अधिकदेशवृत्ति होने से उसकी अवच्छेदक नहीं हो सकती। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से जन्य अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में जन्य-'वायुत्वजाति' की सिद्धि हो जाती है।

शंका—अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श की समवायिकारणता यद्यपि द्व्यणुकादिरूप जन्यवायु में तो है, तथापि परमाणुरूप नित्यवायु में वह नहीं है। क्योंकि परमाणुरूप नित्यवायु में 'स्पर्श' भी नित्य रहता है और 'नित्यपदार्थ' का कोई भी समवायिकारण नहीं होता है। इसलिये उक्त अनुमान से द्व्यणुकादि रूप अनित्य वायु में ही 'वायुत्व-जाति' की सिद्धि होगी, किन्तु परमाणुरूप नित्यवायु में 'वायुत्वजाति' की सिद्धि नहीं हो पायेगी।

समा०—पूर्वोक्त जलत्वजाति की सिद्धि के समान ही यहाँ पर भी उस अनुमान से प्रथमतः जन्यवायु में वायुत्वजाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, तदन्तर उस 'जन्य-वायुत्वावच्छिन्न जन्यवायु' की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में 'वायुत्व' जाति की सिद्धि करनी चाहिये। यह 'वायुत्वजाति' नित्य-अनित्य समस्त वायु में रहेगी। जैसे द्व्यणुकादिरूप अनित्यवायु में त्र्यणुकादिरूप जन्यवायु की समवायिकारणता रहती है, वैसे ही परमाणुरूप नित्यवायु में भी उस द्व्यणुकरूप जन्यवायु की समवायिकारणता रहती है। उसकारण उस जन्यवायु की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में वायुत्वजाति की सिद्धि हो जाती है, जो वायुत्वजाति समस्त नित्याऽनित्य वायु में रहती है।

शंका—त्वगिन्द्रियरूप वायु से तथा शरीरादिरूप अन्त्यावयवी वायु से अन्य किसी भी वायु की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये उस त्वगिन्द्रिय-शरीरादिरूप वायु में जन्यवायु की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में वायुत्वजाति की सिद्धि कैसे हो पायेगी ?

समा०—जैसे वन में स्थित 'दण्ड' में 'घट' रूप कार्य की 'स्वरूपयोग्यत्व' रूप कारणता रहती है, वैसे ही 'त्वगिन्द्रियरूप' तथा 'शरीरादिरूप' अन्त्यावयवी वायु में

भी उस जन्यवायु की 'स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता' रहती है। उस कारण त्वगिन्द्रिय-शरीरादिरूप वायु में भी 'वायुत्वजाति' की सिद्धि हो सकती है।

ग्रन्थकार ने 'वायु' के 'इन्द्रिय और विषय'—ये दो ही भेद बताये हैं। 'प्राणवायु, और 'वात' इन दोनों को विषय के रूप में बताया है। किन्तु विश्वनाथ भट्टाचार्य ने 'मुक्तावली' में 'वायवीयशरीर' को भी बताया है—'तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम्'—(न्या० सि० मु० का० ४३)। शरीर के भीतर संचार करने वाले वायु को 'प्राणवायु' कहते हैं। एक ही वायु के द्वारा भिन्न-भिन्न कार्य किये जाने से उसके 'प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान—ये पाँच नाम हो जाते हैं। जिसके स्पर्श का हमें अनुभव होता है, उस 'वायु' को 'वात' से बताया गया है। प्राचीन नैयायिकों का सिद्धान्त है कि 'वहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम्' (न्या० सि० मु० का० ५६)। तदनुसार वे 'वायु' का प्रत्यक्ष नहीं मानते, क्योंकि वायु 'रूप' रहित है।

किन्तु नवीन नैयायिक और मीमांसक 'वायु' का प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि 'वायु' त्वगिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षज्ञान का विषय है। इनके मत में बाह्यद्रव्य के प्रत्यक्ष की सामग्री इस प्रकार है—'बाह्यद्रव्य के प्रत्यक्ष होने में महत्त्वविशिष्ट 'उद्भूत-रूप' तथा 'उद्भूतस्पर्श' दोनों कारण नहीं हैं, तथा केवल 'महत्त्वविशिष्ट उद्भूतरूप' भी कारण नहीं है। किन्तु 'द्रव्य' के चाक्षुष प्रत्यक्ष में तो 'महत्त्वविशिष्ट उद्भूतरूप' कारण है, और उसी के (द्रव्य के) 'त्वाचप्रत्यक्ष' में 'महत्त्वविशिष्ट उद्भूतस्पर्श' कारण है। उसके 'त्वाचप्रत्यक्ष' में 'उद्भूतरूप' की अपेक्षा नहीं रहती। 'वायु' में 'रूप' गुण तो रहता नहीं है, इसलिये 'महत्त्वविशिष्टउद्भूतरूप का अभाव' रहने से 'वायु' का 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' भले ही न हुआ करे, किन्तु उसमें (वायु में) 'महत्त्व-विशिष्ट उद्भूतस्पर्श' विद्यमान है। उसकारण 'वायु' के 'त्वाचप्रत्यक्ष' में कोई बाधक नहीं है। अतः 'वायु' त्वगिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होता है।

जैसे वायु का त्वाचप्रत्यक्ष होता है, वैसे ही 'तप्तजल' में स्थित 'तेज' का भी त्वाच प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह 'प्रभा' का भी 'चाक्षुषप्रत्यक्ष' होता है। क्योंकि 'द्रव्य' के त्वाचप्रत्यक्ष का कारण जो महत्त्वविशिष्ट उद्भूतस्पर्श है, वह (उद्भूत-स्पर्श) जैसे 'वायु' में रहता है, वैसे ही वह (उद्भूतस्पर्श) 'तेज' में भी रहता है। और 'द्रव्य' के चाक्षुषप्रत्यक्ष का कारण जो महत्त्वविशिष्ट उद्भूतरूप है, वह (उद्भूतरूप) जैसे 'घट-पट' आदि द्रव्यों में रहता है, वैसे ही 'प्रभा' में भी रहता है। इसलिये तप्तजलस्थित 'तेज' के त्वाचप्रत्यक्ष में तथा 'प्रभा' के चाक्षुष प्रत्यक्ष में कोई बाधक नहीं है। प्रत्युत सार्वजनिक प्रतीति उसकी समर्थक है। 'मैं वायु का स्पर्श करता हूँ' 'मैं तप्तजलस्थित तेज का स्पर्श करता हूँ', 'मैं प्रभा को देखता हूँ'—यह अनुभव सभी को होता है।

यदि कोई इन प्रतीतियों (अनुभवों) को भ्रमरूप कहे तो उससे यह पूछा जा

सकता है कि उस 'भ्रम' में कोई प्रमाण है या वह युक्तिरहित, प्रमाणरहित है ? ऐसा पूछने पर 'प्रतीति' को भ्रम कहने वाला यदि उस भ्रम को युक्तिप्रमाणरहित ही स्वीकार करता है तो 'अहं घटं स्पृशामि', 'अहं पटं पश्यामि' इत्यादि प्रतीतियों को भी उसे भ्रमरूप ही समझना चाहिये, किन्तु इन प्रतीतियों की भ्रमरूपता तो उसे भी मान्य नहीं हो सकती। इसलिये इस प्रथम पक्ष को वह भी स्वीकार नहीं करेगा। यदि द्वितीय पक्ष को वह स्वीकार करने के लिये तैयार हो तो, वह संभव नहीं हो सकेगा, क्योंकि जिस प्रतीति के उत्तरक्षण में विरोधी प्रतीति होती है, उस प्रतीति को ही 'भ्रम' रूप कहा जाता है। जैसे—'शुक्ति' में 'इदं रजतम्' की प्रतीति होने पर 'नेदं रजतम्' ऐसी विरोधी प्रतीति हुआ करती है। इसलिये 'इदं रजतम्' इस प्रतीति को भ्रमरूप कहा जाता है। इस प्रकार की विरोधी प्रतीति, उन प्रतीतियों के अनन्तर नहीं होती है, इसकारण उन प्रतीतियों को भ्रमरूप नहीं कह सकते।

ग्रन्थकार ने प्राचीन मत के अनुरोध से 'स च स्पर्शानुमेयः' कहा है। क्योंकि वायु के चलने पर अनुष्णाशीतस्पर्श की प्रतीति त्वगिन्द्रिय सेहोती है। तब अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'सः स्पर्शः किञ्चिदाश्रितः गुणत्वात् रूपवत्'—वह स्पर्श, किसी द्रव्य के आश्रित है, क्योंकि वह 'गुण' है। जो 'गुण' होता है, वह किसी द्रव्य के आश्रित ही रहता है। 'गुण' कभी भी निराश्रय नहीं रहता। जैसे—'रूप'गुण होने से 'पृथिवी, जल तेज' इन द्रव्यों के आश्रित रहता है। वैसे ही 'स्पर्श' भी गुण होने से किसी द्रव्य के आश्रित अवश्य ही रहेगा। इस प्रकार के अनुमान से उस स्पर्श गुण में किञ्चिद् द्रव्याश्रितत्व सिद्ध होता है। तब 'किञ्चित्' पद से 'वायु' रूप द्रव्य का ही ग्रहण किया जाता है।

शंका—'स स्पर्शः किञ्चिद् आश्रितः' इस अनुमान-प्रयोगगतप्रतिज्ञा वाक्य में स्थित जो 'किञ्चित्' पद है, वह नियमतः किसी एक ही अर्थ का तो वाचक नहीं है, किन्तु प्रसङ्गानुसार वह (किञ्चित् पद) सभी पदार्थों का परामर्शक हो सकता है। अतः 'किञ्चित्' पद से केवल 'वायु' द्रव्य का ही ग्रहण करना संभव नहीं है। अपितु 'किञ्चित्' पद से 'पृथिवी' आदि द्रव्यों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

समा०—शंका करने वाले की शंका ठीक है। 'किञ्चित्' पद से यद्यपि प्रसंगानुसार सभी पदार्थों का ग्रहण हो सकता है, तथापि यहाँ पर 'किञ्चित्' पद से केवल 'वायु' का ही ग्रहण करना संभव हो रहा है। उससे भिन्न अन्य किसी पदार्थ का 'किञ्चित्' पद से ग्रहण करना संभव नहीं हो रहा है। क्योंकि 'रूप' आदि गुण समवायसम्बन्ध से केवल द्रव्यपदार्थ में ही रहते हैं। द्रव्य-पदार्थ से भिन्न 'गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव' इन छह पदार्थों में वे 'रूप' आदि गुण नहीं रहते। इसलिये 'स्पर्श' गुण के आश्रयरूप में उन 'गुणादि' छह पदार्थों का ग्रहण 'किञ्चित्' पद से करना कभी भी संभव नहीं है। अब रहा 'द्रव्य' पदार्थ, उसमें भी 'पृथिवी' द्रव्य का ग्रहण 'किञ्चित्'

पद से नहीं कर सकते, क्योंकि 'जो पार्थिवद्रव्य उद्भूत स्पर्शवाला' होता है, वह उद्भूत-रूपवाला भी अवश्य होता है। और जो पार्थिवद्रव्य महत्त्वविशिष्ट उद्भूतरूपवाला तथा उद्भूतस्पर्शवाला होता है, वह पार्थिवद्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय से अथवा त्वगिन्द्रिय से अवश्य ही प्रतीत होता है। ऐसा उद्भूतरूपवाला तथा उद्भूतस्पर्शवाला कोई पार्थिव-द्रव्य प्रतीत नहीं हो रहा है, जिसका 'अनुष्णाशीतस्पर्श' त्वगिन्द्रिय से ग्रहण होता हो। इसलिये 'किञ्चित्' पद से 'पृथ्वी' द्रव्य का ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसी-तरह 'किञ्चित्' पद से 'जल' द्रव्य का तथा 'तेजस्' द्रव्य का भी ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि 'जल' में तथा 'तेजस्' में अनुष्णाशीत स्पर्श नहीं रहता। 'जल' में तो शीत-स्पर्श रहता है और 'तेजस्' में उष्णस्पर्श रहता है। अतः अनुष्णाशीतस्पर्श के आश्रय-रूप में 'जल' या 'तेजस्' का भी 'किञ्चित्' पद से ग्रहण नहीं कर सकते। अब शेष रहे 'आकाश, काल, दिक् और आत्मा' इन चारों द्रव्यों का भी 'किञ्चित्' पद से ग्रहण करना संभव नहीं है, क्योंकि ये चारों द्रव्य 'विभु' हैं। 'जिस द्रव्य का समस्त मूर्तद्रव्यों के साथ संयोग होता है उस 'द्रव्य' को विभु कहते हैं। यदि 'किञ्चित्' पद से आकाशादि चारों विभु द्रव्यों का ग्रहण करें तो उस 'अनुष्णाशीतस्पर्श' का सर्वत्र ही त्वाच प्रत्यक्ष होना चाहिये। किन्तु वायु के प्रवेश से रहित 'गुफा' आदि स्थानों में स्थित आदमी को उस अनुष्णाशीत स्पर्श का त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिये अनुष्णाशीतस्पर्श के आश्रयरूप में आकाशादि विभु द्रव्यों का भी 'किञ्चित्' पद से ग्रहण नहीं कर सकते।

प्रश्न—ऐसा कोई नियम नहीं है कि 'जो गुण, विभु द्रव्य के आश्रित रहे, उस गुण की सर्वत्र ही प्रतीति हो'। क्योंकि 'शब्द' गुण, 'आकाशरूप विभुद्रव्य' के आश्रित रहता है, तथा 'ज्ञान, सुख, दुःख' आदि गुण, 'आत्मारूप विभुद्रव्य' के आश्रित रहते हैं, किन्तु उन शब्द, ज्ञानादि गुणों की सर्वत्र प्रतीति नहीं होती है। अतः सर्वत्र प्रतीति का आक्षेप उचित नहीं है।

उत्तर—'गुण' दो प्रकार के होते हैं—एक 'व्याप्यवृत्तिगुण और दूसरे 'अव्याप्य-वृत्तिगुण'। 'शब्दादि' गुण तो अव्याप्यवृत्तिगुण हैं, अर्थात् अपने आश्रयभूत द्रव्य के किञ्चिद्देश में (कुछ भाग में) रहते हैं, और किञ्चिद्देश में नहीं रहते हैं। इस कारण विभुद्रव्य के आश्रित रहने परभी शब्दादि गुणों की सर्वत्र प्रतीति नहीं होती है। किन्तु 'स्पर्शगुण' तो व्याप्यवृत्ति 'गुण' है, अर्थात् अपने आश्रयभूत द्रव्य के सम्पूर्ण देश में रहता है। 'स्पर्श' गुण को आकाशादि विभु द्रव्यों के आश्रित मानने पर उस स्पर्श की प्रतीति सर्वत्र होनी ही चाहिये, किन्तु होती नहीं है। अतः 'किञ्चित्' पद से आकाशादि विभु द्रव्यों का ग्रहण नहीं कर सकते। एवं 'किञ्चित्' पद से 'मनस्' द्रव्य का ग्रहण करना भी संभव नहीं है, क्योंकि 'मनस्' अतीन्द्रिय है, अर्थात् उसमें महत्त्वविशिष्ट उद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श का अभाव है, उस कारण वह 'मनस्', चाक्षुषज्ञान तथा

त्वगिन्द्रियजन्यज्ञान का विषय नहीं है। ऐसे अतीन्द्रिय 'मनस्' के आश्रित होने पर वह 'अनुष्णाशीतस्पर्श' भी अतीन्द्रिय होगा। किन्तु उस अनुष्णाशीतस्पर्श का तो सभी को त्वाचप्रत्यक्ष होता रहता है। अतः उस स्पर्श के आश्रयरूप में 'मनस्' को भी 'किञ्चित्' पद से नहीं ले सकते हैं। एवंच परिशेष से 'किञ्चित्' पद उस 'वायु' द्रव्य का ही परामर्शक होता है। अतः परिशेषानुमान से अनुष्णाशीतस्पर्शगुण का आश्रय 'वायु' द्रव्य ही सिद्ध होता है। इतना ही नहीं अन्य हेतुओं से भी 'वायु' अनुमेय ही सिद्ध होता है। जैसे पर्णादिकों के शब्द विशेष से, तथा तृण, तूल, मेघ, विमान आदि की आकाश में अधःपतनाभावरूप धृति से किंवा वृक्ष की शाखाओं के चलनरूप कर्म से भी 'वायु' का अनुमान होता है। अतः अनुमान-प्रमाणजन्य अनुमितिज्ञान का ही वह (वायु) विषय है—यह बात सिद्ध होती है।

वायु के 'नित्य, और अनित्य' रूप से दो भेद हैं। उनमें परमाणुरूप 'वायु' नित्य है, और द्वयणुक से लेकर महावायु तक समस्त 'वायु' अनित्य है। अनित्य वायु के 'शरीर, इन्द्रिय और विषय' रूप से तीन भेद किये जाते हैं। वायु के परमाणुओं से बना हुआ 'वायवीय शरीर' वायुलोक में रहता है।

अपाकाजानुष्णाशीतस्पर्शवन्मात्रवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्शरीरं वायवीयशरीरम्—यह वायुत्वजाति-घटित लक्षण, 'वायवीयशरीर' का किया जाता है। इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने से उत्पन्न-विनष्ट वायवीयशरीर में तथा उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न वायवीय शरीर में अव्याप्ति नहीं होती है। ऐसा वायवीय शरीर पिशाचादिकों का होता है। ये वायवीय शरीर 'अयोनिज' ही होते हैं।

'त्वक्' 'वायवीय इन्द्रिय' है। शरीर और त्वक् से भिन्न जितना भी अनित्य वायु है, वह साक्षात् अथवा परम्परया भोग का साधन होने से 'विषय' कहलाता है।

'त्वगिन्द्रिय' वायवीय (वायूपादानक) है, यह अनुमान से सिद्ध होता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार है—'त्वगिन्द्रियं वायवीयं, द्रव्यत्वे सति रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत्'—यह 'त्वगिन्द्रिय' वायवीय है, द्रव्यरूप होता हुआ रूपादि पाँच गुणों में से 'स्पर्शगुण' का ही अभिव्यञ्जक होने से, क्योंकि जो द्रव्य, 'रूपादि पाँच गुणों' में से केवल 'स्पर्शगुण' का ही अभिव्यञ्जक होता है, वह द्रव्य 'वायवीय' ही होता है। जैसे—शरीर के स्वेद (पसीना) जल के शीतस्पर्श का अभिव्यञ्जक व्यजन (पंखे) का पवन (वायु = हवा) है। वह व्यंजन का पवन, स्वेदजल के रूपादि गुणों का अभिव्यंजक नहीं होता है, वह तो केवल उस स्वेदजल के शीतस्पर्श का ही अभिव्यंजक होता है। यही कारण है कि 'व्यजन-पवन' में वायवीयत्व की प्रसिद्धि है। उसी तरह 'त्वगिन्द्रिय' भी पृथिव्यादि द्रव्यों के रूपादि पाँच गुणों में से केवल स्पर्शगुण का ही अभिव्यञ्जक होता है। उनके रूपादिगुणों का अभिव्यंजक नहीं होता है। इसलिये 'त्वगिन्द्रिय' को

वायवीय ही मानना चाहिये। इस 'वायवीय इन्द्रिय' का लक्षण इस प्रकार होगा— 'अपाकजानुष्णाशीतस्पर्शवन्मात्रवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमदिन्द्रियं वायवीयेन्द्रियम्'। इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने से उत्पन्न-विनष्ट त्वगिन्द्रिय में तथा उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न त्वगिन्द्रिय में अव्याप्ति नहीं होती है।

उसी प्रकार 'वायवीय विषय' का लक्षण यह होगा—'रूपरहितस्पर्शवद् विषयः वायवीयविषयः'। जो विषय, 'रूपगुण' से रहित होता हुआ स्पर्शगुणवाला होता है, उसे 'वायवीय विषय' कहते हैं। अथवा उत्पन्नविनष्ट वायवीयविषय में तथा उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न वायवीयविषय में स्पर्शगुणाभाव-प्रयुक्त अव्याप्ति के निरसनार्थ यहाँ भी जातिघटित लक्षण कर सकते हैं—'रूपरहितस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमद्विषयः वायवीयविषयः' अथवा 'अपाकजानुष्णाशीतस्पर्शवन्मात्रवृत्तिद्रव्यत्वमद्व्याप्यजातिमद्विषयः वायवीयविषयः'। इस प्रकार वायुत्वजातिघटित दोनों लक्षणों से उत्पन्न-विनष्ट तथा उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न वायवीय विषय में अव्याप्ति नहीं हो पाती है, क्योंकि उत्पन्नविनष्ट तथा उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न वायवीयविषय में 'वायुत्व' जाति विद्यमान है।

(कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः)

तत्र पृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। तस्य परमाणू समवायिकारणं, तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टादि निमित्तकारणम्। ततो द्व्यणुकानां त्रयाणां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकमुत्पद्यते। तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणं, शेषं पूर्ववत्। एवं त्र्यणुकैश्चतुर्भिश्चतुरणुकम्। चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं स्थूलतरैरपरं स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथिवी, महत्य आपो, महत् तेजो, महांश्च वायुरुत्पद्यते। कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते। 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात्।

कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति का क्रम—

तत्रेति। दो प्रकार के पृथिव्यादिभूतों में से पृथिवी आदि चार कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति का क्रम बताया जा रहा है—**द्वयोरिति**। ईश्वरसंकल्प और जीवों के अदृष्ट के कारण दो परमाणुओं में होने वाली क्रिया के द्वारा संयोग होने पर अर्थात् दो परमाणु परस्पर मिलकर एक 'द्व्यणुक' उत्पन्न होता है। दोनों परमाणु उस द्व्यणुक के 'समवायिकारण' हैं। उन दोनों परमाणुओं का 'संयोग' असमवायिकारण, और 'जीवों के अदृष्ट आदि' निमित्तकारण हैं। उसके अनन्तर तीन द्व्यणुकों में ईश्वरेच्छा और जीवों के अदृष्ट से होने वाली क्रिया से संयोग होने पर अर्थात् 'तीन द्व्यणुक' मिलकर 'एक त्र्यणुक' उत्पन्न होता है। 'तीनों द्व्यणुक' उस त्र्यणुक के

समवायिकारण हैं और 'शेष' पूर्ववत् ही समझना चाहिये। अर्थात् तीनों द्वयणुकों का संयोग 'त्र्यणुक' का असमवायिकारण तथा अदृष्ट आदि निमित्तकारण होते हैं। **एवमिति**। इसी प्रकार 'चार त्र्यणुकों' से चतुरणुक, चतुरणुकों से दूसरा स्थूलतर द्रव्य उन स्थूलतरों से अन्य स्थूलतम द्रव्य उत्पन्न होते हैं। **एवमिति**। इस प्रकार क्रम से महास्थूल पृथिवी, महत्स्थूल जल, महत्स्थूल-तेज, और महान् स्थूल-वायु उत्पन्न होता है।

कार्य के गुणों की उत्पत्ति-प्रक्रिया—

कार्यगतेति। 'कार्य' (पृथिवी आदि) में रहने वाले 'रूप' आदि गुण, अपने— (रूपादि के) आश्रय (द्वयणुकादि) के समवायिकारण (परमाणु आदि) में रहने वाले 'रूप' आदि गुणों से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि यह नियम है—'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते'—कारण के गुण ही कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं।

माधुरी

ग्रन्थकारने पृथिवी, जल, तेज, वायु—इन चारों को नित्य और अनित्य भेद से दो-दो प्रकार का बताया है। परमाणुरूप पृथिवी आदि चारों तत्त्वों को नित्य कहा है। इन्हीं चारों नित्य तत्त्वों को 'सूक्ष्मभूत' भी कहते हैं। ये परमाणुरूप 'सूक्ष्मभूत' ही 'पृथिव्यादि स्थूलभूतों' के 'कारण' कहे जाते हैं। ये पृथिव्यादि स्थूलभूत 'कार्य' कहे जाते हैं। ये कार्यरूप पृथिव्यादिस्थूलभूत 'अनित्य' होते हैं। अपने कारणों से इनकी उत्पत्ति होती है, अनन्तर उनका विनाश भी होता है।

शंका—ग्रन्थकार ने 'चतुर्णां कार्यद्रव्याणाम् उत्पत्ति-विनाशक्रमः कथ्यते' कहकर प्रथमतः 'उत्पत्ति' को ही क्यों बताया ? 'विनाश' को प्रथमतः क्यों नहीं बताया ?

समा०—'जातस्यैव नाशो भवति, अजातस्य नाशासम्भवात्'—जिसकी उत्पत्ति हुई हो उसी का नाश होता है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई हो उसका नाश कैसे संभव हो सकता है ? इस अभिप्राय से ही ग्रन्थकार ने प्रथमतः सृष्टि की उत्पत्ति कही है। उपर्युक्त वाक्य में 'चतुर्णां' न कह कर केवल 'कार्यद्रव्याणां' कहते तो तीन कार्यद्रव्यों का ही उपादान (ग्रहण) किया जाता, 'चार' का नहीं, क्योंकि 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' इस न्याय से बहुवचन का पर्यवसान 'त्रित्व' में ही होता है। अतः 'चतुर्णाम्' कहा गया है। तब 'पृथिवी, जल, तेज, वायु' चारों की उपलब्धि हो जाती है। इन चारों को 'कार्यद्रव्य' कहकर यह सूचित किया है कि इनका बाध (निवृत्ति-विनाश) अपरिहार्य है, उसका परिहार हो नहीं सकता, किन्तु नित्य पदार्थों की न उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है। उनकी उत्पत्ति का तथा विनाश का होना कभी भी संभव नहीं है।

कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति द्वयणुकादि प्रक्रम से होती है और क्रियाविभागादिन्याय से उनका विनाश होता है। इसी उत्पत्तिक्रम को तथा विनाशक्रम को ग्रन्थकार बता

रहे हैं। यद्यपि इस क्रम को पृथिवी आदि चारों के प्रकरणों में बताना चाहिये था, तथापि ग्रन्थगौरव के भय से और समानन्याय होने से दोनों (उत्पत्ति-विनाश) को एकत्र ही बता देना उचित समझा गया।

परमाणुवादियों के मतानुसार जगत् की उत्पत्ति—

द्व्यणुकादि कार्य रूप पृथिवी, जल, तेज, वायु को 'अवयवी' कहा जाता है। किन्तु कुछ नास्तिकवादी 'अवयवी' पदार्थ को नहीं मानते। अपितु 'परमाणुओं' के समूहरूप पुञ्ज को ही 'घट-पटादि' रूप मानते हैं। उन नास्तिकों के मत का निराकरण करने के लिये द्व्यणुकादिकार्यरूप पृथिवी, जल, तेज, वायु के उत्पत्ति-विनाशक्रम को बता रहे हैं अर्थात् पहले उत्पत्ति को बताकर पश्चात् विनाशक्रम को बतावेंगे।

'एकोऽहं बहु स्याम्' इस श्रुति के अनुसार परमेश्वर को सृष्टिरचना करने की जब इच्छा (संकल्प) होती है, तब उसकी इच्छामात्र से ही समस्त परमाणुओं में 'क्रिया' उत्पन्न होती है, उस क्रिया से सजातीय दो-दो परमाणुओं का परस्पर 'संयोग' होता है, अर्थात् पृथिवी के परमाणुओं का तो पृथिवी के परमाणुओं के साथ, और जल के परमाणुओं का जल के परमाणुओं के साथ और तेज के परमाणुओं का तेज के परमाणुओं के साथ, और वायु के परमाणुओं का वायु के परमाणुओं के साथ संयोग होता है, इसी को सजातीय परमाणुओं का संयोग कहते हैं। परमाणुओं की कोई कमी नहीं है, वे अनन्त हैं, असंख्य हैं।

इस प्रकार सजातीय परमाणुओं के क्रियाजन्य संयोग से 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति कार्य के रूप में होती है। अर्थात् पृथिवीत्व जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व के रूप में सजातीय दो परमाणुओं के संयोग से 'द्व्यणुक' रूप 'कार्य' उत्पन्न होता है।

उत्पन्न हुए ये द्व्यणुकात्मक कार्य भी असंख्य हैं। उनमें जो-जो 'भावकार्य' होते हैं, वे तो 'सर्वं भावकार्यं, कारणत्रयजन्यम्' इस नियम के अनुसार 'समवायिकारण, असमवायिकारण, और निमित्तकारण'—इन तीन कारणों से ही उत्पन्न होते हैं। 'भावकार्य' कहने का उद्देश्य यह है कि 'प्रध्वंस' जो 'अभावरूपकार्य' है, वह केवल 'निमित्तकारण' से ही उत्पन्न होता है। 'प्रध्वंसाभाव' रूप कार्य की उत्पत्ति में 'समवायिकारण', 'असमवायिकारण' की अपेक्षा नहीं रहती। 'द्व्यणुक' में भावकार्य-रूपता होने से 'द्व्यणुकात्मक कार्य' भी पूर्वोक्त तीन कारणों से ही उत्पन्न होगा। द्व्यणुकात्मक कार्य के 'समवायिकारण' तो 'दो परमाणु' होते हैं। और 'दो परमाणुओं का संयोग' (दो परमाणुओं का क्रियाजन्यपरस्पर सम्बन्ध) उस 'द्व्यणुकात्मक कार्य' का 'असमवायिकारण' होता है। और (१) ईश्वर, (२) उसकाज्ञान, (३) उसकी-इच्छा, (४) उसकी प्रयत्नरूपकृति (५) काल, (६) दिशा, (७) प्रागभाव, (८) जीवों के पुण्य-पापरूप अदृष्ट और (९) प्रतिबन्धकाभाव—ये नौ, उस द्व्यणुकात्मक कार्य के निमित्तकारण होते हैं। अर्थात् ये नौ तो समस्त कार्यमात्र के

निमित्तकारण होते हैं। अत एव इन नौ कारणों को कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण कहा जाता है। इस प्रकार उक्त तीन कारणों से द्वयणुकात्मक कार्य की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर उन द्वयणुकों में भी पुनः क्रिया होती है, उससे सजातीय तीन-तीन द्वयणुकों का परस्पर संयोग होता है, उससे 'त्र्यणुक' कार्य की उत्पत्ति होती है। ये 'त्र्यणुक' कार्य भी असंख्य हैं। इस 'त्र्यणुक कार्य' के 'तीन द्वयणुक' तो समवायिकारण हैं, और उन तीन द्वयणुकों का परस्पर संयोग, उस 'त्र्यणुक' कार्य का असमवायिकारण है, एवं पूर्वोक्त ईश्वरादि नौ, उस 'त्र्यणुक' कार्य के निमित्तकारण हैं। इस प्रकार 'त्र्यणुक' कार्यों की उत्पत्ति के अनन्तर उन त्र्यणुकों में भी पुनः 'क्रिया' उत्पन्न होती है। उस क्रिया से सजाजीय चार-चार त्र्यणुकों का परस्पर संयोग होता है, उस संयोग से 'चतुरणुक' कार्य की उत्पत्ति होती है। वे चतुरणुक भी असंख्य हैं। उस 'चतुरणुक कार्य' के वे 'चार त्र्यणुक' तो समवायिकारण होते हैं, और उन चार त्र्यणुकों का 'परस्पर संयोगसम्बन्ध' असमवायिकारण होता है, और पूर्वोक्त ईश्वरादि नौ कारण उसके 'निमित्त-कारण' कहलाते हैं। इसप्रकार से 'पाँच चतुरणुक' मिलकर दूसरे 'पञ्चाणुक'नामक स्थूलतर कार्य को पैदा करते हैं। तदनन्तर वे 'पञ्चाणुक'संज्ञक स्थूलतर कार्यरूप अवयव परस्पर मिलकर दूसरे 'स्थूलतम कार्य' को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारण की अपेक्षा करते हुए उत्तर-उत्तर स्थूलकार्य की उत्पत्ति का क्रम चलता रहता है। तब महान् पृथिवी, महान् जल, महान् तेज और महान् वायु उत्पन्न होते हैं।

जैसे 'परमाणुरूप समवायिकारण' की अपेक्षा 'द्वयणुक' कार्य में **द्विगुणित** स्थूलता रहती है, और 'द्वयणुक'रूप समवायिकारण की अपेक्षा 'त्र्यणुक'कार्य में **त्रिगुणित** स्थूलता रहती है और 'त्र्यणुकरूप समवायिकारण' की अपेक्षा 'चतुरणुक'कार्य में **चतुर्गुणित** स्थूलता होती है। इसी प्रकार महान् पृथिवी आदि कार्यों में उनके पूर्व-पूर्व समवायिकारणों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर कार्यों में स्थूलता की अधिकता हुआ करती है।

उत्तर-उत्तर कार्य, अपने पूर्व-पूर्व समवायिकारणों से भिन्न हुआ करते हैं। जैसे—परमाणुरूप समवायिकारण से 'द्वयणुक' कार्य, भिन्न होता है, द्वयणुकरूप समवायि-कारण से 'त्र्यणुक' कार्य भिन्न होता है, इसी प्रकार महान् पृथिवी आदि सभी कार्य अपने समवायिकारण से भिन्न ही उत्पन्न होते हैं।

पूर्व-पूर्व समवायिकारणरूप 'द्रव्य' के रूपादि गुण, उत्तर-उत्तर 'कार्यद्रव्य' रूपादि-गुणों को उत्पन्न करते हैं। जैसे—समवायिकारणभूत तन्तु के रूपादिगुण 'पट'कार्य के रूपादि गुणों को उत्पन्न करते हैं। उसी तरह समवायिकारणभूत परमाणु के रूपादि-गुण, 'द्वचणुक'कार्य के रूपादिगुणों को तथा समवायिकारणभूत 'द्वचणुक' के रूपादि-गुण, अपने 'त्र्यणुक'कार्य के रूपादि गुणों को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार महान् पृथिवी आदि कार्यद्रव्य पर्यन्त, पूर्व-पूर्व समवायिकारण के रूपादिगुण, उत्तर-उत्तर कार्यद्रव्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं।

प्रश्न—पाकजरूप-रसादि तथा द्वित्वादि तथा संयोग-विभागादि गुणों की उत्पत्ति तो 'कारण' के गुणों से नहीं होती है, उनकी उत्पत्ति अपने आश्रयद्रव्य में समवेत जो 'तेज:संयोग', उससे होती है। तो आप कैसे कह रहे हैं कि 'कारण' के गुण ही कार्यगत गुणों के उत्पादक होते हैं?

उत्तर—यहाँ पर कारण के गुणों से उत्पन्न होने वाले कार्यगत रूपादि गुणों का ही विचार किया जा रहा है। अन्य गुणों का नहीं।

शंका—'द्वचणुक'कार्य का आरम्भ जैसे 'दो परमाणुओं' से बताया है, वैसे 'तीन परमाणुओं' से 'द्वचणुक'कार्य का आरंभ क्यों नहीं कहते? तथा 'त्र्यणुक' कार्य का आरंभ 'तीन द्वचणुक' के बजाय 'दो द्वचणुक' से क्यों नहीं कहते?

समा०—'तीन परमाणुओं' में 'द्वचणुक'कार्य की आरंभकता मानने में 'गौरव' होगा। क्योंकि दो परमाणुओं से ही जब 'द्वचणुक'कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, तो तीन परमाणुओं में उसकी आरंभकता क्यों मानी जाय? और दूसरी बात यह है कि तीन परमाणुओं से द्वचणुककार्य की उत्पत्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये लाघवात् दो परमाणुओं में ही द्वचणुककार्य की आरंभकता मानी जाती है। तीन में नहीं।

शंका—तीन परमाणुओं में 'द्वचणुक'कार्य की आरंभकता मानने में गौरवदोष होता है, उसके निवारणार्थ दो परमाणुओं में ही द्वचणुककार्य की आरंभकता मानने में जैसे लाघव बताया गया है, उसी तरह तीन द्वचणुकों में 'त्र्यणुक'कार्य की आरंभकता मानने भी गौरव दोष होगा, उसके निवारणार्थ दो द्वचणुकों में ही 'त्र्यणुक'कार्य की आरंभकता माननी चाहिये, जिससे लाघव होगा।

समा०—दो द्वचणुकों से त्र्यणुककार्य की उत्पत्ति मानने में यद्यपि लाघव है, तथापि दो द्वचणुक से त्र्यणुककार्य की उत्पत्ति मानने पर उस त्र्यणुककार्य में 'महत्त्व-परिमाण' नहीं होगा, और उसके न होने से उस त्र्यणुक का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'कार्य' के 'महत्त्वपरिमाण' के प्रति उस कार्य के समवायिकारण का 'महत्त्वपरिमाण', अथवा उस समवायिकारण की 'बहुत्वसंख्या' असमवायिकारण होती है। जैसे—समवायिकारण 'तन्तु' का महत्त्वपरिमाण 'पट' कार्य के 'महत्त्व-परिमाण' का 'असमवायिकारण' होता है। और 'समवायिकारण' का 'परिमाण' जो 'कार्य' के परिमाण को उत्पन्न करता है, वह अपने 'समानजाति' वाले तथा अपने से 'उत्कृष्ट परिमाण' को ही उत्पन्न करता है। जैसे कारणरूप 'तन्तु' का 'महत्त्व-'परिमाण' अपने समानजाति वाले तथा अपने से उत्कृष्ट 'पट के महत्त्वपरिमाण' को उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में 'द्वचणुकरूप कारण' में 'महत्त्वपरिमाण' तो है नहीं, किन्तु 'अणुत्वपरिमाण' ही है। अत एव उन 'परमाणुओं' के समान उस 'द्वचणुक' का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। ऐसी स्थिति में 'द्वचणुक'कारण के 'अणुपरिमाण' से 'त्र्यणुक'-

कार्य के परिमाण की उत्पत्ति मानने पर उस 'त्र्यणुक' का परिमाण उस 'द्वयणुक' के अणुत्वपरिमाण की अपेक्षा 'अणुतर' ही होगा। किन्तु सिद्धान्त में 'त्र्यणुक' को महत्त्वपरिमाण वाला माना गया है। अत एव 'त्र्यणुक' का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। इससे स्पष्ट है कि 'त्र्यणुक' का महत्त्वपरिमाण उस 'द्वयणुक'रूप समवायिकारण के परिमाण से उत्पन्न (जन्य) नहीं है। किन्तु उस 'द्वयणुक'रूप कारण में स्थित जो 'बहुत्वसंख्या' है, उस 'बहुत्वसंख्या' से ही 'त्र्यणुक' का 'महत्त्वपरिमाण' उत्पन्न होता है। वह 'बहुत्वसंख्या' कभी भी 'दो' में नहीं रहती। किन्तु 'तीन' से लेकर उत्तरोत्तर संख्या में ही वह 'बहुत्वसंख्या' रहती है। इसलिये 'त्र्यणुक'कार्य में महत्त्व-परिमाण की उत्पत्ति के लिये 'कपिञ्जलन्याय' से तीन 'द्वयणुकों' से ही उस 'त्र्यणुक' कार्य की उत्पत्ति मानी गई है।

इत्थमुत्पन्नस्य रूपादिमतः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयवेषु कपालादिषु नोदना-दभिघाताद्वा क्रिया जायते। तया विभागस्तेनावयव्यारम्भकस्यासमवायिकारणी-भूतस्य संयोगस्य नाशः क्रियते, ततः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयविनो नाशः। एतेनावयव्यारम्भकासमवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो दर्शितः।

क्वचित् समवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो यथा पूर्वोक्तस्यैव पृथिव्यादेः संहारे सञ्जिहीर्षोर्महेश्वरस्य सञ्जिहीर्षा जायते। ततो द्वयणुकारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया, तया विभागः, ततस्तयोः संयोगनाशे सति द्वयणुकेषु नष्टेषु स्वाश्रय-नाशात् त्र्यणुकादिनाशः। एवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशः। यथा वा तन्तूनां नाशे पटनाशः। तद्गतानां रूपादीनां स्वाश्रयनाशेनैव नाशः। अन्यत्र तु सत्येवाश्रये विरोधिगुणप्रादुर्भावेण विनाशः। यथा पाकेन घटादौ रूपादिनाश इति।

कार्यद्रव्यों का विनाशक्रम—

इत्थमिति। इस प्रकार उत्पन्न हुए रूपादि गुणों से युक्त कार्यद्रव्य 'घट' आदि के अवयव, जो 'कपाल' आदि हैं, उनमें 'नोदन' (चेतनप्रदत्त प्रेरणा) अथवा 'अभिघात' (जड़ पदार्थ के साथ संघर्ष) से 'क्रिया' उत्पन्न होती है। उस 'क्रिया' से संयुक्त 'कपालादि' अवयवों में 'विभाग' उत्पन्न होता है। उस विभाग से अवयवी (घट-पट आदि) के आरम्भक (उत्पादक) जो असमवायिकारण 'कपाल' हैं, उनके 'संयोग' का नाश होता है। उस 'कपालसंयोग' के नाश से कार्यद्रव्यरूप 'घटादि' अवयवी का नाश होता है। **एतेनेति।** इस प्रदर्शित उदाहरण से **'अवयवी'** (घट-पटादि) के उत्पादक (आरम्भक) **'असमवायिकारण'** (कपालादि अवयवों का संयोग) के नाश होने से **'कार्यद्रव्य'** का नाश दिखाया गया है।

क्वचिदिति। कभी-कभी **'समवायिकारण'** का नाश होने से भी **'कार्यद्रव्य'** का नाश होता है। जैसे—पूर्वोक्त (उपर्युक्त) 'पृथिवी' आदि के संहार का काल निकट

आने पर महेश्वर को सृष्टि के संहार करने की इच्छा (सञ्जिहीर्षा) हो उठती है। उस सञ्जिहीर्षा से 'द्वचणुकों' के उत्पादक (आरम्भक) परमाणुओं में 'क्रिया' होती है। उस क्रिया से परमाणुओं के संयोग का 'विभाग' होता है, उस विभाग से उन दोनों परमाणुओं के संयोग का नाश होता है। इस प्रकार अपने (त्र्यणुक के) आश्रय का (द्वचणुक का) नाश हो जाने से 'त्र्यणुक' आदि का नाश हो जाता है। इस प्रकार त्र्यणुक के नाश से चतुरणुक आदि का नाश होते-होते क्रमशः स्थूल 'पृथिवी' आदि समस्त महाभूतों का नाश होता है। इस रीति से सृष्टि का संहार किया जाता है। अथवा जैसे सृष्टि की दशा में कभी-कभी आश्रय के नाश से कार्यद्रव्य का नाश हो जाता है। अथवा जैसे आग में तन्तुओं के जल जाने पर (तन्तुओं का नाश होने पर) उनसे बने 'पट' का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार दोनों उदाहरण कार्य-द्रव्य के 'समवायिकारण' के नाश से **कार्य** के नाश के हैं।

नाश के दो प्रकारों को प्रदर्शित कर अब 'कार्य' के 'गुणों' के नाश की प्रक्रिया को बताते हैं—

तद्गतानामिति। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में उन 'त्र्यणुकादि' और जिनका पाक नहीं हो सकता ऐसे 'पट' आदि पार्थिव द्रव्य, जल और तेज (कार्यद्रव्यों) में स्थित 'रूप' आदि गुणों का अपने 'आश्रय' (समवायिकारण) के नाश से ही नाश हो जाता है। **अन्यत्र त्विति**। और कहीं उक्त द्रव्यों से भिन्न द्रव्यों में ('घट' आदि में) आश्रय (घट) के विद्यमान रहते हुए ही विरोधी गुण (पाकज रक्तरूपादि) के प्रकट होने से ही पूर्ववर्ती (श्याम) 'रूप' आदि गुणों का नाश होता है। जैसे 'घटादि' पार्थिव द्रव्यों में 'रूपादि' गुण का नाश **पाक** से होता है।

माधुरी

शंका—पहले बताया गया है कि 'भावकार्य' हमेशा अपने समवायिकारण, असम-वायिकारण और निमित्तकारण से ही उत्पन्न होते हैं'—किन्तु ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जैसे—'द्वचणुकादि' भाव कार्य हैं उसी तरह सृष्टि के आरंभकाल में परमाणुओं की संयोगजनक 'क्रिया' भी भावकार्य है। परन्तु उस क्रिया का कोई 'असमवायिकारण' प्रतीत नहीं हो रहा है। 'परमाणु' तो उस क्रिया के 'समवायिकारण' कहलाते हैं, और 'ईश्वर आदि' तो, उस क्रिया के 'निमित्तकारण' कहलाते हैं। अतः 'परमाणुओं' की 'क्रिया' जैसे 'असमवायिकारण' के बिना ही उत्पन्न होती है वैसे ही 'द्वचणुकादि' भावकार्य भी 'असमवायिकारण' के बिना ही उत्पन्न क्यों नहीं हो सकते ?

समा०—उस 'क्रिया' के असमवायिकारण के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं—कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का जो 'नोदन' नाम का संयोग (मृदुसंयोग, जिसके होने से किसी प्रकार का शब्द नहीं

होता) होता है, वही **नोदनाख्य संयोग**, उन 'परमाणुओं की क्रिया' का असमवायिकारण है। और कभी-कभी अभिघात' नाम का संयोग (कठोर संयोग, जिसके होने से शब्द होता है) होता है। इस **अभिघाताख्य संयोग** से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। अतः वही (अभिघाताख्य संयोग) उन परमाणुओं की क्रिया का असमवायिकारण कहलाता है।

शंका—'नोदनाख्य संयोग' या 'अभिघाताख्य संयोग' में परमाणुक्रिया की असमवायिकारणता मानने में अनवस्था दोष होगा। क्योंकि जिस द्वितीय परमाणु के नोदनाख्य या अभिघाताख्य संयोग से प्रथम परमाणु में क्रिया उत्पन्न हुई है, वही नोदनाख्य या अभिघाताख्य संयोग, द्वितीय परमाणु की क्रिया से ही उत्पन्न होगा, और वह द्वितीय परमाणु की क्रिया भी उस द्वितीय परमाणु के साथ तृतीय परमाणु के नोदनाख्य संयोग या अभिघाताख्यसंयोग से जन्य होगी और वह तृतीय परमाणु का नोदनाख्य संयोग या अभिघाताख्य संयोग भी तृतीय परमाणु की क्रिया से उत्पन्न होगा। और वह तृतीय परमाणु की क्रिया भी उस तृतीय परमाणु के साथ चतुर्थ परमाणु के नोदनाख्य संयोग अथवा अभिघाताख्य संयोग से उत्पन्न होगी। इस प्रकार 'क्रियाओं' की तथा नोदनाख्य या अभिघाताख्य संयोगों की परम्परा मानने में अनवस्था दोष प्राप्त होगा। इसलिये एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का जो **नोदनाख्य** या **अभिघाताख्य** संयोग है, उसमें उस परमाणु की क्रिया 'असमवायिकारणता' का होना संभव नहीं है।

समा०—जैसे—बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। और अंकुर से पुनः बीज उत्पन्न होता है, उस बीज से पुनः अंकुर उत्पन्न होता है, उस अंकुर से पुनः बीज उत्पन्न होता है। इस बीजाङ्कुर की अनवस्था को जैसे दोषरूप नहीं माना जाता, वैसे ही 'शरीर' से पुण्य-पाप (धर्माधर्म) रूप अदृष्ट उत्पन्न होते हैं और उस अदृष्ट से पुनः शरीर उत्पन्न होता है, उस शरीर से पुनः अदृष्ट उत्पन्न होते हैं। इस 'शरीरादृष्ट' की अनवस्था को शास्त्रकारों ने दोषावह नहीं माना है। उसी प्रकार 'परमाणुक्रिया और नोदनाभिघाताख्य संयोग' की अनवस्था को भी शास्त्रकारों ने दोषावह नहीं माना है। 'मूल अर्थ' को नष्ट करने वाली अनवस्था को ही शास्त्रकारों ने दोषावह माना है। इसलिये एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु के नोदनाख्यसंयोग या अभिघाताख्य संयोग में उस परमाणु क्रिया की असमवायिकारणता हो सकती है।

कुछ लोगों का कहना है कि परमाणुओं में जो 'वेगाख्य-संस्कार' नामका गुण है, वही (वह वेगसंस्कार ही) उस परमाणु की क्रिया का 'असमवायिकारण' है। जैसे—बाण आदि का 'वेग' द्वितीय-तृतीयादि क्रियाओं का असमवायिकारण कहा जाता है, वैसे ही उस परमाणु का 'वेग' उसकी (परमाणु की) क्रिया का असमवायिकारण हो सकता है।

शंका—उन परमाणुओं के 'वेग' को यदि उन 'परमाणुओं की क्रिया' का 'असमवायिकारण' कहें तो 'कल्पनागौरव' का दोष होगा। क्योंकि जैसे—प्रथम नोदनाख्य या अभिघाताख्य संयोग से बाण में 'क्रिया' उत्पन्न होती है, उस क्रिया से बाण में 'वेग' उत्पन्न होता है, उस 'वेग' से उस बाण में पुनः दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है, उस दूसरी 'क्रिया' से उस बाण में पुनः दूसरा 'वेग' उत्पन्न होता है। इस रीति से जब तक उस बाण का भूमि पर पतन नहीं होता है, तब तक उस बाण में क्रियाओं की परंपरा तथा वेगों की परंपरा के विषय में कल्पना करनी ही पड़ती है। उसी तरह परमाणुओं की क्रिया का असमवायिकारण जो 'वेग' है, वह भी उन परमाणुओं की दूसरी क्रिया से उत्पन्न (जन्य) होगा और वह दूसरी क्रिया भी किसी दूसरे 'वेग' से जन्य होगी, और दूसरा 'वेग' पुनः तीसरी क्रिया से जन्य होगा। इस प्रकार प्रलय के आदिम क्षण से लेकर सृष्टिकाल के आदिमक्षण तक परमाणुओं में 'क्रियाओं' की परम्परा तथा 'वेगों' की परम्परा के विषय में कल्पना करनी होगी। तब कल्पनागौरवदोष प्राप्त होगा। अतः 'वेग' में परमाणु के क्रिया की 'असमवायिकारणता' को मानना संभव नहीं है।

समा०—'कल्पनागौरव' को सर्वत्र दोषावह नहीं माना जाता, किन्तु जो 'कल्पनागौरव' निष्फल होता है, उसे ही दोषावह समझा जाता है। परन्तु फलजनक कल्पनागौरव को दोषावह नहीं कहा जाता। ऐसी स्थिति में 'द्व्यणुकादि' कार्य की 'उत्पत्तिरूप' फल यहाँ भी विद्यमान् है, अतः फलजनक होने से यहाँ भी कल्पनागौरव को दोषावह नहीं मान सकते। एवंच तत्तत् परमाणुनिष्ठ 'वेग' में तत्तत् परमाणु के 'क्रिया' की असमवायिकारणता का रहना संभव हो सकता है। अतः 'असमवायिकारण' के नाश से 'कार्यद्रव्य' का नाश होना उचित ही है।

पहले बता चुके हैं कि 'पृथिवी, जल, तेज, वायु' इन चार कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और विनाश अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार हुआ करते हैं। अर्थात् यह कार्यद्रव्य की सृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् कुछ सयमतक स्थित रहती है, तदनन्तर परमेश्वर को उत्पन्न किये कार्यद्रव्य का संहार (नाश) करने की इच्छा होती है। उस इच्छा से पृथिव्यादि चारों कार्यद्रव्यों के परमाणुओं में पुनः क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से दो-दो परमाणुओं का परस्पर विभाग होता है, उस विभाग के होने से दो-दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है, उस संयोग के नाश होने से उन 'द्व्यणुक'कार्यों का नाश होता है। उन 'द्व्यणुक'रूप समवायिकारणों का नाश होने से 'त्र्यणुक'रूप कार्यों का नाश होता है। त्र्यणुकरूप समवायिकारण का नाश होने से 'चतुरणुक' कार्य का नाश होता है। इस रीति से पूर्व-पूर्व समवायिकारण के नाश से उत्तर-उत्तर कार्य के नाशक्रम के अनुसार महान् पृथिवी, महान् जल, महान् वायु का नाश होता है। द्व्यणुकादि कार्यद्रव्यों का नाश होने पर उनके 'रूपादि'

गुण भी अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। इस द्वचणुकादि समस्त कार्यद्रव्यों के नाश को शास्त्रकारों ने 'अवान्तर प्रलय' की संज्ञा दी है। तात्पर्य यह है कि 'प्रलय' दो प्रकार का होता है—(१) अवान्तरप्रलय और (२) महाप्रलय। अवान्तरप्रलय का लक्षण भी इसी प्रकार किया गया है—'सर्वकार्यद्रव्यध्वंसः अवान्तरप्रलयः'। वैसे ही 'महप्रलयः' का लक्षण इस प्रकार है—'सर्वभावकार्यध्वंसः महाप्रलयः'—'अनित्यद्रव्य, अनित्यगुण और कर्म' इन तीनों को 'भावकार्य' कहते हैं। इन सब भावकार्यों के ध्वंस को 'महाप्रलय' संज्ञा दी गई है।

प्रश्न—उपर्युक्त सृष्टि और प्रलय में कोई प्रमाण भी है, या दार्शनिकों की केवल अपनी कल्पना है ?

उत्तर—सृष्टि-प्रलय को बताने वाली भगवती श्रुति ही स्वयं प्रमाण है। भगवती श्रुति कह रही है—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—परमेश्वर ने पूर्वसृष्टि के समान ही इस सृष्टि की रचना की है। यहाँ 'यथापूर्वम्' कह कर यह सूचित किया है कि पूर्व और उत्तर सृष्टि के मध्य 'प्रलय' था।

परन्तु मीमांसक, 'सृष्टि' को प्रवाहरूप से नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे 'बीजाङ्कुर' का प्रवाह अनादि है, उसमें 'बीज' प्रथम है, या अङ्कुर प्रथम है—यह निर्णय करना असंभव है। अतएव उस अनादि प्रवाह का कभी अन्त ही नहीं है। वह तो अनादि तथा अनन्त है। एवं इस जगत् की सृष्टि में तथा उसके प्रलय में भी कोई प्रमाण नहीं है। यदि जगत् (सृष्टि) का प्रलय माना जाय तो 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इस श्रुतिवचन के द्वारा 'चातुर्मास्य'-याजी को अविनश्वर स्वर्गादि सुख की जो प्राप्ति बताई है वह अनुपपन्न होगी। अतः स्पष्ट है कि 'जगत्' का प्रलय नहीं होता है।

पहले बता चुके हैं कि द्वचणुकादि कार्यद्रव्यों का नाश, ईश्वर की सञ्जिहीर्षा के कारण होता है। उसके विषय में प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि किसी कार्यद्रव्य का नाश तो असमवायिकारण के नाश होने से होता है और किसी कार्यद्रव्य का नाश 'समवायिकारण' के नाश होने से होता है। यदि सर्वत्र 'समवायिकारण' के नाश से ही 'कार्यद्रव्य' का नाश माना जायगा तो 'द्वचणुक' रूप कार्यद्रव्य का नाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि द्वचणुकरूप कार्यद्रव्य के समवायिकारण जो 'दो परमाणु' हैं, वे नित्य हैं। उन नित्य परमाणुओं का कभी भी नाश नहीं होता है। इसलिये उन द्वचणुकरूप कार्यद्रव्य का नाश तो 'परमाणुसंयोग' रूप असमवायिकारण के नाश होने से ही होता है। 'दो परमाणुओं का संयोग' ही 'द्वचणुक' का असमवायिकारण होता है। उन दो परमाणुओं के 'संयोग' का नाश, उन परमाणुओं की क्रियाजन्य विभाग से हो जाता है। तब त्र्यणुकरूप कार्य से लेकर महान् कार्य तक जितने भी कार्यद्रव्य हैं, उन सबका तो द्वचणुकादिरूप समवायिकारण के नाश से ही नाश हो जाता

है। क्योंकि वे द्वयणुकादिसमवायिकारण अनित्य ही हैं। इस प्रकार कार्यद्रव्यरूप जगत् की स्थिति में भी किसी कार्यद्रव्य का तो 'असमवायिकारण' के नाश होने से नाश होता है, और किसी कार्यद्रव्य का 'समवायिकारण' के नाश होने से नाश होता है। जैसे—जहाँपर 'तन्तु'-रूपसमवायिकारण के विद्यमान रहते हुए भी उन तन्तुओं के संयोगमात्र का नाश होता है, वहाँ पर तो 'तन्तुसंयोगरूप-असमवायिकारण के नाश से ही उस 'पटरूप कार्यद्रव्य' का नाश होता है और जहाँ अग्नि आदि से उस तन्तुरूप समवायिकारण का ही नाश हो गया है वहाँ उस तन्तुरूप समवायिकारण के नाश से ही पटरूप कार्यद्रव्य का नाश माना जाता है।

जो लोग सर्वत्र 'असमवायिकारण' के नाश को ही कार्यद्रव्य के नाश का हेतु (कारण) कहते हैं, उनके मत में गौरवदोष उपस्थित होता है, क्योंकि अग्नि आदि के द्वारा 'तन्तु' आदि समवायिकारण के नष्ट होने पर 'पटादिकार्यद्रव्य' को दो क्षणतक निराश्रय रहना होगा, क्योंकि प्रथम (एक) क्षण में तो 'तन्तुओं' का नाश होगा, और द्वितीयक्षण में 'तन्तुसंयोग' का नाश होगा, और तृतीयक्षण में 'पटरूपकार्यद्रव्य' का नाश होगा। यही महान् गौरवदोष उनके मत में होता है। किन्तु प्राचीन नैयायिकों के मत में वह गौरवदोष नहीं होने पाता। क्योंकि प्राचीन नैयायिकों के मत में तो 'तन्तुरूपसमवायिकारण' के नाशक्षण के उत्तरक्षण में ही 'पटरूप कार्यद्रव्य' का तथा 'तन्तुसंयोगरूप-असमवायिकारण' का नाश हो जाता है।

किन्तु नवीन नैयायिकों के मतानुसार उक्त प्राचीन मत ठीक नहीं है, क्योंकि किसी द्वयणुकरूप कार्यद्रव्य का तो 'असमवायिकारण' के नाश से नाश और किसी त्र्यणुकादिरूप कार्यद्रव्य का 'समवायिकारण' के नाश से नाश मानने में महान् गौरव-दोष होता है। अर्थात् 'कार्यद्रव्य' नाश की कारणता के 'असमवायिकारणनाशत्व और समवायिकारणनाशत्व' ये दो धर्म 'अवच्छेदक' मानने पड़ते हैं। इसलिये प्राचीन नैयायिकों का मत ठीक नहीं है। अतः नवीन नैयायिकों के मतानुसार सर्वत्र 'असम-वायिकारण' के नाश को ही समस्त कार्यद्रव्य के नाश का कारण मानने पर उस कार्य-द्रव्य के नाश की कारणता का 'असमवायिकारणनाशत्व' रूप एक ही धर्म 'अवच्छेदक' होता है। इस प्रकार लाघव होने से सर्वत्र 'असमवायिकारण' के नाश से ही 'कार्य-द्रव्य' का नाश मानना चाहिये। और जहाँ कहीं 'अवयवरूप समवायिकारण' का नाश होता है, वहाँ पर भी 'अवयवसंयोगरूप असमवायिकारण' का नाश तो अवश्य होता ही है। अतः आश्रयभूत द्रव्य के नाश से उस द्रव्य के आश्रित रहने वाले 'रूपादिगुणों' का भी नाश अवश्य होता ही है। उसकारण प्रलयकाल में जैसे द्वयणुक-रूप कार्यद्रव्य का 'परमाणुसंयोगरूप असमवायिकारण' के नाश होने से नाश होता है, वैसे ही त्र्यणुकादि कार्यद्रव्यों का भी उन 'द्वयणुकादि अवयवों के संयोगरूप असमवायि-कारण' के नाश से ही नाश हो जाता है। इसप्रकार उस कार्यद्रव्यरूप जगत् की

स्थितिकाल में भी सर्वत्र 'अवयवसंयोग' रूप असमवायिकारण के नाश से ही घट-पटादि कार्यद्रव्यों का नाश हो जाता है।

द्रव्यगत 'रूपादिगुण' नित्य और अनित्य दो प्रकार के होते हैं। जो 'गुण' कार्य-रूप (अनित्य) होते हैं, उनके नाश के भी दो प्रकार हैं। उनमें एक प्रकार तो यह है कि 'समवायिकारण' के नाश से उन रूपादिगुणों का नाश होता है। और दूसरा प्रकार यह है कि 'विरोधी गुणों' के प्रकट होने से उन रूपादि गुणों का नाश होता है। प्रथम प्रकार में जैसे—रूपादि गुणों का आश्रय (समवायीकारण) द्रव्य होता है, उसके नष्ट होने पर उसके उत्तरक्षण में उसके रूपादिगुण भी नष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ जैसे—'पट' के नष्ट हो जाने पर उसके 'रूपादिगुणों' का भी नाश हो जाता है। दूसरे प्रकार में रूपादिगुणों का आश्रय यथास्थित रहने पर भी उसके रूपादिगुणों के विरोधी गुणों के उत्पन्न हो जाने से 'पूर्व के रूपादिगुणों का नाश हो जाता है। जैसे—'घट' में उसके 'श्यामरूपगुण' का विरोधी 'रक्तरूपगुण' उत्पन्न होने पर उसके पूर्व का 'श्यामरूपगुण' नष्ट हो जाता है। यहाँ पर रूपादिगुणों का आश्रय 'घट' विद्यमान है, तथापि उसमें विरोधी गुण के उत्पन्न हो जाने से उसका पूर्व का श्यामरूप नष्ट हो जाता है। यह कथन 'पिठरपाक' के सिद्धान्तानुसार ठीक ही है। किन्तु वैशेषिकों के पीलुपाकवाद के अनुसार यहाँ समवायिकारण' के नाश से ही 'घटगतरूप' गुण का नाश माना जा सकता है। 'गुणनाश' के सम्बन्ध में नैयायिकों के मत का खण्डन शारीरकभाष्य २।२।१२ में आचार्यपाद ने किया है।

(परमाणुसिद्धिः)

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ?

उच्यते, यदिदं जालसूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते तत् स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वात् घटवत्। तच्च द्रव्यं कार्यमेव महद्-द्रव्यारम्भकस्य कार्यत्वनियमात्। तदेव द्वयणुकाख्यं द्रव्यं सिद्धम्। तदपि स्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत्। यस्तु द्वयणुकारम्भकः स एव परमाणुः। स चानारब्ध एव।

प्रश्न किम्पुनरिति। अच्छा तो पुनः 'परमाणु' के अस्तित्व (सत्ता) में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—उच्यत इति। बताते हैं—किवाड़ आदि के किसी छिद्र में से आती हुई सूर्यकिरणों में चारों ओर सूक्ष्मतम जो धूलिकण दृष्टिगोचर होते हैं, वे त्रसरेणु (त्र्यणुक) कहलाते हैं। उनका छठा (षष्ठ) भाग 'परमाणु' होता है। तदिति। वह 'त्र्यणुक', स्वल्प परिमाणवाले द्रव्य (तीन द्वयणुकों) से उत्पन्न हुआ है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह 'कार्यद्रव्य' है (हेतु), 'घट' के समान (उदाहरण)।—इस अनुमान से त्र्यणुक (त्रसरेणु) रूप जो धूलिकण (रजःकण) हैं, उनके अवयव-

रूप 'द्वचणुक' की सिद्धि होती है। **तच्चेति**। यह छोटे परिमाणवाला (स्वल्पपरिमाण वाला) 'द्रव्य' भी 'कार्य' ही है। क्योंकि एक नियम है कि 'महद् द्रव्य का आरम्भक (समवायिकारण) कार्य 'द्रव्य' ही होता है।' **तदेवमिति**। इस रीति से 'द्वचणुक' संज्ञक 'कार्यद्रव्य' की सिद्धि की गई है। **तदपीति**। 'वह 'द्वचणुक' भी स्वल्पपरिमाण वाले (अपने से छोटे परिमाण वाले), समवायिकारण (द्रव्य) से बना हुआ (उत्पन्न हुआ) है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह 'कार्यद्रव्य' है (हेतु) जैसे—'घट' (उदाहरण)।' **यस्त्विति**। जो उस 'द्वचणुक' का आरम्भक (कारण) है, वही 'परमाणु' है। वह (परमाणु) किसी से उत्पन्न नहीं होता है, अर्थात् वह अनारब्ध (नित्य) ही है।

माधुरी

'परमाणु' नित्य होने से परमाणुरूप पृथिवी, जल, तेज और वायु को भी नित्य कहा जाता है। किन्तु 'परमाणु' की 'नित्यता' का विचार तो तभी हो सकता है, जब 'परमाणु' को प्रथमः किसी लक्षण या प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया जाय। 'परमाणु' का 'अस्तित्व' किसी लक्षण या प्रमाण के द्वारा सिद्ध किये विना उसकी 'नित्यता' का विचार करना संगत नहीं कहा जा सकता। अतः 'परमाणु' का लक्षण प्रथमतः देखा जाय। परमाणु का लक्षण यह किया जा सकता है—**'मनोभिन्नत्वे सति परमाणुत्वपरिमाणवान् परमाणुः'**—अर्थात् जो द्रव्य 'मन' से भिन्न रहता हुआ 'समवायसम्बन्ध' से परम-अणुत्व परिमाणवाला हो, उस 'द्रव्य' को **परमाणु** कहते हैं। लक्षणसमन्वय इस प्रकार होगा—पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चारों के परमाणु 'मन' से भिन्न हैं, तथा 'समवायसम्बन्ध' से 'परम अणुत्व' परिमाण वाले भी हैं। अतः 'परमाणु' का निर्मित लक्षण ठीक है। उक्त लक्षण को 'पदकृत्य' के द्वारा भी परख लिया जाय। उक्त लक्षण में से **'मनोभिन्नत्वे सति'** इस सत्यन्त पद को हटा दें और **'परमाणुत्वपरिमाणवान् परमाणुः'** इतना ही लक्षण 'परमाणु' का करें तो **'मन'** में ही उस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'मन' भी परमाणु के समान 'परमअणुत्व परिमाणवाला' ही है। अतः उस अतिव्याप्ति के निरासार्थ **'मनोभिन्नत्वे सति'** यह सत्यन्त पद रखना आवश्यक है। तब 'मन' में ही 'मन' का भेद रहना संभव न होने से 'मन' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अब लक्षण में से **'परम'** पद को हटाकर 'मनोभिन्नत्वे सति अणुत्वपरिमाणवान् परमाणुः' इतना ही लक्षण करें तो कार्यद्रव्यरूप 'द्वचणुक' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न हुआ जो 'द्वचणुक'रूप कार्य है, वह 'मन' से भिन्न भी है तथा 'अणुत्वपरिमाणवाला' भी है। अतः उस अतिव्याप्ति के निरासार्थ 'अणुत्व परिमाण' में 'परम' विशेषण देना आवश्यक है। तब 'द्वचणुक' में 'मध्यमअणुत्व' परिमाण रहने पर भी 'परमअणुत्वपरिमाण' तो नहीं है। अतः द्वचणुक में परमाणुलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। अब यदि 'मनोभिन्नत्वे सति परिमाणवान् परमाणुः' इतना ही लक्षण करें, 'परमाणुत्व' यह विशेषण न दें

तो 'परमाणु' और 'मन' इन दोनों को छोड़कर सभी द्रव्यों में परमाणुलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'परिमाण' गुण, पृथिव्यादि द्रव्यों में ही रहता है, और पृथिव्यादि आठ द्रव्य 'मन' से भिन्न भी हैं। अतः इस अतिव्याप्ति के निरसनार्थ लक्षण में 'परमअणुत्व' को 'परिमाण' का विशेषण बनाना ही चाहिये। तब पृथिव्यादि नौ द्रव्यों में परिमाण के विद्यमान रहते हुए भी 'परमअणुत्वपरिमाण' केवल 'परमाणु' और 'मन' में ही रहता है। अन्य किसी द्रव्य में वह 'परम-अणुत्व' परिमाण नहीं रहता। अतः परमाणुभिन्न द्रव्यों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। यदि लक्षण में 'परमाणुत्वपरिमाणवान्' न कहकर केवल 'मनोभिन्नः परमाणुः' इतना ही कहें तो 'परमाणु मन' से भिन्न द्रव्य-गुणादिक सभी पदार्थों में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निरासार्थ लक्षण में 'परमाणुत्वपरिमाणवान्' कहना ही चाहिये। तब 'परमाणुमन' से भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ 'परमाणुत्वपरिमाणवाला' नहीं है। अतः द्रव्यादिक पदार्थों में परमाणु लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

'लक्षण-प्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इस नियम के अनुसार 'परमाणु' पदार्थ की सिद्धि लक्षण से तो कर दी गई, अब दो अनुमानप्रमाणों के द्वारा उसकी सिद्धि का प्रदर्शन करते हैं—उन दो अनुमानों में से प्रथम अनुमान के द्वारा यह बताया है कि 'त्र्यणुक' के आरम्भक (समवायिकारण) 'द्व्यणुक' होते हैं और द्वितीय अनुमान के द्वारा यह बताया है कि जो 'द्व्यणुक' के आरंभक (समवायिकारण) होते हैं, वे ही 'परमाणु' कहलाते हैं। अनुमान प्रयोग का प्रकार—किसी झरोखे से प्रविष्ट होने वाले सूर्यकिरणों में स्थित सूक्ष्य रजःकणों को 'त्र्यणुक' कहते हैं। उसी को 'त्रसरेणु या त्रुटि' भी कहते हैं। 'तत् त्र्यणुकं अवयवजन्यं चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्'—'त्र्यणुक' अपने अवयवों से उत्पन्न (जन्य) होता है, चाक्षुषद्रव्य होने से (चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान का विषय 'द्रव्य' होने से), 'जो भी चाक्षुष द्रव्य होता है, वह अवयवों से ही उत्पन्न होता है।'—यह नियम है। जैसे—'घट' 'चाक्षुषद्रव्य' है, इसलिये वह 'कपाल' रूप अवयवों से जन्य (उत्पन्न) भी है। उसी तरह 'त्र्यणुक' भी चाक्षुषद्रव्य है। इसलिये वह (त्र्यंणुक) भी अवयवों से अवश्य ही जन्य होगा। उस 'त्र्यणुक' के अवयव 'द्व्यणुक' ही होते हैं, क्योंकि परस्पर संयुक्त हुए 'तीन द्व्यणुकों' से ही 'त्र्यणुक' रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। इसलिये तीन द्व्यणुक उस 'त्र्यणुक' रूप कार्य के आरंभक अवयव कहे जाते हैं। इस अनुमान से 'द्व्यणुक' की सिद्धि की गई है।

उक्त अनुमानप्रयोग में प्रयुक्त हेतु 'चाक्षुषद्रव्यत्वात्' के बजाय केवल 'द्रव्यत्वात्' को ही 'हेतु' रखें तो वह 'द्रव्यत्वात्' हेतु, आकाशादि नित्यद्रव्यों में भी रहने से 'व्यभिचारी' हो जाता है। क्योंकि आकाश, काल, आत्मा, मन, परमाणु—इन नित्य-द्रव्यों में अवयवजन्यत्वरूप 'साध्य' तो है नहीं, किन्तु द्रव्यत्वरूप 'हेतु' उनमें भी है। अतः अवयवजन्यत्वरूप साध्य के अभाववाले उन आकाशादि नित्यद्रव्यों में 'द्रव्यत्व' रूप

हेतु के रहने से (वृत्ति होने से) वह हेतु (द्रव्यत्व हेतु) व्यभिचारी हो गया है। उस व्यभिचारदोष के निरसनार्थ 'द्रव्यत्वात्' हेतु में 'चाक्षुष' विशेषण अवश्य देना चाहिये। उसके देने पर 'आकाशादि' द्रव्यों में महत्त्वसमानाधिकरण-उद्भूत 'रूप' के न रहने (अभाव) से 'चाक्षुषत्व' तो है नहीं। इसलिये आकाशादि नित्य द्रव्यों में 'हेतु' का व्यभिचार भी नहीं है। अब यदि 'चाक्षुषत्वात्' इतने को ही 'हेतु' करें और 'द्रव्य' पद न रखें तो चाक्षुषज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) के विषय होनेवाले 'गुण-कर्मादि पदार्थों में 'हेतु' का व्यभिचार होगा, क्योंकि 'गुणकर्मादिकों' में 'अवयवजन्यत्व' रूप साध्य तो है नहीं, किन्तु 'चाक्षुषत्व' रूप हेतु, उन गुणकर्मादिकों में भी विद्यमान है। उस कारण 'अवयवजन्यत्व' रूप साध्य के अभाव वाले (साध्याभावाधिकरण) उन 'गुण-कर्मादिकों' में 'चाक्षुषत्व' हेतु के रहने से (वृत्ति होने से) वह (चाक्षुषत्व) हेतु व्यभिचारी हो गया है। उस व्यभिचारदोष के निरासार्थ 'चाक्षुषत्वात्' हेतु के साथ 'द्रव्य' पद भी कहा गया है—यानि 'चाक्षुषद्रव्यत्वात्' इतने को 'हेतु' बनाया गया है। तब गुण-कर्मादिकों में चाक्षुषत्व रहने पर भी 'द्रव्यत्व' तो है नहीं। इस कारण गुण-कर्मादिकों में 'हेतु' (चाक्षुषद्रव्यत्वात्) का व्यभिचार नहीं है। इस रीति से अनुमान प्रमाण के द्वारा 'त्र्यणुक' के 'अवयव' सिद्ध किये गये हैं अर्थात् 'त्र्यणुक' को सावयव सिद्ध किया गया है। त्र्यणुक के अवयवों को ही 'द्वयणुक' कहा जाता है। क्योंकि परस्पर संयुक्त 'तीन द्वयणुकों' से ही 'त्र्यणुक'कार्य की उत्पत्ति होती है। एवंच 'तीन द्वयणुक' ही 'त्र्यणुककार्य' के आरंभक अवयव हैं। इसप्रकार 'द्वयणुक' की सिद्धि कर लेने के पश्चात् पुनः दूसरा अनुमान करना होगा, जिससे 'द्वयणुक' के भी अवयव सिद्ध किये जायेंगे। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'स द्वयणुकः अवयवजन्यः महदारम्भकत्वात् कपालवत्'—अर्थात् वह द्वयणुक भी अपने अवयवों से उत्पन्न (जन्य) होता है, महत्त्वपरिमाणवाले 'त्र्यणुकद्रव्य' का आरम्भक (उत्पादक-जनक) होने से। 'जो भी द्रव्य 'महत्त्वपरिमाणवाले द्रव्य' का आरंभक होता है, 'वह द्रव्य' अपने अवयवों से जन्य ही हुआ करता है'—यह नियम है। जैसे—'कपाल'रूप द्रव्य महत्त्वपरिमाणवाले 'घट' द्रव्य का आरम्भक है, इसलिये वह 'कपाल'-द्रव्य 'कपालिकारूप अवयवों से जन्य ही रहता है। वैसे ही महत्त्वपरिमाणवाले 'त्र्यणुकद्रव्य' की आरंभकता उन 'द्वयणुकों' में भी है। अतः वे 'द्वयणुक' भी अपने अवयवों से अवश्य ही जन्य होंगे। इसप्रकार अनुमानप्रमाण के द्वारा 'द्वयणुक' के भी अवयवों की सिद्धि की जाती है। एवंच 'द्वयणुक' के आरंभक अवयवों को ही 'परमाणु' कहा जाता है। क्योंकि परस्पर संयुक्त हुए 'दो परमाणुओं' से ही 'द्वयणुक' कार्य की उत्पत्ति होती है। इसकारण 'दो परमाणु' ही 'द्वयणुक' के आरंभक अवयव हैं। और 'वे परमाणु' किसी 'अवयव' से जन्य नहीं होते हैं। अतः वे 'परमाणु' अजन्य ही (नित्य ही) हैं।

ननु कार्यद्रव्यारम्भकस्य कार्यद्रव्यत्वाव्यभिचारात् तस्य कथमनारब्धत्वम् ? उच्यते, अनन्तकार्यपरम्परादोषप्रसङ्गात् । तथा च सत्यनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशेषेण मेरु-सर्षपयोरपि तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गः । तस्मादनारब्ध एव परमाणुः ।

प्रश्न—नन्विति । कार्य (अनित्य) द्रव्य के आरम्भक (कारण) का 'कार्यद्रव्य' होना निश्चित है, उसमें कभी व्यभिचार नहीं होता है । अतः अनित्य द्रव्य के (द्वयणुक के) उत्पादक (आरंभक) उस 'परमाणु' का अनारब्धत्व (नित्यत्व) कैसे हो सकता है ?

उत्तर—उच्यत इति । उत्तर देते हैं—'परमाणु' को अनित्य (कार्यद्रव्य) कहने पर 'अनन्त कार्य-परम्परा' का दोष प्रसक्त होता है । **तथा चेति ।** अभिप्राय यह है कि यदि 'परमाणु' का भी 'कारण' माना जाय तो पुनः उसके 'कारण' का भी 'कारण', पुनः उसका भी 'कारण', पुनः उसका भी 'कारण'—इस प्रकार अनन्त 'कारणों' और अनन्त 'कार्यों' की परम्परा चलती जायगी, जिसका कहीं भी विराम नहीं हो सकेगा । और ऐसा होने पर सुमेरु पर्वत और सरसों का दाना—दोनों के अनन्त अवयवों से उत्पन्न होने में दोनों की समानता होगी । जिससे सुमेरुपर्वत और सरसों के दाने का परिमाण तुल्य (समान) होने लगेगा । क्योंकि सुमेरुपर्वत के भी अनन्त (असंख्य) अवयव हैं, और सर्षप (सरसों) के दाने के भी अनन्त अवयव हैं । इसलिये जब दोनों ही अनन्त अवयवों से उत्पन्न (बने) हैं, तो दोनों का परिमाण भी समान मानना ही होगा । किन्तु वैसा मनना, युक्ति-विरुद्ध है । इसलिये 'परमाणु' अनारब्ध (नित्य) ही है ।

माधुरी

शंका—अनुमानप्रमाण के बल पर 'द्वयणुक' कार्य में जैसे 'अवयव-जन्यत्व' सिद्ध किया है, वैसे ही अनुमान के द्वारा उन 'परमाणुओं' में भी 'अवयवजन्यत्व' क्यों नहीं सिद्ध करते हैं ? परमाणुओं में भी 'अवयवजन्यत्व' सिद्ध करने के लिये हम यह अनुमान प्रयोग कर सकते हैं—'परमाणुः अवयवजन्यः, कार्यद्रव्यसमवायित्वात् कपालवत्'—अर्थात् 'परमाणु' भी अपने अवयवों से जन्य होता है, 'द्वयणुक'रूप कार्यद्रव्य का समवायिकारण होने से । 'जो-जो द्रव्य, कार्यद्रव्य का समवायिकारण होता है, वह द्रव्य, अपने अवयवों से जन्य ही हुआ करता है'—यह नियम है । जैसे—कपाल, 'घट-रूप' कार्यद्रव्य का समवायिकारण होने से 'कपालिकारूप अवयवों' के द्वारा जन्य होता है, वैसे ही 'परमाणु' भी 'द्वयणुक' रूप कार्यद्रव्य का समवायिकारण होने से किसी अवयव से अवश्य ही जन्य होना चाहिये । इस रीति से अनुमान के बल पर 'परमाणुओं' में भी 'अवयव-जन्यत्व' सिद्ध किया जा सकता है । अतः 'परमाणुओं' को 'अवयवजन्य' न कहना उचित नहीं है ।

समा०—प्रदर्शित अनुमान के बल पर 'परमाणुओं' में यदि 'अवयवजन्यत्व' माना जायगा तो 'परमाणुओं' के आरम्भक 'अवयवों' में भी 'परमाणुरूप' कार्यद्रव्य का 'समवायिकारणत्व' होने से 'परमाणुओं' में अवयवजन्यत्व ही सिद्ध होगा। फिर उन 'अवयवों' में भी उसके 'अवयव' समवायिकारण होने से 'अवयवजन्यत्व' ही सिद्ध होगा। इस प्रकार विरामरहित 'अवयवधारा' मानने पर 'अनवस्था' दोष होगा। उस अनवस्था दोष के निरासार्थ दूर जाकर किसी न किसी 'अवयव' को 'अवयवजन्य' कहना छोड़ना ही पड़ेगा। तब भी उस 'अजन्य अवयव' में उस 'कार्यद्रव्य' का 'समवायित्व'-रूप हेतु व्यभिचारी कहलायेगा। अतः इतनी दूर जा कर विराम करने की अपेक्षा 'परमाणु' को हो जन्य न कहकर (अजन्य कहकर) विराम क्यों नहीं किया जाय ? जिससे 'अनवस्था' दोष नहीं हो पायेगा।

प्रश्न—'बीजाङ्कुर' की धारा में 'अनवस्था' को जैसे दोषावह नहीं माना जाता, अथवा 'अदृष्ट-शरीर' की धारा मानने में अनवस्था को जैसे दोषावह नहीं माना जाता, वैसे ही 'परमाणुओं' की विरामरहित अवयवधारा मानने में भी 'अनवस्था' को दोषावह नहीं कहना चाहिये।

समा०—जो 'अनवस्था', किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध रहती है उसे दोषावह नहीं समझा जाता। और जिस 'अनवस्था' में कोई प्रमाण नहीं रहता उस अनवस्था को तो दोषावह ही माना जाता है। बीज-अंकुरों की अनवस्था में 'प्रत्यक्षप्रमाण' है, उसी तरह 'अदृष्ट-शरीर' की अनवस्था में 'शास्त्र' प्रमाण है उस तरह 'परमाणुओं' के अवयवों की अनवस्था में कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत प्रत्यक्षप्रमाण का 'विरोध' ही है। वह 'विरोध' ही उस 'अनवस्था' का बाधक है वह विरोध इस प्रकार है—अनवस्था को स्वीकार करने पर 'सुमेरु पर्वत' का और सरसों (सर्षप) के दाने का परिमाण एक-सा (समान-तुल्य) ही होने लगेगा क्योंकि द्रव्यनिष्ठ परिमाण के 'उत्कर्ष' तथा 'अपकर्ष' का प्रयोजक उस द्रव्य के आरम्भक अवयवों की संख्या ही होती है। एवं च न्यून संख्या वाले अवयवों से उत्पन्न (आरब्ध) 'द्रव्य' अपकृष्ट परिमाणवाला कहलाता है, और अधिकसंख्यावाले अवयवों से आरब्ध 'द्रव्य' उत्कृष्ट परिमाणवाला कहलाता है। किन्तु अवयवों की अनवस्था मान लेने पर उत्कर्षापकर्ष-प्रयोजक अवयवों की अधिक-न्यूनसंख्या का सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे—सुमेरुपर्वत असंख्यात अवयवों से आरब्ध है, वैसे ही सरसों (सर्षप) का दाना भी असंख्यात अवयवों से आरब्ध है। इसलिये सुमेरुपर्वत का तथा सर्षप के दाने का परिमाण तुल्य होना चाहिये। किन्तु दोनों को तुल्य समझना तो प्रत्यक्षप्रमाण के विरुद्ध ही कहलायगा। और सुमेरुपर्वत के अवयवों की धारा तथा सर्षप के अवयवों की धारा को यदि 'परमाणु' तक ही स्वीकार करते हैं (परमाणु के आगे उसकी अवयव धारा को नहीं मानते हैं) तो मेरु-सर्षप की 'तुल्यता' का दोष प्रसक्त नहीं हो

सकेगा । क्योंकि 'सर्षप' का दाना न्यूनसंख्यावाले अवयवों से आरब्ध है, और 'सुमेरु-पर्वत' अधिकसंख्यावाले अवयवों से आरब्ध है । इसलिये 'सर्षप' के दाने का अपकर्ष है और 'सुमेरु' के अवयवों का उत्कर्ष है । अत एव दोनों में **'अन्तर'** सर्वजनप्रत्यक्ष-सिद्ध है । अतः 'परमाणु' अनारब्ध (नित्य) ही है ।

(द्व्यणुकादीनामवयवनियमः)

द्व्यणुकं तु द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यते । एकस्यानारम्भकत्वात्, त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात् । त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्व्यणुकैरारभ्यते । एकस्यानारम्भकत्वात् । द्वाभ्यामारम्भे कार्यगुणमहत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् । कार्ये हि महत्त्वं कारणमहत्त्वाद्वा कारणबहुत्वाद्वा । तत्र प्रथमस्यासम्भवाच्चरममेषितव्यम । न च चतुरादिकल्पनायां प्रमाणमस्ति त्रिभिरेव महत्त्वारम्भोपपत्तेरिति ।

द्व्यणुकमिति । 'द्व्यणुक' तो 'दो परमाणुओं' से उत्पन्न होता है, एक 'परमाणु' के अनारम्भक होने से । जब कि दो 'परमाणुओं' से ही 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति का होना संभव है । तब तीन-चार आदि की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है । अतः 'दो परमाणुओं' से ही 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति होती है । **त्र्यणुकमिति ।** और 'त्र्यणुक' तो 'तीन द्व्यणुकों' से ही पैदा होता है । क्योंकि 'एक द्व्यणुक' आरम्भक नहीं होता है । **द्वाभ्यामिति ।** यदि 'दो द्व्यणुकों' से 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति (आरम्भ) कहें, तो कार्य-(त्र्यणुक) में 'महत्त्व' (महत् परिमाण) नहीं हो सकेगा । अर्थात् 'त्र्यणुक' रूप कार्य में 'महत् परिमाण' की उपपत्ति नहीं हो सकेगी । **कार्ये हीति ।** क्योंकि 'कारण' के **महत्त्व** से अथवा 'कारण' के **बहुत्त्व** से ही 'कार्य' में 'महत्त्व' (महत् परिमाण) या वहुत्व हुआ करता है । अर्थात् 'कार्य' के महत्-परिमाण की उत्पत्ति में दो ही कारण हुआ करते हैं । **तत्रेति ।** उनमें से 'त्र्यणुक' में महत्-परिमाण की उत्पत्ति के लिये 'प्रथमकारण' (कारणगतमहत्त्व) का संभव नहीं है । क्योंकि त्र्यणुक' के कारणभूत 'द्व्यणुक' में 'महत्-परिमाण' है ही नहीं । उसका (द्व्यणुक का) परिमाण तो 'अणु' माना गया है । इसलिये अन्तिम (चरम) कारण (कारणगत बहुत्व) को ही 'त्र्यणुक' के 'महत् परिमाण' का उत्पादक स्वीकार करना चाहिये । वह 'बहुत्व' 'तीन' संख्या में उपपन्न हो जाता है । इसलिये उससे अधिक 'चार आदि' को कारण मानने की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है । तीन 'द्व्यणुकों' से ही 'त्र्यणुक' के महत्त्व की उपपत्ति हो जाने से तीन से अधिक या न्यून द्व्यणुकों को 'त्र्यणुक' का कारण कहना ठीक नहीं है । अतः 'तीन द्व्यणुक' ही 'त्र्यणुकोत्पत्ति' में कारण होते हैं ।

माधुरी

प्रश्न—परमाणु की सत्ता और उसकी नित्यता को पहिले बता चुके हैं । अब यह विचार प्रस्तुत किया जा रहा है कि 'दो परमाणुओं' से ही 'द्व्यणुक' और 'तीन

द्व्यणुकों' से ही 'त्र्यणुक' क्यों बनता है ? 'एक परमाणु' से अथवा 'तीन परमाणुओं' से 'द्व्यणुक की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? वैसे ही 'दो द्व्यणुकों' से अथवा 'चार द्व्यणुकों' से 'एक त्र्यणुक' की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? तीन ही द्व्यणुकों से 'एक त्र्यणुक की उत्पत्ति क्यों बताई जा रही है ?

उत्तर—'एक परमाणु' से तो कोई भी 'कार्य' उत्पन्न नहीं होता है। और जब 'दो परमाणुओं' से 'द्व्यणुक' बन सकता है, तो 'तीन परमाणुओं' की अपेक्षा क्यों की जाय ? यदि 'दो परमाणुओं' से द्व्यणुक की उत्पत्ति न मानी जाय तो कहना होगा कि 'एक परमाणु' से या 'तीन परमाणुओं' से या उससे भी 'अधिक परमाणुओं' से 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति होती है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि ऊपर कह चुके हैं कि 'एक परमाणु' तो किसी कार्य का आरंभक (उत्पादक) नहीं हो सकता, क्योंकि यदि 'एक ही परमाणु' अपने 'कार्य' के उत्पादन में समर्थ रहे तो 'कार्य' की उत्पत्ति सर्वदा ही होती रहेगी, क्योंकि 'परमाणु' तो नित्य है, और उसे किसी अन्य की अपेक्षा भी न होगी। तब 'कार्य' को नित्य भी कहना होगा, किन्तु 'कार्य' को 'नित्य' कहना तो वदतोव्याघात है। क्योंकि एक ओर 'कार्य' कहना और दूसरी ओर उसे 'नित्य' बताना, यह नितान्त विरुद्ध है। इसलिये 'एक परमाणु' को किसी 'कार्य' का आरंभक (उत्पादक) नहीं कह सकते। अतः दो परमाणुओं' से ही 'द्व्यणुक' बनता है। क्योंकि तीन या उससे अधिक परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार 'तीन द्व्यणुकों' से ही 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति होती है। 'एक द्व्यणुक' से या 'दो द्व्यणुक' से अथवा 'चार-पाँच आदि द्व्यणुकों' से 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति को मानना ठीक नहीं है। क्योंकि ऊपर कह चुके हैं कि 'एक कारण किसी कार्य का उत्पादक नहीं होता है'। इसलिये 'एक द्व्यणुक' से त्र्यणुक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'दो द्व्यणुकों से यदि 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति कहें तो 'त्र्यणुक' में महत् परिमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि 'महत्परिमाण' की उत्पत्ति में दो ही कारण होते हैं—एक तो 'कारणगतमहत्त्व' और दूसरा 'कारणगत बहुत्व'। अर्थात् किसी 'कार्य' में 'महत्परिमाण' तभी पैदा हो सकता है, जब उसके 'कारण' में 'महत् परिमाण' हो अथवा उसके 'कारण' में 'बहुत्वसंख्या' हो अर्थात् 'दो' से 'अधिक' कारण हों। इनके अतिरिक्त 'कार्य' में महत्-परिमाण' की उत्पत्ति में और कोई कारण नहीं है। 'त्र्यणुक' का परिमाण तो 'महत्-परिमाण' है। यह 'महत्परिमाण' तभी उत्पन्न हो सकता है, जब 'त्र्यणुक' के कारण-भूत 'द्व्यणुक' में 'महत्परिमाण' हो अथवा उसमें 'बहुत्वसंख्या' हो। किन्तु 'त्र्यणुक' के कारणभूत 'द्व्यणुक' का परिमाण तो 'अणुपरिमाण' माना जाता है। इसलिये उसमें 'महत्परिमाण' तो रहता नहीं है। अतः 'त्र्यणुक' के 'महत्परिमाण' का कारण 'कारण-गत महत्त्व' तो कह नहीं सकते। तब दूसरा कारण अर्थात् 'कारणबहुत्व-संख्या' को ही

'द्वयणुक' के 'महत्परिमाण' का कारण मानना ही होगा। इस 'बहुत्वसंख्या' को कम से कम 'तीन' की अपेक्षा होती है। इसलिये 'दो द्वयणुकों' से तो 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतएव 'बहुत्वसंख्यावाले' **तीन द्वयणुकों से ही** 'त्र्यणुक' कार्य की उत्पत्ति का स्वीकार करना चाहिये। और जब 'बहुत्वसंख्या', 'कपिञ्जल' न्याय से 'तीन में' उपपन्न हो जाती है, तब उससे अधिक 'चार या पाँच द्वयणुकों' को 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति में कारण मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसलिये 'तीन द्वयणुकों' से ही 'त्र्यणुक' की उत्पत्ति मानी जाती है।

शंका—जब कि 'त्र्यणुक' कार्य का 'महत्परिमाण' है, तो उसके कारणभूत 'द्वयणुक' के परिमाण को भी 'महत्परिमाण' क्यों नहीं कहते ? 'द्वयणुक' के महत् परिमाण की उत्पत्ति के लिये 'परमाणु' का भी 'महत्परिमाण' क्यों न माना लिया जाय ? क्योंकि जो 'द्रव्य' सावयवद्रव्य से उत्पन्न होता है, वह 'महत्परिमाणवाला' ही होता है। जैसे—'त्र्यणुकद्रव्य', 'द्वयणुकरूप' सावयवद्रव्य से आरब्ध (उत्पन्न) होता है। इसीलिये 'त्र्यणुक' को महत्त्वपरिमाणवाला भी कहा जाता है। उसी प्रकार अवयवों के अनवस्थापक्ष में 'परमाणु' भी सावयवद्रव्य से ही आरब्ध हो सकता है। उस कारण 'परमाणु भी 'त्र्यणुक' के समान ही 'महत्परिमाण' वाला हो सकता है।

समा०—किन्तु इस प्रकार 'परमाणु' को और 'द्वयणुक' को महत्परिमाणवाला कहना युक्तिविरुद्ध होगा, क्योंकि 'परमाणुओं' में महत्परिमाण का स्वीकार करने पर उन 'परमाणुओं' का 'त्र्यणुक' के समान चाक्षुषप्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु उनका चाक्षुषप्रत्यक्ष आज तक किसी को भी नहीं हुआ है। 'अवयवों' का अनवस्थापक्ष स्वीकार्य नहीं है। मेरु, सर्षप, घट, पट आदि जितने भी 'अवयवी' द्रव्य हैं, उनके अवयवों की धारा का कहीं तो विराम कहना ही होगा। ऐसी स्थिति में उस अवयव-धारा का जहाँ भी विराम होगा, उसी को हम 'परमाणु' कहते हैं।

शंका—तथापि विराम के आश्रयरूप 'परमाणुओं' की नित्यता में तो कोई प्रमाण नहीं है। तब 'परमाणु' को नित्य क्यों कहा जा रहा है ?

समा०—अवयवधारा के विश्रामावधिभूत 'परमाणु' को अनित्य मानने पर 'असमवेत भावकार्य' की उत्पत्ति माननी होगी। अर्थात् 'परमाणुरूपभावकार्य' की 'समवायिकारण' के बिना ही उत्पत्ति माननी होगी। किन्तु भावकार्य की अकारण उत्पत्ति कहना अत्यन्त असंगत है। क्योंकि जो 'भावकार्य' होता है, वह 'समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण'—इन तीन कारणों से ही होता है। 'समवायिकारण' के बिना कोई भी 'भावकार्य' उत्पन्न नहीं हुआ करता।

शंका—'प्रध्वंसाभाव' रूप कार्य तो 'समवायिकारण' तथा 'असमवायिकारण' के बिना ही केवल एक 'निमित्तकारण' मात्र से ही उत्पन्न होता है। तब आप कैसे कह रहे हैं कि 'तीन कारणों' के बिना कोई 'कार्य' उत्पन्न नहीं होता है।

समा०—हम 'अभाव कार्य' के विषय में नहीं कह रहे हैं। हम तो 'भावकार्य' के बारे में बता रहे हैं कि कोई भी 'भावकार्य' जब उत्पन्न होता है, तब वह 'तीन कारणों' से ही पैदा होता है। अतः 'परमाणु' भी भावरूप हैं। यदि उन 'परमाणुओं' को अनित्य कहते हैं तो 'समवायिकारण' के विना ही उस 'परमाणु' रूप भावकार्य की उत्पत्ति माननी होगी। और यदि इस 'असमवेत भावकार्य की उत्पत्ति' के दोष से बचने के लिये उन परमाणुओं को 'द्व्यणुकों' के समान किसी 'अवयव' से जन्य कहते हैं तो मेरु-सर्षपतुल्यता का दोष उपस्थित होता है। किन्तु 'परमाणुओं' को नित्य मान लेने पर उक्त दोनों दोषों की प्राप्ति नहीं हो पाती है। अतः 'परमाणुओं' को नित्य मान लेना ही उचित है।

शंका—परमाणुओं को नित्य मान लेने पर भी उनके 'परमअणुत्व' परिमाण में तो कोई प्रमाण नहीं है। अतः उन्हें 'परमाणुपरिमाण' वाला कहना ठीक नहीं है।

समा०—जैसे 'महत्त्वपरिणाम' का तारम्य, आकाशादि विभुद्रव्य में पर्यवसित (विश्रान्त—विरत) होता है। वैसे ही 'अणुत्वपरिमाण' के तारतम्य का भी कहीं पर्यवसान तो कहना ही होगा। अतः उस तारतम्य का विश्राम 'परमाणुओं' में ही होता है। इसलिये 'परमाणुओं' का 'परमअणुत्व परिमाण' कहा जाता है।

परमाणुओं का अस्तित्व जैसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, वैसे ही उनके अस्तित्व में शास्त्रप्रमाण भी है। तथाहि—**'जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ।।'** तथा—**'यस्मान्नाल्पतरोऽस्ति यः परमोल्पस्तत्र निवर्तते। यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे ।। चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा। परमाणुः स विज्ञेयो नृणामेक्ष्यभ्रमो यतः ।।'** इत्यादि अनेक प्रमाण उसके अस्तित्व में उपलब्ध हो सकते हैं। एवं च 'लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' के अनुसार 'परमाणु' पदार्थ की सिद्धि, लक्षण से भी तथा प्रमाण से भी हो रही है। अतः 'परमाणु' का अस्तित्व निर्बाध सिद्ध होता है।

शब्दगुणकमाकाशम्। शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत्। एकं विभु नित्यञ्च। शब्दलिङ्गकञ्च।

शब्दलिङ्गकत्वमस्य कथं ?

परिशेषात्। 'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः'।

तथाहि शब्दस्तावद् विशेषगुणः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपादिवत्। गुणश्च गुण्याश्रित एव। न चास्य पृथिव्यादिचतुष्टयमात्मा च गुणी भवितुमर्हति, श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छब्दस्य। ये हि पृथिव्यादीनां गुणा न ते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते, यथा रूपादयः, शब्दस्तु श्रोत्रेण गृह्यते। न दिक्कालमनसां

गुणो विशेषगुणत्वात् । अत एभ्योऽष्टभ्योऽतिरिक्तः शब्दगुणी एषितव्यः, स एवाकाश इति ।

स चैको, भेदे प्रमाणाभावात् । एकत्वेनैवोपपत्तेः । एकत्वाच्चाकाशत्वं नाम सामान्यमाकाशे न विद्यते सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात्–विभु चाकाशम् परम-महत्परिमाणवदित्यर्थः । सर्वत्र तत्कार्योपलब्धेः । अतएव विभुत्वान्नित्यमिति ।

(५) आकाशनिरूपण—

शब्दगुणकमिति । शब्दगुणवाला 'आकाश' है । वह (१) शब्द, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग, और (६) विभाग—इन छह गुणों वाला है । वह एक, नित्य और विभु है । और 'शब्द'रूप लिङ्ग से (अनुमान के द्वारा) उसकी सिद्धि होती है । अर्थात् 'आकाश', शब्दलिङ्गक है, यानी आकाश का अनुमापक 'शब्द' है ।

प्रश्न—शब्दलिङ्गकत्वमिति । इस आकाश का 'शब्दलिङ्गकत्व' कैसे है ? अर्थात् 'शब्द' उसका अनुमापक कैसे होता है ?

उत्तर—परिशेषादिति । परिशेष अनुमान से उसका 'शब्दलिङ्गकत्व' जाना जाता है । **प्रसक्तेति ।** 'परिशेष' अनुमान उसे कहते हैं—'जहाँ प्राप्त हुए पदार्थों का निषेध हो जाने पर अन्य किसी पदार्थ की प्राप्ति न होने से जो पदार्थ बच (शेष) रहे, उसमें जो सम्प्रत्यय (प्रतीति) अर्थात् अनुमिति कर लेना'—यही 'परिशेष' अनुमान कहलाता है । यही **'परिशेषानुमान'** का लक्षण है ।

तथाहीति । उक्त परिशेषानुमानलक्षण का 'लक्ष्य' में समन्वय कर रहे हैं—'शब्द' विशेष गुण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह, सामान्य (जाति) से युक्त होकर हमारी बाह्य एकमात्र श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य है (हेतु), जैसे रूप आदि (उदा०) । इस अनुमान से 'शब्द' में 'गुणत्व' को सिद्ध किया गया है । और जो 'गुण' होता है, वह 'गुणी' के आश्रित ही रहता है । **न चेति ।** 'पृथिवी, जल, तेज और वायु' ये चार तथा 'आत्मा'—इसके (शब्द के) आश्रय (गुणीद्रव्य नहीं हो सकते, क्योंकि 'शब्द' का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है । पृथिवी, जल, तेज और वायु तथा आत्मा—इन पाँचों के विशेष गुणों में से किसी का भी 'श्रोत्रेन्द्रिय' से ग्रहण नहीं किया जाता है । जैसे 'रूप' आदि गुण हैं, उनका 'श्रोत्र' से ग्रहण नहीं होता है । किन्तु 'शब्द' का ग्रहण तो 'श्रोत्र' से हुआ करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि **'शब्द'**, पूर्वोक्त 'पृथिवी आदि चार और आत्मा'—इन पाँचों का 'गुण' नहीं है । तथा श्रोत्रग्राह्य **'शब्द'**, 'दिक्, काल, मन'—इन तीनों का भी 'गुण' नहीं है, क्योंकि 'शब्द' तो विशेष गुण है । दिक्, काल और मन—इन तीनों में कोई 'विशेष गुण' नहीं रहा करता, अपितु 'सामान्यगुण' रहते हैं । इसलिये वह (शब्द), इन तीनों का भी 'गुण

नहीं है। अतः इन आठों से अतिरिक्त कोई 'गुणी द्रव्य', उसके (शब्द के) लिये होना ही चाहिये, क्योंकि 'गुण' होने के नाते उसे अपने आश्रय की आवश्यकता है, बिना आश्रय के वह (गुण) कभी रह नहीं सकता। एवं च परिशेषात् नवद्रव्यों में से एक 'आकाश' द्रव्य ही बचा रहता है, जो इसके (शब्द के) आश्रय होने योग्य है। निष्कर्ष यह हुआ कि '**शब्द**' का जो आश्रय है, वही '**आकाश**' है।

स चेति। वह (आकाश) 'एक' है, क्योंकि उसके अनेक होने में कोई 'प्रमाण' नहीं है। अर्थात् भेदसाधक प्रमाण के अभाव में उसे (आकाश को) एक ही माना जाता है, अनेक नहीं। उसे **एक** मानना युक्तियुक्त भी है। **एकत्वादिति।** उसके 'एक' होने से ही उसमें (आकाश में) 'आकाशत्व' नाम का 'सामान्य' (जाति) भी नहीं रहता है। क्योंकि 'सामान्य' (जाति) तो 'अनेक' में रहने वाला धर्म है। वह कभी भी 'एकव्यक्ति' में नहीं रहता है। और वह (आकाश) 'विभु' (व्यापक) है, अर्थात् उसका 'परममहत्परिमाण' है। क्योंकि उसका कार्य सर्वत्र उपलब्ध होता है। इसीलिये उसे 'विभु' कहा गया है, और 'बिभु' होने से वह 'नित्य' भी है।

माधुरी

'आकाश' का लक्षण 'शब्दसमवायिकारणम् आकाशम्' किया जाता है। अर्थात् जो 'द्रव्य', 'शब्दगुण' का समवायिकारण हो, उस 'द्रव्य' को **आकाश** कहते हैं। वह 'शब्दगुण' समवायसम्बन्ध से एकमात्र 'आकाश' द्रव्य में ही उत्पन्न होता है, 'पृथिवी' आदि द्रव्यों में नहीं। इसलिये 'आकाश' में 'शब्दगुण' की समवायिकारणता रहती है। इसी आशय को गर्भितकर ग्रन्थकार ने 'शब्दगुणम् आकाशम्' यह लक्षण किया है। उक्त लक्षण की निर्दुष्टता जानने के लिये उसके पदकृत्य को जानना आवश्यक है। यदि हम केवल 'गुणकम् आकाशम्' इतना ही आकाश का लक्षण करें तो सभी द्रव्य, किसी न किसी गुण के आश्रय हैं ही, तो उन में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निरसनार्थ 'शब्द' पद का निवेश करना आवश्यक है। तब 'शब्दगुण-वाला' अर्थात् शब्द गुण का आश्रय एक 'आकाश' द्रव्य ही मिलेगा, अन्य नहीं। अब यदि 'शब्दः आकाशम्' इतना ही लक्षण करें तो 'दिक् और काल' में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि 'शब्द', 'दैशिक सम्बन्ध' से 'दिक्' में और 'कालिक सम्बन्ध' से 'काल' में रहता है। अतः 'शब्द' के आश्रय 'दिक्' और 'काल' भी हैं। इसलिये उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निरसनार्थ 'गुण' पद का निवेश करना आवश्यक है। एवं च 'शब्दगुण' समवाय सम्बन्ध से जिसमें रहता है, उसी 'द्रव्य' को **आकाश** कहते हैं। 'दिक् और काल' में तो सभी पदार्थ (वस्तुएँ) रही हैं, उसी तरह (पदार्थ = वस्तु होने के नाते) वह (शब्द) भी उनमें रहता है, वह 'गुण' होने के नाते उनमें नहीं रहता है। 'गुण' के नाते तो वह 'आकाश' में ही रहता है। अत एव वह उनमें दैशिक, कालिक सम्बन्ध से रहता है। इसलिये लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है। तथापि

महाप्रलय के समय आकाश में शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः उसका आश्रय 'आकाश' को कैसे कहा जायेगा। एवं च प्रलय के समय 'आकाश' में शब्दाश्रयता के न रह पाने से लक्षण की अव्याप्ति हो रही है। उस अव्याप्ति का वारण करने के लिये 'शब्द' का अर्थ यह करना होगा कि 'प्रतियोगिव्यधिकरणशब्दाभावरहितत्वम्'— अर्थात् 'शब्दाभाव' अपने प्रतियोगी 'शब्द' का व्यधिकरण होकर जिसमें न रहता हो उसे 'आकाश' कहते हैं। आकाश के समस्त देश में और सभी काल में 'शब्द' तो रहता ही है। अर्थात् 'शब्द', आकाश में उत्पन्न होता है, इसलिये वह उसका 'जन्य-गुण' है, और 'आकाश' उसका समवायिकारण है, उस कारण आकाश में 'समवायि-कारणता' रहेगी और उस समवायिकारणता का 'अवच्छेदक धर्म' होगा, 'आकाश' में रहने वाला 'विशेष' पदार्थ। वह 'विशेष' पदार्थ, सर्वदा सभी समय 'आकाश' में रहता है। अतः उसमें (आकाश में) 'शब्दाभाव' कभी भी अपने 'प्रतियोगी शब्द' का व्यधिकरण होकर रह नहीं सकता। इसलिये आकाश में 'प्रतियोगिव्यधिकरण-शब्दाभाव' का अभाव रूप शब्द हमेशा रहने से लक्षण समन्वय 'प्रलयकालीन आकाश' में भी हो जाता है। इसलिये 'अव्याप्ति' नहीं है। अतः ग्रन्थकार ने 'आकाश' का जो लक्षण किया है, वह दोषरहित होने से ठीक है। उस लक्षण से लक्षित 'आकाश', सभी मूर्तद्रव्यों से संयुक्त रहता है, अर्थात् विभु (व्यापक) है, और वह नित्य है यानी उसकी उत्पत्ति और विनाश कभी नहीं होता है।

उस आकाश के शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—ये छह गुण होते हैं। इन छहों में 'शब्द' तो उसका 'विशेषगुण' है। शेष 'पाँच' सामान्यगुण हैं। इन पाँचों में से 'एकत्व संख्या, परिमाण, और पृथक्त्व ये तीन गुण, नित्य हैं, अन्य गुण 'अनित्य' हैं।

आकाश के गुणभूत 'शब्द' का ग्रहण 'श्रोत्र' से होता है। 'शब्द' में विशेष-गुणत्व की सिद्धि 'अनुमान प्रमाण' से होती है। जैसे—'शब्दः विशेषगुणः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, रूपादिवत्'—अर्थात् 'शब्द' विशेष गुण है, (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह (शब्द), 'सामान्य' (जाति) का आश्रय होता हुआ हम जैसे मानवों के एक बाह्येन्द्रिय (श्रोत्र) से ही ग्राह्य होता है। जैसे 'रूप' को 'विशेष-गुण' करते हैं, क्योंकि 'रूप' के आश्रित 'रूपत्व सामान्य' रहता है। अतः 'रूपत्व'-(सामान्य) का आश्रय हुआ 'रूप', उसका ग्रहण हम जैसे मानवों के एक बाह्येन्द्रिय (चक्षु) से ही होता है। 'विशेष गुण' को पहिचानने का एक नियम है—'जो गुण, 'सामान्य' का आश्रय हो और साधारण मनुष्य के एक बाह्येन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य हो'— उसे 'विशेषगुण' जानना चाहिये।

उपर्युक्त अनुमान में 'शब्द' तो पक्ष है, 'विशेषगुणत्व' साध्य है, और 'सामान्यवत्त्वे सति ··············ग्राह्यत्वात्'—यह हेतु है। 'रूप' आदि—दृष्टान्त है।

उक्त 'सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' हेतु में से 'सामान्यवत्त्वे सति' इस सत्यन्त पद को यदि हटा दें तो बचे हुए शेष अंश की 'रूपत्वादि सामान्य' में अतिव्याप्ति हो जायेगी। उस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'सामान्यवत्त्वे सति' कहना चाहिये। तब 'रूपत्व' स्वयं ही 'सामान्य' है, वह 'सामान्यवान्' नहीं है, क्योंकि 'सामान्य' (जाति) पर 'सामान्य' नहीं रहता है। एवं च 'रूपत्व', सामान्यवान् न होने से अतिव्याप्ति नहीं है। यदि केवल 'ग्राह्यत्वात्' इतना ही कहें तो 'परमाणु' आदि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वे 'अनुमान' से ग्राह्य हैं। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थं 'इन्द्रिय' पद का निवेश किया गया है। अब केवल 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही कहें तो 'घट-पट' आदि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि घट-पट आदि पदार्थ, 'इन्द्रियग्राह्य' हैं। अतः उस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'एक' पद कहा गया है, अर्थात् 'एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' कहना चाहिये। 'घट-पटादि' द्रव्यपदार्थ द्वीन्द्रिय (चक्षु और त्वक् से) ग्राह्य होते हैं। अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब केवल 'एकेन्द्रिय-ग्राह्यत्वात्' इतना ही यदि कहें तो एकेन्द्रियग्राह्य आभ्यन्तर 'आत्मा' भी होता है, इसलिये 'आत्मा' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'बाह्य' कहना चाहिये अर्थात् 'बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' कहना चाहिये। तब उतने मात्र से 'परमाणुओं' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वे परमाणु, योगियों के 'बाह्यैकेन्द्रिय' से ग्राह्य होते हैं। उस अतिव्याप्ति को हटाने के लिये 'अस्मदादि' कहना चाहिये। अर्थात् 'अस्मदादि-बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना कहना चहिये। तब वे, हम जैसे साधारण आदमियों के बाह्य-एकेन्द्रिय से ग्राह्य न हो सकने से उनमें अतिव्याप्ति नहीं हैं। अब यदि केवल सत्यन्त पद 'सामान्यवत्त्वात्' को ही कहें, शेष अंश न कहें तो 'आत्मा' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें 'सामान्यवत्त्व' है ही अर्थात् आत्मा में 'आत्मत्व' रहने से 'आत्मा' सामान्यवान् तो है ही। इसलिये उसमें अतिव्याप्ति हो रही है। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ सत्यन्त पद के अतिरिक्त 'शेष अंश' को भी कहना चाहिये। उसके रहने पर 'आत्मा' में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'आत्मा' अन्तरिन्द्रिय 'मनस्' से ग्राह्य होता है, वह बहिरिन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होता है। अतः 'सामान्यवत्त्वे सति अस्मादादि बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' यह सम्पूर्ण हेतु सार्थक है। इसमें एक शब्द भी निरर्थक नहीं है।

एवं च 'शब्दगुणक आकाश' एक है, विभु है, नित्य है, और वह शब्दलिङ्गक है।

शंका—'शब्द' तीव्र है, तीव्रतर है, तीव्रतम है—इस प्रकार शब्दभेद की प्रतीति होने से 'आकाश' में अनेकता की प्रतीति होती है। क्योंकि 'कारण' भेद पर ही 'कार्य' का भेद होता है। ऐसी स्थिति में 'आकाश' को 'एक' कैसे माना जा सकता है ?

समा०—'एकत्वेनैव उपपत्तेः' कहकर ग्रन्थकार ने उक्त शंका का समाधान किया है। आकाश को 'एक' मान लेने से ही उससे सम्बन्धित सभी व्यवहार उपपन्न हो

जाते हैं। उसके लिये आकाश को अनेक मानने की आवश्यकता नहीं है। 'शब्द' के तीव्र-तीव्रतर आदि जो भेद बताये गये हैं, उससे आकाश की अनेकता सिद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि आकाश में 'शब्द' के उत्पादक तो 'अभिघातादिसंयोगविशेष' हैं। उनके भेद से शब्द में तीव्र-तीव्रतरादि भेद हुआ करते हैं। 'आकाश' के एक होने से ही उसमें 'आकाशत्व' जाति भी नहीं होती है। 'जाति' तो 'नित्यत्वे सति अनेक-समवेत' हुआ करती है। इसलिये आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व—इन तीन धर्मों को जाति' रूप नहीं कहा जाता। क्योंकि अनेक व्यक्तियों में समवायसम्बन्ध से रहने वाला जो नित्य धर्म है—उसी को 'जाति' कहते हैं। आकाश, काल, दिक्—इन तीनों द्रव्य, पृथिवी आदि द्रव्यों के समान अनेकव्याक्तिरूप नहीं हैं। पृथिवी आदि द्रव्य तो अनेक-व्यक्ति रूप हैं। इसीलिये पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व, आत्मत्व, मनस्त्व—ये छह धर्म, पृथिवी आदि द्रव्यपदार्थों के अनेक व्यक्तिरूप होने से उनमें समवेत होते हैं। अतः वे 'जाति' रूप कहलाते हैं। निष्कर्ष यह है कि एक धर्मप्रकारक जो एकाकार प्रतीति होती है, वही 'जाति' की साधक हुआ करती है। जैसे—अनेक घट-व्यक्तियों में 'अयं घटः, अयं घटः' करके एक घटत्वधर्मप्रकारक एकाकार प्रतीति होने से ही वह सभी घटों में 'घटत्व' जाति की साधक बन जाती है। वह एकाकार प्रतीति अनेकव्यक्तियों में ही होती है, एकव्यक्ति में कदापि नहीं होती। अतः एकाकार प्रतीति रूप साधक के न रहने से 'आकाशत्व' आदि धर्म जाति रूप नहीं हैं। अपितु 'उपाधिरूप' हैं। 'जाति' से 'भिन्न धर्म' को 'उपाधि' कहते हैं।

आकाश को विभु कहा गया है, क्योंकि 'एकत्वे सति सर्वत्र कार्योपलब्धेः'। 'शब्द' का समवायिकारण 'आकाश' है। 'शब्द', तो उसका (आकाश का) कार्य है। उस शब्द की उपलब्धि सर्वत्र होती है। एक ही समय में अनेक स्थानों पर शब्दों की उपलब्धि तभी हो सकती है, जब 'शब्द' का आश्रय सर्वत्र विद्यमान रहे, क्योंकि 'गुणी' के बिना 'गुण' नहीं रहता है—यह नियम है। अतः 'शब्द' का आश्रय सर्वत्र विद्यमान है—यह मानना ही होगा। आकाश को 'विभु' और 'एक' बताया गया है। उसके 'विभुत्व' में 'एकत्वे सति सर्वत्र कार्योपलब्धेः' यह हेतु प्रदर्शित किया गया है। उसी प्रकार आकाश की 'नित्यता' में 'विभुत्वात्' हेतु है। जो 'द्रव्य' विभु होते हैं, वे 'नित्य' हुआ करते हैं, जैसे—'आत्मा' विभु है, इसीलिये वह 'नित्य' भी है।

'आकाश' का प्रत्यक्ष न होने पर भी उसकी 'सत्ता' का अनुमान 'शब्द' नामक लिंग (हेतु) के द्वारा किया जाता है। इस अनुमान को 'परिशेषानुमान' कहा गया है। इस परिशेषानुमान के तीन अंग बताये जाते हैं—(१) जो प्रसक्त (प्राप्त) होता है, उसका प्रतिषेध किया जाता है,—इसे 'प्रसक्त प्रतिषेधे' से बताया गया है। (२) प्राप्त हुए पदार्थों से भिन्न पदार्थों में प्रसंग (प्राप्ति) ही नहीं है यह प्रदर्शित किया जाता जाता है—इसे 'अन्यत्र अप्रसङ्गात्' से बताया गया है, (३) जो शेष

बचा रहता है, उसमें होने का निश्चय कर लिया जाता है—इसे 'शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः' से कहा गया है। इस रीति से 'शब्द गुणाश्रय' के अनुमान का प्रयोग इस प्रकार किया गया है—'शब्दः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा रूपम्'—अर्थात् 'शब्द गुण', पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न किसी 'द्रव्य' के आश्रित होने योग्य है, पृथिवी आदि आठ द्रव्यों के अनाश्रित हुआ किसी द्रव्य के आश्रित होने से। यह कह कर बता रहे हैं कि 'शब्द' के आश्रयरूप में पृथिव्यादि आठ द्रव्य प्रसक्त (प्राप्त) होते हैं। 'आकाश' तो अभी 'साध्य' ही है, इसलिये वह प्रसक्त (प्राप्त) नहीं है। इस तरह प्रसक्त हुए पृथिव्यादि आठों द्रव्य, 'शब्द' गुण के आश्रय नहीं बन सकते—यह प्रदर्शित करना ही 'प्रसक्तप्रतिषेध' है। निष्कर्ष यह है कि 'रूपादि गुणों' की तरह 'शब्द' भी गुण है। अतः वह भी किसी 'द्रव्य' के आश्रित होने योग्य है। रूपादि गुणों की तरह 'शब्द' में भी पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों का आश्रितत्व प्राप्त हुआ था, किन्तु 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति' कह कर उसका निषेध किया गया है। और 'शब्द' में गुण-कर्मादि पदार्थों के 'आश्रितत्व' की तो प्राप्ति है ही नहीं। अतः परिशेषतः 'आकाश' रूप द्रव्य का आश्रितत्व 'शब्द' में मानना पड़ता है। यह 'आकाशाश्रितत्व' ही अनुमिति का विषय है। इस प्रकार 'परिशेषानुमान' से 'आकाश' की सिद्धि की गई है।

कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः। संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवान्। एको नित्यो विभुश्च। कथमस्य दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयत्वम्। उच्यते। सन्निहिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते। व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्विपरीतमपरत्वम्। तदिदं तत्तद्विपरीतं परत्वमपरत्वञ्च कार्यं तत्कारणस्य दिगादेरसम्भवात् कालमेव कारणमनुमापयति। स चैकोऽपि वर्तमानातीतभविष्यत्क्रियोपाधिवशाद् वर्तमानादिव्यपदेशं लभते। पुरुष इव पच्यादिक्रियोपाधिवशात् पाचक-पाठकादिव्यपदेशम्। नित्यत्वविभुत्वे चास्य पूर्ववत्।

(६) कालनिरूपण—

काल इति। दिग्विपरीत अर्थात् 'दिशा' के 'परत्व-अपरत्व' से भिन्न जो 'परत्व-अपरत्व' हैं, उनके द्वारा 'काल' का अनुमान किया जाता है। वह (अनुमेय काल) (१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग और (५) विभाग—इन पाँच गुणों का आश्रय है। और वह (काल) एक, नित्य तथा विभु है।

प्रश्न—कथमिति। उस 'काल' का 'दिग्विपरीत परत्वाऽपरत्व' से अनुमान कैसे किया जाता है ?

उत्तर—उच्यत इति। उत्तर दे रहे हैं—समीप में ही स्थित कोई 'वृद्ध पुरुष',

दूरी पर (दूर स्थान में) स्थित 'तरुण पुरुष' की अपेक्षा समीप स्थित होने के कारण 'दिशा' की दृष्टि से यद्यपि 'अपर' कहलाने योग्य है यानी दैशिक 'अपरत्व' का पात्र है, तथापि उस 'वृद्ध पुरुष' में 'तरुण' (युवा) पुरुष की अपेक्षा उस 'अपरत्व' के विपरीत 'परत्व' की प्रतीति होती है। इसी तरह दूर स्थान पर स्थित 'तरुण पुरुष' (युवा पुरुष), समीप के स्थान पर स्थित 'वृद्ध पुरुष' की अपेक्षा दूरी पर स्थित होने के कारण दिशा की दृष्टि से दैशिक 'परत्व' का पात्र है, तथापि 'वृद्ध पुरुष' की अपेक्षा उस 'युवा पुरुष' में 'अपरत्व' की प्रतीति होती है।

तदिदमिति। समीप में स्थित वृद्ध पुरुष और दुरीपर स्थित युवा पुरुष में प्रतीयमान होने वाले इस दैशिक 'परत्व और अपरत्व' के विपरीत जो यह परत्व तथा अपरत्व है, वह 'कार्य' है। उस (कार्य) का, कारण 'दिशा' आदि तो हो नहीं सकते। क्योंकि यदि इस कार्य का कारण 'दिशा' होती तो समीपस्थ वृद्ध में दूरस्थ युवा की अपेक्षा 'परत्व' और दूरस्थ युवा में, समीपस्थ वृद्ध की अपेक्षा 'अपरत्व' प्रतीत न हुआ होता। इसलिये इस 'परत्व और अपरत्व' कार्य का 'दिशा' से अतिरिक्त (भिन्न) अन्य कोई कारण अवश्य होगा। वही 'काल' पदार्थ है। एवं च परत्वापरत्वरूप कार्य, अपने कारण के रूप में 'काल' का ही अनुमान कराता है। **स चेति**। यद्यपि वह 'काल' एक है, तथापि वर्तमान भूत, भविष्यत् क्रिया की उपाधि के कारण 'वर्तमानादि' व्यवहार को प्राप्त करता है।

पुरुष इति। जैसे—एक ही पुरुष, 'पचन क्रिया' की उपाधि से 'पाचक' और 'पठन क्रिया' की उपाधि से 'पाठक' आदि व्यवहार (व्यपदेश) को प्राप्त होता है। 'काल' की 'नित्यता' और 'विभुता' पूर्ववत् अर्थात् 'आकाश' के समान ही समझनी चाहिये।

माधुरी

द्रव्यगणना में यह 'काल' षष्ठ द्रव्य है। दिग् विपरीत (दिङ् मूलक जो नहीं है ऐसे) परत्व-अपरत्व, से उसका अनुमान किया जाता है, अतः वह (काल) अनुमेय है। 'काल' को हम दिग्विपरीत 'परत्व-अपरत्व' का कारण दो-प्रकार से कह सकते हैं। उनमें से (१) दिग्विपरीत परत्वापरत्व के असमवायिकारण बनाकर अथवा (२) निमित्तकारण बनाकर। क्योंकि 'दिग्विपरीत परत्वापरत्व' एक-एक भावात्मक कार्य है 'भावात्मक कार्य की उत्पत्ति सर्वदा समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण से हुआ करती है'—यह नियम है। उपर्युक्त उदाहरण में प्रदर्शित जो 'वृद्ध पुरुष' और 'युवा पुरुष' है, उनमें तो 'दिग्विपरीत परत्वापरत्व' के 'समवायिकारण' की प्रतीति होती है तथा उक्त दोनों पुरुषों के साथ जो 'काल' का संयोग है, उसमें 'दिग्विपरीत परत्वापरत्व' के 'असमवायिकारणता' की प्रतीति होती है, और 'वृद्ध-

पुरुष' में 'रविक्रिया' का बहुतर सम्बन्ध तथा 'युवापुरुष' में रविक्रिया का जो अल्पतर सम्बन्ध है, उसमें 'निमित्त कारणता' की प्रतीति होती है।

'काल' को यदि हम एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते हैं तो दिग्विपरीत परत्वापरपत्व के असमवायिकारण तथा निमित्तकारण की उपपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि 'वृद्ध और युवा पुरुष' के साथ 'रविक्रिया' का 'साक्षात् सम्बन्ध' नहीं होता है, अपितु 'स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग' रूप 'परम्परासम्बन्ध' है। यह परम्परासम्बन्ध भी, 'काल' को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने पर कभी संभव नहीं हो सकता है। उक्त परम्परासम्बन्धघटक जो 'स्व' शब्द है, उससे 'रविक्रिया' का ग्रहण करना चाहिये, उसका आश्रय (रविक्रिया का आश्रय) होगा 'रवि', उससे संयुक्त होगा 'काल', उस काल का संयोग होगा उक्त दोनों पुरुषों के साथ। इस रीति से दोनों पुरुषों के साथ 'रविक्रिया' का सम्बन्ध परम्परया हो पाता है, साक्षात् नहीं। इस स्थिति में यदि 'काल' को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में न माना जाय तो उक्त परम्परा सम्बन्ध, उन पुरुषों के साथ कैसे संभव हो सकेगा? तब उन में परत्वापरत्व (छोटे-बड़े) का व्यवहार कथमपि नहीं हो पायेगा।

प्रश्न—ऊपर प्रदर्शितरूप में असमवायिकारण और निमित्तकारण न मानकर यदि हम दोनों पुरुषों के साथ रहने वाले दिक्, आकाश, आत्मा के 'संयोग' को 'असमवायिकारण' मान लेंगे और रविक्रिया का उन दोनों पुरुषों के साथ जो **स्वाश्रय** (रवि) **संयुक्त** (दिक्, आकाश, आत्मा) संयोग सम्बन्ध है, उसके ज्ञान को ही 'निमित्तकारण' मान लेंगे, तब भी दोनों पुरुषों में 'परत्व-अपरत्व (छोटे-बड़े) का व्यवहार किया जा सकता है। इसलिये असमवायिकारण और निमित्तकारणता के उपपत्त्यर्थ एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में 'काल' को मानने की कौन-सी आवश्यकता है?

समा०—उक्त कल्पना इसलिये उचित नहीं है कि असमवायिकारणता तथा निमित्तकारणता के उपपत्त्यर्थ 'दिक्' को आधार माना जायगा तो उन से उत्पन्न होने वाले 'परत्वापरत्व' को 'दिग्विपरीत' नहीं कह सकेंगे। यदि 'आकाश' और 'आत्मा' के आधार पर उन कारणों को कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि वैसा मानने पर 'दिक्' को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। कारण यह है कि दिङ्मूलक 'परत्वापरत्व' की असमवायिकारणता और निमित्तकारणता भी उन्हीं के आधार पर हो जायगी। तब दिङ्मूलक परत्वापरत्व में और दिग्विपरीत परत्वापरत्व में भेद रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रहेगा। एवं च दिग्विपरीत परत्वापरत्व के उक्त दोनों कारणों की उपपत्ति के लिये 'काल' को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करना ही होगा।

कुछ ग्रन्थों में 'काल' के तीन प्रकार के लक्षण किये हैं—(१) 'विभुत्वे सति दिगसमवेत-परत्वासमवायिकारणाधिकरणं कालः' । (२) परत्वानाश्रयत्वे सति विजातीयपरत्वासमवायिकारणसंयोगाश्रयः कालः' । (३) अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः' । प्रथमलक्षण का अर्थ यह है—जो 'द्रव्य' विभु होता हुआ 'दिशा' में असमवेत 'परत्व' के असमवायिकारण का अधिकरण होता है, उस 'द्रव्य' को काल कहते हैं। उक्त 'लक्षण' का 'लक्ष्य' में समन्वय—कनिष्ठभ्राता में जो कनिष्ठता है, और ज्येष्ठ-भ्राता में जो ज्येष्ठता है, वह 'कालिक परत्वापरत्व' के कारण ही है। कनिष्ठभ्राता की अपेक्षा ज्येष्ठभ्राता में जो 'कालिकपरत्व' है, उस 'परत्वगुण' का 'समवायि-कारण'—ज्येष्ठभ्राता का 'शरीर' है, और ज्येष्ठभ्राता के शरीर के साथ 'काल' का जो संयोगसम्बन्ध है, वह उस 'परत्व' का 'असमवायिकारण' है। वह 'संयोगरूप असमवायिकारण' 'दिशा' में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, किन्तु उस ज्येष्ठभ्राता के 'शरीर' में तथा 'काल' में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिये 'परत्व' के असमवायिकारण रूप 'संयोग' का आधार 'काल' है, और वह 'विभु' भी है। अतः 'काल' के उक्त लक्षण का समन्वय, लक्ष्य में होता है। ज्येष्ठभ्राता के 'शरीर' में लक्षण की अतिव्याप्ति के निरसनार्थ 'विभुत्वे सति' कहा गया है। तथा 'दिशा' में लक्षण की अतिव्याप्ति के निरसनार्थ 'दिगसमवेत' कहा गया है। अन्यथा समीप रखे हुए 'घट' की अपेक्षा कहीं दूर जगह में रखे हुए 'घट' में दैशिकपरत्व है। उस परत्व का समवायिकारण वह 'घट' है; और उस 'घट' के साथ 'दिशा' का जो संयोग सम्बन्ध है, वह उस परत्व का असमवायिकारण है। उस 'संयोग' का अधिकरण वह 'दिशा' भी है। और वह 'विभु' भी है। अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। उसका निवारण 'दिगसमवेत' कहने से हो जाता है। 'घट' के साथ 'दिशा' का जो संयोग सम्बन्ध है, वह यद्यपि 'घट' में स्थित 'परत्व' का असमवायिकारण है, तथापि वह 'संयोग' उस 'दिशा' में 'असमवेत' नहीं है। अपितु उस 'दिशा' में वह 'समवाय-सम्बन्ध' से रहता है। इस कारण 'दिशा' में अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

अब उक्त लक्षण में यदि 'परत्व' पद न दें तो 'आत्मा' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'आत्मा' के साथ 'मन का' जो संयोगसम्बन्ध है, वह, 'आत्मा' में रहने वाले 'ज्ञानादि' गुणों का 'असमवायिकारण' है, और वह 'संयोग' आत्मा तथा मन में समवायसम्बन्ध से रहता भी है, 'दिशा' में नहीं रहता। इसलिये असमवायिकारण रूप जो 'आत्म-मनःसयोग' है वह 'दिशा' में असमवेत भी है। ऐसे संयोगरूप असमवायि-कारण का अधिकरण 'आत्मा' है, और वह (आत्मा) विभु भी है। इसलिये लक्षण की उस में (आत्मा में) अतिव्याप्ति हो जाती है, किन्तु 'परत्व' पद के रखने पर वह 'आत्ममनः संयोग' यद्यपि 'ज्ञानादि गुणों' का असमवायिकारण है, तथापि 'परत्व' का 'असमवायिकारण' नहीं है। इसलिये 'संयोग' की 'अधिकरणता' को लेकर अब

अतिव्याप्ति नहीं दी जा सकती है। एवं च उक्त लक्षण का प्रत्येक पद सार्थक है और लक्षण भी निर्दुष्ट है।

कुछ विद्वानों ने 'काल' का लक्षण इस प्रकार किया है--'परत्वानाश्रयत्वेति विजातीयपरत्वासमवायिकारणसंयोगाश्रयः कालः'। अर्थात् 'परत्वापरत्व' ये दोनों गुण—'पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन'—इन पाँच मूर्तद्रव्यों में ही रहते हैं। 'आकाश, काल, दिक्, आत्मा'—इन चार विभुद्रव्यों में उक्त दोनों 'परत्व-अपरत्व' गुण नहीं रहते। इस कारण 'काल', उस 'गुण का अनाश्रय भी है। कनिष्ठभ्राता की अपेक्षा ज्येष्ठभ्राता में 'विजातीय परत्व' रहता है। अर्थात् यह 'कालिक परत्व' उस 'दैशिकपरत्व' से विलक्षण है। ज्येष्ठभ्राता के शरीर के साथ 'काल' का जो संयोग सम्बन्ध है, वह 'विजातीय परत्व' का असमवायिकारण है। उस 'संयोग' का आश्रय 'काल' होने से 'काल' में लक्षण समन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में 'परत्वानश्रयत्वे सति' न कहने पर 'ज्येष्ठ शरीर' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'ज्येष्ठ शरीर' में स्थित जो 'कालिक परत्व' है, उसका 'असमवायिकारण', उस शरीर के साथ रहने वाला 'कालिकसंयोगसम्बन्ध' है। उस संयोगसम्बन्ध की आश्रयता जैसे काल में है, वैसे ही उस ज्येष्ठ-शरीर में भी है। इस कारण ज्येष्ठ-शरीर में लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है, उसके निवारणार्थ लक्षण में 'परत्वानाश्रयत्वे सति' कहना आवश्यक है। तव 'ज्येष्ठ शरीर' उस 'परत्व-गुण' का अनाश्रय नहीं अपितु 'परत्वगुण' का आश्रय ही है। इसलिये अब लक्षण की अतिव्याप्ति 'ज्येष्ठ-शरीर' में नहीं हो रही है। अब लक्षण में 'विजातीय' पद यदि न दें, तो 'दिशा' में काल के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि समीपदेश-वृत्ति 'घट' की अपेक्षा दूर देश में स्थित 'घट' में रहने वाला जो 'दैशिकपरत्व' है, उस 'परत्व' का 'असमवायिकारण', उस घट के साथ रहने वाला 'दिशा का संयोग-सम्बन्ध' है। उस संयोगसम्बन्ध की आश्रयता 'दिशा' में भी है, और वह 'दिशा' उस 'परत्वगुण' का अनाश्रय भी है। इसलिये लक्षण की 'दिशा' में अतिव्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'विजातीय' पद रखना आवश्यक है। तब 'कालिक परत्व' में जो 'दैशिकपरत्व' से विलक्षणता है, वही 'परत्व' में 'विजातीयता' है। ऐसी 'विजातीयता' उस 'दैशिकपरत्व' में नहीं है, अपितु 'कालिकपरत्व' में ही है। इसलिये 'दिशा' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति अब नहीं हो पायगी।

उसी तरह 'विजातीय परत्व' पद के न रखने पर 'आत्मा' में भी अतिव्याप्ति हो सकती है। क्योंकि 'आत्मा' परत्व गुण का अनाश्रय भी है, और आत्मवृत्ति ज्ञानादि-गुणों का असमवायिकारण जो 'आत्म-मनःसंयोग' है, उसका आश्रय भी है। अतः 'परत्वानाश्रयत्वे सति असमवायिकारण-संयोगाश्रय' होने से 'आत्मा' में अतिव्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थ 'विजातीय परत्व' पद का निवेश करना आवश्यक है।

तब 'आत्म-मनःसंयोग' यद्यपि 'ज्ञानादिगुणों' का असमवायिकारण है, तथापि वह 'विजातीयपरत्व' का असमवायिकारण नहीं है। अतः 'आत्मा' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। एवं च द्वितीय लक्षण में भी सभी 'पद' सार्थक हैं, कोई निरर्थक नहीं है। और दोष रहित रहने से लक्षण भी ठीक है।

श्री अन्नम्भट्ट ने 'काल' का लक्षण 'अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः' किया है। अर्थात् 'अतीत, भविष्यत्, वर्तमान'—इस प्रकार के व्यवहार का जो हेतु है, उसे 'काल' कहते हैं।

उक्त लक्षण में स्थित 'हेतु' शब्द से 'असाधारण निमित्तकारण' ही विवक्षित है। 'समवायिकारण अथवा असमवायिकारण अथवा निमित्तकारण' विवक्षित नहीं है। अतः अतीतादि व्यवहारों की 'असाधारण निमित्तकारणता' केवल 'काल' में ही होती है। दूसरे किसी पदार्थ में नहीं। अतः लक्षण समन्वय 'काल' में हो जाता है।

'काल' का कोई उद्भूतरूप या उद्भूतस्पर्श न होने से उसके अस्तित्व में 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' तो हो नहीं सकता। इसलिये 'अनुमान प्रमाण' से 'काल' के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। अनुमान प्रमाण के अतिरिक्त श्रुति-स्मृति के वचनों से भी 'काल' की सिद्धि होती है। श्रुति कहती है—'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः'—समस्त जन्यपदार्थों के आयु की संख्या करने से उसे 'काल' कहा जाता है। तथा स्मृति भी कहती है—'कालः कलयतामहम्'—समस्त जन्य पदार्थों के आयु की संख्या कराने वालों के मध्य, मैं 'काल' हूँ। 'काल' में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग—ये पाँच गुण रहते हैं। तथा वह 'काल' विभु और नित्य है। और आकाश के समान वह 'एक' है।

शंका—'काल' में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले जो 'द्वित्व' द्विपृथक्त्व, संयोग, विभागादि गुण हैं, उनके प्रति 'काल' समवायिकारण ही है और 'निमित्त-कारण' तो उसे कहा जाता है, जो 'समवायिकारण, असमवायिकारण'—दोनों कारणों से भिन्न कारण होता है। इसलिये उन द्वित्वादि गुणों के प्रति 'समवायि-कारणरूप काल' को 'निमित्तकारण' तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु उन द्वित्वादि-गुणों को छोड़ कर अन्य कार्यमात्र में 'काल' को निमित्तकारण कहा जा सकता है। अतः कार्यमात्र के प्रति 'काल' को निमित्तकारण कहना ठीक नहीं है।

समा०—समस्त कार्यमात्र के प्रति 'काल' को जो निमित्तकारणता कही गई है, वह 'कालिकसम्बन्ध' से ही कही गई है। इसलिये स्ववृत्ति द्वित्वादिकों के प्रति समवाय-सम्बन्ध से 'काल' में 'समवायिकारणता' के रहने पर भी 'कालिक सम्बन्ध' से उनके प्रति 'काल' को निमित्तकारण कहने में कोई बाधक नहीं है। अतः 'काल', सर्वकार्यमात्र के प्रति 'कालिकसम्बन्ध' से निमित्तकारण ही है।

शंका—'काल' के भेद का स्वीकार करने में कोई प्रमाण न होने से वह 'एक'

है—यह जो कहा गया है, वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि 'अतीत, वर्तमान, भविष्यत्, क्षण, पल, घड़ी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, महिना, ऋतु, अयन, संवत्सर'—इत्यादि कालभेद का अनुभव सभी को होता है। अत: लोकानुभव के बलपर 'काल' का भेद ही सिद्ध होता है। इसलिये 'काल' को एक कहना उचित नहीं है, उसे नाना (अनेक) मानना चाहिये।

समा०—जैसे एक ही देवदत्तादि व्यक्ति, पचन क्रिया, पठन क्रिया आदि 'उपाधि' के भेद से 'पाचक, पाठक' आदि नामों से कहा जाता है, वैसे ही भेद से रहित 'एक' ही काल, अनेक उपाधियों के भेद से 'अतीत' आदि अनेक संज्ञाओं (नामों) से कहा जाता है। प्राचीन नैयायिकों के मत से **'रविक्रिया'** ही उस 'एक काल' की उपाधि है। और नवीन नैयायिकों के मत से **'जन्यवस्तुमात्र'** ही उस 'एक काल' की उपाधि है। निष्कर्ष यह है कि पूर्वव्यतीत हुई रविक्रिया रूप विशेषण से विशिष्ट हुआ जो काल है—उसे अतीतकाल कहते हैं।

अतएव अतीतकाल का लक्षण यह किया जाता है—**'वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वमतीतत्वम्'**—अर्थात् इदानीं काल में वर्तमान जो ध्वंस, उस ध्वंसं की प्रतियोगिता को ही 'अतीत' कहते हैं। जैसे—इस वर्तमानकाल से पूर्व जितनी भी 'रविक्रिया' उत्पन्न होकर नष्ट हुई हैं, तथा जितने भी जन्य पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हुए हैं, उन सभी क्रियाओं का ध्वंस तथा उन सभी जन्यपदार्थों का ध्वंस, इस वर्तमानकाल में विद्यमान है। उस वर्तमान ध्वंस की प्रतियोगिता, उन क्रियाओं में तथा उन जन्यपदार्थों में रहती है। यही (प्रतियोगिता) उन क्रियाओं की तथा उन जन्यपदार्थों की 'अतीतता' है।

वर्तमान का लक्षण—**'स्वध्वंसप्रागभावानधिकरणकालवृत्तित्वं वर्तमानत्वम्'**—अर्थात् उस क्रिया के तथा जन्यपदार्थ के ध्वंस का तथा प्रागभाव का अनधिकरणभूत जो काल है, उस काल में उस क्रिया की तथा उस जन्यपदार्थ की जो विद्यमानता है, वही उस क्रिया की तथा जन्यपदार्थ की 'वर्तमानता' है। अभिप्राय यह है—उत्पत्तिक्षण से लेकर विनाशक्षण तक जितने काल में वह क्रिया तथा वह जन्यपदार्थ विद्यमान है, उतना काल, उस क्रिया के तथा उस जन्यपदार्थ के प्रागभाव का अधिकरण नहीं है, क्योंकि उस 'क्रियारूप' प्रतियोगी की तथा उस 'जन्यपदार्थरूप' प्रतियोगी की उत्पत्ति से उस क्रिया का प्रागभाव तथा उस जन्यपदार्थ का प्रागभाव नष्ट हो गया है और वह काल उस क्रिया के तथा उस जन्यपदार्थ के प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण नहीं है। उस कारण उस क्रिया का तथा जन्यपदार्थ का जो प्रध्वंसाभाव, अग्रिम विनाशक्षण में उत्पन्न होने वाला है, उस स्व-ध्वंस के तथा स्व-प्रागभाव के अनधिकरणभूत काल में उस क्रिया की तथा उस जन्यपदार्थ की विद्यमानता है, वही उस क्रिया की तथा उस जन्यपदार्थ की 'वर्तमानता' है।

भविष्यत् काल का लक्षण—**'वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वं भविष्यत्त्वम्'**। अर्थात् जो क्रिया तथा जो जन्यपदार्थ इस वर्तमानकाल के बाद (आगे) उत्पन्न होने वाले हैं, उस क्रिया का तथा उस जन्यपदार्थ का इस वर्तमानकाल में प्रागभाव है। उस वर्तमान प्रागभाव की प्रतियोगिता, उस क्रिया में तथा उस जन्यपदार्थ में है। यही उस क्रिया की तथा जन्यपदार्थ की 'भविष्यत्ता' है। एवं च जिस प्रकार **'एक ही काल'**, का उक्त क्रियादिरूप उपाधि के भेद से **अतीत, वर्तमान, भविष्यत्'** इन व्यवहारों का विषय होता है, उसी तरह **'एक ही काल'** उस क्रियादिरूप उपाधि के सम्बन्ध से 'क्षणादि' व्यवहार का भी विषय होता है। अतः 'कालभेद' औपाधिक है। वस्तुतः **'काल'** एक ही है।

षड्दर्शनों के अतिरिक्त महावैयाकरण भर्तृहरि एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'काल'-तत्त्व पर बहुत गंभीर विचार किया है। भारतीय वैयाकरणों ने **'लकार'** की कल्पना एवं पाश्चात्य वैयाकरणों ने 'टेन्स' की कल्पना की है। किसी **'क्रिया'** तथा **'आख्यात'** के विचारार्थ 'लकार' की या 'टेन्स' की आवश्यकता होती है। यह 'लकार' या 'टेन्स' ही 'काल' को सूचित करते हैं। 'क्रिया' की महान् शक्ति यह 'काल' ही है अत एव भर्तृहरि ने 'क्रियासमुद्देश' के अनन्तर 'कालसमुद्देश' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। 'क्रिया' में 'क्रमरूपता' रहती है, उस क्रमरूपता का निष्पादक 'काल' होता है। 'लकार' और 'काल' दोनों के ग्यारह भेद वैयाकरणों को मान्य हैं। कोई भी 'क्रिया' ग्यारह लकारों विभक्त रहती है। और 'भूत, भविष्यत्, वर्तमान' के रूप में तीन कालों से उसका सम्बन्ध रहता है। उनमें से पाँच का सम्बन्ध तो भूतकाल से, चार का सम्बन्ध भविष्यत् से, और दो का सम्बन्ध वर्तमान से रहता है। तथापि 'क्रिया' एक ही रहती है। तात्पर्य यह है कि सभी लकार 'काल' की ही परिधि में हैं। प्रत्येक की बुद्धि में कुछ 'भाव' स्थित रहते हैं, और वे 'काल' के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। अर्थात् 'काल' के भीतर 'भावों' का प्रतिविम्ब दीखने लगता है वाक्यपदीय के व्याख्याकार श्रीहेलाराज ने स्पष्ट कहा है कि 'अनुभूत स्मर्यमाण अवस्था' ही 'भाव' हैं। यद्यपि 'क्रिया' एक ही है, तथापि उसके विविध रूपों को पानी के 'रहट' की आवर्तन गति के अनुसार यह काल निरन्तर घुमाता रहता है अथवा उन रूपों को खण्डित करता रहता है। अतएव 'क्रियाभेदाय कालस्तु', 'कालो भेदाय कल्पते' कहा गया है उनका 'खण्डित रूप' दिखाई देने पर भी उनको 'अखण्डरूप' में देखने की शक्ति इस 'काल' के द्वारा ही प्राप्त होती है। इसी लिये उसे 'काल' कहा जाता है। अतएव 'कलनात् कालः' कहा गया है। वह 'काल' अखण्ड है और एक है। उसकी अखण्ड सत्ता (अखण्ड प्रवाह) रहने पर भी उसके 'प्रवाह' की दो अवधियाँ (सीमाएँ) भर्तृहरि ने बताई हैं। उन दो अवधिविन्दुओं को चाहे 'जन्म, नाश' कहो अथवा 'बन्ध, मोक्ष' कहो चाहे 'प्रतिबन्ध, अभ्यनुज्ञा'

कहो, किसी शब्द से उन दो बिन्दुओं को कहा जा सकता है। इसी के माध्यम से सम्पूर्ण लोक व्यवहार चलता रहता है। अन्यथा लोकव्यवहार ही उच्छिन्न हो जायगा। कालपरिच्छेद के निमित्त, उसके अवधिभूत दो बिन्दुओं को मानने पर भी उसके अखण्ड प्रवाह में (निरन्तर गति) में कोई बाधा नहीं होती है। उसकी एकता, तीनों कालों में स्थिर बनी रहती है। हमें लाभ इतना ही होता है कि उसके अवधिभूत दो बिन्दुओं को कल्पित करने पर उसके (काल के) अखण्ड प्रवाह में विभाग, को उसके अवयवों को और उसके क्रम को हम देख पाते हैं। जैसे अखण्ड शरीर के अवयव होते हुए भी, वे स्वतन्त्र नहीं माने जाते हैं। वैसे ही अखण्ड एक नित्य 'काल' के दो बिन्दुओं के कारण उसका विभाजन या उसका सावयवत्व आपाततः दीखने पर भी उसकी अखण्डता आदि में कोई हानि नहीं होती।

इसी प्रकार संगीतशास्त्र के आचार्यों ने भी 'काल'तत्त्व पर बहुत चिन्तन-मनन किया और उसकी अभिव्यक्ति करने में वे अन्यान्य 'कालचिन्तक दार्शनिकों' से अग्रसर सिद्ध हुए। संगीतज्ञों ने सूक्ष्म से भी सूक्ष्मरूप में 'काल' की अनुभूति की और करवाई।

'काल' की मूल धारणा तीन रूपों में चली आ रही है। पहली धारणा में 'काल' के स्वरूप को 'दैवी' अर्थात् 'शक्ति' के रूप में माना गया है। इसीलिये भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि 'कालः कलयतामहम्', 'अहमेवाक्षयः कालः' तथा महाकाल को मृत्यञ्जय का ही स्वरूप कहा जाता है। महाकाल को यमराज का ही स्वरूप कहते हैं। 'जन्म' यानी **आरम्भ** और 'मृत्यु' यानी **अन्त**—इन दो बिन्दुओं के मध्य में ही सम्पूर्ण प्राणियों के आयु की लीला होती है। दोनों 'बिन्दु' मानवीय-पकड़ से परे हैं, अतएव यह उसका '**दैवीस्वरूप**' कहा जाता है। कोई भी मनुष्य, अपने भावी जन्म के काल और स्थान (देश) को तथा अपनी मृत्यु की विधा, काल एवं स्थान को नहीं जान पाता। वे दोनों मानवीय अधिकार के परे हैं। वे केवल दार्शनिक चिन्तन-मनन के ही विषय बने रहते हैं। किन्तु संगीतशास्त्र के आचार्यों ने 'सशब्द' और 'निःशब्द' क्रियाओं के माध्यम से उन 'दोनों बिन्दुओं' को अभिव्यक्त कर दिया है क्योंकि यह 'काल' बहुत बड़ी शक्ति के रूप में है। इसलिये उसकी मापक इकाइयाँ भी 'काल' का ही स्वरूप हुआ करती हैं। संगीत में हम इन इकाइयों को 'ताल' की मात्राओं के रूप में देखते हैं। वे संयुक्त हो कर ही 'ताल' के स्वरूप को बनाती हैं। तब गायक उस 'काल' को एक कालखण्ड की आवर्तक गति में मापता चला जाता है। अखण्डता में भी खण्ड-खण्ड के रूप में 'काल' का प्रत्यक्ष होता रहता है, क्योंकि इतनी बड़ी विस्तृत शक्ति को देखने की शक्ति इन्द्रियों में नहीं है जैसे हम कपड़े को नापते हैं तो छोटी से छोटी इकाई से नापते हैं। स्थूल को स्थूल से और सूक्ष्म को सूक्ष्म से ही नापा जाता है। संगीत में काल की छोटी से छोटी इकाई पाँच लघु अक्षर से लेकर दस लघु अक्षर के काल तक मानी जाती है।

निष्कर्ष यह है कि क्रिया के माध्यम से या खण्ड-खण्ड के रूप में काल की उपस्थिति हमारे सामने हुआ करती है। क्रिया के विना 'काल' की सत्ता नहीं दिखाई देती, और 'क्रिया' किसी चेतन के द्वारा ही की जाती है। अतः वर्णों में गुरुत्व-लघुत्व रूप जो काल की शक्ति है, वह चेतन शक्ति को पाकर ही अभिव्यक्त होती है। काल का यह स्वरूप कहीं दिशा के रूप में तो कहीं शब्द के रूप में, कहीं स्वर के रूप में और कहीं प्रकाश के रूप में दिखाई देता है। काल के ही क्रियात्मक और गुरुत्व रूपों को हम 'ताल' के आवर्तन में प्रतिष्ठित गीत, वाद्य और नृत्य के स्वरूप में देख पाते हैं।

काल के दैवी और क्रियात्मक रूप के अतिरिक्त एक अन्य रूप का भी दर्शन लोकव्यवहार में हम करते हैं। उसे हम क्रमता या संख्या के नाम से कहते हैं। काल हमेशा किसी क्रिया अथवा क्रमता के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। वह क्रिया अथवा क्रमता किसी संख्या अथवा संख्येय के माध्यम से प्रत्यक्ष होती है। अतएव ताल के खण्डों में संख्या और संख्येय का स्वरूप हमारे सामने आता है।

जैसे 'त्रिताल' की 'सोलह मात्राएँ' होती हैं। उनमें चार-चार मात्राओं के चार खण्ड बराबरी के किये जाते हैं। किसी खण्ड में भी अन्य खण्डों की अपेक्षा न्यूनता या अधिकता नहीं रहती। इन चार-चार मात्राओं के चार खण्डों में से 'तीन खण्डों' के काल का स्वरूप 'सशब्दक्रिया' के द्वारा और 'एक खण्ड' के काल का स्वरूप 'निःशब्द क्रिया' के द्वारा हमारे सामने आता है। अर्थात् पहिली मात्रा, पाँचवीं मात्रा और तेरहवीं मात्रा पर गायक, वादक लोग 'ताली' बजाकर तथा नवीं मात्रा पर 'खाली' दिखाकर चार-चार मात्राओं में विभक्त हुए कालखण्ड के 'संख्या-संख्येय' स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। इसका (त्रिताल का) 'छन्द-आत्मक' स्वरूप के दर्शन हमें त्रिताल के 'जगण' (।ऽ।) के स्वरूप में प्राप्त होते हैं। क्योंकि 'मध्य का खण्ड' निःशब्दक्रिया के कारण प्रथम और अन्तिम खण्ड की अपेक्षा द्विगुणित होता है। निष्कर्ष यह है कि 'ताल' का परिचय कराने के लिये उसकी कुल मात्रा (संख्या) और उनके विभाग (संख्येय) का बोध सशब्द और निःशब्द अर्थात् 'ताली और खाली' के द्वारा कराया जाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'काल' के तीनों (दैवी, क्रियात्मक और क्रमता) रूपों का दर्शन हम संगीत में कर पाते हैं। संगीत में 'काल' की छोटी से छोटी इकाई 'पाँच लघु' अक्षर से लेकर 'दश' लघु अक्षर के 'काल' तक मानी जाती है। तथा साहित्यशास्त्र में 'अर्धमात्रा' से लेकर 'प्लुत' मात्रा तक मानी जाती है। इसीलिये 'व्यञ्जन' अर्धमात्रिक और 'स्वर' एक, दो, तीन मात्रिक भी होते हैं। और काव्यवाङ्मय में काल की गति का दर्शन 'गणों' के रूप में होता है। 'काल' की निरन्तरता और व्यापकता रूप महान् शक्ति, नाम-रूपात्मक जगत् के कण-कण में व्याप्त है, और वही समय-समय पर अभिव्यक्त और स्पन्दित होती रहती है।

वही 'काल'शक्तिरूप होने के कारण स्वयं अभिव्यक्त होती है और दूसरे पदार्थ आदि को भी अभिव्यक्त करता है। भावात्मक मानसिक जगत् में भी जो गहराइयाँ आती हैं, वे भी 'काल'शक्ति के प्रभाव से ही आती हैं। वही आयुरूप होकर आकृति और सत्ता का प्रदान करती है। काल के स्वरूप की चर्चा अनन्त काल से होती चली आ रही है और होती रहेगी। उसकी उपेक्षा किसी क्षण भी कोई मनीषी नहीं कर सकता। गुरुत्वाकर्षण के कारण ही 'शक्ति' का 'प्रतिष्ठान 'काल' बनता है। 'काल' के नैरन्तर्य और विभुत्व आदि गुण तो अनन्त चेतन शक्ति के प्रतीक हैं। एवं 'गुरुत्व', जगत् की सत्ता का प्रतिष्ठान बनकर सूक्ष्म और स्थूल का अनूठा समन्वय उपस्थित करता है। इस विवेचन से यही प्रतीत होता है कि कालरूप महाशक्ति ही ब्रह्म-विष्णु और रुद्र के रूपों में प्रकट होकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का सम्पादन यथासमय करती रहती है।

कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। एका नित्य विभ्वी च। संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवती। पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया। तेषामन्यनिमित्ता-सम्भवात्। पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा देशे स्थितस्य वस्तुनस्तादवस्थ्यात्। सा चैकापि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते।

(७) दिक् (दिशा) का निरूपण—

कालविपरीत-'परत्व, अपरत्व' से जो अनुमेय होती है, उसे 'दिक्' कहते हैं। वह 'एक, नित्य, और विभु' होती है। वह (१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग (५) विभाग—इन पाँच गुणों से युक्त होती है। वह 'पूर्व पश्चिम' आदि की प्रतीति (प्रत्यय) से भी **अनुमेय** होती है। क्योंकि उन 'पूर्व-पश्चिम' आदि प्रतीतियों का कोई अन्य निमित्त नहीं हो सकता है। पूर्व या पश्चिम देश में स्थित 'वस्तु' तो उस एक ही अवस्था में रहती है। तथापि 'वह वस्तु' पूर्वदिशा में या पश्चिम दिशा में रखी है—यह जो भिन्न-भिन्न व्यवहार लोग किया करते हैं, उसमें 'दिक्' के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं उपलब्ध होता है। वह 'दिक्' (दिशा) 'एक' ही है, तथापि भिन्न-भिन्न देश (स्थानों) के साथ 'सूर्य संयोग' रूप उपाधि के कारण (सूर्य के संयोग होने के कारण) पूर्व, पश्चिम आदि अनेक संज्ञाओं को प्राप्त होती है।

माधुरी

पूर्व वर्णित 'काल' के समान यह 'दिक्' भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। इसके भी तीन प्रकार से लक्षण प्राचीन आचार्यों के अपने-अपने ग्रन्थों में किये हैं—(१) **'अकालत्वे सति अविशेषगुणा महती दिक्'**। (२) **'प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्'**। (३) **'दूरत्वान्तिकत्वधीहेतुर्दिक्'**।

प्रथम लक्षण का अभिप्राय यह है—जो 'द्रव्य', काल से भिन्न रहता हुआ तथा 'विशेषगुणों' से रहित होता हुआ 'परममहत्त्व-परिमाण' से युक्त रहता है, उस 'द्रव्य' का दिक् कहते हैं। यह 'दिक्'रूप द्रव्य, 'काल' से भिन्न भी है, तथा 'रूपादिक' विशेषगुणों से रहित भी है, और 'परममहत्त्व-परिमाण' से युक्त भी है। अतः 'दिग्लक्षण' अपने लक्ष्यभूत 'दिक्' में समन्वित हो रहा है।

उक्त लक्षण में यदि 'अकालत्वे सति' पद न रखें तो 'काल' द्रव्य में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि जैसे 'दिक्', विशेषगुणों से रहित है और 'परम-महत्त्व-परिमाणवाली' है, वैसे ही 'काल' द्रव्य भी 'विशेषगुणों' से रहित है, और 'परम-महत्त्व-परिमाणवाला' भी है। अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है।

उक्त अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'दिग्लक्षण' में 'अकालत्वे सति'—यह सत्यन्त पद' रखना आवश्यक है। तव 'स्वयं का भेद स्वयं में नहीं रहा करता' इस नियम के अनुसार 'काल' में काल का भेद न रहने के कारण 'काल' में 'दिग्लक्षण' की अतिव्याप्ति न हो पायगी।

अव उक्त लक्षण में 'अविशेषगुणा' पद को यदि न रखें तो 'आकाश' में तथा 'आत्मा' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जैसे 'दिक्', काल से भिन्न है तथा 'परममहत्त्व-परिमाणवाली' है, वैसे ही 'आकाश' और 'आत्मा' भी 'काल' से भिन्न है, और 'परममहत्त्व-परिमाण' से युक्त भी हैं। अतः अतिव्याप्ति हो रही है।

उक्त अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अविशेषगुणा' यह पद, रखना आवश्यक है। तव 'आकाश' और 'आत्मा', विशेषगुणों से रहित नहीं हैं। क्योंकि 'आकाश' में तो 'शब्द' नाम का विशेषगुण रहता है, और 'आत्मा' में 'ज्ञानादिक' विशेषगुण रहते हैं। अतः 'आकाश' और 'आत्मा' में लक्षणोक्त 'अविशेषगुणा' के कारण अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

अव लक्षण में यदि 'महती' पद न रखें तो 'मन' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'दिक्' के समान 'मन' भी काल से भिन्न है, तथा 'विशेषगुणों' से रहित भी है।

उस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में 'महती' पद को रखा गया है। तब 'मन' में तो 'परमअणुत्व-परिमाणवाला' होता है, उसमें (मन में) महत्त्वपरिमाण नहीं रहता। इस कारण 'मन' में 'दिग्लक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

द्वितीय लक्षण 'प्राच्यादिव्यवहार हेतुः दिक्' भी किया जाता है। अर्थात् 'यह पूर्वदिक् है', 'यह दक्षिण दिक् है', 'यह पश्चिम दिक् है', 'यह उत्तर दिक् है', इसी प्रकार उपदिशाएँ भी—'यह अग्नेयी' 'यह नैर्ऋती', 'यह वायवी', 'यह ऐशानी', 'यह ऊर्ध्वा', 'यह अधः' हैं। इनका 'शब्दरूप व्यवहार' तथा 'ज्ञानरूप व्यवहार' सब लोग सर्वदा किया ही करते हैं। इन समस्त व्यवहारों का जो हेतु (कारण) होता है, उसे 'दिक्' कहते हैं। ये निर्दिष्ट व्यवहार 'दिशा' के कारण ही होते रहते हैं। उस व्यवहार में

अन्य कोई हेतु नहीं है। इसलिये उक्त द्वितीय लक्षण भी 'दिक्' में समन्वित हो रहा है। यहाँ पर भी पूर्वोक्त 'काल' के लक्षण के समान 'हेतु' शब्द से 'असाधारण निमित्त कारण' को ही समझना चाहिये। उसका फल यह होगा कि 'शब्दात्मक व्यवहार' के समवायिकारण 'आकाश' में तथा 'ज्ञानात्मक व्यवहार' के समवायिकारण 'आत्मा' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पायगी। उसी प्रकार 'शब्दात्मक व्यवहार' के असमवायिकारण 'कण्ठादिस्थानाकाशसंयोग' में तथा 'ज्ञानात्मक व्यवहार' के असमवायिकारण 'आत्म-मनःसंयोग' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। और 'हेतु' शब्द के विवक्षित अर्थ में 'असाधारण' कहने का फल यह होगा कि 'काल' आदि साधारण कारणों में भी 'दिग्लक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। एवं च 'पूर्व, दक्षिण' आदि उक्त व्यवहारों का 'असाधारण निमित्त कारण' वह 'दिक्' (दिशा) ही हो सकती है। अन्य कोई नहीं। अतः उक्त 'दिग्लक्षण' दोषरहित है।

अब तृतीय लक्षण 'दूरत्वान्तिकत्वधीहेतुः दिक्' किया गया है। यहाँ पर 'दैशिक परत्व' का नाम 'दूरत्व' है। और 'दैशिक अपरत्व' का नाम 'अन्तिकत्व' है। दूरत्व और अन्तिकत्व को विषय करने वाली अर्थात् 'यह वस्तु दूर है, यह वस्तु समीप है' इत्याकारक बुद्धि का जो 'द्रव्य', 'असाधारण निमित्तकारण' होता है, उस 'द्रव्य' को 'दिक्' शब्द से कहते हैं।

यद्यपि 'परत्व-अपरत्व' विषयक बुद्धि के प्रति 'दिक्' साक्षात् कारण नहीं है, तथापि परम्परया उस बुद्धि के प्रति 'दिक्' में निमित्त कारणता रहती है। तथाहि—'दैशिक परत्व-अपरत्व' को विषय करने वाली 'बुद्धि' है। उस बुद्धि के प्रति 'परत्वापरत्वरूप' विषय 'निमित्तकारण' होते हैं। और 'परत्वापरत्व गुण' के प्रति 'दिक्-पिण्डसंयोग', 'असमवायिकारण' होता है। और उस 'दिक्-पिण्डसंयोग' के प्रति 'दिक्', 'समवायिकारण' होती है। इस प्रकार उस 'परत्वापरत्व' विषयक बुद्धि के प्रति वह 'दिक्' परम्परया 'असाधारण निमित्तकारण' है। 'हेतु' शब्द से 'असाधारण निमित्तकारण' अर्थ को विवक्षित करने से 'परत्वापरत्व' विषयक बुद्धि के समवायिकारण 'आत्मा' में तथा असमवायिकारण 'आत्म-मनःसंयोग' में तथा 'काल' आदि साधारण निमित्त-कारणों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पा रही है।

'दिशा' के अस्तित्व में प्रमाण—

'लक्षण-प्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' के अनुसार किसी भी 'वस्तु' के अस्तित्व में 'लक्षण' और 'प्रमाण' दोनों की आवश्यकता रहने से अब 'प्रमाण' के द्वारा उसकी सिद्धि करते हैं। 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से उसकी सिद्धि इसलिये नहीं हो सकती कि 'दिशा' के कोई उद्भूत रूप-स्पर्शादि गुण नहीं हैं। अतः 'अनुमान' प्रमाण से उसकी सिद्धि इस प्रकार की जाती है। समीप देश में रखी हुई किसी मूर्तवस्तु (मूर्त द्रव्य) की अपेक्षा दूर

देश में रखी हुई मूर्त वस्तु में 'दैशिक परत्व' रहता है, और दूर देश में रखी हुई वस्तु की अपेक्षा समीप देश में रखी हुई 'वस्तु' में 'दैशिक अपरत्व' रहता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'ते परत्वापरत्वे असमवायिकारणजन्ये जन्यगुणत्वात् घटनिष्ठरूपवत्'—अर्थात् वे परत्वापरत्व दोनों गुण, असमवायिकारण से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे 'जन्यगुण' हैं, 'जो-जो जन्यगुण होता है, वह अपने असमवायिकारण से जन्य होता है, जैसे—घटनिष्ठ 'रूपगुण' जन्यगुण है। इस कारण वह 'रूप' अपने असमवायिकारण से जन्य है। घटनिष्ठ 'रूप' का असमवायिकारण 'कपालगत रूप' होता है। एवं च 'जन्यगुणत्व' रूप हेतु उस 'परत्वापरत्व' में भी है। अतः 'परत्वापरत्व' भी किसी असमवायिकारण से अवश्य ही जन्य होगा। अतः जिस मूर्त द्रव्य में वह परत्वापरत्व रहता है, उस मूर्त द्रव्य के साथ दिशा का जो 'संयोगसम्बन्ध' है, उस संयोगसंबंध में ही उस 'परत्वापरत्व' की असमवायिकारणता रहेगी। रूपादिगुणों में या पृथिवी आदि के संयोग में उस परत्वापरत्व की असमवायिकारणता नहीं रहेगी। इसीलिये रूपादिगुणों से रहित 'वायु' आदि में तथा पृथिव्यादिकों के संयोग से रहित 'नक्षत्र' आदि में भी उस दैशिक परत्वापरत्व की उत्पत्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार उस परत्वापरत्व के असमवायिकारणरूप दिक्-पिण्डसंयोग के आश्रयभूत 'दिशा' की सिद्धि की जाती है।

इस 'दिशा' द्रव्य में पाँच गुण होते हैं। यह 'दिशा' द्रव्य भी पूर्वोक्त 'आकाश, काल' के समान 'एक', 'विभु' और 'नित्य' है। 'दिशा' को 'नाना' मानने में 'गौरवदोष' होता है। और उसके 'नानात्व' (अनेकता) में कोई प्रमाण भी नहीं है।

किसी मूर्तद्रव्य के समीप होने या दूर होने की प्रतीति तो सभी को होती है। इस प्रतीति से मूर्तद्रव्य के दैशिक परत्वापरत्व का ज्ञान होता है। इस प्रतीति के बलपर सर्वत्र ही स्थित समस्त मूर्त द्रव्यों में परत्वापरत्व को मानना ही पड़ता है। और 'कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का होना संभव नहीं होता' इसलिये जिस-जिस मूर्तद्रव्य में परत्वापरत्व की प्रतीति हो, उस-उस मूर्तद्रव्य के साथ 'दिशा का संयोग सम्बन्ध' अवश्य मानना ही होगा। वह 'दिक् संयोग' ही उस परत्वापरत्व का असमवायिकारण है। समस्त मूर्तद्रव्यों के साथ 'एक दिशा' का संयोग तभी हो सकता है, जब 'दिशा' को व्यापक (विभु) माना जाय। जो द्रव्य 'विभु' होता है, वह द्रव्य 'नित्य' भी होता है। विभु होने से ही 'आत्मा' को नित्य कहा जाता है। उसी प्रकार विभु होने से 'दिशा' भी नित्य कही जायगी।

जैसे 'काल' समस्त जगत् का आधार है, वैसे 'दिशा' भी सम्पूर्ण जगत् का आधार है। सभी लोगों को 'दिक्' की प्रतीति 'दिक् निखिलपदार्थवती' अर्थात् 'दिशा सर्व पदार्थों वाली' के रूप में होती है। यह प्रतीति ही 'दिङ्निष्ठ समस्त जगदाधारता' में प्रमाण है। 'दिक्' में समस्तजगदाधारता जो है। वह दैशिक सम्बन्ध से ही होती है। 'संयोग-समवाया'दिसंबंध से 'दिशा' में जगदाधारता नहीं रहती है।

जैसे 'काल', कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारण होता है, वैसे ही 'दिशा' भी कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारण होती है। जैसे—'इह घटो भवति, इह पटो भवति'— इस दिशा में घट उत्पन्न होता है, इस दिशा में पट उत्पन्न होता है—यह प्रतीति सभी लोगों को होती है। यह प्रतीति ही उस 'दिङ्निष्ठ घट-पटादिसमस्तकार्य' की 'निमित्तकारणता' में प्रमाण है। दिशा में समस्तकार्य की जो निमित्तकारणता है, वह दैशिक सम्बन्ध से ही रहती है। अन्य किसी संयोग-समवायादिसम्बन्ध से नहीं रहती है।

यद्यपि 'दिशा' में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले जो 'द्वित्वसंख्या, द्वि-पृथक्त्व, संयोग-विभागादि' गुण हैं, उन गुणों के प्रति वह 'दिशा' समवायिकारण होती है, तथापि 'दैशिक सम्बन्ध से उन गुणों के प्रति वह 'दिशा' निमित्तकारण भी होती है। इससे स्पष्ट है कि कार्यमात्र के प्रति 'दिशा' निमित्तकारण हुआ करती है। उक्त नियम का उन द्वित्वादि गुणों में कभी व्यभिचार नहीं होता है।

शंका—'इह घटो भवति', 'इह पटो भवति' इत्यादि प्रतीति से 'दिशा' में कार्य-मात्र की निमित्तकारणता कैसे सिद्ध होती है ?

समा०—प्रत्येक पदार्थ पूर्वादि किसी दिशा में या उपदिशा में उत्पन्न होता रहता है। अतः तत्तत् पदार्थ की उत्पत्ति में तत्तत् पूर्वादि दिशाओं को 'कारण' मानना ही होगा। 'जिन-जिन विशेष पदार्थों का परस्पर कार्य-कारणभाव होता है, उन-उन सामान्य पदार्थों का भी परस्पर कार्य-कारणभाव हुआ करता है'—यह एक नियम है। इस नियम के बलपर यहाँ भी 'कार्यत्वधर्मविशिष्ट कार्यमात्र' के प्रति दिक्त्वधर्मविशिष्ट 'दिशा' की कारणता सिद्ध होती है। इस युक्ति से 'दिशा' में कार्यमात्र की निमित्तकारणता हो सकती है।

'दिशा' की सिद्धि करने का एक अन्य प्रकार भी है—बहुतर मूर्तसंयोगविशिष्ट 'पिण्ड' के ज्ञान से दैशिक 'परत्व' और अल्पतर मूर्तसंयोगविशिष्ट पिण्ड के ज्ञान से दैशिक 'अपरत्व' उत्पन्न होता है। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है—'तद्विशिष्टज्ञानं विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षं साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात् लोहितः स्फटिक इति ज्ञानवत्'। अर्थात् दैशिकपरत्व-अपरत्व का निमित्तकारणभूत-विशिष्टज्ञान उस मूर्तद्रव्यसंयोगरूप विशेषण तथा पिण्डरूप विशेष्य दोनों के सम्बन्ध के घटक द्रव्य की अपेक्षा करता है, क्योंकि साक्षात्सम्बन्ध का अभाव रहने पर भी विशिष्टज्ञान रूप होने से, 'जो-जो ज्ञान, उस विशेषण-विशेष्य दोनों के साक्षात्सम्बन्ध का अभाव रहने पर भी विशिष्टज्ञान रूप होता है, वह-वह ज्ञान उस विशेषण-विशेष्य दोनों के सम्बन्ध के घटक द्रव्य की अवश्य ही अपेक्षा करता है, जैसे—'लोहित स्फटिक'—यह ज्ञान है। इस 'लोहितस्फटिकज्ञान' में शुक्लवर्ण वाला स्फटिक तो विशेष्य है, और रक्तवर्णरूप 'लोहित' विशेषण है। उसे लोहितरूप विशेषण का उस

शुक्लवर्ण के स्फटिकरूप विशेष्य के साथ 'संयोग' अथवा 'समवाय' सम्बन्ध तो साक्षात् है नहीं, किन्तु 'जपापुष्परूप' द्रव्य के साथ उस 'लोहित' का 'समवाय' सम्बन्ध, साक्षात् है। और 'स्फटिक' में तो 'लोहित' विशेषण का 'स्व-समवायिसंयोगरूप' परम्परा सम्बन्ध है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से उस 'लोहित रूप विशेषण' का ग्रहण करना चाहिये। उस लोहित का 'समवायिकारण' जो 'जपापुष्पादिद्रव्य', उसका 'स्फटिक' के साथ 'संयोग' सम्बन्ध है। इस परम्परासम्बन्ध से वह 'लोहित' वर्ण, उस 'स्फटिक' में प्रतीत होता है वह 'परम्परासम्बन्ध' उस 'जपापुष्परूप द्रव्य' से घटित ही है। इससे यह निष्पन्न हुआ कि जैसे 'लोहित स्फटिक' यह ज्ञान, उस 'लोहितरूप' विशेषण का उस 'स्फटिकरूप' विशेष्य के साथ साक्षात् सम्बन्धाभाव रहने पर भी 'विशिष्टज्ञान रूप' है। इस कारण वह ज्ञान, उस 'लोहितरूप विशेषण' के तथा 'स्फटिकरूप विशेष्य' के परम्परासम्बन्ध का घटक जो 'जपापुष्पादि द्रव्य' है, उसकी अपेक्षा भी करता है। उसी तरह यह 'पिण्ड', मूर्तद्रव्यों के बहुतसंयोगों से विशिष्ट है, तथा यह पिण्ड, मूर्तद्रव्यों के अल्पसंयोगों से विशिष्ट है—इस प्रकार का जो दैशिक परत्व-अपरत्व का निमित्तकारणभूत विशिष्टज्ञान है, उसमें भी वह 'पिण्ड' तो विशेष्य है, और वे 'बहुतर मूर्तसंयोग' या 'अल्पतर मूर्तसंयोग' विशेषणरूप हैं। संयोगरूप 'विशेषणों' का उस पिण्ड रूप 'विशेष्य' के साथ 'संयोगरूप या समवायरूप साक्षात् सम्बन्ध' तो है नहीं, किन्तु उन 'मूर्तद्रव्यों' में ही उन 'संयोगों' का 'समवायरूप' साक्षात् सम्बन्ध है, और 'पिण्ड' के साथ उन 'संयोगों' का 'स्व-समवायिसंयोगरूप' परम्परासम्बन्ध है। यहाँ पर 'स्व'-शब्द से 'बहुतर मूर्तसंयोगों' का अथवा 'अल्पतर मूर्तसंयोगों' का ग्रहण करना चाहिये। उन 'संयोगों' के 'समवायिकारणरूप' वे 'मूर्तद्रव्य' हैं, उनका 'संयोग सम्बन्ध' उस 'दिशा' के साथ है। इस कारण 'दिशा' उन मूर्तद्रव्यों से 'संयुक्त' कही जाती है, उस दिशा का 'सयोग सम्बन्ध', उस 'पिण्ड' के साथ है। इस प्रकार के 'परम्परा सम्बन्ध' से वे 'संयोग' उस पिण्ड में 'विशेषण' होकर प्रतीत होते हैं। उस 'परम्परा सम्बन्ध' का घटक वह 'दिशा' ही है। इससे यह निष्पन्न हुआ कि 'यह 'पिण्ड', बहुतर मूर्तसंयोग वाला है, और यह 'पिण्ड' अल्पतर मूर्तसंयोग वाला है'—इस प्रकार के 'विशिष्टज्ञान' में भी उस संयोगरूप विशेषण का उस पिण्डरूप विशेष्य के साथ संयोग या समवायरूप साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी वह 'विशिष्टज्ञान' रूप तो है ही। इसलिये वह 'विशिष्टज्ञान' उस संयोगरूप विशेषण के तथा उस पिण्डरूप विशेष्य के परम्परासम्बन्ध का घटक जो दिशा रूप द्रव्य है, वह उसकी अवश्य ही अपेक्षा करेगा। एवञ्च इस प्रकार के अनुमान से सम्बन्ध के घटक रूप में 'दिशारूप' द्रव्य की सिद्धि की जाती है। उक्त हेतु में 'साक्षात् सम्बन्धाभावे सति' न कहते तो 'रूपवान् घटः' इस विशिष्टज्ञान में 'हेतु' का व्यभिचार होता। उसके निवारणार्थ 'हेतु' में 'साक्षात् सम्बन्धाभावे सति' कहना आवश्यक है।

आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा। सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। स चोक्त एव। तस्य सामान्यगुणाः संख्यादयः पञ्च, बुद्ध्यादयो नव विशेष-गुणाः। नित्यत्व-विभुत्वे पूर्ववत्।

(८) आत्म-निरूपण—

आत्मत्वेति। आत्मत्व का अभिसम्बन्ध जिसमें हो, उसे 'आत्मा' कहते हैं। अर्थात् 'आत्मत्व का अभिसम्बन्ध'—यह 'आत्मा' का लक्षण है। 'आत्मा' एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उसमें रहने वाली 'आत्मत्व' जाति है। वह 'समवाय' सम्बन्ध से 'आत्मा' में रहती है। अतः उसका (जाति का) अभिमत सम्बन्ध 'समवाय' है। तात्पर्य यह है कि समवाय सम्बन्ध से 'अत्मत्व' जाति जहाँ रहती है, उसे आत्मा कहते हैं।

सुखेति। सुख-दुःख आदि की विचित्रता के कारण वह आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। उस आत्मा का वर्णन प्रारंभ में कर ही दिया है। उस आत्मा के—(१) संख्या (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग—ये पाँच सामान्य गुण हैं। और (१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न, (७) धर्म, (८) अधर्म, (९) संस्कार—ये नौ उसके विशेषगुण हैं। सब मिलाकर उसके चौदह (१४) गुण माने गये हैं। उसका 'नित्यत्व और विभुत्व' पूर्ववत् ही है, अर्थात् 'आकाश' के समान ही है।

माधुरी

'आत्मत्व' जाति 'समवाय'सम्बन्ध से एक मात्र 'आत्मा' में ही रहती है। वह कभी भी 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, या मन में नहीं रहती है। क्योंकि 'आत्मत्व' जाति की सिद्धि, आत्मा के सुख-दुःखादि विशेष गुणों की समवायि-कारणता के अवच्छेदकरूप में होती है। इसलिये वह (आत्मत्व जाति) उसी द्रव्य (आत्मा) में रहती है। क्योंकि सुखादि-विशेषगुणों की समवायिकारणता 'आत्मा' में ही है, पृथिव्यादि आठों द्रव्यों में नहीं है। एवं च आत्मत्वजाति का आश्रय समवाय सम्बन्ध से 'आत्मा' ही है। पृथिव्यादि कोई द्रव्य नहीं।

मनस्त्वाभिसम्बन्धवन्मनः। अणु, आत्मसंयोगि, अन्तरिन्द्रियम् सुखाद्यु-पलब्धिकारणं नित्यञ्च। संख्याद्यष्टगुणवत्। तत्संयोगेन बाह्येन्द्रियमर्थग्राहकम्। अतएव सर्वोपलब्धिसाधनम्। तच्च न प्रत्यक्षम्, अपि त्वनुमानगम्यम्। तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः, असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमान-त्वात्। यद्वस्तु यद्विनैवोत्पद्यते तत् तदतिरिक्तकरणसाध्यं, यथा कुठारं विनोत्पद्य-माना पचनक्रिया तदतिरिक्तवह्न्याधिकरणसाध्या। यच्च करणं तन्मनः तच्च चक्षुराद्यतिरिक्तम्। तच्चाणुपरिमाणम्।

इति द्रव्याण्युक्तानि।

(९) मनोनिरूपण—

मनस्त्वेति। 'मनस्त्व' जाति के सम्बन्ध वाला 'मन' कहलाता है। अर्थात् 'मनस्त्व जाति का अभिसम्बन्ध' ही 'मन' का लक्षण है। यानी 'मनस्त्व' जाति 'समवाय-सम्बन्ध' से जिसमें रहती है—उसे 'मन' कहते हैं। 'मन' एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

अण्विति। 'मन' का परिमाण 'अणु' माना गया है। वह मन, आत्मसंयोगी यानी आत्मा से संयुक्त रहता है, और वह अन्तरिन्द्रिय है। और सुखादि आत्म गुणों की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) का साधन (करण) होता है। तथा वह 'नित्य' है। उसमें (मन में) (१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग (५) विभाग, (६) परत्व, (७) अपरत्व (दैशिक), और (८) वेग—ये आठ गुण रहते हैं। उस 'मन' के साथ सम्बन्ध प्राप्त करके ही 'बाह्यइन्द्रियाँ' अपने-अपने विषय का ग्रहण किया करती हैं। इसीलिये वह (मन) समस्त विषयों की उपलब्धि का साधन कहलाता है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों से होने वाले विषय प्रत्यक्ष में तत्तद् इन्द्रियों के साथ 'मनःसन्निकर्ष' कारण होता है।

तच्चेति। 'मन' अतीन्द्रिय है, इस कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसका ज्ञान 'अनुमान प्रमाण' से होता है। अर्थात् वह (मन) अनुमेय है।

तथा हीति। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'सुखाद्युपलब्धयः, चक्षुराद्यतिरिक्त-करणसाध्याः, असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानत्वात्', अर्थात् सुखादि का ज्ञान (अनुभव), चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न किसी करण (साधन) से ही किया जाता है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के न रहने पर भी सुखादि का अनुभव होता है।

यद्वस्त्विति। जो वस्तु, जिसके बिना ही उत्पन्न होती है, वह उससे भिन्न करण से उत्पन्न होती है।

यथेति। जैसे—कुठार के बिना उत्पन्न होने वाली 'पचनक्रिया' उससे भिन्न 'वह्नि' आदि 'करण' से साध्य होती है। अतः सुखादि की उपलब्धि का जो करण है, वही **'मन'** है। वह चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न है, और 'अणुपरिमाण' वाला है।

इतीति। इस प्रकार 'द्रव्यों' का निरूपण किया गया।

माधुरी

'मन' को 'मध्यम-परिमाण' मानने पर वह 'अनित्य' कहलायगा, और उसे 'विभु-परिमाण' कहने पर सभी इन्द्रियों से युगपत् ज्ञानोत्पत्ति का प्रसंग आवेगा। इसलिये उसे 'अणु-परिमाण' बताया है। किसी-किसी पुस्तक में पाठ 'आत्मसंयोगि' न होकर केवल 'संयोगि' ही दिया गया है। और व्याख्याकार ने उसकी व्याख्या भी इस प्रकार की है—शरीर से संयुक्त हुआ ही 'मन', अन्य स्थान के प्रति गमन करता है। परलोक की यात्रा करने वाले जीव (आत्मा) का मन, आतिवाहिक

शरीर से संयुक्त होकर वहाँ जाता है। वहाँ पहुँचकर स्व-स्व कर्माशय के अनुसार पुनः अन्य शरीर से संयुक्त होता है। इसी अभिप्राय से उसे 'संयोगि' कहा गया है। यह 'मन' निरवयव द्रव्य होने से 'नित्य' है। मन से संयुक्त होकर ही सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं, और 'मन' उसके ग्रहण करने में केवल 'निमित्त कारण' ही माना जाता है। वह एक रूपरहित द्रव्य है, और उसका महत् परिमाण नहीं है, अतः उसका ग्रहण 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से नहीं हो पाता। उसका ग्रहण (ज्ञान) तो अनुमान-प्रमाण से ही होता है। 'यद् वस्तु यद्विनैव उत्पद्यते तत् तदतिरिक्तकरण-साध्यम्'—यह व्याप्ति है। अर्थात् जो 'वस्तु' जिसके बिना उत्पन्न होती है, वह उससे भिन्न अन्य किसी 'करण' से उत्पन्न हुआ करती है। इसी व्याप्ति के बल पर हम 'मन' की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं—'सुखादि-साक्षात्कारः करणसाध्यः जन्यसाक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवत्'—अर्थात् 'अहं सुखी, अहं दुःखी'—इस प्रकार से सुखादिकों का जो साक्षात्कार होता है, वह किसी 'करण' से ही साध्य है, जन्यसाक्षात्कार होने से। जो-जो जन्यसाक्षात्कार होता है, वह किसी न किसी 'करण' से ही साध्य होता है। क्योंकि किसी करण के बिना जन्यसाक्षात्कार नहीं हुआ करता। जैसे—'अयं घटः, अयं पटः' यह चाक्षुप साक्षात्कार, जन्यसाक्षात्कार होने से 'चक्षु' करण से होता है, वैसे ही सुखादिसाक्षात्कार भी 'जन्यसाक्षात्कार' होने से वह भी किसी 'करण' से ही होगा। अब वह 'करण' कौन-सा हो सकता है? उसे विचारते समय हम देखते हैं कि अन्ध व्यक्ति को भी सुखादिकों का अनुभव होता है, अतः चक्षुरादि इन्द्रियाँ सुखादिसाक्षात्कार के प्रति 'करण' नहीं हो सकतीं—यह निश्चय हो जाता है। परिशेषात् 'मन' को ही उस सुखादि साक्षात्कार के प्रति 'करण' कहा जा सकता है। इस रीति से अनुमान प्रमाण के द्वारा 'मन' का अस्तित्व सिद्ध होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनोक्त प्रमेयों के समन्वय की चिकीर्षा रहने से प्रमेय निरूपण में यद्यपि पुनरुक्ति हो रही है, तथापि उसे दोषावह नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह पुनरुक्ति फलोन्मुखी है। (अब नौ द्रव्यों में से किस द्रव्य में कितने 'गुण' रहते हैं, उसका निरूपण करते हैं।)

गुणाः

अथ गुणा उच्यन्ते। सामान्यवान् असमवायिकारणं स्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रित एव। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार-भेदाच्चतुर्विंशतिधा।

अथेति। अब 'गुणों' को बताया जा रहा है। जो सामान्यवान् होता हुआ असमवायिकारण अर्थात् समवायिकारण से भिन्न तथा अस्पन्दात्मा यानी कर्म से भिन्न हो

उसे 'गुण' कहते हैं। वह गुण 'द्रव्य' के ही आश्रित रहता है। वह (गुण)—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, (१४) स्नेह, (१५) शब्द, (१६) बुद्धि, (१७) सुख, (१८) दुःख, (१९) इच्छा, (२०) द्वेष, (२१) प्रयत्न, (२२) धर्म, (२३) अधर्म, (२४) संस्कार—के भेद से चौबीस (२४) प्रकार का होता है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने जो 'गुण' का लक्षण किया है उसमें **तीन पद** हैं। उनमें प्रथम पद 'सामान्यवान्' का प्रयोजन यह है कि 'सामान्य, विशेष, समवाय' में 'गुणलक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त 'सामान्यादि' तीनों पर 'सामान्य' (जाति) नहीं रहा करती। अतः वे तीनों 'सामान्यवान्' नहीं कहलाते। लक्षण में द्वितीय पद 'असमवायिकारणम्' का प्रयोजन यह है कि 'द्रव्य' में 'गुणलक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'द्रव्य' सर्वदा समवायिकारण हुआ करता है। अतः उसे 'असमवायिकारण' नहीं कह सकते। गुणलक्षण में तृतीय पद 'अस्पन्दात्मा' का प्रयोजन यह है कि 'कर्म' में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि 'स्पन्द' शब्द का अर्थ है—कर्म अर्थात् क्रिया। तब जो 'स्पन्दात्मा' यानी स्पन्दरूप (कर्मरूप) नहीं रहता उसे ही अस्पन्दात्मा (कर्मभिन्न) कह सकते हैं। तब 'कर्म' को कर्मभिन्न न कह सकने से अतिव्याप्ति नहीं है। गुण के लक्षण में प्रयुक्त 'असमवायिकारणम्' की व्याख्या 'समवायिकारणभिन्नत्वं' की जाती है। क्योंकि समवायिकारण 'द्रव्य' ही हुआ करता है। इसी अभिप्राय से 'द्रव्य' का पर्याय समझकर 'समवायिकारण' शब्द का प्रयोग किया है। तथापि उत्पन्न-विनष्ट अर्थात् आशुविनाशी 'द्रव्य' में कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो पाता, तब उसे समवायिकारण न कह सकने से 'समवायिकारणभिन्न, ही कहेंगे। एवंच उस द्रव्य में समवायिकारणभिन्नता' के रहने से 'गुण लक्षण' की अतिव्याप्ति हो सकती है। उसके निवारणार्थं **कर्म-द्रव्यभिन्नत्वे सति** सामान्यवत्त्वम्'—इस प्रकार स्पष्ट शब्द में कह देने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि द्रव्य में द्रव्यभिन्नत्व के रहने की संभावना ही नहीं है। इसी अभिप्राय से व्याख्याकार श्री गोवर्धन ने 'कर्मद्रव्यभिन्नत्वे सति जातिमत्त्वम्' यह लक्षण का अभिप्राय व्यक्त किया है। ग्रन्थकार ने 'स च द्रव्याश्रित एव' कह कर यह सूचित किया है कि 'गुण और गुणी (द्रव्य) का तादात्म्य मानना उचित नहीं है। किन्तु कुछ दार्शनिकों ने गुण-गुणी का परस्परतादात्म्य स्वीकार किया है।

(१) तत्र रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादित्रयवृत्ति। तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्। पाकजञ्च पृथिव्याम्। तच्चाऽनित्यं पृथिवीमात्रे। आप्यतैजसपरमाण्वोर्नित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तेजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

(१) रूपनिरूपण—

तत्रेति । उक्त चौबीस गुणों में से जो केवल चक्षुर्मात्रग्राह्य 'विशेष गुण' हो—उसे **'रूप'** कहते हैं । 'रूप' के लक्षण में 'मात्र' और 'विशेष' पद का प्रयोग 'संख्या, परिमाण' आदि सामान्य गुणों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ किया गया है । उन सामान्य गुणों का ग्रहण (ज्ञान) केवल 'चक्षु' से न होकर 'चक्षु और त्वक्' दो इन्द्रियों से होता है । अतः उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती ।

पृथिव्यादीति । वह 'रूपगुण', पृथिवी आदि तीन (पृथिवी, जल, तेज) में रहता है । **तच्चेति** । वह (रूपगुण) शुक्ल आदि (१—शुक्ल, २—लोहित, ३—पीत, ४—कृष्ण, ५—हरित, ६—कपिश, ७—चित्र के भेद से) अनेक प्रकार का है । **पाक-जञ्चेति** । पृथिवी में वह 'पाकज' होता है । **तच्चेति** । और वह पृथिवीमात्र (नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार की पृथिवी) में अनित्य होता है । **आप्येति** । और आप्य तथा तैजस (जल के तथा तेज के) परमाणुओं में तो वह **नित्य** होता है, किन्तु आप्य तथा तैजस (जल तथा तेज के) कार्यरूपों में **अनित्य** होता है । **शुक्लेति** । तेज में भास्वर शुक्ल और अपाकज होता है । **तदेवेति** । तथा वही (अपाकज) रूप 'जल' में अभास्वर शुक्ल होता है ।

माधुरी

रूप के लक्षण में 'गुण' पद के देने से 'रूपत्व' जाति में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते' इस नियम के अनुसार 'रूपत्व जाति' चक्षुर्मात्रग्राह्य होने पर भी वह 'गुण' न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है । लक्षण में 'विशेष' पद के देने से प्रभा की संख्या में अतिव्याप्ति नहीं होगी । अन्यथा अलग-अलग दस घरों पर सूर्य की प्रभा या चन्द्र की प्रभा के पड़ने पर प्रभा की दश संख्या 'चक्षुर्मात्रग्राह्य' तो है ही, साथ ही साथ 'संख्या' की गिनती 'गुण' में भी है अतः वह गुण है । परन्तु लक्षण में 'विशेष' पद के रखने से 'संख्या' में 'सामान्य गुणत्व' रहने के कारण अतिव्याप्ति नहीं हो पाती । अर्थात् 'संख्या' का विशेष गुण में परिगणन नहीं है । अतः 'चक्षुर्मात्रग्राह्य-विशेषगुणत्वम्' यह 'रूप लक्षण' ठीक ही है । लक्षणगत 'ग्राह्य' पद का अर्थ 'प्रत्यक्ष का विषय' नहीं समझना चाहिये । अन्यथा 'परमाणु' रूप में अव्याप्ति होगी । क्योंकि 'परमाणु' का महत्त्व परिमाण न होने के कारण उसका 'रूप' प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पाता । इसलिये 'ग्राह्य' का अर्थ 'प्रत्यक्ष के योग्य' करना चाहिये । तब परमाणु का 'रूप', प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी वह 'प्रत्यक्ष के योग्य' तो है ही । क्योंकि उसके आश्रय में यदि 'महत्त्व' रहता अर्थात् परमाणु का महत्परिमाण होता तो घट-पटादि के रूप के समान परमाणु का रूप भी प्रत्यक्ष का विषय अवश्य हो जाता । उक्त अर्थ के स्वीकार करने पर भी 'चक्षु' के रूप में लक्षण की अव्याप्ति हो रही है, क्योंकि

'चक्षु' का रूप उद्भूत न होने से वह प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। इसलिये 'ग्राह्य' का अर्थ 'प्रत्यक्ष योग्य जाति का आश्रय होना'—यह समझना चाहिये। तब केवल चक्षु से प्रत्यक्ष के योग्य जाति होगी 'रूपत्व'। वह 'रूपत्व जाति', चक्षु के रूप में भी रहती है। अतः चक्षु के रूप में अव्याप्ति नहीं होगी।

(२) रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां मधुरादिषट्प्रकारो मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्तभेदात्, पाकजश्च। अप्सु मधुरोऽपाकजो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुभूतास्वप्सु कार्यभूतास्वनित्यः।

(२) रसनिरूपण—

रस इति। रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जो विशेषगुण उसे 'रस' कहते हैं। अर्थात् '**रसनेन्द्रियग्राह्यत्वे सति विशेषगुणत्वं रसत्वम्**'। वह रस, पृथिवी तथा जल में रहता है।

तत्रेति। पृथिवी में तो वह रस, मधुर आदि अर्थात् १—मधु, २—अम्ल, ३—लवण, ४—कटु, ५—कषाय, ६—तिक्त भेद से छह प्रकार का और पाकज होता है। किन्तु 'जल' में केवल मधुर और अपाकज होता है। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है। **नित्येति।** वह, परमाणुरूप जल में नित्य होता है और कार्यरूप जल में अनित्य होता है।

माधुरी

रस लक्षण में 'रसन' पद के न रखने पर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ 'रसन' पद का रखना आवश्यक है। 'विशेष गुण' पद के न रखने पर 'रसत्व' जाति में और 'रसाभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिः तदभावश्च गृह्येते' यह नियम है। किन्तु 'रसनेन्द्रिय' से ग्राह्य जैसे 'रसत्व जाति' है, वैसे ही उसकी 'मधुरत्व' आदि अवान्तर जातियाँ भी हैं, तथा 'गुणत्व' और 'सत्ता' जाति भी है। 'गुणत्व' सभी गुणों में रहता है और 'सत्ता जाति'; द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहती है। इस कारण 'रस' के अतिरिक्त सभी गुणों में और 'द्रव्य तथा कर्म' में अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ 'विशेषगुण' पद का रखना आवश्यक है। तथापि रसनेन्द्रियग्राह्य 'गुणत्व' और 'सत्ता' जाति को लेकर 'शब्द, बुद्धि' आदि विशेष गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है। उसके वारणार्थ 'रसनेन्द्रियग्राह्य जाति' में 'विशेषगुण से भिन्न में अवृत्तित्व'—यह विशेषण जोड़ देना चाहिये। उससे 'गुणत्व' और 'सत्ता जाति' में लक्षण नहीं जा पायेगा। अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी।

रस के लक्षण में 'विशेषगुण' के रखने का अभिप्राय यही है कि 'विशेषगुण से भिन्न में न रहने वाली जो 'रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जाति' हो, वही 'रस' का लक्षण है। वह जाति 'रसत्व' होगी, और उसके आश्रय 'समस्त रस' ही हो सकते हैं। वह 'रसत्व जाति' रस से भिन्न में कभी नहीं रहेगी। अतः रस का लक्षण दोषरहित है।

यहाँ भी पूर्व की तरह यह स्मरण रखना आवश्यक है कि लक्षणगत 'ग्राह्य' शब्द का अर्थ 'प्रत्यक्ष का विषय' न समझकर 'प्रत्यक्षयोग्य' अर्थ ही समझना है। अन्यथा 'परमाणुगत रस' की अतीन्द्रियता होने के कारण उसमें अव्याप्ति हो जायगी। किन्तु 'प्रत्यक्षयोग्य' अर्थ करने पर अव्याप्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'परमाणुगत-रस' में प्रत्यक्ष होने की योग्यता तो है ही तथापि उसके प्रत्यक्ष होने में बाधक यही है कि वह 'महत्त्वपरिमाण से रहित परमाणु' के आश्रित है। परमाणु का तो अणुपरिमाण माना गया है। महत्त्वपरिमाण नहीं। इसलिये 'परमाणुगतरस' का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

लक्षणगत 'ग्राह्य' का अर्थ 'प्रत्यक्षयोग्य' करने पर भी रसनेन्द्रिय के 'रस' में लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वह 'अनुद्भूत' रहता है, इसी कारण वह 'प्रत्यक्ष-योग्य' नहीं हो पाता है। उस अव्याप्ति के वारणार्थ 'रसनेन्द्रियग्राह्य' का अर्थ 'रस-नेन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्व' अर्थात् 'जाति का आश्रय' कर लेना चाहिये। तब अव्याप्ति का निवारण हो जाता है, क्योंकि 'रसनेन्द्रिय का रस' भी रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जो 'रसत्व जाति' उसका आश्रय होता ही है।

शंका—'गन्ध' को पृथिवीमात्रवृत्तिः पूर्व बताया जा चुका है। तब 'सुगन्धित जल', 'सुगन्धित वायु'—यह प्रतीति कैसे होती है।

समा०—जल तथा वायु में वस्तुतः गन्ध नहीं है। किन्तु जल से अथवा वायु से संयुक्त जो पुष्पादि पार्थिव द्रव्य होते हैं, उनकी गन्ध ही 'संयुक्त-समवाय' संबंध से जल और वायु में प्रतीत होती है। क्योंकि जल और वायु से संयुक्त हुए पुष्पादि, और उन पुष्पादिकों में 'गन्ध' समवायसम्बन्ध से रहता है।

(३) गन्धो घ्राणग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीमात्रवृत्तिः। अनित्य एव। स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। जलादौ गन्धप्रतिभानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम्।

(३) गन्ध-निरूपण—

गन्ध इति। घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य जो विशेष गुण है, उसे 'गन्ध' कहते हैं। अर्थात् 'घ्राणग्राह्यत्वे सति विशेषगुणत्वं गन्धत्वम्' यह 'गन्ध' का लक्षण है। कहने का अभि-प्राय यह है कि 'विशेषगुण' के अतिरिक्त अन्य किसी में न रहनेवाली होकर घ्राण से प्रत्यक्ष होने योग्य जो जाति अर्थात् 'गन्धत्व जाति', वह 'समस्त गन्ध' में रहती है, और गन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं रहती। **पृथिवीति।** वह 'गन्ध' केवल पृथिवी में ही रहता है और वह अनित्य ही होता है। वह 'सुगन्ध' और 'दुर्गन्ध' के भेद से दो प्रकार का होता है। **जलादाविति।** 'जल' आदि में जो 'गन्ध' की प्रतीति होती है, वह 'संयुक्त-समवाय' सम्बन्ध से होती है। अर्थात् 'जल' में संयुक्त हुआ जो पार्थिव अंश (भाग) है, उसमें 'समवायसम्बन्ध' से 'गन्ध' गुण रहता है। उसी की 'संयुक्त-समवाय' सम्बन्ध से 'जल' में प्रतीति (अनुभव) होती है। वह 'गन्ध' जल का अपना

निजी नहीं है। क्योंकि 'जल' तो स्वभावतः 'गन्धरहित' होता है। तथापि जल से संयुक्त हुए पार्थिव भाग के 'गन्ध' का ही जल में अनुभव होता है।

(४) स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः। स च त्रिविधः शीत-उष्ण-अनुष्णाशीतभेदात्। शीतः पयसि, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः। पृथ्वीमात्रे ह्यनित्यः। आप्यतैजसवायवीयपरमाणुषु नित्यः, आप्यादिकार्येष्वनित्यः। एते च रूपादयश्चत्वारो महत्त्वैकार्थसमवेतत्वे सत्युद्भूता एव प्रत्यक्षाः।

(४) स्पर्श-निरूपण—

स्पर्शस्त्विति। त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य जो विशेष गुण उसे 'स्पर्श' कहते हैं। अर्थात् 'त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वे सति विशेषगुणत्वं स्पर्शत्वम्'—यह 'स्पर्श' का लक्षण है।

पृथिव्यादीति। वह 'स्पर्श' गुण, पृथिवी आदि चार (१—पृथिवी, २—जल, ३—वायु, ४—अग्नि) में रहता है। और वह 'शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत' के भेद से तीन प्रकार का होता है। 'जल' में शीतस्पर्श रहता है। 'तेज' में उष्ण स्पर्श रहता है। और 'पृथिवी' तथा 'वायु' में अनुष्णाशीतस्पर्श रहता है।

पृथिवीति। सम्पूर्ण 'पृथिवी' का (परमाणुरूप और कार्यरूप दोनों प्रकार की पृथिवी का) स्पर्श 'पाकज' और 'अनित्य' होता है। 'जल', 'तेज', और 'वायु के परमाणुओं का स्पर्श 'नित्य' होता है। और कार्यभूत 'जल, तेज, और वायु' का स्पर्श, 'अनित्य' होता है।

एते चेति। ये 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श' चारों 'महत्त्व परिमाण' के साथ 'एक अर्थ' (द्रव्य) में समवेत और 'उद्भूत' होने पर ही प्रत्यक्ष होते हैं। अन्यथा नहीं।

माधुरी

उक्त लक्षण में पूर्ववत् ही 'ग्राह्य' का अर्थ 'प्रत्यक्षविषय' करते हैं तो 'परमाणुगत अतीन्द्रिय स्पर्श' में अव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ 'प्रत्यक्ष योग्य' अर्थ करते हैं तो 'त्वगिन्द्रिय' के अनुद्भूतस्पर्श में अव्याप्ति होगी। इसलिये 'त्वगिन्द्रियग्राह्य' का अर्थ यह करना चाहिये कि 'त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य जाति का आश्रय'। तब ऐसी जाति 'स्पर्शत्व' ही होगी। वह जाति, 'परमाणु' और 'त्वक्' दोनों के स्पर्श में रहती है। इस रीति से उनमें अव्याप्ति की संभावना नहीं हो पाती।

अव्याप्ति की संभावना न रहने पर भी 'स्पर्श' से भिन्न सभी 'गुणों' में तथा 'द्रव्य' एवं 'कर्म' में अब अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य 'गुणत्व' और 'सत्ता जाति' उनमें विद्यमान है। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'जाति' में 'विशेषगुणभिन्नाऽवृत्तित्व' विशेषण जोड़ देना चाहिये। अर्थात् विशेषगुण से भिन्न में न रहती

हुई, ऐसी 'त्वगिन्द्रियग्राह्य जाति' जिसमें रहती हो उसे ही 'स्पर्श' कहा जा सकता है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने स्पर्श के लक्षण में 'विशेष गुण' पद को रखा है।

रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष में दो बातें (दो विशेषताएँ) आवश्यक होती है। (१) पहिली बात तो यह है कि इन रूपादिगुणों को 'महत्त्वैकार्थसमवेत' होना चाहिये। अर्थात् 'रूपादि' गुण, किसी ऐसे द्रव्य (अर्थ) में समवेत यानी समवाय सम्बन्ध से रहते हों, जिसमें (जिस द्रव्य = अर्थ में) 'महत्त्वपरिमाण' भी 'समवाय सम्बन्ध' से रहता हो। यह एक बात हुई।

(२) दूसरी बात यह है कि उन रूपादिगुणों को उद्भूत (प्रत्यक्ष योग्य) होना चाहिये। अभिप्राय यह है कि रूपादिगुण यदि सूक्ष्म रहेंगे तो इन्द्रियों से उनका ग्रहण नहीं हो सकेगा। उक्त दो विशेषताओं में से यदि एक की भी कमी रहेगी तो उन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। अतः उन गुणों के प्रत्यक्ष होने में उपर्युक्त दोनों बातों का उनमें होना आवश्यक है। अत एव परमाणु तथा द्वयणुक का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, क्योंकि उनमें महत्त्वपरिमाण नहीं है। उस कारण 'परमाणु तथा द्वयणुक' का रूप 'महत्त्वैकार्थसमवेत' नहीं हो पाता। उसी प्रकार 'चक्षु' का रूप भी नहीं दिखाई देता, क्योंकि चक्षु का 'रूप' उद्भूत अवस्था में नहीं रहता, वह तो अनुद्भूत ही रहता है।

प्रश्न—'उद्भूत, अनुद्भूत' शब्दों का अभिप्राय क्या है ?

उत्तर—'शुक्लत्व, लोहितत्व, पीतत्व' आदि जातियों की 'व्याप्य' रहनेवाली बहुत-सी 'अनुद्भूतत्व जातियाँ' हैं। ये जातियाँ जिन-जिन रूपादिगुणों में रहती हैं, वे 'गुण' अतीन्द्रिय यानी प्रत्यक्ष के विषय नहीं बन पाते। और जिन 'रूप-रसादि' गुणों में उन व्याप्य रहने वाली समस्त अनुद्भूतत्व जातियों का अभाव रहता है, उन 'गुणों' को 'उद्भूत' शब्द से कहा जाता है। फलतः जो 'गुण' उद्भूत रहते हैं, वे ही 'इन्द्रिय-ग्राह्य' हो पाते हैं।

(५) संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः। एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता। तत्रैकत्वं द्विविधं नित्यानित्यभेदात्। नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यश्च। द्वित्वञ्चानित्यमेव। तच्च द्वयोः पिण्डयोः 'इदमेकम्' इत्यपेक्षाबुद्धया जन्यते। तत्र द्वौ पिण्डौ समवायिकारणे। पिण्डयोरेकत्वे असमवायिकारणे, अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम्। अपेक्षाबुद्धिविनाशादेव द्वित्वविनाशः। एवं त्रित्वाद्युत्पत्तिर्विज्ञेया।

(५) संख्या-निरूपण—

संख्येति। 'एकत्व, द्वित्व, त्रित्व' आदि व्यवहार का हेतु (निमित्त) भूत जो 'सामान्यगुण' है, उसे **'संख्या'** कहते हैं। वह 'संख्या', एकत्व से लेकर 'परार्द्ध' (अब्ज, शंख, दशशंख, महाशंख से भी आगे की संख्या) पर्यन्त (तक) होती है। **तत्रेति**।

उनमें से 'एकत्व' दो प्रकार का होता है--'नित्य और अनित्य'। नित्य द्रव्य (आकाश आदि) में रहने वाला 'एकत्व' नित्य, और अनित्य ('घट-पटादि द्रव्यों) में रहने वाला 'एकत्व' अनित्य होता है। **स्वाश्रयेति**। और वह **अनित्य-एकत्व**—'स्वाश्रय-समवायिकारणगतैकत्वजन्य' होता है, अर्थात् वह 'अनित्य एकत्व अपने आश्रय जो घट-पट आदि, उसके समवायिकारण जो कपालादि, उसमें रहने वाले 'एकत्व' से उत्पन्न होता है। **द्वित्वञ्चेति**। और **'द्वित्व'** तो सभी द्रव्यों में **'अनित्य'** ही होता है। और उसकी (द्वित्व की) उत्पत्ति 'अपेक्षाबुद्धि' से होती है। 'अयम् एकः', 'अयम् एकः'=इमौ द्वौ—इस बुद्धि (ज्ञान) को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं। इसी भाव को ग्रन्थकार ने 'तच्च द्वयोः पिण्डयोः 'इदमेकम्' इत्यपेक्षाबुद्धया जन्यते' के द्वारा बताया है। 'पिण्ड' शब्द का अर्थ है—कोई वस्तु अर्थात् व्यक्तिविशेष। अतः 'दो पिण्डों' यानी दो घटव्यक्तियों (वस्तुओं) में 'यह एक घट है'। और 'यह एक घट है'—इत्याकारक जो ज्ञान यानी बुद्धि होती है, उसे 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं। उस 'अपेक्षाबुद्धि' से 'द्वित्व' संख्या की उत्पत्ति होती है। **तत्रेति**। उस 'द्वित्वसंख्या' की उत्पत्ति में 'दोनों-पिण्ड' यानी दोनों वस्तुव्यक्ति 'समवायिकारण' होते हैं। और दो पिण्डों के 'दो एकत्व', उस 'द्वित्वसंख्या' के असमवायिकारण होते हैं। और 'दो एकत्व की अपेक्षाबुद्धि' उस 'द्वित्वसंख्या' की 'निमित्त कारण' होती है। और 'अपेक्षाबुद्धि' के नाश से 'द्वित्व' संख्या का नाश होता है। **एवमिति**। इसी प्रकार से 'त्रित्व' आदि संख्याओं की उत्पत्ति को और विनाश को भी समझ लेना चाहिये।

माधुरी

जिस में 'एकत्व' संख्या रहती है, उसे 'एक' शब्द से और जिसमें 'द्वित्व' संख्या रहती है उसे 'दो' शब्द से और जिस में 'त्रित्व' संख्या रहती है उसे 'तीन' शब्द से कहा जाता है, इसी प्रकार आगे अन्य संख्याओं के विषय में भी समझ लेना चाहिये। एवं च निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार 'यह एक है', 'ये दो हैं', 'ये तीन हैं,' 'ये चार हैं'—इत्याकारक व्यवहार करने में जो हेतु (कारण) 'एकत्व, द्वित्व, त्रित्व आदि' होते हैं, उन्हें 'संख्या' शब्द से कहते हैं।

'संख्या' के लक्षण **'एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः संख्या'** में से 'एकत्वादिव्यवहारः' पद को यदि निकाल दें तो अवशिष्ट रहेगा 'हेतुः सामान्यगुणः' इस लक्षणांश को संख्या का लक्षण मान लिया जाय, अथवा 'एकत्व' पद को हटाकर अवशिष्ट रहे 'व्यवहारहेतुः सामान्यगुणः' इतने ही अंश को संख्या का लक्षण मान लिया जाय तो 'संयोग, विभाग' आदि सामान्यगुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि संयोग, विभागादि सामान्यगुण भी व्यवहार के साधन (हेतु) होते हैं। उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'संख्या' के लक्षण में 'एकत्वादिव्यवहार' पद को

रखना आवश्यक है। लक्षण में 'सामान्यगुणः' पद को न रखने पर एकत्वादि-व्यवहार के हेतुभूत 'काल' आदि में तथा एकत्वादिव्यवहार के हेतुभूत 'एकत्वादिज्ञान' में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके वारणार्थ लक्षण में 'सामान्यगुणः' पद देना चाहिये। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार ने 'संख्या' का उक्त लक्षण समुचित ही किया है।

न्याय-वैशिषक की दृष्टि से एकत्व-द्वित्वादि संख्या 'द्रव्य' में ही रूपादि के समान रहती है। जैसे 'रूप' गुण है, वैसे ही 'संख्या' भी गुण है। वह संख्या दो प्रकार की होती है—'एकत्व' संख्या, किसी एक द्रव्य में रहती है, और 'द्वित्व, त्रित्व' आदि संख्या, अनेक द्रव्यों में रहती हैं। 'एकत्व संख्या' के भी दो प्रकार हैं। एक-'नित्य' और दूसरा-'अनित्य'। एक 'परमाणु' तथा 'आत्मा, आकाश' आदि 'नित्य द्रव्यपदार्थों' में रहने वाली 'एकत्व संख्या' नित्य, और दूसरी 'घट-पट' आदि 'अनित्य द्रव्यपदार्थों' में रहने वाली 'एकत्व संख्या' अनित्य होती है। 'अनित्य एकत्वसंख्या' की उत्पत्ति, उसके 'आश्रयभूत समवायिकारण' में रहने वाली 'एकत्व संख्या' से होती है। अर्थात् वह अनित्य एकत्व 'स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्य' होता है। 'स्व' शब्द से 'अनित्य एकत्व' का ग्रहण करिये, तब उसका आश्रय 'घट-पट' आदि द्रव्य होंगे, उन 'घट-पट' आदि द्रव्य के समवायिकारण 'कपाल-तन्तु' आदि होंगे। इसलिये 'तन्तु' आदि कारणों में रहने वाले 'एकत्व' से 'पट' के एकत्व की उत्पत्ति होती है। जैसे-'पट' का रूप अपने समवायिकारण के रूप से पैदा होता है, वैसे ही 'पट' का एकत्व भी अपने समवायिकारण के एकत्व से ही उत्पन्न होता है। 'द्वित्व' संख्या, सभी द्रव्यों में अनित्य होती है। उस द्वित्व संख्या की उत्पत्ति 'अपेक्षाबुद्धि' से हुआ करती है। 'अयमेकः-अयमेकः = इमौ द्वौ' यह एक है और यह एक है इस रीति से दो पदार्थों में जो एक-दूसरे की अपेक्षा से एकत्वसंख्या की प्रतीति होती है—उसी को अपेक्षाबुद्धि कहते हैं। मुक्तावलीकार ने कहा भी है—'अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरिष्यते'। यह अपेक्षाबुद्धि 'द्वित्व' संख्या की उत्पत्ति में निमित्तकारण है। 'द्वित्व' तो दो द्रव्यों में रहने वाला 'गुण' है। अतः 'द्वित्व' के समवायिकारण 'दो द्रव्य' ही होते हैं। दोनों द्रव्यों में रहने वाला जो 'एकत्व' है, वह 'द्वित्व' संख्या का असमवायिकारण होता है।

शंका—'एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या' इस लक्षण में **'व्यवहार'** शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु 'व्यवहार' शब्द कहीं तो ज्ञान का वाचक होता है और कहीं 'शब्द' का भी वाचक होता है। तथा हि—**'व्यवह्रियते हानोपादानादिकं क्रियते अनेनेति व्यवहारः'**—जिसके द्वारा किसी वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग किया जाता है, उसे व्यवहार कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से तो व्यवहार शब्द 'ज्ञान' का वाचक होता है। क्योंकि किसी भी वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग उसे जानकर (उसका ज्ञान प्राप्त कर-

के) ही किया जाता हैं । वस्तु का ज्ञान प्राप्त किये बिना उसका ग्रहण या त्याग नहीं किया जाता ।

और **'व्यवह्रियते ज्ञायते अनेनेति व्यवहारः'** जिस से वस्तु जानी जाती है, उसे 'व्यवहार' कहते हैं । इस व्युत्पत्ति से 'व्यवहार' का अर्थ होता है—**'शब्द'**, यानी 'व्यवहार' शब्द 'शब्द' का वाचक होता है । क्योंकि 'शब्द' को प्रमाण मान कर ही 'वस्तु' का ज्ञान किया जाता है । शब्द को प्रमाण माने बिना किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है ।

उक्त दोनों व्युत्पत्तियों के कारण यह जिज्ञासा होती है कि संख्या के लक्षण में प्रयुक्त जो 'व्यवहार' शब्द है, उससे ज्ञानात्मक व्यवहार विवक्षित है, या शब्दात्मक-व्यवहार विवक्षित है ? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर 'आत्मा' में और 'आत्म-मनः-संयोग' में तथा 'अदृष्ट, ईश्वर' आदि में अतिव्याप्ति होगी । तथा हि—ज्ञानात्मक व्यवहार का समवायिकारण 'आत्मा' है, अतः एकत्वादि के ज्ञानात्मक व्यवहार का हेतु होने से 'आत्मा' में संख्यालक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है । उसी तरह असमवायि-कारणरूप 'आत्ममनःसंयोग' में तथा निमित्तकारणरूप 'अदृष्ट, ईश्वर, काल' आदि में भी संख्यालक्षण की अतिव्याप्ति होगी ।

एवं द्वितीय पक्ष का स्वीकार करने पर 'शब्दात्मक व्यवहार का समवायिकारण आकाश' है, अतः उसमें तथा असमवायिकारणरूप कण्ठ-तालु आदि के साथ जो आकाश का संयोग है, उसमें और निमित्तकारण रूप 'अदृष्ट, ईश्वर, काल' आदि में संख्या लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ।

समा०—यहाँ 'व्यवहार' शब्द से **'प्रत्यक्षज्ञान'**रूप व्यवहार का ग्रहण करना चाहिये । इस 'प्रत्यक्षज्ञान'रूप व्यवहार का जो हेतु होता है, उसे 'संख्या' शब्द से कहा जाता है । तथाहि—जैसे 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान के विषयभूत उन 'घट-पट' आदि में 'विषयत्वरूप' से कारणता (हेतुता) रहती है, वैसे ही 'एकः द्वौ' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञानरूप व्यवहारों में भी उस 'एकत्वादि' संख्या को 'विषयत्वरूप' से कारणता रहती है, क्योंकि 'विषयता' के बिना कोई भी प्रत्यक्षज्ञान होता नहीं है । इसलिये **'विषयत्वेनैकादिव्यहारहेतुः संख्या'**—यह 'संख्या' का लक्षण किया गया है । तब 'आत्मा' में तथा 'आत्म-मनःसंयोग' में और 'अदृष्टादिकों' में प्रत्यक्षज्ञानरूप व्यवहार के प्रति 'कारणता' के रहने पर भी 'विषयत्वरूप' से कारणता के न रहने से उनमें उक्त 'संख्यालक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

अथवा उक्त लक्षण में 'हेतु' के स्थान पर 'विषयः' कह देने पर भी अतिव्याप्ति नहीं हो पायगी । अर्थात् 'एकादिव्यवहार-विषयः संख्या' यह 'संख्या' का लक्षण कर देना चाहिये । तब 'एकः, द्वौ, त्रयः' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञानरूप व्यवहार का 'एकः, द्वौ'

इत्यादि 'संख्या' ही 'विषय' होगी, अन्य कोई नहीं। 'आत्मा, अदृष्ट' आदि तो विषय होंगे नहीं, इसलिये उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका०—'एको घटः'—एक संख्यावाला (एकत्वसंख्याविशिष्ट) घट है—यह प्रत्यक्षज्ञान 'एकत्व संख्याविशिष्ट घट' को विषय करता है। इसलिये प्रत्यक्षज्ञान में जैसे उस 'एकत्वसंख्या' को 'विषयत्वरूप' से कारणता है, वैसे ही उस 'घट' को भी 'विषयत्वरूप' से कारणता होगी। तब उस 'प्रत्यक्षज्ञान' का जैसे 'एकत्व' संख्या विषय है, वैसे ही 'घट' भी 'विषय' है। इसलिये 'विषयत्वेनैकादिव्यवहारहेतुः संख्या' इस प्रथम लक्षण की तथा 'एकादिव्यवहारविषयः संख्या' द्वितीय लक्षण की 'घट' में अतिव्याप्ति होगी।

समा०—उक्त दोनों लक्षणों में 'गुण' पद का भी निवेश करना चाहिये। अर्थात् 'विषयत्वेनैकादिव्यवहारहेतुर्गुणः संख्या' अथवा 'एकादिव्यवहारविषयो गुणः संख्या' इस प्रकार दोनों लक्षणों को 'गुण' पद से घटित कर देने पर 'घटादिकों' में गुणरूपता न होने से उन 'घटादि' द्रव्यों में उक्त 'संख्यालक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अथवा 'एकादिव्यवहारहेतुः संख्या' में 'व्यवहार' पद से 'शब्दरूप' व्यवहार का ग्रहण करना चाहिये। और 'हेतु' पद से 'प्रवृत्तिनिमित्त' का ग्रहण करना चाहिये। तब लक्षण का आकार यह होगा—'एकादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं संख्या' अर्थात् 'एकः, द्वौ, त्रयः' इत्यादि शब्दों के प्रवृत्ति का जो निमित्त होता हो, उसे 'संख्या' कहते हैं। तब जिस 'द्रव्य' में 'एकत्व' संख्या रहेगी उस 'द्रव्य' में तो 'अयमेकः' इस तरह 'एक' पद की प्रवृत्ति होगी। और जिन 'द्रव्यों' में 'इमौ द्वौ' इस तरह 'द्वि' पद की प्रवृत्ति होगी तथा जिन 'द्रव्यों' में 'त्रित्व' संख्या रहेगी, उन द्रव्यों में 'इमे त्रयः' इस तरह 'त्रि' शब्द की प्रवृत्ति होगी। एवंच 'एकत्व' संख्या तो 'एक' पद की प्रवृत्ति का निमित्त है, और 'द्वित्व' संख्या 'द्वि' पद की प्रवृत्ति का और 'त्रित्व' संख्या 'त्रि' पद की प्रवृत्ति का निमित्त होगी। इसी प्रकार 'चतुष्ट्व', 'पञ्चत्व' आदि संख्याओं में भी 'चार, पाँच' आदि शब्दों की प्रवृत्ति की निमित्तता समझ लेनी चाहिये।

इस रीति से उक्त लक्षणलक्षित जो 'संख्यागुण' है, वह 'पृथिवी' आदि नव द्रव्यों में ही रहता है। वह 'संख्यागुण', 'एकत्व' से लेकर 'परार्द्ध' तक ही होता है। परार्द्ध से आगे कोई संस्या नहीं होती। विष्णुपुराण में इसी बात को बताने वाला एक श्लोक उपलब्ध होता है—

'एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च॥
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शङ्खपद्मौ च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्द्धश्च दशवृद्धया यथाक्रमम्॥

एकादिक संख्याओं में पूर्व-पूर्व संख्या को दशगुणित कर देने से अगली-अगली संख्या का स्वरूप निष्पन्न होता है।

यह संख्यागुण' एकत्व और अनेकत्व भेद से दो प्रकार का होता है। 'एकत्व' संख्या से भिन्न संख्या का नाम 'अनेकत्व' है। 'अनेकत्व संख्या', 'नित्य द्रव्यों' में तथा 'अनित्य द्रव्यों' में सर्वत्र 'अनित्य' होती है। वह कहीं भी 'नित्य' नहीं होती।

किन्तु 'एकत्व' संख्या 'नित्य', 'अनित्य' भेद से दो प्रकार की होती है। नित्य द्रव्यों में तो वह (एकत्व संख्या) नित्य होती है अर्थात् 'पृथिवी, जल, तेज, वायु'— इन चार द्रव्यों के 'परमाणुओं' में तथा 'आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन' इन पाँच द्रव्यों में वह 'एकत्व संख्या' नित्य होती है। और 'अनित्य द्रव्यों' में वह 'एकत्व-संख्या' अनित्य होती है। अर्थात् द्वचणुक-त्र्यणुकादि कार्यद्रव्यरूप 'पृथिवी, जल, तेज, वायु' में वह अनित्य होती है।

वह अनित्य 'एकत्व संख्या' अपने आश्रयभूत द्रव्य की उत्पत्ति के 'द्वितीयक्षण' में उत्पन्न होती है, और अपने आश्रयद्रव्य के नाश से ही नष्ट होती है।

जिस-जिस 'अनित्य द्रव्य' में जो-जो 'एकत्व संख्या' रहती है, उस-उस 'एकत्व-संख्या' का वह-वह 'अनित्य द्रव्य', **समवायिकारण** होता है। और उस-उस अनित्यद्रव्य के 'अवयवों' में रहने वाली जो 'एकत्वसंख्या' है वह, उस अनित्यद्रव्यगत 'एकत्व-संख्या' का 'असमवायिकारण' होती है। और 'अदृष्ट, ईश्वर' आदि उस 'एकत्व-संख्या' के 'निमित्तकारण' होते हैं। जैसे—'घटरूप' अनित्यद्रव्य में रहने वाली जो 'एकत्वसंख्या' है, उस एकत्वसंख्या का वह 'घट' तो 'समवायिकारण' होता है, और 'घट' के अवयवरूप 'कपालों' में रहने वाली 'एकत्वसंख्या', उसकी 'असमवायिकारण' होती है, तथा 'अदृष्ट, ईश्वर' आदि उस संख्या के 'निमित्तकारण' होते हैं। इस प्रकार द्वचणुकादि अनित्यद्रव्यों में रहने वाली 'एकत्वसंख्या' अनित्य ही होती है। द्वित्व-त्रित्वादि संख्या से लेकर परार्द्धतक की 'अनेकत्व संख्या' तो 'अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होने के कारण तथा 'अपेक्षाबुद्धि' के नाश से ही उसका नाश होने के कारण वह सर्वत्र अनित्य ही होती है। अर्थात् 'परमाणु, आकाशादि नित्यद्रव्यों में तथा द्वचणुक-त्र्यणुकादि अनित्यद्रव्यों में वह 'अनेकत्व संख्या' अनित्य ही होती है। वह द्वित्व-त्रित्वादि अनेकत्व संख्या, 'अनेकद्रव्यों, के आश्रित ही रहती है। 'एक द्रव्य' के आश्रित नहीं रहती। जैसे—'दो घटों' में स्थित 'द्वित्व' संख्या उन दो घटों के आश्रित ही रहती है। तथा 'तीन घटों' में स्थित 'त्रित्व' संख्या उन तीन घटों के आश्रित ही रहती है। 'प्रत्येक घट' के आश्रित नहीं रहती।

शंका०—जब द्वित्व-त्रित्वादि अनेकत्व संख्या 'समवाय सम्बन्ध' से प्रत्येक घट में भी रहती है। तब कैसे कह रहे हैं कि वह अनेकत्व संख्या 'प्रत्येक घट' के आश्रित नहीं रहती ?

समा०—यद्यपि द्वित्व-त्रित्वादि अनेकत्व संख्या, 'समवायसम्बन्ध' से प्रत्येक घट में भी रहती है, तथापि 'एकः, द्वौ' अर्थात् एकत्व संख्या से विशिष्ट जो द्रव्य है, वह 'द्वित्वसंख्याविशिष्ट' है—ऐसी प्रतीति लोगों को नहीं हुआ करती। किन्तु 'एको न द्वौ' अर्थात् 'एकत्वसंख्याविशिष्ट द्रव्य,' 'द्वित्वसंख्या से विशिष्ट नहीं है'—ऐसी प्रतीति सभी लोगों को होती है। इस कारण उन 'द्वित्व-त्रित्वादि अनेकत्व संख्या' का उन अनेक द्रव्यों के साथ 'पर्याप्ति' नामक सम्बन्ध-विशेष की कल्पना करनी होती है, उसी के बल पर उपर्युक्त प्रतीति हुआ करती है। जैसे—दो घटों में स्थित 'द्वित्व संख्या' उस 'पर्याप्तिसम्बन्ध' से उन दो घटों में ही रहती है। तथा तीन घटों में स्थित 'त्रित्व संख्या' उस 'पर्याप्तिसम्बन्ध' से उन तीन घटों में ही रहती है। वह 'द्वित्व-त्रित्वादि अनेकत्व संख्या' प्रत्येक घट में 'पर्याप्तिसम्बन्ध' से नहीं रहती। इसीलिये 'एकः, द्वौ' इस प्रकार की प्रतीति लोगों को नहीं हुआ करती और 'एकः न द्वौ' यह प्रतीति लोगों को हो जाती है। यदि द्वित्व-त्रित्वादि अनेकत्व संख्या का 'पर्याप्तिसम्बन्ध' उन अनेक द्रव्यों में नहीं मानेंगे तो 'द्वित्वादि' संख्या, समवाय सम्बन्ध से प्रत्येक द्रव्य में रहती है, तब 'एको द्वौ' यह प्रतीति अवश्य होनी चाहिये तथा 'एको न द्वौ' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। यहाँ पर 'पर्याप्ति'—यह नाम, 'स्वरूपसम्बन्ध' का है। अर्थात् 'प्रतियोगी' रूप वस्तु का अथवा 'अनुयोगी' रूप 'वस्तु' का जो स्वरूप है, वही जहाँ 'सम्बन्धरूप' होता है अर्थात् सम्बन्ध का काम करता है, तब उसे 'स्वरूपसम्बन्ध' के नाम से कहा जाता है। जैसे 'दो घटों' में स्थित 'द्वित्व' संख्या का स्वरूप ही उन 'दो घटों' में 'पर्याप्ति' नाम का सम्बन्ध है। ऐसे ही त्रित्वादि संख्या को भी जानना चाहिये।

द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति 'अपेक्षाबुद्धि' से होती है, और द्वित्वादि संख्या का नाश, उस अपेक्षाबुद्धि के नाश से होता है। 'अनेकैकत्वविषयिणी बुद्धिः अपेक्षाबुद्धिः' अर्थात् अनेक 'एकत्वों' को विषय करने वाली बुद्धि को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं। जैसे—'अयमेकः अयमेकः' यह बुद्धि 'दो एकत्वों' को विषय कर रही है और 'अयमेकः, अयमेकः, अयमेकः' यह बुद्धि तीन एकत्वों' को विषय कर रही है। इसलिये 'अनेक-एकत्व' विषयक होने से इसको 'अपेक्षाबुद्धि' कहा जाता है। 'दो एकत्वों' को विषय करने वाली अपेक्षाबुद्धि से तो 'द्वित्वसंख्या' की उत्पत्ति होती है, 'तीन एकत्वों' को विषय करने वाली अपेक्षाबुद्धि से 'त्रित्वसंख्या' की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से चतुष्ट्व, पञ्चत्व संख्या की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

'अपेक्षाबुद्धि' से अनेकत्वसंख्या की उत्पत्ति तथा नाश का क्रम—

ऊपर बता चुके हैं कि अपेक्षाबुद्धि से 'द्वित्वादि अनेकत्व संख्या' की उत्पत्ति, तथा अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वादि अनेकत्व संख्या का नाश होता है। अतः अब उनकी उत्पत्ति और नाश का क्रम बताते हैं।

(१) 'दो घटों' के साथ चक्षुरादि इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर 'अयमेको घटः-अयमेको घटः'—ऐसी 'दो एकत्वों' को विषय करने वाली 'अपेक्षाबुद्धि' **प्रथमक्षण** में होती है। अर्थात् दो द्रव्यों (घटों) के साथ तथा उन द्रव्यों में रहने वाली एकत्व-संख्या और उस एकत्वसंख्या में विद्यमान जो 'एकत्वत्व' सामान्य, उसके साथ चक्षुरिन्द्रिय अथवा त्वगिन्द्रिय का सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होता है। यानी 'द्रव्य' के साथ 'संयोग' सम्बन्ध, और 'एकत्व' के साथ 'संयुक्तसमवाय' और 'एकत्वत्व' के साथ 'संयुक्त-समवेत-समवाय'—ये तीनों सम्बन्ध (सन्निकर्ष) एक ही क्षण में होते हैं। प्रथम क्षण में होने वाले इस कार्य को 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष' शब्द से कहा जाता है।

(२) द्वितीयक्षण में उन दोनों घटों में द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति होती है। उस द्वित्व संख्या का 'समवायिकारण', वे दोनों घट होते हैं। और उन दोनों घटां में स्थित जो 'दो, एकत्वसंख्याएँ' हैं, वे असमवायिकारण होती हैं। और 'अपेक्षाबुद्धि' निमित्त कारण होती है। अभिप्राय यह है कि द्वितीयक्षण में 'द्रव्य', 'एकत्व' और 'एकत्वत्व'—इन तीनों का निर्विकल्पक ज्ञान होता है। इसे 'एकत्वसामान्यज्ञान' शब्द से कहा जाता है।

(३) तृतीयक्षण में विशिष्ट बुद्धि का कारणभूत विशेषणज्ञानरूप 'द्वित्व द्वित्वत्वे' इस प्रकार का 'द्वित्वत्व' धर्मविषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान होता है।

(४) चतुर्थक्षण में उस निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप विशेषणज्ञान से उस द्वित्वत्व-धर्म विशिष्ट 'द्वित्व' का 'इदं द्वित्वम्' इस प्रकार का सविकल्पक प्रत्यक्षरूप विशिष्ट ज्ञान होता है, तथा उक्त निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ही उस अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है।

(५) पञ्चमक्षण में 'द्वौ घटौ' इस प्रकार का विशिष्ट वैशिष्टयावगाही प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, तथा उस अपेक्षाबुद्धि के नाश से उस द्वित्व का नाश होता है। एक विशिष्ट पदार्थ में दूसरे विशिष्ट पदार्थ के सम्बन्ध को विषय करने वाला जो ज्ञान होता है, उसे 'विशिष्ट-वैशिष्टयावगाहि ज्ञान' कहते हैं। जैसे—'घटत्वधर्म' से विशिष्ट 'घट' पदार्थ में 'द्वित्वत्व' धर्मविशिष्ट 'द्वित्व' पदार्थ के संबंध को विषय करने वाला 'द्वौ घटौ' यह 'ज्ञान,' विशिष्टवैशिष्टयावगाहिज्ञान' है। इस विशिष्ट-वैशिष्टयावगाहिज्ञान में 'विशेषतावच्छेदकधर्मप्रकारकज्ञान' कारण होता है। जैसे—'द्वौ घटौ' इस विशिष्टवैशिष्टयावगाहिज्ञान में 'दो घट' तो '**विशेष्य**' हैं, और 'द्वित्व'-संख्या '**विशेषण**' है। तब 'घटनिष्ठविशेष्यतानिरूपित' जो 'द्वित्वनिष्ठविशेषणता' है, वह विशेषणता, 'द्वित्व' धर्म से अवच्छिन्न हुई है। इसलिये वह 'द्वित्वधर्मप्रकारक द्वित्व-विशेष्यक जो 'इदं द्वित्वम्' यह विशिष्ट ज्ञान है, वह विशेषणतावच्छेदकधर्म-प्रकारकविशिष्ट ज्ञान, उस उक्त विशिष्टवैशिष्टयावगाहिज्ञान में कारण हुआ है। जो-जो विशिष्ट ज्ञान होता है, वह-वह, उस-उस विशेषण के ज्ञान से ही जन्य होता है। विशेषण के ज्ञान के बिना वह विशिष्ट ज्ञान होता नहीं। जैसे 'द्वित्वधर्मविशिष्ट

द्वित्व' को विषय करने वाला 'इदं द्वित्वम्' यह विशिष्टज्ञान उस 'द्वित्वत्व' धर्म के निर्विकल्पक-प्रत्यक्षज्ञान से जन्य होता है। जो-जो कारण होता है, वह-वह अपने-अपने कार्य के पूर्वक्षणवर्ती हो होता हैं। इसलिये (१) **प्रथमक्षण** में 'अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति'। (२) **द्वितीयक्षण** में 'द्वित्व की उत्पत्ति'। (३) **तृतीयक्षण** में द्वित्व-धर्मविषयक 'द्वित्व-द्वित्वे' इस प्रकार के निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप विशेषण ज्ञान की उत्पत्ति। (४) **चतुर्थक्षण** में उस विशेषण ज्ञान से 'इदं द्वित्वम्' इस विशिष्ट प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति। (५) **पञ्चमक्षण** में उस विशिष्टज्ञान से 'द्वौ घटौ' इस प्रकार के विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति क्रमशः होती है।

शंका०—'द्वित्वत्व' विषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से यदि 'अपेक्षाबुद्धि' का नाश मानोगे तो वह 'अपेक्षाबुद्धि' तीन क्षणपर्यन्त स्थायी रहेगी। किन्तु उसका त्रिक्षणावस्थायित्व तो अत्यन्त विरुद्ध है। क्योंकि 'विभुद्रव्य के जो योग्यविशेषगुण हैं, उन विशेषगुणों का स्वोत्तरवर्ती तथा स्व-समानाधिकरण ऐसे योग्यविशेषगुणों से नाश हुआ करता हैं'—यह न्यायशास्त्र का नियम है। इस नियम के अनुसार 'विभुद्रव्य' के विशेषगुणों का 'द्विक्षणावस्थायित्व' ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में 'अपेक्षाबुद्धि' भी 'विभु आत्मा' का 'योग्यविशेषगुण' है। तब 'द्वित्व' के उत्पत्तिक्षण में उत्पन्न हुए स्मरणज्ञानादिक योग्यविशेषगुणों से उस 'अपेक्षा बुद्धि का भी तृतीयक्षण में अवश्य ही नाश होगा। एवं च शब्द, बुद्धि आदि अन्य योग्य-विशेषगुणों की तरह उस 'अपेक्षाबुद्धि' को भी 'दो क्षणतक' ही स्थायी मानना चाहिये। त्रिक्षणावस्थायित्व नहीं।

समा०—यद्यपि उपर्युक्त नियम के अनुसार ज्ञानादिकों को 'द्विक्षणावस्थायित्व' ही सिद्ध होता है, तथापि 'द्वित्व' की उत्पत्ति के क्षण में उस 'विभु आत्मा' में कोई भी योग्यविशेषगुण उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये 'अपेक्षाबुद्धि' में 'त्रिक्षणावस्थायित्व' की कल्पना की जाती है।

अथवा 'द्वित्व' के उत्पत्तिक्षण में यदि कदाचित् उस 'विभु आत्मा' में किसी योग्यविशेषगुण की उत्पत्ति को मान भी लें, तो भी वह योग्यविशेषगुण उस अपेक्षा-बुद्धि का नाश नहीं करेगा, किन्तु उस द्वित्वोत्पत्तिक्षण के उत्तरक्षण में उत्पन्न हुआ जो द्वित्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है, वही उस अपेक्षा बुद्धि का नाश करता है। इसलिये उस अपेक्षाबुद्धि को त्रिक्षणावस्थायी भी कहा जा सकता है।

अथवा यदि कदाचित् 'अपेक्षाबुद्धि' को 'त्रिक्षणावस्थायी न माना जाय तो 'द्वित्व' के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षण में उस अपेक्षाबुद्धि का नाश होगा और उस अपेक्षाबुद्धि का नाश ही उस 'द्वित्व' का नाशक होगा। अतः जिस क्षण में उस द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उस क्षण में उस द्वित्व का ही नाश होगा। उस द्वित्व का नाश होने से 'इदं द्वित्वम्' इस प्रकार से उस 'द्वित्व' का सविकल्पक प्रत्यक्ष

नहीं हो सकेगा। क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों से विद्यमान वस्तु का ही लौकिक प्रत्यक्ष होता है। अविद्यमान वस्तु का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता है। अत एव कहा जाता है कि 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'। एवं च उक्त रीति से सविकल्पक प्रत्यक्ष के न हो सकने पर 'द्वौ घटौ' इस प्रकार का विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष भी नहीं हो पायगा। किन्तु होता तो है। अतः पूर्वोक्तरीति से 'अपेक्षाबुद्धि' को त्रिक्षणावस्थायी मानना ही चाहिये।

शंका०—अपेक्षाबुद्धि के नाश से 'द्वित्व' का नाश यदि नहीं मानते हैं तो कौन-सी हानि है ?

समा०—अपेक्षाबुद्धि के नाश से 'द्वित्व' का नाश यदि नहीं मानेंगे तो अपेक्षा-बुद्धि के नाश के बाद भी उस 'द्वित्व' का प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि 'गुण' के नाश के प्रति आश्रयभूत 'द्रव्य' का नाश अथवा विरोधी 'गुणान्तर' की उत्पत्ति—ये दोनों कारण हुआ करते हैं। किन्तु यहाँ पर उस 'द्वित्व' के नाश करने वाले वे दोनों कारण नहीं है और 'अपेक्षाबुद्धि' के नष्ट होने पर भी उस 'द्वित्व' का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिये उस 'अपेक्षाबुद्धिरूप' निमित्त कारण के नाश से ही उस 'द्वित्व' का नाश मानना चाहिये।

शंका०—उस 'अपेक्षाबुद्धि' के अभावकाल में उस 'द्वित्व' के प्रत्यक्ष होने की आपत्ति का निवारण करने के लिये उस 'द्वित्व' को अपेक्षाबुद्धिजन्य मानना तथा उस 'अपेक्षाबुद्धि' के नाश से उस 'द्वित्व' का नाश मानना उचित नहीं है। क्योंकि उस 'अपेक्षाबुद्धि' को यदि 'द्वित्व' के प्रत्यक्ष में कारण मानते हैं तो भी उस 'अपेक्षा-बुद्धि' के अभावकाल में उस 'द्वित्व' के प्रत्यक्ष की आपत्ति का निवारण हो सकता है। अतः 'द्वित्व' के प्रत्यक्ष की आपत्ति के निवारणार्थ उस 'द्वित्व' को 'अपेक्षाबुद्धिजन्य' मानना व्यर्थ है। एवं च 'अपेक्षाबुद्धि' को उस 'द्वित्व' के प्रत्यक्ष होने में कारण ही मानना चाहिये। किन्तु वह उस 'द्वित्व' के प्रत्यक्ष होने में कारण नहीं है।

समा०—उस 'अपेक्षाबुद्धि' को यदि 'द्वित्व' के प्रत्यक्ष का कारण मानें तो उस 'अपेक्षाबुद्धि' की 'कार्यता' का अवच्छेदक 'द्वित्वप्रत्यक्षत्व' को कहना होगा, और यदि उस 'अपेक्षाबुद्धि' को 'द्वित्व' का कारण मानते हैं तो उस 'अपेक्षा बुद्धि' की 'कार्यता' का अवच्छेदक 'द्वित्वत्व' कहना होगा। इसलिये 'द्वित्वप्रत्यक्षत्व' रूप उपाधि की अपेक्षा करके 'द्वित्वत्व' जाति को उस 'कार्यता' का अवच्छेदक मानने में ही लाघव होगा। एवं च 'अपेक्षाबुद्धि' को उस 'द्वित्व' के प्रति ही 'कारणता' मानना उचित है।

शंका०—'अपेक्षाबुद्धि' को 'द्वित्व, त्रित्व' आदि संख्या की कारण कहना संभव नहीं है, क्योंकि 'पृथिवी' आदि चारों भूतों के 'परमाणु' तथा 'द्व्यणुक' का हम जैसे जीवों को प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसलिये उन 'परमाणुओं' में तथा उन 'द्व्यणुकों' में

हम जैसे जीवों की 'अयमेकः परमाणुः', 'अयमेकः परमाणुः', 'अयमेको द्व्यणुकः', 'अयमेको द्व्यणुकः', 'अयमेको द्व्यणुकः' इस प्रकार की 'अपेक्षा बुद्धि' नहीं होती है। अतः उन 'दो परमाणुओं' में उस 'द्वित्व' संख्या की उत्पत्ति नहीं होगी। तथा उन 'तीन द्व्यणुकों' में उस 'त्रित्व' संख्या की उत्पत्ति नहीं होगी।

उन 'दो परमाणुओं' में उस 'द्वित्व' संख्या की उत्पत्ति तथा उन तीन 'द्व्यणुकों' में उस 'त्रित्व' संख्या की उत्पत्ति न होने को यदि इष्टापत्ति कहो, तो 'द्व्यणुक' में 'मध्यमअणुत्व' परिमाण की उत्पत्ति तथा 'त्र्यणुक' में 'अपकृष्ट' मध्यम महत्त्व-परिमाण की उत्पत्ति नहीं हो पायगी, क्योंकि 'जो-जो भावकार्य रहता है, वह-वह 'समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण' इन तीन कारणों से ही जन्य होता है'। इन तीन कारणों के विना किसी भी भावकार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। वह भावकार्यरूपता उस द्व्यणुक के परिमाण में तथा त्र्यणुक के परिमाण में भी है। इसलिये वह द्व्यणुक का परिमाण तथा त्र्यणुक का परिमाण भी किसी असमवायि-कारण के द्वारा ही अवश्य उत्पन्न (जन्य) होगा। तब जैसे घटादि अवयवियों के परिमाण में कपालादिक अवयवों के परिमाण को असमवायिकारणता रहती है, उसी तरह उन परमाणुओं के परिमाण को उस द्व्यणुक के परिमाण की तथा उन द्व्यणुकों के परिमाण को उस त्र्यणुक के परिमाण की असमवायिकारणता का होना संभव नहीं होता है। क्योंकि उस परिमाण में अपने समान जातिवाले तथा अपने से उत्कृष्ट परिमाण की ही जनकता रहती है। जैसे कपालों का महत्त्वपरिमाण, महत्त्वत्त्वरूप होने से अपने समान जाति वाले तथा अपने से उत्कृष्ट घटगत महत्त्वपरिमाण का जनक होता है। ऐसी स्थिति में उन परमाणुओं के अणुपरिमाण को यदि द्व्यणुक के परिमाण का असमवायिकारण कहें तो द्व्यणुक का परिमाण अणुतर होगा। और द्व्यणुक के परिमाण को यदि त्र्यणुक के परिमाण का असमवायिकारण कहें तो त्र्यणुक का परिमाण अणुतम होगा। तब त्र्यणुक का चाक्षुष प्रत्यक्ष ही नहीं हो पायगा। क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने में महत्त्वसमानाधिकरण उद्भूतरूप ही कारण होता है। उसके बिना किसी प्रकार का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। 'त्र्यणुक' का चाक्षुष-प्रत्यक्ष तो सभी लोगों को हुआ करता है। इसलिये कहना होगा कि द्व्यणुक का और त्र्यणुक का परिमाण, उन परमाणु-द्व्यणुकरूप अवयवों के परिमाण से जन्य नहीं है। अपितु दो परमाणुनिष्ठ द्वित्व संख्या तो द्व्यणुक के परिमाण का असमबायिकारण है, और तीन द्व्यणुकनिष्ठ त्रित्व संख्या, त्र्यणुक के परिमाण का असमवायिकारण है। ऐसी स्थिति में दो परमाणुनिष्ठ द्वित्व संख्या के प्रति तथा तीन द्व्यणुकनिष्ठ त्रित्व संख्या के प्रति अपेक्षाबुद्धि की अकारणता होने से किसी भी द्वित्व-त्रित्वादि संख्या के प्रति 'अपेक्षाबुद्धि' को कारण नहीं कहा जा सकता है।

समा०—हम जैसे लोगों को यद्यपि उन परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता है,

तथापि योगी पुरुषों को उन परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष होता है। इसलिये उन योगी पुरुषों की अपेक्षाबुद्धि से ही उन दो परमाणुओं में द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति होती है, तथा तीन द्वयणुकों में त्रित्वसंख्या की उत्पत्ति होती है। और उन योगी पुरुषों की अपेक्षाबुद्धि के नाश से ही उस द्वित्व, त्रित्वसंख्या का नाश होता है।

शंका—जगत् के स्थितिकाल में तो योगी पुरुषों के विद्यमान रहने से यद्यपि उन योगी पुरुषों की अपेक्षाबुद्धि से उन दो परमाणुओं में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति तथा तीन द्वयणुकों में त्रित्वसंख्या की उत्पत्ति का होना संभव हो सकता है, तथापि सृष्टि के आदिकाल में तो वे योगी पुरुष हैं नहीं। तब उस सृष्टि के आदिकाल में उन परमाणु, द्वयणुकों में उस द्वित्व-त्रित्व संख्या की उत्पत्ति कैसे होगी? अर्थात् नहीं होगी।

समा०—सृष्टि के आदिकाल में योगीपुरुषों के न रहने पर भी ईश्वर तो विद्यमान है ही। और ईश्वर को उन परमाणु-द्वयणुकादि समस्त पदार्थों (वस्तुओं) का प्रत्यक्ष भी होता है। इसलिये सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से ही उन परमाणु-द्वयणुकों में उस द्वित्व-त्रित्वसंख्या की उत्पत्ति का होना संभव हो सकता है।

शंका—सृष्टि के आदिकाल में परमाणु-द्वयणुकों में ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से यदि द्वित्व-त्रित्व संख्या की उत्पत्ति मानोगे तो उस द्वित्व-त्रित्व संख्या का नाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि नित्य है। उस का नाश होना संभव नहीं है। और अपेक्षाबुद्धि के नाश से ही द्वित्व-त्रित्वादि संख्या का नाश आपने माना है।

समा०—ईश्वर की वह अपेक्षाबुद्धि 'क्षणविशेषसहकृत' होकर ही उन दो परमाणुओं में उस द्वित्व की उत्पादक होती है। उस सहकारी क्षण के बिना ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि उस द्वित्व संख्या की उत्पादक नहीं होती। यदि कदाचित् उस क्षण-विशेष को उस अपेक्षाबुद्धि का सहकारी नहीं मानो तो सृष्टिकाल के पूर्व प्रलयकाल में भी उस अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होनी चाहिये। किन्तु होती नहीं है। अतः ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि के नाश न होने पर भी उस सहकारी क्षणविशेष के नाश से ही द्वित्व-त्रित्वादि संख्या का नाश होना संभव है।

शंका—सहकारी क्षणविशेष के नाश से ही यदि द्वित्व-त्रित्वादि संख्या का नाश मानोगे तो 'अपेक्षाबुद्धि' के नाश से ही द्वित्वादि संख्या का नाश होता है'—इस आपकी प्रतिज्ञा का भंग हो जायगा।

समा०—यदि कदाचित् सर्वत्र उस अपेक्षाबुद्धि के नाश से ही द्वित्वादि संख्या का नाश मानोगे तो जहाँ उस अपेक्षाबुद्धिजन्य द्वित्व की उत्पत्ति के उत्तरक्षण में उस द्वित्व संख्या के आश्रयभूत द्रव्यों का नाश हुआ है, वहाँ उस अपेक्षाबुद्धि के नाश हुए बिना ही द्वित्व का नाश हो जाता है, वह नहीं होना चाहिये। अतः अपेक्षा-

बुद्धि का नाश जैसे आश्रयद्रव्य का उपलक्षण माना जाता है, वैसे ही उस सहकारी क्षणविशेष के नाश का भी उसे उपलक्षण मानना चाहिये। अर्थात् किसी द्वित्वादिक संख्या का नाश तो उस अपेक्षाबुद्धि के नाश से होता है। और किसी द्वित्वादि संख्या का नाश, आश्रयभूत द्रव्य के नाश से होता है। और किसी द्वित्वादिसंख्या का नाश, सहकारीक्षण विशेष के नाश से हुआ करता है। अतः पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता है।

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि जीवों से पुण्य-पापरूप अदृष्ट के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से जन्य परमाणु-निष्ठ द्वित्वसंख्या, उस अदृष्ट के नाश से ही नष्ट होती है। अतः अपेक्षाबुद्धि का नाश जैसे आश्रयद्रव्य के नाश का उपलक्षण है, वैसे ही उस अदृष्ट के नाश का भी वह उपलक्षण है।

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि 'कहीं पर तो अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वादि संख्या का नाश मानना, और कहीं पर आश्रयद्रव्य के नाश से द्वित्वादिसंख्या का नाश मानना, और कहीं पर अदृष्ट के नाश से द्वित्वादिसंख्या का नाश मनना—ऐसा कहने पर तो महान् गौरव उपस्थित होगा। इसलिये लाघवात् सर्वत्र ही अदृष्ट के नाश से ही द्वित्वादिसंख्या का नाश कहना ही उचित होगा। अदृष्ट के नाश से द्वित्वादिसंख्या का नाश मानने में पूर्वोक्त नियम का संकोच करके अपेक्षाबुद्धि में त्रिक्षणावस्थायिता की कल्पना करना ठीक नहीं है। किन्तु जैसे अन्यान्य शब्द-ज्ञानादि, योग्यविभुविशेषगुण होने से द्विक्षणावस्थायी माने जाते हैं, वैसे ही अपेक्षाबुद्धि भी योग्यविभुविशेषगुण होने से वह द्विक्षणावस्थायी हो सकती है। इस पर कुछ ग्रन्थ-कारों का कहना है कि सृष्टि के आदिकाल में उन अतीन्द्रिय परमाणु-द्वचणुकों में जो द्वित्व-त्रित्व संख्या की उत्पत्ति होती है, वह ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से या हम जैसे पुरुषों की अपेक्षाबुद्धि से अथवा इस ब्रह्माण्ड में अवस्थित योगी पुरुषों की अपेक्षा-बुद्धि से नहीं होती है, अपितु दूसरे ब्रह्माण्ड में स्थित योगी पुरुषों की अपेक्षाबुद्धि से हुआ करती है। और उन योगी पुरुषों की अपेक्षाबुद्धि के नाश से ही उस द्वित्व-त्रित्वादि संख्या का नाश होता है। अतः अपेक्षाबुद्धि के नाश को केवल आश्रयभूत द्रव्य के नाश का ही उपलक्षण मानना उचित है। क्षणविशेष के नाश का या अदृष्ट के नाश का वह उपलक्षण नहीं है। इस सन्दर्भ में नवीन नैयायिकों का, न्यायकन्दली-कार का और उदयनाचार्य का भी मत देखने योग्य है, किन्तु ग्रन्थविस्तर के भय से इस चर्चा को यहीं पर समाप्त कर रहे हैं। वैशेषिकदर्शन में द्वित्व की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया को विशेष रूप से बताया गया है। अत एव 'द्वित्व' के ज्ञान को वैशेषिक दर्शन के ज्ञान का निकष माना गया है। कहा भी है—

'द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥'

प्रशस्तपादभाष्य में प्रदर्शित द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया में सात क्षण और उसके विनाश की प्रक्रिया में नौ क्षण लगते हैं। द्वित्व की उत्पत्ति, 'अपेक्षाबुद्धि' से और उसका विनाश 'अपेक्षाबुद्धि' के विनाश होता है।

(६) परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्चतुर्विधम्, अणु, महद्, दीर्घं, ह्रस्वञ्चेति। तत्र कार्यगतं परिमाणं सङ्ख्या-परिमाण-प्रचययोनि। तद्यथा द्वचणुकपरिमाणमीश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यपरमाणुद्वित्वजनितत्वात् संख्यायोनि, संख्याकारणकमित्यर्थः। त्र्यणुकपरिमाणञ्च स्वाश्रयसमवायिकारणगतबहुत्व संख्यायोनि। चतुरणुकादिपरिमाणन्तु स्वाश्रयसमवायिकारणपरिमाणजन्यम्। तूलपिण्डपरिमाणन्तु स्वाश्रयसमवायिकारणावयवानां प्रशिथिलसंयोगजन्यम्। परमाणुपरिमाणं परममहत्परिमाणञ्चाकाशादिगतं नित्यमेव।

(६) परिमाणनिरूपण---

परिमाणमिति। मान (माप) के व्यवहार का जो असाधारण कारण हो उसे 'परिमाण' कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है (१) अणु, (२) महत्, (३) दीर्घ, (४) ह्रस्व। **तत्रेति।** कार्यगत चारों प्रकार का परिमाण (१) संख्यायोनि, (२) परिमाणयोनि, (३) प्रचययोनि—तीन प्रकार का होता है। **तद्यथेति।** जैसे—द्वचणुक का जन्य अणुपरिमाण, 'संख्यायोनि' (संख्याकरणक) अर्थात् 'संख्या' के कारण (निमित्त से) होता है। क्योंकि वह ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से जन्य परमाणुगत द्वित्व संख्या से उत्पन्न होने वाली (जन्य) परमाणुओं की द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है। इसलिये वह संख्यायोनि अर्थात् संख्याकारणक है। **त्र्यणुकेति।** और त्र्यणुक का महत् परिमाण अपने (त्र्यणुक परिमाण के) आश्रयभूत त्र्यणुक के समवायिकारण अर्थात् तीन द्वचणुकों की बहुत्व संख्या से उत्पन्न होता है। इसलिये उसे संख्यायोनि कहते हैं। (२) **चतुरणुकेति।** किन्तु चतुरणुक आदि का महत् परिमाण तो अपने परिमाण के आश्रयभूत चतुरणुक आदि के समवायिकारण त्र्यणुक आदि के महत् परिमाण से उत्पन्न होता है। इसलिये वह चतुरणुकादि का परिमाण 'परिमाणयोनि' कहलाता है। (३) **तूलपिण्डेति।** रुई के पिण्ड (गोले) का परिमाण तो अपने आश्रय (तूलपिण्ड) के समवायिकारण रूप अवयवों के प्रशिथिल संयोग (प्रचय) से उत्पन्न होता है। (इसलिये उस रुई के पिण्ड के परिमाण को 'प्रचययोनि' कहते हैं। 'प्रचय' का अर्थ है—'शिथिल अवयवसंयोग'। अर्थात् स्व (महत् परिमाण) के आश्रय (तूलपिण्ड) के समवायिकारणों (अवयवों) का शिथिल संयोग।) 'परमाणु का अणु परिमाण' (पारिमाण्डल्य) तथा आकाश आदि 'परममहत् परिमाण' तो नित्य ही होता है।

माधुरी

'परिमीयते अनेनेति परिमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस साधन से 'द्रव्य' नापा जाय उस साधन को 'परिमाण' कहते हैं। परिमाण के द्वारा ही 'यह लम्बा है, यह छोटा है, यह चौड़ा है'—आदि निश्चय किया जाता है। ग्रन्थकार के द्वारा दिये गये 'परिमाण लक्षण' को इस प्रकार भी कह सकते हैं—'मानव्यवहारविषयवृत्ति-गुणत्वव्याप्यजातिमत् परिमाणम्' अर्थात् 'परिमाण' व्यवहार का विषय होने वाली तथा गुणत्वजाति की व्याप्य जो जाति, उस जाति वाले 'गुण' को 'परिमाण' कहते हैं। 'अयं अणुः अयं महान्, अयं दीर्घः, अयं ह्रस्वः'—इस प्रकार का जो प्रत्यक्षज्ञान रूप व्यवहार है, वह यथाक्रम अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्वरूप परिमाण को ही विषय करता है। इसलिये उक्त चतुर्विध परिमाण, उस मान-व्यवहार का विषय कहा जाता है। ऐसे मान-व्यवहार के विषय रूप परिमाण में रहने वाली परिमाणत्व जाति है, और वह परिमाणत्वजाति 'गुणत्वजाति' की व्याप्य भी है। ऐसी परिमाणत्व जाति वाला चार प्रकार का परिमाण होता है। इस प्रकार लक्षणसमन्वय प्रदर्शित किया है। उक्त लक्षण में 'मान-व्यवहारविषयवृत्ति' पद न रखें तो रूपादि गुणों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जैसे 'परिमाण', गुणत्वजाति की व्याप्य 'परि-माणत्व' जाति से युक्त है, वैसे ही रूपादिक गुण भी उस गुणत्वजाति की व्याप्य 'रूपत्वादिजाति' से युक्त हैं। इस अतिव्याप्ति के निरासार्थ उक्त लक्षण में 'मानव्यवहार-विषयवृत्ति' पद रखा गया है। उस कारण वे रूपत्वादि जातियाँ उस मानव्यवहार के विषयभूत परिमाण में रहने वालीं नहीं हैं। इसलिये उन रूपत्वादिजातियों को लेकर रूपादिगुणों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब 'गुणत्वव्याप्य' पद को यदि लक्षण में न रखें तो परिमाण में रहने वाली गुणत्वव्याप्य जाति को लेकर रूपादि सब गुणों में तथा सत्ताजाति को लेकर द्रव्य, गुण, कर्म में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्व व्याप्य' पद को रखा गया है। तब गुणत्वजाति तथा सत्ता जाति दोनों गुणत्वजाति की व्याप्य नहीं हैं। अतः गुणत्वजाति को लेकर रूपादि सब गुणों में तथा सत्ताजाति को लेकर द्रव्य-गुण-कर्म में परिमाण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

उक्त लक्षण-लक्षित 'परिमाणगुण', पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में ही रहता है। यह परिमाण गुण (१) अणुत्व, (२) महत्त्व, (३) दीर्घत्व, (४) ह्रस्वत्व के भेद से चतुर्विध (चार प्रकार का) होता है। यह चारों प्रकार का परिमाण पुनः (१) परम, (२) मध्यम भेद से दो-दो प्रकार का होता है। अर्थात् 'परमअणुत्व', 'मध्यमअणुत्व'। परममहत्त्व, मध्यममहत्त्व। परमदीर्घत्व, मध्यमदीर्घत्व। परम-ह्रस्वत्व, मध्यमह्रस्वत्व। इन में से पृथिवी, जल, तेज, वायु—इन चार भूतों के परमाणुओं में तथा मन में तो परमअणुत्व परिमाण तथा परमह्रस्वत्व परिमाण

रहता है। और पृथिवी आदि चारभूतों के द्वयणुकों में मध्यमअणुत्व परिमाण तथा मध्यमह्रस्वत्व परिमाण रहता है। और 'आकाश, काल, दिक्, आत्मा'—इन चार द्रव्यों में परममहत्त्व परिमाण तथा परमदीर्घत्व परिमाण रहता है। और पृथिवी आदि चार भूतों के त्र्यणुक से लेकर घट-पटादि सभी कार्यद्रव्यों में मध्यममहत्त्व परिमाण तथा मध्यमदीर्घत्व परिमाण रहता है।

यह परिमाणगुण 'नित्य-अनित्य' के भेद से दो प्रकार का होता है। नित्य द्रव्यों में स्थित जो परिमाणगुण है, वह नित्य है। अर्थात् पृथिवी आदि चार भूतों के 'परमाणुओं' में तथा 'मन' में स्थित जो 'परमअणुत्व परिमाण' तथा 'परमह्रस्वत्व परिमाण' है, तथा 'आकाश, काल, दिक्, आत्मा'—इन चारों में स्थित जो परममहत्त्व परिमाण है, तथा 'परमदीर्घत्व' परिमाण है, उस परिमाण को 'नित्य' कहा जाता है। उसी तरह अनित्य द्रव्यों में स्थित 'परिमाण' को 'अनित्य' कहा जाता है। अर्थात् पृथ्वी आदि चार भूतों के द्वयणुकों में स्थित जो 'मध्यमअणुत्व परिमाण' तथा 'मध्यमह्रस्वत्व परिमाण' है, तथा त्र्यणुक से लेकर घट-पटादि द्रव्यों में स्थित जो 'मध्यममहत्त्व-परिमाण' तथा 'मध्यमदीर्घत्व परिमाण' है, उसे अनित्य कहा जाता है।

यह 'अनित्य परिमाण' भी संख्यामात्रजन्य, परिमाणमात्रजन्य, और प्रचयमात्र-जन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है।

(१) संख्यामात्रजन्यपरिमाण का उदाहरण—

द्वयणुकनिष्ठ जो मध्यमअणत्व तथा मध्यमह्रस्वत्व परिमाण है, वह उस द्वयणुक के आरम्भक परमाणुद्वयनिष्ठ 'द्वित्वसंख्या' से उत्पन्न होता है और त्र्यणुकनिष्ठ जो मध्यममहत्त्व-परिमाण है, वह उस त्र्यणुक के आरम्भक द्वयणुकत्रयनिष्ठ त्रित्व-संख्या से उत्पन्न होता है। इसलिये उस द्वयणुक के परिमाण को तथा उस त्र्यणुक के परिमाण को 'संख्यामात्रजन्य' कहा जाता है। अर्थात् उस परिमाण का 'असमवायि-कारण' वह 'संख्या' ही होती है।

शंका—जैसे 'घट' का परिमाण, 'कपाल' के परिमाण से जन्य होता है, वैसे ही उस 'द्वयणुक' का परिमाण 'परमाणुओं' के परिमाण से क्यों नहीं जन्य माना जाता? तथा 'त्र्यणुक' का परिमाण 'द्वयणुक' के परिमाण से क्यों नहीं जन्य माना जाता?

समा०—'अवयवों' का परिमाण, जो 'अवयवी' के परिमाण को उत्पन्न करता है, वह 'स्व-समानजातीय तथा अपने से उत्कृष्ट (स्वोत्कृष्ट) परिमाण को ही उत्पन्न करता है। जैसे—कपालरूप अवयवों का 'महत्त्वपरिमाण' 'महत्त्वत्व' रूप से अपने सजातीय तथा अपने से उत्कृष्ट ऐसे 'घटरूप' अवयवी के 'महत्त्वपरिमाण' को उत्पन्न करता है। वैसा द्वयणुक का 'मध्यमअणुत्व परिमाण', उस परमाणु के परम-अणुत्व परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं है। एवं 'त्र्यणुक' का महत्त्वपरिमाण, उस द्वयणुक के 'अणुत्वपरिमाण के सजातीय भी नहीं है। 'परिमाणत्व' जाति की दृष्टि

से 'त्र्यणुक' का परिमाण यद्यपि 'द्वयणुक' परिमाण के सजातीय ही है, तथापि यहाँ पर उस परिमाणत्व जाति की दृष्टि से सजातीयता विवक्षित नहीं है। किन्तु उस परिमाणत्व जाति की व्याप्य जो 'अणुत्वत्व, महत्त्वत्व, ह्रस्वत्वत्व, दीर्घत्वत्व' जातियाँ हैं, उन जातियों की दृष्टियों से 'सजातीयता' विवक्षित है। अतः उस द्वयणुक के परिमाण का वह 'परमाणुओं का परिमाण' असमवायिकारण नहीं है, और उस त्र्यणुक के परिमाण का वह द्वयणुक का परिमाण भी असमवायिकारण नहीं है।

अब यदि कदाचित् परमाणु के परिमाण से द्वयणुक के परिमाण को जन्य मान लें, तथा द्वयणुक के परिमाण से त्र्यणुक के परिमाण को जन्य मान लें, तो परमाणु के अणुत्व-परिमाण की अपेक्षा द्वयणुक का परिमाण 'अणुतर' मानना होगा, उसी तरह द्वयणुक के परिमाण की अपेक्षा त्र्यणुक का परिमाण 'अणुतम' होगा। उसका परिणाम यह होगा कि 'त्र्यणुक' का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः स्पष्ट है कि द्वयणुक का परिमाण तथा त्र्यणुक का परिमाण, कभी भी 'परिमाण'जन्य नहीं है, अपितु परमाणुद्वयनिष्ठ 'द्वित्व' संख्या से 'द्वयणुक' का परिमाण उत्पन्न होता है, और द्वयणुकत्रयनिष्ठ 'त्रित्व' संख्या से 'त्र्यणुक' का परिमाण जन्य होता है। इसलिये **'संख्यामात्रजन्य परिमाण'** का यह उदाहरण दिखाया गया है।

(२) परिमाणमात्रजन्य परिमाण का उदाहरण—

चार त्र्यणुकों से उत्पन्न जो 'चतुरणुक' कार्य है, उस चतुरणुक का महत्त्वपरिमाण, उस 'त्र्यणुकचतुष्टय' रूप अवयवों के महत्त्वपरिमाण से उत्पन्न (जन्य) होता है। अर्थात् त्र्यणुकों का महत्त्वपरिमाण, चतुरणुक के महत्त्वपरिमाण का असमवायिकारण होता है। इसलिये चतुरणुक के महत्त्वपरिमाण को 'परिमाणमात्रजन्य परिमाण' कहते हैं। इसी प्रकार पाँच चतुरणुकों से उत्पन्न जो 'पञ्चाणुक' कार्य है, उस पञ्चाणुक कार्य का महत्त्वपरिमाण, उन चतुरणुक रूप अवयवों के महत्त्व परिमाण से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार 'पट' रूप अवयवी का महत्त्वपरिमाण 'तन्तु' रूप अवयवों के महत्त्वपरिमाण से जन्य होता है। इसलिये 'घट-पट' आदि कार्यों (अवयवी) का महत्त्वपरिमाण भी **'परिमाणमात्रजन्य परिमाण'** कहा जाता है।

(३) प्रचयमात्रजन्य परिमाण का उदाहरण—

प्रथमतः 'प्रचय' शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। 'प्रचय' का लक्षण **महदवयवानां प्रशिथिलः संयोगः प्रचयः**—बताया जाता है। अर्थात् महत्त्वपरिमाण-वाले अवयवों का जो परस्पर शिथिल संयोग है, उसे **'प्रचय'** कहते हैं। जैसे—'तूलपिण्ड' के अवयवों का परस्पर शिथिल संयोग होता है। अर्थात् कतिपय अवयवों के संयोग का अभाव रहने पर भी कुछ अवयवों का संयोग रहता है, इस प्रकार के **शिथिल संयोग को 'प्रचय' कहते हैं। तूलपिण्डादिकों में जो मध्यम-महत्त्व परिमाण**

है, वह तूलपिण्डादिकों के अवयवों के प्रशिथिलसंयोगरूप प्रचय से जन्य है। अर्थात् वह 'प्रचय' ही उस परिमाण का असमवायिकारण है। इसलिये तूलपिण्डादिकों के 'महत्त्वपरिमाण' को प्रचयमात्रजन्य कहा गया है।

शंका—अनित्य परिमाण को 'संख्यामात्रजन्य, परिमाणमात्रजन्य और प्रचयमात्र-जन्य' कहा गया है। इन तीनों प्रकारों में 'मात्र' पद का देना व्यर्थ है, क्योंकि जो कोई परिमाण, 'संख्या और परिमाण' दोनों से जन्य होता हो अथवा 'परिमाण और प्रचय' दोनों से जन्य होता हो, अथवा 'संख्या, परिमाण और प्रचय' इन तीनों से जन्य होता हो तो उस परिमाण की निवृत्ति के लिये 'मात्र' पद का देना सार्थक कहा जा सकता है। अन्यथा नहीं। यहाँ तो एक-एक से ही 'परिमाण' की उत्पत्ति हो रही है। अतः 'मात्र' पद देने की आवश्यकता नहीं है।

समा०—'प्रचय' से रहित महत्त्वपरिमाण वाले और तीन अवयवों से आरब्ध जो अवयवी है, उसका महत्त्वपरिमाण, अवयवत्रयनिष्ठ त्रित्वसंख्या तथा महत्त्व-परिमाण दोनों से जन्य होता है। क्योंकि उस प्रकार के महत्त्वपरिमाणवाले दो अवयवों से आरब्ध अवयवी के महत्त्वपरिमाण से तथा उन अवयवों से अल्प तीन अवयवों से आरब्ध अवयवी के महत्त्वपरिमाण से वह महत्त्वपरिमाण अतिशयता-वाला ही होता है। और प्रचय वाले तथा महत्त्वपरिमाण वाले दो अवयवों से आरब्ध जो अवयवी है, उसका महत्त्व परिमाण, 'परिमाण और प्रचय' दोनों से जन्य होता है, क्योंकि प्रचय से रहित तथा उस प्रकार के महत्त्वपरिमाण वाले दो अवयवों से आरब्ध अवयवी के महत्त्वपरिमाण से तथा त्र्यणुक के महत्त्वपरिमाण से वह महत्त्व-परिमाण अतिशयतावाला ही होता है। और प्रचय वाले तथा महत्त्वपरिमाण वाले तीन अवयवों से आरब्ध जो अवयवी है, उसका जो महत्त्वपरिमाण है वह 'संख्या, परिमाण, और प्रचय'—इन तीनों से जन्य होता है। क्योंकि प्रचयवाले तथा महत्त्वपरिमाण-वाले दो अवयवों से आरब्ध अवयवी के महत्त्वपरिमाण से वह महत्त्वपरिमाण अतिशयतावाला ही होता है। इस प्रकार के उभयजन्य परिमाणादिकों की व्यावृत्ति करने के लिये 'मात्र' पद का देना आवश्यक है, निरर्थक नहीं है।

अनित्य परिमाण के नाश का कारण—

'अनित्य परिमाण' का नाश, 'आश्रयद्रव्य' के नाश से होता है। आश्रयनाश के बिना अन्य किसी के नाश से उसका नाश नहीं होता है।

शंका—अवयवी द्रव्य के नाश को स्वनिष्ठपरिमाण के नाश का कारण नहीं कह सकते, क्योंकि अवयवी द्रव्य के विद्यमान रहने पर भी किञ्चित् अवयवों के विश्लेष या उपचय से उसके परिमाण का नाश होता है। अवयवी द्रव्य के विद्यमान रहने पर भी उस अवयवी द्रव्य से जब तीन-चार परमाणुओं का विश्लेष होता है, अर्थात् उस अवयवी द्रव्य से जब तीन-चार परमाण निकल जाते हैं, अथवा उस

अवयवी द्रव्य में जब तीन-चार परमाणुओं का उपचय होता है, अर्थात् अवयवी द्रव्य में जब अन्य तीन-चार परमाणु आकर मिलते हैं तब भी 'वही यह अवयवी द्रव्य है'—इत्याकारक उस अवयवी द्रव्य में एकता की प्रतीति कराने वाली प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी के बलपर उस अवयवी द्रव्य की विद्यमानता होने पर भी, उस अवयवी द्रव्य में पूर्वपरिमाण से विलक्षण परिमाण का प्रत्यक्ष होता है। और उस विलक्षणपरिमाण की उत्पत्ति, उस पूर्वपरिमाण के नाश हुए बिना तो नहीं हो सकती। अतः आश्रय द्रव्य के नाश से ही परिमाण का नाश होता है, यह कहना उचित नहीं है। प्रदर्शित उदाहरण में आश्रय द्रव्य के विद्यमान रहने पर भी किंचित् अवयवों के विश्लेष-उपचय से ही परिमाण का नाश हुआ है।

समा०—उस अवयवी द्रव्य से तीन-चार परमाणुओं का विश्लेष होने पर परमाणु-संयोग रूप असमवायिकारण के नाश से 'द्व्यणुक' कार्य का नाश अवश्य हुआ। उस समवायिकारण द्व्यणुक का नाश होने से त्र्यणुककार्य का भी नाश हुआ। इसी प्रकार चतुरणुक-पञ्चाणुक आदि के नाशक्रम से अवयवी द्रव्य का नाश अवश्य ही होगा। तदनंतर परिशेष में रहे हुए परमाणु परस्पर संयुक्त होकर द्व्यणुक-त्र्यणुकादि क्रम से उस पूर्व अवयवी द्रव्य के सजातीय दूसरे अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार शरीरादिक अवयवी द्रव्यों में यत्किंचित् अवयवों का उपचय होने पर पूर्वस्थित अवयवसंयोगरूप असमवायिकारण का नाश तो हो ही गया। तब उस असमवायिकारण के नाश होने से उन शरीरादिक अवयवियों का नाश अवश्य ही होगा। तदनंतर वे सब अवयव परस्पर संयुक्त होकर पूर्वशरीरादिक अवयवियों के सजातीय दूसरे शरीरादिक अवयवियों को उत्पन्न करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन अवयवों के विश्लेषस्थल में तथा उपचयस्थल में भी उस अवयवी द्रव्य के नाश से ही उसके परिमाण का नाश होता है।

शंका—यदि अवयवी द्रव्य के नाश से ही उसके परिमाण का नाश होता है तो अवयवी 'पट' द्रव्य के नाश न होने पर उसमें दूसरे तन्तुओं के संयोग से 'पट' में परिमाण की अधिकता नहीं होनी चाहिये। किन्तु दूसरे तन्तुओं के संयोग से 'पट' में परिमाण की अधिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती ही है।

समा०—उक्त स्थल में भी वेमादिकों के अभिघाताख्य संयोग से क्रियाविभाग की उत्पत्ति द्वारा असमवायिकारण रूप तन्तुसंयोग का नाश होने पर 'पट' का नाश अवश्य होता है। अभिप्राय यह है कि सहस्रतन्तुओं से निर्मित पट में जब दूसरे तन्तुओं का संयोग होता है, तभी वेमादिकों के अभिघाताख्य संयोग से उन सहस्र-तन्तुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से उन तन्तुओं का परस्पर विभाग होता है। उस विभाग से उन तन्तुओं के संयोग का नाश होता है। उस तन्तुसंयोग-रूप असमवायिकारण के नाश से उस सहस्रतन्तुनिर्मित पट का नाश होता है। तदनन्तर

वे सहस्रतन्तु तथा दूसरे तन्तु परस्पर संयुक्त होकर पुनः दूसरे पट की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार पट के प्रारम्भ से लेकर अन्त्य तन्तुपर्यन्त तन्तु-तन्तु के संयोग से पूर्व-पूर्व पट का नाश और उत्तर-उत्तर पट की उत्पत्ति होती जाती है। इस से यह स्पष्ट होता है कि अवयवी द्रव्य के नाश से ही 'पट' के परिमाण का नाश होता है।

जो मीमांसक आश्रयद्रव्य के नाशमात्र से परिमाण का नाश नहीं मानते हैं। किन्तु उस आश्रयद्रव्य के विद्यमान रहते हुए भी किंचित् अवयवों के विश्लेष या उपचय से पूर्वपरिमाण के नाशपूर्वक परिमाणान्तर की उत्पत्ति मानते हैं उनसे यह पूछा जा सकता है कि जिस सहस्रतन्तुक पट में जिन दूसरे तन्तुओं के मिलने से परिमाण की अधिकता होती है, वे 'दूसरे तन्तु' उस सहस्रतन्तुक 'पट' के अवयव हैं अथवा नहीं हैं ?

यह पूछने पर मीमांसक यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करता है, तो उन दूसरे तन्तुओं के संयोग के पूर्व उस तन्तुरूप कारण का अभाव होने से उस सहस्रतन्तुक 'पट' की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। और यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करता है तो सहस्र-तन्तुक पट के साथ उन दूसरे तन्तुओं को संयोग होने पर भी उस पट में परिमाण की अधिकता नहीं होगी। क्योंकि दूसरे तन्तु उस सहस्रतन्तुक पट के अवयव नहीं हैं। जैसे सहस्रतन्तुक पट के साथ हस्तादिक द्रव्य का संयोग रहने पर भी उस 'पट' में परिमाण की अधिकता नहीं होती है, और उन दूसरे तन्तुओं के संयोग से उस पट में परिमाण की अधिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती ह। इससे स्पष्ट है कि दूसरे तन्तुओं के संयोग से उस पूर्व 'पट' का नाश तथा दूसरे पट की उत्पत्ति अवश्य माननी होगी। और 'वही यह पट है'—इत्याकारक को 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान होता है, वह तो उस उत्तर-उत्तर पट में पूर्व-पूर्व पट की सजातीयता को ही विषय करता है। वह प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान, पूर्वोत्तर पट की एकता को विषय नहीं करता है। जैसे—'सेयं-दीपशिखा'—वही यह दीपशिखा है, इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान, उत्तर-उत्तर दीपशिखा में पूर्व-पूर्व दीपशिखा की सजातीयता को ही विषय करता है। अतः प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष से भी उस पूर्वोत्तर पट की एकता सिद्ध नहीं हो रही है।

शंका—वे पूर्व के सहस्रतन्तु ही उन दूसरे तन्तुओं की सहायता से उस सहस्र-तन्तुक पट के विद्यमान रहते हुए भी क्या दूसरे पट का आरम्भ करेंगे ?

समा०—दो मूर्तद्रव्यों की समानदेशता नहीं हुआ करती। अर्थात् एक ही अवयव में दो मूर्तद्रव्य, समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते। उस कारण उन तन्तुओं में दो पटों की स्थिति का होना कभी सम्भव नहीं है। और उन तन्तुओं में दो पटों की प्रतीति भी किसी को नहीं होती है। उस द्वितीय पटरूप द्रव्य की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक जो पूर्व पटरूप द्रव्य है उसका नाश होने पर ही उस द्वितीय पट की

उत्पत्ति माननी होगी। इससे स्पष्ट होता है कि आश्रयद्रव्य के नाश से ही अनित्य परिमाण का नाश होता है।

(७) पृथक्त्वं पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणम् । तच्च द्विविधम् । एकपृथक्त्वं द्विपृथक्त्वादिकञ्च । तत्राद्यं नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम् । द्विपृथक्त्वादिकञ्चानित्यमेव ।

(७) पृथक्त्वनिरूपण—

पृथक्त्वमिति । 'यह द्रव्य, उस द्रव्य से पृथक् है'—इस व्यवहार का जो असाधारण कारण हो, उसे **'पृथक्त्व'** कहते हैं। यह सभी द्रव्यों का सामान्य गुण है। **तच्चेति** । उसके दो भेद हैं—'एकपृथक्त्व' और 'द्विपृथक्त्व' आदि। **तत्रेति** । उनमें से नित्य द्रव्य में रहने वाला 'एकपृथक्त्व' नित्य और अनित्यद्रव्य में रहने वाला 'एकपृथक्त्व' अनित्य होता है। 'द्विपृथक्त्व' आदि जितने 'पृथक्त्व' हैं वे सभी अनित्य ही हैं।

माधुरी

ग्रन्थकार के लक्षण को जाति घटित ही समझना चाहिये। तथा हि—**'पृथग्व्यवहारविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत् पृथक्त्वम्'**। अर्थात् पृथक् व्यवहार के विषय में रहने वाली तथा गुणत्वजाति की व्याप्य जो जाति उससे विशिष्ट हुए गुण को 'पृथक्त्व' कहते हैं। जैसे–'यह घट' पट से पृथक् है—इत्याकारक जो 'पृथक्त्व' विषयक प्रत्यक्षज्ञानरूप व्यवहार है, उसका विषय वह 'पृथक्त्व' गुण ही है। उस 'पृथक्त्व' गुण में रहने वाली 'पृथक्त्वत्व' जाति है, और वह 'पृथक्त्वत्वजाति', उस 'गुणत्व जाति' की व्याप्य भी है। ऐसी पृथक्त्वत्व जाति से विशिष्ट होने वाला वह 'पृथक्त्व' गुण ही है। इस प्रकार 'पृथक्त्व' के लक्षण का समन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में 'पृथग्व्यवहारविषयवृत्ति' पद न रखें तो 'गुणत्व' जाति के व्याप्य 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'पृथग्व्यवहारविषयवृत्ति' पद को रखना आवश्यक है। तब 'रूपत्वादि' जातियाँ उस पृथक्व्यवहार के विषयभूत 'पृथक्त्व' में नहीं रहती हैं। अतः उन रूपत्वादि जातियों को लेकर उन रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि लक्षण में 'गुणत्व-व्याप्य' पद को न रखें तो 'पृथक्त्व' में रहने वाली 'गुणत्व जाति की लेकर 'रूपादि' सभी गुणों में, तथा 'सत्ता' जाति को लेकर 'द्रव्य, गुण और कर्म' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद को रखना आवश्यक है। तब 'गुणत्व' जाति तथा 'सत्ता' जाति, उस गुणत्व-जाति की व्याप्य नहीं हैं। इसलिये गुणत्वजाति को लेकर तथा सत्ताजाति को लेकर उन रूपादि गुणों में तथा द्रव्य-गुण-कर्म में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यह पृथक्त्व गुण, पूर्वोक्त संख्या, परिमाण की तरह 'पृथिवी' आदि नौ-द्रव्यों में ही रहता है। पूर्वोक्त संख्यागुण जैसे 'एकत्व' और 'अनेकत्व' भेद से दो प्रकार का होता है, वैसे ही यह 'पृथक्त्व' गुण भी 'एकपृथक्त्व' और 'अनेकपृथक्त्व' भेद से दो प्रकार होता है। एक द्रव्यव्यक्ति में समवायसम्बन्ध से रहने वाला जो 'पृथक्त्व' है—उसे 'एकपृथक्त्व' कहते हैं। और दो-तीन-चार आदि अनेक द्रव्य; व्यक्तियों में समवायसम्बन्ध से रहने वाला जो 'पृथक्त्व' है उसे 'अनेक पृथक्त्व' कहते हैं। जैसे—'घटः, पटात् पृथक्'—अर्थात् 'यह घट', पट से पृथक् है। इत्याकारक प्रतीति से 'घट' में प्रतीत हुआ जो पटावधिक पृथक्त्व है, वह उस एक घटव्यक्ति में रहने से 'एकपृथक्त्व' शब्द से कहा जायगा, और 'घटौ पटात् पृथक्'—अर्थात् ये 'दो घट', पट से पृथक् हैं—इस प्रकार की प्रतीति से 'दो घटों' में प्रतीत हुआ जो पटावधिक-पृथक्त्व है, वह दो घटव्यक्तियों में रहने से 'द्विपृथक्त्व' शब्द से कहा जायगा। इसी प्रकार 'तीन द्रव्य-व्यक्तियों' में स्थित पृथक्त्व 'त्रिपृथक्त्व', और 'चार-पाँच आदि द्रव्यव्यक्तियों' में रहने वाले 'पृथक्त्व' को चतुःपृथक्त्व, पञ्चपृथक्त्व आदि शब्दों से कहा जायगा।

जैसे एकत्वसंख्या 'नित्य और अनित्य' भेद से दो प्रकार की होती है, उसी तरह यह 'एकपृथक्त्व' भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। परमाणु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन—इन नित्य द्रव्यों में तो 'एकपृथक्त्व' नित्य रहता है। और द्व्यणुक से लेकर घटादिपर्यन्त सभी अनित्य द्रव्यों में वह 'एकपृथक्त्व' अनित्य होता है। जैसे 'अनित्य एकत्व संख्या' आश्रयभूत द्रव्य की उत्पत्ति के द्वितीयक्षण में उत्पन्न होती है, तथा आश्रय द्रव्य के नाश से नष्ट होती है, वैसे ही इस अनित्य 'एकपृथक्त्व' की उत्पत्ति भी आश्रय द्रव्य की उत्पत्ति के द्वितीयक्षण में होती है, और आश्रयद्रव्य के नाश से उसका नाश भी होता है। उस अनित्य एकपृथक्त्व का वह 'घट'रूप आश्रयद्रव्य 'समवायिकारण' कहलाता है। और 'घट' रूप आश्रयद्रव्य के 'कपालादि' अवयवों में स्थित 'एकपृथक्त्व', उस 'अनित्य एकपृथक्त्व' का असमवायिकारण कहलाता है, और 'अदृष्ट, ईश्वर आदि उस अनित्य एकपृथक्त्व के निमित्तकारण कहलाते हैं। 'घट' रूप आश्रयद्रव्य के नाश से ही उस अनित्य एकपृथक्त्व का नाश होता है।

जैसे अनेकत्व संख्या 'द्वित्व, त्रित्व, चतुष्ट्व' आदिक भेद से अनेक प्रकार की होती है, उसी तरह यह 'अनेकपृथक्त्व' भी द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व, चतुःपृथक्त्व' आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। और जैसे—द्वित्व-त्रित्वादि अनेकत्व संख्या, नित्य-अनित्य द्रव्यों में सर्वत्र-अनित्य ही होती है, तथा 'अपेक्षाबुद्धि' से जन्य होती है, एवं अपेक्षाबुद्धि के नाश से अथवा आश्रयद्रव्य के नाश से नष्ट होती है, वैसे ही यह 'द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व' आदि अनेकपृथक्त्व भी 'नित्य-अनित्य द्रव्यों' में सर्वत्र

अनित्य ही होता है, तथा 'अपेक्षाबुद्धि' से जन्य होता है, और अपेक्षाबुद्धि के नाश से अथवा आश्रयद्रव्य के नाश से नष्ट होता है।

नाश की प्रक्रिया—

दो घटों के साथ चक्षु का सम्बन्ध होने के अनन्तर 'अयमेकः पृथक्, अयमेकः पृथक्' इस प्रकार की दो—'एकपृथक्त्वों' को विषय करने वाली 'अपेक्षाबुद्धि', **प्रथमक्षण** में होती है। **द्वितीयक्षण** में उन दो घटों में पटावधिक 'द्विपृथक्त्व' उत्पन्न होता है। उस 'द्विपृथक्त्व' के वे दोनों घट तो 'समवायिकारण' होते हैं। और उन प्रत्येक घट में रहने वाला जो 'एकपृथक्त्व' है, वे दोनों 'एकपृथक्त्व', उस 'द्विपृथक्त्व' के असमवायिकारण हैं, और 'अपेक्षाबुद्धि' निमित्तकारण है। और **तृतीयक्षण** में उस द्विपृथक्त्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। **चतुर्थक्षण** में 'घटौ, पटात् पृथक' इस प्रकार से उस 'द्विपृथक्त्व' का सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। तथा पूर्व उत्पन्न हुए उस 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' से उस 'अपेक्षाबुद्धि' का नाश होता है। **पञ्चमक्षण** में उस 'द्विपृथक्त्व' का नाश होता है। यही प्रक्रिया 'त्रिपृथक्त्व, चतुःपृथक्त्व' आदि में भी समझनी चाहिये।

शंका—नवीन नैयायिकों का कथन है कि "भेदरूप अन्योऽन्याभाव से 'पृथक्त्व' गुण भिन्न नहीं है। किन्तु 'अन्योन्याभाव' का ही नामान्तर 'पृथक्त्व' है। 'अयमस्मात् पृथक्' इत्यादि प्रतीति भी 'अन्योन्याभाव' को ही विषय करती है। वह 'पृथक्त्व' नामक गुण को विषय नहीं करती। एवं च उक्त प्रतीति के कारण भी 'पृथक्त्व' नामक किसी 'गुण' की सिद्धि नहीं होती है।

यदि कोई कहे कि 'पृथक्त्व' को हम गुण तो मानते हैं, किन्तु 'अन्योन्याभाव', उससे भिन्न नहीं है। अर्थात् 'पृथक्त्वगुण' का ही नाम 'अन्योन्याभाव' है। किन्तु यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'पृथक्त्व' का नाम ही अन्योन्याभाव है'—ऐसा यदि कहें तो 'रूपं न घटः' अर्थात् 'रूप, घट नहीं है'—इस प्रकार की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि 'गुण' में गुण नहीं रहता है—यह नियम है। तदनुसार 'रूप गुण' में 'पृथक्त्वगुण' कैसे रह सकेगा? जिस पृथक्त्व, गुण को 'रूपं न घटः' यह प्रतीति विषय कर सके, तथा उस 'रूप' में भी वह घटावधिक पृथक्त्व नहीं रहता है, जो पृथक्त्व उस रूप में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से प्रतीत हो सके। परिशेषात् वह प्रतीति उस 'रूप' में उस 'घट' के भेदरूप अन्योन्याभाव को ही विषय करती है। अतः अन्योन्याभाव का 'पृथक्त्वगुण' में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अपितु उस पृथक्त्वगुण का ही 'अन्योन्याभाव' में अन्तर्भाव हो सकता है।

समा०—'घटः पटो न' इत्याकारक प्रतीति 'अन्योन्याभाव' को विषय करती है। और 'पृथक्त्व' को विषय करने वाली 'घटः पटात् पृथक्' इत्याकारक प्रतीति जो होती है; वह, अन्योन्याभावविषयक 'घटः पटो न' इत्याकारक प्रतीति से विलक्षण

ही है। इस विलक्षण प्रतीति के होने से ही 'पृथक्त्वगुण' और 'अन्योन्याभाव' दोनों की भिन्नता सिद्ध हो जाती है। अतः अन्योन्याभाव से पृथक्त्वगुण को भिन्न न मानने वाले नवीन नैयायिकों का मत उचित प्रतीति नहीं हो रहा है।

(८) संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः। स च द्वयाश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च। स च त्रिविधः। अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति। तत्रान्यतरकर्मजो यथा क्रियावता श्येनेन सह निष्क्रियस्य स्थाणोः संयोगः। अस्य हि श्येनक्रिया असमवायिकारणम्। उभयकर्मजो यथा सक्रिययोर्मल्लयोः संयोगः। संयोगजो यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः। यथा हस्ततरुसंयोगेन कायतरुसंयोगः।

(८) संयोगनिरूपण—

संयोगेति। 'यह द्रव्य, इस द्रव्य से संयुक्त है'—इस व्यवहार का हेतुभूत (असाधारण कारण होने वाला) जो गुण, उसे 'संयोग' शब्द से कहा जाता है।

स चेति। वह द्विष्ठ (दो पदार्थों में रहने वाला) और अव्याप्यवृत्ति (रूपादि के समान सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त न होकर उसके केवल एक देश में रहने वाला) होता है। **स चेति।** और वह प्रकारान्तर से तीन प्रकार का होता है—(२) अन्यतरकर्मंज (२) उभयकर्मज, और (३) संयोगजसंयोग। **तत्रेति।** उनमें से 'अन्यतरकर्मज' अर्थात् संयुक्त होने वाले दोनों पदार्थों में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न हुए संयोग का उदाहरण—**यथेति।** जैसे, 'क्रियावान्' अर्थात् उड़कर आये हुए श्येनपक्षी (बाज) के सथा निष्क्रिय (क्रियारहित) स्थाणु (वृक्ष के ठूँठ) का संयोग। **अस्येति।** इस स्थाणु तथा श्येनपक्षी के संयोग का 'समवायिकारण' तो वे दोनों ही हैं, किन्तु इस का 'असमवायिकारण' श्येनपक्षी की क्रिया है।

उभयकर्मज इति। 'उभयकर्मज' संयोग का उदाहरण—जैसे, सक्रिय दो मल्लों (पहलवानों) का संयोग (दोनों पहलवानों का इधर-उधर से आकर भिड़ जाना) होता है। इसलिये उनका संयोग दोनों की क्रिया के कारण होने से उसे 'उभयकर्मज' संयोग कहते हैं।

संयोगज इति। संयोगजसंयोग का उदाहरण—जैसे 'शरीर के कारणभूत अवयवरूप हाथ, पैर आदि और उस शरीर के अकारणभूत 'वृक्ष' के संयोग से 'हाथ' के कार्यभूत 'शरीर' और अकार्यभूत वृक्ष दोनों का 'संयोग'। जैसे—हाथ और वृक्ष का संयोग होने से 'शरीर' का 'वृक्ष' के साथ जो संयोग होता है, उसे 'संयोगज-संयोग' कहा जाता है।

माधुरी

ग्रन्थकार के दिये हुए 'संयोगलक्षण' का अभिप्राय उसके जाति घटित लक्षण से

ही है। जातिघटित लक्षण इस प्रकार होगा—**संयुक्तव्यवहारविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्य-जातिमान् संयोगः'** । अर्थात् संयुक्तव्यवहार के विषय में रहने वाली तथा 'गुणत्व-जाति' की व्याप्य जो जाति, उस जाति से विशिष्ट हुए 'गुण' को 'संयोग' शब्द से कहा जाता है। तथाहि—'यह द्रव्य इस द्रव्य से संयुक्त है' इस प्रकार का जो संयोग विषयक प्रत्यक्षज्ञानरूप व्यवहार है, उस व्यवहार का विषय जो 'संयोग' है, उस संयोग में रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य जो 'संयोगत्वजाति', वह 'संयोगत्व जाति, सर्वसंयोग में रहती है। अतः लक्षण का समन्वय हो जाता है।

लक्षण में 'सयुक्तव्यवहारविषयवृत्ति' पद का निवेश करने से पूर्वोक्त 'परिमाण, पृथक्त्व' के लक्षण के समान ही इस 'संयोग' के लक्षण में भी 'गुणत्वजाति' के व्याप्य 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। और 'गुणत्वव्याप्य' पद के निवेश करने से 'संयोगवृत्ति गुणत्वजाति' को लेकर तथा 'सत्ताजाति' को लेकर 'रूपादिगुणों' में तथा द्रव्य, गुण, कर्म में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार उक्त लक्षणलक्षित 'संयोगगुण', पूर्वोक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व की तरह 'पृथिवी' आदि नौ द्रव्यों में ही रहता है। और वह (संयोग गुण) सर्वत्र अनित्य ही होता है। कोई भी 'संयोग' नित्य नहीं होता है। वह 'संयोगगुण', कहीं तो 'आश्रयद्रव्य' के नाश से नष्ट होता है, और कहीं 'स्वसमानाधिकारण विभाग' से नष्ट होता है। जैसे—पक्षी और वृक्ष का संयोग, उस पक्षी-वृक्षरूप आश्रयद्रव्य के नाश से भी नष्ट होता है, और उस पक्षी-वृक्ष के विद्यमान रहते हुए भी जब उस पक्षी में क्रिया होगी, तभी उस वृक्ष के साथ उसका विभाग हो जायगा, तब उस विभाग के होने से भी उस पक्षी-वृक्ष के संयोग का नाश हो जाता है।

यह 'संयोगगुण' (१) कर्मजसंयोग और (२) संयोगज-संयोग के भेद से दो प्रकार का होता है। तत्रापि प्रथम 'कर्मजसंयोग' भी (१) अन्यतरकर्मजसंयोग, (२) उभयकर्मजसंयोग के भेद से दो प्रकार का होता है। इसलिये 'संयोगगुण' (१) अन्यतरकर्मजसंयोग, (२) उभयकर्मजसंयोग और (३) संयोगजसंयोग के भेद से तीन प्रकार का होता है।

अन्यतरकर्मजसंयोग—अन्यतरकर्मजसंयोग उसे कहते हैं—जो संयोग एक द्रव्य की क्रिया से जन्य होता है। जैसे पर्वत के साथ जो श्येनपक्षी का संयोग है, वह संयोग 'अन्यतरकर्मजसंयोग' शब्द से कहा जाता है। क्योंकि वह संयोग केवल उस श्येनपक्षी की क्रिया से ही जन्य है। 'पर्वत' की क्रिया से वह जन्य नहीं है। यहाँ पर पर्वत और पक्षी के संयोग का समवायिकारण वे दोनों (पर्वत और पक्षी) ही होते हैं। और 'श्येनपक्षी की क्रिया' उस संयोग की 'असमवायिकारण' होती है। और अदृष्ट, ईश्वर आदि उस संयोग के निमित्तकारण होते हैं।

इसी प्रकार 'विभु आत्मा' के साथ जो 'मन' का संयोग होता है, वह 'संयोग' भी उस 'मन' की क्रिया से ही जन्य होता है। इसलिये उसे 'अन्यतरकर्मजसंयोग' कहते हैं। इसी प्रकार 'आकाशादिक' विभुद्रव्यों के साथ जो घटादिक मूर्तद्रव्यों का जो संयोग होता है, वह भी उन 'घटादि' मूर्तद्रव्यों की क्रिया से जन्य होता है। इसलिये उसे भी 'अन्यतरकर्मजसंयोग' कहते हैं।

उभयकर्मजसंयोग—जो संयोग दो द्रव्यों की क्रिया से जन्य होता है, उसे 'उभयकर्मजसंयोग' कहते हैं। जैसे—दो मल्लों का जो परस्पर 'संयोग' होता है, वह उन दोनों मल्लों की क्रिया से जन्य होता है। तथा दो मेषों (भेडों) का जो परस्पर संयोग होता है, वह भी उन दोनों मेषों की क्रिया ये ही जन्य है। इसलिये दोनों मल्लों का 'संयोग' तथा दोनों मेषों का 'संयोग' उभयकर्मजसंयोग है। दोनों मल्ल तथा दोनों मेष उस संयोग के 'समवायिकारण' हैं, और दोनों मल्लों में तथा दोनों मेषों में जो 'क्रिया' है, वह 'क्रिया' उस संयोग का 'असमवायिकारण' है। और अदृष्ट, ईश्वर आदि उस संयोग के निमित्तकारण हैं।

संयोगजसंयोग—कारण और अकारण दोनों के संयोग से 'कार्य' और 'अकार्य' दोनों का जो 'संयोग' होता है, उस 'संयोग' को 'संयोगजसंयोग' कहा गया है। अर्थात् 'कर्माऽजन्यसंयोगः संयोगजसंयोगः' यानी जो 'संयोग', क्रिया (कर्म) से जन्य नहीं है, उस संयोग को 'संयोगज-संयोग कहते हैं। जैसे—जब हस्त की क्रिया से उसका (हस्त का) वृक्ष के साथ संयोग होता है, तब 'यह शरीर वृक्ष-संयुक्त है'—इस प्रकार से उस शरीर में भी 'वृक्ष' के संयोग का व्यवहार किया जाता है। इसलिये 'हस्त-वृक्ष' के संयोग के अनन्तर 'शरीरवृक्ष' के संयोग को अवश्य मानना होगा। यहाँ पर उस वृक्ष में तथा शरीर में तो क्रिया नहीं है। इस कारण यह 'शरीर-वृक्षसंयोग' उसकी क्रिया से जन्य नहीं है। परिशेषात् उस 'हस्त-वृक्ष के संयोग' से ही उसे जन्य कहना होगा।

यद्यपि उस 'शरीररूप अवयवी' के 'एक हस्तरूप अवयव' में क्रिया है, तथापि 'एक अवयव' की क्रिया से 'अवयवी' में क्रिया नहीं समझी जाती, किन्तु समस्त अवयवों की क्रिया से ही उस अवयवी में क्रिया का होना माना जाता है। इसलिये 'हस्त' रूप 'कारण' के तथा 'वृक्ष' रूप अकारण के संयोग से 'शरीररूप' कार्य का तथा 'वृक्षरूप' अकार्य का जो संयोग होता है, उस संयोग को 'संयोगज-संयोग' कहते हैं। शरीर-वृक्ष के इस संयोग का वे दोनों (शरीर-वृक्ष) ही 'समवायिकारण' हैं, और 'हस्त-वृक्ष' का जो संयोग है, वह 'असमवायिकारण' है, और अदृष्ट, ईश्वरादिक 'निमित्तकारण' हैं।

शंका—वृक्ष में 'अकारणता' का रहना संभव नहीं है, क्योंकि 'स्व-निष्ठ गुण-

कर्मादिकों' का वह वृक्ष 'कारण' ही है, तथा 'वृक्ष' में 'अकार्यता' का होना भी संभव नहीं है, क्योंकि वह वृक्ष भी अपने अवयवों का 'कार्य' ही है।

समा०—यद्यपि आपकी शंका ठीक है, तथापि इस प्रसंग में 'कारण' शब्द से उस 'संयोगज-संयोग' के आश्रयभूत जो 'एकद्रव्यव्यक्ति' है, उसके 'अवयवरूप समवायिकारण' का ग्रहण करना है। उसी तरह 'अकारण' शब्द से उस 'अवयवरूप समवायिकारण' से भिन्न 'द्रव्य' का ग्रहण करना है।

'कार्य' शब्द से भी उस 'अवयवरूप समवायिकारण से जन्यद्रव्य' का ग्रहण है, और 'अकार्य' शब्द से 'अवयवरूप समवायिकारणजन्य जो द्रव्य, उससे भिन्न द्रव्य' का ग्रहण करना है।

जैसे—हस्त-वृक्ष दोनों के संयोग से जन्य जो शरीर-वृक्ष दोनों का संयोग है, उस संयोग के आश्रयभूत वे दोनों (शरीर-वृक्ष) ही हैं। ऐसे शरीर-वृक्ष संयोग का आश्रयभूत जो 'शरीररूप एकव्यक्ति' है, उस शरीर का समवायिकारण, वह 'हस्तरूप अवयव' है। इसलिये उस 'हस्त' को कारण कहा जाता है। उस 'हस्तरूप कारण' से वह 'वृक्ष' तो भिन्न ही है। अर्थात् वह 'वृक्ष' उस 'शरीर' का समवायिकारण नहीं है। इसलिये उस वृक्ष को अकारण कहा जाता है। और शरीर उस हस्तरूप समवायिकारण से जन्य है, इसलिये शरीर को कार्य कहा जाता है और वृक्ष उस शरीररूप कार्य से भिन्न है, अर्थात् वृक्ष उस हस्तरूप कारण से जन्य नहीं है। इसलिये उस वृक्ष को अकार्य कहा जाता है। ऐसे कारणरूप हस्त के तथा अकारणरूप वृक्ष के संयोग से कार्यरूप शरीर तथा अकार्यरूप वृक्ष का संयोग होता है। इसलिये शरीर-वृक्ष के संयोग को संयोगज-संयोग कहा जाता है।

इसी प्रकार हस्त की क्रिया से जो पुस्तक के साथ संयोग होता है, उस हस्त-पुस्तकसंयोग को शरीर-पुस्तक का संयोग कहा जाता है। उसी प्रकार कपाल की क्रिया से जो वृक्ष के साथ संयोग होता है, उसे घट-वृक्षसंयोग भी कहा जाता है। ये सभी संयोग 'संयोगज-संयोग' शब्द से कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त 'कर्मजसंयोग' पुनः (१) अभिघाताख्यसंयोग और (२) नोदनाख्य संयोग के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से 'अभिघाताख्य संयोग का लक्षण इस प्रकार होगा—**'स्पर्शवेगोभयवद्द्रव्यसंयोगः अभिघाताख्यसंयोगः'**—अर्थात् स्पर्श और वेग इन दो गुणों वाले द्रव्य का जो दूसरे मूर्तद्रव्य के साथ संयोग होता है, उसे 'अभिघाताख्य संयोग कहते हैं। वह अभिघाताख्यसंयोग, उस मूर्तद्रव्य की क्रिया का असयवायिकारण होता है, तथा उस मूर्तद्रव्यावच्छिन्न आकाश में उत्पन्न हुए शब्द का वह निमित्तकारण होता है।

जैसे बाँस आदि के वृक्षों को काटने वाला पुरुष अपने हाथ में कुठार को उठाकर बड़े वेग से उन बाँस के वृक्षों पर उस कुठार को पटकता है। तब स्पर्श वाले तथा वेग

वाले उस कुठाररूप द्रव्य का उस बांसवृक्षरूप मूर्तद्रव्य के साथ जो संयोग होता है, उस 'संयोग' को 'अभिघाताख्य संयोग' शब्द से कहा जाता है। वह अभिघाताख्य संयोग, उस बांस में तो कंपन रूप क्रिया को और वंशा(बांस)वच्छिन्न आकाश में ध्वनिरूप शब्द को उत्पन्न करता है।

दूसरे 'नोदनाख्यसंयोग' का लक्षण इस प्रकार होगा—**स्पर्शं-बद्द्रव्यसंयोगः नोदनाख्यसंयोगः'**। अर्थात् स्पर्शवाले द्रव्य का जो दूसरे मूर्तद्रव्य के साथ जो संयोग होता है, उस संयोग को 'नोदनाख्य संयोग' कहते हैं। वह नोदनाख्य संयोग, 'शब्द' का जनक नहीं होता है। किन्तु उस मूर्तद्रव्य में क्रियामात्र का ही जनक होता है।

जैसे—दीर्घकालतक जल के सम्बन्ध से अत्यन्त आर्द्र हुई जो भूमि है, उस पङ्किल भूमि में पैर रखने से उस भूमिस्पर्श युक्त पैर का उस भूमि से जो संयोग होता है, उसे 'नोदनाख्य संयोग' कहा जाता है। वह नोदनाख्यसंयोग, 'शब्द' का कारण नहीं होता है, किन्तु उस पङ्किल भूमि में केवल 'क्रियामात्र' का ही हेतु होता है।

पूर्वोक्त सभी प्रकार का संयोग, एकमूर्तद्रव्य का दूसरे मूर्तद्रव्य के साथ होता है। जैसे—पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—इन पाँच मूर्तद्रव्यों का परस्पर संयोग होता है। तथा एक पार्थिव द्रव्य का दूसरे पार्थिव द्रव्य के साथ संयोग होता है। उसी प्रकार एक जलीय द्रव्य का दूसरे जलीय द्रव्य के साथ, तथा एक तैजस द्रव्य का दूसरे तैजस द्रव्य के साथ, तथा एक वायवीय द्रव्य का दूसरे वायवीय द्रव्य के साथ, संयोग होता है। तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा—इन चार विभु द्रव्यों के साथ भी उन पृथिवी आदि मूर्तद्रव्यों का क्रियाजन्य संयोग होता है।

जैसे—विभु आत्मा के साथ 'मन' का संयोग होता है। तथा आकाशादिकों के साथ 'घटादिकों' का संयोग होता है। किन्तु एक विभु द्रव्य का दूसरे विभुद्रव्य के साथ कभी भी संयोग नहीं होता है। क्योंकि विभु द्रव्यों में क्रिया नहीं हुआ करती। इसलिये उन विभु द्रव्यों का कर्मजसंयोग भी संभव नहीं है। क्रिया वाले द्रव्य का ही कर्मजसंयोग होता है। और दूसरी बात यह है कि वे विभु द्रव्य 'निरवयव' होते हैं। इसलिये उन विभुद्रव्यों का संयोगज-संयोग भी संभव नहीं है। सावयव द्रव्य का ही 'संयोगजसंयोग' होता है। और उन विभु द्रव्यों के संयोग में कोई प्रमाण भी नहीं है।

मीमांसकों का मत—किन्तु दो विभुद्रव्यों के संयोग को मानने वाले **मीमांसकों** का कहना है कि जैसे एक मूर्तद्रव्य का दूसरे मूर्तद्रव्य के साथ तथा विभुद्रव्य के साथ संयोग होता है, वैसे ही एक विभु द्रव्य का दूसरे विभुद्रव्य के साथ भी संयोग होता है। विभुद्रव्यों के संयोग होने में 'अनुमान' प्रमाण को हम उपस्थित करते हैं—'आकाशः कालादिना संयुज्यते द्रव्यत्वात् शरीरवत्'—अर्थात् यह विभु आकाश, 'कालादि' विभुद्रव्यों के साथ संयुक्त होता है, 'द्रव्य' होने से 'जो-जो द्रव्य होता है, वह-वह कालादिकों के संयोग से विशिष्ट ही होता है'। जैसे—यह 'शरीर' 'द्रव्य' होने से

'कालादिकों' के संयोग से विशिष्ट ही है। वैसे ही 'आकाश' भी—'द्रव्य' होने से 'कालादिकों' के संयोग से विशिष्ट अवश्य ही होगा। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से विभुद्रव्यों का संयोग सिद्ध होता है। वह निष्क्रिय, विभु द्रव्यों में रहने से कर्मजन्य भी नहीं है। तथा निरवयव विभुद्रव्यों में रहने से वह, संयोगजन्य भी नहीं है। परिशेषात् विभुद्रव्यों के उस 'संयोग' को उन विभुद्रव्यों के समान उत्पत्ति-विनाश से रहित अर्थात् नित्य ही मानना चाहिये।

मीमांसकों के मत का खण्डन—वैशेषिकों के सिद्धान्तानुसार नित्य और विभुपदार्थों का परस्पर संयोग होता ही नहीं है, क्योंकि 'संयोग सम्बन्ध' तो 'युतसिद्ध' (पृथक्-पृथक्) पदार्थों का ही होता है। 'युतसिद्ध' का अर्थ है कि 'उन दोनों पदार्थों में से दोनों अथवा कोई एक पृथक् गतिमान् हो'। 'नित्य' और 'विभु' पदार्थों में से किसी में भी पृथग्गतिमत्त्व नहीं रहता है। इसलिये उनका संयोग होता ही नहीं है। अतएव 'आकाश' का 'आत्मा' के साथ अथवा 'दो आत्माओं' का परस्पर संयोग नहीं होता है। प्रशस्तपादभाष्य में कहा भी है—'नास्त्यज-संयोगः' इत्यादि। एवं च वैशेषिक के मत में 'सभी संयोग' जन्य होते हैं। कोई संयोग 'नित्य' नहीं है। क्योंकि विभुद्रव्यों का संयोग यदि किसी प्रमाण से सिद्ध रहे तो उसकी 'नित्यता' भी कही जा सकती है। किन्तु विभुद्रव्यों का संयोग तो किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

मीमांसकों ने जो अनुमान प्रदर्शित किया था, वह तो 'सत्प्रतिपक्ष' दोष से दूषित होने से वह प्रमाण कहने योग्य ही नहीं है। जिस 'हेतु' के 'साध्य' के अभाव का साधक जब दूसरा हेतु होता है, तब वह हेतु 'सत्प्रतिपक्षित' अर्थात् सत्प्रतिपक्षता दोष-विशिष्ट कहलाता है। मीमांसक के द्वारा दिये गये 'द्रव्यत्व' रूप हेतु के 'विभु-संयोग' रूप साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु इस प्रकार दिया जा सकता है—'आकाशः कालादिना न संयुज्यते निष्क्रियत्वे सति निरवयवत्वात् रूपादिवत्'—अर्थात् यह आकाश, 'कालादिकों' से संयुक्त नहीं है, क्योंकि वह क्रियारहित होता हुआ निरवयव है। जो-जो पदार्थ 'क्रिया' से रहित होता हुआ 'निरवयव' रहता है, वह पदार्थ 'काल' आदि के साथ संयुक्त भी नहीं होता है। जैसे—'रूपादिक' गुण, क्रियारहित होते हुए निरवयव हैं। इस कारण वे 'रूपादिगुण', कालादिकों से संयुक्त भी नहीं हैं। उसी तरह 'आकाश' भी क्रियारहित होने से निरवयव है। इसलिये वह 'आकाश' भी उन कालादिकों से संयुक्त नहीं है। एवं च मीमांसकों के द्वारा प्रयुक्त किये गये अनुमान प्रमाण से तो विभु 'आकाशद्रव्य' में 'कालादिक' विभु द्रव्यों के संयोग का अभाव ही सिद्ध होता है। अतः पूर्वोक्त 'द्रव्यत्व' हेतु, सत्प्रतिपक्ष-दोष से दूषित हो जाने से 'दुष्ट' है। उस दुष्ट हेतु से 'विभुद्रव्यों' के संयोग की सिद्धि नहीं हो सकती।

और दूसरा दोष यह भी होगा कि जिस 'द्रव्यत्व' हेतु से मीमांसक 'विभुद्रव्यों'

के 'संयोग' की सिद्धि कर रहे हैं, उसी 'द्रव्यत्व' हेतु से 'विभुद्रव्यों' के 'विभाग' की भी सिद्धि हो रही है। तथाहि—'आकाशः कालादिना विभक्तः द्रव्यत्वात् शरीरवत्'—अर्थात् यह विभु आकाश, 'कालादिक विभुद्रव्यों' से विभक्त है, क्योंकि वह 'द्रव्यरूप' है। जो-जो द्रव्य होता है, वह 'कालादिक' विभुद्रव्यों से विभक्त ही रहता है। जैसे—'शरीर' द्रव्यरूप होने से उन 'कालादिकों' से विभक्त ही रहता है। वैसे ही 'आकाश' भी द्रव्यरूप होने से उन 'कालादिकों' से विभक्त ही होगा। इस प्रकार के अनुमान प्रमाण से उन विभुद्रव्यों के विभाग की भी सिद्धि हो सकती है। विभुद्रव्यों का यह विभाग, उन 'निष्क्रिय विभुद्रव्यों' में स्थित रहने से उसको 'कर्मजविभाग' भी नहीं कह सकते। तथा 'निरवयव विभुद्रव्यों' में स्थित रहने से उसको 'विभागजविभाग' भी नहीं कह सकते। परिशेषात् 'विभुद्रव्यों' के संयोग के समान 'विभुद्रव्यों' के विभाग को भी 'नित्य' ही कहना होगा। किन्तु ऐसा कहना 'अत्यन्तविरुद्ध' होगा। क्योंकि एक ही वस्तु को एक ही काल में उसी वस्तु से 'संयुक्त' और उसी वस्तु से 'विभक्त' कहना कभी संभव नहीं हो सकता। अतः 'द्रव्यत्व' हेतु, विभुद्रव्यों के 'संयोग' का साधक नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि वैशेषिकदर्शन 'नित्यसंयोग' नहीं मानता है। अर्थात् नित्य एवं विभुद्रव्यों का परस्पर संयोग नहीं होता है। इस मत के अनुसार सभी संयोग 'जन्य' हैं। किन्तु न्यायदर्शन के अनुसार 'संयोग' नित्य (अजन्य) और अनित्य (जन्य) दो प्रकार का होता है। और जन्य संयोग के 'अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज'—ये तीन भेद होते हैं।

'संयोग' का नाश—दो कारणों से होता है—(१) आश्रय के नाश से और (२) विभाग होने से। 'संयोग' का विरोधी गुण 'विभाग' होता है।

(९) विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः। संयोगपूर्वको द्व्याश्रयः। स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजो विभागजश्चेति। तत्र प्रथमो यथा श्येनक्रियया शैलश्येनयोर्विभागः। द्वितीयो यथा मल्लयोर्विभागः। तृतीयो यथा हस्ततरुविभागात् कायतरुविभागः।

द्वित्वे च पाकजोपत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

(९) विभागनिरूपण—

विभाग इति। विभक्त प्रतीति (ये विभक्त हैं—इस प्रकार की प्रतीति) का हेतुभूत गुण, 'विभाग' शब्द से कहा जाता है। वह संयोगपूर्वक और द्व्याश्रय यानी दो में आश्रित रहने वाला होता है। **स चेति।** और वह तीन प्रकार का होता है—(१) अन्यतरकर्मज, (२) उभयकर्मज, (३) विभागजविभाग। **तत्रेति।** उनमें से प्रथम का (अन्यतरकर्मज विभाग का) उदाहरण; **यथेति।** जैसे—'श्येनपक्षी' की

उड्डयन (उड़ जाने की) क्रिया से 'श्येन' और 'पर्वत' का विभाग। **द्वितीय इति।** दूसरे का (उभयकर्मजविभाग का) उदाहरण; जैसे—दो मल्लों (पहलवानों) का विभाग। **तृतीय इति।** तीसरे का (विभागजविभाग का) उदाहरण; जैसे—हाथ और वृक्ष के विभाग से शरीर और वृक्ष का विभाग।

यह प्रसिद्ध कहावत (उक्ति) है—**द्वित्वे इति।** 'द्वित्व संख्या', 'पाकजगुण की उत्पत्ति', तथा 'विभागजविभाग'—इन तीनों के विषय में जिसकी बुद्धि स्खलित नहीं होती, उस व्यक्ति को वैशेषिक शास्त्र का ज्ञाता समझा जाता है।

माधुरी

'विभागगुण' स्वयं एक होकर दो द्रव्यों में साथ-साथ रहता है। यह 'विभागगुण' संयोगपूर्वक होता है। अर्थात् संयोग के बाद ही होता है। ग्रन्थकार ने 'विभाग' का स्वरूपपरिचय मात्र करा दिया है। उसका लक्षण यह होगा—**'विभक्तव्यवहारविषय-वृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् विभागः'**—अर्थात् 'इस द्रव्य से यह द्रव्य विभक्त है'—इस प्रकार का जो विभाग-विषयक प्रत्यक्षज्ञानरूप व्यवहार का विषय होता है, वह 'विभाग गुण' है। उस विभाग में रहने वाली तथा गुणत्वजाति की व्याप्य जो 'विभागत्व' जाति है, वह विभागत्वजाति, समस्त विभागों रहती है।

'विभक्तव्यवहारविषयवृत्ति' पद के रहने से 'गुणत्वजाति' के व्याप्य 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादिगुणों' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि रूपत्वादि जातियाँ, विभक्तव्यवहार के विषयभूत 'विभाग' में वृत्ति नहीं हैं। किन्तु 'गुणत्वव्याप्य' पद के रहने से 'विभागवृत्ति गुणत्वजाति' को लेकर तथा 'सत्ताजाति' को लेकर रूपादि समस्तगुणों में तथा 'द्रव्य-गुण-कर्म' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'गुणत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति', उस गुणत्वजाति की व्याप्य नहीं है।

विभाग का अधिकरण और उसकी अनित्यता—

पूर्वोक्त 'संयोग' के समान यह 'विभागगुण' भी नौ द्रव्यों में ही रहता है। और वह 'विभागगुण' सर्वत्र अनित्य ही होता है। कोई भी 'विभाग' नित्य नहीं होता है। उस 'विभाग' का नाश, कहीं तो 'आश्रयद्रव्य' के नाश से होता है और कहीं 'स्वाश्रय-द्रव्य के उत्तरदेश-संयोग' से होता है। जैसे—वृक्ष से संयुक्त हुए पक्षी की क्रिया से उत्पन्न हुआ जो 'पक्षी-वृक्ष' का विभाग है, वह (विभाग) उस आश्रयभूत 'पक्षी-वृक्ष'-रूप द्रव्य के नाश से नष्ट होता है। और कहीं 'पक्षी-वृक्षरूप आश्रयद्रव्य' के विद्यमान रहने पर भी जब उस पक्षी का भूमि आदि उत्तरदेश के साथ संयोग होता है, तब उस 'उत्तरदेशसंयोग' से भी उस 'पक्षी-वृक्ष' के विभाग का नाश होता है।

विभाग के भेद—

पूर्वोक्त संयोगगुण के समान यह विभाग गुण भी (१) कर्मजविभाग, (२)

विभागजविभाग, के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से जहाँ 'क्रिया' (कर्म) से विभाग उत्पन्न होता है, उस विभाग को 'कर्मजविभाग' कहते हैं। और जहाँ एक विभाग से दूसरा विभाग उत्पन्न होता है, उस विभाग को 'विभागजविभाग' कहते हैं।

उनमें से प्रथम 'कर्मजविभाग' भी, (१) अन्यतरकर्मजविभाग और (२) उभयकर्मजविभाग के भेद से दो प्रकार का होता है।

अन्यतरकर्मज विभाग—कर्मजविभाग के प्रथम प्रकार 'अन्यतरकर्मजविभाग' का स्वरूप यह है कि—जो विभाग एकद्रव्य की क्रिया से जन्य हो, उसे अन्यतर कर्मजविभाग कहते हैं। जैसे—निष्क्रिय (स्थिर–अचल) पर्वत पर स्थित पक्षी की क्रिया से उसका (पक्षी का) उस पर्वत से जो विभाग होता है, वह (विभाग) केवल पक्षी की क्रिया से उत्पन्न होने के कारण उसे अन्यतरकर्मजविभाग कहा जाता है। इस विभाग के समवायिकारण, 'पक्षी और पर्वत' दोनों होते हैं। और उस पक्षी की 'क्रिया', असमवायिकारण होती है। तथा 'अदृष्ट, ईश्वर' आदि निमित्तकारण होते हैं। इसी प्रकार 'मन' की क्रिया से होने वाला जो मन का आत्मा से विभाग है, तथा घटादि मूर्तद्रव्यों की क्रिया से उन घटादिकों का आकाशादि विभुद्रव्यों से होने वाला जो विभाग है, वह भी 'अन्यतरकर्मजविभाग' है।

उभयकर्मज विभाग—जो विभाग दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न होता है, उसे उभयकर्मजविभाग कहते हैं। जैसे—परस्परसंयुक्त दोनों मल्लों कि क्रिया से उनका जो परस्पर विभाग होता है, तथा परस्परसंयुक्त दोनों मेषों की क्रिया से जो उनका परस्पर विभाग होता है, उसे उभयकर्मज विभाग कहा जाता है। उक्त उदाहरण में उस विभाग के 'दोनों मल्ल तथा दोनों मेष' तो समवायिकारण हैं, और दोनों मल्लों तथा दोनों मेषों की क्रिया उस विभाग की असमबायिकारण है, और 'अदृष्ट, ईश्वर' आदि निमित्तकारण हैं।

विभागज विभाग और उसके भेद—यह 'विभागजविभाग' भी दो प्रकार का होता है। (१) कारणमात्रविभागजन्यविभाग और (२) कारणाऽकारणविभागजन्यविभाग।

कारणमात्रविभागजन्यविभाग वह है, जो (विभाग) कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न होता है। उसी को कारणमात्रविभागजन्यविभाग कहते हैं। जैसे—परस्पर संयुक्त दो कपालों में से जब एक कपाल में क्रिया (कर्म) उत्पन्न होती है, उसके बाद उस कपाल की क्रिया से उन दोनों कपालों का विभाग होता है, उसके बाद उस विभाग से घट के आरम्भक उन दोनों कपालों के संयोग का नाश होता है, उसके बाद उस कपालसंयोगरूप असमवायिकारण के नाश से उस घट का नाश होता है, तदनन्तर उन दो कपालों का विभाग, उस क्रियायुक्त कपाल का आकाशादिपूर्वदेश से विभाग कर देता है, उसके बाद उस कपाल-पूर्वदेश के विभाग से उस कपालपूर्वदेश के संयोग का नाश होता है, तदनन्तर उस कपाल का उस क्रिया से उत्तरदेश के

साथ संयोग होता है, तदनन्तर उस कपाल-उत्तरदेशसंयोग से कपाल की क्रिया (कर्म) का नाश होता है। उस घट के समवायिकारण जो 'दो कपाल' हैं, उन दोनों कपालों में एक कपाल की क्रिया से जो उन दोनों कपालों का विभाग हुआ है, वह उस घट के कारणरूप दोनों कपालमात्र में रहने से उसको 'कारणमात्रविभाग' शब्द से कहा जाता है। इस कारणमात्रविभाग से ही उस क्रियावाले कपाल का आकाशादि पूर्वदेश से विभाग होता है। उस कारण उस कपाल-पूर्वदेश के विभाग को कारण-मात्रजन्य विभाग कहते हैं। 'कपाल-पूर्वदेश' के विभाग के समवायिकारण, 'कपाल तथा आकाशादिपूर्वदेश' दोनों होते हैं, और कपाल की क्रिया से जन्य जो 'दो कपालों का विभाग' है, वह उक्त विभाग का असमवायिकारण है। और 'अदृष्ट, ईश्वर' आदि निमित्तकारण होते हैं।

कारणाऽकारणविभागजन्य विभाग अर्थात् कारण और अकारण दोनों के विभाग से जन्य जो—कार्य 'अकार्य' दोनों का विभाग होता है, उसे 'कारण-अकारणविभागजन्य विभाग' कहते हैं। जैसे—वृक्ष से संयुक्त हुए हस्त की क्रिया से जब हस्त का वृक्ष से विभाग होता है, तभी शरीर में भी उस वृक्ष के विभाग का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् 'यह शरीर, वृक्ष से विभक्त है'—इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। इसलिये 'हस्त-वृक्ष' के विभाग के बाद 'शरीर-वृक्ष' का विभाग अवश्य स्वीकार करना होगा। इस शरीर-वृक्ष के विभाग में 'हस्त की क्रिया' तो 'असमवायिकारण' हो नहीं सकती, क्योंकि विभाग के आश्रयरूप 'शरीर-वृक्ष' में हस्त की क्रिया तो रहती नहीं। विभाग के समवायिकारणरूप आश्रय में समवायसम्बन्ध से रहने वाली क्रिया ही उस विभाग की असमवायिकारण होती है, और समस्त अवयवों की क्रिया के बिना अवयविद्रव्य में क्रिया होती नहीं। इसलिये उस हस्तमात्र में क्रिया के होने पर भी उस अवयवी-रूप शरीर में क्रिया का होना नहीं माना जाता। जिस कारण उस क्रिया को 'शरीर-वृक्ष' के विभाग का असमवायिकारण कहा जा सके। और असमवायिकारण के बिना भावकार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। इसलिये उस 'शरीर-वृक्ष' के विभाग की उत्पत्ति में कोई असमवायिकारण तो अवश्य मानना ही चाहिये। परिशेषात् 'हस्त-वृक्ष' का विभाग ही उस 'शरीर-वृक्ष' के विभाग का असमवायिकारण सिद्ध होता है। एवं च 'हस्तरूप' कारण के तथा 'वृक्षरूप' अकारण के विभाग ने ही 'शरीररूप' कार्य का तथा 'वृक्षरूप' अकार्य का विभाग पैदा किया है। इसलिये 'हस्त-वृक्ष' के विभागजन्य उस 'शरीर-वृक्ष' के विभाग को विद्वानों ने 'कारण-अकारण' विभाग-जन्य 'कार्य-अकार्य विभाग' कहा है। इस प्रकार 'अन्यतरकर्मजविभाग', 'उभयकर्मज-विभाग' और 'विभागजविभाग' का निरूपण किया गया है।

दो विभुद्रव्यों के विभाग का खण्डन—

यह नियम है कि जिन द्रव्यों का परस्पर संयोग होता है, उन द्रव्यों का ही परस्पर

विभाग होता है। और जिन द्रव्यों का परस्पर संयोग नहीं होता है, उन द्रव्यों का परस्पर विभाग भी नहीं होता। इस कारण 'आकाशादिक' विभुद्रव्यों का पूर्वोक्त रीति से जैसे परस्पर संयोग नहीं होता है, वैसे ही उन आकाशादिक विभुद्रव्यों का परस्पर विभाग भी नहीं होता। तथापि 'आकाश, काल से विभक्त है', तथा 'काल, दिशा से विभक्त है' इस प्रकार की जो विभुद्रव्यों में 'परस्पर विभक्त' प्रतीति होती है, वह, उन विभुद्रव्यों के 'विभाग' को विषय नहीं करती, अपितु वह विभक्त प्रतीति, उन विभुद्रव्यों के 'संयोग के अभाव' को ही विषय करती है। अतः 'सिंहो देवदत्तः' इस गौण प्रतीति के समान उस गौण-प्रतीति से उन विभुद्रव्यों के विभाग की सिद्धि नहीं होती है।

शंका—कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि 'एक ही विभक्त प्रतीति' को विभुद्रव्यों में 'संयोगाभाव विषयक' मानना, और मूर्तद्रव्यों में 'विभागविषयक' मानना, यह उचित नहीं है। अतः सर्वत्र ही उस 'विभक्त प्रतीति' को संयोगाभावरूप ही मान लिया जाय। इसलिये 'संयोगाभाव' का ही नामान्तर 'विभाग' है। 'संयोगाभाव' से भिन्न 'विभाग' नाम का कोई गुण नहीं है।

समा०—संयोगाभाव को ही 'विभाग' बताना उचित नहीं है। क्योंकि संयोगाभाव को ही 'विभाग' कहने वालों से यह पूछा जाय कि 'संयोग के अत्यन्ताभाव' का नाम विभाग है, या 'संयोग के प्रध्वंसाभावरूप नाश' का नाम विभाग है? यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं तो रूप-रसादिक गुणों में भी 'संयोग का अत्यन्ताभाव' विद्यमान है, तब 'रूपं रसेन विभक्तम्'—रूप, 'रस' से विभक्त है, इस प्रकार की विभक्त प्रतीति होनी चाहिये। किन्तु 'रूपादिक गुणों' में वैसी प्रतीति नहीं होती है। इसलिये संयोग के अत्यन्ताभाव को 'विभाग' शब्द से नहीं कह सकते।

यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हैं तो यद्यपि उक्त दोष प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि 'ध्वंसरूप' नाश, अपने प्रतियोगी के अधिकरण में ही रहता है। उन रूपादिक गुणों में वह 'संयोगरूप' प्रतियोगी नहीं रहता है। इसलिये उन रूपादिक गुणों में 'संयोग' का प्रध्वंसाभावरूप नाश भी नहीं रहता, जिस नाश को वह 'विभक्त प्रतीति' विषय कर सके। अन्यथा जहाँ घटरूप आश्रयद्रव्य के नाश से उस घटाश्रित संयोग का नाश हुआ है, वहाँ भी उस संयोग के नाश को लेकर 'घटो विभक्तः' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु वहाँ ऐसी विभक्त प्रतीति होती नहीं है। तथा जहाँ 'घट-पट' दोनों के संयोग का नाश होकर पुनः उस 'घट-पट' का संयोग हुआ है, वहाँ भी 'घटः पटेन विभक्तः' इस प्रकार की विभक्त प्रतीति होनी चाहिये। क्योंकि पुनः संयोगकाल में उस पूर्वसंयोग का नाश अनंत होने से उस 'घट' में वह विद्यमान है ही। और तुम्हारे कथनानुसार 'पुनः संयोग' होने के पूर्व वह 'संयोग नाश' ही उस विभक्त प्रतीति का विषय था। वही 'पूर्व संयोग' का नाश 'पुनः संयोग' काल में भी

विद्यमान है ही, तथापि उस 'पुनः संयोग' काल में वह विभक्त प्रतीति किसी को भी नहीं होती है। इसलिये 'संयोग के नाश' में भी विभागरूपता का संभव नहीं है। अतः 'विभाग' को संयोगाभाव से भिन्न ही मानना चाहिये।

दूसरी बात यह भी है कि 'संयोगाभाव' का नाम विभाग है, अथवा 'विभागाभाव' का नाम संयोग है? इन दोनों में से किसी भी एक अर्थ की साधक, कोई युक्ति नहीं है। अतः विनिगमना के अभाव में 'संयोग' और 'विभाग' दोनों को भावरूप मानना ही उचित है। अतः जैसे—'संयोग' एक भिन्न गुण है, वैसे ही 'विभाग' भी एक पृथक् गुण है।

(१०-११) परत्वापरत्वे परापरव्यवहारासाधारणकारणे। ते तु द्विविधे दिक्कृते कालकृते च। तत्र दिक्कृतयोरुत्पत्तिः कथ्यते। एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरिदमस्मात् सन्निकृष्टमिति बुद्ध्यानुगृहीतेन दिक्पिण्डसंयोगेनापरत्वं सन्निकृष्टे जन्यते। विप्रकृष्टबुद्ध्या तु परत्वं विप्रकृष्टे जन्यते। सन्निकर्षस्तु पिण्डस्य द्रष्टुः शरीरापेक्षया संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम्। तद्भूयस्त्वं विप्रकर्ष इति।

कालकृतयोस्तु परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः कथ्यते। अनियतदिगवस्थितयोर्युवस्थविरपिण्डयोः 'अयमस्मादल्पतरकालसम्बद्धः' इत्यपेक्षाबुद्ध्यानुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारणेन यूनि, अपरत्वम्। 'अयमस्माद् बहुतरकालेन सम्बद्धः' इति धिया स्थविरे परत्वम्।

(१०-११) परत्वापरत्वनिरूपण—

परत्वाऽपरत्वे इति। 'पर' और 'अपर' व्यवहार के असाधारण कारण क्रमशः 'परत्व' और 'अपरत्व' नामक गुण हैं। वे दोनों दो प्रकार के होते हैं (१) दिक्कृत और (२) कालकृत। **तत्रेति।** उनमें से दिक्कृत 'परत्व और अपरत्व' की उत्पत्ति को बता रहे हैं—**एकस्यामिति।** एक दिशा में रखे हुए दो पिण्डों में 'यह इसकी अपेक्षा समीप है'—इत्याकारक ज्ञान से सहकृत 'दिक् और पिण्ड' के संयोग से 'सन्निकृष्ट पिण्ड' में 'अपरत्व' उत्पन्न होता है। और 'यह इसकी अपेक्षा दूर है'—इत्याकारक ज्ञान से सहकृत 'दिक् और पिण्ड' के संयोग से 'दूरस्थ (विप्रकृष्ट) पिण्ड' (वस्तु) में 'परत्व' उत्पन्न होता है। यह 'परत्व' और 'अपरत्व', दिक् से उत्पन्न होने के कारण 'दिक्कृत परत्व-अपरत्व' कहे जाते हैं।

'अपरत्व' को बताने वाले 'सन्निकर्ष' तथा 'परत्व' को बताने वाले 'विप्रकर्ष' का अर्थ क्रमशः 'अल्पतर संयुक्तसंयोग' और 'बहुतर संयुक्तसंयोग' है। 'संयुक्तसंयोग' की अल्पता और अधिकता, 'अपरत्व' और 'परत्व' के आश्रयभूत द्रव्यों में उनके देखने वाले पुरुषों के शरीर की अपेक्षा से ली जाती है। अर्थात् जो पुरुप जिस द्रव्य (वस्तु) को अपने सन्निकृष्ट (समीप) समझता है, तब उस द्रव्य (वस्तु) और

उस पुरुष के मध्य में 'संयुक्तसंयोग' अल्प होते हैं, तथा जिस वस्तु को वह अपने से विप्रकृष्ट (दूर) समझता है, वहाँ उस पुरुष और उस वस्तु के मध्य में 'संयुक्त-संयोग' अधिक होते हैं। एवं च अल्प संयुक्तसंयोगवाले द्रव्य (वस्तु) में 'दिक्कृत अपरत्व' और अधिक संयुक्तसंयोग वाले द्रव्य में 'दिक्कृत परत्व' उत्पन्न होता है। इसी दिक्कृत परत्व और अपरत्व को 'दैशिक परत्व और दैशिक अपरत्व' कहते हैं।

कालकृतयोस्त्विति। कालकृत 'परत्व' और 'अपरत्व' की उत्पत्ति को बता रहे हैं— **अनियतेति।** अनियत दिशा में स्थित युवक तथा वृद्ध पुरुष में 'अयमस्मात् अल्पतर-कालसम्बद्धः'—यह युवक पुरुष, इस वृद्ध पुरुष की अपेक्षा अल्पतरकाल से सम्बद्ध है—इस प्रकार की 'अपेक्षाबुद्धि' से अनुगृहीत 'काल' और 'पिण्ड' के संयोगरूप 'असमवायिकारण' से 'युवक' में 'अपरत्व' उत्पन्न होता है, और 'अयस्मात् बहुतर-कालेन सम्बद्धः'—यह वृद्ध पुरुष, उस 'युवक' की अपेक्षा 'अधिकतर काल' से सम्बद्ध है—इस प्रकार की 'अपेक्षाबुद्धि' से अनुगृहीत 'काल' और 'पिण्ड' के संयोगरूप 'असमवायिकारण' से 'वृद्ध' में 'परत्व' उत्पन्न होता है इसी 'कालकृत परत्व-अपरत्व' को क्रमशः 'कालिक परत्व' और 'कालिक अपरत्व' कहते हैं।

माधुरी

ये 'परत्व' और 'अपरत्व' दोनों गुण, 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन'— इन पाँच मूर्तद्रव्यों में ही रहते हैं। ये 'आकाशादि' विभुद्रव्यों में नहीं रहते। उनमें भी 'दैशिक परत्व-अपरत्व' तो 'मूर्तद्रव्यमात्र' में रहते हैं। अर्थात् 'परमाणु' और 'मन' रूप नित्य मूर्तद्रव्यों में तथा 'द्वयणुक से लेकर घटादि पर्यन्त' सभी 'जन्य मूर्तद्रव्यों' में वह 'दैशिक परत्व-अपरत्व' रहता है। किन्तु 'कालिक परत्व-अपरत्व' तो केवल 'जन्य मूर्तद्रव्यों' में ही रहता है। 'परमाणु' और 'मन' रूप 'नित्य मूर्तद्रव्यों' में वह 'कालिक परत्व-अपरत्व' नहीं रहता। किन्तु कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि वह 'कालिक परत्व-अपरत्व' केवल 'प्राणिमात्र' में ही रहता है। 'घटादिकों' में वह 'कालिक परत्व-अपरत्व' नहीं रहता है।

'विभाग' के समान उसकी अनित्यता—

जैसे 'संयोगगुण' तथा 'विभागगुण' उत्पत्ति विनाशशाली होने से सर्वत्र अनित्य ही होता है, वैसे ही यह 'दैशिक परत्व-अपरत्व गुण' तथा 'कालिक परत्व-अपरत्व गुण' भी उत्पत्ति-विनाशशाली होने से सर्वत्र अनित्य ही होता है। किसी भी 'मूर्तद्रव्य' में वह 'परत्व-अपरत्वगुण' नित्य नहीं होता है।

दैशिक परत्वापरत्व की उत्पत्ति—

'परत्व-अपरत्व गुण' की अनित्यता को बताने के लिये प्रथमतः 'दैशिक परत्व-अपरत्व' की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं—

जहाँ द्रष्टा पुरुष के अधिकरण की अपेक्षा से एक ही पूर्व-पश्चिम आदि दिशा में पूर्व-पश्चाद्भाव से स्थित जो दो मूर्तद्रव्य हैं, उन दोनों के मध्य में जिस मूर्तद्रव्य की अपेक्षा से जिस मूर्तद्रव्य में उस द्रष्टा पुरुष को अपने अधिकरण देश से विप्रकृष्टत्व बुद्धि होती है, उस विप्रकृष्ट मूर्तद्रव्य में तो दैशिकपरत्व की उत्पत्ति होती है। और जिन मूर्तद्रव्यों के मध्य में जिस मूर्तद्रव्य की अपेक्षा से जिस मूर्तद्रव्य में उस द्रष्टा पुरुष को अपने अधिकरण देश से सन्निकृष्टत्व बुद्धि होती है, उस सन्निकृष्ट मूर्तद्रव्य में दैशिक अपरत्व की उत्पत्ति होती है। जैसे—वाराणसी में रहने वाले आदमी का अधिकरणदेश 'वाराणसी' है। उस वाराणसी रूप अधिकरण देश की अपेक्षा से एक ही पश्चिम दिशा में पूर्व-पश्चाद्भाव से स्थित जो 'प्रयाग', 'दिल्ली' नाम के देश, दो मूर्तद्रव्य हैं। उन 'प्रयाग' और 'दिल्ली' दोनों मूर्तद्रव्य रूप देशों के मध्य 'दिल्ली' तो, वाराणसी में स्थित पुरुष की दृष्टि से 'प्रयाग' की अपेक्षा विप्रकृष्ट (दूर) प्रतीत हो रही है। अतः इस विप्रकृत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि से 'दिल्ली' के विषय में तो 'दैशिक-परत्व' की उत्पत्ति होती है। और 'दिल्ली' की अपेक्षा 'प्रयाग', वाराणसी से सन्निकृष्ट प्रतीत होता है। अतः इस प्रकार की सन्निकृष्टत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि से 'प्रयाग' के विषय में 'दैशिक अपरत्व' की उत्पत्ति होती है। उस कारण 'दिल्ली' निष्ठ दैशिकपरत्व का समवायिकारण 'दिल्ली' देशरूप 'मूर्तद्रव्य' है, और दिल्लीरूप मूर्तद्रव्य के साथ 'दिशा' का जो 'संयोग सम्बन्ध' है, वह उस 'परत्व' का असमवायिकारण है, तथा 'विप्रकृष्टत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि', उस 'परत्व' का निमित्तकारण है।

उसी प्रकार 'प्रयागनिष्ठ दैशिक-अपरत्व' का 'प्रयागरूप मूर्तद्रव्य' तो 'समवायिकारण' है, और उस प्रयागरूप मूर्तद्रव्य के साथ 'दिशा' का जो 'संयोग सम्बन्ध' है, वह उस 'दैशिक-अपरत्व' का असमवायिकारण है, तथा 'सन्निकृष्टत्व बुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि' उस 'दैशिक-अपरत्व' का निमित्तकारण है।

शंका—'दैशिक-परत्व' की उत्पत्ति में निमित्तकारण 'विप्रकृष्टत्व' बुद्धि को तथा 'दैशिक-अपरत्व' की उत्पत्ति में निमित्तकारण 'सन्निकृष्टत्व' बुद्धि को बताया गया है, किन्तु यदि द्रष्टा पुरुष को सन्निकृष्ट वस्तु में 'विप्रकृष्टत्व' का भ्रम तथा विप्रकृष्ट वस्तु में 'सन्निकृष्टत्व' का भ्रम हो जाय, तो 'भ्रमात्मक विप्रकृष्टत्वबुद्धि' से उस सन्निकृष्ट वस्तु में 'दैशिक-परत्व' की उत्पत्ति, तथा 'भ्रमात्मक सन्निकृष्टत्व बुद्धि' से उस विप्रकृष्ट वस्तु में 'दैशिक-अपरत्व' की उत्पत्ति होनी चाहिये।

समा०—जैसे 'विप्रकृष्टत्व बुद्धि' उस दैशिकपरत्व का निमित्तकारण होती है, वैसे ही उस 'विप्रकृष्ट वस्तु' में रहने वाला 'विप्रकृष्टत्व' धर्म भी उस 'दैशिक-परत्व' का निमित्तकारण होता है। उसी तरह जैसे 'सन्निकृष्टत्व बुद्धि' उस 'दैशिक-अपरत्व' का निमित्तकारण होती है, वैसे ही उस 'सन्निकृष्ट वस्तु' में रहने वाला 'सन्निकृष्टत्व

धर्म' भी उस 'दैशिक-अपरत्व' का निमित्तकारण होता है। ऐसी स्थिति में वह 'विप्रकृष्टत्व' धर्म, उस सन्निकृष्ट वस्तु में नहीं रहता, तथा 'सन्निकृष्टत्व' धर्म उस विप्रकृष्ट वस्तु में नहीं रहता। अतः निमित्तकारण के न रहने से (अभाव से) उस सन्निकृष्ट वस्तु में 'दैशिक-परत्व' की उत्पत्ति तथा विप्रकृष्ट वस्तु में उस 'दैशिक-अपरत्व' की उत्पत्ति नहीं होती है। एवं च विप्रकृष्टत्व तथा सन्निकृष्टत्व को विषय-करने वाली 'अपेक्षाबुद्धि', दैशिक परत्वापरत्व का निमित्त कारण होती है।

विप्रकृष्ट तथा सन्निकृष्ट का स्वरूप—

'वाराणसी' से 'प्रयाग' की अपेक्षा 'दिल्ली' विप्रकृष्ट है, और 'दिल्ली' की अपेक्षा 'प्रयाग', वाराणसी से सन्निकृष्ट है इत्याकारक 'अपेक्षाबुद्धि वाला' जो वाराणसी स्थ पुरुष है, उसके अधिकरण (रहने के) वाराणसी देश से आरम्भ करके जितने भी मूर्तद्रव्यों के 'संयुक्तसंयोग', दिल्ली में होंगे, उतने मूर्तद्रव्यों के 'संयुक्त-संयोग' प्रयाग में नहीं होंगे। अर्थात् अधिकरणदेशयुक्त प्रथम मूर्तद्रव्य-संयुक्त द्वितीय मूर्तद्रव्य का संयोग, तथा द्वितीय मूर्तद्रव्य-संयुक्त तृतीय मूर्तद्रव्य का संयोग तथा तृतीय मूर्तद्रव्य-संयुक्त चतुर्थ मूर्तद्रव्य का संयोग—इस रीति से जितने भी 'मूर्तद्रव्यों के संयुक्तसंयोग'–'दिल्ली' में रहेंगे, उतने 'प्रयाग' में नहीं रहेंगे, किन्तु प्रयागनिष्ठ संयुक्तसंयोगों की अपेक्षा 'दिल्ली' में 'संयुक्तसंयोग' अधिक रहेंगे, और दिल्लीनिष्ठ संयुक्तसंयोगों की अपेक्षा 'प्रयाग' में संयुक्तसंयोग अल्प रहेंगे। एवं च प्रयागनिष्ठ अल्पसंयुक्तसंयोगों की अपेक्षा 'दिल्ली' में जो बहुतरसंयुक्तसंयोगवत्त्व है, वही उस दिल्ली में 'विप्रकृष्टत्व' है। और दिल्लीनिष्ठ संयुक्तसंयोगों की अपेक्षा 'प्रयाग' में जो अल्पतरसंयुक्तसंयोगवत्त्व है, वही उस प्रयाग में 'सन्निकृष्टत्व' है।

शंका—'संयुक्तसंयोग' में 'संयुक्त' शब्द से 'दिशा' का ही ग्रहण किया जाता है। और अन्यान्य 'द्रव्यों' के साथ जो दिक्(संयुक्त)संयोग हैं, वे सब 'संयोग' एक ही हैं, अनेक नहीं है, क्योंकि 'दिक्' तो एक ही है, अनेक नहीं है तब उसमें (संयोग में) अल्पता या अधिकता का प्रश्न ही कहाँ रहता है? अतः 'संयुक्तसंयोग की अल्पता या अधिकता' के आधार पर विप्रकृष्ट-सन्निकृष्ट का निर्णय कैसे कर सकते हैं?

समा०—अनेक मूर्तद्रव्यों के साथ होने वाला 'दिक्-संयोग' यद्यपि एक ही है, तथापि किसी मूर्तद्रव्य को सन्निकृष्ट या विप्रकृष्ट समझने वाले पुरुष के अधिकरण रूप स्थान और उस मूर्तद्रव्य के बीच अवस्थित अनेक मूर्तद्रव्यों से 'दिक्' का जो संयोग होता है, उसका आश्रय 'मूर्तद्रव्य' की तरह 'दिक्' भी होती है। अतः 'संयुक्त' शब्द से 'दिक्' का ग्रहण किया जाता है। उस 'दिक्' के एक रहने पर भी उसके 'संयोग' तो अनेक हैं। अतः उनकी अल्पता और अधिकता को देखते हुए सन्निकृष्ट या विप्रकृष्ट का निर्धारण सरलता से किया जा सकता है।

दैशिक परत्व-अपरत्व का लक्षण—

'दिक् संयोगाऽसमवायिकारणकं परत्वं दैशिकपरत्वम्'। अर्थात् जिस मूर्तद्रव्य में दैशिक परत्व या अपरत्व उत्पन्न होता है, उस मूर्तद्रव्य के साथ 'दिक्' का जो संयोग सम्बन्ध है, वह 'दिक्संयोग' है 'असमवायिकारण' जिसका, ऐसा जो 'परत्व' है, उसे 'दैशिकपरत्व' कहते हैं। उसी तरह दैशिक अपरत्व का लक्षण—**'दिक्-संयोगाऽसमवायिकारणकमपरत्वं दैशिकाऽपरत्वम्'**। अर्थात् 'दिक्संयोग' है 'असमवायिकारण' जिसका, ऐसा जो 'अपरत्व' है, उसे 'दैशिक-अपरत्व' कहते हैं। उक्त लक्षण में यदि 'दिक्' पद न दें तो 'कालिक परत्वाऽपरत्व' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जैसे 'दैशिक परत्वाऽपरत्व' में 'दिक् संयोग' असमवायिकारण होता है, वैसे ही 'कालिक परत्वाऽपरत्व' में भी 'काल संयोग' असमवायिकारण होता है। उस कारण 'सयोगाऽसमवायिकारणक परत्वाऽपरत्व' उस 'कालिक परत्वाऽपरत्व' में भी है। अतः अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ उक्त दोनों लक्षणों में 'दिक्' पद का देना आवश्यक है। तब 'कालिक परत्वाऽपरत्व' में उस 'दिक्संयोगाऽसमवायिकारणकत्व' के न रहने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। यदि उक्त दोनों लक्षणों में 'परत्व' 'अपरत्व' पद न रखें तो 'परत्व' लक्षण की 'अपरत्व' में और 'अपरत्व' लक्षण की 'परत्व' में परस्पर अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'दिक्संयोगाऽसमवायिकारणकत्व' उस दैशिक परत्वं और अपरत्व में समान ही है। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ दोनों लक्षणों में क्रमशः 'परत्व' और 'अपरत्व' पदों को देना आवश्यक है, जिससे अतिव्याप्ति नहीं होगी।

कालिक परत्वाऽपरत्व की उत्पत्ति—

एक ही समय एक या भिन्न दिशा में अवस्थित 'युवा पुरुष' और 'वृद्ध पुरुष' को देखने वाले के मन में—यह 'वृद्ध पुरुष' इस 'युवा पुरुष' की अपेक्षा 'ज्येष्ठ' है—इस प्रकार की 'ज्येष्ठत्वबुद्धि' होती है, और युवा पुरुष को देखकर मन में—यह 'युवा पुरुष' उस 'वृद्ध पुरुष' की अपेक्षा कनिष्ठ है'—इस प्रकार की 'कनिष्ठत्व-बुद्धि' होती है। इस परिस्थिति में 'ज्येष्ठत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि' से उस 'वृद्ध पुरुष' में 'कालिक परत्व' उत्पन्न होता है। और 'कनिष्ठत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि' से उस 'युवा पुरुष' में 'कालिक अपरत्व' उत्पन्न होता है। 'कालिक परत्व' का समवायिकारण वह 'वृद्ध शरीर' है, और उस वृद्धशरीर के साथ जो 'काल' का संयोग सम्बन्ध है, वह उस 'कालिक परत्व' का असमवायिकारण है, और 'ज्येष्ठत्व तथा ज्येष्ठत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि, उस कालिक परत्व का निमित्तकारण है। इसी प्रकार 'युवा शरीर' उस कालिक-अपरत्व का समवायिकारण है, और 'युवा शरीर के साथ जो काल का संयोग सम्बन्ध' है, वह कालिक-अपरत्व का

असमवायिकारण है। तथा 'कनिष्ठत्व और कनिष्ठत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि' उस कालिक-अपरत्व का निमित्तकारण है।

ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व का स्वरूप—

इस युवा पुरुष की अपेक्षा यह वृद्ध पुरुष 'ज्येष्ठ' है, और इस वृद्ध पुरुष की अपेक्षा यह युवा पुरुष 'कनिष्ठ' है। यह अपेक्षा बुद्धि 'रविक्रिया' के आधार पर होती है। वृद्धशरीर की उत्पत्ति के क्षण से लेकर उस वृद्धशरीर पर 'रविक्रिया' जितनी उत्पन्न होकर नष्ट हुई है, उतनी 'रविक्रिया' उस युवाशरीर पर नहीं हुई हैं। अतः युवाशरीर की अपेक्षा वृद्धशरीर पर 'रविक्रियाओं' की जो अधिकता है, वही उसका ज्येष्ठत्व है। और 'युवाशरीर' पर 'रविक्रियाओं' की जो अल्पता है, वही उसका कनिष्ठत्व है।

कालिक परत्व और अपरत्व का क्रमशः लक्षण—

'कालसंयोगाऽसमवायिकारणकं परत्वं कालिकपरत्वम्'। अर्थात् कालिक-परत्व के आश्रयभूत जन्यद्रव्य के साथ जो काल का संयोग है, वह असमवायिकारण है जिसका, ऐसे 'परत्व' को 'कालिक-परत्व' कहते हैं। उसी तरह **'कालसंयोगाऽसमवायिकारणकमपरत्वं कालिकमपरत्वम्'**—अर्थात् कालसंयोग है असमवायिकारण जिसका ऐसे 'अपरत्व' को 'कालिक अपरत्व कहते हैं। उक्त लक्षणों में 'काल' पद न देने पर दैशिक-परत्व-अपरत्व में अतिव्याप्ति होगी, उसके वारणार्थ 'काल' पद का देना आवश्यक है।

दैशिक परत्वाऽपरत्व के विनाश का प्रकार—

उदयनाचार्य ने दैशिक परत्वाऽपरत्व के विनाश का कारण सात प्रकार का बताया है—

'अपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्यनाशात् पृथक्-पृथक्।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां च सर्वेभ्यो विनाशः सप्तधा तयोः॥

अर्थात् (१) अपेक्षाबुद्धि का नाश, (२) संयोग का नाश, (३) द्रव्य का नाश, (४) अपेक्षाबुद्धिनाश–द्रव्यनाश, (५) संयोगनाश–द्रव्यनाश, (६) अपेक्षाबुद्धिनाश–संयोगनाश, (७) अपेक्षाबुद्धिनाश–संयोगनाश–द्रव्यनाश—इन सप्तविध कारणों से ही दैशिक परत्व-अपरत्व का विनाश होता है।

जैसे—(१) काशी में रहने वाला आदमी प्रयागस्थ पुरुष की अपेक्षा मथुरास्थ पुरुष में 'परत्व' बुद्धि रखता है यानी उसे 'पर' समझता है। यह 'परत्व'—दैशिक परत्व है। इस 'दैशिक परत्व' का निमित्तकारण, काशीस्थ पुरुष की 'अपेक्षाबुद्धि' है। अर्थात् 'प्रयागस्थ पुरुष की अपेक्षा मथुरास्थ पुरुष विप्रकृष्ट है' (प्रयागस्थ-पुरुषापेक्षया मथुरास्थः पुरुषः विप्रकृष्टः)—यह अपेक्षाबुद्धि का आकार है। इस

'अपेक्षाबुद्धि' के नाश से भी उस मथुरास्थित पुरुषनिष्ठ 'दैशिक-परत्व' का नाश होता है। जैसे अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वादि संख्या का नाश होता है। और (२) उस परत्व का आश्रय जो मथुरास्थ पुरुष है, उसके साथ जो दिशा का संयोग है, उस दिक्-संयोग के नाश से भी 'परत्व' का नाश होता है। उसी प्रकार मथुरास्थ पुरुषनिष्ठ 'परत्व' की अपेक्षा प्रयागस्थ पुरुष निष्ठ जो 'अपरत्व' है, उसका असमवायिकारण-रूप जो प्रयागस्थ पुरुष के साथ 'दिक्संयोग' है, उसके नाश से भी 'मथुरास्थ पुरुष-निष्ठ परत्व' का विनाश होता है। उसी प्रकार मथुरास्थ पुरुषनिष्ठ 'परत्व' का अवधिभूत जो काशीस्थ पुरुष है, उसका जो अपने देश के साथ संयोगसम्बन्ध है, उसके नाश से भी मथुरास्थ पुरुषनिष्ठ 'परत्व' का नाश होता है। और (३) परत्व का आश्रयभूत जो मथुरास्थ पुरुष है, उसके (आश्रय द्रव्य के) नाश से भी 'परत्व' का विनाश होता है। और (४) जहाँ उस अपेक्षाबुद्धि का भी नाश होता है, तथा उस पुरुषरूप आश्रयद्रव्य का भी नाश होता है, वहाँ 'अपेक्षाबुद्धिनाश और द्रव्य-नाश दोनों से 'परत्व' का नाश होता है। और (५) जहाँ उक्त संयोग का भी नाश होता है, तथा उस पुरुषरूप आश्रयद्रव्य का भी नाश होता है, वहाँ 'संयोगनाश' और 'द्रव्यनाश' दोनों से 'परत्व' का नाश होता है। और (६) जहाँ अपेक्षाबुद्धि का भी नाश होता है तथा 'संयोग' का भी नाश होता है, वहाँ अपेक्षाबुद्धिनाश और संयोग दोनों से 'परत्व' का नाश होता है। और (७) जहाँ अपेक्षाबुद्धि का भी नाश होता है, तथा संयोग का भी नाश होता है, तथा आश्रय द्रव्य का भी नाश होता है, वहाँ अपेक्षाबुद्धिनाश, संयोगनाश, द्रव्यनाश—तीनों से उस दैशिक परत्व का विनाश होता है। इसी प्रकार प्रयागस्थ पुरुषनिष्ठ दैशिक अपरत्व के नाश में भी उन अपेक्षाबुद्धि नाशादि सप्तकारणों को समझना चाहिये।

कालिक परत्वाऽपरत्व के विनाश का प्रकार—

(१) जिस ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्वबुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि से 'कालिक परत्वाऽपरत्व की उत्पत्ति होती है, उस अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारण के नाश से भी उस कालिक परत्वाऽपरत्व का विनाश होता है। और (२) जिस वृद्धशरीररूप तथा युवाशरीर-रूप आश्रयद्रव्य में 'समवायसम्बन्ध' से कालिक परत्वाऽपरत्व उत्पन्न होता है, उस शरीररूप आश्रयद्रव्य के नाश से भी उस कालिक परत्वाऽपरत्व का नाश होता है। और (३) जहाँ उस अपेक्षाबुद्धि का भी नाश होता है, तथा आश्रयद्रव्य का भी नाश होता है, वहाँ अपेक्षाबुद्धिनाश और द्रव्यनाश—इन दोनों से कालिक परत्वाऽ-परत्व का नाश होता है। किन्तु कुछ ग्रन्थकारों का यह कहना है कि केवल अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारण के नाश से ही उस कालिक परत्वाऽपरत्व का नाश हो जाता है, अन्य किसी से नहीं।

शंका—ये 'परत्व-अपरत्व गुण' जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन—इन पाँच मूर्तद्रव्यों में उत्पन्न होते हैं, वैसे ही आकाश, काल, दिक्, आत्मा—इन चार विभुद्रव्यों में वे क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

समा०—परिच्छिन्न द्रव्यों में ही किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा विप्रकृष्टता (दूरी) रहती है, तथा किसी द्रव्य की अपेक्षा सन्निकृष्टता (सामीप्य) रहती है। आकाश आदि अपरिच्छिन्न द्रव्यों में किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा विप्रकृष्टता तथा सन्निकृष्टता का होना संभव ही नहीं है। अतः विप्रकृष्टत्वबुद्धिरूप तथा सन्निकृष्टत्व-बुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धि के न होने से (अभाव से) उन आकाशादि विभुद्रव्यों में दैशिक परत्वाऽपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती है। जन्यद्रव्यों में ही किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा ज्येष्ठता तथा किसी द्रव्य की अपेक्षा कनिष्ठता रहती है। उत्पत्ति-विनाश रहित आकाशादिकों में दूसरे द्रव्य की अपेक्षा ज्येष्ठता या कनिष्ठता का होना संभव ही नहीं है। अतः ज्येष्ठत्व या कनिष्ठत्वबुद्धिरूप अपेक्षा बुद्धि के अभाव से आकाशादिकों में कालिक परत्वाऽपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती है।

दैशिक परत्वाऽपरत्व से कालिक परत्वाऽपरत्व की विलक्षणता—

शंका—सर्वत्र परत्वाऽपरत्व का व्यवहार दैशिक-परत्वाऽपरत्व से ही हुआ करता है, तब उससे भिन्न 'कालिक परत्वाऽपरत्व' को मानने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—देखने वाला कोई व्यक्ति जब किसी युवापुरुष के समीप वृद्ध पुरुष को देखता है, तब दोनों में दैशिक परत्वाऽपरत्व के रहने पर भी देखने वाले को वृद्ध पुरुष में 'परत्व' (ज्येष्ठत्व) बुद्धि और युवा पुरुष में 'अपरत्व' (कनिष्ठत्व) बुद्धि जो उत्पन्न होती है, वह 'कालिक परत्वाऽपरत्व' के आधार पर ही होती है, दैशिक परत्वाऽपरत्व के आधार पर नहीं। यदि कालिक परत्वाऽपरत्व को न माना जाय तो उक्त व्यवहार नहीं हो सकेगा। उस व्यवहार के उपपादनार्थ कालिकपरत्वाऽ-परत्व को स्वीकार करना ही होगा।

किन्तु नवीन नैयायिक किसी प्रमाण के अभाव में 'कालिक परत्वाऽपरत्व' को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि 'रूप-रस' आदि गुणों के समान 'परत्व-अपरत्व' को गुण नहीं कह सकते। क्योंकि प्राचीन नैयायिकों के द्वारा प्रतिपादित जो 'बहुतर संयुक्तसंयोगवत्त्व' रूप विप्रकृष्टत्व है, तथा 'अल्पतर संयुक्त-संयोगवत्त्व' रूप सन्निकृष्टत्व है, उसी को क्रमशः 'परत्व' और 'अपरत्व' (दूरत्व और समीपत्व) कहा जा सकता है। विप्रकृष्टत्व-सन्निकृष्टत्व से भिन्न 'दैशिक परत्व-अपरत्व' को एक पृथक् गुण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उसी तरह प्राचीन नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित 'रवि की बहुतर क्रियाओं के अन्तराय से जन्य जो ज्येष्ठत्व है तथा अल्पतरक्रियाओं के अन्तराय से जन्य जो कनिष्ठत्व है, उसी को क्रमशः-

'परत्व-अपरत्व' कहा जा सकता है। ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व से भिन्न कालिकपरत्व-अपरत्व के मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

(१२) गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम्। पृथिवीजलवृत्ति। यथोक्तं— संयोग-वेग-प्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति।

(१२) गुरुत्वनिरूपण—

गुरुत्वमिति। आद्य (प्रथम) पतन का असमवायिकारण जो हो, उसे 'गुरुत्व' कहते हैं। **पृथिवीति।** वह (गुरुत्व) पृथिवी और जल में रहता है। **यथोक्तमिति।** जैसा कि वैशेषिकसूत्रकार (कणादमहर्षि) ने कहा है—संयोग, वेग और प्रयत्न के अभाव में (क्योंकि ये तीनों, 'पतन' के प्रतिबन्धक हैं) 'गुरुत्व' के कारण पतन होता है। अर्थात् 'पतन' होने में 'गुरुत्व' ही कारण है।

माधुरी

'आद्यपतनाऽसमवायिकारणं गुरुत्वम्'—अर्थात् जो 'गुण' आद्यपतन का असमवायिकारण होता है, उस गुण को 'गुरुत्व' कहते हैं। और **'अधःसंयोगानुकूलक्रिया पतनम्'**—अर्थात् ऊर्ध्वदेश में स्थित (ऊँचे स्थान पर स्थित) मूर्तद्रव्य का जो पृथिवी आदि अधोदेश (निचले स्थान) के साथ संयोग (सम्बन्ध) होता है, उस संयोग का जनक (उत्पादक) उस मूर्तद्रव्य की क्रिया विशेष ही है, उसी को 'पतन' कहते हैं। जैसे—वृक्ष की ऊपरी शाखा पर स्थित जो आम्रफल है, वह परिपक्व होकर नीचे पृथिवी पर गिरता है। तब आम्रफल का पृथिवी के साथ जो संयोग होता है, उसका जनक आम्रफल की क्रिया है, उस क्रिया को ही 'पतन' कहते हैं। अर्थात् वृक्ष की शाखा (टहनी) से आम्रफल के विभाग की जनक प्रथम क्रिया है। उस प्रथम क्रिया से लेकर पृथिवी के साथ संयोग होने तक उस आम्रफल की जितनी क्रियाएँ पैदा होती हैं, वे सभी क्रियाएँ, अधःसंयोग के अनुकूल होने से 'पतन' शब्द से ही कही जाती हैं। उनमें से आम्रफल में जो प्रथम क्रियारूप 'पतन' होता है, उस (पतन) का 'असमवायिकारण' आम्रफल का 'गुरुत्व' ही होता है। उस 'प्रथम पतन' से आम्रफल में 'वेग' उत्पन्न होता है। उस वेग से 'प्रथम पतन' का नाश होकर उस आम्रफल में 'द्वितीय पतन' उत्पन्न होता है। उस द्वितीय पतन से प्रथम वेग का नाश होकर 'द्वितीय वेग' उत्पन्न होता है। उस 'द्वितीयवेग' से 'द्वितीय पतन' का नाश होकर 'तृतीय पतन' उत्पन्न होता है। इस रीति से 'अधःसंयोग' तक पूर्व-पूर्व पतनजन्य वेग से पूर्व-पूर्व पतन का नाश होकर उत्तर-उत्तर पतन उत्पन्न होता है। उस उत्तर-उत्तर पतन से भी पूर्व-पूर्व वेग का नाश होकर उत्तर-उत्तर वेग उत्पन्न होता है। अतः द्वितीय पतन से लेकर अधःसंयोग तक आम्रफल में जितने भी 'क्रियात्मक पतन' होते हैं, उनका 'असमवायिकारण' 'वेग' नामक गुण ही होता है। इसलिये 'आद्यपतनाऽसमवायिकारणत्वरूप' 'गुरुत्व' का लक्षण उचित ही है।

उक्त लक्षण में यदि 'आद्य' पद न दें तो 'द्वितीयादि पतन के असमवायिकारण-रूप वेग' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'आद्य' पद का देना आवश्यक है। उसी तरह लक्षण में यदि 'असमवायि' पद न दें तो क्रियारूप आद्यपतन के 'समवायिकारणरूप आम्रफल आदि द्रव्य' में तथा 'निमित्तकारण रूप अदृष्ट-ईश्वर आदि' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'असमवायि' पद देना आवश्यक है।

शंका—आद्य (प्रथम) पतन क्रिया का असमवायिकारण 'फलनिष्ठ गुरुत्व' को जैसे मानते हैं, वैसे ही पश्चाद्भावी पतनक्रियाओं का भी असमवायिकारण 'फलनिष्ठ-गुरुत्व' को ही क्यों नहीं कहते ?

समा०—पश्चाद्भावी पतनक्रियाओं का भी असमवायिकारण यदि फलनिष्ठ-गुरुत्व को ही कहें तो गिरनेवाले फल का नाश न होने तक पतनक्रिया बराबर बनी रहेगी। क्योंकि उसके समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण, फल के नाश होने तक बराबर बने रहेंगे। किन्तु द्वितीयादि पतनक्रियाओं का असम-वायिकारण 'फलनिष्ठवेग' को कहते हैं, तब पृथिवी पर फल का संयोग होते ही 'वेग' का नाश हो जाता है। तब वेगरूप असमवायिकारण के न रहने से वह 'पतन क्रिया' सतत नहीं होगी।

परमाणु में रहने वाला 'गुरुत्व' नित्य होता है। परमाणु से भिन्न पृथिवी और जल में रहने वाला 'गुरुत्व' अनित्य रहता है। अनित्य गुरुत्व, अपने आश्रयभूत द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाले 'गुरुत्व' से जन्य होता है। और अपने आश्रय के नाश से नष्ट होता है। संयोग, वेग, प्रयत्न—ये तीनों 'पतन' के प्रतिबन्धक होते हैं। जैसे—वृन्त के साथ फल, पुष्प का 'संयोग' उसके पतन का प्रतिबन्धक है। बाण का वेग, बाण के पतन का प्रतिबन्धक है। आकाश में उड़ते हुए पक्षी का प्रयत्न, उसके पतन का प्रतिबन्धक है। इन प्रतिबन्धकों के न रहने पर फल, बाण, पक्षी आदि के शरीर में रहने वाले 'गुरुत्व' से ही उनका पतन होता है।

(१३) द्रवत्वमाद्यस्यन्दनाऽसमवायिकारणम्। भूतेजोजलवृत्ति। भूतेज-सोर्घृतादिसुवर्णयोरग्निसंयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम्। जले नैसर्गिकं द्रवत्वम्।

(१३) द्रवत्वनिरूपण—

द्रवत्वमिति। आद्य (प्रथम) स्यन्दन (बहना, प्रवाहित होना) का असमवायि-कारण 'द्रवत्व' नामक गुण है। वह द्रवत्व, पृथिवी, तेज और जल में रहता है। घृत आदि पृथिवी (पार्थिव) में तथा सुवर्ण आदि तेज में अग्निसंयोग से पैदा होने वाला 'नैमित्तिक' द्रवत्व रहता है। और 'जल' में नैसर्गिक (स्वाभाविक) द्रवत्व रहता है।

माधुरी

पर्वतादि ऊँचे देश में स्थित जल आदि का भूमि आदि नीचे देश के साथ जो संयोग होता है, उसका जनक उन जलादिकों की क्रियाविशेष ही है, उसी क्रिया विशेष को 'स्यन्दन' या 'स्रवण' कहते हैं।, उसमें भी 'आद्यस्यन्दन' के असमवायिकारण को 'द्रवत्व' कहते हैं।

इस लक्षण में भी 'आद्य' पद के निवेश से 'वेग' में अतिव्याप्ति नहीं हो रही है। क्योंकि जलादिकों के 'आद्यस्यन्दन' का असमवायिकारण, जलादिकों का 'द्रवत्व' होता है। और 'द्वितीयादिक स्यन्दनों' का असमवायिकारण, उन जल आदि की क्रिया से जन्य 'वेग' होता है। और 'असमवायि' पद के निवेश से स्यन्दनरूप क्रिया के समवायिकारणरूप जलादिकों में तथा निमित्तकारणरूप अदृष्ट-ईश्वरादिकों में अतिव्याप्ति नहीं होती।

यह 'द्रवत्वगुण'—पृथिवी, जल और तेज तीन द्रव्यों में ही रहता है। 'वायु' आदि द्रव्यों में वह द्रवत्वगुण नहीं रहता। यह द्रवत्वगुण, (१) सांसिद्धिक (स्वाभाविक–नैसर्गिक) और (२) नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का होता है। जो 'द्रवत्व' आगन्तुक पाकादि कारणों से जन्य नहीं होता है, उसे 'सांसिद्धिक' या स्वाभाविक द्रवत्व कहते हैं। और जो 'द्रवत्व', अग्निसंयोगरूप निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे नैमित्तिक द्रवत्ष कहते हैं। अर्थात् पाकज द्रवत्व का नाम नैमित्तिक द्रवत्व है। 'जल' में सांसिद्धिक द्रवत्व रहता है और 'पृथिवी तथा तेज' इन दो द्रव्यों में 'नैमित्तिक द्रवत्व' रहता है। यद्यपि घट-पटादि पृथिवी में तथा वह्नि आदि तेज में नैमित्तिक द्रवत्व प्रतीत नहीं होता है, तथापि घृत-लाक्षा आदि पृथिवी में तथा सुवर्णादिक तेज में अत्यन्ततीव्र अग्निसंयोग से 'द्रवत्व' की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।

सांसिद्धिकद्रवत्व के भेद—

जलमात्रवृत्ति सांसिद्धिक द्रवत्व भी (१) नित्य और (२) अनित्य के भेद से दो प्रकार का होता है। परमाणुरूप नित्य जल में स्थित सांसिद्धिकद्रवत्व 'नित्य' होता है, और द्व्यणुकादिरूप अनित्य (जन्य) जल में स्थित सांसिद्धिक द्रवत्व अनित्य होता है। वह अनित्य सांसिद्धिक द्रवत्व अपने आश्रयभूत द्रव्य की उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में उस आश्रयद्रव्य के समवायिकारणरूप अवयवों के द्रवत्व से उत्पन्न होता है। और उस आश्रयद्रव्य के नाश से ही नष्ट होता है। आश्रयद्रव्य के विद्यमान रहते सांसिद्धिकद्रवत्व का नाश नहीं होता है। जैसे—जलीय दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न हुआ जो जलीय द्व्यणुक है, उसके सांसिद्धिकद्रवत्व का समवायिकारण वह 'जलीय द्व्यणुक' होगा। और उस 'द्व्यणुक' के समवायिकारणरूप परमाणुओं का सांसिद्धिक द्रवत्व, उस 'द्व्यणुक के द्रवत्व का 'असमवायिकारण' होगा। और 'अदृष्ट,

ईश्वर आदि उस द्रवत्व के निमित्तकारण होंगे। और उस जलीय द्व्यणुक के नाश से ही उसके द्रवत्व का नाश होगा। इसी प्रकार द्व्यणुकरूप जल से लेकर कूप, नदी, सरोवर, आदि महान् जल तक जितना भी जन्य जल हो, उसके द्रवत्व की उत्पत्ति, तत्तत् जन्य जल के समवायिकारणरूप अवयवों के द्रवत्व से ही होती है, तथा तत्तत् जन्य जलरूप आश्रयद्रव्य के नाश से नाश होता है।

नैमित्तिक द्रवत्व की अनित्यता—

घृत, लाक्षा आदि पृथिवी (पार्थिवद्रव्य) में स्थित जो द्रवत्व है, तथा सुवर्णादिक तेज में स्थित जो द्रवत्व है, वह नैमित्तिकद्रवत्व है। वह अनित्य ही होता है किसी भी पृथिवी तथा तेज में वह नित्य नहीं होता है। अर्थात् परमाणुरूप नित्य पृथिवी और तेज में तथा द्व्यणुकादिरूप अनित्य पृथिवी और तेज में वह द्रवत्व अनित्य ही होता है।

घृतलाक्षादिरूप पृथिवी में तथा सुवर्णादिरूप तेज में 'अग्नि आदि के तेजः-संयोग-रूप पाक' से वह द्रवत्व उत्पन्न होता है। इसलिये उस द्रवत्व को 'पाकज द्रवत्व' कहते हैं। पृथिवी और तेज के द्रवत्व का समवायिकारण तो 'पृथिवी और तेज' ही होते हैं। और उस पृथिवी तथा तेज के साथ अग्नि आदि का जो 'तेजः-संयोग' है, वह उस द्रवत्व का असमवायिकारण होता है। और 'अदृष्ट, ईश्वर' आदि उस द्रवत्व के निमित्तकारण होते हैं।

पृथिवी और तेज में रहने वाले नैमित्तिक द्रवत्व का नाश तीन प्रकार से होता है। (१) पृथिवी और तेजोरूप आश्रयद्रव्य के नाश से उस नैमित्तिक द्रवत्व का नाश होता है, क्योंकि 'आश्रयद्रव्य के नष्ट होने पर उसके रूपादिक सभी गुणों का नाश हो जाता है'—यह नियम है। (२) कहीं-कहीं आश्रय द्रव्य का नाश न होने पर भी अत्यन्त अग्निसंयोग से भी उस नैमित्तिक द्रवत्व का नाश हो जाता है। जैसे—इक्षुरस आदि का द्रवत्व तथा लाक्षा आदि का द्रवत्व, अत्यधिक अग्निसंयोग से नाश हो जाता है। (३) आश्रय द्रव्य के विद्यमान रहने पर भी अग्निसंयोग के नाश से भी उस नैमित्तिक द्रवत्व का नाश हो जाता है। जैसे—अग्निसंयोग से सुवर्णादिकों में उत्पन्न हुआ जो द्रवत्व है, वह उस अग्निसंयोग के निवृत्त होने पर नष्ट हो जाता है।

जैसे संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व—ये गुण, चक्षु और त्वक् दोनों इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं, वैसे ही द्रवत्व गुण का, चक्षु और त्वक् इन दोनों इन्द्रियों से ग्रहण होता है।

(१४) स्नेहश्चिक्कणता। जलमात्रवृत्ति, कारणगुणपूर्वको गुरुत्वादिवद् यावद्द्रव्यभावी।

(१४) स्नेहनिरूपण—

स्नेह इति । स्नेह गुण, चिक्कणता (चिकनापन) का नाम है । वह केवल जल में रहता है । कार्य में वह कारणगुणपूर्वक होता है, और गुरुत्व आदि के समान यावद्द्रव्यभावी अर्थात् जब तक वह जल द्रव्य रहता है तब तक उसमें यह स्नेह रहता है ।

माधुरी

ग्रन्थकार ने 'स्नेह' का अर्थमात्र बता दिया है—'चिक्कणता' । किन्तु उसका लक्षण तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट ने **'चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः'** किया है । अर्थात् चूर्ण, धूलि आदि द्रव्यों को पिण्डाकार करने में सहायक (उपयोगी) जो संयोग-विशेष, उसका (संयोगविशेषरूप पिण्डीभाव का) निमित्तकारणरूप जो गुण है, उसे **'स्नेह'** शब्द से कहते हैं । आटे का 'गोला', स्नेहगुणवाले जल के संयोग से ही होता है । जल के संबंध (संयोग) के बिना आटे का गोला (पिण्डीभाव) नहीं बन सकता । इससे प्रतीत होता है कि पिण्डीभाव के बनाने में 'स्नेह गुण' निमित्त है ।

उक्त लक्षण में यदि 'गुण' पद को न रखा जाय तो काल, ईश्वर आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि कार्यमात्र के प्रति 'काल-आदि' को निमित्त (निमित्त कारण) माना गया है । अतः पिण्डीभाव रूप कार्य के प्रति भी वे निमित्त होंगे । इसलिये उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुण' पद का देना आवश्यक है । तब काल, ईश्वर आदि के गुणरूप न होने से अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है । अब यदि 'चूर्णादिपिण्डीभावहेतुः' पद न रखें तो 'रूपादि' सभी गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । उसके वारणार्थ 'चूर्णादिपिण्डीभाव हेतुः' पद अवश्य देना चाहिये । तब 'रूपादि' गुणों में चूर्णादिपिण्डीभाव की हेतुता न होने से 'स्नेह लक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती ।

शंका—उक्त लक्षण की पूर्वोक्त सांसिद्धिक द्रवत्व में अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि चूर्ण के पिण्डी भाव में जैसे 'स्नेह गुण' निमित्तकारण होता है, वैसे ही सांसिद्धिक द्रवत्व भी 'पिण्डीभाव' में निमित्तकारण होता है । अतः अतिव्याप्ति होती है ।

समा०—उक्त अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'सांसिद्धिक द्रवत्व के भेद' का निवेश कर देंगे । अर्थात् **'सांसिद्धिकद्रवत्वभिन्नत्वे सति चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः'**—ऐसा लक्षण बनावेंगे ।

शंका—तथापि धर्माधर्मरूप अदृष्ट में तथा ईश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि अदृष्ट तथा ईश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तीनों 'कार्यमात्र' के प्रति निमित्तकारण हुआ करते हैं । इस कारण पिण्डीभावरूप कार्य के प्रति भी वे निमित्तकारण होंगे और वे सांसिद्धिक द्रवत्व से भिन्न भी हैं और गुणरूप भी हैं । अतः अतिव्याप्ति है ।

समा०—उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षणस्थित 'हेतु' पद से 'असाधारण निमित्तकारण' का ग्रहण करेंगे, जिससे 'काल, अदृष्ट आदि साधारण निमित्तकारणों' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

उक्त स्नेहगुण, नित्य-अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। परमाणुरूप नित्य-जल में 'स्नेह गुण' नित्य होता है, और 'द्व्यणुकादि' रूप अनित्य जल में वह अनित्य होता है। अनित्य स्नेह अपने आश्रयभूत द्रव्य की उत्पत्ति के बाद द्वितीय क्षण में उस द्रव्य के समवायिकारण रूप अवयवों के स्नेह से उत्पन्न होता है। और उस आश्रय-द्रव्य के नाश से ही नष्ट होता है। जैसे—जलीय दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न हुआ जो जलीय द्व्यणुक है, उसके स्नेह का समवायिकारण तो वही जलीय द्व्यणुक है। और उस द्व्यणुक के समवायिकारण रूप परमाणुओं में स्थित जो 'स्नेहगुण' है, वह, उस द्व्यणुक के 'स्नेह' का असमवायिकारण है। और 'अदृष्ट, ईश्वरादिक' निमित्तकारण हैं, और उस द्व्यणुक रूप आश्रय द्रव्य के नाश से ही उस 'स्नेह' का नाश होता है। इसी प्रकार द्व्यणुक रूप जन्यजल से लेकर कूप, नदी सरोवरादि के जल तक सभी जन्य (अनित्य) जलों में स्थित स्नेह की उत्पत्ति तथा विनाश को समझना चाहिये।

शंका—'स्नेह गुण' एक मात्र जल में ही रहता है, पृथिवी आदि में नहीं रहता। यह कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि जैसे जल के संयोग से चूर्ण आदि का पिण्डीभाव होता है, वैसे ही 'तैलादिक पृथिवी' के संयोग से भी चूर्णादिकों का पिण्डी-भाव होता है। इसलिये तैलादिरूप पृथिवी में भी 'स्नेह गुण' को मान लेना चाहिये।

समा०—तैलादि पृथिवी में 'स्नेह' की जो प्रतीति होती है, वह 'स्नेह' जल का ही है, तेज का अपना नहीं है। अतः पृथिवी में 'स्नेह' मानने की आवश्यकता नहीं है।

शंका—तैल के भीतर यदि जल का भाग है, तो तैलादि के संयोग से अग्नि का नाश हो जाना चाहिये, क्योंकि जल का संयोग होते ही अग्नि का विनाश हो जाता है। अग्नि और जल दोनों में परस्पर विरोध है। जल, अग्नि का शामक है—यह सभी को प्रत्यक्ष है। किन्तु तैल का स्पर्श (संयोग) होते ही 'अग्नि' प्रवृद्ध होता दिखाई देता है। इसलिये तैल में जल का भाग कहना उचित नहीं है। वह स्नेहगुण 'तैल' का निजी कहना ही ठीक होगा।

समा०—तैल में प्रतीयमान जो 'स्नेह' है, वह, तैल के अन्तर्गत रहने वाले 'जल-भाग' का ही है किन्तु 'स्नेह' प्रकृष्ट होता है और स्नेह की प्रकृष्टता के कारण वह 'अग्नि' के अनुकूल ही रहता है, प्रतिकूल नहीं। 'स्नेह'—प्रकृष्ट और अपकृष्ट भेद से दो प्रकार का होता है। तैलादि पदार्थों के भीतर रहने वाले 'जलभाग' में स्थित जो 'स्नेह' है, वह 'प्रकृष्ट स्नेह' है, और कूप-नदी आदि के जल में स्थित जो 'स्नेह' है, वह 'अपकृष्ट स्नेह' है। अतः प्रकृष्ट स्नेह वाला 'जल', अग्नि का नाश नहीं करता यानी अग्नि का शामक नहीं हुआ करता, प्रत्युत अग्नि के अनुकूल रहकर उसको प्रवृद्ध करता है। और

अपकृष्ट स्नेहवाला जल 'अग्नि' का नाश करता है, यानी अग्नि का शामक होता है। एवं च 'स्नेह गुण' एक मात्र जल में ही रहता है, पृथिवी आदि द्रव्यों में नहीं।

(१५) शब्दः श्रोत्रग्राह्यो गुणः। आकाशस्य विशेषगुणः।

ननु कथमस्य श्रोत्रेण ग्रहणं यतो भेर्यादिदेशे शब्दो जायते श्रोत्रन्तु पुरुषदेशेऽस्ति।

सत्यम्। भेरीदेशे जातः शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा सन्निहितं शब्दान्तरमारभते। स च शब्दः शब्दान्तरमितिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते न त्वाद्यो नापि मध्यमः। एवं वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागदेशे जातः शब्दः शब्दान्तरारम्भक्रमेण श्रोत्रदेशेऽन्त्यं शब्दं जनयति। सोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नाद्यो न मध्यमः। 'भेरीशब्दो मया श्रुतः' इति मतिस्तु भ्रान्तैव। भेरीशब्दोत्पत्तौ भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणं, भेरीदण्डसंयोगो निमित्तकारणम्।

एवं वंशोत्पाटनाच्चटचटाशब्दोत्पत्तौ वंशदलाकाशविभागोऽसमवायिकारणं, दलद्वयविभागो निमित्तकारणम्। इत्थमाद्यः शब्दः संयोगजो विभागजो वा। अन्त्यमध्यमशब्दास्तु शब्दासमवायिकारणका अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः। यथोक्तं—'संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः'[1] इति। आद्यादीनां सर्वशब्दानामाकाशमेकमेव समवायिकारणम्। कर्मबुद्धिवत् त्रिक्षणावस्थायित्वम्। तत्राद्यमध्यमशब्दाः कार्यशब्दनाश्याः। अन्त्यस्तूपान्त्येन उपान्तस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्येते। इदं त्वयुक्तम्। उपान्त्येन त्रिक्षणावस्थायिनोऽन्त्यस्य द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना तृतीयक्षणे चासताऽन्त्यनाशजननासम्भवात्। तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति।

विनाशित्वञ्च शब्दस्यानुमानात्। तथाहि, अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति। शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम्। अनित्यत्वञ्च विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वं, न तु विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वं, प्रागभावे सत्ताहीनेऽनित्यत्वाभावप्रसङ्गात्। सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं हेतुः। इन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमाने आत्मनि व्यभिचारः स्यादत उक्तं बाह्येति। एवमपि तेनैव योगिबाह्येन्द्रियेण ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादतो योगिनिरासार्थमुक्तमस्मदादीति।

किं पुनर्योगिसद्भावे प्रमाणम्?

उच्यते। परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटवदिति। तथापि सामान्यादिना व्यभिचारोऽत उक्तं सामान्यवत्त्वे सतीति। सामान्यादित्रयस्य निःसामान्यत्वात्।

---

१. वैशेषिक दर्शन २।२।३१।

(१५) शब्द-निरूपण—

शब्द इति । श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जो 'गुण', उसे 'शब्द' कहते हैं। वह 'आकाश' का विशेषगुण है।

शंका—नन्विति । 'शब्द' का ग्रहण, 'श्रोत्रेन्द्रिय' से कैसे हो सकता है? क्योंकि वह 'भेरी' आदि वाद्य के देश में उत्पन्न होता है, और 'श्रोत्रेन्द्रिय' तो श्रोतापुरुष के प्रदेश में रहता है। अर्थात् दोनों का प्रदेश (जगह) भिन्न-भिन्न है। ऐसी स्थिति में 'शब्द' का ग्रहण, श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं हो सकता है।

समा०—सत्यमिति । आपकी शंका ठीक है। भेरीवाद्य के प्रदेश में उत्पन्न होने वाला 'शब्द', 'बीचीतरङ्ग न्याय' से अथवा 'कदम्बमुकुलन्याय' से अपने सन्निहित स्थित शब्दान्तर (दूसरे शब्द) को उत्पन्न करता है। **स चेति ।** और वह शब्द, दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है, इस क्रम से 'श्रोत्रेन्द्रिय' के प्रदेश में उत्पन्न हुआ अन्तिम शब्द, 'श्रोत्रेन्द्रिय' के द्वारा ग्रहण किया जाता है। अर्थात् 'अन्तिमशब्द' का ही ग्रहण श्रोत्र से होता है, प्रथम (आदि) या मध्यम (मध्य स्थित) शब्द का नहीं। **एवमिति ।** इसी प्रकार बाँस (वंश) को चीरते समय दोनों दलों के विभागदेश में उत्पन्न हुआ 'शब्द', 'दूसरे शब्द' को उत्पन्न करता हुआ क्रमशः श्रोत्र के प्रदेश में 'अन्तिमशब्द' को उत्पन्न करता है। उस 'अन्तिमशब्द' को श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण करता है। आदि के (प्रथम) शब्द को और बीच (मध्य) के शब्द को वह ग्रहण नहीं करता। **भेरीति ।** 'भेरीशब्दो मया श्रुतः'—मैंने भेरी का शब्द सुना—यह प्रतीति तो भ्रममात्र ही है। क्योंकि भेरी से उत्पन्न हुआ शब्द, गृहीत नहीं होता है, अपि तु उस शब्दधारा में क्रमशः उत्पन्न होने वाला शब्द, श्रोत्र के प्रदेश में गृहीत होता है।

शब्द की उत्पत्ति तथा उसके विनाश की प्रक्रिया—

भेरी से होने वाले शब्द की उत्पत्ति में 'भेरी' और 'आकाश का संयोग', असमवायिकारण होता है, और भेरी के साथ दण्ड का जो संयोग है, वह निमित्तकारण होता है।

एवमिति । इसी प्रकार बाँस के चीरने से 'चट-चट' शब्द की उत्पत्ति में बाँस के दल और आकाश का विभाग 'असमवायिकारण है, और दोनों दलों का विभाग 'निमित्त कारण' होता है। **इत्थमिति ।** इस प्रकार 'प्रथम शब्द (आदि शब्द) या तो 'संयोगज' होता है अथवा 'विभागज' होता है। **अन्त्य इति ।** अन्तिम तथा मध्यम शब्दों की उत्पत्ति का तो 'शब्द' ही असमवायिकारण होता है, और 'अनुकूल वायु' निमित्तकारण होता है। **यथोक्तमिति ।** जैसा कि वैशेषिक सूत्र (२।२।३१) में बताया गया है—'संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः'—अर्थात् संयोग से, विभाग से और शब्द से 'शब्द' की उत्पत्ति होती है। **आद्यादीनामिति ।** आद्य, मध्यम और अन्त्य सभी शब्दों का 'समवायिकारण' एक 'आकाश' ही होता है। उन शब्दों के असमवायिकारण और निमित्तकारण भले ही भिन्न-भिन्न हों।

कर्मबुद्धिवदिति। कर्म और बुद्धि के समान शब्द भी त्रिक्षणावस्थायी होता है, अर्थात् तीन क्षण रहता है। अभिप्राय यह है कि क्षणिक पदार्थ, प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में उसकी स्थिति रहती है और तीसरे क्षण में वह नष्ट होता है— इस प्रकार तीन क्षण तक रहने पर भी वह (शब्द) क्षणिक कहलाता है। बौद्ध दार्शनिक सभी पदार्थों को 'क्षणिक' मानते हैं, किन्तु उनके मत में 'पदार्थ' का जो उत्पत्तिक्षण है, वही उसकी स्थिति और विनाश का भी क्षण होता है। अतः बौद्धों के मत में 'क्षणिक' शब्द से त्रिक्षणावस्थायित्व नहीं माना जाता। **तत्रेति।** उन तीनों शब्दों में से आदि और मध्यम शब्द, अपने से उत्पन्न होने वाले उत्तरवर्ती कार्य 'शब्द' से नष्ट होते हैं। अर्थात् जब अगला शब्द उत्पन्न होता है, तो वह अपने कारणभूत (उत्पादक) शब्द को नष्ट कर देता है। **अन्त्य इति।** किन्तु अन्त्य शब्द का नाश 'उपान्त्य' और 'उपान्त्य' का नाश 'अन्त्य' शब्द से 'सुन्दोपसुन्दन्याय' के अनुसार होता है।

अब उपर्युक्त मत का खण्डन कर रहे हैं—**इदन्त्वित।** यह मत उचित नहीं है। क्योंकि केवल द्वितीयक्षण में साथ रहने वाले अर्थात् तृतीय क्षण में विद्यमान न रहने वाले 'उपान्त्य शब्द' के द्वारा तीन क्षण रहने वाले 'अन्त्य शब्द' का नाश होना संभव नहीं है। इसलिये 'उपान्त्य' के नाश से ही 'अन्त्य' का नाश होता है।

शब्द की अनित्यता—

मीमांसक 'शब्द' को नित्य कहते हैं। उनके खण्डनार्थ शब्द का विनाशित्व (अनित्यत्व) बता रहे हैं—

विनाशित्वञ्चेति। शब्द का विनाशित्व अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है। **तथा होति।** जैसे—'अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् घटवत्' इति। अर्थात् शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), सामान्यवान् होते हुए अस्मदादि की बाह्येन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने से, घट के समान। **शब्दस्येति।** शब्द का अनित्यत्व 'साध्य' है, और अनित्यत्व का लक्षण 'विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्व' है। अर्थात् नाशवान् स्वरूप का होना है। 'विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्व'—अर्थात् 'विनाश से युक्त सत्ताविशिष्ट होना'— यह अनित्यत्व (विनाशित्व) का लक्षण नहीं है। अन्यथा सत्तारहित 'प्रागभाव' में अनित्यत्व (सान्तत्व) का अभाव होने लगेगा। **समान्यवत्त्वे इति।** 'सामान्यवान् होकर अस्मदादि की (हमारी) बाह्येन्द्रिय से ग्राह्यत्व'—हेतु है। **इन्द्रियग्राह्यत्वादिति।** केवल 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' कहने से आत्मा में हेतु का व्यभिचार होगा, इसलिये 'बाह्य' पद का निवेश किया गया है। **एवमपीति।** ऐसा निवेश करने पर भी योगी की उसी बाह्येन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने वाले 'परमाणु' आदि में व्यभिचार होगा। इसलिये योगी के बाह्येन्दिय का निरास करने के लिये 'अस्मदादि' पद का निवेश किया गया है। अर्थात् हमारी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य कहा गया है।

प्रश्न—किं पुनरिति । 'योगी' की विद्यमानता में (अस्तित्व में) क्या प्रमाण है ?

उत्तर—उच्यत इति । 'योगी' के अस्तित्व में प्रमाण बताते हैं—'परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद्, घटवत्'—अर्थात् किसी न किसी को 'परमाणुओं' का प्रत्यक्ष तो होना ही चाहिये, क्योंकि वे (परमाणु) 'प्रमेय' हैं, 'घट' के समान । यह अनुमान ही 'योगी' के अस्तित्व में प्रमाण है ।

तथापीति । अनुमान प्रमाण से योगी के अस्तित्व की सिद्धि किये जाने पर भी 'सामान्य' आदि (सामान्य-समवाय-अभाव) में व्यभिचार होगा । इसलिये ही 'सामान्यवत्त्वे सति' कहा गया है । सामान्यादि पदार्थ तो 'सामान्य' से रहित हुआ करते हैं । मीमांसक दार्शनिक तो योगी के अस्तित्व (सत्ता) को मानते ही नहीं हैं । उनके मत का निराकरण करने के लिये ही 'परमाणवः' इत्यादि अनुमान प्रयोग के द्वारा योगी के अस्तित्व की सिद्धि की गई है ।

माधुरी

शब्द का लक्षण—**'श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः'** किया गया है । अर्थात् जो गुण, श्रोत्र से श्रवण किया जाता है, यानी श्रोत्रेन्द्रियजन्यज्ञान का विषय बनने योग्य होता है उस 'गुण' को 'शब्द' करते हैं । तात्पर्य यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय से केवल शब्द गुण का ही ज्ञान होता है, अन्य किसी गुण का नहीं । अतः 'श्रोत्रग्राह्यगुणत्व'—यह लक्षण 'शब्द' का किया गया है । उक्त लक्षण में यदि 'गुणः' पद न रखें तो 'शब्दत्व' जाति में तथा 'शब्द' के अभाव में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि **'येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्येते'**—इस नियम के अनुसार जैसे 'शब्दगुण' का ग्रहण श्रोत्र से किया जाता है, वैसे ही शब्दवृत्ति 'शब्दत्व' जाति तथा 'शब्दाभाव' का भी श्रोत्रेन्द्रिय से ही ग्रहण किया जाता है । इस अतिव्याप्ति को हटाने के लिये उक्त लक्षण में 'गुणः' पद का निवेश किया गया है । तब 'शब्दत्व' और 'शब्दाभाव' गुणस्वरूप न होने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती । यदि उक्त लक्षण में से 'श्रोत्र' पद को हटा दिया जाय तो 'रूप' आदि जितने भी ग्राह्य गुण हैं, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । उसके निरासार्थ लक्षण में 'श्रोत्र' पद को रखना आवश्यक है । तब श्रोत्र से 'शब्द' गुण के अतिरिक्त अन्य 'रूपादि' गुण, श्रोत्र से ग्राह्य न होने के कारण उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी । अव यदि लक्षण में से 'ग्राह्य' पद को हटा दें तो 'श्रोत्रगुणत्वं' इतना ही लक्षण शेष रहेगा । तब श्रोत्रगत 'संख्या', 'परिमाण' आदि गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । उसके निरसनार्थ 'ग्राह्य' पद को लक्षण में रखना आवश्यक है । उसके रखने से 'संख्या' और 'परिमाण', श्रोत्रगत रहने पर भी वे श्रोत्र से ग्राह्य नहीं है । अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं हो पायेगी ।

शंका—कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाशरूप श्रोत्र में उत्पन्न होने वाले शब्द का ही श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण हो सकता है, किन्तु भेरी आदि वाद्यों से अवच्छिन्न हुए आकाश

में उत्पन्न होने वाले शब्द का श्रोत्र से ग्रहण नहीं हो सकता। अतः लक्षण की उन शब्दों में अव्याप्ति होगी।

समा०—उक्त लक्षण का तात्पर्य जातिघटित लक्षण में है। उसे जातिघटितलक्षण में इस प्रकार कहा जायगा—**'श्रोत्रग्राह्यवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् शब्दः'**—अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले 'गुण' पदार्थ में रहने वाली (वृत्ति), जो गुणत्व-जाति, उससे व्याप्य रहने वाली जाति से युक्त जो 'गुण' उसे 'शब्द' नामक गुण कहते हैं। तथाहि—जिस शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस 'शब्द' को श्रोत्रग्राह्य कहते हैं। उस श्रोत्रग्राह्य शब्द में रहने वाली जो 'गुणत्व जाति', उससे व्याप्य रहने वाली 'शब्दत्वजाति' ही होगी। वह 'शब्दत्वजाति'—सभी 'शब्दों' में रहती है। इस कारण भेरी आदि से अवच्छिन्न हुए आकाश में उत्पन्न होने वाले 'शब्द' में भी उस 'शब्दत्व' जाति के रहने से लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

इस जातिघटितलक्षण में यदि 'श्रोत्रग्राह्यवृत्ति' पद न रखें तो 'गुणत्वजाति' की व्याप्य 'रूपत्वादि' जातियाँ भी होती हैं, तादृशजातिमान् 'रूपादि' सभी गुण हैं, उन में उक्तलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के निरासार्थ लक्षण में 'श्रोत्र-ग्राह्यवृत्ति' पद को अवश्य रखना होगा। तब श्रोत्रग्राह्य शब्द में उन रूपत्वादिजातियों के न रहने से उनमें अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। अब यदि लक्षण में से 'गुणत्व-व्याप्य' पद को हटा दें तो श्रोत्रग्राह्य शब्द में रहने वाली गुणत्वजाति, तादृशजातिमान् सभी रूपादिगुण होंगे, तब उन में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, तथा श्रोत्रग्राह्य 'शब्द-गुण' में रहने वाली 'सत्ताजाति' तादृश सत्ताजातिमान् 'द्रव्य, गुण, कर्म' तीनों होने से उनमें भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के निरासार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद अवश्य रखना होगा। तब 'गुणत्वजाति' और 'सत्ताजाति' दोनों ही 'गुणत्वजाति' की व्याप्य जातियाँ न रहने से उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

अथवा **'आकाशविशेषगुणः शब्दः'**—यह भी लक्षण, 'शब्द' का कर सकते हैं। अर्थात् 'आकाश' का जो 'विशेष गुण', उसे 'शब्द' कहते हैं। आकाश में एकमात्र 'शब्द' ही विशेषगुण रहता है। उस शब्द से भिन्न अन्य कोई विशेषगुण 'आकाश' में नहीं रहता। अतः 'आकाशविशेषगुणत्वं शब्दत्वम्' यह लक्षण भी उचित ही है। उक्त लक्षण में से यदि 'आकाश' पद को हटा दें तो अन्यान्य द्रव्यों के जो रूपादि विशेषगुण हैं, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निरा-सार्थ लक्षण में 'आकाश' पद का निवेश करना आवश्यक है। तब 'रूपादिक' गुण 'आकाश' के विशेषगुण न रहने से उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। 'रूपादिक' तो पृथिवी आदि द्रव्यों के विशेष गुण हैं, 'आकाश' के नहीं। अब यदि लक्षण में 'विशेष' पद न रखें तो 'आकाशगुणः शब्दः' इतना ही लक्षण शेष रहेगा। तब आकाशवृत्ति

'संख्यादि पाँचगुणों' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निरसनार्थ लक्षण में में 'विशेष' पद का निवेश करना आवश्यक है। उसके निवेश करने से 'संख्यादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'संख्यादिक' आकाश के 'विशेषगुण' नहीं हैं, अपितु 'सामान्यगुण' हैं। एवं लक्षणलक्षित 'शब्दगुण', एक आकाशरूप द्रव्य में ही रहता है, उसके अतिरिक्त पृथिवी आदि द्रव्यों में वह (शब्दगुण) नहीं रहा करता है।

लक्षण में 'ग्राह्य' का अर्थ 'प्रत्यक्षयोग्य' करना चाहिये। 'प्रत्यक्ष का विषय' अर्थ करना ठीक नहीं होगा। 'ग्राह्य' पद का 'प्रत्यक्षविषय' अर्थ करने पर श्रोत्र तक 'शब्द' की गति न हो पाने से शब्दलक्षण की उस में अव्याप्ति होगी। क्योंकि वह, श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पा रहा है। किन्तु 'प्रत्यक्षयोग्य' अर्थ करने पर अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि श्रोत्र तक शब्द की पहुँच न होने से वह प्रत्यक्ष का विषय न हो सकने पर भी उसमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता तो होती ही है। श्रोत्र से उसका (शब्द का) सन्निकर्ष न हो पाने से वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पाता, क्योंकि प्रत्यक्ष तभी होता है, जब विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है।

शंका—'शब्द' की श्रोत्रग्राह्यता कैसे संभव हो सकती है? क्योंकि जहाँ (जिस प्रदेश में) भेरी यानी नागाड़ा बजाया जाता है, उसके बजाने से 'शब्द' पैदा होता है, अर्थात् भेरी के प्रदेश में 'शब्द' उत्पन्न हुआ है, और उस शब्द को श्रवण करने वाला श्रोत्रेन्द्रिय श्रोता के शरीर के एकभाग में स्थित रहता है। यानी शब्द का श्रवण करने वाला श्रोत्रेन्द्रिय उस शब्द के समीप (शब्द के प्रदेश में) नहीं रहता। दोनों के रहने का प्रदेश भिन्न-भिन्न होने से श्रोत्र का शब्द के साथ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) हो ही नहीं सकता। उस स्थिति में श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण होना कैसे संभव हो सकता है?

समा०—भेरी (नगाड़े) से उत्पन्न हुए शब्द की एक परम्परा चलती रहती है। वह परम्परा तब तक चलती रहती है, जब तक कि श्रोता के श्रोत्रदेश में 'शब्द' की उत्पत्ति नहीं हो जाती। नगाड़े से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह दूसरे शब्द को, दूसरा तीसरे शब्द को, तीसरा चौथे शब्द को उत्पन्न करता है, इस तरह उसकी परम्परा चलती रहती है। इस शब्दपरम्परा में नगाड़े से निकलनेवाला (उत्पन्न होने वाला) 'शब्द' प्रथम (आद्य) शब्द है, और सुनने वाले के श्रोत्रदेश में पहुँच कर उत्पन्न होने वाला 'शब्द' अन्तिम शब्द है। और दोनों के बीच रहने वाले 'शब्द' मध्यम शब्द हैं। श्रोत्र से 'अन्तिमशब्द' का ही ग्रहण होता है, आद्य या मध्यम शब्द का नहीं। भेरी से उत्पन्न हुआ शब्द 'संयोगजशब्द' है, क्योंकि वह भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न होता है।

ग्रन्थकार ने भेरी शब्द के अतिरिक्त एक दूसरा उदाहरण भी दिया है कि बाँस को चीरने पर जो चट-चट शब्द पैदा होता है, उससे भी अन्य-अन्य शब्द की उत्पत्ति-

परम्परा चलती जाती है, और श्रोता के श्रोत्रदेश में पहुँच कर अन्तिम शब्द की उत्पत्ति होती है। वह अन्तिम शब्द, श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होता है। बाँस के चीरने पर होने वाला चट-चट शब्द 'विभागजशब्द' है। क्योंकि वह, बाँस के दो दलों के विभाग से पैदा होता है। 'संयोगज और विभागज' दो प्रकार के शब्दों को बताने के लिये ही ग्रन्थकार ने दो उदाहरण दिये हैं।

निष्कर्ष यह है कि किसी वाद्य आदि के बजने पर जो शब्द (ध्वनि) उत्पन्न होता है, और तत्समनन्तर ही उस ध्वनि से उसी (ध्वनि शब्द) के समान अन्यान्य शब्दध्वनि उत्पन्न होते जाते हैं, ये सभी शब्द (प्रथम शब्द और उससे होने वाले किन्तु श्रोत्र तक न पहुँचे हुए शब्द अर्थात् मध्यम (मध्यस्थित) शब्द, श्रोता के श्रोत्र से दूर होने के कारण उसे (श्रोता को) सुनाई नहीं पड़ते। किन्तु प्रवाहित शब्द-धारा के द्वारा श्रोत्र में जो शब्द उत्पन्न होता है, वही 'अन्तिम शब्द' है, और वही उसे सुनाई पड़ता है, उसके पूर्व का कोई शब्द नहीं। उस भेरी आदि वाद्य से उत्पन्न हुए शब्द का समवायिकारण होगा—'भेरी से अवच्छिन्न आकाश'। और भेरी-आकाश संयोग उस शब्द का—'असमवायिकारण' होगा। तथा भेरी-दण्डसंयोग (दण्ड से भेरी पर होने वाला आघात) उस शब्द का 'निमित्तकारण' होगा। यह चर्चा तो 'संयोगजशब्द' के बारे में की गई है।

उसी प्रकार किसी बाँस को चीरने पर उसके दोनों दलों (खण्डों) का विभाग होने से 'चट-चट' करता हुआ 'शब्द' उत्पन्न होता है, तत्समनन्तर ही उस शब्द से एक 'शब्दधारा' प्रवाहित होती है, अर्थात् उत्तरोत्तर एक-एक शब्द पैदा होता जाता है। जो श्रोता के श्रोत्र से दूर होने के कारण श्रोता को सुनाई नहीं पड़ता, किन्तु प्रवाहित धारा के द्वारा जो शब्द उसके श्रोत्र में उत्पन्न होता है, वही उस धारा का अन्तिम शब्द है, और वही अन्तिम शब्द उस श्रोता को सुनाई पड़ता है। भेरी से उत्पन्न हुआ प्रथम शब्द या उससे प्रवाहित हुई धारा से उत्पन्न हुए शब्द, जो श्रोत्र तक नहीं पहुचे हैं, ऐसे मध्यम (मध्यस्थित) शब्द भेरी से दूर प्रदेश में (भेरी से अलग) स्थित मनुष्य को नहीं सुनाई देते हैं, यानी उन शब्दों का उसे श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है। ऐसी स्थिति में भी उस आदमी का यह कहना कि 'भेरी-शब्दो मया श्रुतः' या 'भेरीशब्दं शृणोमि'—भेरी के शब्द को मैंने सुना, या भेरी के शब्द को मैं सुन रहा हूँ—यह समझना उसका निरा भ्रम है। क्योंकि जिस शब्द को उसने सुना या सुन रहा है, वह भेरी से साक्षात् उत्पन्न हुआ प्रथम शब्द नहीं है, वह तो, 'प्रथम शब्द' से निकली शब्दधारा में प्रवाहित होने वाले शब्द-शब्दान्तर के रूप में उसके श्रोत्र के पास पहुँचकर उस श्रोत्र में उत्पन्न हुआ 'अन्तिम शब्द' (शब्दज शब्द) है, जिसे वह सुन रहा है; या उसने सुना है। अतः उसका कथन, भ्रम से रहित नहीं है।

इसी तरह बाँस से होने वाले 'चट-चट' शब्द का 'समवायिकारण' होगा—बाँस के द्विदलों से अवच्छिन्न 'आकाश' और बाँस के द्विदलों का आकाश के साथ 'विभाग' होगा—'असमवायिकारण' तथा बाँस के दोनों दलों का 'परस्पर विभाग' 'निमित्त-कारण' होगा।

भेरी आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द के द्वारा अन्य शब्द (शब्दज-शब्द) उत्पन्न होने की प्रक्रिया का उपपादन दो प्रकार (तरह) से किया जाता है—(१) वीचीतरङ्गन्याय और (२) कदम्बमुकुलन्याय।

(१) वीचीतरङ्गन्याय--

किसी भी जलाशय में कोई कंकड आदि फेंक देने पर या जल को खंगाल देने पर चारों ओर जो 'लहर' उठती है, उसे 'वीची' कहते हैं। उस लहर से दूसरी लहर, दूसरी से तीसरी लहर, तीसरी से चौथी लहर—इस प्रकार से अनेक लहरें उठती चली जाती हैं—इन उठने वाली सभी लहरों को 'वीचीतरङ्ग' शब्द से कहते हैं। जल में कंकड आदि फेंकने पर उत्पन्न होने वाली लहरें उस कंकड के चारों ओर जैसे उत्तरोत्तर (आगे-आगे) उठती चली जाती हैं, उसी प्रकार पहिला (प्रथम) 'शब्द' उत्पन्न होता है, वह जितने आकाश भाग में उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न होने वाला दूसरा शब्द, उससे अधिक आकाश भाग में उत्पन्न होता है। तीसरा शब्द उससे भी अधिक आकाशभाग में उत्पन्न होता है। अधिकाधिक भाग में उत्तरोत्तर शब्द के उत्पन्न होने के इस क्रम को 'वीचीतरङ्गन्याय' कहते हैं।

(२) कदम्बमुकुलन्याय—

कदम्बपुष्प की कली जब विकसित होने (खिलने) लगती है, तब उसके बीज कोष में चारों ओर छोटी-छोटी अनेक पंखुडियां वृत्त बनाकर विकसित होती हैं। तदनन्तर उन अनेक पंखुडियों के विकास से उस वृत्त के चारों ओर दूसरी छोटी-छोटी अनेक पंखुडियाँ वृत्त बनाकर विकसित होती हैं। तदनन्तर उस दूसरे वृत्त के चारों ओर छोटी-छोटी अनेक पंखुडियाँ तीसरा वृत्त बनाकर विकसित होतीं हैं। इस क्रम से भिन्न-भिन्न वृत्त बनाकर अनेक पंखुडियों का सम्पूर्ण कदम्बपुष्प विकसित हुआ दिखाई देता है। उसी प्रकार किसी जगह वाद्य बजने से 'प्रथम शब्द' उत्पन्न होता है, तदनन्तर वह शब्द, अपनी परिधि के चारों ओर अपने जैसे अनेक शब्दों को उत्पन्न करता है। ये शब्द भी अपनी परिधि के चारों ओर अपने जैसे भिन्न-भिन्न अनेक शब्दों को उत्पन्न करते हैं। शब्द की इस प्रकार की उत्पत्ति को 'कदम्बमुकुलन्याय' शब्द से कहा जाता है।

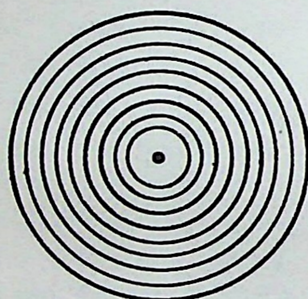
शब्द की उत्पत्ति में दो न्यायों को बताने का उद्देश्य यह है कि उनमें रहने वाला 'अन्तर' स्पष्ट हो जाय।

वीचीतरङ्गन्याय से चारों ओर सभी दिशाओं में उत्पन्न होने वाला शब्द, उत्तरोत्तर आगे-आगे अन्यान्य शब्द को पैदा करता हुआ भी तरङ्ग के समान 'एक' होता है।

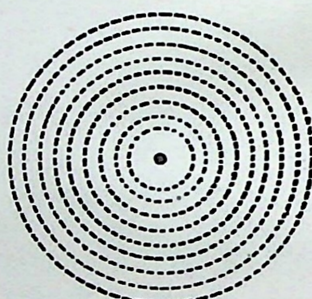
परन्तु कदम्बमुकुलन्याय के अनुसार चारों ओर उत्पन्न होने वाले शब्द, चारों ओर होने वाली पंखुडियों के समान भिन्न-भिन्न दिशाओं में उत्पन्न होने वाले 'शब्द' अनेक होते हैं। कदम्बमुकुलन्याय के अनुसार शब्दोत्पत्ति कि प्रक्रिया अनेक शब्दों की उत्पत्ति और उनके विनाश की कल्पना करने में गौरव होता है। अतः न्याय-वैशेषिक-सिद्धान्त में वीचीतरङ्गन्याय के अनुसार शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया मान्य की गई है। जैसा कि मुक्तावलीकार ने १६६ वीं कारिका में बताया है—

"वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥"

—(न्या० सि० मु० १६६)



वीचीतरङ्गन्याय का स्वरूप



कदम्बमुकुलन्याय का स्वरूप

निष्कर्ष यह है कि जलाशय में कंकड़ फेंकने पर एक तरंग के अग्रभाग में दूसरा तरङ्ग उठता है, और दूसरे तरङ्ग के अग्रभाग में तीसरा तरङ्ग उठता है, तथा तीसरे तरङ्ग के अग्रभाग में चतुर्थ तरङ्ग उठता है—इस प्रकार से एक ही पूर्वदिक् दिशा में उन तरंगों की परम्परा का प्रवाह चलता रहता है। उसी तरह जहाँ पर उक्त रीति से पूर्व-पूर्व शब्द के उत्तर-उत्तर शब्द की उत्पत्ति एक ही पूर्वादिक दिशा में होती जाती है, वहाँ पर वीचीतरङ्गन्याय से प्रथमशब्द के द्वारा द्वितीयादि शब्दों की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

और जैसे कदम्बगोलक मध्य से सब दिशाओं की ओर पँखुडियाँ निकला करती हैं, वैसे ही जिस स्थल में मध्यवर्ती प्रथम शब्द से पूर्वादिक दश दिशाओं में दश शब्द उत्पन्न होते हैं, उन दश शब्दों से दूसरे दश शब्द उत्पन्न होते हैं, उन दूसरे दश शब्दों से तीसरे दश शब्द उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दशों दिशाओं में पूर्व-पूर्व

शब्दों से उत्तर-उत्तर शब्द उत्पन्न होते जाते हैं—ऐसी जगह पर कदम्बमुकुलन्याय से प्रथम शब्द से द्वितीयादि शब्दों की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

दोनों न्यायों की व्यवस्था—

शंका—यह कैसे समझा जाय कि कहाँ पर वीचीतरङ्गन्याय से प्रथम शब्द, एक ही दिशा में अनेक शब्दों की धारा को प्रवाहित कर रहा है, और कहाँपर प्रथम शब्द, कदम्बमुकुलन्याय से दशों दिशाओं में उस जैसे शब्दों की धारा को प्रवाहित कर रहा है ?

समा०—वायुसंयोग को ही इसमें व्यवस्थापक माना जाता है, क्योंकि जैसे शब्द की उत्पत्ति में आकाशादिक कारण होते हैं, वैसे ही आकाश और वायु का संयोग भी शब्द की उत्पत्ति में निमित्तकारण होता है। भेरी से अवच्छिन्न हुए जिस आकाश में प्रथम शब्द की उत्पत्ति होती है, उस भेरी से सम्बद्ध हुआ वायु जिस दिशा की ओर बहता है उस दिशा से अवच्छिन्न हुए आकाश में ही उस वायु के संयोग से उस शब्द की धारा बहती रहती है। उससे भिन्न दिशा के साथ वायु और आकाश का संयोग-न होने से उस दिशा की ओर उस शब्द की धारा नहीं बहती है। एवं च वायु के अनुसार ही शब्दधारा का प्रवाह वायुसम्मुख दिशा की ओर बहा करता है। अतएव उस स्थिति में लोग कहते हैं कि भेरी (नगाडे) के पास स्थित होकर भी विपरीत वायु के कारण मैंने भेरी के शब्द को नहीं सुना। और जब वायु, सभी दिशाओं के सम्मुख बहता है तब कदम्बमुकुलन्याय से सभी दिशाओं में उस प्रथम शब्द की धारा प्रवाहित हो उठती है। जैसे मेघों के गर्जनात्मक शब्द से सर्वदिक्-संचारी वायु के संयोग से सभी दिशाओं में शब्द की धारा बहती है। इस प्रकार वायुसंयोग से ही द्वितीयादि शब्दों की उत्पत्ति का नियम प्रतीत होता है। वायु के संयोग का नियम, तत्तत् दिशा के सन्मुख वायु की गतिक्रिया के अनुसार होता है। और वायु की गतिक्रिया का नियामक तो अदृष्ट-विशिष्ट आत्मा का संयोग ही मानना पड़ता है। यह तो शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया हुई।

शंका—प्रथम (आद्य), मध्यम, अन्त्य सभी शब्दों के असमवायिकारण और निमित्तकारण, पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु 'समवायिकारण' सभी शब्दों का 'एक आकाश' ही होता है, यह कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि वाद्य से उत्पन्न होने वाले प्रथम (आद्य) शब्द का 'समवायिकारण,' भेर्यादिवाद्यावच्छिन्न आकाश तथा मध्यम शब्द का समवायिकारण होता है—'पूर्वशब्द रूप असमवायिकारण' से अथवा 'अनुकूलवायु रूप निमित्तकारण से अवच्छिन्न आकाश'। और अन्त्य शब्द का समवायिकारण होता है—'कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाशात्मक श्रोत्र। इस प्रकार आद्य, मध्यम और अन्त्य शब्दों के समवायिकारण जब कि स्पष्टतया भिन्न-भिन्न हैं, तब सभी शब्दों का एक ही 'समवायिकारण' आकाश है—यह कहना कैसे संगत हो सकता है ?

समा०—उपर्युक्त शब्दों के जो भिन्न-भिन्न समवायिकारण आपाततः प्रतीत हो रहे हैं, वस्तुतः ये सब एकरूप ही (आकाशरूप ही) हैं। उनकी भिन्नता तो अवच्छेदकों की भिन्नता के कारण प्रतीत हो रही है। वह भिन्नता 'आकाश' की अपनी निजी नहीं है। अवच्छेदकरूप उपाधि के भेद से आकाश को भिन्न-भिन्न समझा जा रहा है। अतः भेदव्यवहार 'औपाधिक' है। इसलिये उपर्युक्त सभी शब्दों का 'आकाश' रूप एक ही समवायिकारण बताया गया है। जो पूर्णतया संगत है, उसमें कोई किसी प्रकार की असंगति नहीं है।

शंका—कर्म और बुद्धि के समान 'शब्द' को त्रिक्षणावस्थायी (तीन क्षण रहने वाला) कहा गया है। न्यायवैशेषिक के कतिपय ग्रन्थों में शब्द को और 'अपेक्षाबुद्धि' से भिन्न सभी जन्य ज्ञानों को द्विक्षणमात्रावस्थायी कहा गया है, क्योंकि तीसरे क्षण में उनका नाश हो जाता है। और 'कर्म' को चतुःक्षणावस्थायी कहा है, क्योंकि 'उत्तर संयोग' से पाँचवे क्षण में पूर्व (कर्म) का नाश हो जाता है। परन्तु तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने कर्म, बुद्धि और शब्द तीनों को त्रिक्षणावस्थायी बताया है। यह बताने में उनका क्या अभिप्राय है ?

समा०—कर्म को चतुःक्षणावस्थायी कहने में दृष्टि यह है कि प्रथम क्षण में 'कर्मोत्पत्ति' होती है। द्वितीय क्षण में 'कर्मयुक्त द्रव्य का पूर्वसंयोगीद्रव्य से विभाग' होता है। तृतीय क्षण में 'पूर्वसंयोग का नाश' होता है। चतुर्थ क्षण में 'कर्मयुक्त द्रव्य का द्रव्यान्तर के साथ संयोग' होता है। तब पञ्चम क्षण में 'कर्म का नाश' होता है। इस प्रकार 'कर्म' की चतुःक्षणावस्थायिता को देखने से उसे 'त्रिक्षणावस्थायी' बताना यद्यपि उचित नहीं लगता है। तथापि गम्भीरता से मनन करने पर उसका औचित्य स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि नाश्य-नाशक भाव तभी होता है, जब विरोध हो। वह विरोध दो प्रकार का होता है—(१) सहानवस्थानरूप विरोध और (२) वध्य-घातकभाव रूप विरोध। कर्म और उत्तरसंयोग में यदि 'सहानवस्थानरूप विरोध' कहें तो उत्तरसंयोग के समय 'कर्म' का अवस्थान (स्थिति) नहीं होगा। अर्थात् उत्तरसंयोग के उत्पत्तिकाल में ही (चतुर्थ क्षण में ही) 'कर्म' का नाश हो जायगा। तब चतुर्थ क्षण में ही उसका (कर्म का) नाश हो जाने से उसे (कर्म को) त्रिक्षणावस्थायी कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि तर्कभाषाकार केशवमिश्र को 'कर्म और उत्तरसंयोग' में सहानवस्थानरूप विरोध ही स्वीकृत है। वध्य-घातकभावरूप विरोध उन्हें स्वीकृत नहीं है।

किन्तु बुद्धि और शब्द को 'त्रिक्षणावस्थायी' कहकर यह सूचित किया है कि 'बुद्धि' और 'शब्द' का स्वनाशक उत्तरवर्ती गुण के साथ उन्हें 'वध्य-घातक भावरूप विरोध' स्वीकृत है, 'सहानवस्थानरूप विरोध' स्वीकृत नहीं है।

यदि यहाँ पर सहानवस्थानरूप विरोध माना जाय तो वे (बुद्धि और शब्द)

अपने द्वितीय क्षण में भी नहीं रह पायेंगे, क्योंकि द्वितीय क्षण में ही उनके विनाशक 'विशेष गुण' उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे द्वितीय क्षण में उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'सहानवस्थानरूप विरोध' के कारण उस द्वितीय क्षण में वे विद्यमान कैसे रह सकते हैं ? तथा उत्पत्तिक्षण वाले प्रथम क्षण में भी उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'विषयेन्द्रियसन्निकर्ष' जब कार्य के पूर्ववर्ती रहता है, तभी उससे प्रत्यक्ष हो पाता है। किन्तु वह, विषयभूत बुद्धि और शब्द की उत्पत्ति के पूर्व हो नहीं सकता। एवं च बुद्धि और शब्द का उनके विनाशक विशेष गुण के साथ 'सहानव-स्थानरूप विरोध' मानने पर उनका प्रत्यक्ष होना कभी संभव ही नहीं होगा। अतः बुद्धि और शब्द को त्रिक्षणावस्थी कहा गया है।

शब्द के नाश की प्रक्रिया—

भेरीवाद्य के प्रदेश से श्रोता के श्रोत्र तक प्रवाहशील शब्दधारा में तीन प्रकार के शब्द हैं। **'आद्य शब्द'** तो वह है, जो भेरीवाद्य के आहत किये जाने पर प्रथमत एव उत्पन्न होता है। **'मध्यम शब्द'** वह है, जो उस प्रवाहशील शब्दधारा के प्रथम और अन्तिम शब्दों के मध्य में होते जाते हैं। और **'अन्त्य शब्द'** वह है जो शब्दधारा के द्वारा श्रोत्र में उत्पन्न होकर श्रोत्र से सुना जाता है, वही शब्दधारा का अन्तिम शब्द है। इन तीन प्रकार के शब्दों में से 'आद्य' कौर 'मध्य' शब्दों का नाश, उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यभूत शब्दों से होता जाता है, और 'अन्त्य' शब्द का नाश, उसके उत्पादक कारणभूत 'शब्द' से होता है। उसी कारणभूत 'शब्द' को 'अन्तिम शब्द' के अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न होने के कारण समीपवर्ती होने से 'उपान्त्य' भी कहते हैं। इन 'अन्त्य' और 'उपान्त्य' शब्दों में 'सुन्द और उपसुन्द' नाम के राक्षसों जैसा विरोध है। जैसे सुन्द और उपसुन्द परस्पर विरोधी होने से परस्पर ही युद्ध कर के एक साथ ही नष्ट हो गये उसी प्रकार 'अन्त्य' और 'उपान्त्य' शब्द भी एक-दूसरे के नाशक (परस्पर विरोधी) होने से एक साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

किन्तु 'अन्त्य और उपान्त्य' शब्दों का यह परस्पर नाश्य-नाशकभाव तर्क-भाषाकार केशवमिश्र को सम्मत नहीं है। केशवमिश्र का कथन है कि 'उपान्त्य' शब्द अधिक से अधिक 'अन्त्य' शब्द के द्वितीय क्षण तक रह सकता है। तृतीय क्षण में तो उसका रहना ही असम्भव है तब वह तृतीय क्षण में होने वाले 'अन्त्य शब्द' के नाश का कारण कैसे कहा जायगा ? क्योंकि तृतीय क्षण में (अन्त्य शब्द के नाश क्षण में) तो 'उपान्त्य शब्द' स्वयं विद्यमान ही नहीं है। अतः 'अन्त्य शब्द' का नाश 'उपान्त्य शब्द' से न मानकर 'उपान्त्य शब्द' के नाश से 'अन्त्य शब्द' का नाश मानना चाहिये। क्योंकि 'उपान्त्य शब्द' का नाश, 'अन्त्य शब्द' के द्वितीय क्षण में उत्पन्न होकर उसके तृतीय क्षण में भी रहता है। इसलिये तृतीय क्षण में होने वाले अन्त्य शब्द के नाश' का उसे कारण कहना अनुचित नहीं है। निष्कर्ष यह है—

(१) जिस क्षण में 'उपान्त्य शब्द' की उत्पत्ति होती है, उस क्षण में 'अन्त्य' शब्द का अस्तित्व भी नहीं है, वह तो गर्भ में लीन है। (२) द्वितीय क्षण में 'उपान्त्य शब्द' की स्थिति रहती है, उस क्षण में 'अन्त्य शब्द' की उत्पत्ति होती है। (३) तृतीय क्षण में जब 'उपान्त्य शब्द' का विनाश होने को है तब 'अन्त्य शब्द' की स्थिति का काल होता है।

यह वस्तु स्थिति है। जब कि तृतीय क्षण के बाद 'उपान्त्य शब्द' स्वयं विद्यमान ही नहीं है, तब वह अगले क्षण में उस 'अन्त्य शब्द' का नाशक कैसे कहा जायगा ? अतः उपान्त्य शब्द के नाश से ही अन्त्य शब्द का नाश होना तर्कभाषाकार को मान्य है। जैसा कि उन्होंने कहा है—'तस्मादुपान्त्यनाशादेव अन्त्यनाशः' इति।

शब्द का अनित्यत्व (विनाशित्व)—

मीमांसाशास्त्र के दार्शनिक विद्वान् 'शब्द' को नित्य बताते हैं। 'शब्द' के उच्चारण को उसका (शब्द का) उत्पादक कहना ठीक नहीं है, उच्चारण तो उस शब्द का अभिव्यञ्जक है। अतः वह (शब्द) नित्य है, अनित्य नहीं। इस मीमांसक मत के खण्डनार्थ तर्कभाषाकार ने न्यायदर्शन की दृष्टि से 'शब्द' के अनित्यत्व (विनाशित्व) को प्रदर्शित किया है। शब्द का अनित्यत्व 'अनुमान' प्रमाण से निश्चित किया जाता है। अतः उसका 'अनित्यत्व' प्रमाण से सिद्ध है। किन्तु शब्द का अनित्यत्व बताने के पूर्व 'अनित्यत्व' का स्वरूप बताना चाहिये, तभी शब्द का अनित्यत्व समझ में आ सकता है, अन्यथा नहीं।

यदि कोई 'अनित्यत्व' का स्वरूप यह बतावे कि 'विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वम् अनित्यत्वम्'—अर्थात् नष्ट होने वाली सत्ता से युक्त होना ही 'अनित्यत्व' है तो वह अनित्यत्व का लक्षण स्वरूप 'प्रागभाव' में अव्याप्त होगा, क्योंकि किसी भी पदार्थ (वस्तु) की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका 'अभाव' रहता है, उसे उस वस्तु का 'प्रागभाव' कहते हैं और वह 'प्रागभाव' अनित्य हुआ करता है। वस्तु के उत्पन्न होने पर वह प्रागभाव नहीं रहता है, यानी नष्ट हो जाता है। तथापि उस प्रागभाव में 'सत्ता' जाति नहीं रहती है। सत्ता जाति तो नैयायिक—वैशेषिकों के अनुसार केवल 'द्रव्य', 'गुण', और 'कर्म' में ही रहती है। अन्यत्र कहीं भी नहीं रहती। अतः 'विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्व'—यह अनित्यत्व का लक्षण 'सत्ता' रहित प्रागभाव में घटित न होने से उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है।

उस अव्याप्ति को देखकर ही ग्रन्थकार ने **'विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वमनित्यत्वम्'**—विनाश से युक्त स्वरूप होना ही 'अनित्यत्व' है। अर्थात् जिसका स्वरूप नष्ट हो जाता है, उसे अनित्य कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार देखने पर 'प्रागभाव' के स्वरूप का भी विनाश हो जाता है। अतः ग्रन्थकारोक्त लक्षण 'प्रागभाव' में घटित हो जाने से उसकी अव्याप्ति नहीं है। यही अनित्यत्व का स्वरूप है।

शब्द के अनित्यत्व में अनुमान प्रयोग—

'शब्दः अनित्यः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पटवत्' अर्थात् 'शब्द' अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह सामान्य से युक्त होकर हमारी बाह्य इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है (हेतु), जैसे—पट या घट आदि (उदाहरण)। यहाँ 'शब्द' पक्ष है और 'अनित्यत्व' साध्य है। इस प्रयोग में प्रयुक्त हेतु 'सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादि-बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्' है। अर्थात् 'सामान्य' (जाति) का आश्रय होते हुए हम जैसे मनुष्यों की बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्षयोग्य होना। जैसे घट—इस घट के दृष्टान्त से कोई भी समझ सकता है कि जैसे सामान्य का आश्रय होते हुए हम जैसे मनुष्यों की बाह्य-इन्द्रियों से प्रत्यक्षयोग्य होने के कारण 'घट या पट' आदि अनित्य हैं, उसी प्रकार 'शब्द' भी शब्दत्व, गुणत्व, सत्ता आदि सामान्य (जाति) का आश्रय होता हुआ और हम जैसे मनुष्यों की बाह्येन्द्रिय (श्रोत्र) से ग्रहणयोग्य होने के कारण अनित्य है।

उक्त हेतु में से 'बाह्य' पद को निकाल दें तो 'आत्मा' में, उपर्युक्त—अनुमानगत हेतु का 'साध्य' के साथ व्यभिचार हो जायगा। क्योंकि 'आत्मा' में आत्मत्व, द्रव्यत्व, सत्ताजाति के रहने से वह (आत्मा) सामान्यविशिष्ट (आश्रय) है, तथा अस्मदादिकों (हम जैसों) के मनरूप इन्द्रिय से ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) भी है। अतः 'हेतु' तो 'आत्मा' में उपलब्ध हो रहा है, किन्तु 'अनित्यत्व' रूप साध्य 'आत्मा' में उपलब्ध नहीं है। 'जहाँ-जहाँ हेतु रहे वहाँ-वहाँ साध्य का रहना आवश्यक है' जैसे—यत्र यत्र धूमः, तत्र-तत्र अग्निः—देखा गया है। यही तो हेतु और साध्य की व्याप्ति कहलाती है। इस प्रकार की व्याप्ति से युक्त रहने पर ही 'हेतु', साध्य का निश्चायक हो पाता है, अन्यथा नहीं। एवं च साध्याभाववाले आत्मा में हेतु के रहने से उक्त हेतु व्यभिचारी हो रहा है उस व्यभिचार दोष के निरासार्थ प्रयुक्त हेतु में 'बाह्य' पद का देना आवश्यक है। तब 'आत्मा' का ग्राहक जो 'मन' इन्द्रिय है, वह 'बाह्य' नहीं है, अपितु 'अन्तरिन्द्रिय' है। अतः उक्त हेतु का आत्मा में व्यभिचार नहीं होता है। अब यदि हम प्रयुक्त हेतु में **'अस्मदादि'** पद न दें तो 'परमाणुओं' में उस 'हेतु' का व्यभिचार होगा। क्योंकि 'परमाणु' में द्रव्यत्व रहता है, इसलिये वह 'द्रव्यत्व' रूप सामान्यवाला है तथा योगीजनों के चक्षुरूप बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य भी है। इस कारण परमाणुओं में उक्त 'हेतु' तो है, किन्तु 'अनित्यत्व' रूप साध्य, उन परमाणुओं में नहीं है। क्योंकि 'परमाणु' तो नित्य होता है। अतः साध्याभाववाले परमाणुओं में 'हेतु' के रह जाने से (वृत्ति होने से) उक्त हेतु व्यभिचारी हो रहा है। उस व्यभिचार के निरासार्थ हेतु में 'अस्मदादि' पद का निवेश आवश्यक है। तब हम जैसे साधारण लोगों के बाह्येन्द्रिय (चक्षु) से 'परमाणुओं' का ग्रहण न हो सकने के कारण पर-माणुओं' में हेतु का व्यभिचार नहीं होगा। अब यदि प्रयुक्त हेतु में **'सामान्यवत्त्वे सति'** पद न रखें तो 'सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव (शब्दध्वंस)'—इन तीनों में 'हेतु'

व्यभिचरित होगा। क्योंकि 'सामान्य आदि' हम लोगों के चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य ही हैं, इसलिये 'सामान्य आदिकों' में 'हेतु' तो स्थित है, किन्तु 'अनित्यत्व' रूप साध्य की स्थिति उनमें नहीं है, क्योंकि 'सामान्य आदि' नित्य हैं। इस कारण अनित्यत्वरूप साध्य के अभाववाले उन सामान्यादिकों में 'हेतु' के रहने से वह व्यभिचारी हो गया है। उस व्यभिचार के निवारणार्थ हेतु में 'सामान्यवत्त्वे सति' पद अवश्य ही रखना होगा। तब जातिरूप सामान्य, 'द्रव्य, गुण, कर्म' इन तीन पदार्थों में ही समवाय-सम्बन्ध से रहता है। उन सामान्यदिक पदार्थों में वह जातिरूप सामान्य नहीं रहता है। उस कारण सामान्यादि पदार्थों में 'हेतु' का अनित्यत्व 'साध्य' से व्यभिचार नहीं हो रहा है। एवं च 'सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्'—हेतु से 'शब्द' का अनित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इस रीति से **नैयायिक-वैशेषिकों** के मत में तो **'शब्द'** को **अनित्य** ही माना गया है। किन्तु **अन्य दार्शनिक** तथा **वैयाकरणों** ने 'शब्द' को अनित्य न मानकर उसे **'नित्य'** बताया है।

प्रभाकर (गुरु) मीमांसादार्शनिक का कहना है कि आकाश का गुणरूप जो शब्द है, वह 'नित्य' ही है। कोई भी शब्द, अनित्य नहीं है। अनित्य न होने से उसके उत्पत्ति-विनाश की कोई संभावना ही नहीं है। शब्द की उत्पत्ति में नैयायिक-वैशेषिकों ने जिन कण्ठ-तालु आदि के तथा विजातीयवायु के संयोग को उत्पादक कारण के रूप में बताया है, वे सब 'शब्द' के उत्पादक न होकर उसके अभिव्यञ्जकमात्र होते हैं। अर्थात् 'नित्य शब्द' की अभिव्यक्ति कराते हैं।

शब्द में नित्यता सिद्ध करने के लिये वे अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं—'शब्दः नित्यः आकाशमात्रगुणत्वात् आकाशपरिमाणवत्'—अर्थात् 'शब्द' नित्य है, आकाश-मात्र का गुण होने से, जो आकाशमात्र का गुण होता है, वह अवश्य ही नित्य होता है। अतः 'शब्द' आकाशमात्र का गुण होने से वह अवश्य ही नित्य होगा। यहाँ प्रयुक्त हुए हेतु में से यदि 'मात्र' पद को हटा दें तो 'आकाश और घट के संयोग' में हेतु का व्यभिचार होगा। क्योंकि आकाश-घट का **संयोग**, 'आकाश' और 'घट' दोनों में रहता है, इस कारण 'संयोग' में आकाशगुणत्वरूप हेतु तो है, किन्तु नित्यत्वरूप साध्य 'संयोग' में नहीं है। अतः आकाशगुणत्वरूप हेतु, व्याभिचरित हो रहा है। उसके वारणार्थ 'हेतु' में 'मात्र' पद देना आवश्यक है। उसके देनेपर व्यभिचार नहीं होता है, क्योंकि आकाश-घटसंयोग में जो 'संयोग' गुण है, वह केवल आकाशमात्र का ही 'गुण' नहीं है, अपितु घट का भी गुण है। क्योंकि वह दोनों में रहता है। इसलिये आकाश-घट के संयोग में उक्त हेतु का व्यभिचार नहीं होता है। एवं च 'शब्द' का नित्यत्व केवल अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध नहीं है, अपितु 'प्रत्यभिज्ञा' रूप 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से भी उसकी नित्यता सिद्ध होती है। 'सोऽयं गकारः'—यह प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप है। अर्थात् जिस 'गकार' को हमने पहिले (पूर्व) सुना था, वही यह 'गकार' है। इस प्रत्यभिज्ञा में 'एतत्कालीन

'गकार' में पूर्वकालीन 'गकार' का अभेद प्रतीत होता है। यह अभेदप्रतीति 'गकार अर्थात् 'शब्द' को अनित्य (विनश्वर) मानने पर, कदापि संभव नहीं हो सकेगी। अतः अभेदविषयक प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

मीमांसक (गुरु) प्रभाकर के मन्तव्य पर अनित्यतावादी नैयायिक कहता है कि कि 'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकारः' अर्थात् यह 'गकार' उत्पन्न हुआ है, यह 'गकार' विनष्ट हुआ है—इस प्रकार की प्रतीति सभी लोगों को हुआ करती है। इस प्रतीति के आधार पर 'गकारादि' वर्णों (शब्दों) की उत्पत्ति तथा विनाश को अवश्य स्वीकार करना होगा। और जो 'पदार्थ' उत्पत्ति-विनाशशील होता है, वह अवश्य ही 'अनित्य' होता है। अतः 'शब्द' अनित्य है।

मीमांसक—'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकारः'—यह लोक प्रतीति, उस 'गकार' की उत्पत्ति और विनाश को नहीं बता रही है, किन्तु उन 'गकारादि' वर्णों के अभिव्यंजक विजातीय वायु के उत्पत्ति-विनाश को बता रही है, अर्थात् 'गकार' का अभिव्यञ्जक 'वायु' उत्पन्न हुआ है तथा नष्ट हुआ है। इस प्रकार अभिव्यंजक वायु के उत्पत्ति विनाश को बताती (विषय करती) हुई वह लोक प्रतीति, उन गकारादि वर्णों की नित्यता में बाधक नहीं हो रही है, प्रत्युत बोधक ही हो रही है।

नैयायिक—प्रभाकर मीमांसक (गुरु) का उक्त वक्तव्य ठीक नहीं है। क्योंकि 'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकारः'—अर्थात् यह 'गकार' उत्पन्न हुआ है और यह गकार विनष्ट हुआ है'—यह प्रतीति तो सभी को होती है। इस प्रतीति के आधार पर 'गकारादि वर्णों' की उत्पत्ति तथा विनाश तो सभी को मानना ही होगा। जो पदार्थ उत्पत्ति तथा विनाशशील होता है, वह पदार्थ अनित्य हुआ करता है, जैसे घट-पटादि पदार्थ, उत्पत्ति-विनाशशील होने से अनित्य हुआ करते हैं। अतः 'शब्द' भी उत्पत्ति-विनाशशील होने से वह भी अवश्य अनित्य होगा।

अतः प्रभाकर मीमांसक को 'सोऽयं गकारः'—यह जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह केवल 'भ्रम' रूप ही है। एवं च भ्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा से गकारादिवर्णों की 'नित्यता' सिद्ध नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा को यदि 'प्रमा' रूप भी कहें, तो भी उससे 'शब्द' की 'नित्यता' सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञा 'एतत्कालीन गकार' में 'पूर्वकालीन गकार' के अभेद को नहीं बता रही है, अपितु, एतत्कालीन 'गकार' में 'गत्वधर्मावच्छिन्न गकार' के अभेद को बताती है। तब जो 'गत्वजाति' उस पूर्वकालीन 'गकार' में रहती है, वही 'गत्वजाति' एतत्कालीन 'गकार' में है। अतः जैसे 'पूर्वकालीन गकार' उस 'गत्वजाति' से अवच्छिन्न है। वैसे ही एतत्कालीन 'गकार' भी उस 'गत्वजाति' से अवच्छिन्न है। ऐसे 'गत्वावच्छिन्न गकार' में 'गत्वावच्छिन्न गकार' का भेद नहीं रहता है। इस कारण उस पूर्वकालीन

'गकारव्यक्ति' का तथा 'उत्तरकालीन गकारव्यक्ति' का परस्पर भेद रहने पर भी 'गत्वजाति' का अभेद रहने से 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा का पूर्वकालीन 'गकार वृत्ति गत्वजाति' से अवच्छिन्न हुए 'गकार' से यह एतत्कालीन 'गकार' अभिन्न है—यह प्रतीति उसे हो रही है। इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा को 'प्रमा रूप मानने पर भी उन गकारादि वर्णों की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती।

अथवा—'शब्द' में लोगों को 'तारत्व', 'मन्द्रत्व' रूप विरुद्ध धर्म प्रतीत होते हैं। ये विरुद्ध धर्म 'एक शब्द' में कभी संभव नहीं हो सकते। अतः उन 'तारत्व-मन्द्रत्व रूप विरुद्ध धर्मों के कारण भी उन शब्दों में भेद है—यह अवश्य मानना होगा। इस कारण प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रभाकर मीमांसक ने 'शब्द' की 'नित्यता' को सिद्ध करने के लिये जो अनुमान प्रयोग किया था, वह भी शब्द की अनित्यता के साधक अनुमान प्रयोग के द्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित होने के कारण दुष्ट हो रहा है। शब्द की अनित्यता का साधक अनुमान प्रयोग यह कर सकते हैं—'शब्दः अनित्यः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादि-बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्, पटवत्'—अर्थात् 'शब्द' अनित्य है, जातिरूप सामान्यवाला होता हुआ हम जैसों के बाह्येन्द्रिय के द्वारा होने से, अर्थात् हम जैसों के बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होने से। जो पदार्थ, सामान्य वाला होता हुआ अस्मदादिकों के बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होता है, वह पदार्थ अनित्य ही होता है। जैसे—'पट' पटत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य (जाति) से युक्त हुआ अस्मदादिकों के चक्षु, त्वक् रूप बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होता है। इसलिये वे घट-पटादि पदार्थ, अनित्य ही होते हैं। उसी प्रकार 'शब्द' भी शब्दत्व, गुणत्वरूप सामान्य वाला होता हुआ अस्मदादिकों के श्रोत्र रूप बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होता है, इस कारण वह (शब्द) भी घट-पटादि पदार्थों के समान ही अनित्य है। एवं च उक्त अनुमान से 'शब्द' में अनित्यता ही सिद्ध होती है।

महामीमांसक कुमारिलभट्टपाद का तो 'शब्द' के सम्बन्ध में यह मन्तव्य है कि 'शब्द' की न उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है। वह तो 'नित्य' ही है। किन्तु वह 'रूप' आदि गुणों के समान 'गुण' नहीं है, अपितु 'आकाश' आदि के समान 'द्रव्य' है। द्रव्यरूप 'शब्द' की नित्यता में अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रयोग वे इस प्रकार करते हैं—**'शब्दः नित्यः निःस्पर्शद्रव्यत्वात् आकाशवत्'**—अर्थात् 'शब्द' नित्य है, स्पर्शगुण से रहित द्रव्यरूप होने से। जो-जो स्पर्श से रहित 'द्रव्य' होता है, वह सर्वदा 'नित्य' ही होता है, जैसे 'आकाश' स्पर्शरहित द्रव्य होने से 'नित्य' माना जाता है। उसी प्रकार 'शब्द' भी स्पर्शरहित द्रव्य रूप होने से उसको 'नित्य' ही कहना होगा।

यहाँ प्रयुक्त किये गये 'हेतु' में 'द्रव्य' पद न देकर केवल 'निःस्पर्शत्वात्' इतना ही कहें तो 'गन्धादिक' अनित्य गुणों में 'हेतु' का व्यभिचार होगा। क्योंकि 'गुण' में

'गुण' नहीं रहता। इस कारण 'गन्धादिक' अनित्य गुण, 'स्पर्शगुण' से रहित हैं। अतः 'गन्धादिक' गुणों में 'स्पर्शरहितत्व' हेतु तो विद्यमान है, किन्तु 'नित्यत्व' रूप 'साध्य' नहीं है। अतः 'हेतु' व्यभिचरित हो रहा है। उसके निवारणार्थ प्रयुक्त हेतु में 'द्रव्य' पद का निवेश करना आवश्यक है। तब गन्धादिक गुणों में 'द्रव्यरूपता' के न होने से 'गन्धादिक' गुणों में हेतु का व्यभिचार नहीं होगा। अब यदि केवल 'द्रव्यत्वात्' को ही हेतु के रूप में प्रयुक्त करें तो 'घट-पट' आदि में हेतु का व्यभिचार होगा। क्योंकि 'घट-पट' आदि पदार्थों में 'द्रव्यत्व' रूप हेतु तो है किन्तु 'नित्यत्व' रूप साध्य, उनमें नहीं है। इस व्यभिचार के निवारणार्थ 'द्रव्यत्वात्' में 'निःस्पर्श' को 'द्रव्य' का विशेषण बनाना आवश्यक है। तब 'घटादिक' द्रव्य पदार्थ 'स्पर्शगुण' से रहित नहीं हैं, अपितु स्पर्शगुण वाले ही हैं। अतः घटादिकों में उक्त हेतु का व्यभिचार नहीं हो पाता। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से 'शब्द' में नित्यता की सिद्धि हो जाती है।

शंका—'निःस्पर्शद्रव्यत्व' रूप हेतु से 'शब्द' में नित्यता तब सिद्ध हो सकेगी जब कि 'शब्द' में किसी प्रमाण से 'द्रव्यत्व' को प्रथमतः सिद्ध करें। किन्तु शब्द की द्रव्यरूपता का साधक कोई प्रमाण है नहीं। अतः 'शब्द' में द्रव्यत्व के न होने से आपके द्वारा प्रयुक्त अनुमान स्वरूपासिद्धि दोष से दूषित है। उससे नित्यत्व की सिद्धि नहीं होगी।

समा० —शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से हो सकती है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—**'शब्दः द्रव्यं साक्षात्सम्बन्धेन इन्द्रियग्राह्यत्वात् घटादिवत्'**— अर्थात् 'शब्द' द्रव्य है, साक्षात्सम्बन्ध से इन्द्रियग्राह्य होने से। जो-जो पदार्थ साक्षात् सम्बन्ध से इन्द्रियग्राह्य होता है, वह द्रव्य पदार्थ ही होता है। जैसे 'घटादि' संयोगरूप साक्षात् सम्बन्ध से चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होते हैं उस कारण 'घटादिक' द्रव्यरूप ही कहे जाते हैं। उसी प्रकार 'शब्द' भी 'साक्षात् सम्बन्ध' से श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होता है, इसलिये 'शब्द' भी उन घटादिकों के समान 'द्रव्यरूप' ही है। 'संयोग' और 'समवाय' इन दोनों सम्बन्धों को 'साक्षात् सम्बन्ध' कहते हैं।

यहाँ प्रयुक्त किये अनुमान में 'साक्षात्सम्बन्धेन' पद यदि न रखें तो 'रूपादिक' गुणों में 'हेतु का व्यभिचार होगा। क्योंकि 'रूपादि' गुण भी चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होते हैं, किन्तु 'रूपादिकों' में 'द्रव्यत्वरूप साध्य' नहीं है। अतः हेतु का व्यभिचार हो रहा है। उसके निवारणार्थ हेतु में 'साक्षात्सम्बन्धेन' पद का निवेश करना आवश्यक है। तब 'रूपादिक' 'साक्षात्सम्बन्ध' से इन्द्रियग्राह्य न होकर 'संयुक्त समवाय' रूप परम्परासम्बन्ध से इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य हुआ करते हैं। इसलिये 'रूपादिगुणों' में 'हेतु' का व्यभिचार नहीं हो रहा है। इस रीति से अनुमानप्रमाण के द्वारा 'शब्द' में द्रव्यत्व की सिद्धि होती है। अतः प्रयुक्त किये गये 'निःस्पर्शद्रव्यत्व' रूप हेतु से 'शब्द' में नित्यता की सिद्धि की गई है।

इस पर नैयायिक कहता है कि श्रीभट्टपाद का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वे 'शब्द' को द्रव्य मानकर उसे 'नित्य' कह रहे हैं। किन्तु वे यह बतावें कि उसे (शब्द को) वे 'पृथिवी आदि' द्रव्यों के समान 'रूपी द्रव्य' (रूपवान् द्रव्य) मानते हैं? या 'वायु आदि' द्रव्यों के समान 'अरूपी द्रव्य' (रूपरहित द्रव्य) मानते हैं? यदि वे प्रथम विकल्प (पक्ष) को स्वीकार करते हैं तो रूपवान् पृथिवी आदि द्रव्यों के समान चक्षुरिन्द्रिय से उसका (शब्द का) प्रत्यक्ष होना चाहिये। किन्तु 'शब्द' का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है। अब यदि वे द्वितीय विकल्प (पक्ष) का स्वीकार करते हैं तो 'शब्द' के रूपरहित होने से उसका (शब्द का) श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष ही नहीं होगा। क्योंकि 'बाह्यद्रव्य' के प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूप' को कारण माना गया है। 'उद्भूतरूप' के बिना 'बाह्य द्रव्य' का प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु उसका श्रावण प्रत्यक्ष तो सभी को हुआ करता है। अतः 'शब्द' में द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। एवं च 'शब्द' में द्रव्यत्व के न रहने से 'निःस्पर्शद्रव्यत्व' रूप हेतु से उसकी (शब्द की) नित्यता को भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। और 'प्रत्यभिज्ञा' जो होती है, वह तो भ्रमरूप है, इसे हम पहिले ही कह चुके हैं। अतः 'उत्पन्नो गकारः विनष्टो गकारः' इस प्रतीति से उसकी 'अनित्यता' ही सिद्ध हो रही है।

वैयाकरण मत पर विचार—

मीमांसकों के समान वैयाकरणों ने भी 'शब्द' को नित्य माना है, परन्तु उनकी प्रक्रिया मीमांसकों से भिन्न है। उनका कहना है कि वर्णों के समुदाय को 'पद' कहते हैं। पद में स्थित एक-एक वर्ण से 'अर्थबोध' का होना संभव नहीं है, उसी तरह मिलित वर्णों से भी अर्थबोध का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि 'वर्ण' द्विक्षणावस्थायी हैं, तथा वे क्रम से उत्पन्न होते हैं। उस कारण उन पदघटक वर्णों का मेल (समूह) होना कभी भी संभव न होने से 'पद' की सिद्धि नहीं होगी। 'पद' के सिद्ध न होने से उस पद का श्रावणप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष होने में 'विषय' को भी कारण माना जाता है। 'विषय' के बिना प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः 'पद' का प्रत्यक्ष न हो पाने से उसके 'अर्थ' का स्मरण नहीं होगा। पदजन्य पदार्थस्मृति के बिना 'अर्थ' के 'शाब्द बोध' का होना भी सम्भव नहीं है। इसलिये उन वर्णों से अभिव्यक्त होने वाले 'पदस्फोट' को मान लेना चाहिये। उस नित्य 'पदस्फोट' के ज्ञान से ही 'अर्थ' का स्मरण श्रोता को होता है। उस 'पदस्फोट' के आधार पर ही 'अनेक वर्णों' में 'एकं पदम्' 'एकं वाक्यम्' कहा जाता है। अतः 'शब्द' नित्य है।

उस पर नैयायिक कहता है कि वैयाकरणों का भी मन्तव्य ठीक नहीं है। क्योंकि 'घट', 'कलश' आदि पदों में स्थित 'घ,' 'ट' वर्णों से अभिव्यक्त तथा 'घट' पद के

अर्थ की स्मृति कराने वाला जो 'पदस्फोट' है, वह 'घट या कलशादिक' पदों के समस्त वर्णों से अभिव्यक्त हुए उन 'घट, कलशादि' पदों के 'घट-कलशादि' रूप अर्थ की स्मृति कराता है ? अथवा उस पद के यत्किञ्चित् (जिस किसी) एक वर्ण से अभिव्यक्त होने वाले पद के अर्थ की स्मृति कराता है ? अथवा उस पद के सभी वर्णों की प्रत्यक्षज्ञानरूप अभिव्यक्तियों से अभिव्यक्त हुआ वह 'पदस्फोट' उस पद के अर्थ की स्मृति कराता है ? इन तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प का स्वीकार यदि वैयाकरण करता है, तो वह संभव नहीं होगा, क्योंकि द्विक्षणावस्थायी तथा क्रमशः होने वाले 'घट-कलशादि' पदों के घटक (अवयव) 'घ, ट', 'क, ल, श' आदि वर्ण हैं, उनका मेल होना कदापि संभव नहीं है, अर्थात् उन सभी वर्णों की 'एकक्षण' में स्थिति संभव नहीं है, और उन पदों के घटक 'घ, ट' या 'क, ल, श' आदि सभी वर्णों की एकत्र स्थिति हुए बिना 'घट-कलशादि' पद में स्थित 'पदस्फोट' की अभिव्यक्ति कभी होगी ही नहीं। उस कारण पदस्फोट का प्रत्यक्ष न हो पाने से श्रोता को 'घट-कलशादि' पदों के अर्थ का बोध भी नहीं हो पायगा। अतः प्रथमपक्ष ठीक नहीं है।

उसी तरह द्वितीय पक्ष का स्वीकार भी वैयाकरण नहीं कर सकेगा, क्योंकि पद के घटक किसी भी एक वर्ण के उच्चारण से ही श्रोता को 'घट' या 'कलश' पद के स्फोट का प्रत्यक्ष होकर उस पद के अर्थ का बोध होना चाहिये, किन्तु होता नहीं है। और वैयाकरण के मतानुसार उन 'घकारादि या ककारादि वर्णों का, 'घट' या कलश' रूप अर्थ के बोध में उपयोग नहीं है, अपितु 'पदस्फोट' के बोध में ही उपयोग है। अतः उस 'पदस्फोट' का बोध, जिस किसी एक वर्ण से हो ही जायगा, तब तो 'अन्यवर्ण'-व्यर्थ ही हो जायेंगे। इसलिये द्वितीय विकल्प का भी स्वीकार नहीं कर सकते। अब यदि तृतीय पक्ष का स्वीकार करें तो वह भी संभव नहीं होगा। क्योंकि जैसे ककारादि या घकारादि वर्ण, द्विक्षणावस्थायी हैं तथा क्रम से उत्पन्न होते हैं, उसी तरह घकारादि अथवा ककारादि वर्णों की श्रावणप्रत्यक्षरूप अभिव्यक्तियाँ भी द्विक्षणावस्थायी हैं तथा क्रमशः उत्पन्न होती हैं। इसलिये उन अभिव्यक्तियों का भी किसी एक क्षण में स्थितिरूप मेलन होना संभव नहीं है।

अभिप्राय यह है—'विशिष्ट बुद्धि में विशेषणज्ञान कारण होता है'—इस नियम के अनुसार प्रथमक्षण में 'कत्व' या 'घत्व' जाति का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होगा और द्वितीयक्षण में 'कत्वजातिविशिष्ट ककार' का या 'घत्वजातिविशिष्ट घकार' का प्रत्यक्ष होगा। इसी प्रकार पद के घटक जितने भी वर्ण होंगे उन सभी का आनुपूर्वी से जाति और व्यक्ति का प्रत्यक्ष तत्तत् क्षणों में होता जायगा। एवं च अग्रिम-अग्रिम वर्ण के प्रत्यक्ष होने के क्षण में पूर्व-पूर्व वर्ण का प्रत्यक्ष ज्ञान नष्ट होता जायगा। अतः उन वर्णों की अभिव्यक्तियों का मेलन कभी संभव ही नहीं है। उस मेलन के

असंभव रहने से 'पदस्फोट' की भी अभिव्यक्ति नहीं होगी। इस प्रकार पदस्फोट के अप्रत्यक्ष रहने से श्रोता को 'घट' या 'कलश' आदि पदों से कभी भी अर्थ बोध नहीं हो सकेगा। इसलिये वैयाकरण तृतीय पक्ष का भी स्वीकार नहीं कर सकता।

इस पर वैयाकरण यदि यह कहे कि पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न होने वाले जो पूर्व-पूर्व वर्ण-विषयक संस्कार हैं, उन संस्कारों से सहकृत जो अन्तिम वर्ण का प्रत्यक्ष है, वही उस पदस्फोट का अभिव्यंजक है। ऐसा मानने पर पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता है।

तब नैयायिक कहते हैं कि वैयाकरण का उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस पूर्व-पूर्व वर्णविषयक संस्कार-सहकृत अन्त्यवर्ण के प्रत्यक्ष को 'पदस्फोट' का अभिव्यञ्जक वैयाकरणों ने माना है, उसी से (प्रत्यक्ष से) ही 'घट-कलश' आदि पदों की स्मृति हो जायगी और उस पद के अर्थ का बोध भी हो जायगा। अतः उसके लिये 'पदस्फोट' की कल्पना करना व्यर्थ है। एवं च शब्द की नित्यता सिद्ध करने में वैयाकरणों का प्रयास निष्फल ही है।

(१६) अर्थप्रकाशो बुद्धिः। नित्याऽनित्या च। ऐशी बुद्धिर्नित्या, अन्यदीया त्वनित्या।

(१६) बुद्धिनिरूपण—

अर्थेति। 'अर्थ' के प्रकाश (ज्ञान) को 'बुद्धि' कहते हैं। यानी जो 'प्रकाश' (ज्ञान), अर्थ-विषयक हो, उस प्रकाश को 'बुद्धि' शब्द से कहा जाता है। यह 'बुद्धि', आत्मा का एक 'विशेषगुण' है। वह 'नित्य' और 'अनित्य' के भेद से दो प्रकार की है। उनमें से ईश्वर की बुद्धि (ऐशी बुद्धि) नित्य है और जीव की बुद्धि अनित्य होती है।

माधुरी

'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'—(न्या० सू० १।१।१५)। इस सूत्र के अनुसार ज्ञान, बोध, प्रतीति, प्रत्यय, उपलब्धि—ये सभी 'बुद्धि' के ही नामान्तर हैं। अतः 'ज्ञान और बुद्धि'—दोनों शब्द समानार्थक हैं। ग्रन्थकार ने **'अर्थप्रकाशो बुद्धिः'** कहकर सूचित किया है कि संख्या के समान 'बुद्धि' को अन्तःकरण नहीं समझना चाहिये। सांख्यदर्शन में 'अन्तःकरण' को बुद्धि, और बुद्धि के अर्थाकार परिणाम को 'ज्ञान', और 'पुरुष' (आत्मा) में उस ज्ञान के प्रतिबिम्ब को 'उपलब्धि' माना गया है। वेदान्तदर्शन में 'अन्तःकरण' को बुद्धि, और बुद्धि के अर्थाकार परिणाम को 'वृत्ति' (गौण ज्ञान), व 'आत्मा' को मुख्य ज्ञान कहा है।

किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन की दृष्टि उक्त प्रक्रिया से भिन्न है। उसकी दृष्टि में बुद्धि को 'आत्मा' का विशेषगुण माना जाता है। क्योंकि अन्तरिन्द्रिय 'मन' और

बहिरिन्द्रियों के द्वारा 'अर्थ' का ज्ञान (प्रकाश) आत्मा को ही होता है। न्याय-दर्शन के प्रमाणादिपदार्थों का अन्तर्भाव इस 'बुद्धि' पदार्थ में ही वैशेषिकदर्शन ने कर दिया है। वैशेषिकदर्शन के प्रशस्तपादभाष्यकार ने 'विद्या' और 'अविद्या' के भेद से बुद्धि के प्रथमतः दो भेद किये हैं। उनमें से 'अविद्या' के चार भेद किये हैं— (१) संशय, (२) विपर्यय, (३) अनध्यवसाय, और (४) स्वप्न।

यह 'बुद्धि' (गुण), एकमात्र 'आत्मा' (द्रव्य) में ही समवायसम्बन्ध से रहती है। उसके अतिरिक्त 'पृथिवी' आदि द्रव्यों में नहीं रहती। यह ज्ञानरूप बुद्धि से ही सब की प्रवृत्ति, निवृत्ति, आहार, विहार आदि समस्त व्यवहार हुआ करते हैं। अत-एव तर्कसंग्रहकार श्रीअन्नंभट्ट ने 'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्' कहा है। 'बुद्धि' के बिना कोई व्यवहार नहीं हो पाता है। यह 'बुद्धि' (गुण) समस्त व्यवहारों का असाधारण कारण है। कोई भी व्यवहार तभी होता है जब व्यवहार्य वस्तु (विषय) का ज्ञान रहे। जबतक वस्तु ज्ञात न हो, तबतक उसके सम्बन्ध में व्यवहार हो ही नहीं सकता। तथापि इस लक्षण की 'निर्विकल्पक ज्ञान' में अव्याप्ति हो रही है, क्योंकि उस निर्विकल्पक ज्ञान से किसी व्यवहार की साक्षात् उत्पत्ति नहीं होती है। इसी कारण तर्कभाषाकार श्रीकेशवमिश्र ने उस लक्षण को न अपनाकर 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः' यह लक्षण 'बुद्धि' का किया है। यानी अर्थविषयक 'प्रकाश' ही बुद्धि का स्वरूप है।

उक्त लक्षण में 'प्रकाश' पद का निवेश यदि न करें तो 'अर्थो बुद्धिः' इतने मात्र लक्षण की बुद्धि से भिन्न 'वस्तुमात्र' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'अर्थ' शब्द से यच्च यावत् सभी वस्तुओं का संग्रह होता है। उस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'प्रकाश' पद का निवेश आवश्यक है। यदि लक्षण में से 'अर्थ' पद को हटा दें तो 'प्रकाशो बुद्धिः' इतने मात्र लक्षण की प्रदीप से होने वाले 'प्रकाश' में अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'अर्थ' पद का रखना आवश्यक है। उसके रखने पर प्रदीप आदि के 'प्रकाश' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि बुद्धिरूप प्रकाश ही 'अर्थविषयक' होता है। तैजस प्रकाश 'निर्विषयक' होता है। केवल 'अर्थविषयक बुद्धि' को भी बुद्धि का लक्षण कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि उसकी भी अर्थविषयक 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कार' में अतिव्याप्ति हो रही है।

अतः बुद्धि का लक्षण **'जानामीत्यनुव्यवसायविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमती बुद्धिः'**—करना चाहिये। अर्थात् 'जानामि' इस अनुव्यवसाय ज्ञान के विषय में रहने वाली 'गुणत्वजाति' से व्याप्य जाति वाले 'गुण' को बुद्धि कहते हैं। 'ज्ञान' को विषय करने वाले 'ज्ञान' को अनुव्यवसाय कहते हैं। वह अनुव्यवसाय अन्तरिन्द्रिय 'मन' से जन्य होने के कारण उसे 'मानस प्रत्यक्ष' कहते हैं। 'जानामि' यह अनुव्यवसाय-ज्ञान, पूर्वोत्पन्न ज्ञानरूप बुद्धि को विषय करता है। इसलिये 'ज्ञानरूपबुद्धि', उस अनुव्यवसायज्ञान का विषय कहलाती है। ऐसी बुद्धि में रहने वाली तथा गुणत्वजाति

की व्याप्य ऐसी 'बुद्धित्व' जाती होगी, वह समस्तज्ञानरूप बुद्धियों में रहती है। यह लक्षण-समन्वय है। ज्ञान और बुद्धि दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।

उक्त लक्षण में यदि 'जानामीत्यनुव्यवसायविषयवृत्ति' पद न रखें, तो 'गुणत्वजाति' के व्याप्य 'रूपत्वादिक' जाति वाले 'रूपादिगुणों' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'जानामीत्यनुव्यवसायविषयवृत्ति' पद रखना आवश्यक है। उससे अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वे 'रूपादिकगुण', 'जानामि' इस अनुव्यवसाय-ज्ञान के विषय नहीं हैं, किन्तु, उस 'अनुव्यवसाय' का विषय तो वह 'बुद्धिरूप' ज्ञान ही है। इस कारण रूपत्वादिजातियाँ 'जानामि' इस अनुव्यवसाय के विषय में रहती नहीं है। इसलिये 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर उन 'रूपादि गुणों' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

अब यदि 'गुणत्वव्याप्य' पद को लक्षण में से हटा दें तो 'गुणत्व' जाति को लेकर 'रूपादि' समस्त गुणों में तथा 'सत्ताजाति' को लेकर 'द्रव्य, गुण और कर्म' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि अनुव्यवसाय के विषयभूत बुद्धिरूपज्ञान में जैसे 'बुद्धित्व' जाति रहती है, वैसे ही 'गुणत्वजाति' तथा सत्ताजाति भी रहती है। उस 'गुणत्वजाति' को लेकर 'रूपादिक' समस्त गुणों में तथा 'सत्ताजाति' को लेकर 'द्रव्य-गुण-कर्म' में 'बुद्धि' के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

किञ्च 'जानामि' यह अनुव्यवसाय जैसे उस 'ज्ञानरूप बुद्धि' को विषय करता है, वैसे ही उस बुद्धि के आश्रयभूत 'आत्मा' को भी वह विषय करता है। इसलिये 'बुद्धि' के समान 'आत्मा' भी, 'जानामि' इस अनुव्यवसाय का विषय कहा जाता है। उस आत्मा में 'आत्मत्व, द्रव्यत्व, और सत्ता' ये तीनों जातियाँ रहती हैं। ऐसी स्थिति में 'आत्मत्व' जाति को लेकर तो 'आत्मा' में, और 'द्रव्यत्व' जाति को लेकर 'पृथिवी आदि सभी द्रव्यों' में तथा 'सत्ता जाति' को लेकर 'द्रव्य-गुण-कर्म' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद को 'जाति' के विशेषण के रूप में निविष्ट करना अवश्यक है। तब 'गुणत्व, सत्ता, आत्मत्व, द्रव्यत्व'—ये चारों जातियाँ उस गुणत्वजाति की व्याप्य नहीं हैं। अतः उन गुणत्वादि जातियों को लेकर 'गुणादिकों' में बुद्धि के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

शंका—जातिघटित लक्षण की अपेक्षा यदि **'जानामीत्यनुव्यवसायविषयगुणः बुद्धिः'**—अर्थात् 'जानामि' इस अनुव्यवसाय का जो विषय हो तथा 'गुण' हो उसे 'बुद्धि' कहते हैं। यह छोटा-सा लक्षण ही क्यों नहीं करते? इस लक्षण की भी 'आत्मा' में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'आत्मा' में गुणरूपता नहीं है। अतः जातिघटित लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता है?

समा०—आपकी शंका ठीक है, तथापि जिन स्मरण, अनुव्यवसायादिज्ञानों को भी विषय करने वाला दूसरा उत्तरवर्ती अनुव्यवसायज्ञान जहाँ उत्पन्न नहीं हुआ है

उन 'स्मरण, अनुव्यवसायादि ज्ञानों' में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। तथा 'निर्विकल्पकज्ञान' में भी उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि 'निर्विकल्पकज्ञान' अतीन्द्रिय होने से उसमें मानसप्रत्यक्षरूप 'अनुव्यवसाय' की विषयता ही नहीं है।

अतः उक्त दोषों के निवारणार्थ 'बुद्धि' का जातिघटित लक्षण करने की आवश्यकता है। उसके अनुसार 'बुद्धित्वजाति', उन स्मरण, तथा अनुव्यवसायादि ज्ञानों में तथा निर्विल्पकज्ञान में भी रहती है। एवञ्च तीनों में लक्षण के घटित हो जाने से कहीं भी अव्याप्ति नहीं है। इसलिये जातिघटितलक्षण का बनाना उचित ही है।

बुद्धि के भेद—

नित्य और अनित्य के भेद से 'बुद्धि' दो प्रकार की होती है। उनमें ऐशी (ईश्वर की) बुद्धि तो 'नित्य' है, वह न उत्पन्न होती है और न उसका विनाश ही होता है। वह 'एक' और 'सर्वविषयक' यानी समस्त 'विश्व' को जानने वाली होती है। और ईश्वर से भिन्न जो 'जीव' हैं, उनकी 'बुद्धि' अनित्य होती है। जीव (आत्मा) में 'बुद्धि' (ज्ञान) की उत्पत्ति आत्म-मनःसंयोग होने पर अन्य कारणों के सन्निधि से हुआ करती है। जीवात्मा की अनित्यबुद्धि का 'जीवात्मा' समवायिकारण माना जाता है। और जीवात्मा के साथ जो 'मनःसंयोग' है, वह उस बुद्धि (ज्ञान) का 'असमवायिकारण' है। और 'अदृष्ट' तथा 'ईश्वर' आदि उस बुद्धि (ज्ञान) के 'निमित्तकारण' कहलाते हैं।

उस 'अनित्यबुद्धि' का 'नाश' तो उस बुद्धि के अनन्तर द्वितीयक्षण में उत्पन्न होने वाले उस जीवात्मा के जो ज्ञानादिक योग्य विशेषगुण हैं, उनसे ही होता है। अतः पूर्वोक्त 'शब्दगुण' के समान जीवात्मा की 'बुद्धि' (ज्ञान) भी द्विक्षणावस्थायी ही होती है।

जीवात्मा की 'अनित्य बुद्धि' भी (१) अनुभूति और (२) स्मृति के भेद से दो प्रकार की होती है। और 'अनुभूति' तथा 'स्मृति' रूप दोनों प्रकार की बुद्धि भी (१) 'यथार्थ' (प्रमा) और (२) 'अयथार्थ' (अप्रमा) भेद से दो प्रकार की होती है। उनमें से 'यथार्थानुभव'—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति, और (४) शाब्द के भेद से चार प्रकार का होता है। इन चारों में से प्रथम जो 'प्रत्यक्षात्मक अनुभव' है, वह (१) घ्राणज, (२) रासन, (३) चाक्षुष, (४) त्वाच, (५) श्रावण, (६) मानस के भेद से छह प्रकार का होता है। यह छह प्रकार का प्रत्यक्षात्मक अनुभव भी (१) निर्विकल्पक और (२) सविकल्पक के भेद से दो प्रकार का होता है। और वह भी (१) लौकिक और (२) अलौकिक के भेद से दो प्रकार का होता है। उसमें भी वह 'अलौकिक प्रत्यक्ष'—(१) 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिजन्य' और (२) 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिजन्य' और (३) योगज-

धर्मलक्षणाप्रत्यासत्तिजन्य' भेद से तीन प्रकार का होता है। (इनका विस्तृत विवेचन प्रत्यक्षप्रमाण के प्रसंग में किया गया है।)

दूसरा 'अयथार्थानुभव'—(१) संशय (२) विपर्यय (३) तर्क के भेद से तीन प्रकार का होता है।

यथार्थानुभव (प्रमा) की उत्पत्ति, 'गुणसहकृत प्रमाण' से होती है। और अयथार्थानुभव (अप्रमा) की उत्पत्ति, 'दोषसहकृत प्रमाण' से होती है। 'प्रमा' से भिन्न जो 'ज्ञान' उसी को 'अप्रमा अथवा अविद्या' कहते हैं।

वैशेषिकदर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में भाष्यकार ने 'बुद्धि' के जो 'विद्या और अविद्या' के भेद से दो भेद बताये हैं। उनमें से 'अविद्या' को 'संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न के रूप में चार प्रकार से विभाजित किया है। इनमें संशय और अनध्यवसाय दोनों पृथक्-पृथक् हैं। दोनों को एक ही नहीं समझना चाहिये। 'संशय' ज्ञान उसे कहते हैं, जिसमें 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक उभयकोटि को स्पर्श करता हुआ ज्ञान हो। और 'अनध्यवसाय' उस ज्ञान को कहते हैं, जिस में 'पदार्थ' (वस्तु) का किसी विशेषरूप में ज्ञान नहीं होता है, केवल सामान्यरूप से उसका ज्ञान होता है, जिसे 'यत्किञ्चित् इदम्'—यह कुछ है—इस शब्द से कहा जाता है। अर्थात् जिस पदार्थ के सम्बन्ध में 'किमिदम्'—यह क्या है ?—ऐसी जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होती है, उस ज्ञान को 'अनध्यवसाय' शब्द से कहा जाता है। इसी ज्ञान को 'आलोचनमात्र' शब्द से भी कहा करते हैं। अतः 'संशय' और 'अनध्यवसाय' एक नहीं है।

'मिथ्याज्ञानं विपर्ययः'—यह वह मिथ्या ज्ञान है, जिसकी जहाँपर वास्तविक सत्ता न होते हुए भी वहाँ पर उसका ग्रहण हो रहा है। जैसे—शुक्ति में रजतत्व का 'इदं रजतम्' इस रूप में निश्चय करना। यह ज्ञान, 'रजतत्व' से शून्य (रहित) शुक्ति में हो रहा है। शुक्ति में 'रजतत्व' की वास्तविकता न रहने पर भी उसका ग्रहण हो रहा है। वास्तव में तो शुक्ति में रजतत्वाभाव है, किन्तु उसका ग्रहण (ज्ञान) नहीं हो रहा है। अतः शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान, मिथ्याज्ञान होने से 'विपर्यय' कहा जाता है।

जो 'ज्ञान' स्वप्नावस्था में होता है, उसे 'स्वप्नज्ञान' कहते हैं। इस स्वप्नावस्था के ज्ञान में इन्द्रियों का कोई व्यापार नहीं होता है। इन्द्रियों के साथ 'मन' का भी कोई सम्बन्ध (सम्पर्क) नहीं रहता है। 'मन' तो शरीर के इन्द्रियशून्य भाग में (पुरीततिनाडी में) प्रविष्ट हो जाता है। उस समय 'आत्मा' के साथ जो 'मन' का संयोग होता है, उसी को 'स्वप्न' (स्वाप) कहते हैं। एवं च 'संयोग' और 'जाग्रदवस्था के अनुभव से उत्पन्न संस्कार'—इन दो कारणों से होने वाले को 'स्वप्न-ज्ञान' कहते हैं, क्योंकि यह ज्ञान, स्वप्नावस्था में होता है। इस स्वाप्नज्ञान की

गणना 'अविद्या' में ही की जाती है, क्योंकि इस ज्ञान का विषय, किसी देश में या किसी काल में या बुद्धि में स्थित न रहने पर भी केवल संस्कारमात्र से ही उत्पन्न होता रहता है। इस स्वाप्नज्ञान के तीन विशेष कारण माने जाते हैं—(१) संस्कार-पाटव, (२) धातुदोष, और (३) अदृष्ट। अर्थात् इन कारणों के भेद से 'स्वप्न' भी तीन प्रकार के होते हैं। अर्थात् 'संस्कारों' की प्रबलता से एवं धातुदोष से और अदृष्टवशात् भी स्वप्न हुआ करते हैं। साधारणतया मनुष्य जिस बात को निरन्तर सोचता-विचारता रहता है अथवा जिसको देखने से मन पर प्रबल संस्कार पड़ता है, उसी वस्तु को वह स्वप्न में देखता है। जैसे—'क्रोधी' कामुक और लालची आदमी को स्वप्न में भी अपराधी, कामिनीस्त्री, और धन ही दिखाई देता है। इसी को 'संस्कार पाटवज' स्वाप्नज्ञान कहते हैं।

एवं धातुज (धातुवैषम्यज) स्वाप्नज्ञान भी होता है। 'धातु' शब्द से आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार 'वात, पित्त, कफ' ग्रहण किये जाते हैं। वातप्रकृति (वातप्रधान) अथवा वातदूषित आदमीको प्रायः आकाश में उड़ने के स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। इसी को धातुज स्वाप्नज्ञान कहते हैं। एवं पित्तप्रकृति (पित्तप्रधान) अथवा पित्त-दूषित आदमी को स्वप्न में आग की ज्वाला, सोने-चाँदी के ढेर दिखाई पड़ते हैं। यह भी धातुज स्वप्नज्ञान है। इसी प्रकार 'कफप्रधान' (कफप्रकृति) अथवा कफ-दूषित आदमी को 'जल' सरोवर नदी-समुद्र आदि में तैरने स्नान करने के अथवा हिमपात, जल बरसने के स्वप्न दिखाई देते हैं। यह भी धातुज स्वाप्नज्ञान है।

उसी तरह अदृष्टज स्वप्न भी होते हैं। कभी-कभी जाग्रदवस्था में भी अघटित घटना का ज्ञान हो जाता है। दूरस्थित घटनाओं का ज्ञान हो जाना, जिसे अपने जीवन में कभी नहीं देखा हो, ऐसे पदार्थों का भी स्वप्न दिखाई देता है। इस अदृष्टज-स्वप्न का वर्णन, महाकवि श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरित' महाकाव्य में इस प्रकार किया है—'अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्' ॥ १।३९ ॥ 'दमयन्ती' ने कभी न देखे हुए 'नल' को स्वप्न में देख लिया। ऐसे स्वप्न को 'अदृष्टज' स्वप्न कहते हैं।

एक 'स्वप्नान्तिक' अवस्था भी होती है। इसमें स्वप्न पड़ने के पूर्व होने वाला जो ज्ञान है, उसका विषय, स्वप्न के उत्तर भाग में ज्ञात होता है। जैसे किसी गुरु-भक्त विद्यार्थी को कोई ग्रन्थपङ्क्ति न लग रही हो तो उसे स्वप्न में उसके गुरुचरण प्रकट होकर उस उलझी हुई पङ्क्ति को सुलझा देते हैं। उसे उस पङ्क्ति के विषय का ज्ञान हो जाता है। ऐसे ज्ञान को 'स्वप्नान्तिक ज्ञान' कहते हैं। इस स्वप्नान्तिक-ज्ञान की गिनती 'अविद्या' में नहीं की जाती, अपितु विद्या में इसकी गिनती की गई है। क्योंकि इससे स्वप्नज्ञान के विषय का यथार्थ ज्ञान होता है।

(१७) प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम् ।

(१७) सुखनिरूपण—

प्रीतिरिति । प्रीति (आनन्द) को 'सुख' कहते हैं। वह सभी आत्माओं को अनुकूल प्रतीत होता है। अर्थात् सभी लोग उस (सुख) को चाहते हैं।

न्याय-वैशेषिकदर्शन 'सुख' को आत्मा का विशेषगुण बताता है। उसकी उत्पत्ति 'धर्म' (पुण्यकर्म) से होती है। वेदान्तादि दर्शनों ने 'नित्यसुख' को भी माना है, जिसे न्याय-वैशेषिकदर्शनों ने नहीं स्वीकार किया है।

माधुरी

शंका—परधन, परस्त्री के उपभोग से होने वाले सुख के प्रति सत्पुरुषों के मन में तो हमेशा ही द्वेष रहता है। ऐसे सुख में अनुकूल बुद्धि तथा ऐसे सुख को प्राप्त करने की इच्छा सत्पुरुषों को कभी नहीं होती है। इस कारण परद्रव्य-परस्त्री के उपभोग जन्य सुख में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो रही है। अतः यह लक्षण; निर्दुष्ट नहीं है।

समा०—निर्दुष्ट लक्षण यह हो सकता है—**'इष्टसाधनताज्ञानाजन्य-जन्येच्छाविषय-गुणः सुखम्'**—अर्थात् 'इदं मदिष्टसाधनम्' इत्याकरक होने वाले 'इष्टसाधनता-ज्ञान' से अजन्य (उत्पन्न न होने वाली) जो 'जन्य इच्छा', उसका विषय होकर जो गुणरूप हो, उसे 'सुख' कहते हैं। जैसे—शब्द-स्पर्शादिक विषय, 'सुखरूप इष्ट' के साधन माने जाते हैं। वह 'सुख' स्वयं 'इष्टरूप' (फल-प्रयोजन रूप) होने से किसी अन्य इष्ट का साधन नहीं है। उस सुख के लिये लोगों के मन में जो इच्छा होती है, वह केवल 'सुख' के ज्ञानमात्र से ही जन्य (उत्पन्न) होती है। वह 'इष्टसाधनता-ज्ञान' से जन्य नहीं है। और 'सुखरूप' इष्ट की प्राप्ति होने में जो 'शब्द-स्पर्शादि' विषयरूप साधन हैं, उनको पाने की जो इच्छा हो रही है, वह तो 'शब्द-स्पर्शादि विषय मेरे इष्ट (सुख) के साधन हैं—इत्याकारक 'इष्टसाधनताज्ञान' से जन्य है। एवं च इष्टसाधनता ज्ञान से अजन्य जो 'सुखं मे भूयात्' इत्याकारक जन्य इच्छा है, वह 'सुख' है, और वह 'गुणरूप' भी है। अतः लक्षण का समन्वय अपने लक्ष्य (सुख) में हो जाता है। इसलिये इसे निर्दुष्ट लक्षण कह सकते हैं।

उक्त लक्षण में यदि 'इष्टसाधनताज्ञानाऽजन्य' पद का निवेश न करें तो 'जन्येच्छा विषयगुणः सुखम्'—इतना ही लक्षण शेष रह जायगा। तब उसकी सुख के साधनभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि जैसे 'सुख', जन्य इच्छा का विषय होता है, वैसे ही सुख के साधन शब्द-स्पर्शादिक भी उस जन्य इच्छा के विषय हुआ करते हैं। अतः अतिव्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'इच्छा' के विशेषणरूप में 'इष्टसाधनताज्ञानाऽजन्य' पद का निवेश करना

आवश्यक है। उसके निवेश करने से अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि सुख के साधनभूत शब्द-स्पर्शादिकों में लोगों को जो इच्छा होती है, वह 'इदं मदिष्टसाधनम्'—इत्याकारक हमारे 'इष्टसाधनताज्ञान' से ही होती है, क्योंकि शब्द-स्पर्शादिक हमारे 'सुखरूप इष्ट' के साधन हैं। अतः शब्द-स्पर्शादि साधनों की जो इच्छा है, वह 'इष्टसाधनताज्ञान से अजन्य' नहीं है, अपितु जन्य ही है। अतः शब्द-स्पर्शादिक जो सुखसाधन हैं, उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति अब नहीं होगी। अब यदि लक्षण में 'जन्य' पद न देकर 'इष्टसाधनताज्ञानाऽजन्येच्छाविषयगुणः सुखम्'—इतना ही लक्षण रखें तो ईश्वर की इच्छा के विषयभूत जो रूपादिगुण हैं, उनमें अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि ईश्वर की 'इच्छा' नित्य है। इसलिये वह इष्टसाधनताज्ञान से जन्य नहीं है अर्थात् अजन्य ही है। और वह ईश्वर की इच्छा सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करती है। इसकारण वह ईश्वर की इच्छा उन रूपादि गुणों को भी विषय करती है। इसलिये उनमें अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'इच्छा' के विशेषणरूप में 'जन्य' पद देना आवश्यक है। तब ईश्वर की इच्छा 'जन्य' न होने से अर्थात् 'नित्य' होने से उसकी इच्छा को लेकर 'रूपादिगुण' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

अब यदि उक्त लक्षण में 'गुण' पद न देकर 'इष्टसाधनताज्ञानाऽजन्य-जन्येच्छा-विषयः सुखम्' इतना ही लक्षण करें तो 'दुःखाभाव' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जैसे 'सुख'—फलरूप होने से स्वयं 'इष्ट' स्वरूप है, वैसे ही 'दुःखाभाव' भी फलरूप होने से स्वयं ही 'इष्ट' स्वरूप है। वह किसी अन्य इष्ट का 'साधन' रूप नहीं है। इसलिये सुखेच्छा के समान दुःखाभावेच्छा भी इष्टसाधनताज्ञान से अजन्य ही है। अतः इष्ट-साधनताज्ञान से अजन्य जो जन्य-इच्छा, उसका विषय वह दुःखाभाव भी है। अतः उसमें अतिव्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुण' पद का निवेश करना चाहिये। उसके निवेश करने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'दुःखा-भाव' में गुणरूपता नहीं है।

उक्त 'सुख'संज्ञक गुण, केवल जीवात्मा में ही समवायसम्बन्ध से रहता है। वह 'सुख' उत्पत्ति-विनाशशील होने से 'अनित्य' ही होता है। कोई भी सुख नित्य नहीं होता है। 'सुख' का समवायिकारण—जीवात्मा है, और जीवात्मा के साथ 'मन' का जो संयोगसम्बन्ध है, वह उस सुख का 'असमवायिकारण' है, और धर्म तथा शब्द-स्पर्शादिकविषय और देश-कालादिक उस सुख के निमित्तकारण हैं।

वह 'सुखगुण' भी अनित्य बुद्धि के समान स्वोत्तर उत्पन्न हुए ज्ञानादिक योग्य-विशेषगुण से नष्ट होता है। अतः अनित्यबुद्धि के समान ही वह 'सुखगुण' भी द्विक्षणावस्थायी होता है।

सभी प्राणियों को अपने-अपने आत्मा का सुख तो 'अहं सुखी' इत्याकारक मानस

प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है। किन्तु दूसरे सुख का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु दूसरे के मुख आदि की प्रसन्नतारूप हेतु से दूसरे के सुख का अनुमान होता है।

इस 'सुखगुण' के चार भेद (प्रकार) होते हैं—(१) वैषयिक, (२) आभिमानिक, (३) मानोरथिक (४) आभ्यासिक। उनमें से वैषयिक सुख वह है, जो शब्द-स्पर्शादिविषयों के अनुभव से होता है। आभिमानिक सुख वह है, जो किसी अधिकारप्राप्ति से या वैदुष्य के गर्व से होता है। विषयों के ध्यान-चिन्तन-मनन से होने वाले सुख को 'मानोरथिक' सुख कहते हैं। और सूर्यादिदेवताओं के नमस्कार, दर्शन, अभिषेक, स्तोत्रपाठ से तथा शरीरिक व्यायामादि से जो लाघवरूप सुख है, उसे आभ्यासिक सुख कहते हैं।

नवीन नैयायिकों का कहना है कि जैसे 'बुद्धिगुण' नित्य-और अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है, वैसे 'सुख गुण' भी (१) नित्य और (२) अनित्य के भेद से दो प्रकार का होता है। क्योंकि 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' अर्थात् ईश्वर (ब्रह्म) नित्य-ज्ञानसम्पन्न तथा नित्य-आनन्द (सुख) से सम्पन्न है। इस श्रुति ने ईश्वर के आनन्द (सुख) को नित्य कहा है। ईश्वर में नित्य सुख रहता है और जीवात्मा में अनित्य सुख रहता है।

(१८) पीडा दुःखम्। तच्च सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम्।

(१८) दुःखनिरूपण—

पीडेति। 'पीडा' को दुःख कहते हैं। वह सभी आत्माओं (प्राणियों) को प्रतिकूल जान पड़ता है। इसीलिये सब लोग उसे त्याज्य कहते हैं।

माधुरी

ग्रन्थकारोक्त 'पीडा दुःखम्' इस लक्षण को दूसरे शब्दों में 'सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्' भी कह सकते हैं। सब प्राणियों को जिस ज्ञान का विषय, प्रतिकूल (अनिष्ट) रूप में प्रतीत होता है, उसे 'दुःख' कहते हैं। 'दुःख' में यानी प्रतिकूल विषय में किसी को भी इष्ट बुद्धि नहीं हुआ करती। सभी यह चाहते हैं कि 'हमें कभी भी दुःख प्राप्त न हो'—यही अनिष्ट बुद्धि है!

शंका—तपस्वी लोग 'तप' करते हैं, कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत करते हैं, शरीर को अनेक प्रकार के कष्ट देते हैं, उसे पीडित करते रहते हैं। 'दुःखं मा भुञ्जीय'—दुःख प्राप्ति हमें कभी न हो—ऐसी प्रतिकूलता बुद्धि (अनिष्ट बुद्धि) उन्हें 'पीडा' (दुःख) के विषय में कभी नहीं होती। कुन्ती ने तो भगवान् से 'विपदः सन्तु नः शश्वत्'—कहकर 'विपत्तियों' को ही वरदान में माँगा था। अतः 'पीडा दुःखम्' अथवा 'सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्'—इस लक्षण की तपस्वियों के द्वारा अनुभूयमान दुःख में अव्याप्ति हो रही है।

समा०—'पीडा दुःखम्' अथवा **'प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्'** कहने का तात्पर्य यह है कि **'द्विष्टसाधनताविषयकजन्यज्ञानाऽजन्य-द्वेषविषयगुणः दुःखम्'** अर्थात् जिस जन्य ज्ञान का विषय 'द्विष्टसाधनता' है, उस ज्ञान से अजन्य जो 'द्वेष', उसके विषयभूत पदार्थ को 'दुःख' कहते हैं, द्वेष का जो विषय होता है, उसे 'द्विष्ट' कहते हैं। 'दुःख' के प्रति सभी प्राणियों का द्वेष रहता है। इसीलिये 'दुःख' को द्विष्ट कहा जाता है। ऐसे 'द्विष्ट दुःख' के साधन सिंह, सर्प आदि हिंसक प्राणि हुआ करते है, तथा ज्वर, उदरशूलादि होते हैं। अत एव हिंसक प्राणियों से लोगों को द्वेष रहता है। उनके प्रति जो द्वेष रहता है, वह 'द्विष्टसाधनता ज्ञान' के कारण ही रहता है। एवं च सिंह सर्पादिविषयक द्वेष, उस द्विष्टसाधनताज्ञान से जन्य कहलाता है। अन्य दुःख साधारण के प्रति जो द्वेष रहता है, वह (दुखःविषयक द्वेष), 'द्विष्ट साधनताज्ञान' से जन्य नहीं है, अपितु 'दुःख के ज्ञानमात्र' से ही उसमें द्वेष होता है। इसलिये वह दुःखविषयक द्वेष, 'द्विष्टसाधनताज्ञान' से अजन्य कहा जाता है। ऐसे द्विष्टसाधनताविषयक जन्यज्ञान से अजन्यद्वेष का विषयभूत तथा गुणरूप जो हो उसे दुःख कहते हैं।

यदि 'द्वेषविषयगुणः दुःखम्' इतना ही लक्षण करें तो दुःख के साधन जो दुर्गन्ध कटुरस आदि हैं उनमें अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जैसे 'दुःख', लोगों के द्वेष का विषय होता है, वैसे ही दुःख के साधन दुर्गन्ध, कटुरसादिक भी लोगों के द्वेष के विषय होते हैं, अतः अतिव्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'द्विष्टसाधनता-विषयकजन्यज्ञानाऽजन्य' पद को उस द्वेष के विशेषण रूप में रखना आवश्यक है। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि दुःखसाधनों के प्रति जो द्वेष होता है, वह 'द्विष्टसाधनताविषयकजन्यज्ञान से अजन्य नहीं होता है, अपितु 'वे दुर्गन्ध कटु-रसादिक हमारे दुःख के साधन हैं'—इत्याकारक द्विष्टसाधनताविषयकजन्यज्ञान से जन्य ही हैं, अजन्य नहीं है। इसलिये उन दुःखसाधनों में अतिव्याप्ति नहीं हो पा रही है।

यदि लक्षण में 'गुण' पद न दें तो 'सुखाभाव' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जैसे 'दुःख' के प्रति लोगों का द्वेष रहता है, वैसे ही 'सुखाभाव' के प्रति भी लोगों का द्वेष होता है, और जैसे 'दुःख', अन्य किसी 'द्विष्ट' का साधन नहीं होता है, वैसे ही 'सुखाभाव' भी अन्य किसी 'द्विष्ट' का साधन नहीं होता है। इसलिये 'दुःख' से द्वेष के समान 'सुखाभावविषयकद्वेष' भी द्विष्टसाधनताविषयकजन्यज्ञान' से अजन्य ही है। अतः सुखाभाव में 'द्विष्टसाधनताविषयकजन्यज्ञानाऽजन्यद्वेषविषयता' रहने से अति-व्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुण' पद रखना आवश्यक है। तब 'सुखाभाव' में गुणरूपता न रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

शंका—सुखस्य अभावः—सुखाभावः । इस 'सुखाभाव' को ही 'दुःख' शब्द से क्यों न कहा जाय ? सुखाभाव से 'दुःख' को पृथक् कहना उचित नहीं है ।

समा०—सुखाभाव को 'दुःख' नहीं कह सकते, क्योंकि यदि सुखाभाव को दुःख कहें, तो क्या उसके (सुख के) 'प्रागभाव' को 'दुःख' कहें, या उसके 'अन्योऽन्याभाव' को दुःख कहें, या उसके 'अत्यन्ताभाव' को दुःख कहें, या उसके 'प्रध्वंसाभाव' को दुःख कहें ?

यदि 'सुख के प्रागभाव' को दुःख कहें तो जीवात्मा में सुख के विद्यमान रहने पर भी आगे उत्पन्न होने वाले 'सुखों' का प्रागभाव तो उसमें है ही, अतः भावी सुख के प्रागभाव को लेकर, 'सुखकाल' में भी 'अहं दुःखी' ऐसी प्रतीति किसी को भी होती नहीं है । अतः यह प्रथम विकल्प (पक्ष) ठीक नहीं है ।

यदि 'सुख' के अन्योऽन्याभाव को दुःख कहें तो सुख के विद्यमान काल में 'अहं दुःखी' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, क्योंकि जिस जीवात्मा में वह 'सुख' है, उसी जीवात्मा में उस सुख का भेदरूप अन्योऽन्याभाव (जीवात्मा सुखं न—इस प्रकार का) भी रह रहा है । अतः उस सुख के अन्योऽन्याभाव को लेकर सुख के विद्यमान काल में भी 'अहं दुःखी' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु वैसी प्रतीति किसी को भी नहीं हुआ करती । इसलिये यह दूसरा विकल्प (पक्ष) भी ठीक नहीं है ।

यदि 'सुख' के अत्यन्ताभाव को दुःख कहें तो 'घट-पट आदि' जड़ वस्तुओं में कभी किसी काल में भी 'सुख' की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः उन घट-पटादि जड़ वस्तुओं में 'सुखात्यन्ताभाव' ही रहता है । इसलिये उन घट-पटादि जड़ वस्तुओं में दुःख की प्रतीति होनी चाहिये । किन्तु उन घटादिकों में किसी को भी दुःख की प्रतीति नहीं होती । इसलिये तीसरा विकल्प (पक्ष) भी ठीक नहीं है ।

अब यदि सुख के प्रध्वंसाभाव को दुःख कहें तो घटगत दुःख की प्रतीति रूप पूर्वोक्त दोष यद्यपि प्राप्त नहीं हो रहा है, क्योंकि 'प्रागभाव' और 'प्रध्वंसाभाव'—ये दोनों अभाव, अपने प्रतियोगी के अधिकरण में ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं । जब कि उन घटादिकों में 'सुख' नहीं रहता है, तो उन घटादिकों में सुखध्वंस भी कैसे रहेगा ? यानी नहीं रहेगा । सुख तो जीवात्मा में ही रहता है, इसलिये सुखध्वंस भी आत्मा में ही रहेगा । अब यदि सुखध्वंस को दुःखरूप मानोगे तो स्वर्ग में स्थित पुरुष को भी 'अहं दुःखी'—मैं दुखी हूँ—यह अनुभव होना चाहिये । क्योंकि स्वर्ग में निवास करने वाले पुरुषों में भी पूर्वोत्पन्न हुए सुखध्वंस विद्यमान ही हैं । क्योंकि 'ध्वंस' का अन्त नहीं होता, वह नित्य रहता है । किन्तु स्वर्ग निवासी पुरुषों को 'अहं दुःखी' यह अनुभव नहीं होता है । इसलिये यह चौथा विकल्प भी ठीक नहीं है । अतः 'दुःख' को सुखाभावरूप नहीं कह सकते । उसे पृथक् पदार्थ ही समझना उचित है ।

यह 'दुःख', जीवात्मा में 'समवाय सम्बन्ध' से रहता है । जीवात्मा से भिन्न

पृथिवी आदि जड़ वस्तुओं (द्रव्यों) में वह (दुःख गुण) नहीं रहता। और वह दुःख, उत्पत्ति-विनाशशील होने से अनित्य ही होता है। कोई भी दुःख नित्य नहीं होता है। उस दुःख का समवायिकारण—जीवात्मा है। और जीवात्मा के साथ जो मनःसंयोग है, वह उसका असमवायिकारण है। एवं अधर्म, हिंसक प्राणिवर्ग, शारीरिक-मानसिक अस्वस्थता, शीत-आतप आदि और देश-काल आदि 'दुःख' के निमित्तकारण होते हैं।

और दुःख का नाश, विभु आत्मा के योग्य विशेष गुण 'बुद्धि, सुख' गुण के समान स्वोत्तर उत्पन्न हुए 'ज्ञानादि' योग्य विशेष गुण से ही हुआ करता है। एवं च बुद्धि, सुख आदि गुण के समान 'दुःख' गुण भी द्विक्षणावस्थायी होता है।

अपने दुःख का 'अहं दुःखी' इस आकार में मानस प्रत्यक्ष होता है। और दूसरों के दुःख का मानस प्रत्यक्ष न होकर उनके मुखमालिन्यादि हेतुओं से अनुमान किया जाता है। अतः वह अनुमेय होता है। और वैषयिक, आभिमानिक, मानोरथिक, आभ्यासिक भेद से वह चार प्रकार का होता है।

(१९) राग इच्छा।

(१९) इच्छा-निरूपण—

राग इति। 'राग' का नाम ही इच्छा है।

माधुरी

इच्छाविशेष को ही 'राग' कहते हैं, उसी को **'चिकीर्षा'** भी कहते हैं। इच्छा-सामान्य का नाम 'राग' या 'चिकीर्षा' नहीं है। अभिप्राय यह है कि 'उत्कटेच्छा रागः'—अर्थात् 'उत्कट इच्छा' का नाम राग है। वह 'आत्मा' में ही रहता है। ईश्वर में नहीं रहता। अतएव 'ईश्वर' को वीतराग कहते हैं, उसे कोई भी 'रागवान्' नहीं कहता।

प्रश्न—इच्छासामान्य को ही 'राग' क्यों नहीं कहा जाता है?

उत्तर—इच्छासामान्य को 'राग' शब्द से कहने पर ईश्वर में भी इच्छासामान्य की विद्यमानता रहने से उसमें (ईश्वर में) रागित्व मानना होगा, जो श्रुति-स्मृति के विरुद्ध है। इसलिये इच्छासामान्य को 'राग' न कहकर 'उत्कट इच्छा' (विशेष इच्छा) को 'राग' कहा जाता है। तथा 'चिकीर्षा' भी इच्छाविशेष का ही नाम है। अत एव **'प्रवृत्तिहेतुरिच्छा चिकीर्षा'**—अर्थात् पुरुष की प्रवृत्ति में हेतुभूत इच्छाविशेष को चिकीर्षा कहते हैं—यह लक्षण किया जाता है। जैसे—'पाकं कृत्या साधयानि' अर्थात् इस पाक को मैं अपनी प्रयत्नात्मक कृति से सिद्ध करूँ—इस प्रकार की जो-जो कृतिसाध्यत्वप्रकारकपाकक्रियाविषयकइच्छाविशेष है—उसे चिकीर्षा कहते हैं। उस चिकीर्षा में तीन कारण होते हैं---(१) कृतिसाध्यताज्ञान, (२) इष्टसाधनताज्ञान

(३) बलवत् द्विष्टसाधनत्वज्ञान का अभाव। इन तीन कारणों के बिना 'चिकीर्षा (राग, या इच्छाविशेष) उत्पन्न नहीं होती। जैसे—पाककर्ता पुरुष (पाचक) मन में सोच लेता है कि 'अयं पाकः मत्कृतिसाध्यः' अर्थात् यह पाक, मेरी प्रयत्नात्मक-कृति से साध्य है इस प्रकार का कृतिसाध्यताज्ञान उसे पाकक्रिया के प्रति होता है, तथा 'अयं पाकः मदिष्टसाधनम्'—यह पाक मेरे इष्ट (सुख) का साधन है—इस प्रकार का इष्टसाधनताज्ञान उसे पाकक्रिया के प्रति होता है, और 'अयं पाको बलवद्द्विष्टसाधनं न'—अर्थात् प्रबलद्वेष के विषयभूत जो मरण दुःखादि हैं, उन बलवद्-द्विष्टों की साधनताज्ञान का अभाव, जब उसे होता है, तभी उस पाककर्ता पुरुष को उस पाकरूप क्रिया के प्रति चिकीर्षा (उत्कटइच्छारूप राग) होती है। उक्त तीन कारणों में से किसी एक का भी अभाव रहने पर चिकीर्षा नहीं होती है। एवं च तीनों ही चिकीर्षा के कारण हैं।

यदि केवल 'इष्टसाधनताज्ञान' को ही 'चिकीर्षा' (राग, उत्कटइच्छा) का कारण कहें तो पर्जन्य (वृष्टि) आदि कार्यों में सभी को 'इष्टसाधनताज्ञान' रहता है। तब उससे वृष्टि आदि कार्यों के प्रति लोगों को 'चिकीर्षा' होनी चाहिये, किन्तु उन वृष्टि आदि कार्यों प्रति किसी को भी चिकीर्षा नहीं होती, क्योंकि चिकीर्षा होती तो वृष्टि करने की प्रवृत्ति होती। 'प्रवृत्तिहेतुरिच्छा चिकीर्षा'—प्रवृत्ति के हेतुभूत इच्छविशेष को ही 'चिकीर्षा' कहा है। वृष्टि के प्रति जो इष्टसाधनताज्ञान है, उससे केवल इच्छामात्र होती है। अतएव चिकीर्षा में 'कृतिसाध्यताज्ञान' को भी कारण माना गया है। तब वृष्टि में किसी को भी कृतिसाध्यताज्ञान न होने से कृतिसाध्यता-ज्ञानरूप कारण का अभाव है, उस कारण वृष्टि आदि कार्यों में किसी को चिकीर्षा नहीं होती।

यदि केवल 'कृतिसाध्यताज्ञान' को ही 'चिकीर्षा' के प्रति कारण कहें तो 'जलताडनादि' व्यर्थक्रियाओं में सभी को कृतिसाध्यताज्ञान तो रहता ही है, फिर भी उन व्यर्थक्रियाओं के प्रति किसी सभ्य की चिकीर्षा नहीं होती। क्योंकि चिकीर्षा में 'इष्टसाधनताज्ञान और कृतिसाध्यताज्ञान' दोनों ज्ञान अपेक्षित रहते हैं। तब व्यर्थक्रियाओं में इष्टसाधनताज्ञान के न होने से किसी को उसमें चिकीर्षा नहीं होती। अब यदि उक्त दो ज्ञानों को ही 'चिकीर्षा' के प्रति कारण कहें तो 'मधुविषमिश्रित अन्न' के भक्षण में क्षुधातुर को चिकीर्षा होनी चाहिये, क्योंकि उसे मधुविषमिश्रित अन्नभक्षण के प्रति 'कृतिसाध्यताज्ञान' तथा 'इष्टसाधनता ज्ञान' दोनों हैं, तथापि उसे तादृश अन्नभक्षण के प्रति चिकीर्षा नहीं होती है। इससे प्रतीत होता है कि 'चिकीर्षा' के होने में 'बलवद् द्विष्टसाधनता-ज्ञानाभाव' भी कारण होता है। उसे कारण मानने से तादृश अन्नभक्षण में चिकीर्षा नहीं होती, क्योंकि उस मधुविषमिश्रितान्नभक्षण में प्रबलद्वेष के विषयभूत मरण की साधनता का ज्ञान ही

विद्यमान है। यहाँ पर बलवद् द्विष्टसाधनता ज्ञान का अभाव नहीं है। अतः 'बलवद्-द्विष्टसाधनताज्ञानरूपप्रतिबन्धक' के विद्यमान रहने से तादृश अन्नभक्षण में चिकीर्षा नहीं होती है। एवं च 'इच्छाविशेष' का नाम चिकीर्षा है, 'इच्छासामान्य' का नाम चिकीर्षा नहीं है।

यह 'इच्छा' नामक गुण समवायसम्बन्ध से 'आत्मा' में ही रहता है। अन्यत्र पृथिवी आदिद्रव्यों में नहीं रहता। 'बुद्धि' संज्ञक गुण के समान वह 'इच्छा' संज्ञक गुण भी (१) नित्य और (२) अनित्य के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें ईश्वर की 'इच्छासामान्य' उत्पत्ति-विनाश रहित होने से 'नित्य' होती है, एक होती है, और समस्त जगद्विषयक होती है। और जीवात्मा की इच्छा, उत्पत्ति-विनाशशाली होने से अनित्य होती है, नाना (अनेक) होती है, और यत्किञ्चिद्वस्तुविषयक होती है।

जीवात्मा की अनित्य इच्छा का 'जीवात्मा' ही समवायिकारण होता है। और 'आत्म-मनःसंयोग' उस इच्छा का असमवायिकारण होता है। ज्ञातवस्तु की ही इच्छा होती है, अज्ञात की नहीं। अतः तत्तद् वस्तु की 'इष्टता का ज्ञान (इष्ट-साधनताज्ञान), तत्तद् वस्तुविषयक इच्छा का 'निमित्तकारण' होता है। तथा अदृष्ट, ईश्वरादि भी निमित्तकारण होते हैं।

उस 'इच्छा' का विनाश, स्वोत्तर उत्पन्न होने वाले आत्मगत ज्ञानादिक योग्य-विशेषगुण से ही होता है। सुख-दुःख के समान यह इच्छा भी द्विक्षणावस्थायिनी होती है।

यह जीवात्मा की इच्छा (१) फलेच्छा और (२) उपायेच्छा के भेद से दो प्रकार की होती है। 'सुख और दुःखाभाव'—दोनों का नाम 'फल' है। 'मह्यं सुखं भूयात्'—मुझे सुख हो—इत्याकारक जो सुखस्वरूपफलविषयक इच्छा है, उसी तरह 'मम दुःखाभावो भूयात्'—मुझे दुःख का अभाव रहे—इत्याकारक जो दुःखाभावस्वरूप फलविषयक इच्छा है—इन दोनों प्रकार की इच्छाओं को 'फलेच्छा' कहते हैं। सुख की इच्छा में तथा दुःखाभाव की इच्छा में सुख-दुःखाभाव रूप फल का ज्ञान ही कारण होता है। 'फल' की इच्छा, फल के स्वरूप का ज्ञान होने मात्र से ही हो जाती है। भावात्मक और अभावात्मक भेद से 'फल' भी दो प्रकार का होता है। उनमें से 'सुख' तो भावात्मक फल है, और 'दुःखनिवृत्ति' अभावात्मक फल है।

दूसरी उपायेच्छा है। सुखरूप फल की प्राप्ति कराने वाले जो भोजनादिक उपाय हैं, तथा दुःखाभावरूप फल की प्राप्ति कराने वाले जो रसायनादि उपाय हैं, उन उपायों की जो इच्छा अर्थात् 'मम भोजनरसायनाद्युपायलाभो भवतु'—इत्याकारक इच्छा को 'उपायेच्छा' कहते हैं। इस उपायेच्छा के प्रति 'इष्टसाधनता-ज्ञान' ही कारण होता है। अर्थात् यह भोजन-रसायनादि उपाय, मेरे सुख-दुःखाभावरूप इष्ट के

साधन हैं—इत्याकारक इष्टसाधनताज्ञान से ही उन उपायों की इच्छा होती है। इष्टसाधनताज्ञान के बिना वह उपायेच्छा नहीं होती है। भावात्मक और अभावात्मक दोनों प्रकार के फलों के अतिरिक्त जितने भी कार्य हैं, वे सब साक्षात् अथवा परम्परया उक्त दोनों फलों के 'साधन' (उपाय) होते हैं। उन साधनों को प्राप्त करने की इच्छा, 'फलसाधनता' (इष्टसाधनता) के ज्ञान से होती है। इच्छा के बाद इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये 'प्रयत्न' किया जाता है। इस 'प्रयत्न' को 'प्रवृत्ति' कहते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति होने से 'इच्छा' का लक्षण **'इच्छामीत्यनुभवविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमती इच्छा'**—इस प्रकार से जातिघटित किया जाता है। अर्थात् 'अहमिच्छामि' इस प्रकार के अनुभव का जो विषय है, उस विषय में रहने वाली (वृत्ति), तथा 'गुणत्व' जाति की व्याप्य जो 'जाति', वह 'जाति' जिस 'गुण' में रहती हो, उस गुण को 'इच्छा' कहते हैं। 'अहमिच्छामि'—मैं इच्छावाला हूँ—इत्याकारक मानसप्रत्यक्षरूप अनुभव का विषय वह 'इच्छा' ही है। उस इच्छा में रहने वाली (वृत्ति), जो 'गुणत्वजाति', उसकी व्याप्य जाति 'इच्छात्व' ही होगी। वह 'इच्छात्वजाति' सभी इच्छाओं में 'समवाय'सम्बन्ध से रहती है। अतः लक्षणसमन्वय हो जाता है।

लक्षण में 'इच्छामीत्यनुभवविषयवृत्ति' पद को न रखें तो 'गुणत्वव्याप्य-जातिमती इच्छा' इतना ही लक्षण शेष रहेगा। तब 'गुणत्वजाति' के व्याप्य 'रूपत्वादिक' जातियों को लेकर 'रूपादिक' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'इच्छामीत्यनुभवविषयवृत्ति' पद का रखना आवश्यक है। तब रूपत्वादिक जातियाँ, उस 'इच्छामि' इत्याकारक अनुभव की विषयभूत 'इच्छा' में न रहने से 'रूपत्वादिक' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पायेगी।

अब यदि 'गुणत्वव्याप्य' पद को उस लक्षण में न रखें तो अनुभव की विषयभूत 'इच्छा' में रहने वाली 'गुणत्वजाति' को लेकर 'रूपादिक' सभी गुणों में तथा 'सत्ताजाति' को लेकर 'द्रव्य-गुण-कर्म' तीनों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। और 'इच्छामि' यह 'अनुभव' जैसे 'इच्छा' को विषय करता है, वैसे ही 'इच्छा' के आश्रयभूत 'आत्मा' को भी विषय करता है। उस 'आत्मा' में 'आत्मत्व, द्रव्यत्व, सत्ता' ये तीनों जातियाँ रहती हैं। इस कारण 'इच्छात्व' जाति के समान 'आत्मत्वादि' तीनों जातियाँ भी 'इच्छामि' इस अनुभव के विषय में रहती है। अतः 'आत्मा' में तथा द्रव्यत्वजाति को लेकर पृथिवी आदि द्रव्यों में और 'सत्ता' जाति को लेकर द्रव्य-गुण-कर्म' तीनों में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद का रखना आवश्यक है। तब 'गुणत्व, सत्ता, आत्मत्व, द्रव्यत्व' ये चारों जातियाँ 'उस 'गुणत्व' जाति की व्याप्य न होने से उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यह इच्छा ही मनुष्य को 'भोग' और 'मोक्ष' दिलाती है। मनुष्य जब सांसारिक विषयों की इच्छा करता है, और उसमें लिप्त रहता है, तब अन्त में दुःखी होता है। और जब अपने स्वरूप (आत्मस्वरूप) को यानी भगवत्स्वरूप को जानने की इच्छा करता है तब वह भगवत्सम्मुख होता है, और सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। अतएव किसी भक्त कवि ने कहा है—

'प्रसरति विषयेषु येषु रागः परिणमते विगतेषु तेषु शोकः।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते रुचिपरिणामशुचामगोचरोऽसि ॥

अर्थात् जिन सांसारिक विषयों में राग (इच्छा, आसक्ति) बढ़ता रहता है, उन विषयों का वियोग होने पर, वह 'राग' उसके शोक (दुःख) का कारण बन जाता है। अतः विषयों में राग करना उचित नहीं है, अपितु अतिकान्त (अतीव सुन्दर) भगवान् 'श्रीकृष्णचन्द्र' में ही राग करना उचित है। क्योंकि वह शाश्वत (नित्य) है। उसका वियोग होना कभी संभव ही नहीं है। उसमें किया हुआ 'राग' कभी भी शोक का कारण नहीं हो सकता।

(२०) क्रोधो द्वेषः।

(२०) क्रोधनिरूपण—

क्रोध इति। 'क्रोध' को ही द्वेष कहते हैं।

माधुरी

ग्रन्थकार ने 'क्रोधो द्वेषः'—यह 'द्वेष' का लक्षण किया है। यह 'आत्मा' का विशेष गुण है। वह 'दुःखद्वेष और दुःखसाधनद्वेष' के भेद से दो प्रकार होता है। उन दोनों की उत्पत्ति, उनके ज्ञान मात्र से होती है।

ग्रन्थकार के उक्त लक्षण का तात्पर्य उसके जातिघटितलक्षण में है। वहाँ जातिघटितलक्षण इस प्रकार होगा—**'द्वेष्मीत्यनुभवविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् द्वेषः'**— अर्थात् 'अहं द्वेष्मि'—मैं द्वेष करता हूँ—इस प्रकार के अनुभव का जो विषय, उसमें रहने वाली तथा 'गुणत्व' जाति की व्याप्यजाति से विशिष्ट (युक्त) जो 'गुण' उसे द्वेष कहते हैं। 'मैं द्वेष करता हूँ'—इस मानस प्रत्यक्षरूप अनुभव का विषय 'द्वेष' ही होता है। उस 'द्वेष' में रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य 'द्वेषत्वजाति' ही होगी। वह 'द्वेषत्वजाति' समवायसम्बन्ध से सभी द्वेषों में रहती है। इस प्रकार 'द्वेष' में लक्षण का समन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में 'द्वेष्मीत्यनुभवविषयवृत्ति' यह पद न रखें तो 'गुणत्व' के व्याप्य 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'द्वेष्मीत्यनुभवविषयवृत्ति' पद का रखना आश्वयक है। तब 'रूपत्वादि' जातियाँ 'द्वेष्मि' इस अनुभव के विषयभूत 'द्वेष' में न रहने से

'रूपत्वादि जातियों' को लेकर 'रूपादि' गुणों में अतिव्याप्ति नहीं हो पायेगी। अब यदि लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद को न रखें, तो 'द्वेष्मि' इस अनुभव के विषयभूत 'द्वेष' में रहने वाली 'गुणत्वजाति' को लेकर 'रूपादि' सभी गुणों में तथा 'सत्ता' जाति को लेकर 'द्रव्य, गुण, कर्म' तीनों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। जैसे 'द्वेष्मि' यह अनुभव 'द्वेषगुण' को विषय करता है, उसी तरह 'द्वेषगुण' के आश्रयभूत 'आत्मा' को भी वह विषय करता है। उस 'आत्मा' में 'आत्मत्व, द्रव्यत्व, सत्ता' ये तीनों जातियाँ रहती हैं। उन तीनों जातियों को लेकर यथाक्रम 'आत्मा' में तथा पृथिवी आदि द्रव्यों में तथा 'द्रव्य, गुण, कर्म' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद का रखना आवश्यक है। तब 'गुणत्व, सत्ता, आत्मत्व, द्रव्यत्व'—ये चारों जातियाँ, 'गुणत्व' जाति की व्याप्य न होने से 'गुणत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादिकों' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यह 'द्वेष' गुण, भी (इच्छा की तरह) समवायसम्बन्ध से केवल 'आत्मा' में ही रहता है। उसके अतिरिक्त पृथिवी आदि द्रव्यों में तथा 'ईश्वर' में वह नहीं रहता। और वह (द्वेष) उत्पत्ति-विनाशशील होने से सुख-दुःख के समान ही 'अनित्य' है। नित्य नहीं है।

'द्वेष' का समवायिकारण 'जीवात्मा' है, और 'आत्म-मनःसंयोग' उस द्वेष का 'असमवायिकारण' होता है, और 'दुःखज्ञान' तथा 'दुःखसाधनताज्ञान' और अदृष्ट, ईश्वर आदि उसके निमित्तकारण होते हैं। वह 'द्वेष गुण' भी 'विभु आत्मा' का 'योग्य विशेषगुण' होने से 'आत्मा' में 'स्वोत्तर उत्पन्न ज्ञानादि योग्य विशेष गुण' से उसका विनाश होता है। अतः सुख-दुःखादि के समान वह द्वेषगुण भी द्विक्षणावस्थायी होता है।

शंका—दुःखसाधनता के ज्ञान से भी यदि द्वेष होता है तो पाकादिकों में भी द्वेष होना चाहिये, क्योंकि पाक करने वाले (पाचक) पुरुष की आँखों को धुँए (धूम) से कितना कष्ट होता है, तथा गरमी के दिनों में अग्नि की उष्णता से कितना कष्ट होता है—इसका सभी को अनुभव है। तथापि पाक करने में प्रवृत्ति होती है, वह क्यों होती है?

समा०—दुःखसाधनता का ज्ञान होने पर भी 'पाकक्रिया' में उसे 'बलवदिष्ट-साधनता' का ज्ञान रहता है, उस कारण उसे 'पाकक्रिया' के प्रति 'द्वेष' नहीं होता है, क्योंकि 'बलवदिष्टसाधनता' का ज्ञान 'द्वेष' का प्रतिबन्धक होता है। एवं च 'पाक-क्रिया' में उसे दुःखसाधनता का ज्ञान रहने पर भी 'भोजनजन्यतृप्तिरूप' जो 'बल-वदिष्टसाधनता' का ज्ञान हो रहा है, उससे 'पाकक्रिया' के प्रति उसे द्वेष नहीं होता है। निष्कर्ष यह है कि 'द्वेष' के प्रति जैसे 'दुःखसाधनताज्ञान' कारण होता है, वैसे ही उसके (द्वेष के) प्रति 'बलवदिष्टसाधनता' के 'अभाव' का ज्ञान भी कारण होता

है। अतः 'बलवदिष्टसाधनताज्ञानाऽभाव' रूप 'कारण' के न रहने से 'पाकक्रिया' के प्रति लोगों को द्वेष नहीं होता है।

जैसे 'इच्छाविशेष' का नाम 'राग' यानी 'चिकीर्षा' है, वैसे ही 'द्वेषविशेष' का नाम 'क्रोध' है। 'द्वेषसामान्य' का नाम 'क्रोध' नहीं है। यदि 'द्वेषसामान्य' को ही 'क्रोध' कहा जाय तो 'नरक' आदि के प्रति 'द्वेष' के समान 'क्रोध' भी होना चाहिये। परन्तु केवल द्वेष ही उसके प्रति रहता है, क्रोध नहीं।

(२१) उत्साहः प्रयत्नः।

बुद्धयादयः षट् मानसप्रत्यक्षाः।

(२१) प्रयत्ननिरूपण—

उत्साह इति। उत्साह को 'प्रयत्न' कहते हैं।

बुद्धयादय इति। (१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न—इन छह गुणों का मानसप्रत्यक्ष होता है। ये बुद्धि आदि छह गुण 'आत्मा' के हैं।

माधुरी

'उत्साह' का ही दूसरा नाम 'प्रयत्न' है। उसके नित्य-अनित्य के भेद से दो प्रकार हैं। उनमें ईश्वर के 'प्रयत्न' को 'नित्य' कहा जाता है, वह 'एक' और 'सर्व विषयक' होता है। 'अनित्य प्रयत्न' भी 'प्रवृत्ति, निवृत्ति, और जीवनयोनि' के भेद से तीन प्रकार का होता है। उनमें से 'प्रवृत्ति' राग से हुआ करती है। 'निवृत्ति' द्वेष से होती है और 'जीवनयोनि' अदृष्ट (प्रारब्धकर्म) से होती है।

उत्साहरूप 'प्रयत्न' का जातिघटितलक्षण **'करोमीत्यनुभवविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्य-जातिमान् प्रयत्नः'**—किया जा सकता है। अर्थात् 'प्रयत्नरूपकृतिमानहम्'—मैं प्रयत्न-रूप कृतिवाला हूँ—इत्याकारक अनुभव के विषय में रहने वाली तथा गुणत्वजाति की व्याप्य जो जाति, वह (जाति) जिस गुण में रहती हो, उस गुण को 'प्रयत्न' कहते हैं। 'करोमि'-इत्याकारक मानसप्रत्यक्षरूप अनुभव 'कृतिरूप प्रयत्न' को ही विषय करता है। इस कारण 'प्रयत्न' को उस अनुभव का 'विषय' कहते हैं। उस प्रयत्न में रहने वाली तथा गुणत्वजाति की व्याप्य 'प्रयत्नत्व' जाति ही होगी। वह 'प्रयत्नत्व' जाति समवायसम्बन्ध से सभी 'प्रयत्नों' में रहती है। अतः लक्षण का समन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में 'करोमीत्यनुभवविषयवृत्ति' पद को यदि नहीं रखेंगे, तो 'गुणत्व-जाति' के व्याप्य 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अति-व्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ 'करोमीत्यनुभवविषयवृत्ति' पद को लक्षण में रखना आवश्यक है। तब 'रूपत्वादि' जातियाँ 'करोमि' इत्याकारक अनुभव के विषयभूत 'प्रयत्न' में नहीं रहतीं हैं। इसलिये 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अब यदि 'गुणत्वव्याप्य' पद को लक्षण में न रखें, तो 'करोमि' इत्याकारक अनुभव के विषयभूत प्रयत्न में रहने वाली गुणत्वजाति को लेकर रूपादि सभी गुणों में तथा सत्ताजाति को लेकर द्रव्य, गुण, कर्म में अतिव्याप्ति होगी। 'करोमि'—यह अनुभव जैसे 'प्रयत्न' को विषय करता है, वैसे ही 'प्रयत्न' के आश्रयभूत 'आत्मा' को भी विषय करता है। इसलिये 'प्रयत्न' के समान 'आत्मा' भी 'अनुभव' का विषय होता है। 'आत्मा' में 'आत्मत्व, द्रव्यत्व, सत्ता'—ये तीनों जातियाँ रहती हैं। इन तीनों जातियों को लेकर यथाक्रम 'आत्मा' में तथा 'पृथिवी' आदिक द्रव्यों में तथा 'द्रव्य, गुण, कर्म' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' को 'जाति' का विशेषण बनाना चाहिये। 'गुणत्व, सत्ता, आत्मत्व, द्रव्यत्व'—ये 'चारों जातियों', गुणत्वजाति की व्याप्य न होने से उन 'गुणत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यह 'प्रयत्नगुण,' समवायसम्बन्ध से आत्मा (संज्ञक द्रव्य) में ही रहता है। उससे भिन्न 'पृथिवी' आदि द्रव्यों में नहीं रहता। इसी 'प्रयत्न' को 'कृति' भी कहा करते हैं, यानी 'प्रयत्न' का ही दूसरा नाम 'कृति' है। यह 'प्रयत्नगुण' भी पूर्वोक्त 'बुद्धि, इच्छागुण' के समान 'नित्य, अनित्य' के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से ईश्वर का 'प्रयत्न', उत्पत्ति-विनाशरहित होने से 'नित्य' माना जाता है, तथा 'एक', और 'सर्वजगद्विषयक' होता है। किन्तु 'जीवात्मा' का प्रयत्न, उत्पत्ति-विनाशशील होने से 'अनित्य' माना जाता है, तथा 'नाना' (अनेक) और 'यात्किञ्चिद्वस्तुविषयक' होता है।

जीवात्मा में रहने वाले 'अनित्य प्रयत्न' का 'समवायिकारण' वह जीवात्मा ही होता है। और उस जीवात्मा के साथ 'मन' का जो 'संयोग-सम्बन्ध' है, वह (आत्म-मनःसंयोग) उसका (अनित्यप्रयत्न का) 'असमवायिकारण' होता है। तथा 'इष्ट-साधनताज्ञान' और अदृष्ट, ईश्वरादि उसके निमित्तकारण होते हैं।

उस अनित्यप्रयत्न का विनाश तो आत्मा में स्वोत्तर उत्पन्न हुए जो ज्ञानादि विशेषगुण हैं, उनके द्वारा ही होता है। अतः सुख, दुःख आदि के समान वह 'प्रयत्न' भी 'द्विक्षणावस्थायी' होता है।

जीवात्मा का वह 'अनित्यप्रयत्न' भी **'प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि'** के भेद से तीन प्रकार का होता है। उन तीनों में से 'प्रवृत्तिरूपप्रयत्न' का लक्षण इस प्रकार होगा—**'रागजन्यो गुणः प्रवृत्तिः'**—अर्थात् उत्कट इच्छारूप 'राग' से जन्य जो गुण है, उसे 'प्रवृत्ति' कहते हैं। जिस 'वस्तु' में उत्कट राग होता है उसी 'वस्तु' के ग्रहण में प्रवृत्ति हुआ करती है। 'राग के बिना किसी की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती'—यह नियम है। एवं च 'प्रवृत्ति' रागजन्य है—यह सिद्ध होता है।

उक्त लक्षण में यदि 'रागजन्यः' पद न रखें, तो 'रूपादिगुणों' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थं 'रागजन्यः' पद को अवश्य रखना होगा। तब 'रूपादि-गुण' रागजन्य न होने से उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब लक्षण में यदि 'गुणः' पद न रखें तो 'राग के ध्वंस' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'रागध्वंस' भी अपने प्रतियोगी 'राग' से ही जन्य होता है। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थं लक्षण में 'गुणः' पद को रखना आवश्यक है। तब 'रागध्वंस' में गुणरूपता के न होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—तथापि इच्छारूप 'राग' के प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि विषय के बिना 'प्रत्यक्ष' ज्ञान होता नहीं। अतः राग का प्रत्यक्ष ज्ञान विषय राग से जन्य है—और वह 'गुण' भी है। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ **'रागजन्यो रागाऽविषयकगुणः प्रवृत्तिः'**—यह लक्षण कर देंगे। अर्थात् लक्षणगत गुण' का विशेषण 'रागाऽविषयक' को बना देंगे। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि 'राग' का प्रत्यक्ष-ज्ञान 'रागाऽविषयक' नहीं है, अपितु 'रागविषयक' ही है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

उसी प्रकार 'निवृत्ति' रूप प्रयत्न का लक्षण—**'द्वेषजन्यो द्वेषाऽविषयकगुणः निवृत्तिः'** किया जायगा। अर्थात् 'द्वेष' से जन्य तथा 'द्वेष' को विषय न करने वाला जो 'गुण' उसे निवृत्ति कहते हैं। जिस पदार्थ (वस्तु) से द्वेष रहता है, उस पदार्थ से 'निवृत्ति' हुआ करती है। द्वेष के बिना निवृत्ति नहीं होती। अतः 'निवृत्ति' द्वेषजन्य है। लक्षणोक्त 'द्वेषजन्य' पद, 'रूपादिगुणों' में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ है। और 'द्वेषाऽ-विषयक' पद, उसके 'प्रत्यक्षज्ञान' में अतिव्याप्ति के निरासार्थ है। तथा 'गुणः' पद 'द्वेषध्वंस' में अतिव्याप्ति के निरासार्थ है।

अब 'जीवनयोनि' प्रयत्न का लक्षण होगा—**'जीवनाऽदृष्टजन्यो गुणः जीवन-योनिः'**—अर्थात् जीवन के कारणभूत 'पाप-पुण्य' रूप अदृष्ट से जन्य 'गुण' को 'जीवनयोनिप्रयत्न' कहते हैं। यह जीवनयोनिप्रयत्न, शरीर में श्वासोच्छ्वासादिरूप 'प्राणसंचार' में कारण होता है। किसी भी प्राणी का जितने काल तक जीवन-रहता है, उतने कालतक यह 'जीवनयोनिप्रयत्न' रहता है। जैसे 'प्रवृत्ति-निवृत्ति' रूप प्रयत्न का मानस प्रत्यक्ष होता है, वैसे इस 'जीवनयोनिप्रयत्न' का मानसप्रत्यक्ष नहीं होता। अपितु धर्म-अधर्म के समान यह 'जीवनयोनिप्रयत्न' अतीन्द्रिय होता है। इस 'अतीन्द्रिय जीवनयोनिप्रयत्न' का प्राणसंचाररूप कार्य से अनुमान किया जाता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार किया जाता है—'प्राणसञ्चारः प्रयत्नसाध्यः प्राणसञ्चारत्वात् धावतः पुरुषस्य प्राणसञ्चारवत्'—अर्थात् प्राणों का श्वासक्रियारूप सञ्चार, 'प्रयत्न-साध्य' होता है, क्योंकि 'प्राणसञ्चार' होने से। जो-जो प्राणसञ्चार होता है, वह प्रयत्न-साध्य ही होता है। जैसे वेग (तेजी) से दौड़ने वाले का प्राणसञ्चार, 'प्रयत्न' से साध्य होता है। अभिप्राय यह है कि अतिवेग (अत्यन्त तेजी) से दौड़ने वाले व्यक्ति

के प्रयत्न की अधिकता से 'श्वासक्रिया' की अधिकता होती दिखाई देती है। इसलिये अधिक प्राणसञ्चार में अधिक प्रयत्न की कारणता अनुभवसिद्ध है। अधिकप्राणसञ्चार के दृष्टान्त से प्राणसञ्चारमात्र में 'प्रयत्नसाध्यता' का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु अधिक प्रयत्न के बिना ही स्वभावसिद्ध जो 'प्राणसञ्चार' है, उसके लिये—कोई 'प्रत्यक्षप्रयत्न' तो कारण है नहीं। इसलिये उस स्वभावसिद्ध प्राणसञ्चार का कारण यह अतीन्द्रिय जीवनयोनिप्रयत्न ही है—यह सिद्ध होता है।

नवीन नैयायिकों का कहना है 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' ये दो प्रकार के ही प्रयत्न होते हैं। तीसरे 'जीवनयोनिप्रयत्न' की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। शरीर में होने वाला स्वभावसिद्ध श्वासोच्छ्वासादि क्रियारूप जो प्राणसञ्चार है, उसमें तो 'अदृष्टविशेषप्रयोज्य-जीवन' ही कारण होता है। अथवा उस जीवन के प्रयोजक 'अदृष्टविशेष' को ही कारण कहा जा सकता है। इसलिये प्राणसञ्चार के कारणरूप में 'जीवनयोनिप्रयत्न' की कल्पना करना व्यर्थ है। देहसहित 'आत्मा' का 'मन' के साथ जो 'संयोग सम्बन्ध' है, उसी को 'जीवन' कहते हैं।

प्राचीन नैयायिकों ने 'जीवनयोनिप्रयत्न' के साधनार्थ जो अनुमान प्रयोग उपस्थित किया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि किसी के 'अधिकप्राणसञ्चार' में उसके 'अधिकप्रयत्न' की जन्यता को देखकर, उसके दृष्टान्त से 'समस्तप्राणसञ्चारमात्र' को 'प्रयत्नजन्य' कह देना उचित नहीं है। अन्यथा 'प्रवृत्तिरूपप्रयत्न' को 'इष्ट-साधनताज्ञानजन्य' देखकर, उसके दृष्टान्त से भी समस्त प्रयत्नमात्र को 'इष्टसाधनता-ज्ञानजन्य' मानना होगा। और सुषुप्ति अवस्था में भी उस 'जीवनयोनिप्रयत्न' के हेतुभूत किसी अतीन्द्रियज्ञान की भी कल्पना करनी होगी। किन्तु ऐसी कल्पना करना तो प्राचीनों को भी मान्य नहीं है। इसलिये 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' दो ही प्रकार के प्रयत्नों को मानना चाहिये।

'प्रवृत्तिरूप प्रयत्न' में (१) चिकीर्षा, (२) कृतिसाध्यताज्ञान, (३) इष्ट-साधनताज्ञान, (४) उपादान का प्रत्यक्ष--ये चारों कारण होते हैं। इन चार कारणों के बिना प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। जैसे कुलाल जब यह विचारता है कि 'घट को मैं अपनी प्रयत्नरूप कृति से निर्माण करूँ'—अर्थात् 'घटं कृत्या साधयामि' इत्याकारक 'कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छारूप चिकीर्षा' जब उसे होती है, तथा यह 'घट,' मेरे प्रयत्नरूपकृति से सिद्ध (निर्मित-निर्माण) होने योग्य है, अर्थात् 'अयं घटः मत्कृति-साध्यः'—इत्याकारक 'कृतिसाध्यताज्ञान' उसे होता है, तथा 'यह घट, मेरे इष्ट का साधन है', अर्थात् 'अयं घटः मदिष्टसाधनम्'—इत्याकारक 'इष्टसाधनताज्ञान' जब उसे होता है, तथा यह घट मृत्तिका से उत्पन्न होगा, अर्थात् 'अयं घटः मृत्तिकया निर्मितो भवेत्'—इस प्रकार से 'घट' के समवायिकारणरूप 'उपादान' का ज्ञान होता है, तभी वह कुलाल 'घट' के निर्माण में प्रवृत्त होता है। उपर्युक्त चिकीर्षा आदि

कारणों के विना उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। एवं च किसी भी चेतन प्राणी की जिस किसी भी कार्य में प्रवृत्ति होती है तव उक्त चार कारणों से ही हुआ करती है।

शंका—'प्रवृत्ति' में कृतिसाध्यताज्ञान, इष्टसाधनताज्ञान के समान ही 'यह कार्य, मेरे बलवान् अनिष्ट का अजनक (जनक-उत्पादक नहीं) है, अर्थात् 'वलवद-निष्टाऽननुवन्धित्वज्ञान' को भी उसमें कारण मानना चाहिये। यदि उसे कारण नहीं मानेंगे तो क्षुधातुर व्यक्ति की मधुविषसंयुक्त अन्न के भोजन में भी प्रवृत्ति होनी चाहिये। जब कि उस व्यक्ति को उस 'अन्नभोजन' में कृतिसाध्यताज्ञान तथा इष्ट-साधनताज्ञान-दोनों ही हैं।

समा०—'बलवदनिष्टाननुवन्धित्वज्ञान,' तो 'चिकीर्षा' में ही कारण हुआ करता है। क्षुधातुर व्यक्ति को 'मधुविषसम्पृक्त अन्न' भोजन में 'मरणरूप बलवदनिष्ट-जनकत्वज्ञान' ही है, उसी कारण उस मधुविषसम्पृक्त अन्न के भोजन में उसकी 'चिकीर्षा' नहीं होती। उसके भोजन में उसे 'बलवदनिष्टाननुवन्धित्वज्ञान' नहीं है, यदि यह ज्ञान होता, तो उस भोजन में उसे 'चिकीर्षा' अवश्य होती। एवं च चिकीर्षा-रूप कारण के न होने से उसकी उस भोजन में प्रवृत्ति नहीं होती। अतः 'बलवद-निष्टाऽननुवन्धित्वज्ञान' (बलवत् अनिष्टाऽजनकत्वज्ञान) भी प्रवृत्ति के प्रति स्वतन्त्र कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि यदि प्रवृत्ति के प्रति 'बलवदनिष्टाऽननुवन्धित्व-ज्ञान' को स्वतन्त्ररूप से कारण न मानकर केवल 'चिकीर्षा' में ही उसे कारण कहोगे, तो पूर्वोक्त 'कृतिसाध्यताज्ञान' तथा 'इष्टसाधनताज्ञान' इन दोनों को भी 'प्रवृत्ति' के प्रति कारण न मानकर केवल 'चिकीर्षा' के प्रति ही कारण मान लीजिये। किन्तु आपने वैसा नहीं माना है। अतः कृतिसाध्यत्व, इष्टसाधनत्व के समान ही वलवद-निष्टाननुबन्धित्वज्ञान को भी प्रवृत्ति के प्रति कारण मानना ही उचित होगा।

शंका—कार्यसाध्यकप्रवृत्ति में यदि उस कार्य के समवायिकारण रूप उपादान के प्रत्यक्ष को कारण माना जाय तो मृदङ्गवादक की मृदङ्गवादन में शब्दसाध्यकप्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि 'शब्द' के समवायिकारण 'आकाश' का किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता है। तथापि शब्दोत्पत्ति करने के लिये मृदङ्गवादक की मृदङ्गवादन में प्रवृत्ति तो होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'उपादानकारण' का प्रत्यक्ष, प्रवृत्ति के प्रति कारण नहीं है। अतः उपादान के प्रत्यक्ष करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किञ्च—प्रवृत्ति के प्रति यदि उपादान के प्रत्यक्ष को कारण कहें तो 'ध्वंस' कार्य का कोई भी 'उपादानकारण' नहीं हुआ करता। वह (ध्वंसात्मककार्य) तो केवल 'निमित्तकारण' से ही उत्पन्न होता है। उस कारण किसी की 'ध्वंससाध्यक प्रवृत्ति' भी नहीं होगी। किन्तु घटादिपदार्थों के ध्वंस करने की प्रवृत्ति तो हुआ करती है! अतः कहना होगा कि उपादान का प्रत्यक्ष, 'प्रवृत्ति' के प्रति कारण नहीं होता है।

समा०—मृदङ्गवादक की मृदङ्गवादन में जो प्रवृत्ति होती है, वह, 'शब्द' को उत्पन्न करने के लिये नहीं है, अपितु 'शब्द' के श्रावणप्रत्यक्षरूप साक्षात्कार के लिये होती है। इसलिये उसकी प्रवृत्ति को शब्दसाध्यक नहीं कह सकते। अपितु उसे शब्दसाक्षात्कारसाध्यक कहना चाहिये। उस 'शब्दसाक्षात्कार' का समवायिकारण 'आत्मा' है। उस आत्मा का मानसप्रत्यक्ष सभी को होता है। उसी प्रकार घटध्वंस में जो प्रवृत्ति होती है, वह भी ध्वंससाध्यक न होकर 'ध्वंस-साक्षात्कारसाध्यक' होती है। उस ध्वंससाक्षात्कार का समवायिकारण 'आत्मा' है। उस आत्मा का मानसप्रत्यक्ष सभी को हुआ करता है। इसलिये प्रवृत्तिमात्र में 'उपादानकारण' का प्रत्यक्ष, 'कारण' हुआ करता है। अतः उक्त नियम का कहीं पर भी व्यभिचार नहीं है। उक्त नियम में नवीन नैयायिकों के अनुसार 'उपादान' पद से 'समवायिकारण' का ग्रहण न कर 'अधिष्ठानमात्र' का ग्रहण किया जाता है। उस कारण 'कार्य' की अधिष्ठानता जैसे 'समवायिकारण' में रहती है, वैसे अन्य पदार्थों में भी रहती है। जैसे 'घट' कार्य की अधिष्ठानता अपने समवायिकारण 'कपाल' में रहती है, उसी तरह 'भूतल' में भी रहती है। उसी प्रकार मृदङ्गाद्यवच्छिन्न आकाश में उत्पद्यमान 'शब्द,' समवायसम्बन्ध से 'आकाश' में और 'अवच्छेदकता' सम्बन्ध से 'मृदङ्ग' में भी रहता है। इसलिये 'मृदङ्ग' भी उस शब्द का अधिष्ठान है। उस मृदङ्ग का चक्षु और त्वगिन्द्रिय से सभी को प्रत्यक्ष होता ही है। अतः शब्दसाध्यकप्रवृत्ति में 'मृदङ्गादि' अधिष्ठान का प्रत्यक्ष और ध्वंससाध्यक प्रवृत्ति में 'ध्वंस' के अधिष्ठान का प्रत्यक्ष ही कारण होता है।

जलताडन जैसे निष्फल क्रिया के करने में 'कृतिसाध्यता' का ज्ञान रहने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये 'प्रवृत्ति' में 'इष्टसाधनताज्ञान' को कारण माना गया है। और प्रयत्नरूप 'कृति' से असाध्य ऐसे वृष्टि तथा सुवर्णमय सुमेरुपर्वत के शिखर के आहरण में इष्टसाधनता का ज्ञान रहने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये 'प्रवृत्ति' के प्रति 'कृतिसाध्यता' ज्ञान को कारण माना गया है। और मधु-विषसम्पृक्त अन्न के भोजन में क्षुधातुर को कृतिसाध्यता ज्ञान तथा इष्टसाधनताज्ञान रहने पर भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये प्रवृत्ति के प्रति 'बलवदनिष्टाऽननुबन्धित्व' ज्ञान को कारण माना गया है। एवं च 'कृतिसाध्यताज्ञान,' 'इष्टसाधनताज्ञान,' और 'बलवदनिष्टाऽननुबन्धित्वज्ञान'—ये तीनों ही 'प्रवृत्ति' के प्रति कारण होते हैं। तथापि मीमांसकों के कथनानुसार 'कृतिसाध्यत्वधर्म' के घटक 'कृति' का, और 'इष्टसाधनत्वधर्म' के घटक 'इच्छा' का तथा 'बलवदनिष्टाऽजनकत्व' धर्म के घटक 'द्वेष' का 'वर्तमानकालवृत्तित्व के बोधनार्थ 'इदानीन्तन' यह विशेषण जोड़ देना चाहिये। अर्थात् 'इदानीन्तनकृतिसाध्यताज्ञान', इदानीन्तन इष्टसाधनताज्ञान, और इदानीन्तन बलवदनिष्टाऽजनकत्वज्ञान को 'प्रवृत्ति' में कारण मानना चाहिये।

किन्तु प्रभाकर मीमांसक का कहना है कि जिस कार्य में प्रवृति होती है, उस कार्य में 'वलवत् अनिष्टाऽजनकत्व' को विषय करने वाले 'इष्टसाधनताज्ञान' से जन्य जो 'कृतिसाध्यताज्ञान' है, वही 'चिकीर्षा' द्वारा 'कार्यसाध्यक प्रवृत्ति' में कारण होता है। अतः 'प्रवृत्ति' के प्रति 'इष्टसाधनताज्ञान' को तथा 'वलवदनिष्टाऽननुबन्धित्व-ज्ञान' (वलवदनिष्टाऽजनकत्वज्ञान) को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। प्रभाकर एक अनुमान प्रयोग करते हैं—'पाकः मत्कृतिसाध्यः मत्कृतिं विनाऽसत्त्वे सति मद्वलवदनिष्टाऽजनकेष्टसाधनत्वात् भोजनादिवत्'—अर्थात् यह पाक, मेरे प्रयत्नरूप कृति से साध्य है, मेरे कृति के विना असिद्ध होता हुआ और मेरे प्रबल अनिष्ट का अजनक होता हुआ मेरे इष्ट का साधन होने से। जो भी कार्य, मेरी कृति के विना असिद्ध रहता हुआ तथा मेरे वलवान् अनिष्ट का अजनक होता हुआ मेरे इष्ट का साधन होता है, वह कार्य, मेरे कृतिरूप प्रयत्न से अवश्य ही साध्य होता है। जैसे भोजनादि कार्य। इस प्रकार पाकादि लौकिक कार्यों में तथा यागादि वैदिककर्मों में 'वलवदनिष्टाऽजनक इष्टसाधनत्वरूप हेतु' से कृतिसाध्यता की अनुमिति होती है। अतः मुख्यतया कृतिसाध्यताज्ञान ही चिकीर्षा द्वारा पाक-यागादिसाध्यक प्रवृत्ति में कारण (हेतु) होता है। इसके अतिरिक्त अन्य को कारण मानना व्यर्थ है।

इस पर नैयायिक कहता है कि प्रभाकर मीमांसक का कथन उचित नहीं है। क्योंकि वलवदनिष्टाऽजनकत्व (वलवदनिष्टाऽननुबन्धित्व) विशिष्ट इष्टसाधनता-ज्ञान से जन्य कृतिसाध्यताज्ञान को 'प्रवृत्ति' के प्रति कारण मानने में अतिगौरव दोष होगा। अतः प्रवृत्ति के प्रति उक्त तीन ज्ञान ही कारण होते हैं।

जैसे 'द्वेषविशेष' को क्रोध कहा है, वैसे ही 'प्रयत्नविशेष' को उत्साह कहा गया है। प्रयत्नसामान्य को 'उत्साह' नहीं कहते। **'सुखविशेषजनकीभूतकर्मविषयकः प्रयत्न उत्साहः**—यह उत्साह का लक्षण है। अर्थात् सुखविशेष के जनक कर्म को विषय करने वाले प्रयत्न को 'उत्साह' कहते हैं।

बुद्धि आदि ६ गुणों अर्थात् (१) बुद्धि (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न—का मानस प्रत्यक्ष होता है। ये छहों गुण, 'आत्मा' में उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'बुद्धि' शब्द से 'निर्विकल्पक' भिन्न 'सम्पूर्ण जन्यज्ञान' समझना चाहिये।

(२२–२३) धर्माऽधर्मौ सुखदुःखयोरसाधारणकारणे। तौ चाप्रत्यक्षावप्या-गमगम्यावनुमानगम्यौ च। तथाहि देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्तविशेषणजन्यं कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वात्। देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत्। यश्च शरीरादिजनक आत्मविशेषगुणः स एव धर्मोऽधर्मश्च। प्रयत्नादीनां शरीरा-द्यजनकत्वादिति।

(२२–२३) धर्म और अधर्म का निरूपण—

धर्माऽधर्माविति । 'धर्म और अधर्म'—दोनों 'आत्म' निष्ठ सुख-दुःख के असाधारण कारण हैं। वे दोनों 'प्रत्यक्ष' के विषय न रहने पर भी 'आगम' तथा 'अनुमान' से गम्य होते (जाने जाते) हैं। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—**तथा हीति ।** 'देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्तविशेषगुणजन्यं, कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वात् । देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत्' । अर्थात् देवदत्त के शरीर आदि, देवदत्त के विशेषगुण 'धर्म-अधर्म' से जन्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वे 'कार्य' होते हुए उसके (देवदत्त के) भोग के हेतु (कारण) हैं (हेतु), जैसे—देवदत्त के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली कोई वस्तु होती है (उदाहरण)। **यश्चेति ।** जो शरीरादि का जनक 'आत्म-विशेषगुण' है, उसी को 'धर्म-अधर्म' कहते हैं। क्योंकि उनसे भिन्न 'प्रयत्न' आदि जो गुण हैं, वे तो 'शरीर' आदि के जनक (उत्पादक) नहीं होते।

माधुरी

ग्रन्थकार ने **'सुखाऽसाधारणकारणं धर्मः'**, और **'दुःखाऽसाधारणकारणम् अधर्मः'**—के अभिप्राय से ही 'धर्माऽधर्म' का सम्मिलितलक्षण 'सुख-दुःखयोरसाधारणकारणे' कह दिया है। अर्थात् 'सुख' के असाधारण कारण को 'धर्म' और दुःख के असाधारण कारण को 'अधर्म' कहते हैं। सुख की प्राप्ति धर्म से ही होती है। उसके बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतः 'सुख के असाधारणकारणत्व' रूप धर्म के लक्षण का समन्वय हो जाता है।

उक्त धर्मलक्षण में 'असाधारण' पद न रखें तो, 'काल, दिक्, ईश्वर' आदि साधारण-कारणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वे 'काल' आदि, 'कार्यमात्र' के प्रति कारण होते हैं, इसलिये वे तो 'सुख' रूप कार्य के प्रति भी कारण हैं। अतः उनमें अति-व्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'असाधारण' पद का रखना आवश्यक है। 'कालादिक', उस सुखादि कार्य के प्रति कारण रहने पर भी वे 'सुख' के असाधारण कारण नहीं हैं, अपितु साधारण कारण हैं। इसलिये कालादिकों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—कामी पुरुष को कामिनी के दर्शन-स्पर्शनादि से भी 'सुख' की प्राप्ति होती है। वे दर्शन-स्पर्शनादि भी धर्म के समान ही 'सुख' के असाधारण कारण हैं। अतः दर्शन-स्पर्शनादिकों में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसीलिये पूर्वोक्त धर्म-लक्षण अतिव्याप्तिदोष से दूषित होने से दुष्ट है। ऐसे दुष्टलक्षण से 'धर्म' की सिद्धि नहीं हो सकती।

समा०—अतिव्याप्ति न हो सके ऐसा जातिघटित लक्षण कर रहे हैं—**'यागजन्य-स्वर्गजनकवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् धर्मः'**—अर्थात् याग से जन्य तथा स्वर्ग की जनक

जो वस्तु, उसमें रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य जाति से युक्त जो 'गुण' हो, उसको धर्म कहते हैं। जैसे—ब्राह्मणादित्रैवर्णिक अधिकारी कोई व्यक्ति 'याग' का अनुष्ठान करता है, तब उस अनुष्ठित याग से 'धर्म' (अपूर्व) उत्पन्न होता है, जो उस व्यक्ति के 'आत्मा' में रहता है। उस धर्म से उस व्यक्ति को स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है। वह 'धर्म' याग से जन्य भी है, तथा 'स्वर्ग' का जनक भी है। ऐसे धर्म में रहने वाली तथा गुणत्वजाति की व्याप्य 'धर्मत्वजाति' है। वह सभी धर्मों में समवायसम्बन्ध से रहती है। अतः इस निर्दुष्ट धर्मलक्षण का समन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में यदि 'गुणत्वव्याप्यजातिमान् धर्मः' इतना ही अंश रखें, और पूर्व अंश को न रखें तो 'गुणत्वजाति' के व्याप्य रूपत्वादिजातियों को लेकर 'रूपादि-गुणों' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'स्वर्गजनकवृत्ति' इतने अंश को भी रखना आवश्यक है। तब 'रूपादिगुण' स्वर्ग के जनक न होने से उन गुणों में रहने वाली 'रूपत्वादि' जातियाँ 'स्वर्ग' जनकवृत्ति नहीं होती। इसलिये रूपत्वादि-जातियों को लेकर 'रूपादिगुणों' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। अब यदि 'स्वर्गजनकवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् धर्मः'----इतना ही लक्षण करें अर्थात् लक्षण में 'यागजन्य' पद न रखें तो 'संयोगत्वजाति' को लेकर 'संयोग' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि उस यागानुष्ठाता पुरुष के 'शरीर' के साथ जो गंगाजल का 'संयोग' है, वह भी 'स्वर्ग' का जनक हो सकता है। उस स्वर्गजनक संयोग में रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य 'संयोगत्वजाति' है। उस संयोगत्वजाति को लेकर 'सयोग' में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'यागजन्य' पद को देना आवश्यक है। तब गंगाजल का 'संयोग' स्वर्गजनक रहने पर भी वह 'याग-जन्य' न रहने से 'संयोग' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। अब यदि 'यागजन्यवृत्ति-गुणत्वव्याप्यजातिमान् धर्मः'—इतना ही लक्षण करें, अर्थात् लक्षण में 'स्वर्गजनक' पद न दें तो 'याग के प्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि कोई भी प्रत्यक्षज्ञान, 'विषय' के विना उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये 'याग' का प्रत्यक्षज्ञान 'यागरूप विषय' से जन्य ही कहना होगा। ऐसे यागजन्यप्रत्यक्षज्ञान में रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य 'प्रत्यक्षत्वजाति' होगी। उस 'प्रत्यक्षत्वजाति' को लेकर 'यागविषयक प्रत्यक्ष' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'स्वर्गजनक' पद का रखना आवश्यक है। तब वह 'यागविषयकप्रत्यक्षज्ञान' याग से जन्य रहने पर भी 'स्वर्ग' का जनक नहीं है। इसलिये याग के प्रत्यक्ष में रहने वाली 'प्रत्यक्षत्व' जाति को लेकर 'यागविषयक प्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि 'यागजन्यस्वर्गजनकवृत्तिजातिमान् धर्मः'—इतना ही लक्षण करें, उसमें 'गुणत्व-व्याप्य' पद न दें तो यागजन्य तथा स्वर्ग के जनक 'धर्म' में रहने वाली 'गुणत्व-जाति' को लेकर 'रूपादि सभी गुणों' में था 'सत्ताजाति' को लेकर 'द्रव्य-गुण-कर्म'

में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद को लक्षण घटक 'जाति' का विशेषण बना देना चाहिये। तब 'गुणत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति' उस 'गुणत्वजाति' की व्याप्य न होने से 'गुणत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति' को लेकर रूपादिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब 'यागजन्यस्वर्गजनकः धर्मः'— इतना ही लक्षण यदि करें तो यागजन्य जो धर्म है, वह 'स्वर्ग' की उत्पत्ति करने के पूर्व ही कर्मनःशानदी के जलस्पर्श से यदि नष्ट हो गया हो, तो उस 'धर्म' में लक्षण की अव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'धर्मत्वजातिघटित लक्षण' करना आवश्यक है। तब वह 'धर्मत्वजाति', स्वर्ग के अजनक धर्म में रहने से उस धर्म में अव्याप्ति नहीं हो पाती।

यह 'धर्म' गुण, केवल जीवात्मा में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है। जीवात्मा से भिन्न पृथिवी आदि द्रव्यों में तथा ईश्वर में वह नहीं रहता। किसी भी इन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष न हो पाने से वह अतीन्द्रिय है। और वह, सुख-दुःख के समान उत्पत्ति-विनाशशील होने से अनित्य है। कोई भी 'धर्म' नित्य नहीं होता है। धर्म का समवायिकारण 'आत्मा' है, और 'आत्म-मनःसंयोग' उसका असमवायिकारण होता है, तथा वेदविहित याग, दान, जप, तप, तीर्थस्नान, देवदर्शनादि शुभकर्म उसके निमित्त-कारण होते हैं। एवं मिथ्याज्ञानजन्य वासना भी उसका निमित्तकारण हुआ करती है। लोगों को जो भी 'सुख' होता है, और उसके जितने भी साधन हैं, उन सब का असाधारण (एकमात्र) कारण 'धर्म' ही है। उस धर्म के अतीन्द्रिय रहने पर भी याग-दान-जप-तप आदि के व्यापार रूप में उसकी कल्पना करनी पड़ती है। अन्यथा याग-दान आदि कर्म, उस स्वर्ग फल के जनक नहीं हो सकेंगे। क्योंकि कार्य के अव्य-वहित पूर्वक्षण में जो रहता है, वही उस कार्य का 'कारण' कहलाता है। इस नियम के अनुसार 'यागादिकर्म' तो तत्क्षण ही विनष्ट हो जाते हैं, और स्वर्गफल की प्राप्ति तो मरणानन्तर बहुत समय के पश्चात् होती है। तब पूर्व ही विनष्ट हो चुके तथा 'धर्मरूप व्यापार' से रहित उन यागादि कर्मों को स्वर्गफल का कारण कैसे कह सकते हैं? और 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् 'यागेन स्वर्गं भावयेत्'—इस वेदवाक्य से तो यागादि कर्मों में स्वर्गफल की कारणता प्रतीत होती है। अतः वेदवाक्य प्रतिपादित 'याग और स्वर्ग' के 'कार्य-कारणभाव' का निर्वाह करने के लिये यागादिकर्म से उत्पन्न होने वाले 'धर्मरूप व्यापार' की कल्पना 'याग' और 'स्वर्ग' के मध्य में करनी ही होगी। तब यागादि कर्मों के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य 'धर्मरूप व्यापार', स्वर्ग-फल-प्राप्ति तक स्थिर रहता है। फल-प्राप्ति कराये बिना वह नष्ट नहीं होता। वह कर्मकर्ता के 'आत्मा' में स्थिर बना रहता है। उसी से उस कर्मकर्ता को स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है। यागजन्य व्यापार से फल-प्राप्ति होने पर भी व्यापार-विशिष्ट 'याग' को उस फल के प्रति अन्यथा सिद्ध नहीं समझा जाता। जैसे घट के प्रत्यक्ष में

'घट-चक्षुसंयोग' व्यापार है। उसके (व्यापार के) साक्षात् कारण रहने पर भी वह 'चक्षुरिन्द्रिय', घटप्रत्यक्ष-रूप कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध नहीं कहा जाता। वैसे ही 'धर्मरूप व्यापार' द्वारा 'फल' की प्राप्ति होने पर भी 'यागादि कर्मों' को अन्यथासिद्ध नहीं कहा जाता। कारणसामग्री के अतिरिक्त 'बाह्य वस्तु' को अन्यथा सिद्ध कहते हैं। जैसे घट के प्रत्यक्ष में संयोग रूप व्यापार के द्वारा 'चक्षुरिन्द्रिय' कारण कहा जाता है, वैसे ही 'यागादिकर्म' भी धर्मरूप व्यापारद्वारा 'स्वर्गरूप फल' के प्रति कारण कहा जाता है। एवं च यागादि कर्मों में स्वर्गादिफल के प्रति कारणता सिद्ध करने के लिये 'धर्म' रूप व्यापार की कल्पना करना अनिवार्य है।

शंका—व्यापार के रूप में 'धर्म' की कल्पना करने की अपेक्षा यागादि कर्मों का जो 'ध्वंस' (विनाश) है, उसी को 'याग' के व्यापाररूप में क्यों न मान लिया जाय ? अर्थात् वे यागादिकर्म, स्व-ध्वंसरूप व्यापार के द्वारा ही स्वर्गादिफल के प्रति कारण होते हैं। और उस 'ध्वंस' का नाश भी नहीं होता है। तथा वह 'यागध्वंस', स्वर्गफल-प्राप्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण-वृत्ति भी है। अतः यागादि कर्मों के व्यापाररूप में 'धर्म' की कल्पना करना व्यर्थ है।

समा०—यागध्वंस को याग का व्यापार नहीं मान सकते। क्योंकि जो पदार्थ, जिस कार्य के प्रति कारण होता है, उसका ध्वंस, उस कार्य के प्रति 'कारण' नहीं हुआ करता। अर्थात् 'प्रतियोगी' और 'ध्वंस' दोनों में एक ही कार्य की जनकता कहीं दृष्टि-गोचर नहीं होती। अतः यागादिकर्म और उनके ध्वंस दोनों को एक ही स्वर्गरूप कार्य के कारण कहना ठीक नहीं है। और 'यागध्वंस' को 'स्वर्गफल' का कारण मानोगे तो 'स्वर्गफल' का कभी भी विनाश नहीं होगा, क्योंकि 'यागध्वंस' रूप कारण नाश-रहित होने से नित्य है। तब कारण के नित्य रहते कार्य की अनित्यता नहीं बता सकते। एवं च स्वर्गफलरूप कार्य को नित्य मानने पर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इत्यादि शास्त्रवचनों से विरोध होगा। किन्तु यागजन्य 'धर्म'-रूप-व्यापार को स्वर्ग-फल का कारण मानने पर उपर्युक्त विरोध नहीं होगा, क्योंकि फलभोग करा देना ही 'धर्म' का प्रयोजन है, उसे सम्पन्न कराकर वह धर्मरूप व्यापार स्वयं ही समाप्त हो जाता है। यह जो कहा था कि 'गङ्गास्नान से स्वर्गफल की प्राप्ति होती है। मध्य में किसी व्यापार की कल्पना करना व्यर्थ है'। किन्तु वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्नान' पदार्थ क्या है ? उसे समझना आवश्यक है। गंगाजी के प्रवाह में स्थित व्यक्ति के शरीर से गंगाजल के जो अनन्त संयोग हैं—उसी को 'स्नान' कहते हैं। वही 'स्नान' पदार्थ है। ऐसे अनन्त जलसंयोगों के 'अनन्त ध्वंसों' में 'व्यापार' की कल्पना करने में कितना गौरव होगा ? उसकी अपेक्षा गङ्गास्नानजन्य एक 'धर्म' को ही व्यापार मानने में लाघव है। अतः अनन्त संयोगध्वंसों को या यागध्वंस को व्यापार न मानकर एक 'धर्म' को ही व्यापार मानना उचित है। और 'कर्मनाशा नदी' के जल-

में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद को लक्षण घटक 'जाति' का विशेषण बना देना चाहिये। तब 'गुणत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति' उस 'गुणत्वजाति' की व्याप्य न होने से 'गुणत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति' को लेकर रूपादिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब 'यागजन्यस्वर्गजनकः धर्मः'— इतना ही लक्षण यदि करें तो यागजन्य जो धर्म है, वह 'स्वर्ग' की उत्पत्ति करने के पूर्व ही कर्मनाशानदी के जलस्पर्श से यदि नष्ट हो गया हो, तो उस 'धर्म' में लक्षण की अव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'धर्मत्वजातिघटित लक्षण' करना आवश्यक है। तब वह 'धर्मत्वजाति', स्वर्ग के अजनक धर्म में रहने से उस धर्म में अव्याप्ति नहीं हो पाती।

यह 'धर्म' गुण, केवल जीवात्मा में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है। जीवात्मा से भिन्न पृथिवी आदि द्रव्यों में तथा ईश्वर में वह नहीं रहता। किसी भी इन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष न हो पाने से वह अतीन्द्रिय है। और वह, सुख-दुःख के समान उत्पत्ति-विनाशशील होने से अनित्य है। कोई भी 'धर्म' नित्य नहीं होता है। धर्म का समवायिकारण 'आत्मा' है, और 'आत्म-मनःसंयोग' उसका असमवायिकारण होता है, तथा वेदविहित याग, दान, जप, तप, तीर्थस्नान, देवदर्शनादि शुभकर्म उसके निमित्त-कारण होते हैं। एवं मिथ्याज्ञानजन्य वासना भी उसका निमित्तकारण हुआ करती है। लोगों को जो भी 'सुख' होता है, और उसके जितने भी साधन हैं, उन सब का असाधारण (एकमात्र) कारण 'धर्म' ही है। उस धर्म के अतीन्द्रिय रहने पर भी याग-दान-जप-तप आदि के व्यापार रूप में उसकी कल्पना करनी पड़ती है। अन्यथा याग-दान आदि कर्म, उस स्वर्ग फल के जनक नहीं हो सकेंगे। क्योंकि कार्य के अव्य-वहित पूर्वक्षण में जो रहता है, वही उस कार्य का 'कारण' कहलाता है। इस नियम के अनुसार 'यागादिकर्म' तो तत्क्षण ही विनष्ट हो जाते हैं, और स्वर्गफल की प्राप्ति तो मरणानन्तर बहुत समय के पश्चात् होती है। तब पूर्व ही विनष्ट हो चुके तथा 'धर्मरूप व्यापार' से रहित उन यागादि कर्मों को स्वर्गफल का कारण कैसे कह सकते हैं? और 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् 'यागेन स्वर्गं भावयेत्'—इस वेदवाक्य से तो यागादि कर्मों में स्वर्गफल की कारणता प्रतीत होती है। अतः वेदवाक्य प्रतिपादित 'याग और स्वर्ग' के 'कार्य-कारणभाव' का निर्वाह करने के लिये यागादिकर्म से उत्पन्न होने वाले 'धर्मरूप व्यापार' की कल्पना 'याग' और 'स्वर्ग' के मध्य में करनी ही होगी। तब यागादि कर्मों के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य 'धर्मरूप व्यापार', स्वर्ग-फल-प्राप्ति तक स्थिर रहता है। फल-प्राप्ति कराये बिना वह नष्ट नहीं होता। वह कर्मकर्ता के 'आत्मा' में स्थिर बना रहता है। उसी से उस कर्मकर्ता को स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है। यागजन्य व्यापार से फल-प्राप्ति होने पर भी व्यापार-विशिष्ट 'याग' को उस फल के प्रति अन्यथा सिद्ध नहीं समझा जाता। जैसे घट के प्रत्यक्ष में

'घट-चक्षुसंयोग' व्यापार है। उसके (व्यापार के) साक्षात् कारण रहने पर भी वह 'चक्षुरिन्द्रिय', घटप्रत्यक्ष-रूप कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध नहीं कहा जाता। वैसे ही 'धर्मरूप व्यापार' द्वारा 'फल' की प्राप्ति होने पर भी 'यागादि कर्मों' को अन्यथासिद्ध नहीं कहा जाता। कारणसामग्री के अतिरिक्त 'बाह्य वस्तु' को अन्यथा सिद्ध कहते हैं। जैसे घट के प्रत्यक्ष में संयोग रूप व्यापार के द्वारा 'चक्षुरिन्द्रिय' कारण कहा जाता है, वैसे ही 'यागादिकर्म' भी धर्मरूप व्यापारद्वारा 'स्वर्गरूप फल' के प्रति कारण कहा जाता है। एवं च यागादि कर्मों में स्वर्गादिफल के प्रति कारणता सिद्ध करने के लिये 'धर्म' रूप व्यापार की कल्पना करना अनिवार्य है।

शंका—व्यापार के रूप में 'धर्म' की कल्पना करने की अपेक्षा यागादि कर्मों का जो 'ध्वंस' (विनाश) है, उसी को 'याग' के व्यापाररूप में क्यों न मान लिया जाय ? अर्थात् वे यागादिकर्म, स्व-ध्वंसरूप व्यापार के द्वारा ही स्वर्गादिफल के प्रति कारण होते हैं। और उस 'ध्वंस' का नाश भी नहीं होता है। तथा वह 'यागध्वंस', स्वर्गफल-प्राप्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण-वृत्ति भी है। अतः यागादि कर्मों के व्यापाररूप में 'धर्म' की कल्पना करना व्यर्थ है।

समा०—यागध्वंस को याग का व्यापार नहीं मान सकते। क्योंकि जो पदार्थ, जिस कार्य के प्रति कारण होता है, उसका ध्वंस, उस कार्य के प्रति 'कारण' नहीं हुआ करता। अर्थात् 'प्रतियोगी' और 'ध्वंस' दोनों में एक ही कार्य की जनकता कहीं दृष्टि-गोचर नहीं होती। अतः यागादिकर्म और उनके ध्वंस दोनों को एक ही स्वर्गरूप कार्य के कारण कहना ठीक नहीं है। और 'यागध्वंस' को 'स्वर्गफल' का कारण मानोगे तो 'स्वर्गफल' का कभी भी विनाश नहीं होगा, क्योंकि 'यागध्वंस' रूप कारण नाश-रहित होने से नित्य है। तब कारण के नित्य रहते कार्य की अनित्यता नहीं बता सकते। एवं च स्वर्गफलरूप कार्य को नित्य मानने पर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इत्यादि शास्त्रवचनों से विरोध होगा। किन्तु यागजन्य 'धर्म'-रूप-व्यापार को स्वर्ग-फल का कारण मानने पर उपर्युक्त विरोध नहीं होगा, क्योंकि फलभोग करा देना ही 'धर्म' का प्रयोजन है, उसे सम्पन्न कराकर वह धर्मरूप व्यापार स्वयं ही समाप्त हो जाता है। यह जो कहा था कि 'गङ्गास्नान से स्वर्गफल की प्राप्ति होती है। मध्य में किसी व्यापार की कल्पना करना व्यर्थ है'। किन्तु वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्नान' पदार्थ क्या है ? उसे समझना आवश्यक है। गंगाजी के प्रवाह में स्थित व्यक्ति के शरीर से गंगाजल के जो अनन्त संयोग हैं—उसी को 'स्नान' कहते हैं। वही 'स्नान' पदार्थ है। ऐसे अनन्त जलसंयोगों के 'अनन्त ध्वंसों' में 'व्यापार' की कल्पना करने में कितना गौरव होगा ? उसकी अपेक्षा गङ्गास्नानजन्य एक 'धर्म' को ही व्यापार मानने में लाघव है। अतः अनन्त संयोगध्वंसों को या यागध्वंस को व्यापार न मानकर एक 'धर्म' को ही व्यापार मानना उचित है। और 'कर्मनाशा नदी' के जल-

स्पर्श से 'धर्मनाश' का जो कथन है, वह भी 'यागजन्य धर्म' को न मानने पर वह 'जलस्पर्श' किसका नाश करेगा ? क्योंकि 'यागादिक' कर्म तो 'कर्मनाशा' के जल स्पर्श से पूर्व ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। उस कारण उस जलस्पर्श में यागादि कर्मों की नाशकता अथवा प्रतिबन्धकता का होना संभव नहीं है। यागादिकर्मों का 'ध्वंस' तो नाशरहित होने से उसकी (ध्वंस की) नाशकता किसी भी काल में संभव नहीं है। अतः 'जलस्पर्श' से नाश होने योग्य 'यागजन्य धर्म' का स्वीकार अवश्य करना ही चाहिये।

वेदविहित याग के अनुष्ठान से उत्पन्न हुए धर्म का कर्मनाशा के जलस्पर्श से विनाश होता है तथा यागादि के अनुष्ठान से उत्पन्न हुए धर्म का कीर्तन (बखान) करने से भी उस धर्म का विनाश होता है, क्योंकि 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' ऐसा शास्त्र-वचन है। तथा धर्मजन्य फल के भोग से भी उसका (धर्म का) नाश होता है। और श्रवण-मननादि से जन्य 'तत्त्वज्ञान' से भी 'धर्म' का नाश होता है। ये सब 'धर्मनाश' के कारण बताये गये हैं।

इसी प्रकार 'अधर्म' का लक्षण **'दुःखाऽसाधारणकारणमधर्मः'** किया गया है। अधर्म से ही 'दुःख' की प्राप्ति होती है। इसलिये 'अधर्म' ही दुःख का असाधारण कारण है।

उक्त लक्षण में 'असाधारण' पद न रखें तो 'कालादिक' साधारण कारणों में अति-व्याप्ति होगी। क्योंकि 'कालादि', सभी कार्यों के प्रति कारण रहते हैं। अतः वे 'दुःख' के भी कारण हो सकते हैं। इसलिये अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'असाधारण' पद का रखना आवश्यक है। तब 'कालादिकों' में असाधारणकारणता के न रहने से अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—'दुःख' का असाधारण कारण जैसे 'अधर्म' होता है, वैसे ही ज्वर, शूल, कण्टकसंयोग आदि भी 'दुःख' के असाधारण कारण होते हैं। तब अधर्म लक्षण की उनमें अतिव्याप्ति होगी।

समा०—उस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ हम 'निषिद्धकर्मजन्यनरकजनकवृत्ति-गुणत्वव्याप्यजातिमान् अधर्मः'—ऐसा जातिघटितलक्षण कर देंगे तो अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध हिंसादि कर्मों से जन्य होते हुए जो नरक का जनक हो, ऐसा 'अधर्म' पदार्थ ही होगा। वह 'आत्मा' में उत्पन्न होता है। उससे उस (आत्मा) को नरक की प्राप्ति होती है। अतः वह अधर्म, 'निषिद्ध कर्म' से जन्य भी है और 'नरक' का जनक भी है। ऐसे 'अधर्म' में रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य 'अधर्मत्व' जाति होगी। वह 'अधर्मत्व जाति' समवायसम्बन्ध से सभी 'अधर्मों' में रहती है। अतः 'अधर्म' ही दुःख का असाधारण कारण है, अन्य नहीं। अन्य कारण तो केवल निमित्तकारण मात्र हैं। इसलिये यह निर्दुष्ट लक्षण है।

अब यदि 'गुणत्वव्याप्यजातिमान् अधर्मः' इतना ही लक्षण का आकार रखें तो 'गुणत्वजाति' के व्याप्य 'रूपत्वादिक' जातियाँ भी हैं, उन्हें लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'नरकजनकवृत्ति' पद को लक्षण में रखना आवश्यक है। तब 'रूपादिक' गुण, 'नरक' के जनक न होने से रूपादिवृत्ति 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब 'नरक-जनकवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् अधर्मः' इतना ही लक्षण करें तो 'ईश्वरज्ञान' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'ईश्वर का ज्ञान' कार्यमात्र का जनक होने से 'नरकरूप' कार्य का भी जनक होगा। तब उस नरकजनकज्ञान में रहती हुई तथा गुणत्वजाति की व्याप्य जाति 'ज्ञानत्वजाति' होगी। उस 'ज्ञानत्वजाति' को लेकर 'ईश्वर के ज्ञान' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'निषिद्धकर्मजन्य' पद को यदि रख देते हैं तो 'ईश्वर का ज्ञान' नित्य होने से वह 'निषिद्धकर्मजन्य' नहीं है। तब 'ज्ञानत्व' जाति, 'निषिद्धकर्मजन्यवृत्ति' न होने से 'ज्ञानत्वजाति' को लेकर 'ईश्वर के ज्ञान' में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब 'निषिद्धकर्मजन्यवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् अधर्मः' इतना ही लक्षण करें तो 'निषिद्धकर्म के प्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'विषय' के विना कोई प्रत्यक्ष नहीं होता। निषिद्धकर्म का प्रत्यक्षज्ञान 'निषिद्ध-कर्मरूप विषय' से ही जन्य होता है। उस निषिद्धकर्मविषयक प्रत्यक्ष में रहने वाली तथा गुणत्वजाति की व्याप्य 'प्रत्यक्षत्वजाति' होगी। उस प्रत्यक्षत्वजाति को लेकर 'प्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'नरकजनक' पद का देना आवश्यक है। तब निषिद्धकर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान' तो नरक का जनक नहीं है। इसलिये 'प्रत्यक्षत्वजाति' नरकजनकवृत्ति नहीं है। अतः प्रत्यक्षत्वजाति को लेकर 'प्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब 'निषिद्धकर्मजन्यनरकजनकवृत्तिजातिमान् अधर्मः' इतना ही लक्षण करें तो निषिद्धकर्मजन्य तथा नरक के जनक अधर्म में रहने-वाली गुणत्व जाति को लेकर रूपादि सभी गुणों में तथा सत्ता जाति को लेकर द्रव्य-गुण-कर्म में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद का रखना आवश्यक है। तब गुणत्वजाति तथा सत्ताजाति, उस 'गुणत्वजाति' की व्याप्य जाति नहीं है। इसलिये गुणत्वजाति तथा सत्ताजाति को लेकर रूपादि गुणों में तथा द्रव्यादित्रिक में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि 'निषिद्धकर्मजन्यनरकजनकः अधर्मः' इतना ही लक्षण करें तो जिस अधर्म से नरक न हुआ हो, अथवा जो अधर्म, 'प्रायश्चित्त' से नष्ट हुआ हो, उस 'अधर्म' में अव्याप्ति होगी। उसके निवा-रणार्थ यह 'अधर्मत्वजातिघटितलक्षण' किया गया है। तब वह 'अधर्मत्वजाति' उस प्रायश्चित्तनाश्य अधर्म में भी रहेगी। अतः अधर्म में अव्याप्ति नहीं होगी।

यह अधर्मगुण भी आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहता है। आत्मभिन्न पृथिवी आदि द्रव्यों में तथा ईश्वर में नहीं रहता। धर्म के समान अधर्म भी अतीन्द्रिय है।

और उत्पत्ति-विनाशशील होने से अनित्य भी है। कोई भी अधर्म 'नित्य' नहीं होता। अधर्म का समवायिकारण 'आत्मा' है, और असमवायिकारण 'आत्मा-मनः-संयोग' है। तथा शास्त्रनिषिद्धहिंसादिक कर्म और मिथ्याज्ञानजन्यवासना तथा देश-काल आदि उसके 'निमित्तकारण' होते हैं। स्वर्गादिफलोत्पत्ति के लिये यागादि कर्मों के व्यापाररूप में 'धर्म' की कल्पना जैसे की जाती है, वैसे ही नरकदुःखरूप फलोत्पत्ति के लिये हिंसादिनिषिद्धकर्मों के व्यापाररूप में 'अधर्म' की कल्पना की जाती है।

ये धर्माऽधर्म दोनों गुण, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान के विषय न हो पाने से अतीन्द्रिय कहलाते हैं। अतएव दार्शनिकों ने उनके लिये 'अदृष्ट' संज्ञा का प्रयोग किया है। नैयायिकों ने अदृष्टरूप धर्माधर्म की अनुमानप्रमाण से सिद्धि की है। अनुमान-प्रयोग वे इस प्रकार करते हैं—'देवदत्तस्य शरीरादिकं, देवदत्तस्य विशेषगुणजन्यं, कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वात्, देवदत्तप्रयत्नजन्यकुसुमपर्यङ्कादिवत्'। अर्थात् देवदत्त के शरीर-इन्द्रिय आदि, (पक्ष), देवदत्त के विशेषगुण से जन्य हैं (साध्य), क्योंकि वे कार्य होते हुए, देवदत्त के भोग के हेतु हैं (हेतु)। 'जो भी वस्तु, कार्यरूप होती हुई, देवदत्त के भोग की हेतु होती है, वह वस्तु, देवदत्त के विशेष-गुण से जन्य होती है। जैसे—देवदत्त के प्रयत्न से साध्य कुसुम (पुष्प) पर्यङ्कादि वस्तु, कार्यरूप हैं और देवदत्त के भोग की हेतु भी है। अतः वह देवदत्त के प्रयत्न-रूप विशेष गुण से जन्य है। वैसे ही देवदत्त के शरीर इन्द्रियादि भी कार्यरूप होकर उसके भोग के हेतु हैं। इसलिये उसके विशेषगुण से वे अवश्य ही जन्य होंगे। 'बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना'—ये देवदत्त के विशेषगुण हैं। इन विशेषगुणों में से तो किसी में भी देवदत्त के शरीरेन्द्रियादि की कारणता का होना संभव नहीं है, अतः परिशेषात् धर्माधर्मरूप विशेष गुणों में ही उनकी कारणता सिद्ध होती है।

अनुमान में प्रयुक्त किये गये 'हेतु' से 'कार्यत्वे सति' पद को यदि हटा दिया जाय तो 'आत्मा' तथा काल, ईश्वर आदि में 'हेतु' का व्यभिचार होगा। क्योंकि सुख-दुःख के साक्षात्कार को 'भोग' कहते हैं। उसका समवायिकारण होगा—देवदत्त का 'आत्मा'। और काल आदि 'निमित्तकारण' होंगे। इसलिये 'आत्मा, काल' आदि में देवदत्तभोगहेतुत्व तो है, किन्तु वे, उसके विशेषगुण से जन्य न होने के कारण, उनमें 'विशेषगुणजन्यत्व' रूप साध्य नहीं है। इसलिये 'हेतु' व्यभिचरित हो रहा है। उस व्यभिचार दोष के निवारणार्थ हेतु में 'कार्यत्वे सति' यह पद अवश्य देना चाहिये। तब आत्मा, काल आदि 'कार्यरूप' न होने से उनमें कार्यरूपता नहीं है। अतः तीनों में 'हेतु' का व्यभिचार नहीं है।

शंका—विहित-निषिद्धकर्म से धर्माधर्म की उत्पत्ति 'आत्मा' में जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार परमात्मा (ईश्वर) में भी उस की उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

समा०—धर्माऽधर्म की उत्पत्ति के प्रति 'मिथ्याज्ञानजन्यवासना, भी कारण होती है। किन्तु वह मिथ्याज्ञानजन्य वासना ईश्वर में नहीं है। इसलिये ईश्वर में धर्माऽधर्म की उत्पत्ति नहीं होती। उसी तरह मिथ्याज्ञानजन्य वासना के न रहने से तत्त्वज्ञानी पुरुष में 'धर्माऽधर्म' की उत्पत्ति नहीं होती। अतः तत्त्वज्ञानी पुरुष के द्वारा किये गये विहित-निषिद्ध कर्म से उसे भी सुख-दुःखरूप फल की प्राप्ति नहीं होती।

शंका—यदि तत्त्वज्ञान से समस्त धर्माऽधर्म का नाश होता है तो तत्त्वज्ञानी के शरीर की स्थिति नहीं होनी चाहिये। जबकि उसके शरीर की स्थिति रहती है, तो उसे सुख-दुःख की प्राप्ति अवश्य होती ही होगी। तब उनकी प्राप्ति तो धर्माऽधर्म के कारण ही होती होगी। शुक-वामदेवादिकों को तत्त्वज्ञान होने पर भी उनके शरीर की स्थिति और उन्हें सुख-दुःख के अनुभव का होना शास्त्रवचनों से ज्ञात होता है। तो कैसे कहा जा रहा है कि तत्त्वज्ञानी को सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं होती है।

समा०—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥'

इत्यादि स्मृतिवचनों से 'तत्त्वज्ञान के द्वारा जो कर्मों का नाश होना बताया गया है, वह 'प्रारब्धकर्मों' से भिन्न कर्मों का नाश बताया गया है। पूर्वजन्मार्जित जिन धर्माऽधर्मों के द्वारा उसके शरीर की उत्पत्ति हुई है तथा इस शरीर को जिन सुख-दुःख रूप फल का भोग भुग्रतना है, उन प्रारब्ध कर्मों का तो 'फल भोग' के भोगने से ही नाश होगा। उस प्रारब्धकर्म का नाश 'तत्त्वज्ञान' से नहीं होगा। अतएव 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म' कहा गया है। इसलिये प्रारब्धकर्म के वश होने के कारण तत्त्वज्ञानी के शरीर की स्थिति और सुख-दुःख का अनुभव अवश्य ही उसे करना पड़ता है। तथापि साधारण पुरुष और तत्त्वज्ञानी पुरुष में अन्तर इतना ही है कि साधारण पुरुष हर्ष-विषाद को अपनाते हुए सुख-दुःख का अनुभव करता है और मुक्त पुरुष हर्ष-विषाद को विना अपनाये उनका अनुभव करता है।

कहीं-कहीं अन्य पुरुष के द्वारा किये गये धर्माऽधर्म से दूसरे को भी सुख-दुःख रूप फल की प्राप्ति होती है। जैसे—'पितृस्वर्गकामः पुष्करिण्या यजेत'। 'यन्नाम्ना पातयेत् पिण्डं तन्नयेद् ब्रह्म शाश्वतम्'। इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनों से पुत्रादिकृत श्राद्ध आदि कर्म के अनुष्ठान से पितरों को स्वर्गसुख के फल की प्राप्ति बताई गई है। तथा 'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः'—इत्यादिवचनों से पुत्रादि के पापकर्म से पितरों को नरक की प्राप्ति बतायी गई है। यदि कदाचित् पितर मुक्त हुए हों, तो किये गये श्राद्धादिकों का फल पुत्रादिकों को ही प्राप्त होता है।

(२४) संस्कारव्यवहाराऽसाधारणं कारणं संस्कारः। संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। स च क्रियाहेतुः। भावनाख्यस्तु संस्कार आत्ममात्रवृत्तिरनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः। स

ोद्‌बुद्ध एव स्मृतिं जनयति । उद्बोधश्च सहकारिलाभः । सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादयः । तथा चोक्तम्—

'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः ।' इति ।

स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्यविशेषवृत्तिः । अन्यथाभूतस्य स्वाश्रयस्य धनुरादेः पुनस्तादवस्थ्यापादकः । एते च बुद्ध्यादयोऽधर्मान्ता भावना च आत्मविशेषगुणाः ।

गुणा उक्ताः ।

(२४) संस्कार-निरूपण—

संस्कारेति । संस्कार के व्यवहार का असाधारण कारण 'संस्कार' नाम का 'गुण' है ।

संस्कारस्त्रिविध इति । 'संस्कार' त्रिविध (तीन प्रकार का) होता है—(१) वेग (२) भावना और (३) स्थितिस्थापक । **तत्रेति ।** उनमें से 'वेग' नामक संस्कार पृथिवी आदि चार (पृथिवी, जल, तेज, वायु) तथा 'मन' में रहता है । **स चेति ।** और वह 'क्रिया' का 'हेतु' होता है । **भावनाख्य इति ।** 'भावना' नामक संस्कार तो केवल 'आत्मा' में रहता है । वह 'अनुभव' से उत्पन्न होता है, तथा 'स्मृति' का कारण (हेतु) होता है । और वह उद्‌बुद्ध होकर ही 'स्मृति' को उत्पन्न करता है । 'उद्‌बोध' का अर्थ है—सहकारीकारण की प्राप्ति । संस्कार के सहकारीकारण 'सदृशदर्शन' आदि हैं । **तथा चेति ।** जैसा कि कहा गया है—

सादृश्येति । 'सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता'—इत्यादि 'स्मृति' के हेतुभूत (बीज-भूत) संस्कार के उद्‌बोधक हुआ करते हैं ।

स्थितिस्थापकस्त्विति । 'स्थितिस्थापक' नामक संस्कार तो स्पर्शयुक्त 'द्रव्य विशेषों' में रहता है । वह अपने आश्रयभूत 'धनुष' आदि जब अन्य आकार के हो जाते हैं, तब पुनः उसे पूर्वस्थिति में पहुँचाने वाला होता है । **एते चेति ।** 'बुद्धि' से लेकर 'अधर्म' तक और 'भावना' यानी (१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न, (७) धर्म, (८) अधर्म और (९) 'भावना' नामक संस्कार—ये नौ 'आत्मा' के विशेषगुण हैं ।

गुणा इति । इस प्रकार 'गुणों' का निरूपण समाप्त किया गया है ।

माधुरी

ग्रन्थकार के उक्त लक्षण को विशकलित (स्पष्ट) करने के लिये जातिघटित लक्षण इस प्रकार किया जायगा—**'आत्मविशेषगुणवृत्ति-मूर्तवृत्ति-वृत्ति-गुणत्वव्याप्यजाति मान् संस्कारः'** अर्थात् 'आत्मा' के विशेषगुण में रहने वाली तथा मूर्तद्रव्यों में रहने वाले 'गुण' में रहने वाली तथा 'गुणत्व' जाति की व्याप्य जो 'जाति', उससे युक्त 'गुण'

को 'संस्कार' कहते हैं। तथाहि—'आत्मा' में रहने वाले 'भावना' नामक संस्काररूप विशेष गुण में 'संस्कारत्व' जाति रहती है। उस कारण उस 'संस्कारत्व' जाति को 'आत्मविशेषगुण वृत्ति' कहा जाता है। और 'पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन'—इन पांच मूर्तद्रव्यों में रहने वाला जो 'वेग' नामक संस्कार है, उसमें भी वह 'संस्कारत्व' जाति रहती है। उस कारण उस 'संस्कारत्व' जाति को 'मूर्तवृत्ति-वृत्ति' भी कहा जाता है। और वह संस्कारत्वजाति 'गुणत्वजाति' की व्याप्य भी है। ऐसी संस्कारत्व जाति, समवायसम्बन्ध से 'समस्त संस्कारों' में रहती है। अतः 'संस्कार' के लक्षण का समन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में 'आत्मविशेषगुणवृत्ति' पद यदि न रखें तो 'पृथिवी' आदि मूर्तद्रव्यों में रहनेवाले 'रूपादि' गुणों में रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य होने वाली 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में अतिव्याप्ति होगी। उसके निराकरणार्थ लक्षण में 'आत्मविशेषगुणवृत्ति' पद का रखना आवश्यक है। तब 'रूपादिगुण' तो 'आत्मा' के विशेषगुण नहीं हैं। 'आत्मा' के विशेषगुण तो 'बुद्धि' आदि हैं। इसलिये 'रूपत्वादि' जातियों को लेकर 'रूपादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब लक्षण में 'विशेष' पद न रखें तो 'संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग'—इन पांच गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'संख्यादि' पाँच गुण 'पृथिवी' आदि नौ द्रव्यों में ही रहते हैं। अतः 'संख्यादि' पाँच गुण 'आत्मा' के गुण हैं और पृथिवी आदि मूर्तद्रव्यों के भी गुण हैं। ऐसे 'संख्यादि' पांच गुणों में क्रम से रहने वाली 'संख्यात्व, परिमाणत्व, पृथक्त्व-त्व, संयोगत्व, विभागत्व'—ये पाँच जातियाँ हैं। वे 'संख्यात्वादि' जातियाँ 'आत्मगुणवृत्ति' भी हैं, तथा 'मूर्तवृत्ति-वृत्ति' भी हैं, तथा 'गुणत्व-जाति' की व्याप्य भी हैं। ऐसी 'संख्यात्वादि' जातियों को लेकर 'संख्यादि' गुणों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निराकरणार्थ 'विशेष' पद का रखना आवश्यक है। तब 'संख्यादि' पांच गुण 'आत्मा' के गुण होने पर भी वे 'विशेषगुण' नहीं हैं, अपितु 'सामान्यगुण' हैं। इसलिये 'संख्यात्वादि' जातियों को लेकर उन 'संख्यादि गुणों' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि लक्षण में 'मूर्तवृत्ति-वृत्ति' पद न रखें तो 'आत्मा' के 'बुद्धि' आदि विशेषगुणों में रहने वाली तथा 'गुणत्वजाति' की व्याप्य होने वाली जो 'बुद्धित्व' आदि जातियाँ हैं, उन्हें लेकर 'बुद्धि' आदि गुणों में अतिव्याप्ति होगी। उसके निराकरणार्थ लक्षण में 'मूर्तवृत्ति-वृत्ति' पद रखना आवश्यक है। तब 'बुद्धि' आदि गुण, 'पृथिवी' आदि मूर्तद्रव्यों में नहीं रहते, किन्तु 'आत्मरूप अमूर्तद्रव्य' में ही रहते हैं। ऐसे 'बुद्धि' आदि गुणों में रहने वाली 'बुद्धित्वादि' जातियाँ 'मूर्तवृत्ति-वृत्ति' नहीं हैं। उस कारण 'बुद्धित्वादि' जातियों को लेकर 'बुद्धि' आदिक गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि 'गुणत्वव्याप्य' पद को लक्षण में न रखें तो 'संस्कार' में रहने वाली 'गुणत्व' जाति को लेकर 'रूपादि' सभी गुणों में तथा 'सत्ताजाति' को

लेकर 'द्रव्य-गुण-कर्म' तीनों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निराकरणार्थ लक्षण में 'गुणत्वव्याप्य' पद का रखना आवश्यक है। तब 'गुणत्व' जाति, 'गुणत्व-जाति' की व्याप्य नहीं है। अतः रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होगी और 'गुणत्व-व्याप्य सत्ताजाति' को लेकर 'द्रव्य, गुण, कर्म' में भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। अतः यह जातिघटित लक्षण निर्दुष्ट है।

एवं लक्षण-लक्षित 'संस्कारगुण' 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, आत्मा' इन छह द्रव्यों में ही रहता है। 'आकाश, काल, दिक्'—इन तीनों में नहीं रहता।

यह 'संस्कारगुण'—(१) **वेग**, (२) **भावना** और (३) **स्थितिस्थापक** के भेद से तीन प्रकार का होता है।

वेगाख्य-संस्कार—

उनमें से प्रथम 'वेग' नामक संस्कार तो 'पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन' इन पाँच मूर्तद्रव्यों में ही रहता है, 'आत्मा' में नहीं। 'वेग' नामक संस्कार का जातिघटित लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—**'मनोवृत्ति-वृत्ति संस्कारत्वव्याप्य-जातिमान् वेगः'**—अर्थात् 'मन' में रहनेवाले पदार्थ में रहने वाली तथा संस्कारत्वजाति की व्याप्य जाति से विशिष्ट 'गुण' को **वेग** कहते हैं। मनोवृत्ति (मन में रहने वाला) जो वेग, उसमें 'वेगत्व' जाति रहतीहै । इसलिये 'वेगत्वजाति' मनोवृत्ति-वृत्ति कहलाती है। और 'वेग, भावना, स्थितिस्थापक' इन तीनों प्रकार के संस्कारों में रहने वाली जो 'संस्कारत्व' जाति है, उसकी व्याप्यजाति 'वेगत्वजाति' है। वह 'वेगत्वजाति' समवायसम्बन्ध से सभी वेगों में रहती है। अतः लक्ष्य में लक्षण-समन्वय हो जाता है।

'वेग' के उक्त लक्षण में 'मनोवृत्ति-वृत्ति' पद न कहें तो संस्कारत्वजाति की व्याप्य 'स्थितिस्थापकत्वजाति' को तथा भावनात्वजाति को लेकर 'स्थितिस्थापक' में और 'भावना' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'मनोवृत्ति-वृत्ति' पद अवश्य कहना चाहिये। तब 'स्थितिस्थापक संस्कार' तथा 'भावनाख्यसंस्कार 'मनोवृत्ति' न होने से (मन में न रहने से) वह 'भावनात्वजाति' तथा 'स्थितिस्थापकत्वजाति'—मनोवृत्ति-वृत्ति नहीं हो पाई। उसकारण 'भावनात्व और स्थितिस्थापकत्व' जाति को लेकर 'स्थितिस्थापक' संस्कार तथा 'भावना'ख्य संस्कार में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। अब लक्षण में 'संस्कारत्वव्याप्य' पद न रखें तो 'मन' में रहनेवाले जो 'संख्यादिगुण', उनमें रहनेवाली 'संख्यात्वा'दि जातियों को लेकर 'संख्यादि' गुणों में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'संस्कार-त्वव्याप्य' पद का रखना आवश्यक है। तब 'संख्यात्व' आदि जातियाँ 'संस्कारत्व' जाति की व्याप्य नहीं हैं। इसलिये संख्यात्वादि जातियों को लेकर 'संख्यादि' गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यह 'वेगाख्य' (वेगनाम का) संस्कार (१) कर्मजवेग और (२) वेगजवेग के भेद से दो प्रकार का होता है। 'कर्मजवेग' वह है, जैसे—'धनुष्' की प्रत्यञ्चा (रज्जु) का 'बाण' के साथ 'नोदनाख्य' संयोग होने पर प्रथम क्षण में उस 'बाण' में 'कर्म' (क्रिया) उत्पन्न होता है। तब द्वितीयक्षण में उस कर्म से 'बाण' में 'वेग' उत्पन्न होता है। तब तृतीयक्षण में उस 'वेग' से स्वजनक 'पूर्वकर्म' का नाश होता है, और उस बाण में वही (वेग), 'द्वितीय कर्म' को उत्पन्न करता है। तब उस 'द्वितीय कर्म' से भी अगले क्षण में स्वजनक 'पूर्ववेग' का नाश होता है, और उस 'द्वितीय कर्म' से ही उस बाण में 'द्वितीय वेग' उत्पन्न होता है। इस रीति से उस बाण के अधःपतन तक 'कर्म' से 'वेग' और 'वेग' से 'कर्म' उत्पन्न होता जाता है। इस प्रकार से 'बाण' में उत्पन्न होने वाले इन 'वेगों' को **कर्मजवेग** कहते हैं।

इस 'वेग' का समवायिकारण तो 'बाण' है, और असमवायिकारण 'कर्म' है, और निमित्तकारण 'अदृष्ट, ईश्वर आदि' हैं।

शंका—द्रव्य के उत्तरसंयोग से ही द्रव्य के कर्म का नाश हो सकता है, तब 'वेग' में कर्म के नाश करने की कल्पना क्यों की गई है ?

समा०—शंका बिलकुल ठीक है। किन्तु बाण के कर्म का नाश करने वाला 'उत्तरसंयोग' उस काल (समय) में नहीं है, इसलिये 'वेग' को ही कर्म का नाशक मान लिया है।

शंका—जिस पूर्व कर्म का नाश करने के लिये 'वेग' की कल्पना की जा रही है, उसके बजाय पूर्वकर्म के नाश को ही यदि न माना जाय तो क्या हानि है ?

समा०—पूर्वकर्म का नाश हुए बिना 'बाण' में उत्तर कर्म की उत्पत्ति ही नहीं होगी, जिससे 'पूर्वकर्म' को 'उत्तरकर्म' का प्रतिबन्धक कहा जा सके। क्योंकि पूर्वकर्म रूप प्रतिबन्धक के रहने पर ही 'उत्तरकर्म' की उत्पत्ति नहीं हो पायेगी। इसलिये 'बाण' में रहने वाले पूर्वकर्म का नाश करने वाले तथा उत्तरकर्म की उत्पत्ति करने वाले 'कर्मजवेग' की कल्पना अवश्य करनी ही होगी। वेगसंस्कार का दूसरा भेद जो 'वेगज-वेग' है, उसे इस प्रकार समझ सकते हैं। जैसे—'वेग' संस्कार वाले 'कपालों' से उत्पन्न जो घट है, वह भी वेग से युक्त ही होगा। इसलिये 'घट' के उस वेग को 'वेगज वेग' कहते हैं। घट के उस वेग का 'घट' तो 'समवायिकारण' होता है। और 'कपालों' का वेग'—असमवायिकारण होता है। तथा देश-काल-ईश्वरादिक उस वेग के निमित्त कारण होते हैं। 'जन्यमूर्तद्रव्यों' में तो 'कर्मजवेग' तथा 'वेगजवेग' दोनों प्रकार के वेग उत्पन्न होते हैं। और परमाणु-मनोरूप नित्यद्रव्यों में केवल 'कर्मजवेग' ही उत्पन्न होता है। ये दोनों प्रकार के वेग 'अनित्य' ही होते हैं। 'वेग' का नाश, 'स्वजन्य क्रिया' से भी होता है, तथा 'आश्रयद्रव्य' के नाश से भी होता है। इस वेगाख्य संस्कार का ग्रहण 'चक्षु' और 'त्वक्' दोनों इन्द्रियों से होता है।

भावनाख्य-संस्कार—

दूसरा 'भावनाख्य संस्कार' है, जिसका लक्षण **'अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना'** किया जाता है। अर्थात् जो 'गुण', अनुभव से जन्य होता है तथा 'स्मृतिज्ञान' का जनक होता है, उसे 'भावनाख्य संस्कार' कहते हैं। 'स्मृति' से भिन्न जो ज्ञान, उसे 'अनुभव' कहते हैं। उस (अनुभव) के (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उप-मिति, (४) शाब्द भेद से चार प्रकार होते हैं। 'अनुभव' जिस 'वस्तु' को विषय करता है, तदनुभवजन्य संस्कार भी तद्वस्तु-विषयक ही होते हैं। और संस्कारजन्य स्मृतिज्ञान भी तद्वस्तुविषयक ही होता है। इस रीति से (१) अनुभव, (२) संस्कार, (३) स्मृति—तीनों का 'समानवस्तुविषयकत्व' रूप से परस्पर 'कार्य-कारणभाव' होता है। अन्यवस्तुविषयक अनुभव से अन्यवस्तुविषयक संस्कार उत्पन्न नहीं होता। तथा अन्य वस्तुविषयक संस्कार से अन्यवस्तुविषयक स्मृति उत्पन्न नहीं होती। तथाहि—इस जीवात्मा को 'अयं घटः' इत्याकारक प्रथमतः घटविषयक अनुभव होता है। उस अनुभव से घटविषयकभावनाख्य संस्कार, आत्मा में उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् कालान्तर में उस संस्कार, से 'सः घटः' इत्याकारक घटविषयक स्मृति 'आत्मा' को होती है। एवं च 'भावनाख्य' संस्कार में स्व-समानविषयक अनुभव से जन्यता, तथा स्व-समानविषयक स्मृति की जनकता रहती है।

भावना के लक्षण में 'स्मृतिहेतुः' पद को न रखें तो अनुभव के ध्वंस में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि अनुभव का ध्वंस भी अनुभवरूप प्रतियोगी से ही जन्य होता है। उस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में 'स्मृतिहेतुः' पद को अवश्य रखना होगा। तब वह 'अनुभवध्वंस', अनुभव से जन्य रहने पर भी 'स्मृति' का जनक नहीं है। इसलिये अनुभवध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अब लक्षण में यदि 'अनुभवजन्या' पद न दें तो 'आत्मा' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'स्मृतिज्ञान' समवाय सम्बन्ध से 'आत्मा' में ही उत्पन्न होता है। उस कारण 'स्मृति-ज्ञान' का हेतु 'आत्मा' भी है। इस प्रकार होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'अनुभवजन्या' पद का देना आवश्यक है। तब 'आत्मा' तो नित्य है, वह अनुभव से से जन्य नहीं है। इसलिये 'आत्मा' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। लक्षण-गत 'अनुभव' शब्द से 'निश्चयरूप अनुभव' का ही ग्रहण करना चाहिये। 'उपेक्षारूप ज्ञान' तथा 'संशयात्मकज्ञान' से कालान्तर में स्मरण नहीं होता है। जैसे—मार्ग में चलते हुए आदमी को तृणादि अनेक पदार्थों का उपेक्षारूप ज्ञान होता है, परन्तु काला-न्तर में उस उपेक्षात्मक ज्ञान से उन तृणादिक पदार्थों का स्मरण नहीं होता। स्मरण तो निश्चयात्मक अनुभवात्मकज्ञान से ही होता है। अनुभवात्मकज्ञान 'उपेक्षात्मकज्ञान' से भिन्न होता है। तथा वह संशयात्मकज्ञान से भी भिन्न होता है। संशयात्मक ज्ञान से भिन्न ज्ञान को 'निश्चय' कहते हैं।

स्मृतिज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञाज्ञान के उत्पत्त्यर्थ, अनुभवज्ञान के व्यापार रूप में 'भावनाख्य' संस्कार की कल्पना करनी पड़ती है। क्योंकि 'अनुभवात्मक ज्ञान' द्विक्षणावस्थायी होता है। तृतीयक्षण में वह नष्ट हो जाता है। और स्मृतिज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान तो साल-छह महीने के पश्चात् भी होता है। ऐसे कालान्तरभावी 'स्मृति-प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान' के प्रति, पूर्वनष्ट हुआ अनुभवज्ञान 'भावनाख्यसंस्काररूप-व्यापार' के बिना कारण नहीं बन सकता। इसलिये स्मृति-प्रत्यभिज्ञारूप फलपर्यन्त रहनेवाले 'भावनाख्यसंस्कार' की कल्पना अवश्य करनी ही होगी।

स्मृति और प्रत्यभिज्ञा में भेद—

यद्यपि स्मृतिज्ञान के समान ही प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान भी 'भावनाख्यसंस्कार' से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि भिन्न देश-काल में दृष्ट देवदत्त का भिन्न देश-काल में पुनः दर्शन होने से 'सोऽयं देवदत्तः' इत्याकारक 'प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान' होता है। अतः प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान, 'देवदत्त-विषयक पूर्वानुभवजन्य संस्कार से ही होता है। तथापि स्मृतिज्ञान, केवल 'संस्कारमात्र' से उत्पन्न होता है। चक्षुरादि इन्द्रिय से वह उत्पन्न नहीं होता है। और 'प्रत्यभिज्ञाज्ञान', संस्कार सहकृत चक्षुरादि इन्द्रिय से जन्य होता है। यही 'स्मृति' और 'प्रत्यभिज्ञा' में अन्तर है।

किन्तु चिन्तामणिकार 'प्रत्यभिज्ञाज्ञान' के प्रति 'संस्कार' को कारण नहीं मानते। उनका कहना है कि संस्कारजन्य 'स्मृति' ही 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रति कारण होती है। अर्थात् कालान्तर में 'देवदत्त' को देखकर पूर्वदेश-कालविशिष्ट 'देवदत्त'विषयक अनुभव से उत्पन्न हुए जो संस्कार हैं, वे ही वर्तमानकाल में 'देवदत्त' को देखकर उद्‌बुद्ध होते हैं। उस उद्‌बुद्ध हुए संस्कार से पूर्वदेशकालविशिष्ट देवदत्त का स्मरण (स्मृति) होता है। तत्स्मरणसहकृत चक्षुरिन्द्रिय से वर्तमानकालीन देवदत्त को देखकर 'सोऽयं देवदत्तः' इत्याकारक 'प्रत्यभिज्ञा ज्ञान' होता है। अतः 'स्मृति' ही प्रत्यभिज्ञाज्ञान के होने में कारण होती है। 'संस्कार' उसके प्रति कारण नहीं होते।

किन्तु विचार करने पर चिन्तामणिकार के उक्त मत में गौरव प्रतीत होता है। क्योंकि उद्‌बुद्ध संस्कार से 'स्मृति' की उत्पत्ति और उस उत्पन्न स्मृति से 'प्रत्य-भिज्ञा' की उत्पत्ति माननी पड़ती है, उसकी अपेक्षया तो उद्‌बुद्ध संस्कार से ही प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति मानने में लाघव है।

स्थितिस्थापक-संस्कार—

तीसरे 'स्थितिस्थापकसंस्कार' का लक्षण इस प्रकार होगा—**'पृथिवीवृत्ति-वृत्तिमनोवृत्त्यवृत्तिसंस्कारत्वव्याप्यजातिमान्स्थितिस्थापकः'**—अर्थात् पृथिवी में रहने वाले पदार्थ में रहने वाली तथा 'मन' में रहने वाले पदार्थ में न रहने वाली तथा संस्कारत्वजाति की व्याप्य जो जाति, तादृशजातिमान् 'गुण' को स्थितिस्थापक-

संस्कार कहते हैं। 'पृथिवी' में रहने वाले स्थितिस्थापक में 'स्थितिस्थापकत्वजाति' समवायसम्बन्ध से रहती है। इसलिये 'स्थितिस्थापकत्वजाति' को 'पृथिवीवृत्ति-वृत्ति' कहते हैं। वह 'स्थितिस्थापकसंस्कार' मन में नहीं रहता। उस कारण 'स्थितिस्थापकत्वजाति', उस मन में रहने वाले 'वेगादिकों' में अवृत्ति भी है, तथा वह 'स्थितिस्थापकत्वजाति', 'संस्कारत्वजाति' की व्याप्य भी है। इस प्रकार की 'स्थितिस्थापकत्वजाति' समवायसम्बन्ध से समस्त स्थितिस्थापकों में रहती है। अतः लक्ष्य में लक्षणसमन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में 'पृथिवीवृत्ति-वृत्ति' पद न रखें तो 'भावनात्वजाति' को लेकर 'भावना' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जैसे 'स्थितिस्थापकसंस्कार 'मन' में नहीं रहता, वैसे ही 'भावनाख्यसंस्कार' भी 'मन' में नहीं रहता। इसलिये स्थितिस्थापकत्वजाति के समान 'भावनात्वजाति' भी 'मन' में रहने वाले वेगादिकों में भी अवृत्ति ही है, और संस्कारत्वजाति की वह व्याप्य भी है। ऐसी भावनात्वजाति को लेकर 'भावना' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'पृथिवीवृत्ति-वृत्ति' पद को रखना आवश्यक है। तब 'भावनात्वजाति', पृथिवी में रहने वाले रूपादिक गुणों में नहीं रहती। इसलिये भावनात्वजाति को लेकर 'भावना' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

अब यदि 'मनोवृत्त्यवृत्ति' पद न रखें तो पृथिवी के वेग में रहने वाली तथा संस्कारत्वजाति की व्याप्य 'वेगत्व' जाति को लेकर 'वेग' में अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'मनोवृत्त्यवृत्ति' पद का रखना आवश्यक है। तब वह 'वेगत्वजाति, 'मन' में रहने वाले 'वेग' में रहती ही है, वह उसमें अवृत्ति नहीं है। उस कारण 'वेगत्व' जाति को लेकर 'वेग' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

अब यदि 'संस्कारत्वव्याप्य' पद न रखें तो 'रूपत्व' जाति को लेकर 'रूप' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'रूपगुण', पृथिवी में तो रहता है किन्तु 'मन' में नहीं रहता। उस कारण 'रूपत्वजाति', पृथिवी में रहने वाले रूप में वृत्ति भी है, तथा 'मन' में रहने वाले 'वेगादिकों' में अवृत्ति भी है। ऐसी रूपत्वजाति को लेकर 'रूप' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'संस्कारत्वव्याप्य' पद का रखना आवश्यक है। तब वह 'रूपत्वजाति', 'गुणत्वजाति' की व्याप्य रहने पर भी 'संस्कारत्वजाति' की व्याप्य नहीं है। इसलिये 'रूपत्वजाति' को लेकर 'रूप' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

किसी वृक्ष की शाखा को नीचे खींचकर जब पुनः छोड़ देते हैं, तब वह शाखा अपने पूर्व स्थान पर पहुँच जाती है। शाखा के यथापूर्व संयोग की जनक, उस 'शाखा की क्रिया' है। वह 'क्रिया', उस शाखा में रहने वाले (स्थित) स्थितिस्थापक संस्कार से ही उत्पन्न होती है। यद्यपि उस शाखा में 'वेग' भी उत्पन्न होता

है, तथापि वह वेग, यथापूर्व संयोगजनक क्रिया का जनक नहीं है। वह तो उत्तर-संयोगमात्रजनक क्रिया का जनक है। इसलिये उस 'वेग' के कारण वह 'स्थितिस्थापक-संस्कार' उस यथापूर्व संयोगजनक क्रिया के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं समझा जाता। एवं च 'यथापूर्वसंयोगजनक'- क्रिया के कारण रूप में 'स्थितिस्थापकसंस्कार' को अवश्य मानना होगा। यह 'स्थितिस्थापकसंस्कार' अतीन्द्रिय है। इसलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु यथापूर्वसंयोगजनक क्रिया के द्वारा उसका अनुमान होता है। जो नैयायिक 'स्थितिस्थापक' को केवल पृथिवी का गुण मानते हैं, वे भी उसे घट-पटादि सभी पृथिवी में नहीं मानते, किन्तु 'शाखा, धनुष्, कट' इत्यादि पृथिवी विशेष में ही मानते हैं। और वे उसे उत्पन्न-विनाशशील होने से अनित्य ही कहते हैं। कोई भी स्थितिस्थापक नित्य नहीं होता। वह तो शाखा-धनुष आदि की क्रिया से जन्य होता है। तथा क्रियाविशेष का जनक होता है। और स्वजन्य-क्रियाविशेष से ही उसका नाश होता है। और आश्रयद्रव्य के नाश से भी उसका नाश होता है।

जो नैयायिक स्थितिस्थापक को 'पृथिवी, जल, तेज, वायु'—इन चारों का गुण मानते हैं, उनके मत से उसके 'नित्य' और 'अनित्य' दो भेद होते हैं। परमाणुरूप नित्य पृथिवी आदि में वह 'स्थितिस्थापक' नित्य होता है, और द्वचणुकादि अनित्य पृथिवी आदिकों में वह अनित्य होता है। उस अनित्य स्थितिस्थापक के 'द्वचणुकादि' द्रव्य 'समवायिकारण' होते हैं। और 'द्वचणुकादि' कार्यद्रव्यों के समवायिकारणरूप 'परमाणु आदि' अवयवों का स्थितिस्थापक 'असमवायिकारण' होता है, और दिशा, काल आदि निमित्तकारण होते हैं। और उस अनित्य स्थितिस्थापक का भी उसके आश्रयद्रव्य के नाश से नाश होता है।

इस प्रकार गुणनिरूपण समाप्त हुआ।

कर्माणि

कर्माणि उच्यन्ते। चलनात्मकं कर्म, गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति। अविभुद्रव्य-परिमाणेन मूर्तत्वापरनाम्ना सहैकार्थसमवेतं विभागद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसंयोगहेतुश्च। तच्च उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुञ्चन-प्रसारण-गमनभेदात् पञ्चविधम्। भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते।

कर्माणीति। अब कर्मपदार्थ का निरूपण करते हैं। कर्म का स्वरूप है—क्रिया अर्थात् गति यानी चलना, हिलना, डुलना आदि। वह क्रिया गुण के समान केवल 'द्रव्य' में ही रहती है। **अविभ्विति**। अविभु द्रव्य के परिमाण को 'मूर्तत्व' भी कहते हैं। उस अविभु द्रव्य के परिणाम के साथ वह 'कर्म' एक ही अर्थ में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। और विभाग द्वारा पूर्व संयोग के नाश से वह कर्म उत्तर-देश

संयोग' का हेतु होता है। **तच्चेति।** वह 'कर्म'—(१) उत्क्षेपण (ऊर्ध्वगति), (२) अपक्षेपण (अधोगमन), (३) आकुञ्चन (सिकुड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना), और (५) गमन—के भेद से पाँच प्रकार का होता है। **भ्रमणा-दयस्त्विति।** भ्रमण, रेचन, स्यन्दन आदि 'गमन' के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं।

माधुरी

ग्रन्थकार के दिये 'कर्म' लक्षण को ही परिष्कृत करके हम इस तरह भी कह सकते हैं—**'संयोग-विभागाऽसमवायिकारणं कर्म'**—अर्थात् जो पदार्थ संयोग तथा विभाग का असमवायिकारण होता है, उसे 'कर्म' कहते हैं। प्रथमक्षण में 'घट-पटादिक' मूर्तद्रव्य में क्रियारूप 'कर्म' उत्पन्न होता है। और द्वितीयक्षण में उस 'घट-पाटादिक' मूर्तद्रव्यका पूर्वदेश से विभाग होता है। उस 'विभाग' का 'घट'निष्ठ-कर्म ही 'असमवायिकारण' होता है। और तृतीयक्षण में उस कर्मजन्य विभाग से उस 'घट' के 'पूर्वदेशसंयोग' का नाश होता है। और चतुर्थक्षण में उस 'घट' का उत्तरदेशसंयोग होता है। उस उत्तरदेशसंयोग का भी घटनिष्ठ कर्म ही असमवायि-कारण होता है। अर्थात् 'घटनिष्ठकर्म' ही स्वजन्यविभागद्वारा तथा पूर्वसंयोगनाश-द्वारा उस 'उत्तरदेशसंयोग' का असमवायिकारण होता है। इस प्रकार 'घटनिष्ठकर्म' में 'संयोग' और 'विभाग' दोनों की असमवायिकारणता रहती है।

उक्त लक्षण में यदि 'विभाग' पद न दें, तो 'संयोग' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'वृक्ष-हस्त' के संयोग से 'वृक्ष-शरीर' का भी संयोग माना जाता है। उस 'शरीर-वृक्षसंयोग' का असमवायिकारण 'हस्त-वृक्षसंयोग' ही माना जाता है।

इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'विभाग' पद का देना आवश्यक है। तब उक्त संयोग में 'संयोग' की असमवायिकारणता के रहने पर भी 'विभाग की असमवायिकारणता नहीं है। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अब यदि लक्षण में 'संयोग' पद को न रखें, तो 'विभाग' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'हस्त-वृक्ष-विभाग' से 'शरीर-वृक्षविभाग' भी माना जाता है। उस 'शरीर-वृक्षविभाग' का असमवायिकारण 'हस्त-वृक्षविभाग' ही होता है।

इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'संयोग' पद का रखना आवश्यक है। तब 'उक्त विभाग' में 'विभाग' की असमवायिकारणता रहने पर भी 'संयोग' की असमवायिकारणता न रहने से 'विभाग' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। अब लक्षण में 'असमवायि' पद न दें तो 'घट-पटादि' द्रव्य में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'कर्म' के द्वारा होने वाले 'संयोगविभाग' 'घटादि द्रव्यों' में ही समवाय-सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। इसलिये 'कर्म' के समान 'घटादिक' द्रव्य भी उस 'संयोग-विभाग' के कारण ही कहलाते हैं।

इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'असमवायि' पद का देना आवश्यक है। तब 'घटादि द्रव्यों' में 'संयोग-विभाग' की समवायिकारणता रहने पर भी उनमें 'असमवायिकारणता के न होने से उन घटादिद्रव्यों में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती है।

यह 'कर्म'—'पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन' में समवायसम्बन्ध से रहता है। 'आकाश, काल, दिक् और आत्मा'—इन चार विभुद्रव्यों में वह नहीं रहता। वह कर्म—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन' भेद से पाँच प्रकार का होता है। उसमें से 'उत्क्षेपण कर्म' का लक्षण—**'ऊर्ध्वदेशसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म उत्क्षेपणम्'**—किया जा सकता है। अर्थात् मूर्तद्रव्यों का ऊर्ध्वदेश के साथ जो संयोग है, उसके असमवायिकारण 'कर्म' को उत्क्षेपण कहते हैं। उसी तरह 'अपक्षेपण' कर्म का लक्षण है—**'अधःसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म अपक्षेपणम्**। अर्थात् मूर्तद्रव्य का अधोदेश के साथ जो संयोग, उसके असमवायिकारण 'कर्म' को 'अपक्षेपण' कहते हैं। उसी तरह आकुञ्चन कर्म का लक्षण है—**'अभिमुखदेशसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म आकुञ्चनम्'**। अर्थात् मूर्तद्रव्य का अभिमुखदेश के साथ जो संयोग, उसका असमवायिकारण रूप जो मूर्तद्रव्य का कर्म, उसे 'आकुञ्चन' कहते हैं। चौथे प्रसारण कर्म का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—**तिर्यक्संयोगाऽसमवायिकारणं कर्म प्रसारणम्'**। अर्थात् मूर्तद्रव्य का तिर्यक्देश के साथ जो संयोग, उसका असमवायिकारणरूप जो मूर्तद्रव्य का कर्म, उसे 'प्रसारण' कहते हैं। उसी प्रकार गमन कर्म का लक्षण है—**'अनियतोत्तरदेशसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म गमनम्'**। अर्थात् मूर्तद्रव्य का अनियत उत्तरदेश के साथ जो संयोग, उसका असमवायिकारण मूर्तद्रव्य का जो कर्म, उसे 'गमन' कहते हैं। जैसे 'कर्मत्वजाति' प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, वैसे ही उस कर्मत्वजाति के व्याप्य 'उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व, आकुञ्चनत्व, प्रसारणत्व, गमनत्व' ये पाँचों जातियों भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हैं। 'भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यक्गमन, नमन, उन्नमन' आदि भिन्न-भिन्न सभी कर्म 'गमन कर्म' के ही अन्तर्भूत हैं।

शंका—भ्रमणादिकर्मों को यदि 'गमनकर्म' के अन्तर्गत माना जाता है, तो 'उत्क्षेपणादि' चार कर्मों का भी 'गमनकर्म' में अन्तर्भाव क्यों नहीं माना जाता है?

समा०—यद्यपि 'उत्क्षेपणादि' कर्मों का भी 'गमन' में ही अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि महामुनि कणाद ने पाँच प्रकार के कर्मों का परिगणन किया है, इसलिये पाँच प्रकार का 'कर्म' मानना चाहिये। और भ्रमणादि कर्मों का 'गमन' में ही अन्तर्भाव मानना चाहिये।

यह 'कर्म' उत्पत्तिविनाशशील होने से 'अनित्य' ही माना जाता है। कोई भी 'कर्म' नित्य नहीं होता है। जिस-जिस 'मूर्तद्रव्य' में जो-जो 'कर्म' उत्पन्न होता है, उसका समवायिकारण वह 'मूर्तद्रव्य' ही होता है। और उस मूर्तद्रव्य के साथ दूसरे मूर्तद्रव्य का जो 'अभिघाताख्यसंयोग' अथवा 'नोदनाख्यसंयोग' होता है, वह उस

'कर्म' का असमवायिकारण कहलाता है। जैसे 'कुठारादिकों' का अभिघाताख्यसंयोग 'वंशादिकों' के 'कर्म' का असमावायिकारण होता है। और 'धनुष' की रज्जु का नोदनाख्यसंयोग 'बाण' की क्रिया का असमवायिकारण होता है। और कहीं-कहीं 'अमूर्तद्रव्य' का संयोग भी 'मूर्तद्रव्य' के कर्म का असमवायिकारण होता है। जैसे 'प्रयत्नवान् आत्मा' का संयोग 'शरीरादिकों' के कर्म का असमवायिकारण होता है। तथा प्रयत्नवान् ईश्वर का संयोग 'परमाणुओं' के कर्म का असमवायिकारण होता है। और कहीं 'गुरुत्व' भी 'कर्म' का असमवायिकारण होता है। जैसे फलादिकों के आद्यपतनरूप कर्म का असमवायिकारण, उन फलादिकों का 'गुरुत्व' ही होता है। और कहीं 'द्रवत्व' भी कर्म का असमवायिकारण होता है। जैसे जलादिकों के आद्य-स्यनन्दरूप कर्म का असमवायिकारण, जलादिकों का 'द्रवत्व' ही होता है। और कहीं 'वेग' भी 'कर्म' का असमवायिकारण होता है। जैसे द्वितीयादि 'पतनों' का तथा द्वितीयादि 'स्यन्दनों' का असमवायिकारण, 'वेग' ही होता है। यह सब पीछे बता-चुके हैं। 'कर्म' का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् अर्थात् दोनों इन्द्रियों से होता है। जिस मूर्तद्रव्य में जो कर्म उत्पन्न होता है, उसका विनाश, उसके आश्रयभूत मूर्तद्रव्य के नाश से होता है। और कहीं मूर्तद्रव्य के विद्यमान रहने पर भी उस मूर्तद्रव्य के उत्तरसंयोग से भी 'कर्म' का नाश होता है। और कहीं पर 'स्वजन्य वेग' से भी 'कर्म' का नाश होता है।

सामान्यम्

अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। द्रव्यादित्रयवृत्ति, नित्यमेकमनेकानुगतञ्च। तच्च द्विविधं, परमपरञ्च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्र-हेतुत्वात् सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि। अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषः।

अनुवृत्तीति। अनुवृत्ति-प्रत्यय के (समानाकारक प्रतीति अर्थात् अनुगत-प्रतीति के) कारण (हेतु), को सामान्य (जाति) कहते हैं। वह द्रव्यादि तीन (१—द्रव्य, २—गुण, ३—कर्म) में रहता है। वह नित्य और अनेकवृत्ति (अनेकानुगत) होता है। वह सामान्य 'पर' और 'अपर' के भेद से दो प्रकार होता है। उनमें से 'परसामान्य' को **सत्ता** कहते हैं। क्योंकि उसका क्षेत्र (विषय) अधिक रहता है। अर्थात् वह (परसामान्य) व्यापक है। यानी 'द्रव्य, गुण, कर्म'—तीनों में रहने वाला (वृत्ति) वह 'परमामान्य' है, उसी को 'परसत्ता' या 'सत्ता' भी कहते हैं। वह केवल अनुगत-प्रतीति (समानाकारक प्रतीति) का ही कारण (हेतु) होता है, इसलिये उसे केवल 'सामान्य' ही कहते हैं।

अपरमिति। 'अपर सामान्य'—'द्रव्यत्व, गुणत्व आदि' है, क्योंकि उसका क्षेत्र

(विषय) अल्प है। और वह अपरसामान्य, 'व्यावृत्ति' (भेद) का 'हेतु' होने से 'सामान्य' होते हुए भी 'विशेष' रहता है। अर्थात् उसे 'सामान्य विशेष' कहते हैं।

माधुरी

'सामान्य' पदार्थ (जाति) का ज्ञान अच्छी तरह हृदयङ्गम करना आवश्यक है। इसलिये उसे सविस्तर बताया जा रहा है—जैसे अनेक 'घट व्यक्तियों' में 'अयं घटः, अयं घटः, अयं घटः' इत्याकारक अनुगत प्रतीति (एकाकार या समानाकार या अनुवृत्ताकार प्रतीति) होती है। यह एकाकार प्रतीति किस कारण (क्यों) होती है? यह जिज्ञासा मन में पैदा होती है। उसका समाधान नैयायिक इस प्रकार करता है कि उन 'अनेक घटों' में 'एक धर्म' 'समानरूप' से रहता है। समानरूप से रहने वाले उस धर्म को हम 'सामान्य' अथवा 'जाति' कहते हैं। **'समानानां भावः सामान्यम्'**— जैसे अनेक घटों में समानरूप से रहने वाले 'घटत्व' धर्म को 'सामान्य' शब्द से कहा जाता है। इस 'धर्म' को धर्मिवाचक शब्द से 'त्व' प्रत्यय लगाकर बताया जाता है। जैसे 'घटत्व', 'पटत्व', 'मनुष्यत्व', 'पशुत्व' आदि। ग्रन्थकार ने **'अनुवृत्तिप्रत्यय-हेतुः सामान्यम्'** कह कर 'सामान्य' (जाति) के अस्तित्व (होने) में प्रमाण प्रदर्शित किया है और उसका 'स्वरूप' भी बता दिया है। कुछ लोग इसको 'सामान्य' का लक्षण ही मानते हैं। वस्तुतः यह तो 'सामान्य' पदार्थ की सिद्धि का प्रकारमात्र बताया है। क्योंकि जातिरूप 'सामान्य' की सिद्धि जब तक न हो, तब तक उसके भेद (विभाग) बताना उचित नहीं है। इसलिये ग्रन्थकार उसकी सिद्धि का प्रकारमात्र बता रहे हैं। 'द्रव्य, गुण, कर्म'—इन तीनों पदार्थों में 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सत्', 'कर्म सत्'—इत्याकारक 'सत्-सत्' रूप से अनुगत प्रतीति सभी को होती है। अनेक धर्मियों में 'एकधर्मप्रकारकएकाकारप्रतीति' को ही 'अनुगत प्रतीति' कहते हैं। किसी एक अनुगत विषय के बिना उसका (अनुगत प्रतीति का) होना संभव नहीं होता। द्रव्य, गुण, कर्म—ये तीनों परस्पर विलक्षण होने से उस अनुगत प्रतीति के कारण हो नहीं सकते। परिशेषात् उन द्रव्य-गुण-कर्म तीनों में 'सत्ता' नाम के अनुगत धर्म को स्वीकार करना होगा। जिस सत्तारूप एक अनुगत धर्म को लेकर अनुगतप्रतीति हो सके। अतः द्रव्य, गुण, कर्म में 'सत्ताकार अनुगतप्रतीति' ही 'सत्ता-जाति' की साधक है। उसी प्रकार परस्पर विलक्षण 'पृथिवी, जल' आदि द्रव्यों में 'इदं द्रव्यम्, इदं द्रव्यम्'—इस प्रकार की जो अनुगतप्रतीति होती है, वही उस 'द्रव्यत्व'जाति की साधक होती है। उसी तरह परस्पर विलक्षण 'रूप-रसादिक' गुणों में 'अयं गुणः, अयं गुणः' इस प्रकार की जो अनुगतप्रतीति होती है, वही उस 'गुणत्व-जाति की साधक है। उसी प्रकार परस्पर विलक्षण 'उत्क्षेपण, अपक्षेपण' आदि कर्मों में 'इदं कर्म, इदं कर्म'—इस प्रकार की जो अनुगतप्रतीति होती है, वही उस 'कर्मत्वजाति' की साधक है। उसी तरह परस्पर विलक्षण 'घट-पटादिक' पृथिवी में

'इयं पृथिवी, इयं पृथिवी' इस प्रकार को जो अनुगतप्रतीति होती है, वही उस 'पृथिवीत्व' जाति की साधक है। उसी तरह परस्पर विलक्षण शुक्ल-नीलादिरूपों में 'इदं रूपम्, इदं रूपम्'—इस प्रकार की जो अनुगतप्रतीति होती है वही उस 'रूपत्व-जाति' की साधक है। उसी तरह परस्पर विलक्षण अनेक 'घटों' में 'अयं घटः, अयं घटः'—इस प्रकार की जो अनुगतप्रतीति होती है, वही उस 'घटत्व' जाति की साधक होती है। तात्पर्य यह है कि 'रसत्व, गन्धत्व, गोत्व, पटत्व' आदि जातियों की सिद्धि 'अनुगतगप्रतीति' से ही होती है।

शंका—यदि 'अनुगतप्रतीति' से ही जाति की सिद्धि होती है, तो 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश'—इन पाँचों में 'अयं भूतः, अयं भूतः' इस प्रकार की अनुगत-प्रतीति तो सभी लोगों को होती है। उस कारण उन पाँचों में 'भूतत्व' जाति की भी सिद्धि होनी चाहिये। तथा 'पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन'—इन पाँचों में 'अयं मूर्तः, अयं मूर्तः'—इस प्रकार की अनुगतप्रतीति भी समस्त लोगों को होती है। इसलिये उन पाँचों में अनुगतप्रतीति के कारण 'मूर्तत्व' जाति की भी सिद्धि होनी चाहिये।

समा०—'अनुगतप्रतीति' से 'भूतत्व' तथा 'भूर्तत्व' धर्म के सिद्ध होने पर भी उन की 'जातिरूपता' सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि उन्हीं धर्मों में 'जातिरूपता' सिद्ध होती हैं जिसके होने में 'जातिबाधकदोष' नहीं होता है। वहीं पर 'अनुगतप्रतीति' से 'जातिरूपता' सिद्ध हुआ करती है। किन्तु 'जातिबाधक' दोष के विद्यमान रहने पर वह धर्म 'जाति' रूप नहीं कहलाता। उन 'जातिबाधक' दोषों को श्री उदय-नाचार्य नें 'किरणावली' में बताया है—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः॥'

(१) व्यक्ति का अभेद, (२) तुल्यत्व, (३) सङ्कर, (४) अनवस्था, (५) रूपहानि, (६) असम्बन्ध —ये छह दोष 'जाति' कहलाने में बाधक हुआ करते हैं। अब उनके लक्षण और उदाहरणों को बताते हैं—

(१) **व्यक्ति का अभेद**—'आकाश, काल, दिक्'—इन तीन द्रव्यों में यथाक्रम रहने वाले जो 'आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व'—इन तीन धर्मों में 'जातिरूपता' नहीं मानी जाती, क्योंकि 'व्यक्ति का अभेद' नामक दोष उसमें बाधक होता है।

व्यक्ति के अभेद का लक्षण—'**स्वाश्रयनिष्ठस्वाश्रयप्रतियोगिकभेदाभावः व्यक्तेर-भेदः**'—यहाँ पर लक्षणगत दोनों 'स्व'शब्दों से 'आकाशत्वादि' धर्मों का ग्रहण करना चाहिये। आकाश, काल, दिक्—ये तीनों द्रव्य नाना (अनेक) नहीं हैं, किन्तु एक-एक व्यक्तिरूप ही होते हैं। इसलिये 'आकाश' में आकाश का 'भेद' नहीं रहता। 'काल' में काल का भेद नहीं रहता। 'दिक्' में दिक् का भेद नहीं रहता। यदि वे

'आकाश, काल, दिक्' नाना होते तो एक आकाश में दूसरे आकाश का तथा एक काल में दूसरे काल का तथा एक दिक् में दूसरी दिक् का भेद रहता। परन्तु उनमें नानात्व का अभाव है, इसलिये 'आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व' धर्म में 'स्वाश्रयनिष्ठ स्वाश्रय-प्रतियोगिक भेद' का अभाव ही है। इसी को 'व्यक्ति का अभेद' (व्यक्त्य-भेद) कहते हैं। यह 'व्यक्त्यभेद' दोष ही उस 'आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व' धर्म को जातिरूप मानने में बाधक है। अभिप्राय यह है कि नाना धर्मियों में एकधर्मप्रकारक जो 'अनुगतबुद्धि' होती है, वही 'जाति' की साधक होती है। वह अनुगतप्रतीति उन आकाशादि एक व्यक्ति में नहीं हो पाती। इसलिये 'आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व' में जातिरूपता का स्वीकार नहीं किया जाता।

(२) **तुल्यत्व**—परस्पर विलक्षण (भिन्न) अनेक घटों में 'अयं घटः, अयं घटः'—इस प्रकार की 'अनुगतप्रतीति' होती है। तथा उन अनेक घटों में 'अयं कलशः, अयं कलशः'—इस प्रकार की भी 'अनुगतप्रतीति' होती है। इसलिये दोनों प्रकार की अनुगतप्रतीति से उन 'घटों' में 'घटत्व', 'कलशत्व'—ये दोनों धर्म ज्ञात होते हैं। किन्तु वे दोनों धर्म 'जातिरूप' नहीं हैं, अपितु एक 'घटत्व' धर्म ही जाति-रूप है। और 'कलशत्व' धर्म की जातिरूपता के होने में 'तुल्यत्व' दोष बाधक होता है। एवञ्च 'अनुगतप्रतीति' से 'कलशत्व' धर्म में जातिरूपता सिद्ध नहीं होती है।

तुल्यत्वदोष का लक्षण—**'स्वभिन्नजातिसमनियतत्वं तुल्यत्वम्'**—यहाँ पर लक्षण-गत 'स्व'शब्द से 'कलशत्व' का ग्रहण करना चाहिये। उस 'कलशत्व' से भिन्न जो घटत्व' जाति है, उसका 'समनियतपना' (समनियतत्व) 'कलशत्व' धर्म में है। अर्थात् जितनी 'घटव्यक्तियों' में वह 'घटत्व' जाति रहती है, उतनी ही 'घटव्यक्तियों' में वह 'कलशत्व' धर्म भी रहता है। यही उस 'कलशत्व' धर्म में उस 'घटत्व' जाति (धर्म) का 'समनियतपना' (समनियतत्व) है। इसी 'समनियतत्व' को 'तुल्यत्व' कहते हैं। यह 'तुल्यत्वदोष' ही उस 'कलशत्व' धर्म के 'जातिरूप' होने में बाधक है।

सङ्करदोष—'भूतत्व, मूर्तत्व' आदि धर्मों को 'जातिरूप' कहने में 'सङ्करदोष' बाधक होता है। सङ्करदोष का लक्षण इस प्रकार है—**परस्परात्यन्ताभावसमानाधि-करणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः'**—अर्थात् परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरण वाले जो 'दो धर्म', उनका एक अधिकरण में रहना ही 'सङ्कर' कहलाता है। जैसे—'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश'—इन पाँच द्रव्यों में 'भूतत्व' धर्म रहता है और 'पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन'—इन पाँच द्रव्यों में 'मूर्तत्व' धर्म रहता है। इस प्रकार मन में 'मूर्तत्वधर्म', उस 'भूतत्वधर्म' के अत्यन्ताभाव के साथ 'समान अधिकरण' वाला है, और 'आकाश' में 'मूर्तत्व धर्म' का 'अत्यन्ताभाव' रहता है तथा 'भूतत्वधर्म' रहता है। इस प्रकार आकाश में 'भूतत्वधर्म' भी 'मूर्तत्व धर्म' के अत्यन्ता-भाव के साथ 'समान अधिकरण' वाला है। इस प्रकार परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ

समान अधिकरण वाले जो 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' दो धर्म हैं, वे दोनों धर्म 'पृथिवी, जल, तेज, वायु' इन चारों द्रव्यों में रहते हैं। यही 'संकर' दोष का स्वरूप है। वही 'भूतत्व और मूर्तत्व' धर्म के जातिरूप होने में बाधक है। अर्थात् 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' दोनों धर्म, जातिरूप नहीं हैं। इसी प्रकार 'शरीरत्व', 'इन्द्रियत्व' आदि धर्मों के 'जातिरूप' होने में भी 'सङ्करदोष' ही बाधक होता है। शरीरत्व धर्म के अत्यन्ताभाव वाले 'घट' आदि में 'पृथिवीत्व' धर्म रहता है, और 'पृथिवीत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव वाले 'जलीयशरीर' में 'शरीरत्व' धर्म रहता है। इस प्रकार परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरण वाले जो 'शरीरत्व' और 'पृथिवीत्व' दो धर्म हैं, वे दोनों 'मनुष्यादि' पार्थिव शरीर में रहते हैं। उस कारण 'शरीरत्व' धर्म के जातिरूप होने में 'सङ्करदोष' ही बाधक होता है। इसी प्रकार 'इन्द्रियत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव वाले 'घटादिकों' में 'पृथिवीत्व' धर्म रहता है, और पृथिवीत्व धर्म के अत्यन्ताभाव वाले 'जलीयरसनेन्द्रिय' में वह 'इन्द्रियत्व' धर्म रहता है। इस रीति से 'इन्द्रियत्व' और 'पृथिवीत्व' दोनों धर्म, परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समान-अधिकरण वाले हैं। और 'घ्राणेन्द्रिय' में वे दोनों 'इन्द्रियत्व और पृथिवीत्व' धर्म रहते हैं। उस कारण 'इन्द्रियत्व' धर्म के जातिरूप होने में 'संकरदोष' ही बाधक होता है। इसी प्रकार 'जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व'—इन तीन जातियों के साथ भी शरीरत्व, इन्द्रियत्व धर्म का सङ्कर समझना चाहिये।

शंका—'सङ्करदोष' जैसे 'शरीरत्व, इन्द्रियत्व' धर्म के 'जातिरूप' होने में बाधक होता है, वैसे ही 'पृथिवीत्व, जलत्व' आदि धर्मों के जातिरूप होने में बाधक क्यों नहीं होता है ?

समा०—जिन दो धर्मों का संकर होता है, वह 'संकर', उन दोनों धर्मों के जातिरूप होने में नियमितरूप से बाधक नहीं होता। किन्तु कहीं तो वह 'सङ्कर' उन दोनों धर्मों के 'जातिरूप' होने में बाधक होता है, और कहीं पर 'एक धर्म' मात्र के जातिरूप होने में बाधक होता है। अतः 'सङ्करदोष' उन पृथिवीत्वादिकों के जातिरूप होने में बाधक नहीं होता है। किन्तु 'शरीरत्व', 'इन्द्रियत्व' धर्म के ही जातिरूप होने में बाधक होता है। उस कारण कुछ ग्रन्थकार 'भूतत्व-मूर्तत्व' के संकरस्थल में भी उसको (सङ्करदोष) को केवल 'भूतत्व' धर्म के जातिरूप होने में ही बाधक मानते हैं। मूर्तत्व धर्म के जातिरूप होने में उसे बाधक नहीं मानते। वह (मूर्तत्व धर्म) तो स्व-वृत्ति क्रिया की समवायिकारणता का अवच्छेदक होने से 'जाति'रूप ही सिद्ध होता है। और नवीन नैयायिक तो 'सङ्कर' को किसी भी 'जाति' का बाधक नहीं मानते।

अनवस्था—सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, पृथिवीत्व, जलत्व, रूपत्व, रसत्व, घटत्व, पटत्व—इत्यादि जातिरूप सामान्य हैं। इन समस्त सामान्यों में रहने वाला

जो एक 'सामान्यत्व' धर्म है। उस (सामान्यत्व धर्म) को 'जातित्व' धर्म भी कहा जाता है। उस 'सामान्यत्व' धर्म के जातिरूप होने में 'अनवस्था' दोष ही बाधक होता है। क्योंकि 'सामान्यत्व' धर्म को यदि 'जातिरूप' मानते हैं, तो जैसे सत्ता, द्रव्यत्वादिक जातियों को 'सामान्यत्वरूपजाति' के रूप में माना जाता है, वैसे ही 'सामान्यत्व' रूप जाति में भी कोई 'जाति' अवश्य माननी होगी।

यद्यपि उस 'सामान्यत्व' रूप एकव्यक्ति में रहने वाले 'धर्म' को आकाशत्वादिकों के समान 'जातिरूप' मानना संभव नहीं हो सकता है, तथापि उस 'सामान्यत्व' रूप जाति को तथा उसके आश्रयभूत 'सत्ता, द्रव्यत्वादिक' जातियों को मिलाकर उन सब में एक 'दूसरी जाति' माननी होगी। उसी प्रकार उस दूसरी जाति को तथा उसके आश्रयभूत सभी जातियों को मिलाकर उन सब जातियों में एक 'तीसरी जाति' माननी होगी। इसी प्रकार चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, इत्यादि कल्पना-परम्परा कभी समाप्त ही नहीं होगी, क्योंकि अनवस्था का लक्षण (स्वरूप) ही इस प्रकार है—**'क्लृप्तवस्तुसजातीयवस्तुपरम्पराकल्पनमनवस्था'**। इस अनवस्था दोष के कारण 'सामान्यत्व' धर्म को 'जातिरूप' नहीं कह सकते। अतः 'सत्ता, द्रव्यत्वादिक' सभी जातियों में रहने वाला जो 'सामान्यत्व' धर्म है, वह 'जातिरूप' नहीं है।

रूपहानि—परमाणु, आकाशादिक नित्यद्रव्यों में समवायसम्बन्ध से रहने वाले जो 'विशेष' हैं, उनमें रहने वाले 'विशेषत्व' धर्म को 'जातिरूप' मानने में 'रूपहानि' दोष ही बाधक बनता है। 'रूपहानि' में 'रूप' शब्द से 'असाधारणधर्म' रूप लक्षण का ग्रहण करना है। उस लक्षण की जो हानि, उसे 'रूपहानि' कहा गया है। अर्थात् **'सामान्यरहितत्वे' सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतात्मकस्य विशेषगतरूपस्य हानिः—रूपहानिः'**। वह 'रूपहानि' ही 'विशेषत्व' धर्म के जातिरूप होने में बाधक है। 'विशेष' का लक्षण और उदाहरण दे रहे हैं—**'निःसामान्यत्वे सति एकमात्रसमवेतो विशेषः'**—अर्थात् जो पदार्थ, जातिरूप सामान्य से रहित होकर एकद्रव्यव्यक्तिमात्र में समवेत रहता है, उसे 'विशेष' कहते हैं। 'विशेष' का लक्षण तभी संभव हो सकता है कि जब 'विशेष' को जातिरूप सामान्य से रहित माना जाय। यदि उस 'विशेष' में कोई 'जाति' मानी जायगी तो उस लक्षण की हानि होगी। अथवा **'स्वतो व्यावर्तको विशेषः'**—अर्थात् जो पादर्थ अपने आश्रयभूत 'नित्यद्रव्य' को दूसरे नित्यद्रव्य से 'स्व-स्वरूपतः' ही भिन्न करता है, उस पदार्थ को 'विशेष' कहते हैं। यदि 'विशेष' में कोई 'जाति' मानेंगे तो लक्षण की ही हानि होगी। क्योंकि जो पदार्थ 'जाति' का आश्रय होता है, वह 'जातिविशिष्टरूप' से ही स्वाश्रयनिष्ठ इतर पदार्थ के भेद का साधक होता है। उस जाति के बिना केवल स्वरूप से उस भेद का साधक नहीं होता। जैसे गन्धत्वादिजाति वाले 'गन्ध' आदि, उस गन्धत्वादिजातिविशिष्टरूप से ही स्वाश्रयभूत पृथिवी आदि में 'जलादि' इतर पदार्थों के भेद के साधक होते हैं। उसी तरह वह 'विशेष' भी 'जातिविशिष्टरूप' से ही 'इतर भेद'

का साधक होगा। स्वरूप से उस 'इतर भेद' का साधक नहीं होगा। अन्यथा 'स्वतोव्यावर्तकत्वरूप' विशेष के लक्षण की हानि होगी। उस विशेष के लक्षण (रूप) की हानि होना ही 'रूपहानि' है, वही 'विशेषत्व' धर्म के 'जातिरूप' होने में बाधक है।

असम्बन्ध—'समवाय' में रहने वाला जो 'समवायत्व' धर्म है, तथा 'अभाव' में रहने वाला जो 'अभावत्व' धर्म है, उसके 'जातिरूप' होने में यह 'असम्बन्ध' दोष ही बाधक होता है। 'असम्बन्ध' का लक्षण है—**'प्रतियोगितानुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाऽभावः असम्बन्धः'**। अर्थात् 'प्रतियोगितासम्बन्ध' से तथा 'अनुयोगितासम्बन्ध' से 'समवाय' का जो 'अभाव' है, उसी को 'असम्बन्ध' कहते हैं। 'पृथिवी' आदिक द्रव्यों में 'गुण' तथा 'कर्म' समवायसम्बन्ध से रहते हैं। उस 'गुण-कर्म' के 'समवाय' का प्रतियोगी 'गुण-कर्म' ही होंगे, और 'पृथिवी' आदि द्रव्य, उसके (समवायसम्बन्ध के) अनुयोगी होंगे। इस कारण वह 'गुण-कर्म का समवाय', प्रतियोगितासम्बन्ध से 'गुण-कर्म' में रहेगा, और 'अनुयोगितासम्बन्ध' से उन 'पृथिवी आदि द्रव्यों' में रहेगा। इस रीति से 'द्रव्य, गुण, कर्म'—इन तीनों पदार्थों में 'जाति' रूप सामान्य 'समवायसम्बन्ध' से रहता है। उस 'सामान्य' के समवाय का प्रतियोगी तो 'सामान्य' ही होगा, और 'द्रव्य-गुण-कर्म' उसके (समवाय के) अनुयोगी होंगे। तब 'सामान्य का समवाय' भी 'प्रतियोगितासम्बन्ध' से उस 'सामान्य' में ही रहेगा और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से वह (समवाय) 'द्रव्य-गुण-कर्म' में रहेगा। उसी प्रकार 'परमाणु, आकाशदिक' नित्यद्रव्यों में 'समवायसम्बन्ध' से रहने वाले जो 'विशेष' हैं, उनका 'समवाय' भी 'प्रतियोगिता' सम्बन्ध से तो उन 'विशेषों' में रहेगा, और 'अनुयोगितासम्बन्ध' से उन 'नित्य द्रव्यों' में रहेगा। इसी प्रकार 'तन्तु आदि' अवयवों में 'समवायसम्बन्ध' से रहने वाले जो 'पटादिक' अवयवी हैं, उनका 'समवाय' भी 'प्रतियोगितासम्बन्ध' से उन 'पटादिक' अवयवियों में रहेगा, और 'अनुयोगितासम्बन्ध' से उन 'तन्तु आदि अवयवों' में रहेगा। इस प्रकार 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष'—इन पाँच पदार्थों में वह 'समवाय' 'प्रतियोगितासम्बन्ध' से या 'अनुयोगितासम्बन्ध' से अवश्य ही रहता है। तथापि उसमें विशेषता इतनी ही है कि 'सामान्य-विशेष' इन दो पदार्थों में कोई भी पदार्थ 'समवाय' सम्बन्ध से नहीं रहता है। उस कारण 'सामान्य-विशेष' में तो वह (समवाय) केवल 'प्रतियोगिता-सम्बन्ध' से ही रहता है, 'अनुयोगितासम्बन्ध' से नहीं रहता। और 'परमाणु, आकाशादिक' नित्यद्रव्य, किसी भी पदार्थ में 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहते। इसलिये उन नित्यद्रव्यों में तो वह 'समवाय' केवल 'अनुयोगितासम्बन्ध' से ही रहता है। 'प्रतियोगितासम्बन्ध' से नहीं रहता। और 'सामान्य-विशेष-नित्यद्रव्य' इन तीनों से भिन्न 'द्रव्य-गुण-कर्म' में वह 'समवाय' प्रतियोगितासम्बन्ध से भी रहता है। तथा 'अनुयोगितासम्बन्ध' से भी रहता है। और 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनों पदार्थ, स्वयं किसी पदार्थ में 'समवायसम्बन्ध'

से नहीं रहते। तथा उस 'समवाय' और 'अभाव' में कोई दूसरा पदार्थ भी समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता है। इसलिये वे 'समवाय' और 'अभाव' दोनों उस 'समवाय' के प्रतियोगी भी नहीं हैं, और 'अनुयोगी' भी नहीं हैं। उस कारण 'समवाय' और 'अभाव' में वह 'समवाय' प्रतियोगितासम्बन्ध से तथा अनुयोगितासम्बन्ध से भी नहीं रहता। इस रीति से 'समवाय' में और 'अभाव' में प्रतियोगितासम्बन्ध से तथा अनुयोगितासम्बन्ध से जो 'समवाय' का अभाव है, उसी का नाम 'असम्बन्ध' है। वह 'असम्बन्धदोष' ही 'समवायत्व' के तथा 'अभावत्व' के 'जातिरूप' होने में बाधक है।

जिसके मत में 'समवाय' एक है, उसके मत में पूर्वोक्त 'व्यक्त्यभेद' ही 'आकाशत्वादिकों' के समान 'समवायत्व' के जातिरूप होने में बाधक है। और जिस मत में 'समवाय' नाना हैं, उस मत में 'असम्बन्धदोष' ही उस 'समवायत्व' के जातिरूप होने में बाधक होता है।

अभिप्राय यह है कि (१) सामान्य में जाति मानने में 'अनवस्था' बाधक होती है। (२) विशेष में जाति मानने में 'रूपहानि' बाधक होती है। (३) समवाय में जाति मानने में 'असम्बन्ध' बाधक होता है। उक्त तीनों पदार्थों में 'सत्ता' अथवा अन्य कोई भी जाति नहीं रहती। इसलिये ये तीनों 'सत्ता' जाति के सम्बन्ध से 'सत्' नहीं कहलाते, अपितु ये स्वरूप से ही 'सत्' रहते हैं।

शंका—आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व, भूतत्व, शरीरत्व, इन्द्रियत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व इत्यादि धर्म यदि 'जातिरूप' नहीं हैं, तो वे धर्म किं स्वरूप हैं ?

समा०—'आकाशत्वादि' धर्म, **'उपाधि'** रूप हैं। यद्यपि 'धर्ममात्र' का नाम 'उपाधि' होने से 'द्रव्यत्वादि' जातियाँ भी 'उपाधिरूप' ही हैं। उसी कारण अनेक जगह 'द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व' इन तीनों जातियों को 'पदार्थविभाजक उपाधि' के नाम से कहा गया है। तथा 'पृथिवीत्व, जलत्व' आदि जातियों को 'द्रव्यविभाजक उपाधि' के नाम से कहा गया है। तथा 'रूपत्व, रसत्व' आदि जातियों को 'गुण-विभाजक उपाधि' के नाम से कहा गया है।

तथापि यहाँ पर 'उपाधि' शब्द से 'जाति-भिन्न' धर्म का ग्रहण करना है। यह 'उपाधि' (१) **सखण्ड उपाधि** और (२) **अखण्ड उपाधि** के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से **'बहुपदार्थघटितो धर्मः सखण्डोपाधिः'**—अर्थात् जो 'धर्म', अनेक पदार्थों से घटित (युक्त) होता है, उसे 'सखण्ड उपाधि' कहते हैं। जैसे 'आकाश' में 'शब्द गुण' का जो समवायिकारणत्व है, वही 'आकाशत्व' है। वह 'आकाशत्व' 'शब्दसमवायिकारणत्व'—इन अनेक पदार्थों से घटित है। उस कारण 'आकाशत्व' को सखण्डोपाधि कहते हैं। उसी तरह 'अन्त्यावयवित्वविशिष्टचेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्'—

से लक्षित 'शरीरत्व' धर्म भी 'अन्त्य, अवयवि, चेष्टा इत्यादि अनेक पदार्थों से घटित होने के कारण 'सखण्ड उपाधि' है। उसी प्रकार पूर्वोक्त 'शिष्टत्व, इन्द्रियत्व, विषयत्व, कालत्व, दिक्त्व, सामान्यत्व' इत्यादिक सब धर्म 'सखण्ड-उपाधि' ही हैं, तथा 'विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व, भावत्व, कारणत्व इत्यादि धर्म भी 'सखण्ड उपाधि' रूप हैं। वह सखण्ड उपाधिरूप धर्म जिस-जिस द्रव्य-गुणादिरूप पदार्थ से घटित रहता है, उसी पदार्थ में उस 'सखण्डोपाधि' रूप धर्म का अन्तर्भाव हो जाता है। उन द्रव्य-गुणादि पदार्थों से वह 'सखण्डोपाधि' अतिरिक्त नहीं है।

उसी तरह **'अनिर्वचनीयो धर्मः अखण्डोपाधिः'**—अर्थात् जिस 'धर्म' का किसी प्रकार से भी निर्वचन नहीं हो सकता, उस धर्म को 'अखण्डोपाधि' कहते हैं। जैसे—'प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व' आदि। वह 'अखण्डोपाधिरूप धर्म' अतिरिक्त ही होता है, अर्थात् उन द्रव्यादिक पदार्थों के अन्तर्गत नहीं होता है। इस जातिरूप 'सामान्य' पदार्थ का 'घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, मन'—इन छह इन्द्रियों से ही ग्रहण किया जाता है। 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिर्गृह्यते'—अर्थात् जिस किसी इन्द्रिय से जिस 'द्रव्य, गुण, कर्म' का प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रिय से उस द्रव्यनिष्ठजाति का, गुणनिष्ठजाति का, तथा कर्मनिष्ठजाति का भी प्रत्यक्ष होता है।

सामान्य के सम्बन्ध में नवीन नैयायिक कहते हैं कि 'सत्-सत्' इत्याकारक अनुगत-प्रतीति के विषय को 'सत्ता' संज्ञक 'जाति' नहीं कहते। किन्तु द्रव्यादिक षट्पदार्थों में रहने वाला जो 'भावत्व' धर्म है, वही 'प्रतीति' का विषय होने से 'सामान्यादिकों' में 'सत्ताजाति' के न रहने पर भी 'सामान्यं सत्' यह व्यवहार होता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे 'द्रव्य, गुण, कर्म' तीनों में 'सत्' प्रतीति होती है, वैसे ही 'सामान्य, विशेष, समवाय'—इन तीनों में भी 'सत्' प्रतीति होती है। अत एव ये 'भावपदार्थ' हैं। इसलिये 'द्रव्य, गुण, कर्म' इन तीन भावपदार्थों के समान ही अग्रिम तीन (सामान्य, विशेष, समवाय) भावपदार्थों में भी 'सत्ता-सामान्य' को मानना चाहिये। उसे केवल 'द्रव्यादि तीन' में ही मानना ठीक नहीं है।

किन्तु उक्त शंका का समाधान यह है कि 'द्रव्य, गुण और कर्म' ये तीनों, 'सत्ता-सामान्य' का सम्बन्ध होने से 'सत्' होते हैं, और अग्रिम तीन (सामान्य, विशेष, समवाय) पदार्थ, 'स्वरूप' से ही 'सत्' रहते हैं। वे 'सत्ता-सामान्य' के सम्बन्ध के कारण 'सत्' नहीं होते हैं। उन में 'सत्ता-सामान्य' (जाति) नहीं रहता। क्योंकि यदि 'सत्ताजाति' (सत्तासामान्य) में 'जाति' मानेंगे तो 'जाति' में पुनः 'जाति' को मानना होगा, तब 'अनवस्था' दोष होने लगेगा। अतः 'सामान्य' में जाति (सामान्य) नहीं मानी जाती। 'सामान्य' तो स्वयं जातिस्वरूप ही है।

शंका—'भावत्व' धर्म को यदि 'सत् प्रतीति का विषय मानते हैं, तो 'अभाव'

में 'भावत्व' धर्म का अभाव रहने से उसमें 'सत्प्रतीति' नहीं होनी चाहिये। किन्तु अभाव में भी 'भूतले घटाऽभावोऽस्ति' यह 'सत्' व्यवहार तो होता है।

समा०—'अभाव' में भी जो 'सत्' व्यवहार होता है, उस 'सत्' प्रतीति का विषय 'काल का सम्बन्धरूप सत्त्व' ही है। वह 'सत्त्व' उन द्रव्यादिक सात पदार्थों में ही रहता है। उस कारण भी उस 'सत्ता' जाति की सिद्धि नहीं हो पाती है। इसलिये उसके 'पर-अपर' भेद करके दो प्रकार का 'सामान्य' बताना, तदनन्तर 'सत्ता' को 'परसामान्य' तथा 'द्रव्यत्वादि' को 'अपरसामान्य' आदि कहना—यह सब वैशेषिकों के द्वारा प्रदर्शित विभाग अनुचित प्रतीत हो रहा है।

अत्र कश्चिदाह 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' इति। तत्र वयं ब्रूमः किमालम्बना तर्हि भिन्नेषु विलक्षणेषु पिण्डेष्वेकाकारा बुद्धिर्विना सर्वानुगतमेकम्। यच्च तदालम्बनं तदेव सामान्यमिति।

ननु तस्याऽतद्व्यावृत्तिकृतैवैकाकारा बुद्धिरस्तु। तथाहि, सर्वेष्वेव हि गोपिण्डेषु, अगोभ्योऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तिरस्ति। तेनागोव्यावृत्तिविषय एवायमेकाकारः प्रत्ययोऽनेकेषु, न तु विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः। मैवम्। विधिमुखेनैवैकाकारस्फुरणात्।

आक्षेप—अत्रेति। सामान्य के प्रसङ्ग में ही कोई बौद्ध कह रहा है कि 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' अर्थात् 'घट-पट' आदि किसी पदार्थव्यक्ति से भिन्न (पृथक्) 'सामान्य' (जाति) नाम की कोई वस्तु नहीं है। अभिप्राय यह है कि 'घट-पट' आदि व्यक्तियाँ ही 'घटत्व-पटत्व' रूप हैं। उन घट-पट आदि व्यक्तिपदार्थों से भिन्न 'घटत्व-पटत्व' नाम की कोई 'जाति' नाम की वस्तु नहीं है, यानी 'घट' में 'घटत्व' धर्म 'जाति' के रूप में रहता है—यह कहना उचित नहीं है।

समा०—तत्रेति। बौद्ध के उक्त आक्षेप पर हम यह समाधान दे रहे हैं कि तुम बौद्धों के मतानुसार यदि 'सामान्य' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं तो अनेकानेक (भिन्न-भिन्न) विलक्षण 'घट-पटादि' पिण्डों (व्यक्तियों) में अनुभूयमान जो 'एकाकारप्रतीति' होती है, उसके होने में उन पर (घट-पटादि व्यक्तियों पर) स्थित 'सामान्य' (घटत्व-पटत्वादि सामान्य) के अतिरिक्त अन्य कौन-सा आधार है, जिसके बल पर वह 'एकाकारप्रतीति' होती रहती है। तो मानना होगा कि उस एकाकारप्रतीति का आधार 'वही सामान्य' (जाति) है।

आक्षेप—नन्विति। पूर्वपक्षी बौद्ध पुनः आक्षेप कर रहा है कि, जिस 'एकाकार प्रतीति' को आप उपस्थित कर रहे हैं, वह हमारी 'अतद्व्यावृत्ति' के द्वारा ही हो रही है—यह क्यों नहीं आप मानते? जैसे सभी 'गोपिण्डों' की 'अगो' (अर्थात् गोभिन्न अश्वादिकों) से व्यावृत्ति (भिन्नता) हो जाती है। अतः अनेक गोव्यक्तियों (गोपिण्डों) में होने वाली जो 'एकाकारप्रतीति' है, वह 'अतद्व्यावृत्ति (गोभिन्न-

भिन्नत्व) को ही बताती है। 'एकाकारप्रतीति', 'भावरूप सामान्य' (जाति) नहीं बताती है।

समा०—मैवमिति। नैयायिक समाधान देते हुए कहता है कि तुम बौद्धों का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'एकाकारप्रतीति', 'विधिमुख' (भावरूप) से ही होती है। अर्थात् उस प्रतीति में 'अतद्व्यावृत्तिरूप अभाव' का अनुभव नहीं होता है। अतः 'भावरूप सामान्य' को स्वीकार करना ही होगा।

माधुरी

जाति के सम्बन्ध में बौद्ध-मत पर विचार—

'जाति' के सम्बन्ध में बौद्धों ने बड़ा विवाद खड़ा किया है। वे कहते हैं कि 'अयं घटः, अयं घटः'—इत्याकारक अनुगतप्रतीति, उस 'घटत्वजातिरूप सामान्य' को विषय नहीं करती, किन्तु वह (अनुगतप्रतीति) तो 'अतद्व्यावृत्ति' को ही विषय करती है। 'घट' से भिन्न जितने भी 'पटादिक' पदार्थ हैं, उन पटादिक समस्त पदार्थों का नाम 'अतत्' है। उस 'अतत्' का 'घट' में जो भेद है, उसी को 'अतद्व्यावृत्ति' शब्द से कहते हैं। अर्थात् 'घट' से भिन्न समस्त पदार्थों का जो 'घटनिष्ठभेद' है उसी का नाम 'अतद्व्यावृत्ति' है। भेदरूप-अभाव, तुच्छ होने से वह अपने आश्रय से अतिरिक्त नहीं होता है। एवञ्च 'अभावरूप अघटव्यावृत्ति', 'घटव्यक्ति रूप' ही है। इस प्रकार 'पृथिवीत्व, जलत्व, गोत्व, पटत्व' आदि भी 'अतद्व्यावृत्ति' रूप होने से वे तत्तत् पृथिवी आदिक व्यक्तियों से अतिरिक्त नहीं हैं।

बौद्ध विद्वान् 'सामान्य' (जाति) पदार्थ का स्वीकार नहीं करते। किन्तु नैयायिकों ने 'सामान्य' को 'नित्य' और 'अनेकसमवेत' मानकर उसे 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व' कहकर बताया है। यहाँ पर 'समवेतत्व' कहने से 'समवायेन वृत्तित्व' ही समझना चाहिये। 'येन केनचित् सम्बन्धेन वृत्तित्व' को नहीं समझना चाहिये। अन्यथा 'घटात्यन्ताभाव' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह 'स्वरूपसम्बन्ध' से घट-मठादि अनेकों पदार्थों में रहता है। 'सामान्य' को नित्य समझने वाले नैयायिक हैं और उसे 'क्षणिक' समझने वाले क्षणभङ्गवादी बौद्ध हैं। नैयायिकों ने सामान्य' (जाति) को मानकर अनेक 'घटों' में 'एकाकार (अनुगत) प्रतीति' रूप कार्य को जैसे सम्पन्न कर लिया है, वैसे ही बौद्धों ने भी 'जाति' के स्थान पर 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) को मानकर, उसी से 'एकाकार प्रतीति' रूप कार्य का सम्पादन किया है।

बौद्धमत—१. जातिवादी नैयायिक 'घटादिक' व्यक्तियों से अलग (भिन्न) 'घटत्वादिक' भावरूपजातियों को यदि मानते हैं, तो वह 'घटत्व' जाति घट में रहती है, अथवा 'अघट' में रहती है? इस प्रश्न का वह प्रथमतः उत्तर दें। किन्तु 'घटत्व' जाति के रहने से पूर्व तो उस 'घट' का ही अभाव है। इसलिये प्रथम विकल्प को वह स्वीकार

नहीं कर सकेगा। और 'घट' से भिन्न 'पट आदि' का नाम 'अघट' है तब उन पटादिकों में भी 'घटत्व' जाति यदि रहती हो, तो उन पटादिकों में भी 'घट-व्यवहार' होना चाहिये, किन्तु 'पट' अपेक्षित रहने पर 'घटमानय' कोई नहीं कहता है। इसलिए द्वितीय विकल्प का भी स्वीकार वह नहीं कर सकेगा।

२. किञ्च उत्पन्न हुए 'घट' में रहने के लिये 'घटत्व' जाति कहाँ से आती है? (क) यदि यह कहो कि उस 'घट' के समवायिकारणरूप 'कपालों' में ही वह 'घटत्व' जाति रहती थी, वही (घटत्व जाति) उस घट के उत्पन्न होने पर उसमें (घट में) आकर रहने लगी। किन्तु यह उत्तर उचित नहीं होगा, क्योंकि 'घट' के समवायि-कारण रूप 'कपालों' में भी यदि 'घटत्व' जाति रहती होती तो उन कपालों में भी 'अयं घटः' यह व्यवहार हुआ होता, किन्तु 'कपाल' को कोई 'घट' नहीं कहता। (ख) यदि यह कहो कि जिस काल में वह 'घट' उत्पन्न होता है, उसी काल में उस 'घटव्यक्ति' के साथ ही वह 'घटत्वजाति' भी उत्पन्न होती है। किन्तु यह कहना भी उचित नहीं होगा। क्योंकि जातिवादी तुम नैयायिकों ने उसे (जाति को) 'नित्य' माना है। तब नित्य रहने वाली उस 'घटत्व' जाति की 'उत्पत्ति' का होना कैसे संभव हो सकता है? (ग) यदि यह कहो कि जिस काल में वह 'घट' उत्पन्न होता है, उस काल में वह 'घटत्वजाति', किसी दूसरे 'घट' से आकर उस 'घट' में रहने लगती है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम नैयायिकों ने 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन'—इन पाँच मूर्तद्रव्यों में ही 'क्रिया' का होना माना है। अतः आपकी अंगीकृत 'जाति', द्रव्यरूप न होने से उसमें 'गमनागमन' क्रिया का होना संभव नहीं है। इसलिये दूसरे घट से वह कैसे आ सकती है?

३. अथवा नैयायिक यह बतावे कि वह 'घटत्व' जाति उस 'एक घटव्यक्ति' में अपने सम्पूर्णरूप से रहती है, अथवा उसके किसी एक देश में (एक भाग में) रहती है? यदि नैयायिक प्रथमपक्ष का स्वीकार करता है तो जिस 'घटव्यक्ति' में वह 'घटत्व-जाति' सम्पूर्ण (समग्र) रूप से रहती है, उस 'घटव्यक्ति' में ही उस 'घटत्वजाति' की प्रतीति होगी। उससे भिन्न अन्य 'घटव्यक्तियों' में उस 'घटत्वजाति' की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु तुम जातिवादियों को उनमें भी 'जाति' की प्रतीति होती है। अतः प्रथमपक्ष का स्वीकार तुम नहीं कर सकते हो। अब यदि द्वितीयपक्ष का स्वीकार करोगे तो, तुम नैयायिकों के मतानुसार 'जन्यद्रव्य' ही सावयव होते हैं, अन्य नहीं। 'जाति' को तुमने 'जन्यद्रव्य' तो माना नहीं है, तब 'घटत्व' जाति के 'एक देश' की संभावना कैसे कर सकते हो?

इसी प्रकार 'गोत्व, पटत्व, पृथिवीत्व, जलत्व, द्रव्यत्व' आदि जातियों का होना भी संभावनीय नहीं है। अतः 'घटत्वादिक' 'अतद्व्यावृत्तिरूप' होने से 'घटादि' व्यक्ति-रूप ही हैं। अतः घटादिव्यक्ति से भिन्न कोई 'जातिरूप भावपदार्थ' नहीं है।

सिद्धान्तपक्ष—इस पर जातिवादी नैयायिक, बौद्धमत का खण्डन करते हुए 'जाति' पदार्थ की भावरूपता एवं व्यक्ति से उसकी भिन्नता को सिद्ध करता है। नैयायिक कहता है कि एक-दूसरे से भिन्न लाल, पीली, हरी, नीली जितनी भी अनेक 'घटव्यक्तियाँ' हैं, उन सभी में अनुगत रहने वाली यदि एक 'घटत्वजाति' नहीं मानोगे तो उन सब में 'अयं घटः, अयं घटः'—इस प्रकार की 'एकाकार बुद्धि' नहीं होगी, किन्तु सभी प्रकार के 'घटों' में एकाकारबुद्धि तो सभी को होती है। उस एकाकार बुद्धि के होने में जब 'कारण' का अनुसन्धान करते हैं, तब समझ में आता है कि सभी घटों में जो 'घटत्वजाति' विद्यमान है, उसी के रहने से यह एकाकारबुद्धि हो रही है। अभिप्राय यह है कि विषय-भेद से ही 'ज्ञान' में विलक्षणता होती है, अन्यथा नहीं। जैसे 'अयं घटः'—यह ज्ञान 'घट' को विषय करता है, और 'अयं पटः'—यह ज्ञान 'पट' को विषय करता है। दोनों ज्ञान परस्पर विलक्षण (भिन्न) हैं, उस विलक्षणता का कारण 'घट-पटरूप' विषय का 'भेद' ही है। उसी प्रकार परस्पर भिन्न-भिन्न घटों में 'अयं घटः, अयं घटः'—यह 'एकाकारज्ञान' भी होता है। इन ज्ञानों में पूर्व ज्ञानों से विलक्षणता नहीं है। विलक्षणता के न होने से प्रतीत होता है कि इन ज्ञानों का कोई 'एक ही विषय' होने से ये 'ज्ञान' परस्पर विलक्षणता से रहित हैं। तथापि 'घट-व्यक्ति' रूप विशेष्यों की अनेकता (भिन्नता) तो प्रत्यक्ष ही है। परिशेषात् 'घटत्वजाति' रूप 'विशेषण' की एकता सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि 'विशेषणों' का भेद तो 'ज्ञानों' की विलक्षणता (भिन्नता) का कारण होता है, किन्तु उनका अभेद 'ज्ञानों' की अविलक्षणता का कारण होता है। 'विशेष्य' का भेद अथवा अभेद, ज्ञानों की विलक्षणता या अविलक्षणता के होने में कारण नहीं है। इसीलिये 'एक ही घट' में 'अयं घटः, इदं द्रव्यं, इयं पृथिवी'—इस प्रकार तीनों ज्ञानों की विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् 'घटरूप' विशेष्य के एक रहने पर भी 'घटत्व, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व'—इन तीन विशेषणों का भेद रहने से ही उन ज्ञानों में विलक्षणता प्रतीत हो रही है। उसी से परस्पर विलक्षण अनेक घटों में 'अयं घटः, अयं घटः'—इस प्रकार की एकाकारबुद्धि से ही, उन 'समस्त घटों' में अनुगत तथा उन समस्त घटों से भिन्न 'एकघटत्वजाति' की सिद्धि हो रही है।

शंका—नैयायिकों ने 'सामान्य' कहा और बौद्धों ने 'सामान्य' का नाम न लेकर उसी की जगह 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) कह दिया। दोनों का कार्य (अनुगतप्रतीति कराना) एक ही है। तब दोनों में नाम-भेद के अतिरिक्त उनमें तात्त्विक भेद (अन्तर) क्या है?

समा०—नैयायिकों ने 'सामान्य' (जाति) को अन्य पदार्थों से भिन्न 'एक और भावपदार्थ के रूप में नित्य' माना है। बौद्धों ने 'अपोह' को 'अन्योन्याभावरूप'

माना है। नैयायिक-वैशेषिक जिसे 'अन्योन्याभाव' कहते हैं, उसी को ये बौद्ध 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्न-भिन्नत्व) कहते हैं।

शंका—'अतद्व्यावृत्ति' को यदि आप 'घटादिव्यक्ति' रूप नहीं मानते हो, तो मत मानो, किन्तु उन समस्त घटव्यक्तियों में अनुगत रहने वाली जो 'अघटभेदरूप अतद्-व्यावृत्ति' है, उस 'अतद्व्यावृत्ति' को ही वह 'एकाकारप्रतीति' अपना विषय बना लेगी। उस कारण उस 'एकाकारप्रतीति' से भावरूप 'घटत्व' जाति की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

बौद्धों के कहने का निष्कर्ष यह है कि 'अन्योन्याभाव' को नैयायिकों ने माना ही हैं। उसी 'अन्योन्याभावरूप अपोह' से जब 'एकाकारप्रतीतिरूप कार्य' का लाभ हो ही जाता है तो 'सामान्य' जैसे एक युक्तिहीन पदार्थ को क्यों मान रहे हो? अतः 'सामान्य' (जाति) को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समा०—यदि 'एकाकारप्रतीति' उस अभावरूप 'अतद्व्यावृत्ति' को अपना विषय बनाती होतीं तो उस 'एकाकारप्रतीति' में 'नायं घटः, नायं घटः' ऐसी निषेधमुखता होनी चाहिये थी, किन्तु उस 'एकाकारप्रतीति' में 'निषेधमुखता' का भान नहीं होता है। अपितु 'अयं घटः, अयं घटः' ऐसी विधिमुखता ही भासती है। अभाववाचक 'नकार' से युक्त प्रतीति को 'निषेधमुखप्रतीति' कहते हैं, और 'नकार' रहित प्रतीति को 'विधिमुखप्रतीति' कहते हैं। एवं च वह 'एकाकारप्रतीति' उस 'अघटव्यावृत्ति' को अपना विषय नहीं बनाती है। अपितु उस भावरूप 'घटत्वजाति' को ही अपना विषय बनाती है। एवं च 'अतद्व्यावृत्ति' (तद्भिन्न-भिन्नत्व) का ज्ञान, 'एकाकार-प्रतीति' के काल में नहीं होता है। इसलिये अनुभव के विरुद्ध होने से 'अपोह' को उसका कारण मानना उचित नहीं है। अतः 'जाति' को मानना ही चाहिये।

बौद्धों ने 'घटत्वजाति' के खण्डनार्थ जिन विकल्पों को पहिले प्रदर्शित किया है, वे सब असंगत हैं। क्योंकि हम नैयायिकों के मत में वे घटत्वादि समस्त जातियाँ व्यापक हैं। उन घटत्वादि जातियों का अपने स्वरूप से ही समस्त देशों के साथ जो सम्बन्ध रहता है, वही उन घटत्वादि जातियों की व्यापकता है। उस कारण जिस क्षण में वह घट उत्पन्न होता है, उस क्षण में वहाँ रहने वाली घटत्व जाति का उस 'घट-व्यक्ति' से 'समवायसम्बन्ध' होता है। वह 'घटत्वादिजाति' न तो उत्पन्न होती है और न कहीं से आती है।

शंका—यदि 'घटत्वजाति' स्व-स्वरूप से ही सभी देशों में रहती होती तो 'पट' आदि के देश में भी 'अयं घटः' इस प्रकार का 'घटत्वविषयक' व्यवहार होना चाहिये था, किन्तु वैसा व्यवहार 'पट' के देश में होता नहीं है।

समा०—'पट' आदि के प्रदेश में 'स्वरूप' से रहती हुई भी वह 'घटत्वजाति' 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहती है, उस कारण उस 'पट' आदि में 'अयं घटः' इस व्यवहार का वह कारण नहीं बन पाती। इसलिये उन 'घटादि व्यक्तियों' में ही 'अयं

घटः' यह व्यवहार किया जाता है। 'पट' आदि व्यक्तियों के प्रति 'अयं घटः' यह व्यवहार नहीं होता है। अतः बौद्धों के द्वारा प्रदर्शित किये गये पूर्वोक्त सभी विकल्प असंगत हैं। यही व्यवस्था 'सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, पृथिवीत्व, जलत्व, रूपत्व, रसत्व, पटत्व, गोत्व'—इत्यादि समस्त जातियों में यथायोग्य समझनी चाहिये।

इसी प्रकार 'विशेष' में भी 'सामान्य' (जाति) नहीं रहता। अन्यथा 'विशेष' का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। 'विशेष' तो पदार्थों का अन्तिम भेदक 'धर्म' रूप है। उसका स्वरूप 'स्वतो व्यावृत्त' है। 'नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव' कहा गया है। नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाले अन्तिम भेदक धर्म को 'विशेष' कहते हैं। और प्रत्येक परमाणु आदि में रहने वाला 'विशेष' स्वतोव्यावृत्त यानी निसर्गत एव (बिलकुल) अलग-अलग होता है। यदि उन अलग-अलग विशेषों में 'विशेषत्व' रूप सामान्यधर्म (जाति) को माना जाय तो 'विशेष' का जो 'स्वतोव्यावृत्त' स्वरूप है, वही नष्ट हो जायगा। 'स्वरूप हानि' के भय से विशेष में 'जाति' नहीं मानी जाती।

विशेषः

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः। नित्यद्रव्याणि त्वाकाशादीनि पञ्च। पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः।

विशेष इति। 'विशेष' पदार्थ, 'नित्य' (अन्तिम भेदक धर्म) है, वह नित्यद्रव्यों (परमाणु आदि) में रहता है, वह केवल 'भेदप्रतीति' (व्यावृत्तिबुद्धि) का हेतु (निमित्त) होता है। **नित्यद्रव्याणीति।** आकाशादि पाँच 'नित्यद्रव्य' हैं, जिनमें से (१) पृथिवी, (२) जल, (३) वायु, (४) तेज—ये चार परमाणुरूप से ही नित्य होते हैं, और कार्यरूप से अनित्य होते हैं।

माधुरी

'विशेष' पदार्थ वैशेषिकदर्शन का महत्त्वपूर्ण मुख्य पदार्थ है। उसी के आधार पर उस दर्शन को 'वैशेषिक' दर्शन कहा जाता है। इस 'विशेष' पदार्थ के अनेक प्रकार से लक्षण बनाये जा सकते हैं। जैसे **'निःसामान्यत्वे सति एकमात्रसमवेतः विशेषः'**—जो पदार्थ, 'जाति' रूप सामान्य से रहित हो तथा एक व्यक्तिमात्र में समवेत हो, उसे 'विशेष' कहते हैं। 'पृथिवी, जल, तेज, वायु' इन चार भूतों के समस्त परमाणुओं में वह 'विशेष' रहता है। अर्थात् एक-एक परमाणु में एक-एक विशेष 'समवायसम्बन्ध' से रहता है। तथा 'आकाश, काल, दिक्'—इन तीनों में भी एक-एक विशेष 'समवाय-सम्बन्ध' से रहता है। तथा जितने 'आत्मा' और जितने 'मन' हैं, उनमें भी अर्थात् एक-एक आत्मा में तथा एक-एक मन में वह एक-एक विशेष 'समवायसम्बन्ध' से रहता है। इस कारण उस 'विशेष' को 'एकद्रव्यव्यक्तिमात्र' में 'समवेत' कहा गया है। 'विशेष' पदार्थ में कोई भी 'जातिरूप सामान्य' नहीं रहता है। अतः वह (विशेष) जातिरूप सामान्य से रहित भी है। इस रीति से लक्षण-समन्वय हो जाता है।

यदि उक्त लक्षण में 'निःसामान्यत्वे सति' पद न रखें तो 'गुण' तथा 'कर्म' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'संयोग, विभाग, द्वित्वादिसंख्या, द्विपृथक्त्वादिक पृथक्त्व' इन अनेकवृत्ति गुणों को छोड़कर अन्य रूपादिक समस्तगुण, एक-एक द्रव्य-व्यक्ति में ही समवायसम्बन्ध से रहते हैं, तथा 'कर्म' भी एक-एक द्रव्यव्यक्ति में ही समवायसम्बन्ध से रहते हैं। अतः 'गुण और कर्म' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'निःसामान्यत्वे सति' यह पद देना आवश्यक है। तब वे 'गुण, कर्म' उस 'जातिरूप सामान्य' से रहित नहीं हैं, अपितु 'सत्ता, गुणत्व, कर्मत्व' रूप सामान्य से युक्त ही हैं। इसलिये 'गुण, कर्म' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

यदि लक्षण में 'एकमात्र' पद को न रखें तो 'जातिरूप सामान्य' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'जाति' में कोई भी 'जाति' नहीं रहती। इसलिये वह (जातिरूप सामान्य) उस जातिरूप सामान्य से रहित भी है। तथा 'द्रव्य, गुण, कर्म' में समवेत भी है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'एकमात्र' पद को रखना आवश्यक है। तब वह 'जातिरूप सामान्य', एक व्यक्ति-मात्र में समवेत नहीं है, किन्तु अनेक व्यक्तियों में समवेत है। उस कारण 'सामान्य' में 'विशेष' के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

'विशेष' पदार्थ का एक दूसरे प्रकार से भी लक्षण कर सकते हैं—**'स्वतोव्यावर्तकत्वं विशेषत्वम्'** अर्थात् जो पदार्थ, अपने को तथा अपने आश्रय को अपने स्वरूप के द्वारा ही भिन्न (व्यावृत्त) करता है, उस पदार्थ को 'विशेष' कहते हैं। अर्थात् अपना तथा अपने आश्रय का जो स्व-स्वरूपतः ही व्यावर्तक होता है, उसी पदार्थ को 'विशेष' कहा जाता है। और इतर पदार्थ के भेद को 'व्यावृत्ति' कहते हैं। तथा उस 'व्यावृत्ति' का 'हेतु' रूप से जो 'जनक' (उत्पादक) होता है, उसे 'व्यावर्तक' कहते हैं। और अपने स्वरूद के द्वारा (स्वरूप मात्र से) ही जो व्यावर्तक होता है, उसे 'स्वतो व्यावर्तक' कहते हैं। ऐसी 'स्वतो व्यावर्तकता' का संभव 'विशेष' पदार्थ में ही दृष्टिगोचर होता है, अन्यत्र नहीं। अतः लक्ष्य (विशेष) में लक्षण का समन्वय हो जाता है।

जिस 'परमाणु' आदि नित्य द्रव्य में 'समवायसम्बन्ध' से वह 'विशेष' रहता है, वही उस 'परमाणु' आदि नित्यद्रव्य को दूसरे 'परमाणु' आदि नित्यद्रव्य से अपने स्वरूप के द्वारा ही भिन्न (अलग) करता है। जैसे—'अयं परमाणुः एतत्परमाणोर्भिन्नः एतद्विशेषात्'—अर्थात् यह पार्थिव परमाणु, इस दूसरे पार्थिव प माणु से भिन्न है, इस विशेष से युक्त होने के कारण।

इस अनुमान से यह बताया जा रहा है कि 'भेद' को सिद्ध करने के लिये 'एतद्-व्यक्तित्व' रूप से ही 'विशेष' को हेतु (कारण) कहा जाता है। यदि हम 'भेद' की सिद्धि के लिये उस 'विशेष' को 'विशेषत्व' रूप से ही हेतु' (कारण) कहें, तो

'विशेषत्व' रूप से वह 'विशेष' रूप हेतु, दूसरे 'परमाणु' में भी विद्यमान है। किन्तु 'दूसरे परमाणु' में उस दूसरे परमाणु का 'भेद' रूप 'साध्य' नहीं है। अतः साध्याभाववाले दूसरे परमाणु में 'हेतु' के रहने से (वृत्ति होने से) 'विशेषत्वधर्म से विशिष्ट हेतु' व्यभिचारी होगा। इसलिये 'विशेष' को 'एतद्व्यक्तित्व' रूप से ही 'हेतु' कहना चाहिये।

तब उस 'विशेष' में 'तादात्म्य सम्बन्ध' से स्वयं (विशेष-व्यक्ति) का ही 'एतद्-व्यक्तित्व' है। उसमें अन्य किसी दूसरे का 'एतद्व्यक्तित्व' नहीं हो सकता है। इस रीति से वह 'विशेष', स्वाश्रयभूत परमाणु आदि नित्यद्रव्य का, दूसरे 'नित्यद्रव्य' से स्वरूपतः ही व्यावर्तक होता है।

उसी तरह वह 'विशेष', स्वाश्रयभूत 'द्रव्य' से स्वयं अपने को भी व्यावृत्त कर लेता है, यानी अपना भी स्वतः (स्वयं) एव व्यावर्तक हो जाता है। जैसे—'विशेषः द्रव्याद् भिन्नः विशेषात्'—अर्थात् यह 'विशेष', 'द्रव्य' से भिन्न है, 'विशेष' होने से।

अथवा वह 'विशेष', दूसरे 'विशेष' से अपना व्यावर्तन स्वतः ही कर लेता है, अर्थात् स्वतः ही 'स्वयं' का व्यावर्तक हो जाता है। जैसे—'एतद्विशेषः तद्विशेषाद् भिद्यते एतद्विशेषात्'—अर्थात् यह 'विशेष' दूसरे 'विशेष' से भिन्न है, 'एतद्विशेष' होने से। इस रीति से वह 'विशेष' दूसरे 'विशेष' से अपना (स्वयं का) व्यावर्तक 'स्व-स्वरूप' से ही होता है। उसे (विशेष को), 'इतरभेद' की सिद्धि के लिये 'स्व-निष्ठ' किसी 'इतर विशेष' की अपेक्षा नहीं रहती। यदि इतर भेद के सिद्ध्यर्थ उसे स्वनिष्ठ 'दूसरे विशेष' की अपेक्षा मानी जाय तो 'दूसरे विशेष' को भी इतर से अपना भेद सिद्ध करने के लिये किसी 'तीसरे विशेष' की अपेक्षा करनी होगी। उसी तरह तीसरे को चौथे, चौथे को पाँचवे; इस रीति से वह 'विशेष परम्परा' कभी और कहीं विश्रान्त ही न होने से अनवस्था दोष होगा। वह न हो सके, इसलिये 'विशेष' को स्व-स्वरूप से ही व्यावर्तक मानना चाहिये। तब अनवस्था दोष नहीं हो सकेगा।

एवं उक्तलक्षणलक्षित 'विशेष' पदार्थ, 'परमाणु' आदि नित्यद्रव्यों में ही 'समवाय-सम्बन्ध' से रहता है। 'द्व्यणुक' आदि अनित्य द्रव्यों में वह नहीं रहता है। वे 'परमाणु, आकाश' आदि नित्यद्रव्य, अनन्त हैं, उस कारण वे 'विशेष' भी अनन्त हैं यानी असंख्यात हैं। नित्यद्रव्यों के समान वे 'विशेष', उत्पत्ति-विनाश से रहित होने के कारण 'नित्य' हैं। कोई भी 'विशेष' अनित्य नहीं है। और धर्माधर्म की तरह वे 'विशेष' अतीन्द्रिय होते हैं, यानी किसी भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के विषय वे नहीं होते। ऐसे अतीन्द्रिय विशेषों की सिद्धि, केवल अनुमानप्रमाण से ही होती है।

अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'परमाणुभेदः किञ्चिल्लिङ्गज्ञाप्यः भेदत्वात् कपालभेदज्ञाप्यघटभेदवत्'—अर्थात् सजातीय परमाणुओं का जो परस्पर भेद है, वह

(भेद) किसी लिङ्ग से ज्ञाप्य है, यानी किसी 'हेतुरूपलिङ्ग' से जन्य अनुमिति-ज्ञान का विषय होने योग्य है, 'भेदरूप' होने से। जो भी 'भेद' होता है, वह किसी 'लिङ्ग' से ज्ञाप्य ही हुआ करता है। जैसे—'दो घटों' का परस्पर भेद है, वह (भेद), उन 'दो घटों' के 'समवायिकारण'रूप 'कपालों' के भेद से ही ज्ञाप्य होता है। उसी तरह 'परमाणुओं' का 'भेद' भी भेद होने के नाते किसी लिङ्ग से ही अवश्य ज्ञाप्य होगा। सजातीय परमाणुओं के भेद का 'अन्य' कोई 'ज्ञापक' न होने से परिशेषात् वह 'विशेष' ही उन परमाणुओं के भेद का 'ज्ञापक' सिद्ध होता है। अथवा 'विशेष' पदार्थ को सिद्ध करने के लिये एक अनुमान, दूसरे प्रकार से भी कर सकते हैं—'आकाशनिष्ठा या शब्दसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् दण्डनिष्ठकारणतावत्' अर्थात् 'आकाश' में रहने वाली जो 'शब्दगुण' की समवायि-कारणता' है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, 'कारणता' होने से। जो भी 'कारणता' होती है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है। जैसे—'दण्ड' में रहने वाले 'घट' की कारणता 'दण्डत्व' धर्म से अवच्छिन्न होती है, वैसे ही 'आकाश-निष्ठाकारणता' भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न ही होगी। इस नियम के अनुसार 'आकाशवृत्तिकारणता' का अवच्छेदक, आकाशवृत्ति 'विशेष' ही होता है।

शंका—उक्त रीति से 'विशेष' पदार्थ की सिद्धि होने पर भी उसे (विशेष पदार्थ को) मानने की आवश्यकता क्यों हो रही है ?

समा०—'घट' आदि अवयवी से 'द्व्यणुक' तक जितने भी अवयवी हैं, उन अवयवियों का तत्तत् कपालादि अवयवों के भेद से ही परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार 'घट-पटादिकों' का भी तत्तत् कपाल-तन्तु आदि अवयवों के भेद से ही परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है। उस कारण इन घट-पटादि कार्यद्रव्यों में 'विशेष' की कल्पना नहीं की जाती।

'पृथिवी, जल, तेज, वायु'—इन चार भूतों के जो परमाणु हैं, तथा 'आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन'—ये पाँच द्रव्य हैं, वे 'परमाणु, आकाश आदि नित्य-द्रव्य, किन्हीं अवयवों से जन्य नहीं होते हैं। इसलिये तत्तद् अवयवभेद से उन 'नित्यद्रव्यों' का परस्पर भेद सिद्ध नहीं हो सकता। एवं 'परमाणु, आकाश आदि नित्यद्रव्य'—परस्पर अत्यन्त संकीर्ण हैं। ऐसे नित्यद्रव्यों का परस्पर भेद, किसी भेदक धर्म के बिना नहीं हो सकता। इसलिये उन परमाणु, आकाशादि नित्यद्रव्यों को परस्पर भिन्न करने वाला 'कोई धर्म' अवश्य मानना होगा। तब 'सत्ता', तथा 'द्रव्यत्व' धर्म तो समस्त नित्यद्रव्यों का साधारण धर्म है। अतः 'सत्तात्व' धर्म से या 'द्रव्यत्व' धर्म से उन नित्यद्रव्यों का परस्पर भेद सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि उस 'भेद' का साधक 'असाधारण धर्म' ही हो सकता है। अतः परिशेषात् 'तत्तत् नित्यद्रव्य' वृत्ति वह 'विशेष' ही तत्तत् नित्यद्रव्य को दूसरे नित्यद्रव्य से भिन्न करता है।

यद्यपि 'पार्थिव परमाणुओं' को 'जल आदि के परमाणुओं' से भिन्न करने वाला 'गन्धगुण' है, तथा 'पृथिवीत्व' जाति है, उसी तरह 'जलीय परमाणुओं' को 'पृथिवी आदि के परमाणुओं' से भिन्न करने वाला 'शीतस्पर्श' है, और 'जलत्वजाति' है। उसी तरह 'तैजस् परमाणुओं' को उन पृथिवी आदि के परमाणुओं से भिन्न करने वाला 'उष्णस्पर्श' है, और 'तेजस्त्व' जाति है। तथा 'वायवीय परमाणुओं' को उन 'पृथिवी आदि के परमाणुओं' से भिन्न करने वाला 'अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श' और 'वायुत्व' जाति है। तथा 'आकाश' को 'परमाणु' आदि से भिन्न करने वाला 'शब्द गुण' है। तथा 'आत्मा' को उन 'परमाणु' आदि से भिन्न करने वाले 'ज्ञान आदि गुण' हैं, और 'आत्मत्व' जाति है। तथा 'मन' को उन 'परमाणु आदि' से भिन्न करने वाली 'मनस्त्वजाति' है। उस कारण विजातीय नित्यद्रव्यों के परस्पर भेद-सिद्ध्यर्थ 'विशेष' पदार्थ के स्वीकार की आवश्यकता नहीं है।

तथापि पृथिवीत्वरूप से जो 'सजातीय पार्थिवपरमाणु' हैं उनका परस्पर भेद उस 'गन्ध' गुण तथा 'पृथिवीत्वजाति' से नहीं हो सकता। क्योंकि वह 'गन्धगुण' और 'पृथिवीत्वजाति', उन समस्त पार्थिवपरमाणुओं में रहती है। उसी प्रकार जलत्व-रूप से जो 'सजातीय जलपरमाणु' हैं, उनका परस्पर भेद, उस 'शीतस्पर्श' और 'जलत्वजाति' से नहीं हो सकता। क्योंकि समस्त 'जलीयपरमाणुओं' में शीतस्पर्श और जलत्वजाति रहती है। उसी प्रकार तेजस्त्वरूप से जो सजातीय तैजस् परमाणु हैं, उनका परस्पर भेद, उष्णस्पर्श और तेजस्त्वजाति से नहीं हो सकता। क्योंकि समस्त तैजस् परमाणुओं में उष्णस्पर्श और तेजस्त्वजाति रहती है। उसी प्रकार वायुत्वरूप से सजातीय जो वायवीयपरमाणु हैं, उनका भी परस्पर भेद, उस अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श से और वायुत्वजाति से नहीं हो सकता। क्योंकि वे सभी वायवीय परमाणु, अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श वाले तथा वायुत्वजाति वाले ही हैं। उसी प्रकार आत्मत्वरूप से सजातीय जो आत्माएँ हैं, उनका परस्पर भेद भी उन ज्ञानादिक गुणों से तथा आत्मत्वजाति से नहीं हो सकता। क्योंकि समस्त आत्माओं में 'ज्ञानादिक' गुण और 'आत्मत्वजाति' रहती है। उसी प्रकार मनस्त्वरूप से सजातीय जो 'मन' हैं, उन समस्त मनों का परस्पर भेद, उस 'मनस्त्वजाति' से नहीं हो सकता। क्योंकि वे समस्त मन उस मनस्त्वजाति से युक्त हैं।

इसलिये उन सजातीयपरमाणु आदि नित्यद्रव्यों के परस्पर भेद-सिद्ध्यर्थ 'विशेष' पदार्थ का ही स्वीकार करना होगा। उसके बिना उन सजातीय परमाणु आदि नित्य-द्रव्यों में परस्पर भेद नहीं हो सकेगा। उनमें परस्पर भेद सिद्ध करना ही 'विशेष' पदार्थ के स्वीकार का प्रयोजन है।

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि 'ईश्वर' में जो 'नित्यज्ञान' है, उसी से वह 'जीवात्माओं' से भिन्न ज्ञात होता है और 'आकाश' में जो 'शब्दगुण' हैं, उसी से वह

भी अन्य परमाणु आदि नित्यद्रव्यों से भिन्न हो जाता है। अतः ईश्वर तथा आकाश को अन्य द्रव्यों से भिन्न करने के लिये 'विशेष' पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

नवीन नैयायिक तो किसी प्रमाण के न होने से तथा किसी प्रयोजन के भी न होने से 'विशेष' पदार्थ को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि प्रचीनों ने 'विशेष' पदार्थ में जैसे 'स्ववृत्ति धर्म' के बिना ही उसमें 'स्वतोव्यवर्तकता' स्वीकार कर ली है, वैसे ही 'परमाणु आदि नित्यद्रव्यों' में भी वे 'स्वतोव्यावर्तकता' को स्वीकार कर लें। जिससे 'विशेष' पदार्थ की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होगी।

'विशेष' का स्वरूप ही 'स्वतोव्यावृत्त' है। उसका भेदक अन्य कोई धर्म नहीं है। यह 'विशेष' ही नित्यद्रव्यों में रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म है। यह 'विशेष' धर्म, 'नित्यद्रव्यरूप पृथिवीआदि चार के परमाणु और आकाश', कुल पाँच में ही रहता है। अवशिष्ट जो चार द्रव्य हैं, उनमें से 'काल' और 'दिक्' तो एक-एक ही द्रव्य हैं, अतः उनमें 'विशेष' मानने की आवश्यकता नहीं है। और 'आत्मा' तथा 'मन' को स्वसजातीय तत्त्वों से भिन्न करने वाले भेदक धर्म, उनके अपने गुण अर्थात् 'अदृष्ट' (धर्माधर्म), संस्कार आदि होते हैं। इसलिये उनमें भी 'विशेष' को मानने की आवश्यकता नहीं होगी।

इस 'विशेष' पदार्थ को सप्तपदार्थवादी कणाद महर्षि ने ही स्वीकार किया है। षोडशपदार्थवादी गौतममहर्षि ने उसे स्वीकार नहीं किया है।

समवायः

अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। स चोक्त एव।

नन्ववयवावयविनावप्ययुतसिद्धौ तेन तयोः सम्बन्धः समवाय इत्युक्तम्। न चैतद् युक्तम्। अवयवातिरिक्तस्यावयविनोऽभावात्। परमाणव एव बहवस्तथाभूताः सन्निकृष्टाः घटोऽयं घटोऽयमिति गृह्यन्ते।

अत्रोच्यते। अस्त्येकः स्थूलो घट इति प्रत्यक्षा बुद्धिः। न च सा परमाणुष्वनेकेष्वस्थूलेष्वतीन्द्रियेषु भवितुमर्हति। भ्रान्तेयं बुद्धिरिति चेत् न, बाधकाभावात्।

तदेवं षट्पदार्था द्रव्यादयो वर्णिताः। ते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव।

अयुतसिद्धयोरिति। अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध 'समवाय' होता है। उसे पहिले (पृ. ३०-४६ में) बता चुके हैं। यहाँ समवाय के प्रसंग से 'अवयवी' की सिद्धि कर रहे हैं।

शंका—नन्विति। बौद्धदार्शनिक शंका कर रहे हैं कि 'अवयव' और 'अवयवी' 'अयुतसिद्ध' हैं। इसलिये उनका सम्बन्ध 'समवाय' है—इस बात को 'समवाय'

वर्णन के प्रसंग में आप कह चुके हैं। किन्तु वह उचित नहीं है, क्योंकि 'अवयव' से पृथक् 'अवयवी' (घट-पट आदि) की कोई सत्ता ही नहीं है, अर्थात् 'अवयवों' से भिन्न (अलग) 'अवयवी' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। बौद्धदार्शनिक 'अवयवों' के अतिरिक्त 'अवयवी' को नहीं मानते हैं। क्योंकि अवयवों के अतिरिक्त यदि 'अवयवी' नाम की कोई वस्तु हो तो वह दिखाई देनी चाहिये, किन्तु घट-पट आदि में वैसी कोई वस्तु दिखाई नहीं देती। **परमाणव इति**। बौद्धों का कहना है कि अनेक परमाणु ही उस घट-पट आदि के रूप में एकत्रित होकर 'अयं घटः'—यह घड़ा है, इस रूप में गृहीत होते हैं। अर्थात् अवयवों से अतिरिक्त 'अवयवी' न होकर उस अवयवी के रूप में हो जाने वाले बहुत से परमाणु ही इन्द्रिय के साथ सन्निकृष्ट होकर 'यह घट है, यह घट है'—इस रीति से गृहीत होते हैं। एवं च उन परमाणु रूप अवयवों के अतिरिक्त 'घटरूप' कोई अवयवी नहीं है।

समा०—अत्रोच्यते इति। सिद्धान्ती उत्तर देता है—'एक स्थूल घट' है, यह प्रत्यक्ष अनुभव सभी को होता है। **न चेति**। ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव 'परमाणु समूह' में नहीं होता है, क्योंकि बौद्धों के मतानुसार 'घट' के आकार में सन्निविष्ट होने वाले जो 'परमाणु' हैं, वे अनेक हैं और वे सूक्ष्म भी हैं। तब उनमें 'एकत्व' और 'स्थूलत्व' का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? दूसरी बात यह है कि 'परमाणु' तो 'अतीन्द्रिय' हैं। अतः सर्वसाधारण की इन्द्रियों के द्वारा वे ग्राह्य न हो सकने के कारण उनका प्रत्यक्ष होना भी संभव नहीं है। एवं च यदि 'परमाणुपुञ्ज (परमाणुसमूह) के अतिरिक्त कोई 'घट' आदि अवयवी न होगा, तो 'यह एक स्थूल घट है'—ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकेगा।

भ्रान्तेयमिति। इस पर यदि बौद्ध यह कहे कि 'एकः स्थूलः प्रत्यक्षः घटः' यह प्रत्यक्ष अनुभव तो भ्रम है। अर्थात् 'अनेक सूक्ष्म परमाणुओं' में 'एक स्थूल घट' की भ्रान्ति ही हो रही है।

तो उस पर नैयायिक-वैशेषिकों का कहना है कि जो भी 'भ्रम' होता है, उसका 'यथार्थज्ञान' से बाध (निवृत्ति) हुआ करता है। परन्तु 'यह एक स्थूल घट है'—यह प्रत्यक्ष अनुभव तो सभी को हुआ करता है, उसका बाध होता कभी नहीं देखा गया है। तब उसे 'भ्रम' कैसे कहा जायगा ? मन्द अन्धकार में पड़ी रज्जु को देखकर 'सर्प' का भ्रम होता है, किन्तु प्रकाश में देखने पर वह सर्पप्रतीति का भ्रम, बाधित हो जाता है। 'यह सर्प नहीं है'—इस प्रकार अनुभव होने लगता है। इसलिये जो प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, उसे मिथ्याप्रतीति यानी भ्रम, नहीं कह सकते। अपितु वह यथार्थ प्रतीति ही है। अतः अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि 'अवयवों' से अतिरिक्त 'घट' आदि अवयवी का भी अस्तित्व है। श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है कि 'संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'—(न्या० वा० तात्प० टी०)।

तदेवमिति। इस प्रकार द्रव्य आदि छह 'भाव पदार्थों' का वर्णन किया गया, जो विधिरूप ज्ञान का विषय होने से 'भावरूप' ही है।

माधुरी

अब छठे 'समवाय' पदार्थ का निरूपण करने के लिये उसका लक्षण **'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः'** किया गया है। अर्थात् अयुतसिद्ध पदार्थों का जो परस्पर सम्बन्ध है, उसे 'समवाय' कहते हैं। अयुतसिद्ध पदार्थ ये हैं—'(१) अवयव-अवयवी, (२) गुण-गुणी, (३) क्रिया-क्रियावान्, (४) जाति-व्यक्ति, (५) विशेष-नित्यद्रव्य। इन दो-दो पदार्थों को 'अयुतसिद्ध' कहते हैं। अयुतसिद्ध का लक्षण यह है—**'ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ'**—अर्थात् जिन दो पदार्थों में से एक पदार्थ अपनी 'अविनाश' अवस्था में दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है, 'स्वतन्त्र' नहीं रहता, उस अवस्था में वे दोनों पदार्थ 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। जैसे—'तन्तु' आदि अवयवों में 'समवायसम्बन्ध' से रहने वाले जो 'पट' आदि अवयवी हैं, उन 'अवयव' और 'अवयवी' दोनों पदार्थों के बीच में एक 'पट' आदि 'अवयवी' पदार्थ, अपनी अविनाश अवस्था में दूसरे 'तन्तु' रूप अवयव पदार्थ के आश्रित ही रहता है। उस 'अवयव पदार्थ' को छोड़कर वह 'अवयवी' पदार्थ स्वतन्त्र नहीं रहता। इसलिये वे 'तन्तु' आदि अवयव, तथा 'पट' आदि अवयवी दोनों 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। और गुणीरूप 'पृथिवी'आदि नवद्रव्यों में समवायसम्बन्ध से रहने वाले जो 'रूप' आदि गुण हैं, उन गुण-गुणीरूप दोनों पदार्थों के बीच में एक 'रूपादिगुण पदार्थ' अपनी अविनाश अवस्था में दूसरे द्रव्यरूप 'गुणी पदार्थ' के आश्रित ही रहता है। उस 'गुणी' पदार्थ को छोड़कर वह 'गुण' पदार्थ स्वतन्त्र नहीं रहता। इसलिये वे 'रूपादिगुण' तथा 'पृथिवी आदि द्रव्यरूप गुणी' दोनों 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। और 'पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन'—इन पाँच मूर्तद्रव्यों में 'समवायसम्बन्ध' से रहने वाली जो 'कर्मरूप क्रिया' है, उन 'क्रिया और क्रियावान्रूप' दोनों पदार्थों के बीच में 'एक क्रिया' पदार्थ, अपनी अविनाश अवस्था में दूसरे क्रियावान् मूर्तद्रव्य के आश्रित ही रहता है। उस क्रियावान् मूर्तद्रव्य पदार्थ को छोड़कर वह 'क्रियापदार्थ' स्वतन्त्ररूप से नहीं रहता। इसलिये उन 'कर्मरूप क्रिया' पदार्थ तथा 'क्रियावान् मूर्तद्रव्य' पदार्थ दोनों को 'अयुतसिद्ध' कहा जाता है। तथा 'घट-पट' आदि व्यक्तियों में समवायसम्बन्ध से रहने वाली 'घटत्व-पटत्व' आदि जातियां हैं। उन जाति-व्यक्तिरूप दोनों पदार्थों में से 'एक घटत्व-पटत्व' आदि जाति पदार्थ, उन 'घट-पट' आदि व्यक्तियों की 'अविनाश अवस्था' में उनके (दूसरे घट-पट आदि व्यक्तिरूप पदार्थ के) आश्रित ही रहता है। इसलिये वे घटत्व-पटत्व आदि जातिपदार्थ तथा घट-पट आदि व्यक्तिपदार्थ दोनों 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। एवं 'परमाणु और आकाश आदि नित्यद्रव्यों' में समवायसम्बन्ध से रहने वाला

'विशेष' पदार्थ है। उन 'विशेष' और 'परमाणु आदि नित्यद्रव्य' दोनों पदार्थों में से 'एक विशेष पदार्थ', दूसरे 'नित्यद्रव्य' पदार्थ के आश्रित ही रहता है। उस नित्यद्रव्य-रूप पदार्थ को छोड़कर वह 'विशेष' पदार्थ स्वतन्त्ररूप से नहीं रहता है। इसलिये 'विशेष' और 'परमाण्वादि नित्यद्रव्य पदार्थ' दोनों को 'अयुतसिद्ध' कहते हैं।

शंका—तन्तु आदि अवयवों के नष्ट होने के बाद एक क्षण के पश्चात् ही पट आदि अवयवियों का नाश होता है। तथा घट-पट आदि द्रव्यनाश के पश्चात् एक क्षण के अनन्तर ही 'रूप' आदि गुणों का तथा क्रिया का नाश होता है, क्योंकि तन्तु आदि अवयवों का नाश, 'पट' आदि अवयवी के नाश में कारण है। तथा उन 'गुण, कर्म' के आश्रयभूत घट-पटादि द्रव्य का नाश, उन 'गुण, कर्म' के नाश में कारण होता है। और 'कारण' हमेशा 'कार्य' की उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान रहता है। इसलिये 'पट' आदि अवयवी तथा 'रूप' आदि गुण एवं 'कर्मरूप क्रिया', एकक्षण तक उक्त 'तन्तु, घट, पट' आदि आश्रय के बिना स्वतन्त्र ही रहते हैं।

समा०—जिस एक क्षण में 'पट' आदि अवयवी, तथा 'गुण, कर्म', स्वतन्त्र रहते हैं, वह क्षण, उन अवयवी आदि पदार्थों की 'विनाश अवस्था' है। उसके निवृत्त्यर्थ ही अयुतसिद्ध के लक्षण में 'अविनश्यत्' पद दिया गया है। इसीलिये अवयवी का अवयव के साथ जो सम्बन्ध है। उसको, तथा गुणों का गुणी के साथ जो सम्बन्ध है उसको, तथा क्रिया का क्रियावान् (मूर्तद्रव्य) के साथ जो सम्बन्ध है उसको, तथा जाति का व्यक्ति के साथ जो सम्बन्ध है उसको, तथा विशेष का नित्यद्रव्य के साथ जो सम्बन्ध है उसको 'समवाय' कहते हैं। एवं च अयुतपदार्थों के सम्बन्ध को 'समवाय' कहा जाता है।

यह 'समवाय' पदार्थ, 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष'—इन पाँच पदार्थों में ही 'विशेषणताख्य स्वरूपसम्बन्ध' से रहता है। 'समवाय तथा अभाव' में 'समवाय' कभी नहीं रहता।

और वह 'समवाय'—एक ही होता है, अनेक नहीं। वह एक ही समवाय-द्रव्यादि पाँचों पदार्थों में रहता है, क्योंकि 'समवाय' को एक ही मानकर यदि निर्वाह हो जाता है, तो 'समवाय' को 'नाना' क्यों माना जाय ? 'नाना' मानने में गौरवदोष होगा। और उसे 'नाना' कहने में कोई प्रमाण भी नहीं है। सत्ताजाति के समान अनुगत प्रतीति से 'समवाय' की एकता ही सिद्ध होती है। परस्पर विलक्षण द्रव्य, गुणादिकों में 'तन्तुषु पटः समवेतः, कपालेषु घटः समवेतः, द्रव्ये गुणः समवेतः, कर्म समवेतम्, सामान्यं समवेतम्'—इस प्रकार की अनुगतप्रतीति होती है। यह एकाकार प्रतीति तन्तु आदिकों में अनुगत एक समवाय के बिना नहीं हो सकती। इस अनुगत प्रतीति के आधार पर द्रव्यगुणादिक अयुतसिद्ध पदार्थों में 'समवाय' को एक ही मानना चाहिये।

शंका—'समवाय' को यदि 'एक' ही माना जायगा तो रूपरहित 'वायु' आदिकों में भी 'रूपवान् वायुः'—ऐसी 'रूपवत्ताप्रतीति' होनी चाहिये। क्योंकि 'पृथिवी' आदिकों में रहने वाला जो 'रूप' का समवाय है, तथा 'वायु' में रहने वाला जो 'स्पर्श' का समवाय है, वह समस्त 'समवाय' एक ही है। अर्थात् 'रूप का समवाय' तथा 'स्पर्श का समवाय' आपके मत से (नैयायिक के मत से) एक ही है। अतः वायु आदि में उस 'रूपसमवाय' के विद्यमान होने के कारण 'वायु' में 'रूप' की प्रतीति अवश्य होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है। ऐसी स्थिति में 'समवाय' को एक कैसे कहा जाय?

समा०—'रूपविशिष्ट समवाय' की जो अधिकरणता है, वह 'विशिष्ट अधिकरणता' ही 'रूपवान् अयम्'—इस प्रकार की प्रतीति में कारण होती है। 'वायु आदि' में 'रूपगुण' का अभाव होने से 'रूपविशिष्ट समवाय' की वहाँ अधिकरणता नहीं है, अपितु 'स्पर्शविशिष्ट समवाय' की अधिकरणता है। इसलिये 'वायु' में 'रूपवानयम्' यह प्रतीति नहीं होती है। किन्तु 'रूपविशिष्ट समवाय' की अधिकरणता वाले 'पृथिवी, जल, तेज' में ही 'रूपवत्ताप्रतीति' होती है। एवं च 'समवाय' के 'एक' मानने पर भी तत्तद्रूपादिविशिष्ट समवाय की अधिकरणताओं का भेद होने से 'रूपवान् वायुः, स्पर्शवान् आकाशः, गन्धवत् जलम्, क्रियावान् आत्मा' इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति का प्रसंग नहीं हो रहा है।

'समवाय', उत्पत्ति-विनाशरहित होने से उसे 'नित्य' कहा गया है। यदि कदाचित् 'समवाय' को अनित्य मान लिया जाय तो अनेक समस्याएँ उपस्थित होंगी। क्योंकि जो भी 'भावकार्य' होता है, वह 'समवायिकारण' से जन्य (उत्पन्न) होता है। समवायिकारण के बिना किसी भी भावकार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये 'समवायरूप भावकार्य' का भी कोई 'समवायिकारण' अवश्य ही मानना होगा। तब समवायसम्बन्ध से कार्यसम्बद्ध 'द्रव्य' ही समवायिकारण हुआ करता है। जैसे—समवायसम्बन्ध से (पटरूप) कार्यसम्बद्ध 'तन्तु' ही 'पट' कार्य के प्रति समवायिकारण होते हैं। वैसे ही यहाँ पर भी 'समवायरूप कार्य' का जो 'समवायिकारण' होगा, वह भी 'समवायसम्बन्ध' से कार्यसम्बद्ध होकर ही उस समवाय कार्य के प्रति समवायिकारण होगा। अथवा किसी 'अन्य समवाय' से कार्यसम्बद्ध होकर ही उस 'समवायकार्य' के प्रति समवायिकारण कहलायेगा। इस प्रकार प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर 'समवाय' की उत्पत्ति में उसी की (समवाय की ही) अपेक्षा रहने से **'आत्माश्रयदोष'** होगा।

यदि द्वितीय पक्ष का स्वीकार करते हैं तो दूसरे समवाय को भी प्रथम समवाय की तरह 'कार्यरूप' ही मानना होगा, तथा दूसरे 'समवाय' का भी कोई 'समवायिकारण' मानना होगा। तब उस पर भी विचार करना होगा कि वह दूसरा समवाय

भी किसी 'समवाय' के द्वारा अपने ममवायिकारण में सम्बद्ध होता है ? या स्वत एव सम्बद्ध होता है ? अथवा 'प्रथम स. ाय' के द्वारा सम्बद्ध होता है ? अथवा किसी 'तीसरे समवाय' के द्वारा सम्बद्ध होता है ?

तब प्रथम पक्ष में तो पहिले की तरह **'आत्माश्रय'** दोष होगा। द्वितीय पक्ष में परस्पर अपेक्षारूप **'अन्योन्याश्रय'** दोष होगा। तृतीय पक्ष में भी तीसरे समवाय को प्रथम समवाय की अपेक्षा रखने के कारण **'चक्रक'** दोष होगा। और तीसरे समवाय को चौथे समवाय की अपेक्षा, और उस चौथे समवाय को पाँचवें समवाय की अपेक्षा इस प्रकार समवाय की धारा बहती रहने से **'अनवस्था'** दोष होगा।

इसलिये यही मानना चाहिये कि 'समवाय' का कोई 'समवायिकरण' नहीं होता है। जब उसका कोई समवायिकारण ही नहीं है, तो तद्घटित (समवायिकारण-घटित) असमवायिकारण भी उसका (समवाय का) कोई नहीं है। किन्तु समवायि-कारण, और असमवायिकारण के बिना किसी भी 'भावकार्य' की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये 'समवाय' को उत्पत्तिरहित ही मानना चाहिये। तथा 'समवाय' को नाशरहित भी मानना चहिये। यदि 'समवाय' का नाश मानते हैं तो 'एक समवाय' के नष्ट होने पर 'आत्मा' आदि नित्यद्रव्यों में 'द्रव्यत्वादि' जातियों का विशिष्ट अनुभव ही नहीं होगा। इसलिये उसे (समवाय को) विनाशरहित ही मानना चाहिये। एवं च उत्पत्ति-विनाशरहित होने से 'समवाय' की 'नित्यता' सिद्ध होती है।

'समवाय' की एकता तथा नित्यता पर नैयायिक-वैशेषिकों में कोई विवाद नहीं है, किन्तु 'समवाय' के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष के विषय में दोनों का एकमत नहीं है। वैशेषिकों ने 'समवाय' को अतीन्द्रिय मानकर उसे केवल अनुमानप्रमाण का ही विषय माना है। और नैयायिकों ने 'समवाय' को चक्षुरादि इन्द्रियों से जन्य-प्रत्यक्ष का विषय माना है। वैशेषिकों का कहना है कि जिस सम्बन्ध के जो भी 'प्रतियोगी-अनुयोगी रूप सम्बन्धी होते हैं, उनका प्रत्यक्ष ही उस सम्बन्ध के प्रत्यक्ष होने में कारण होता है। सम्बन्धियों के प्रत्यक्ष हुए बिना 'सम्बन्ध' का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'समवायसम्बन्ध' का प्रत्यक्ष होना असम्भव है। क्योंकि 'एक समवाय' के 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष' ये सम्बन्धी हैं। इन सभी सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष एक ईश्वर के बिना किसी जीवधारी को नहीं हो सकता।

यद्यपि प्रत्यक्षयोग्य यत्किञ्चित् 'घटादिक' सम्बन्धियों का जीव को प्रत्यक्ष होता है, तथापि 'परमाणु, आकाशादिक' अतीन्द्रिय पदार्थों का उसे (जीव को) प्रत्यक्ष नहीं होता। वे अतीन्द्रिय पदार्थ भी उस 'एक समवाय' के सम्बन्धी होते हैं। उस कारण 'एक समवाय' के समस्त सम्बन्धियों का अप्रत्यक्ष रहने पर 'समवाय' का प्रत्यक्ष होना कदापि संभव नहीं है।

यदि हम 'समवायसम्बन्ध' के प्रत्यक्ष होने में उसके समस्त सम्बन्धियों के प्रत्यक्ष को 'कारण' न मानकर केवल 'यत्किञ्चित्सम्बन्धी' के प्रत्यक्ष को ही कारण कहें, तो 'अतीन्द्रिय आकाश' के साथ जो 'घट' का 'संयोग सम्बन्ध' है उसका (संयोग सम्बन्ध का) भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि उस 'संयोग सम्बन्ध' के एक 'घट-रूप' सम्बन्धी का लोगों को 'प्रत्यक्ष' हो ही रहा है। किन्तु 'आकाश-घट-संयोग' का प्रत्यक्ष किसी को भी नहीं हो पाता है। क्योंकि एक 'घटरूप' सम्बन्धी का प्रत्यक्ष होने पर भी दूसरे 'आकाशरूप' सम्बन्धी का किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस-लिये 'सम्बन्ध' के प्रत्यक्ष होने में उसके समस्तसम्बन्धियों के प्रत्यक्ष को कारण मानना आवश्यक है। अतः 'समवाय' का प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह अतीन्द्रिय है। अर्थात् किसी भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का वह विषय नहीं है।

वैशेषिक कहता है कि 'समवाय' की 'अतीन्द्रियता' को हम केवल युक्ति से ही सिद्ध नहीं कर रहे हैं, अपितु अनुमान प्रमाण से भी उसे सिद्ध कर सकते हैं। अनुमान-प्रयोग यह होगा—**समवायः अतीन्द्रियः आत्मान्यत्वे सति असमवेतभावत्वात् आकाशादि-वत्'**—अर्थात् 'समवाय' अतीन्द्रिय होने योग्य है, क्योंकि आत्मा से अन्य होता हुआ असमवेत भावरूप होने से। 'जो भी पदार्थ, आत्मा से अन्य होता है, तथा असमवेत और भावरूप होता है, वह पदार्थ 'अतीन्द्रिय' ही होता है'। जैसे 'आकाश', आत्मा से अन्य है, तथा किसी भी पदार्थ में समवायसम्बन्ध से वृत्ति न होने के कारण 'असमवेत' भी है और 'भावरूप' भी है। इसीलिये उसे (आकाश को) अतीन्द्रिय कहते हैं। उसीतरह 'समवाय' भी 'आत्मा' से अन्य है तथा असमवेत है और भावरूप है। इसलिये आकाश की तरह उसे (समवाय को) भी अतीन्द्रिय मानना चाहिये।

समवाय की अतीन्द्रियता सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हेतु में यदि हम 'असमवेत-भावत्वात्'—इतना ही 'हेतु' का आकार रखें, उसके साथ 'आत्मान्यत्वे सति' पद को न रखें तो 'आत्मा' में 'हेतु' का व्यभिचार होगा। क्योंकि 'आत्मा' 'नित्यद्रव्य' होने से किसी भी पदार्थ में 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहता। उस कारण 'आत्मा' असमवेत भी है तथा भावरूप भी है। किन्तु वह (आत्मा) अतीन्द्रिय नहीं है, अपितु 'मनोरूप' इन्द्रिय से जन्य-प्रत्यक्ष का विषय होता है। अतः 'अतीन्द्रियत्वरूप' साध्य के अभाव वाले (साध्याभावाधिकरण) 'आत्मा' में 'असमवेतभावत्वरूप' हेतु के वृत्ति होने से (रहने से) वह (हेतु) व्यभिचारी हो जायगा। उस व्यभिचार दोष के निरासार्थ, अनुमान में प्रयुक्त किये गये हेतु में 'आत्मान्यत्वे सति' यह पद अवश्य ही देना चाहिये। तब 'आत्मा' स्वयं से ('आत्मा' से) अन्य न होने के कारण 'उसमें' (आत्मा में) हेतु का व्यभिचार नहीं होगा। अब यदि हम उक्त अनुमान में 'आत्मान्यत्वे सति भावत्वात्' इतना ही 'हेतु' का आकार रखें, उसमें 'असमवेत' पद को न रखें तो 'घट' आदिकों में 'हेतु' का व्यभिचार होगा। क्योंकि वे 'घटादिक'

'आत्मा' से अन्य हैं, तथा भावरूप भी हैं। अतः 'घटादिकों' में 'हेतु' तो रह गया, किन्तु 'अतीन्द्रियत्वरूप' साध्य, उन घटादिकों में नहीं है। एवं च साध्याभावाधिकरण में 'हेतु' के रह जाने से 'हेतु' व्यभिचरित हो जायगा। उस व्यभिचार के निवारणार्थ, 'हेतु' में 'असमवेत' पद का रखना आवश्यक है। तब 'घटादिक' अपने 'कपालादि' अवयवों में 'समवेत' रहने से वे 'असमवेत' नहीं हैं। उस कारण 'घटादिकों' में 'हेतु' का व्यभिचार नहीं है।

अब यदि अनुमान में 'आत्मान्यत्वे सति असमवेतत्वात्' इतना ही 'हेतु' का आकार रखते, और उसमें 'भाव' पद न रखते तो 'घट' आदि के अभाव (घटाभाव) में 'हेतु' का व्यभिचार होगा। क्योंकि वह 'अभाव', 'आत्मा' से अन्य भी है तथा असमवेत भी है। इस कारण 'हेतु' तो 'अभाव' में है, किन्तु 'अतीन्द्रियत्वरूप' साध्य, उस 'अभाव' में नहीं है। इसीलिये तो 'अभाव' चक्षुरादि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय हुआ करता है। एवं च साध्याभावाधिकरण में 'हेतु' के रह जाने से वह व्यभिचरित होता है। उस व्यभिचार दोष के निवारणार्थ 'हेतु' में 'भाव' पद का रखना आवश्यक है। तब 'अभाव' में 'भावरूपता' न होने से उसमें (अभाव में) हेतु का व्यभिचार नहीं है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण के द्वारा 'समवाय' की 'अतीन्द्रियता' बतायी गई है।

शंका—अनुमानप्रमाण से 'समवाय' की अतीन्द्रियता सिद्ध होने पर भी उस 'समवाय' की सिद्धि में तो कोई प्रमाण नहीं है। जब तक कोई 'पदार्थ प्रमाण-प्रमित न हो, तब तक उसकी अतीन्द्रियता या अनतीन्द्रियता की सिद्धि का प्रयास करना व्यर्थ है।

समा०—धर्माधर्म के समान 'समवाय' की सिद्धि भी 'अनुमान' प्रमाण से की जाती है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार है—'रूपवान् घटः इति विशिष्टज्ञानं विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धविषयकं विशिष्टज्ञानत्वात् दण्डीतिविशिष्टज्ञानवत्'। अर्थात् 'यह घट रूपवाला है'—इस प्रकार का जो विशिष्ट ज्ञान है, वह 'विशेषण-विशेष्य दोनों के सम्बन्धविषयक होने योग्य है, विशिष्टज्ञान होने से। 'जो भी विशिष्टज्ञान होता है, वह विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धविषयक ही होता है'। जैसे—'दण्डी पुरुषः'—यह 'विशिष्टज्ञान', स्वयं विशिष्टज्ञानरूप होने से 'दण्ड' रूप विशेषण के तथा 'पुरुष' रूप विशेष्य के संयोगसम्बन्धविषयक ही होता है। वैसे ही 'रूपवान् घटः' यह विशिष्टज्ञान भी 'रूप' विशेषण और 'घट' विशेष्य के सम्बन्धविषयक ही होगा। 'दो द्रव्यों' का ही परस्पर संयोग सम्बन्ध होता है। 'द्रव्य' और 'गुण' दोनों का संयोग-सम्बन्ध नहीं होता। एवं च 'रूपगुण' का 'घट' के साथ 'संयोग' सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, तब परिशेषात् उक्त अनुमान से उस विशिष्टज्ञान का विषय 'समवाय' ही सिद्ध होता है। अतः 'समवायसम्बन्ध' अनुमेय है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

किन्तु **नैयायिक** 'समवाय' को अनुमेय व अतीन्द्रिय न मानकर उसे प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि 'इह कपालेषु घटसमवायः', 'इह तन्तुषु पट-समवायः'—अर्थात् इन कपालों में घट का समवाय है, तथा इन तन्तुओं में पट का समवाय है—यह प्रतीति, उन 'कपाल, तन्तु' आदि अवयवों में उन 'घट-पट' आदि अवयवियों के 'समवाय' सम्बन्ध को ही विषय करती है। उस कारण 'समवाय' को अतीन्द्रिय नहीं कह सकते। अपितु वह (समवाय) चाक्षुषादि-प्रत्यक्षज्ञान का ही विषय है।

वैशेषिकों ने जो एक नियम बताया था कि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष होने में 'समस्त सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष, कारण होता है'—किन्तु यह नियम, 'सम्बन्धमात्र' के प्रत्यक्ष होने में लागू नहीं है। यह नियम केवल 'संयोगमात्र' के प्रत्यक्ष में ही लागू होता है। अर्थात् 'संयोगसम्बन्ध' के प्रत्यक्ष में ही 'समस्तसम्बन्धियों' का प्रत्यक्ष, 'कारण' होता है। 'समवायसम्बन्ध' के प्रत्यक्ष में उसके (समवाय के) 'समस्तसम्बन्धियों का प्रत्यक्ष' कारण नहीं होता है, अपितु यत्किञ्चित् 'प्रतियोगी-अनुयोगी' रूप सम्बन्धी के प्रत्यक्ष होने से ही 'समवाय' का प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः 'अयं घटः'—यह चाक्षुष प्रत्यक्ष, जैसे 'घट' को तथा 'घटत्वजाति' को विषय करता है, वैसे ही वह प्रत्यक्ष, उस 'घट-घटत्व' के समवाय को भी विषय करता है। उसी प्रकार 'नीलो घटः' यह चाक्षुष प्रत्यक्ष भी 'नीलरूप विशेषण' को तथा 'घटरूप विशेष्य' को तथा दोनों के 'समवाय' को भी विषय करता है। एवं जिस-जिस द्रव्य का जिस-जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, तत्तद् द्रव्यवृत्ति 'गुण-कर्म के समवाय' का तथा 'जाति' के 'समवाय' का भी तत्तद इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है।

'समवाय' को 'अनेक' मानने वाले **नवीन नैयायिकों** का तो यह मत है कि 'समावाय सम्बन्ध' एक नहीं है, अपितु वह नाना (अनेक) है। क्योंकि 'पृथिवी' में ही 'गन्ध' का 'समवाय' है। 'जल' में उसका (गन्ध का) 'समवाय' नहीं है—यह प्रतीति सभी लोगों को होती है। इस प्रतीति के आधार पर 'समवाय सम्बन्ध' का 'नानात्व' (अनेकत्व) ही सिद्ध होता है। अर्थात् 'पृथिवी' में 'गन्धगुण' का 'समवाय' पृथक् है, और 'जल' में 'शीतस्पर्श' का 'समवाय' पृथक् है। 'तेज' में 'उष्णस्पर्श' का 'समवाय' पृथक् है। इस प्रकार जिस-जिस द्रव्य में जो-जो 'गुण' रहता है तथा जो-जो 'कर्म', तथा जो-जो 'जाति' रहती है, उनका 'समवाय' पृथक्-पृथक् ही उन-उन द्रव्यों में रहता है। अतः 'समवाय' का 'नानात्व' ही सिद्ध होता है।

'समवाय' के सम्बन्ध में **प्रभाकर मीमांसक** का मत है कि वह (समवाय) 'नाना' है तथा 'अनित्य' है। उसे 'नित्य' कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'नीलो नष्टः, रक्तः उत्पन्नः'—इस प्रतीति का विषय 'नीलरूप के समवाय का विनाश' तथा 'रक्त-

रूप के समवाय की उत्पत्ति' ही है। इस प्रतीति के आधार पर ही 'समवाय' की 'अनित्यता' और 'नानात्व' सिद्ध होता है।

किन्तु प्रभाकर मीमांसक का उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि 'नीलो नष्टः, रक्तः उत्पन्नः'—इस प्रतीति से उस 'समवाय' के उत्पत्ति-विनाश की प्रतीति नहीं होती है, अपितु उस 'नील-रक्तरूप' का ही 'उत्पत्ति-विनाश' प्रतीत होता है। यदि उक्त प्रतीति से 'समवाय' का 'उत्पत्ति-विनाश' कहोगे तो 'घटो नष्टः' इस प्रतीति से भी उस घट के 'समवाय' का ही 'विनाश' सिद्ध होगा, 'घट' का विनाश सिद्ध नहीं होगा। उस से 'नील-रक्त' आदि के समान उस 'घट' की भी 'नित्यता' सिद्ध होगी। किन्तु 'घट' की नित्यता तो प्रभाकर के मत में भी मान्य नहीं है।

'समवाय' के सम्बन्ध में महामीमांसक**श्रीकुमारिलभट्टपाद** का कहना है कि जिन 'अवयव-अवयवी', 'गुण-गुणी', आदि अयुतसिद्ध पदार्थों का नैयायिकों ने 'समवाय-सम्बन्ध' माना है, उन 'अयुतसिद्ध पदार्थों' का तो 'स्वरूपसम्बन्ध' ही हो सकता है। नैयायिकों ने 'अभावादिकों' का 'स्वरूपसम्बन्ध' माना ही है। अतः उससे भिन्न 'एक समवायसम्बन्ध' की कल्पना 'अयुतसिद्ध पदार्थों' के लिये करना व्यर्थ है।

उस पर **नैयायिक** कहता है कि भट्टपाद का उक्त मन्तव्य ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य-गुण-कर्म आदि अनेक स्वरूपों में सम्बन्ध की कल्पना करने में अत्यन्त 'गौरव' दोष होगा। अतः 'एक समवायसम्बन्ध' की कल्पना करने में ही लाघव है।

इस प्रकार द्रव्यादि छह भावपदार्थों का वर्णन किया गया। प्रमेय (पदार्थ) के स्वरूपनिर्धारण के लिए नैयायिक-वैशेषिकों की दृष्टि में संविद् (अनुभव) ही मुख्य आधार है। उसी दृष्टि से उन्होंने 'पदार्थ' (प्रमेय) दो प्रकार के माने हैं। एक तो वे पदार्थ हैं, जिनका अनुभव—'यह है' अर्थात् 'यह सत् है, यह भावरूप हैं' इस रूप में सभी को होता है। इस प्रकार के अनुभव को भावात्मक प्रतीति अर्थात् 'विधि-मुख प्रत्यय' कहते हैं। 'द्रव्य' से लेकर 'विशेष' तक के पदार्थों का अनुभव इसी प्रकार का होता है। इस अनुभव का कभी बाध नहीं होता। इसलिये द्रव्यादि छह पदार्थों को 'भावपदार्थ' कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त एक प्रतीति और भी होती है, जो 'अत्र घटो नास्ति'—यहाँ घट नहीं है—इस रूप में होती है। यह प्रतीति 'अभावात्मक' अर्थात् 'निषेधमुख' हुआ करती है। इसी अनुभव के आधार पर 'अभाव' नामक सप्तम पदार्थ को भी स्वीकार किया गया है।

अभावपदार्थविचारः

इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते। स च अभावः संक्षेपतो द्विविधः। संसर्गाभावोऽन्योऽन्याभावश्चेति। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः। प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति।

उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः प्रागभावः । यथा तन्तुषु पटाभावः । स चानादिरुत्पत्तेरभावात् । विनाशी च, कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात् ।

उत्पन्नस्य कारणेऽभावः प्रध्वंसाभावः । प्रध्वंसो विनाश इति यावत् । यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभावः । स च मुद्गरप्रहारादिजन्यः । स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्तेः ।

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः । यथा वायौ रूपाभावः ।

अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिताकोऽभावः । 'घटः पटो न भवति' इति ।

तदेवमर्था व्याख्याताः ।

इदानीमिति । अब 'निषेधमुख' प्रमाण से बोध्य (गम्य) 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं ।

स चेति । वह 'अभाव' संक्षेपतः दो प्रकार का होता है—(१) **संसर्गाभाव** और (२) **अन्योऽन्याभाव** । उनमें से 'संसर्गाभाव' भी तीन प्रकार का होता है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, और (३) अत्यन्ताभाव ।

उत्पत्तेरिति । अपनी उत्पत्ति के पूर्व 'कार्य' का अपने 'कारण' में जो 'अभाव', रहता है, उस 'अभाव' को **'प्रागभाव'** कहते हैं । अर्थात् वह, 'उस कार्य का प्रागभाव' कहलाता है । **यथेति ।** जैसे—'पट' रूप कार्य की उत्पत्ति होने से पूर्व अपने कारणरूप 'तन्तुओं' में रहने वाला उस 'पट' रूप कार्य का 'अभाव' । यही 'पट' का प्रागभाव कहलाता है । **स चेति ।** वह 'प्रागभाव', अनादि है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं होती है । किन्तु उसके अनादि रहने पर भी वह 'विनाशी' है क्योंकि 'पट' आदि कार्य ही उसके विनाशरूप में होते हैं ।

उत्पन्नस्येति । उत्पन्न हुए कार्य का जो उसके 'कारण' में 'आभाव' होता है, उसे **'प्रध्वंसाभाव'** कहते हैं । 'प्रध्वंस' यानी 'विनाश' । **यथेति ।** जैसे—'घड़े' के फूट जाने पर उसके कपालों में (कपालमाला में) रहने वाला 'घटाभाव', इसी को 'घट का प्रध्वंसाभाव' कहते हैं । और वह 'प्रध्वंसाभाव' मुद्गरप्रहार आदि करने से उत्पन्न होता है । **स चेति ।** वह प्रध्वंसाभाव 'उत्पत्तिमान्' होने पर भी नाशवान् नहीं है, अर्थात् अविनाशी है । क्योंकि नष्ट हुए कार्य की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है । इसलिये 'प्रध्वंसाभाव', 'सादि' होने पर भी 'अनन्त' होता है ।

त्रैकालिक इति । त्रैकालिक अर्थात् तीनों कालों में रहने वाला जो 'अभाव' (संसर्गाभाव) है, उसे **'अत्यन्ताभाव'** कहते हैं । जैसे—'वायु' में 'रूप' का अभाव ।

अन्योऽन्याभावस्त्विति । अन्योन्यत्व (तादात्म्य) का विरोधी जो अभाव होता है, उसे 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं । ग्रन्थकार ने उसका लक्षण—'तादात्म्यप्रतियोगिताकोऽभावः' किया है । अर्थात् 'तादात्म्यं प्रतियोगि यस्य सः'—तादात्म्य है प्रतियोगी जिसका, ऐसा 'अभाव' । जिसका अभाव होता है, वही उस अभाव का प्रतियोगी

कहलाता है। 'तादात्म्य' का अर्थ है—तद्रूपता, एक रूपता अर्थात् अभेद। एवं च दो वस्तुओं के तादात्म्य का अभाव ही 'अन्योऽन्याभाव' है। जैसे—'घटः पटो न भवति' अर्थात् 'घट', पट नहीं है। यहाँ पर 'घट' तथा 'पट' के अभेद का निषेध किया गया है। 'घट' का अपने स्वरूप (व्यक्तित्व) के साथ तादात्म्य है, लेकिन उसका 'पट' के साथ तादात्म्य नहीं है।

तर्कसंग्रहकार श्री अन्नंभट्ट तथा मुक्तावलीकार ने भी ऐसा ही लक्षण **'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽन्योऽन्याभावः'** किया है। अर्थात् तादात्म्यसम्वन्ध से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी, ऐसा 'अभाव' ही अन्योऽन्याभाव कहलाता है। जैसे 'घटे पटाभावः'—घट में पट का अभाव—यहाँ पर 'तादात्म्येन सम्बन्धेन यत्र कश्चित् प्रतियोगी न भवति' घट में जो पटाभाव है, उसका प्रतियोगी 'पट' है। वह तादात्म्यसम्वन्ध से 'घट' में नहीं रहता है।

तदेवमिति। इस प्रकार **वैशेषिकदर्शनाभिमत** द्रव्यादि सात पदार्थ रूप **'अर्थों'** को बताया गया है।

माधुरी

'अभाव' का लक्षण **'निषेधमुखप्रतीतिविषयः अभावः'** किया गया है। अर्थात् जो पदार्थ 'निषेधमुखप्रतीति' का विषय होता है उस पदार्थ को 'अभाव' कहते हैं। 'भूतले घटो नास्ति', 'घटो न पटः'—इत्यादि 'निषेधमुख प्रतीतियाँ हैं। इन प्रतीतियों के विषय, भूतलादिकों में घटादि के 'अभाव' ही होते हैं। अतः निषेधमुख-प्रतीति (का) 'विषयत्व' रूप अभाव-लक्षण का समन्वय उनमें हो जाता है। अभाववाचक 'नकारादिक शब्द' से जन्य प्रतीति को 'निषेधमुख प्रतीति' कहते हैं।

इस 'अभाव' के दो भेद हैं—(१) संसर्गाभाव और (२) अन्योन्याभाव। **प्राचीन नैयायिकों** के मत से प्रथम 'संसर्गाभाव' के (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव और (४) सामयिकाभाव-संज्ञक चार भेद होते हैं।

किन्तु **नवीन नैयायिक** 'सामयिकाभाव' नामक चौथे भेद को नहीं मानते हैं। इसलिए उनके मत से 'संसर्गाभाव' के तीन ही भेद होते हैं। एवं च, इनके मत से 'संसर्गाभाव' तीन ही प्रकार का होता है।

'अभाव' का जो दूसरा भेद 'अन्योन्याभाव' है, वह एक ही प्रकार का होता है। अतः **प्राचीनों** के मत से 'अभाव' पदार्थ **पाँच प्रकार** का होता है। किन्तु नवीन नैयायिकों के मत से वह 'अभाव' पदार्थ, 'प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव' के भेद से चार ही प्रकार का होता है।

संसर्गाभाव का लक्षण इस प्रकार है—**'अन्योन्याभावभिन्नः अभावः संसर्गाभावः'**—अर्थात् 'अन्योन्याभाव' से भिन्न जो अभाव, उसे 'संसर्गाभाव' कहते हैं। उक्त लक्षण में 'अन्योन्याभावभिन्नः' पद न रखें तो 'अभावः संसर्गाभावः'—इतना ही लक्षण का

आकार शेष रहेगा, तब 'अन्योन्याभाव' में उस संसर्गाभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अन्योन्याभावभिन्नः' पद का रखना आवश्यक है। तब अन्योन्याभाव का भेद, 'अन्योन्याभाव' में तो रहेगा नहीं, किन्तु 'संसर्गाभाव' में ही रहेगा। इस कारण 'अन्योन्याभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि 'अन्योन्याभावभिन्नः संसर्गाभावः' इतना ही लक्षण करें, उसमें 'अभावः' पद न रखें तो 'घटादिकों' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जैसे 'संसर्गाभाव' उस 'अन्योऽन्याभाव' से भिन्न है, वैसे ही 'घट' आदि भी उस अन्योन्याभाव से भिन्न ही है। अतः उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अभाव' पद का रखना आवश्यक है। तब घटादिकों में अभावरूपता के न होने से घटादिकों में संसर्गाभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

प्रागभाव—

संसर्गाभाव के पाँच भेदों में से प्रथम भेद जो 'प्रागभाव' है, उसका लक्षण **'विनाश्यभावः प्रागभावः'** किया जाता है। 'सामयिकाभाव' को न मानने वाले नवीन नैयायिकों के अनुसार यह लक्षण किया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस अभाव का विनाश होता है, उस अभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं। 'पटादिकार्यों' की उत्पत्ति के पूर्व उसके (पटादिककार्यों के) समवायिकारणरूप 'तन्तु' आदिकों में उन पटादिक कार्यों का 'प्रागभाव' रहता है। वह 'प्रागभाव', उन पटादिक कार्यों के उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है। अतः 'प्रागभाव' विनाशी भी है तथा अभावरूप भी है। इसलिये लक्षणसमन्वय हो जाता है।

'प्रागभाव' का लक्षण यदि हम 'विनाशी प्रागभावः' इतना ही करें, अर्थात् लक्षण में 'अभावः' पद को न रखें, तो 'घट' आदिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जैसे—'प्रागभाव' विनाशी है, वैसे ही 'घटादिक' भी विनशी हैं। इस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में 'अभावः' पद का रखना आवश्यक है। तब 'घटादिकों' में 'अभावरूपता' नहीं है, अपितु 'भावरूपता' है। इसलिये 'घटादिकों' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। अब यदि हम 'अभावः प्रागभावः' इतना ही 'प्रागभाव' का लक्षण करें, उसमें 'विनाशी' पद न रखें तो 'प्रध्वंसाभाव' आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रागभाव' के समान उन प्रध्वंसाभावादिकों में भी 'अभावरूपता' ही है। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'विनाशी' पद का रखना आवश्यक है। तब उन 'प्रध्वंसादिक अभावों' में 'विनाशिता' के न होने से 'अविनाशिता' ही है। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है।

तथापि सामयिकाभाव को मानने वाले प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि से 'विनाश्यभावः प्रागभावः' लक्षण की उत्पत्तिविनाशशील 'सामयिकाभाव' में अतिव्याप्ति होती है।

इसलिये प्राचीन नैयायिकों ने 'प्रागभाव' का लक्षण ही दूसरा बनाया—**'अनादिः सान्तः प्रागभावः'**। अर्थात् जो 'अभाव' 'अनादि' (उत्पत्तिरहित) तथा 'सान्त' होता है, उसे 'प्रागभाव' कहते हैं।

अब यदि 'अनादिः प्रागभावः' इतना ही लक्षण 'प्रागभाव' का करें, उस में 'सान्तः' पद न दें तो 'परमाणु-आकाशादिक' नित्यपदार्थों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रागभाव' के समान ही 'परमाणु-आकाशादिक' नित्यपदार्थ भी 'उत्पत्तिरहित' होने से अनादि ही हैं। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'सान्तः' पद का देना आवश्यक है। तब 'परमाणु-आकाशादिक' नित्यपदार्थ 'सान्त' (नाशरूप अन्तवाले) नहीं हैं, अपितु वे 'अनन्त' (अन्तरहित) हैं। इसलिये उन 'परमाणु-आकाशादिनित्यद्रव्यों' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है। अब यदि 'सान्तः प्रागभावः' इतना ही लक्षण करें, लक्षण में 'अनादिः' पद न रखें तो 'घटादिकों' में तथा 'सामयिकाभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रागभाव' के समान 'घटादिक' भी तथा 'सामयिकाभाव' भी सान्त (नाशवान्) हैं। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अनादिः' पद का रखना आवश्यक है। तब 'घटादिक' तथा 'सामयिकाभाव' अनादि नहीं हैं, अपितु 'सादि' (उत्पत्तिमान्) हैं। अतः उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

यह 'प्रागभाव' अपने 'प्रतियोगी' के 'समवायिकारण' में ही 'स्वरूपसम्बन्ध' से रहता है। जैसे—'पट' का प्रागभाव, 'पट' की उत्पत्ति के पूर्व उस 'पट' रूप 'प्रतियोगी' के समवायिकारणरूप 'तन्तुओं' में ही 'स्वरूपसम्बन्ध' से रहता है। तथा 'घट' का प्रागभाव, उस 'घट' रूप प्रतियोगी के समवायिकारणरूप 'कपालों' में ही स्वरूपसम्बन्ध' से रहता है। इस प्रकार तत्तद्गुण-कर्मादिरूप कार्य का प्रागभाव, तत्तद्गुण-कर्मादिरूप प्रतियोगी के समवायिकारणरूप द्रव्य में ही स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। यह 'प्रागभाव', उत्पत्तिरहित होने से 'अनादि' होता हुआ भी 'नाशवान्' है। अर्थात् तत्तद् द्रव्य गुणकर्मादिरूप 'कार्य' के उत्पन्न होने पर 'तत्तत् कार्य' का 'प्रागभाव' नष्ट होता है। तत्तत् कार्योत्पत्ति की जो 'कारणसामग्री' है, वही तत्तत् कार्य के 'प्रागभाव' की नाशक होती है। उसकारण तत्तत् कार्योत्पत्ति के क्षण में ही तत्तत् कार्य के प्रागभाव का नाश हुआ करता है।

प्रश्न—'कपाल' आदिकों में 'घट' का 'प्रागभाव' रहता है'—यह किस प्रमाण के आधार पर कहा जा रहा है?

उत्तर—'इह कपाले घटो भविष्यति', 'इह तन्तुषु पटो भविष्यति' ऐसी प्रतीति सभी लोगों को होती है। इस 'प्रत्यक्षप्रतीति' का विषय, उन 'कपाल तन्तु' आदिकों में स्थित 'घट-पट' आदिकों का 'प्रागभाव' ही है।

शंका—उक्त प्रतीति का 'विषय' तो 'घट-पट' आदि की भविष्यत्ता है। क्योंकि

'भविष्यति' पद का प्रयोग किया जाता है। 'प्रागभाव' तो उस प्रतीति का विषय नहीं है।

समा०—आप की शंका आपाततः ठीक ही है, किन्तु 'वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वं भविष्यत्त्वम्'—'वर्तमान प्रागभाव' की 'घट' आदि में जो प्रतियोगिता है, उसी का नाम 'भविष्यत्ता' है। एवं च उक्त प्रतीति 'प्रागभाव' को ही विषय करती है। अतः 'प्रागभाव' के अस्तित्व में लौकिक अनुभव ही प्रमाण है।

शंका—'प्रागभाव' को मानने की आवश्यकता क्यों हुई?

समा०—'प्रागभाव' को यदि न माना जाय तो एक बार उत्पन्न हुए 'घट' की पुनरुत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि जो कारणसामग्री 'कपाल संयोग, कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर' आदि है, वह सभी सामग्री उस घट की उत्पत्ति क्षण में विद्यमान है ही। अतः उस कारणसामग्री से उस 'घट' की पुनरुत्पत्ति अवश्य होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है। और 'प्रागभाव' के मानने पर उक्त आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि उस 'घट' की उत्पत्ति के क्षण में उस का 'प्रागभाव' नष्ट हो जाता है, इसलिये घटोत्पत्ति की समस्त सामग्री के विद्यमान रहने पर भी उस 'प्रागभाव' रूप 'कारण' का अभाव होने से उत्पन्न हुए 'घट' की पुनरुत्पत्ति नहीं होती है। एवं च उत्पन्न की पुनरुत्पत्ति के वारणार्थ 'प्रागभाव' को अवश्य मानना होगा। इसी को अनुमान प्रयोग से भी बताया जा सकता है—'अयं घटः स्वोत्पत्तिक्षणावृत्तिकारणजन्यः स्वोत्पत्तिद्वितीयक्षणानुत्पन्नत्वात्'—अर्थात् 'यह घट' अपने 'उत्पत्तिक्षण' में न रहने वाले (अवृत्ति) 'कारण' से जन्य है, क्योंकि वह, अपनी उत्पत्ति के द्वितीयक्षण में पुनः उत्पन्न नहीं होता है। इस अनुमान प्रयोग से यह अवगत होता है कि 'घट' उत्पत्ति के क्षण में 'प्रागभाव' से भिन्न अन्य 'कपाल-दण्ड-चक्र-चीवर' आदि सभी कारण विद्यमान ही हैं। अतः उन कारणों की सिद्धि, इस अनुमान से नहीं हो रही है, परिशेषात् 'घट' के उत्पत्तिक्षण में न रहने वाले उस 'प्रागभाव' रूप कारण की ही सिद्धि इस अनुमान के द्वारा की जाती है।

किन्तु **नवीन नैयायिक** कहते हैं कि 'इह कपालेषु घटस्य प्रागभावः' इस काल में कपालों में 'घट' का प्रागभाव है—इस प्रकार की 'प्रागभावविषयकप्रतीति' सब लोगों को नहीं होती है। इस कारण 'प्रागभाव' के होने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कदाचित् कपालों में 'घट' के 'प्रागभाव' का प्रत्यक्ष हो तो अनपढ़ लोगों को भी उन कपालों के समान उस 'प्रागभाव' का प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु होता नहीं है। केवल नैयायिकों को ही उसका प्रत्यक्ष होता है।

और **प्राचीन नैयायिकों** ने 'इह कपाले घटो भविष्यति' इस प्रतीति को 'प्रागभाव' के अस्तित्व में प्रमाण बताया था, किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'घट' में जो वर्तमान काल के वजाय उत्तरकालवृत्तित्व है, वही 'घट' में 'भविष्यत्ता'

है—इस कथन से 'प्रागभाप' की सिद्धि नहीं होती है। उसी तरह उन्होंने उत्पन्न घट की पुनरुत्पत्ति के निवारणार्थ 'प्रागभाव' का स्वीकार करना जो बताया था, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिन अवयवों में 'जो द्रव्य', 'समवायसम्बन्ध' से रहता है 'वहीं' उन अवयवों में समवायसम्बन्ध से 'दूसरे द्रव्य' की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है। इसलिये उन कपालों में समवायसम्बन्ध से रहा हुआ 'घट' ही अपनी पुनरुत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है। उसी से पुनरुत्पत्ति का जब निवारण हो जाता है, तब 'प्रागभाव' को घटोत्पत्ति में कारण मानना व्यर्थ है।

उस पर प्राचीन नैयायिक कहता है कि, नवी· नैयायिकों का उक्त मत ठीक नहीं है, क्योंकि 'घट' की पुनरुत्पत्ति में उस 'घट' को ही यदि 'प्रतिबन्धक' मानोगे तो उस प्रतिबन्धक 'घट' के 'संसर्गाभाव' को उस 'घट' की उत्पत्ति में 'कारण' अवश्य ही मानना होगा। तब संसर्गाभाव के रूप में उस प्रतिबन्धक 'घट' का 'प्रागभाव' ही उसके (घट के) प्रति कारण बनेगा। इस प्रकार घट्ट-कुटी-प्रभातन्याय से नवीन नैयायिकों को 'प्रागभाव' की शरण तो अवश्य ही लेनी पड़ रही है। अत: 'प्रागभाव' का मानना व्यर्थ नहीं है।

प्रश्न—प्रागभाव के ध्वंस का स्वरूप कैसा होता है ?

उत्तर—कपालों में रहने वाला जो 'घट' का प्रागभाव है, उसका प्रतियोगी 'घट' है। उस 'प्रतियोगी घट' के उत्पत्तिक्षण में उसके 'प्रागभाग' का नाश हो जाता है। यह जो 'घट' के प्रागभाव का 'नाश' यानी ध्वंस है; वह, 'घट' के विद्यमान काल में तो 'घट स्वरूप' ही रहेगा। और जब कभी उस 'घट' का 'ध्वंस' होगा, तब वह 'प्रागभाव' का नाश (ध्वंस), घट (के) 'ध्वंस स्वरूप' रहेगा। क्योंकि 'घट प्राग-भाव' के 'ध्वंस' को 'घटरूप प्रतियोगी' से तथा 'घटरूप प्रतियोगी' के 'ध्वंस' से भिन्न (पृथक्) मानने में कोई प्रमाण नहीं है, और गौरव दोष भी है।

किञ्च उस 'घट' रूप प्रतियोगी के काल में तथा उस 'घट' रूप प्रतियोगी के ध्वंस काल में 'विनष्टो घटप्रागभाव:'—ऐसी उस 'घट प्रागभाव' के 'ध्वंस' को बताने वाली (विषय करने वाली) प्रतीति भी होती है। इस कारण 'प्रागभाव' के 'ध्वंस' को 'स्वप्रतियोगि-प्रतियोगिस्वरूप' तथा 'स्वप्रतियोगि-प्रतियोगिध्वंसस्वरूप' ही मानना चाहिये। यहाँ पर दोनों 'स्व' शब्दों से उस 'प्रागभाव' के 'ध्वंस' का ग्रहण करना चाहिये।

प्रध्वंसाभाव—

प्रध्वंसाभाव का लक्षण—**'उत्पत्तिमान् अभावः प्रध्वंसाभावः**। अर्थात् जो 'अभाव' उत्पत्तिवाला हो, यानी जिस 'अभाव' की उत्पत्ति होती हो—उसे 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जहाँ 'घटादि' कार्यों की उत्पत्ति के बाद मुद्गरप्रहा-रादि किसी निमित्तकारण से उन 'घट' आदि का जो विनाश होता है, उस 'विनाश

को 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं। वह 'प्रध्वंसाभाव'—उत्पत्तिमान् भी है और अभाव रूप भी है। अतः लक्षणसमन्वय हो जाता है।

उक्त लक्षण में 'उत्पत्तिमान्' पद न दें तो 'प्रागभावादि' सभी अभावों में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रध्वंसाभाव' के समान उन 'प्रागभावादिकों' में भी अभावरूपता है। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'उत्पत्तिमान्' पद का देना आवश्यक है। तब 'प्रागभाव' आदि अभावों की उत्पत्ति न होने से वे 'उत्पत्तिमान्' नहीं कहलाते। अतः उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि हम 'उत्पत्तिमान् प्रध्वंसाभावः' इतना ही लक्षण करें। उसमें 'अभावः' पद न रखें तो 'घट-पट' आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रध्वंसाभाव' के समान वे 'घट-पट' आदि भी 'उत्पत्तिमान्' हैं। उस 'अतिव्याप्ति' के निवारणार्थ लक्षण में 'अभावः' पद का रखना आवश्यक है। तब 'घट-पट' आदिकों में अभावरूपता नहीं है, किन्तु 'भावरूपता' है। इसलिये उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। यह लक्षण नवीन नैयायिकों के मतानुसार किया गया है। इसलिये 'सामयिकाभाव' में अतिव्याप्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि नवीन नैयायिक 'सामयिकाभाव' को नहीं मानते।

किन्तु 'सामयिकाभाव' को मानने वाले प्राचीन नैयायिक 'प्रध्वंसाभाव' का लक्षण इस प्रकार करते हैं—**'उत्पत्तिमान् अनन्तः प्रध्वंसाभावः'** अर्थात् **'सादिरनन्तः प्रध्वंसः'**। अर्थात् जो 'अभाव', उत्पत्तिमान् तथा अन्त(नाश)रहित हो, उसे 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं। हमारा विवक्षित 'प्रध्वंसाभाव', उत्पत्तिमान् भी है और अन्तरहित भी है। अतः लक्षणसमन्वय हो जाता है। यदि हम 'अनन्तः प्रध्वंसाभावः' इतना ही लक्षण करें अर्थात् उसमें 'उत्पत्तिमान्' (सादिः) पद न कहें तो 'परमाणु-आकाशादिक नित्य-पदार्थों' में तथा 'अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि प्रध्वंसाभाव के समान ही 'परमाणु-आकाशादिक' भी 'अन्त' (नाश) रहित ही होते हैं। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'उत्पत्तिमान्' (सादिः) पद को अवश्य कहना होगा। तब 'परमाणु' और 'आकाशादिक' उत्पत्तिमान् नहीं हैं, अपितु वे उत्पत्ति-विनाश से रहित होने के कारण नित्य हैं। अतः 'परमाणु' और 'आकाशादिकों में तथा 'अत्यन्ताभाव' और 'अन्योन्याभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि हम 'उत्पत्तिमान् प्रध्वंसाभावः' इतना ही लक्षण करें, अर्थात् उसमें 'अनन्तः' पद न कहें तो 'घट-पट' आदिकों में तथा 'सामयिकाभाव' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रध्वंसाभाव' के समान वे 'घट-पट' आदि तथा 'सामयिकाभाव' भी उत्पत्तिमान् हैं। अतः उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अनन्तः' पद का कहना आवश्यक है। तब 'घट-पट' आदि तथा 'सामयिकाभाव' अनन्त नहीं है। अपितु 'सान्त' यानी अन्तवान् (नाशवान्) ही हैं। अतः 'घट-पट' आदि में तथा 'सामयिकाभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—'प्रध्वंसाभाव' के अस्तित्व में क्या प्रमाण है ?

समा०—मुद्गरप्रहार से जब 'घट' नष्ट हो जाता है, तब उस 'घट' के 'कपालादि' अवयवों को देखकर 'अत्र घटो ध्वस्तः', 'अत्र घटो विनष्टः'—ऐसी प्रतीति सभी को होती है। यह 'प्रत्यक्ष प्रतीति', 'घट' के प्रध्वंसाभाव को ही विषय करती है। अतः 'प्रध्वंसाभाव' के अस्तित्व में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण ही है।

प्रश्न—'प्रध्वंसाभाव' जब 'सादि' (उत्पत्तिमान्) है, तब उसे 'कार्य' ही कहा जायगा। किसी भी कार्य की उत्पत्ति में एक 'नियम' देखा जाता है, जो इस प्रकार है—'जो भी कार्य होता है, वह अपने 'प्रागभाव' से जन्य होता है। 'प्रागभाव' के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। तब 'घट-पट' आदि पदार्थ, जैसे 'कार्य' रूप समझे जाते हैं, वैसे ही 'प्रध्वंसाभाव' भी उत्पत्तिमान् होने से उसको 'कार्य' रूप ही कहना होगा। अर्थात् 'घट-पटादिकों' में जैसी 'कार्यरूपता' है, उसी तरह 'प्रध्वंसाभाव' में भी 'कार्यरूपता' है। एवं च 'घट-पट' आदि 'भाव-कार्यों' के समान ही 'प्रध्वंसाभाव' रूप कार्य भी अपने 'प्रागभाव' से जन्य होना चाहिये। ऐसी स्थिति में 'प्रध्वंसाभाव' के 'प्रागभाव' का स्वरूप क्या होगा ?

उत्तर—घट के 'प्रध्वंसाभाव' का 'प्रागभाव', उसके (प्रध्वंसाभाव के) 'प्रतियोगी' के विद्यमानकाल में तो 'प्रतियोगी स्वरूप' ही होता है, और 'प्रतियोगी' की उत्पत्ति के पूर्व, उसके (प्रतियोगी के) 'प्रागभाव स्वरूप' होता है। जैसे—'घट' के 'प्रध्वंसाभाव' का प्रागभाव, 'घट' के विद्यमानकाल में तो 'घटस्वरूप' ही होता है। और 'घट' की उत्पति के पूर्व उसके (घट के) 'प्रागभावस्वरूप' होता है। क्योंकि घट-प्रध्वंसाभाव के 'प्रागभाव' को उस 'घटस्वरूप प्रतियोगी' से तथा उस घट के 'प्रागभाव' से अलग (पृथक्) मानने में कोई प्रमाण नहीं है, और अलग मानने में गौरव दोष भी होता है। उसे अलग न मानने में अन्य कारण यह भी है कि 'घट' के विद्यमान काल में तथा उसके (घट के) 'प्रागभाव' के विद्यमान काल में 'घटध्वंसो भविष्यति'—इस प्रकार से जो प्रतीति होती है, वह 'घटध्वंस के प्रागभाव' को विषय करती है। इसलिये 'प्रध्वंसाभाव' के प्रागभाव को 'स्व-प्रतियोगि-प्रतियोगिस्वरूप' तथा 'स्व-प्रतियोगि-प्रतियोगि-प्रागभावस्वरूप' मानना ही होगा। यहाँ पर दोनों 'स्व' शब्दों से 'घटध्वंस' के 'प्रागभाव' का ग्रहण करना चाहिये। उस 'प्रागभाव' का 'प्रतियोगी', 'घट का प्रध्वंसाभाव' है, और उस 'प्रध्वंसाभाव' का प्रतियोगी वह 'घट' है। इसे अवश्य ध्यान में रखना चाहिये।

प्रश्न—'प्रागभाव' को हम 'अनादि' न मानकर उसे यदि 'सादि' (उत्पत्तिमान्) मान लें, तथा 'प्रध्वंसाभाव' को 'अनन्त' (नाशरहित-अविनाशी) न मानकर उसे यदि 'सान्त' (नाशवान्-विनाशी) मान लें, तो क्या हनि है ?

उत्तर—यदि तुम 'प्रागभाव' को 'अनादि' नहीं मानोगे, यानी उसे 'उत्पत्तिमान्=

सादि' कहोगे तो 'घट' आदि पदार्थों के समान 'प्रागभाव' का भी कोई अन्य 'प्रागभाव' मानना होगा। उसीतरह 'प्रध्वंसाभाव' को भी 'अनन्त' (अविनाशी) न मानकर यदि उसे 'सान्त' (नाशवान्) मानेंगे तो 'घट' आदि पदार्थों के समान 'प्रध्वंसाभाव' का भी कोई अन्य 'ध्वंस' मानना होगा। तब उसके मानने पर 'प्रागभाव' के 'प्रागभावकाल' में तथा 'ध्वंस' के 'ध्वंसकाल' में 'घट' आदि 'प्रतियोगियों' के उन्मज्जन का अवसर प्राप्त होगा। क्योंकि यह नियम है—'ध्वंस-प्रागभावाऽनधिकरणकालस्य प्रतियोग्यधिकरणत्वम्'—अर्थात् जो 'काल', जिस 'वस्तु' के 'ध्वंस' का भी अधिकरण न हो, तथा उसके 'प्रागभाव' का भी अधिकरण न हो, वह 'काल', उस 'वस्तुरूप प्रतियोगी' का ही अधिकरण होता है।

जैसे—'घट' के उत्पत्तिक्षण से लेकर उसके विनाशक्षण तक जितना भी उसका स्थितिकाल है, वह (स्थितिकाल), उस घट के 'प्रागभाव' का भी अधिकरण नहीं है, क्योंकि उस घट का 'प्रागभाव' तो उस के (घट के) उत्पत्तिक्षण में ही नष्ट हो चुका है। तथा वह 'काल' उस 'घट' के ध्वंस का भी अधिकरण नहीं है क्योंकि उस घट का ध्वंस तो आगे होने वाला है। इस प्रकार उस घट के 'ध्वंस' का तथा 'प्रागभाव' का 'अनधिकरण' होने से वह 'काल', उस 'घट' रूप प्रतियोगी का ही 'अधिकरण' होता है।

वैसे ही जिस काल में उस 'घट' के 'प्रागभाव' का 'प्रागभाव' रहेगा, वह 'काल' भी उस घट के 'प्रागभाव' का तथा 'प्रध्वंसाभाव' का अनधिकरण ही होगा। अतः उस काल में उस 'घट' रूप प्रतियोगी का उन्मज्जन अवश्य ही होगा, यानी उस काल में 'घट' अवश्य ही विद्यमान रहेगा। एवं जिस 'काल' में घट के ध्वंस का 'ध्वंस' रहेगा, वह 'काल' भी उस घट के प्रागभाव का तथा 'ध्वंस' का अनधिकरण ही होगा। इसलिये उस काल में भी वह 'घटरूप प्रतियोगी' अवश्य ही रहेगा। किन्तु दोनों कालों में 'घट' का रहना तो अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद किसी भावरूप 'वस्तु' का उन्मज्जन नहीं हुआ करता। अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद किसी भावरूप वस्तु का अस्तित्व दिखाई नहीं देता। इसलिये उक्तकाल में घटादिक प्रतियोगी के उन्मज्जन का प्रसंग न हो सके, एतदर्थ उन घट आदि के 'प्रागभाव' को 'अनादि' (उत्पत्तिरहित) स्वीकार करना होगा। तथा 'प्रध्वंसाभाव' को 'अनन्त' (विनाशरहित) स्वीकार करना होगा।

जो लोग 'घट' आदि के 'प्रागभाव' का भी 'प्रागभाव' होना बताते हैं, तथा 'ध्वंस' का भी 'ध्वंस' होना कहते हैं, उनसे यह पूछा जाय कि 'घट' के प्रागभाव का प्रागभाव उस 'घट' रूप प्रतियोगी से भिन्न है, या घटस्वरूप है ? यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करते हैं तो प्रथम प्रागभाव के समान दूसरे प्रागभाव का भी कोई तीसरा प्रागभाव भी मानना होगा, पुनः तीसरे का चौथा, चौथे का पाँचवाँ, पाँचवें का छठा—

इस प्रकार कल्पित प्रागभावों की धारा बहती ही जायगी, कहीं पर भी विश्राम का अवसर ही नहीं होगा, तब तो 'अनवस्था' दोष हो जायगा। उस अनवस्था दोष के निवारणार्थ द्वितीय पक्ष अर्थात् 'घट के प्रागभाव का प्रागभाव' 'घट' स्वरूप है—स्वीकार करते हैं तो 'घट' के 'प्रागभाव' के 'प्रागभाव काल' में उस 'घट' रूप प्रतियोगी के उन्मज्जन का प्रसंग अवश्य प्राप्त होगा।

उसी प्रकार 'घटध्वंस' के ध्वंस को मानने वालों से पूछा जाय कि 'घट' के ध्वंस का ध्वंस उस 'घट' रूप प्रतियोगी से भिन्न है, या 'घट' स्वरूप है ? यदि वे प्रथम-पक्ष का स्वीकार करते हैं, तो 'प्रथम ध्वंस' के समान दूसरे ध्वंस का भी कोई तीसरा ध्वंस मानना होगा, तीसरे का चौथा, चौथे का पाँचवाँ, पाँचवें का छठा—इस प्रकार से उन ध्वंसों की धारा बराबर बहती जायगी, कहीं विश्रान्ति का अवसर ही न होगा, तब अनवस्था दोष होगा। उसके निवृत्त्यर्थ उस 'घट के ध्वंस' का 'ध्वंस'—घटस्वरूप है, इस द्वितीय पक्ष का स्वीकार करते हैं तो 'घटध्वंस' के 'ध्वंसकाल' में उस 'घट' रूप प्रतियोगी का उन्मज्जन होने लगेगा। उसके निवारणार्थ 'प्रध्वंसाभाव' को 'अनन्त' (नाशरहित) मानना चाहिये। लोकव्यवहार में भी 'घटो नष्टः, पटो नष्टः'—यही प्रतीति होती है। 'विनाशो नष्टः' ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती। और 'प्रध्वंसाभाव' के विनाश की कल्पना करने में कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः प्रध्वंसाभाव को अनन्त ही मानना चाहिये।

अत्यन्ताभाव—

अभी तक संसर्गाभाव के भेदों में से (१) प्रागभाव और (२) प्रध्वंसाभाव—के बारे में बताया है। अब संसर्गाभाव के तृतीय भेद को बताते हैं—**'नित्यः संसर्गाभावः अत्यन्ताभावः'**—अर्थात् जो 'अभाव' नित्य होता है, यानी उत्पत्ति-विनाश से रहित होता है तथा संसर्गाभावरूप होता है, अर्थात् 'अन्योन्याभाव' से भिन्न अभावरूप होता है, उस अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'जो वस्तु जिस सम्बन्ध से जिस अधिकरण में कभी भी न रहे, उस वस्तु का उस सम्बन्ध से उस अधिकरण में 'अत्यन्ताभाव' कहा जाता है। जैसे पृथिवीमात्रवृत्ति 'गन्धगुण' का पृथिवी को छोड़कर जलादिक सभी पदार्थों में 'अत्यन्ताभाव' रहता है। उसी तरह आत्ममात्रवृत्ति 'ज्ञानादि' गुणों का आत्मा को छोड़कर सर्वत्र 'अत्यन्ताभाव' ही रहता है। उसी तरह मूर्तद्रव्यमात्रवृत्ति 'कर्म' का 'मूर्तद्रव्य' को छोड़कर सर्वत्र 'अत्यन्ताभाव' ही रहता है। एवं च जो-जो पदार्थ, जिस-जिस सम्बन्ध से जिस-जिस अधिकरण में कभी भी नहीं रहता है, उस-उस पदार्थ का उस-उस सम्बन्ध से उस-उस अधिकरण में 'अत्यन्ताभाव' ही रहता है। भूतलादिपर घटादिक पदार्थ कदाचित् 'संयोगसम्बन्ध' से रहा करते हैं, इसलिये उस 'संयोगसम्बन्ध' से उन 'घटादि' पदार्थों का उन भूतलादिकों पर 'अत्यन्ताभाव' नहीं होता है। अपितु

'सामयिकाभाव' ही उनका कहा जाता है। वह 'अत्यन्ताऽभाव' उत्पत्ति-विनाश रहित होने से उसे 'नित्य' भी कहा जाता है, और अन्योन्याभाव से भिन्न होने के कारण वह 'संसर्गाभावरूप' भी है। अतः 'अत्यन्ताभाव' के लक्षण का समन्वय हो जाता है।

अब यदि 'अत्यन्ताभाव' का लक्षण 'संसर्गाऽभावः अत्यन्ताभावः' इतना ही किया जाय, उसके लक्षण में 'नित्यः' पद न कहें तो 'प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और सामयिका-भाव' इन तीनों अभावों में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'अत्यन्ताभाव' के समान ये तीनों अभाव भी संसर्गाभावरूप ही हैं। अतः उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'नित्यः' पद अवश्य देना चाहिये। तब 'प्रागभावादि' नित्य न होने से तीनों अभावों में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अब यदि 'नित्यः अत्यन्ताभावः' इतना ही लक्षण करें, और उस लक्षण में 'संसर्गाभावः' पद न रखें तो 'अन्योन्याभाव' में तथा 'परमाणु और आकाशादि नित्य पदार्थों' में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि 'अत्यन्ताऽभाव' के समान वे 'अन्योन्याभाव, परमाणु और आकाशादि पदार्थ' भी उत्पत्ति-विनाशरहित होने से नित्य ही हैं। अतः उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'संसर्गाभावः' पद का रखना आवश्यक है। तब 'अन्योन्याभाव, तथा परमाणु और आकाशादिकों में 'संसर्गाभावरूपता' न होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यह 'अत्यन्ताभाव' अपने 'प्रतियोगी' के 'प्रागभाव' के अधिकरण में तथा अपने प्रतियोगी के 'प्रध्वंसाभाव' के अधिकरण में कभी भी नहीं रहता है। क्योंकि उस 'प्रागभाव' के साथ तथा 'प्रध्वंसाभाव' के साथ 'अत्यन्ताभाव' का सर्वदा विरोध रहता है। परस्पर विरोधी पदार्थ एक अधिकरण में नहीं रहा करते। जैसे 'श्यामघट' में 'रक्तो नास्ति' यह प्रतीति 'रक्तरूप के अभाव' को ही विषय करती है। यह प्रतीति, उस श्यामघट में उस रक्तरूप के 'अत्यन्ताऽभाव' को कभी विषय नहीं करती, किन्तु आगे होने वाले 'अग्निसंयोग' से उस 'घट' में उत्पन्न होने वाला जो 'रक्तरूप' है, उस 'रक्तरूप' का उस 'श्यामघट' में 'प्रागभाव' रहता है। उस 'प्रागभाव' को ही 'रक्तो नास्ति' यह प्रतीति अपना विषय बनाती है। उसी तरह 'रक्तघट' में 'श्यामो नास्ति' यह प्रतीति 'श्यामरूप के अभाव' को विषय करती है। यह 'प्रतीति' भी 'रक्तघट' में 'श्यामरूप' के 'अत्यन्ताभाव' को विषय नहीं करती, किन्तु उस 'रक्तघट' में पूर्व स्थित जो 'श्यामरूप का प्रध्वंसाभाव' है, उसी को वह प्रतीति अपना विषय बनाती है। अतः 'रक्तो नास्ति' इस प्रतीति से उस 'श्यामघट' में 'रक्तरूप के अत्यन्ताभाव' की सिद्धि नहीं होती। 'श्यामो नास्ति' इस प्रतीति से 'रक्तघट' में श्यामरूप के अत्यन्ताभाव की सिद्धि नहीं होती है।

किन्तु नवीन नैयायिकों का कहना है कि 'अत्यन्ताभाव' का अपने 'प्रतियोगी' के 'प्रागभाव' के तथा 'प्रध्वंसाभाव' के साथ विरोध होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये 'अत्यन्ताभाव' अपने प्रतियोगी के 'प्रागभाव' के अधिकरण में भी रहता है, तथा

'प्रध्वंसाभाव' के अधिकरण में भी रहता है। अतः 'श्यामघटे रक्तो नास्ति' इस प्रतीति का विषय 'रक्तरूप का अत्यन्ताभाव' भी हो सकता है, तथा 'रक्तघटे श्यामो नास्ति' इस प्रतीति का विषय 'श्यामरूप का अत्यन्ताभाव' भी हो सकता है।

सामयिकाभावविचार—

अव चौथे 'सामयिकाभाव' का लक्षण—**'उत्पत्ति-विनाशवान् अभावः सामयिकाभावः'** किया जाता है। अर्थात् जो 'अभाव' उत्पत्ति-विनाशवान् होता है, उसे 'सामयिकाभाव' कहते हैं। जैसे किसी भूतल पर 'संयोग सम्बन्ध' से रहने वाला जो 'घट' है उसको वहाँ से उठाकर अन्यत्र कहीं दूसरी जगह ले जाते हैं तब उस भूतल में 'इह भूतले घटो नास्ति' यह प्रतीति होती। वह प्रतीति 'घटाभाव' को विषय करती है। और उस 'घट' को जब पुनः उस भूतल पर लाकर रख देते हैं, तब 'इह भूतले घटो नास्ति' यह प्रतीति नहीं होती है। इससे यह ध्यान में आता है कि उस भूतल (जगह) से 'घट' के हटा लेनेपर वहाँ (उस भूतल में) 'घट' का कोई 'अभाव' उत्पन्न होता है। जिस अभाव को वह प्रतीति 'विषय' कर रही है, और उस भूतल पर 'घट' के पुनः रख देने से उस 'घट' का अभाव नष्ट हो जाता है। उस कारण वह अभावप्रतीति नहीं होती। ऐसे उत्पत्ति-विनाशवान् 'अभाव' को 'सामयिकाभाव' ही कह सकते हैं। यदि इसप्रकार के 'अभाव' को 'अत्यन्ताभाव' नहीं कह सकते, क्योंकि 'अत्यन्ताभाव' तो 'नित्य' तथा 'निष्क्रिय' होता है। उसकारण 'भूतल' में 'घट' के आने पर भी 'अत्यन्ताभाव' का नाश या दूसरी जगह उसका चला जाना संभव नहीं है। तब 'घट' के विद्यमान काल में भी 'इह भूतले घटो नास्ति' यह प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु वैसी प्रतीति होती नहीं है। इसलिये 'अत्यन्ताभाव' से भिन्न 'सामयिकाभाव' को अवश्य मानना ही चाहिये।

अब अदि उसका लक्षण 'उत्पत्तिमान् अभावः सामयिकाभावः' इतना ही करें, उसमें 'विनाशवान्' पद न रखें तो प्रध्वंसाभाव' में उसकी अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि 'सामयिकाभाव' के समान ही 'प्रध्वंसाभाव' भी उत्पत्तिमान् है। अतः उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'विनाशवान्' पद का रखना आवश्यक है। तब 'प्रध्वंसाऽभाव' तो 'अविनाशी' है, वह विनाशवान् नहीं है। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि 'विनाशवान् अभावः सामयिकाभावः' इतना ही लक्षण रखें, उसमें 'उत्पत्तिमान्' पद को न रखें तो 'प्रागभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि सामयिकाभाव के समान 'प्रागभाव' भी 'विनाशवान्' ही है। अतः इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में 'उत्पत्तिमान्' पद का रखना आवश्यक है। तब 'प्रागभाव' के 'अनादि' रहने से उसे 'उत्पत्तिमान्' नहीं कह सकते। अतः 'प्रागभाव' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब यदि 'उत्पत्तिविनाशवान् सामयिकाभावः' इतना ही लक्षण करें, उसमें 'अभावः' पद न कहें तो 'घट' आदि में अतिव्याप्ति

होगी, क्योंकि सामयिकाभाव के समान ही 'घटादिक' भी 'उत्पत्ति-विनाशवान्' ही हैं। अतः उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अभावः' पद अवश्य कहना चाहिये। तब 'घटादिक', अभावरूप न होने से उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यह सामयिकाभाव केवल 'मूर्तद्रव्य' का ही होता है, अन्य किसी पदार्थ का नहीं।

किन्तु नवीन नैयायिक 'सामयिकाभाव' को अलग से नहीं मानते, क्योंकि उसके मानने में कोई प्रमाण नहीं है, और 'अत्यन्ताभाव' से अतिरिक्त उसे मानने में 'गौरव' दोष भी होता है। भूतल के किसी भाग में रहने वाले तथा कदाचित् न रहने वाले जो घटादिक मूर्तद्रव्य हैं, उनका भी भूतल पर कहीं जो अभाव होता है, वह 'अत्यन्ताभाव' ही है। वह अत्यन्ताभाव 'नित्य' और 'निष्क्रिय' होने से भूतल पर 'घट' के विद्यमान काल में भी रहता है। किन्तु उसकी प्रतीति लोगों को इसलिये नहीं हो पाती कि उस समय उसका वहाँ पर सम्बन्ध विद्यमान नहीं है। अर्थात् 'घट' के विद्यमानकाल में उस 'घट के अत्यन्ताभाव का 'भूतल' के साथ 'स्वरूपसम्बन्ध' नहीं रहता है। इसलिये विद्यमान होता हुआ भी वह अत्यन्ताभाव, लोगों को प्रतीत नहीं होता है। 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्याकारक ज्ञान कालीन जो भूतल है, वह 'भूतल' ही उस 'अभाव' का स्वरूपसम्बन्ध है। 'घट' के विद्यमान काल में 'घटाभाववत् भूतलम्' यह 'ज्ञान' (प्रतीति) नहीं होता है। इस कारण घट के विद्यमान काल में 'स्वरूप' से विद्यमान रहता हुआ भी 'भूतल' तज्ज्ञान-कालीनत्वविशिष्टरूप से नहीं है। इसलिये उस समय अत्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं हो पाती है। अतः 'सामयिकाभाव' को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ विद्वान् 'घट' के विद्यमानकाल में अत्यन्ताभाव की प्रतीति न हो पाने में दूसरा समाधान इस प्रकार देते हैं कि भूतल पर घट के विद्यमानकाल में उसके (घट के) अत्यन्ताभाव की प्रतीति न हो सकने में 'कारणसामग्री का अभाव' कारण है। जिस भूतल पर 'घट' के अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है, उस भूतल पर 'घट' के संयोग का 'प्रागभाव' अथवा प्रध्वंसाभाव' ही उस प्रतीति में कारण होता है। वह 'कारणसामग्री', भूतल पर 'घट' के विद्यमान काल में नहीं होती, क्योंकि भूतल के साथ घट के संयोगकाल में उसका (संयोग का) प्रागभाव नहीं है तथा प्रध्वंसाभाव भी नहीं है। और जिस काल में भूतल पर 'घट' नहीं आया था, उस काल में तो भूतलपर घट के संयोग का प्रागभाव रहा, और जिस काल में उस भूतल से घट को उठाकर अन्यत्र कहीं ले गये, उस काल में उस भूतलपर घट के संयोग का 'प्रध्वंसाऽभाव' रहा। उस कारण उन दोनों कालों में 'सामग्री' के विद्यमान रहने से 'भूतले घटो नास्ति' इत्याकारक 'घटात्यन्ताभाव' की प्रतीति होती है। इस रीति से 'अत्यन्ताभाव' के नित्य होने पर भी 'प्रतियोगी' के विद्यमान-काल में 'अत्यन्ताभाव' की प्रतीति नहीं होती है और प्रतियोगी के अविद्यमानकाल

में 'अत्यन्ताभाव' की प्रतीति होती है। इसलिये 'घट' के 'सामयिकाभाव' को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

अन्योन्याभाव—

अब पाँचवे 'अन्योऽन्याभाव' का लक्षण करते हैं—**'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः अन्योऽन्याभावः'**। अर्थात् जिस 'अभाव' की 'प्रतियोगिता', 'तादात्म्य-सम्बन्ध' से अवच्छिन्न होती है, उस अभाव को 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं। जैसे 'घटः पटो न' अर्थात् 'घट', पटरूप नहीं है, यानी 'घट' तो 'घट' ही है, उसे 'पट' नहीं कह सकते। इस प्रतीति से 'घट' में 'पट' का भेदरूप 'अन्योन्याभाव' प्रतीत होता है। इस 'घटनिष्ठ' अन्योन्याभाव (भेद) का प्रतियोगी वह 'पट' है। उस 'पट' में रहने वाली जो 'अन्योन्याभावीय-प्रतियोगिता' है, वह 'तादात्म्यसम्बन्ध' से अवच्छिन्न है। तथा 'पटत्व' धर्म से अवच्छिन्न है। 'अभेद' नाम का जो स्वरूपसम्बन्धविशेष है, उसी को 'तादात्म्य-सम्बन्ध' कहते हैं। वह अभेदरूप तादात्म्यसम्बन्ध, सब पदार्थों के अपने स्वरूप में ही रहता है। अपने स्वरूप से भिन्न पदार्थ में किसी भी वस्तु का तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे 'घट' का 'अभेदरूप तादात्म्यसम्बन्ध' अपने घटस्वरूप में ही रहता है। उस घट से भिन्न 'पट' आदि में नहीं रहता। उसी तरह 'पट' का 'अभेदरूप तादात्म्यसम्बन्ध' अपने पटस्वरूप में ही रहता है। उस 'पट' से भिन्न 'घट' आदि में नहीं रहता। इस प्रकार जितने भी द्रव्य-गुण-कर्म आदिक पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों का अभेदरूप तादात्म्यसम्बन्ध, अपने-अपने स्वरूप में ही रहता हैं। अन्य किसी में नहीं रहता। और जो 'पदार्थ', जिस सम्बन्ध से जिस अधिकरण में नहीं रहता, उस पदार्थ का उस अधिकरण में उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभाव ही रहता है। जैसे 'वायु' में 'रूप', 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहता। उस कारण 'वायु' में उस रूप का समवायसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अत्यन्ताभाव ही रहता है। उसी तरह द्रव्य-गुण-कर्म आदिक पदार्थ भी अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य किसी पदार्थ में अभेदरूप तादात्म्यसम्बन्ध से नहीं रहा करते। इसलिये उन द्रव्य-गुण-कर्म आदि पदार्थों का अपने से भिन्न सभी पदार्थों में 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अन्योन्याभाव' ही रहता है। इसीलिये 'घटः पटो न' इस प्रतीति के द्वारा 'घट' में 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-'पट' का जो 'अभाव' प्रतीत होता है, वह 'अन्योन्याभाव' के नाम से कहा जाता है। यह भेदरूप अन्योन्याभाव भी 'अत्यन्ताभाव' के समान ही उत्पत्ति-विनाश से रहित होने के कारण 'नित्य' माना जाता है। अतः 'भूतल' में संयोगसम्बन्ध से 'घट' के विद्यमान रहने पर भी 'भूतलं घटो न' इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह अन्योन्याभाव को ही विषय करती है। उसी तरह 'तन्तुओं' में समवायसम्बन्ध से 'पट' के विद्यमान रहने पर भी 'तन्तुः पटो न' इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह भी तन्तुओं में 'पट' के अन्योन्याभाव को ही

विषय करती है। उसी प्रकार 'पृथिवी' आदिक द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से 'गुण-कर्म सामान्य' के विद्यमान रहने पर भी 'द्रव्यं गुणो न', 'द्रव्यं कर्म न', 'द्रव्यं सामान्यं न' इत्यादि जो प्रतीति होती है, वह भी यथाक्रम 'द्रव्य' में 'गुण-कर्म-सामान्य' के अन्योन्याभाव को ही विषय करती है। अतः 'भेदरूप अन्योन्याभाव' के अस्तित्व में 'प्रत्यक्षप्रतीति' ही प्रमाण है।

ऊपर बताये गये **'अत्यन्ताभाव'** और **'अन्योन्याभाव'** के **'विशेषाभाव'** तथा **'सामान्याभाव'** के नाम से दो-दो भेद होते हैं।

विशेष अत्यन्ताभाव—जैसे, भूतल पर 'पीतघट' के विद्यमान रहने पर भी 'नीलघटो नास्ति' इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह 'पीतघट वाले भूतल' पर 'नीलघट' के 'विशेष अत्यन्ताभाव' को विषय करती है। अतः पीतघट वाले भूतल पर 'नीलघटो नास्ति' इत्याकारक 'अभाव' को 'विशेष अत्यन्ताभाव' कहा जाता है।

सामान्य अत्यन्ताभाव—जैसे, भूतल पर किसी प्रकार का कोई भी घट, जब नहीं रहता है, तब उस घटशून्य-भूतल में 'भूतले घटो नास्ति', अथवा 'भूतलं न घटवत्' इस प्रकार की प्रतीति होती है, वह भूतल में 'घट' के 'अत्यन्ताभाव' को विषय करती है। इस 'अत्यन्ताभाव' को 'सामान्य अत्यन्ताभाव' कहते हैं।

विशेष अन्योन्याभाव—जैसे, 'पीतघटो न नीलघटः' अर्थात् पीतघट, 'नीलघटरूप' नहीं है—इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह 'पीतघट' में 'नीलघट' के 'अन्योन्याभाव' को विषय करती है। इस अन्योन्याभाव को 'विशेष अन्योन्याभाव' कहते हैं।

सामान्य अन्योन्याभाव—जैसे, 'भूतले घटो न' इत्याकारक प्रतीति से भूतल में 'घट' के 'अन्योन्याभाव' (भेद) का ज्ञान होता है। इस 'अन्योन्याभाव' को 'सामान्य अन्योन्याभाव' कहते हैं।

विशेषाभाव से सामान्याभाव की भिन्नता—

विशेषाभाव से सामान्याभाव भिन्न है। अन्यथा 'पीतघटवत् भूतलम्' अर्थात् पीतघट वाले भूतल में जैसे 'नीलघटो नास्ति'—नीलघट नहीं है—यह प्रतीति होती है, वैसे ही 'घटो नास्ति'—घट नहीं है—यह प्रतीति भी होनी चाहिये। तथा जैसे पीतघट में—पीतघटो न नीलघटः'—यह प्रतीति होती है, वैसे ही 'पीतघटो न घटः'—यह प्रतीति भी होनी चाहिये। किन्तु ऐसी प्रतीति किसी को नहीं हुआ करती। अतः विशेषाभाव से सामान्याभाव को पृथक् ही समझना चाहिये।

पूर्वोक्त 'अत्यन्ताभाव' तथा 'अन्योन्याभाव' इन दोनों अभावों के पुनः दो भेद और होते हैं—(१) **'व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभाव'** और (२) **'अव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभाव'**।

अनेक में रहने वाले (वृत्ति) 'धर्म को **'व्यासज्यवृत्तिधर्म'** कहते हैं। जैसे, द्वित्व,

त्रित्व आदि धर्म, 'व्यासज्यवृत्ति धर्म' कहलाते हैं। तथा एक में रहने वाले (वृत्ति) 'धर्म को **'अव्यासज्यवृत्ति धर्म'** कहते हैं। जैसे 'घटत्व, पटत्व' आदि धर्म 'अव्यासज्य-वृत्तिधर्म' 'घट' के विद्यमान रहने पर भी 'इह भूतले घट-पटौ न स्तः' अर्थात् इस भूतल पर 'घट-पट' दो नहीं हैं—इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति से उस भूतल पर 'घट-पट' दोनों का 'अत्यन्ताभाव' सिद्ध होता है। उस 'अत्यन्ताभाव' की 'प्रति-योगिता' केवल 'घट' में भी नहीं है, तथा केवल 'पट' में भी नहीं है। किन्तु 'घट-पट' दोनों में वह 'प्रतियोगिता' रहती है। उसी तरह 'द्वित्व' धर्म भी केवल 'घट' में भी नहीं है और केवल 'पट' में भी वह नहीं है, किन्तु वह 'घट-पट' दोनों में ही 'स्वरूप सम्बन्ध' से रहता है। उस कारण उन 'घट-पट दोनों में रहनेवाली 'प्रतियोगिता', व्यासज्यवृत्ति 'द्वित्व' धर्म से ही अवच्छिन्न होती है.। इसलिये 'घट वाले भूतल' में 'घट-पटौ न स्तः'—इस प्रतीति से सिद्ध जो 'घट-पट' दोनों का अत्यन्ताभाव है, उसे 'व्यासज्यवृत्ति-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अत्यन्ताभाव' कहा जाता है। इसी प्रकार 'घट' में 'घटो न घट-पटौ' अर्थात् यह 'घट,' 'घट-पट उभयरूप' नहीं है—यह प्रतीति हुआ करती है। इस प्रतीति से 'घट' में 'घट-पट' दोनों का 'अन्योन्याभाव' सिद्ध होता है। उस 'अन्योन्याभाव' को 'व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अन्योन्याभाव' कहते हैं। इसी 'व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-**अत्यन्ताभाव** तथा **अन्योन्याभाव**' को **'उभयाभाव'** भी कहते हैं।

उसी प्रकार 'भूतल' में केवल 'एक घट' का जो अत्यन्ताभाव है तथा उसी 'घट' में केवल 'एक पट' का जो अन्योन्याभाव है, वह (अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव), 'घटत्व', 'पटत्व' रूप 'अव्यासज्यवृत्तिधर्म' से 'अवच्छिन्न-प्रतियोगिताक' कहा जाता है।

'अव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभाव' से वह 'व्यासज्यवृत्तिधर्मा-वच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभाव'—भिन्न माना जाता है। अन्यथा जैसे घट वाले भूतल में 'घटो नास्ति' प्रतीति नहीं होती है, वैसे ही घट वाले भूतल में 'घट-पटौ न स्तः' यह प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। तथा जैसे 'घट' में 'घटो न घटः' यह प्रतीति नहीं होती है, वैसे ही 'घटो न घट-पटौ'—यह प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। किन्तु होती तो है, अतः केवल 'घटाभाव' तथा केवल 'पटाभाव' से 'घट-पट' दोनों का 'अभाव' भिन्न ही समझना चाहिये।

इसी प्रकार केवल 'विशेषण' के अभाव से तथा केवल 'विशेष्य' के अभाव से 'विशिष्ट का अभाव' पृथक् ही होता है। जैसे 'दण्ड' रूप 'विशेषण' के अभाव से तथा 'पुरुष' रूप 'विशेष्य' के अभाव से 'दण्ड-विशिष्ट पुरुष' का अभाव, पृथक् ही होता है।

जहाँ पर 'दण्डरूप विशेषण' तो विद्यमान है, किन्तु 'पुरुषरूप विशेष्य' नहीं है, वहाँ पर भी 'दण्डी पुरुषो नास्ति' इस प्रकार की विशिष्टाभावविषयक-प्रतीति होती है। और जहाँ पर 'पुरुषरूप विशेष्य' तो विद्यमान है, परन्तु 'दण्डरूप विशेषण'

नहीं है, वहाँ पर भी 'दण्डी पुरुषो नास्ति' ऐसी विशिष्टाभाव-विषयक-प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में 'विशिष्टाभाव' को यदि 'विशेषणाभावरूप' मानते हैं तो 'दण्ड-रूप विशेषण' के विद्यमान काल में जैसे 'दण्डो नास्ति' यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही 'दण्डी पुरुषो नास्ति'—यह प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। और 'विशिष्टाभाव' को यदि 'विशेष्याभावरूप' मानते हैं तो जैसे 'पुरुषरूप विशेष्य' के विद्यमान काल में 'पुरुषो नास्ति' यह प्रतीति नहीं होती है, वैसे ही 'दण्डी पुरुषो नास्ति'--यह प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। और उस 'विशेषण-विशेष्य' के विद्यमान काल में 'दण्डी पुरुषो नास्ति'—यह विशिष्टाभाव-विषयक-प्रतीति सभी को होती है। इसलिये केवल 'दण्डरूप विशेषण के अभाव' से तथा केवल 'पुरुषरूप विशेष्य के अभाव' से 'दण्ड विशिष्ट पुरुष का अभाव' पृथक् ही मानना चाहिये। अतः 'घटादि' प्रतियोगी के एक होने पर भी 'नीलत्व, घटत्व, उभयत्व' आदि **'प्रतियोगितावच्छेदक धर्मों'** के भिन्न-भिन्न होने से 'अत्यन्ताभाव' तथा 'अन्योयाभाव' भी अनेक होते हैं।

उसी प्रकार 'प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध' के भिन्न-भिन्न होने से भी 'अभाव' की भिन्नता होती है। जैसे 'संयोग-सम्बन्ध' से 'घट वाले भूतल' में 'समवायेन घटो नास्ति' अर्थात् इस भूतल में 'समवाय-सम्बन्ध' से 'घट' नहीं है—यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति से उस भूतल में 'उस घट' का 'समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-अत्यन्ताभाव' सिद्ध होता है। और 'समवाय-सम्बन्ध' से 'घट वाले कपालों' में 'संयोगेन घटो नास्ति' अर्थात् इन कपालों में 'संयोग-सम्बन्ध' से 'घट' नहीं है—यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति से उन कपालों में उस 'घट' का संयोग-सम्बन्धा-वच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अत्यन्ताभाव' सिद्ध होता है। वे दोनों 'अत्यन्ताभाव' परस्पर भिन्न हैं। यद्यपि 'घटरूप प्रतियोगी' के तथा 'घटत्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक धर्म' के एक रहने पर भी उस 'संयोग-समवायरूप प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध' के भेद से ही उस 'घटात्यन्ताभाव' का भेद माना जाता है। उसी प्रकार 'द्रव्यवृत्ति गुण-कर्म' आदि पदार्थों में तो 'समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अत्यन्ताभाव' रहता है और उसी 'गुण-कर्म' का उस 'द्रव्य' में संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अत्यन्ता-भाव' रहता है। इस रीति से 'प्रतियोगितावच्छेदक धर्म' के भेद से तथा 'प्रति-योगितावच्छेदक सम्बन्ध' के भेद से 'एक ही वस्तु' के अभाव का भेद हुआ करता है। अन्तर इतना ही है कि 'अत्यन्ताभाव' की भिन्नता में तो 'प्रतियोगितावच्छेदक धर्म' का भेद तथा 'प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध' का भेद, दोनों कारण होते हैं। और 'अन्योन्याभाव' की भिन्नता में केवल 'प्रतियोगितावच्छेदक धर्म' का भेद ही कारण होता है।

किन्तु 'अभाव' को 'अधिकरणस्वरूप' माननेवाले **प्रभाकर**-मीमांसक का कहना है कि 'भूतल' में 'घटो नास्ति'—यह जो 'घटाभाव-विषयक-प्रतीति' होती है, वह

'भूतलस्वरूप' (अधिकरणस्वरूप) ही है। अर्थात् 'घट का अभाव' उस 'भूतलरूप-अधिकरण' से भिन्न नहीं है। एवं च जो-जो अभाव, जिस-जिस अधिकरण में प्रतीत होता है, वह-वह अभाव, तत्तदधिकरणस्वरूप ही होता है। तत्तदधिकरण से वह 'अभाव' भिन्न नहीं है। क्योंकि उस 'अभाव' को 'भूतलादि अधिकरण' से भिन्न मानने पर 'गौरव दोष' होगा। और दूसरी बात यह है कि उस 'अभाव' का प्रत्यक्ष करने के लिये 'चक्षुरादि' इन्द्रिय का उस 'अभाव' के साथ 'विशेषणता' नाम के सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। और तीसरी बात यह है कि 'प्रथम अभाव' के लिये अन्य किसी दूसरे 'अभाव' की कल्पना करनी होगी, तथा दूसरे अभाव के लिये तीसरे अभाव की तथा तीसरे अभाव के लिये चौथे अभाव की, चौथे के लिये पाँचवे अभाव की कल्पना करते-करते अभाव की धारा का कहीं विश्राम ही न हो पाने से 'अनवस्था' दोष होगा। इसलिए 'अभाव' को 'अधिकरणस्वरूप' मान लेना ही उचित है। तब ये तीनों दोष नहीं हो पायेंगे।

इस पर **नैयायिक** कहता है कि प्रभाकर मीमांसक का उक्त मन्तव्य उचित प्रतीति नहीं हो रहा है। क्योंकि 'अभाव' को यदि 'अधिकरणस्वरूप' मानते हैं तो 'भूतले घटाभावः' इत्याकारक 'आधाराधेयभाव' को विषय करने वाली प्रतीति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि 'वस्तु' के अभिन्न रहने पर 'आधाराधेयभावविषयक प्रतीति' नहीं हुआ करती। यदि 'अभेद' रहने पर भी 'आधाराधेयभाव' की प्रतीति को माना जाय तो जैसे 'घटाभाव' का 'भूतल' से अभेद है, वैसे ही 'भूतल' का भी उस भूतल से अभेद है। तब 'भूतले घटाभावः' इस प्रतीति के समान 'भूतले भूतलम्' यह प्रतीति भी होनी चाहिये, किन्तु ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती है। इसलिये 'आधाराधेयभाव-विषयक-प्रतीति' के बल पर 'अभाव' को 'अधिकरण' से भिन्न ही मानना चाहिये। 'अभाव' को 'अधिकरण' स्वरूप न मानने में एक और भी कारण है कि 'जल' में स्थित जो 'गन्धगुण' का अभाव है, वह 'जलरूप' ही होगा। और 'जलरूप द्रव्य' के ग्रहण करने में 'घ्राणेन्द्रिय' तो समर्थ है नहीं, अपितु 'चक्षु-त्वक्' इन्द्रिय ही समर्थ है। तब 'जल' में स्थित 'गन्धाभाव' का 'घ्राणेन्द्रिय' से प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, अपितु 'चक्षु-त्वक्' इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है इसलिये 'अभाव' को 'अधिकरण' स्वरूप न मानकर उससे भिन्न ही मानना चाहिये। 'अभाव' को 'अधिकरण' से भिन्न मानने में तीसरा कारण यह भी है कि 'अभाव' को यदि 'अधिकरणस्वरूप' मानते हैं तो 'घट' के 'प्रागभाव' को तथा 'प्रध्वंसाभाव' को 'कपालरूप' ही मानना होगा। वे 'कपाल', 'घट' के विद्यमानकाल में भी रहते हैं। तब 'घट काल' में भी उन 'कपालों' में 'इह घटो भविष्यति', 'इह घटो ध्वस्तः'— ऐसी 'घट-प्रागभाव-विषयक' तथा 'घट-ध्वंस-विषयक' प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु वैसी प्रतीति होती नहीं है। इसलिये 'अभाव' को 'अधिकरण' से भिन्न ही मानना

चाहिये। 'अभाव' को 'अधिकरण' से भिन्न मानने पर प्रभाकर-मीमांसक ने जो 'अनवस्था' दोष दिया था, वह भी ठीक नहीं है।

प्राचीन नैयायिक उसका समाधान इस प्रकार करते हैं—उनका कहना है कि 'अभाव' का जो 'अभाव' है वह 'भावरूप', ही होता है, 'भाव' से पृथक् नहीं है अर्थात् वह 'द्वितीय अभाव', उस 'प्रथम अभाव' के 'प्रतियोगीरूप' होता है। जैसे 'घटशून्य-भूतल' में रहने वाला जो 'घटात्यन्ताभाव' है, उस 'अत्यन्ताभाव' का 'अत्यन्ताभाव' उस 'घट वाले भूतल' में ही रहेगा। इसलिये उस 'घटरूपप्रतियोगी' के समनियत होने से वह 'द्वितीय अभाव', 'घटस्वरूप' ही होता है, और उस 'घट वाले भूतल' में जो 'घटात्यन्ताभावो नास्ति'—यह प्रतीति होती है, वह भी 'उस घट' को ही विषय करती है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि 'प्रथम अभाव' का जो 'अभाव' अर्थात् 'द्वितीय अभाव' है, वह तो 'प्रथम अभाव' के 'प्रतियोगीस्वरूप' होता है। और 'द्वितीय अभाव' का जो 'अभाव' अर्थात् 'तृतीय अभाव' है, वह 'प्रथम अभाव' के समनियत होने से 'प्रथम अभावरूप' होता है। और 'चतुर्थ अभाव' 'उसका प्रतियोगीरूप' होता है। इस रीति से उत्तरोत्तर सभी अभावों का 'प्रथम अभाव' में तथा उसके 'प्रति-योगी' में ही यथायोग्य अन्तर्भाव हुआ करता है। इसलिये अनवस्थादोष नहीं होगा।

किन्तु **नवीन नैयायिक** उक्त 'अनावस्था' दोष का निवारण दूसरी प्रकार से करते हैं। 'घटवाले भूतल' में 'घटात्यन्ताऽभावो नास्ति' इस 'निषेधमुखप्रतीति' की विषयता 'घटरूप' भाव पदार्थ में नहीं है। इसलिये वह 'द्वितीय अभाव' उस प्रथम अभाव के 'घटरूप प्रतियोगी' के समनियत होता हुआ भी 'घटस्वरूप' नहीं माना जाता। किन्तु उस 'घट' से पृथक् ही होता है। और उस 'द्वितीय अभाव' का जो 'तृतीय अभाव' है, वह 'प्रथम अभाव' के समनियत होने से 'प्रथम अभावरूप' ही होता है। और उस 'तृतीय अभाव' का जो 'चतुर्थ अभाव' है, वह, उस 'द्वितीय अभाव' के समनियत होने से 'द्वितीय अभावरूप' ही होता है। इसी प्रकार पाँचवाँ, छठा, साँतवाँ, आँठवाँ, नवाँ आदि जितने भी उत्तरोत्तर अभाव हैं, वे सब अभाव, यथायोग्य उस 'प्रथम अभाव' में तथा 'द्वितीय अभाव' में ही अन्तर्भूत होते हैं। अतः अनवस्था दोष का प्रसंग नहीं हो सकेगा। 'तुल्य अधिकरण' में जो वृत्तित्व (रहना) उसको 'समनियतत्व' कहते हैं।

महामीमांसक **भट्टपाद** का 'अभाव' के बारे में यह मत है कि 'अभाव' कभी भी अधिकरणरूप नहीं होता है। वह तो 'अधिकरण' से पृथक् (भिन्न) ही है। किन्तु उसका (अभाव का) चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। उसका 'ज्ञान' तो 'अनुपलब्धि' नामक छठे प्रमाण से होता है।

अभाव के सम्बन्ध में **वेदान्तियों** का कहना है, कि 'अभाव' अधिकरणस्वरूप नहीं हुआ करता। वह 'अधिकरण' से पृथक् ही रहता है। किन्तु जो 'वस्तु' जिस

'अधिष्ठान' में कल्पित होती है, उस 'कल्पित वस्तु' का 'अभाव', अपने 'अधिष्ठान' से भिन्न नहीं होता है, अपितु वह 'अधिष्ठानरूप' ही होता है। जैसे, 'रज्जु' में कल्पित सर्प का 'अभाव', 'रज्जुस्वरूप' ही होता है। तथा 'शुक्ति' में 'कल्पित रजत' का 'अभाव', 'शुक्तिरूप' ही होता है। और भूतलादिकों पर स्थित 'घटाभाव' का 'चक्षुरादि' इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है, अपितु 'अनुपलब्धि' प्रमाण से ही उस 'अभाव' का ज्ञान होता है।

इस प्रकार वैशेषिकसम्मत द्रव्यादि सात पदार्थरूप 'अर्थों' का व्याख्यान समाप्त किया जा रहा है।

विज्ञानवादनिरासः

ननु ज्ञानाद् ब्रह्मणो वा अर्था व्यतिरिक्ता न सन्ति ।
मैवम् । अर्थानामपि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेनाशक्यापलापत्वात् ।

इति अर्थनिरूपणं समाप्तम्

बौद्धों के विज्ञानवाद का निराकरण—

प्रश्न—नन्विति । विज्ञानवादी बौद्ध तथा ब्रह्मवादी वेदान्ती, नैयायिक से प्रश्न करते हैं कि पूर्वोक्त 'द्रव्यादिपदार्थों' (द्रव्यादि अर्थ) की सत्ता (अस्तित्व), 'ज्ञान' (विज्ञान) अथवा 'ब्रह्म' से अतिरिक्त (अलग) तो है नहीं। ऐसी स्थिति में आप (नैयायिक) उनका वर्णन (व्याख्यान) कैसे कर रहे है ?

उत्तर—मैवमिति । नैयायिक उत्तर दे रहा है कि आप लोगों का इस प्रकार सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि 'द्रव्यादि अर्थ' का अस्तित्व भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण उनका निषेध (अपलाप) करना शक्य नहीं है।

माधुरी

अभी तक 'प्रमेयों' में से 'आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और अर्थ' का निरूपण किया जा चुका है। 'अर्थ' रूप प्रमेय का निरूपण सुनकर विज्ञानवादी बौद्ध और ब्रह्मवादी वेदान्ती की ओर से एक प्रश्न पूछा जा रहा है कि 'अर्थ' (पदार्थ) निरूपण करना तब संगत हो सकता है कि जब 'अर्थ' की बाह्य सत्ता हो। हमारे बौद्धों के चार सम्प्रदाय हैं—(१) माध्यमिक, (२) योगाचार, (३) सौत्रान्तिक और (४) वैभाषिक। इस संसार में जो कुछ भी 'भावरूप' से 'ज्ञेय' है, वह सभी 'क्षणिक' है। क्योंकि हम चारों सम्प्रदायों का 'सर्वं क्षणिकम्' यह सिद्धान्त है। तथापि इन चारों सम्प्रदायों में से 'सौत्रान्तिक' और 'वैभाषिक', ये दोनों सम्प्रदाय 'घट-पट' आदि बाह्य 'अर्थों' (पदार्थों) का 'अस्तित्व' मानते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि 'सौत्रान्तिक' सम्प्रदाय 'बाह्य अर्थ' को 'प्रत्यक्षसिद्ध' मानता है, और 'वैभाषिक'

सम्प्रदाय 'साकारज्ञानवाद' को मानता है, अर्थात् 'ज्ञान' (विज्ञान) में 'घट-पटादि अर्थों' का आकार मानकर, उससे 'अर्थ' का 'अनुमान' करता है। अभिप्राय यह है कि **सौत्रान्तिक** 'अर्थ' का प्रत्यक्ष होना बताता है और **वैभाषिक** 'अर्थ' को अनुमेय कहता है। जबकि **'माध्यमिक'** और **'योगाचार'** ये दोनों सम्प्रदाय **बाह्य अर्थों** (पदार्थों) का अस्तित्व ही नहीं मानते। इन दोनों में से **'माध्यमिक'** सम्प्रदाय **'शून्यवादी'** है, और **'योगाचार'** सम्प्रदाय **'विज्ञानवादी'** है। विज्ञानवादी योगाचार के मत में एकमात्र 'ज्ञान' का ही 'अस्तित्व' माना जाता है, 'घट-पटादि' बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता (अस्तित्व) नहीं है। उनकी जो प्रतीति होती है, वह स्वप्न की प्रतीति के समान कल्पित एवं भ्रमरूप है, यानी मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि योगाचार के मत में एकमात्र ज्ञान ही प्रामाणिक वस्तु है, और बाह्य अर्थ (पदार्थ), उस ज्ञान का ही 'आकार' है। उस ज्ञान से भिन्न (अलग) 'अर्थ' का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः योगाचार बौद्ध सम्प्रदाय के सिद्धान्त को 'साकार विज्ञानवाद' के नाम से कहा जाता है। इसी को 'विज्ञानवाद' कहते हैं।

'माध्यमिक' नाम के बौद्ध सम्प्रदाय में 'ज्ञान' का भी 'अस्तित्व' (सत्ता) नहीं माना जाता। इस मत में 'ज्ञान' और 'अर्थ' दोनों को कल्पित माना गया है। इसकी दृष्टि में 'सर्वं शून्यम्'—सब कुछ शून्य है—अर्थात् 'ज्ञान' और उससे भिन्न जो भी कुछ हो वह सब 'शून्य' तत्त्व में ही कल्पित है। जैसे गाढ़ निद्रा से जगने पर मनुष्य को यह प्रतीति होती है कि 'मुझे ऐसी गाढ़ नींद लगी, जिसमें मुझे अपना भी ज्ञान नहीं था, यानी मैं था ही नहीं'—इस प्रतीति (अनुभव) से 'शून्य' ही 'आत्मा' है, यह स्पष्ट होता है। केवल 'आत्मा' ही 'शून्यरूप' नहीं है, अपितु आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण जगत् भी शून्यरूप ही है, क्योंकि यह 'जगत्' अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी 'असत्' ही था, और 'नाश' के बाद भी 'असत्' ही है। जो 'पदार्थ', आदि और अन्त में 'असत्' होता है, वह पदार्थ, 'मध्य' में भी 'सत्' नहीं है। अर्थात् 'असत्' ही होता है। जैसे 'रज्जुसर्प' अथवा 'शुक्तिरजत' आदि और अन्त में 'असत्' है, इसलिये वह 'मध्य' में भी असत् ही होता है। उसी तरह यह 'जगत्' भी आदि और अन्त में असत् होने से 'मध्य' में भी वह 'असत्' ही रहेगा। तथा श्रुति भी बता रही है कि 'असदेवेदमग्र आसीत्'—यह 'जगत्' अपनी उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' यानी 'शून्यरूप' था। छान्दोग्य श्रुति भी इस दृश्यमान जगत् को उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' ही कहती है। उस शून्य से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है। अतः आत्मा तथा अनात्मा (जगत्) सब कुछ 'शून्य' ही है। वह 'शून्य' ही 'परमतत्त्व' है। यह 'शून्य' तत्त्व, 'सत्, असत्, सदसत्, नो सदसत्' इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त है। **संवृति** (ज्ञानवासना और अर्थवासना), प्रवाहरूप से 'अनादि' है। उसी से 'ज्ञान' और 'अर्थ' का आभास होता रहता है। 'संवृति' के दो भेद हैं—(१) तथ्यसंवृति और (२) मिथ्या-

संवृत्ति । संसार में प्रामाणिक कहे जाने वाले दृश्यमान 'घट-पटादि' सभी अर्थों का ज्ञान 'तथ्यसंवृति' से होता रहता है, और अप्रामाणिक कहे जाने वाले दृश्यमान 'रज्जुसर्प', 'शुक्तिरजत' आदि का ज्ञान 'मिथ्यासंवृति' से होता है । तथ्यसंवृति से हुआ 'अर्थज्ञान', चिरस्थायी (स्थिर) एवं व्यवहारोपयोगी होता है, और 'मिथ्यासंवृति' से होने वाला 'अर्थज्ञान' क्षणिक एवं व्यवहार के अनुपयुक्त होता है ।

एवंच सौत्रान्तिक और वैभाषिक—ये दो बौद्धसम्प्रदाय बाह्यार्थवादी हैं, यानी 'अर्थ' की बाह्यसत्ता मानने वाले हैं । दोनों में भेद इतना ही है कि **'सौत्रान्तिक'** के मत में 'अर्थ' **प्रत्यक्षवेद्य** है, और **'वैभाषिक'** के मत में 'अर्थ' **अनुमेय** है ।

तथा योगाचार बौद्धसम्प्रदाय के मत में 'एकमात्र ज्ञान' ही प्रामाणिक वस्तु है । और 'अर्थ' उस ज्ञान का ही आकार मात्र है । ज्ञान से पृथक् 'अर्थ' की कोई सत्ता नहीं है । अतएव योगाचार के सिद्धान्त को 'विज्ञानवाद' अथवा 'साकार ज्ञानवाद' कहते हैं ।

माध्यमिक बौद्धसम्प्रदाय के मत में 'ज्ञान' की सत्ता का स्वीकार भी नहीं किया जाता है । इस मत में 'ज्ञान और अर्थ' दोनों को कल्पित माना जाता है । सम्प्रदाय का सिद्धान्त 'सर्वं शून्यम्' का है । एकमात्र 'शून्य' ही इस सम्प्रदाय का 'परमतत्त्व' है इस शून्यात्मक तत्त्व में ही सब कुछ कल्पित किया जाता है । अतः इस माध्यमिक बौद्ध-सम्प्रदाय का सिद्धान्त 'शून्यवाद' नाम से प्रसिद्ध है और इन माध्यमिक बौद्धों को 'शून्यवादी' के नाम से कहा जाता है ।

अन्य बौद्धसम्प्रदायों की अपेक्षा 'योगाचार बौद्ध' का विज्ञानवाद', कुछ मनोवैज्ञानिक तथा तर्कसंगत होने से विशेष प्रचलित है । इसलिये तर्कभाषाकार ने भी उसी का उल्लेख करके उसका निराकरण किया है ।

वेदान्तदर्शन में शाङ्करवेदान्त का 'ब्रह्मवाद-सम्प्रदाय' योगाचार बौद्ध के 'विज्ञान-वाद' 'सम्प्रदाय' से आपाततः मिलता-जुलता-सा प्रतीत होता है । क्योंकि 'ब्रह्म' और 'विज्ञान' दोनों ही 'ज्ञान' हैं । 'शाङ्करमत' में 'ब्रह्म' ही सत्य वस्तु है और 'जगत्' स्वप्न में कल्पित वस्तु के समान मिथ्या है । इस मत में 'जगत्' को 'ब्रह्म' का 'विवर्त' कहा गया है । 'विवर्त' का अर्थ होता है—'अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति' । जैसे 'रज्जु' में 'सर्प' की प्रतीति । अर्थात् 'जगत्' एक कल्पनामात्र है । शाङ्कर मत और योगाचार बौद्ध के मत में भेद यह है कि 'योगाचार बौद्ध' का 'विज्ञान' 'क्षणिक' और 'साकार' है, तो शाङ्करवेदान्त का 'ब्रह्म' 'नित्य' और 'निराकार' है । 'अर्थ' की वाह्य सत्ता (अस्तित्व) दोनों के ही मतों में मान्य नहीं है । अतएव तर्कभाषाकार ने दोनों मतों का एक साथ ही उल्लेख करके दोनों मतों का एक ही युक्ति से निराकरण कर दिया है ।

ग्रन्थकार का आशय यह है कि जैसे प्रमाण सिद्ध होने के कारण 'ज्ञान' के 'अस्तित्व' का अपलाय नहीं किया जा सकता, वैसे ही प्रमाण सिद्ध होने से 'अर्थ' की 'बाह्यसत्ता' का भी अपलाप नहीं किया जा सकता है ।

प्रश्न—'अर्थ' की बाह्यसत्ता में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—'भूतले घट: अस्ति' यह प्रत्यक्ष ही भूतल में 'घट' की सत्ता को बता रहा है। अत: 'भूतल' घट आदि निश्चित ही बाह्य अर्थ हैं।

शंका—भूतल, घट आदि भी बाह्य अर्थ नहीं हैं, वे भी 'ज्ञान' के ही आकार हैं, अत: वे 'आन्तर' ही हैं। जो भी ज्ञानगम्य पदार्थ हैं, वे सभी 'ज्ञान' के आकार होने से 'आन्तर' ही हैं। इसलिये किसी भी 'अर्थ' की सत्ता 'बाह्य' नहीं है।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'ज्ञान' और उससे गम्य होने वाले (ज्ञान के विषय होने वाले) घट-पटादि अर्थ दोनों ही यदि समानरूप से 'आन्तर' होंगे तो उनमें (ज्ञान और विषय घट आदि में) यह भिन्न-भिन्न व्यवहार कैसे होगा ? जैसे--'घट' का तो 'अयं घट:' के रूप में अङ्गुलि से निर्देश किया जाना और 'ज्ञान' का अङ्गुलि से निर्देश न होना--इस भिन्न-भिन्न व्यवहार से ही 'अर्थ' की बाह्यसत्ता का निश्चय हो जाता है।

'अर्थ' की बाह्यसत्ता के होने में दूसरी युक्ति यह भी है कि 'ज्ञान' और 'विषय' दोनों समानरूप से यदि 'आन्तर' ही हैं, अर्थात् विषय की 'बाह्यसत्ता' नहीं है, तो विषय की खोज (अन्वेषण) शरीर के बाहर क्यों करते हैं ? 'ज्ञान' की तरह उसे भी शरीर के भीतर ही क्यों नहीं पा लेते ? दूध, जल, लड्डू आदि अर्थ (पदार्थ-वस्तु) यदि ज्ञानाकार ही हैं तो भूखप्यास लगने पर अपने शरीर के भीतर ही उन अर्थों की उपलब्धि सुलभता से हो जानी चाहिये। उनकी प्राप्ति के लिये हलवाई की दूकान तक, नल, कूआँ, तालाब तक जाने की क्या जरूरत है ? इसी से स्पष्ट है कि 'ज्ञान' और 'विषय' दोनों आन्तर नहीं हैं, किन्तु 'ज्ञान' तो आन्तर है और उसका विषय घट-पट आदि अर्थ बाह्य हैं—यह मानना ही होगा।

हम पहिले कह चुके हैं कि शाङ्कर मत में 'ब्रह्म' ही एकमात्र सत्य वस्तु है और 'जगत्' उस ब्रह्म का 'विवर्त' है। जो कार्य अपने कारण को यत्किञ्चित् भी विचलित न करता हुआ उसमें प्रकट होता है—उसे 'विवर्त' कहते हैं। जैसे-मन्द अन्धेरे में किसी जगह पड़ी हुई टेढ़ी-मेढ़ी रज्जु का वास्तविक स्वरूप जब पहिचानने में नहीं आता है, उस समय उस रज्जु के वास्तविक रूप को किञ्चिन्मात्र भी विचलित न करते हुए उसकी पहिचान न हो पाने की अवधि तक उसमें (रज्जु में) एक 'सर्प' उत्पन्न हुआ दिखाई देने अगता है। अत: वह सर्प, उस रज्जु का 'विवर्त' कहलाता है। उसी प्रकार 'ब्रह्म' की पहिचान न होने की अवस्था में उस ब्रह्म के स्वरूप को किञ्चिन्मात्र भी विचलित न करते हुए उसकी पहिचान न होने की अवधि तक उसमें जगत् की उत्पत्ति होना और उसका दिखलाई पड़ना होता रहता है। अत: यह 'जगत्', 'ब्रह्म' का विवर्त कहलाता है। इस विवर्तवाद में भी 'अर्थ' की बाह्यसत्ता वस्तुत: नहीं है।

'विवर्तवाद' और 'परिणामवाद'—

सृष्टि के विषय में दो प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं—(१) सांख्य का मत, जिसे 'परिणामवाद' कहते हैं, और (२) शाङ्करवेदान्त का मत, जिसे 'विवर्तवाद' कहते हैं। जैसे 'दूध' से 'दही' का होना। यहाँ 'दही' को 'दूध' का 'परिणाम' कहा जाता है। पहले 'दूध' की दूध के रूप में प्रतीति होती थी, कालान्तर में दूध की 'दही' के रूप में प्रतीति होती है। यहाँ केवल प्रतीति में ही भिन्नता नहीं हुई है, किन्तु 'दूध' के स्वरूप में भी 'परिवर्तन' हो गया है। इस 'प्रतीति' को 'तात्त्विक अन्यथा-प्रतीति' कहते हैं। इसी को 'विकार' अथवा 'परिणाम' भी कहते हैं।

और 'रज्जु' में जो 'सर्प' की प्रतीति अथवा 'शुक्ति' में जो 'रजत' की प्रतीति होती है, वह 'अतात्त्विक अन्यथाप्रतीति' है। इस प्रतीति में 'रज्जु' या 'शुक्ति' अपने स्वरूप को बदल कर 'सर्प' या 'रजत' नहीं बन गई है। 'रज्जु' अपने स्वरूप में ही ज्यों की त्यों 'रज्जु' ही है, तथापि उसमें प्रतीति 'सर्प' की, एवं 'शुक्ति' भी अपने स्वरूप में ही ज्यों की त्यों 'शुक्ति' ही बनी हुई है, तथापि उसमें प्रतीति 'रजत' की हो रही है। इसी को 'अतात्त्विक अन्यथाप्रतीति' अथवा 'विवर्त' कहते हैं। उक्त 'परिणाम' (विकार) और 'विवर्त' का लक्षण इस प्रकार बताया जाता है—

"सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विकार' इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विवर्त' इत्युदाहृतः॥"

अर्थात् जहाँ 'तत्त्वपरिवर्तनसहित' अन्यथाप्रतीति होती है, उसको 'विकार' (परिणाम) कहते हैं। जैसे—'दूध' का विकार (परिणाम) 'दही' है। और 'तत्त्वपरिवर्तनरहित' अन्यथाप्रतीति जहाँ होती है, उसको 'विवर्त' कहते हैं। जैसे—'रज्जु' का विवर्त 'सर्प' है।

सांख्यदर्शन 'परिणामवादी' है, और शाङ्कर वेदान्त 'विवर्तवादी' है। विज्ञानवाद और ब्रह्मवाद दोनों में कुछ समानता रहते हुए भी उनमें भेद यह है कि बौद्ध के विज्ञानवाद में सभी कुछ 'क्षणिक' माना गया है। अतः उनका 'विज्ञान' भी क्षणिक है। किन्तु शांकर ब्रह्मवाद में 'ब्रह्म' नित्य वस्तु है। दोनों मतों में क्रमशः 'ज्ञान' और 'ब्रह्म' के अतिरिक्त 'अर्थ' की सत्ता का स्वीकार न किये जाने के कारण तर्कभाषाकार ने 'अर्थ' की 'बाह्यसत्ता' सिद्ध करने के लिये इस प्रसंग को यहाँ पर उपस्थित किया और 'द्रव्यादि अर्थ' प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने से उनका अपलाप नहीं कर सकते कह दिया है। विज्ञानवादी के 'विज्ञान' से और ब्रह्मवादी के 'ब्रह्म' से भिन्न 'अर्थ' की सत्ता का स्वीकार करना ही होगा।

यह 'तर्कभाषा' ग्रन्थ मुख्यतया न्यायदर्शन की शैली का अवलम्ब कर रचा गया है। अतएव न्यायदर्शन के 'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-

निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थान'—इन सोलह अर्थों (पदार्थों) का निरूपण किया जा रहा है। इन सोलह 'अर्थों' में से दूसरा 'प्रमेय' अर्थ (पदार्थ) बारह प्रकार का बताया गया है। उनमें से (१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, इन तीन 'प्रमेयों' (पदार्थों) का निरूपण करने के बाद अवसर प्राप्त चौथा 'अर्थ' नाम का प्रमेय प्राप्त होने से उसका निरूपण प्रारम्भ किया गया। इस 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत नवीन न्याय की शैली में वैशेषिकोक्त 'द्रव्य आदि सात पदार्थों' का अन्तर्भाव किया है। तर्कभाषाकर ने भी उसी का अवलम्बकर यहाँ तक वैशेषिकोक्त सभी पदार्थों का निरूपण 'अर्थनिरूपण' के प्रसंग में प्रस्तुत कर दिया है।

इति अर्थनिरूपणं समाप्तम्।

---

(५) बुद्धिनिरूपणम्

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याऽभिधीयते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवः स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधो, यथार्थोऽयथार्थश्चेति।

तत्र यथार्थोऽर्थाऽविसंवादी। स च प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जन्यते। यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम्। धूमलिङ्गकमग्निज्ञानम्। गोसादृश्यदर्शनाद् गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्याज्ज्योतिष्टोमस्य स्वर्गसाधनताज्ञानञ्च।

अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः। संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति, संशयतर्कौ वक्ष्येते।

विपर्ययस्तु अतस्मिंस्तद्ग्रहः भ्रम इति यावत्। यथा पुरोवर्तिन्यरजते शुक्तिकादौ रजतारोपः, 'इदं रजतम्' इति।

स्मरणमपि यथार्थमयथार्थञ्चेति द्विविधम्। तदुभयं जागरे। स्वप्ने तु सर्वं ज्ञानं स्मरणमयथार्थञ्च। दोषवशेन तदिति स्थाने इदमित्युदयात्।

सर्वञ्च ज्ञानं निराकारमेव। न तु ज्ञानेऽर्थेन स्वस्याकारो जन्यते। साकारज्ञानवादनिराकरणात्। अत एवाकारेणार्थानुमानमपि निरस्तम्। प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् घटादेः। सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यम्, अर्थप्रतिबद्धस्यैव तस्य मनसा निरूपणात्। घटज्ञानवानहं, इत्येतावन्मात्रं गम्यते न तु 'ज्ञानवानहम्' इत्येतावन्मात्रं ज्ञायते।

(५) बुद्धि का निरूपण—

अब क्रमप्राप्त पाँचवाँ प्रमेय 'बुद्धि' है, उसका निरूपण किया जा रहा है। वैसे तो वैशेषिक गुणों के अन्तर्गत 'बुद्धि' का निरूपण किया जा चुका है, तथापि न्यायदर्शन

में उसे अलग (पृथक्) प्रमेय माना गया है। अतः क्रमप्राप्त होने से उसका निरूपण पृथक् प्रमेय के रूप में किया जा रहा है।

बुद्धिरिति। 'बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय' आदि पर्याय शब्दों से 'आत्मा' के जिस 'गुण' को बताया जाता है, उसे **'बुद्धि'** कहते हैं। अथवा 'अर्थ' के ज्ञान (प्रकाश) को 'बुद्धि' कहते हैं। वह संक्षेप में दो प्रकार की है। (१) 'अनुभव' और (२) 'स्मरण'। उनमें से अनुभव भी दो प्रकार का होता है—(१) 'यथार्थ' और (२) 'अयथार्थ'।

तत्रेति। उसमें **'यथार्थ अनुभव'** 'अर्थ' का अविसंवादी (अर्थ के अनुकूल रहने वाला) होता है। और वह 'प्रत्यक्षादि' प्रमाणों से उत्पन्न होता है। जैसे—(१) दोषरहित चक्षु आदि इन्द्रिय से 'घट' आदि के 'ज्ञान' का होना, प्रत्यक्ष—यथार्थानुभव है। (२) 'धूम' आदि शुद्ध लिङ्ग (हेतु) से 'अग्नि' आदि के 'ज्ञान' का होना यथार्थ-अनुमितिरूप अनुभव है। (३) आरण्यक पशुविशेष में 'गो' के 'सादृश्य' को देखने से गोसदृश उस पशुविशेष में 'गवय शब्द' से 'वाच्य' होने के 'ज्ञान' का होना, यथार्थ-उपमितिरूप अनुभव है। (४) 'स्वर्ग काम पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे,— इस वेद वाक्य से 'ज्योतिष्टोम' नामक याग में 'स्वर्गसाधनता' का ज्ञान होना ही, 'शब्द प्रमाण' जन्य शाब्दी प्रमारूप यथार्थ अनुभव है।

अयथार्थस्त्विति। अयथार्थ अनुभव तो 'अर्थ' का व्यभिचारी होता है और 'अप्रमाण' से उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि जो 'अनुभव' जैसा होता है, वैसा न होकर, उसके विपरीत होता है, उसे 'अयथार्थ' कहते हैं। यह 'अयथार्थ अनुभव' 'अर्थ' का व्यभिचारी होता है। क्योंकि जो 'अर्थ' (वस्तु) जहाँ नहीं है, उसका वहाँ भी उत्पन्न होना पाया जाता है। जैसे 'शुक्ति' में 'रजत' नहीं होता है, फिर भी 'रजत' का अयथार्थ अनुभव उसमें भी हो जाता है। यह 'अप्रमाणज' कहा जाता है। 'अप्रमाणज' का अर्थ है—अपूर्ण प्रमाण से पैदा होने वाला। और 'अपूर्ण प्रमाण' का अर्थ है—जिस प्रमाण में 'गुण' का सन्निधान न होकर, उसके (गुण के) बदले किसी 'दोष' का सन्निधान रहना। अर्थात् 'दोष' सहकृत 'प्रमाण' को ही 'अप्रमाण' (प्रमाणाभास) कहते हैं। उसी से 'अयथार्थ अनुभव' उत्पन्न होता है। वह 'अयथार्थ अनुभव' तीन प्रकार का होता है—(१) संशय, (२) तर्क और (३) विपर्यय। उनमें से 'संशय और 'तर्क' न्याय के षोडश पदार्थों में परिगणित किये गये हैं। इसीलिये उन्हें यथास्थान बताया जायगा।

विपर्ययस्त्विति। अब 'विपर्यय' को बता रहे हैं—'अतस्मिंस्तद्ग्रहः विपर्ययः'— 'अतत्' में 'तत्' की (अ-रजत यानी 'शुक्ति' में 'रजत') की प्रतीति होना ही 'विपर्यय' अर्थात् भ्रम है। जैसे, सामने स्थित अरजतस्वरूप 'शुक्ति' आदि में 'रजत' आरोप— 'इदं रजतम्' अर्थात् यह 'रजत' है—इस प्रकार की प्रतीति को विपर्यय (भ्रम) कहा जाता है।

स्मरणमिति । 'स्मरण' भी दो प्रकार का होता है—(१) यथार्थ और (२) अयथार्थ । जागरित अवस्था में दोनों प्रकार का 'स्मरण' होता है । किन्तु स्वप्न में तो सम्पूर्ण 'ज्ञान' स्मरणात्मक और अयथार्थ ही होता है ।

शंका—स्वप्नावस्था का सम्पूर्ण ज्ञान यदि स्मरणात्मक होता है तो उसमें 'तत्' (तत्ता) का उल्लेख क्यों नहीं होता है ? उसमें 'अनुभव' के समान 'इदम्' (इदन्ता) का उल्लेख क्यों किया जाता है ?

समा०—स्वप्नावस्था में जिस 'दोष' से 'ज्ञान' की उत्पत्ति होती है, उसी दोष से 'तत्' (तत्ता) के उल्लेख का प्रतिबन्ध (रुकावट) होकर 'इदम्' (इदन्ता) का उल्लेख होता है ।

पीछे बता चुके हैं कि 'वैभाषिक बौद्ध' के मतानुसार—'ज्ञान' के आकार से 'अर्थ' (वस्तु) का अनुमान करके 'अर्थ' को अनुमेय माना जाता है'—इस बौद्ध सिद्धान्त का खण्डन करने के लिये ग्रन्थकार कह रहे हैं—

सर्वञ्चेति । समस्त 'ज्ञान' निराकार ही होते हैं । क्योंकि 'सर्वं च ज्ञानं निराकार-मेव'—यह बौद्ध का सिद्धान्त है । और कोई भी 'अर्थ' (वस्तु) अपने किसी 'आकार' को उस 'ज्ञान' में न अर्पण ही करता है, यानी कोई भी अर्थ, उस 'ज्ञान' को न साकार ही बनाता है । क्योंकि 'साकार ज्ञानवाद' का निराकरण हो चुका है । अभि-प्राय यह है कि यदि 'ज्ञान' को साकार माना जाय, तो उसका कोई नियत (निश्चित) आकार भी नहीं बन सकता है । अतः 'ज्ञान' स्थित 'आकार' से 'अर्थ' का अनुमान होता है—इस कथन का भी खण्डन हो जाता है । 'घट' आदि बाह्य अर्थ (पदार्थ) तो 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से ही सिद्ध हैं । एवं च 'विषयता' के नियन्त्रणार्थ भी 'साकार ज्ञानवाद' की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि सभी ज्ञानों का उल्लेख 'अर्थ' के द्वारा ही हुआ करता है । 'अर्थ' के सहित 'ज्ञान' का ही 'मन' के द्वारा ग्रहण किया जाता है । 'मैं घटज्ञानवान् हूँ' यानी 'घटज्ञानवान् अहम्'—यही विषयसहित प्रतीति सबको हुआ करती है । 'ज्ञानवान् अहम्' यानी 'मैं ज्ञानवान् हूँ'—केवल इतनी ही अर्थात् विषयरहित प्रतीति किसी को नहीं होती है । एवंच 'समस्त ज्ञान', 'अर्थ' (विषय) से ही निरूपित हुआ करता है ।

माधुरी

'बुद्धि' के अनेक पर्याय शब्द हैं । वह 'बुद्धि' आत्मा का 'गुण' है । अथवा यह कहिये कि 'अर्थ' के ज्ञान (बोध) को 'बुद्धि' यह नाम दिया गया है । 'अनुभव और स्मरण' के भेद से उस बुद्धि गुण के दो प्रकार होते हैं । पुनः 'अनुभव' के भी 'यथार्थ और अयथार्थ' के भेद से दो भेद होते हैं ।

यथार्थ—जो 'अनुभव', 'अर्थ' का अ-विसंवादी होता है, उसे 'यथार्थ अनुभव' कहा गया है । अर्थात् जो अनुभव, किसी 'अर्थ' को उसके अपने निजीरूप में ग्रहण

करता है, उस अनुभव को 'यथार्थ अनुभव' कहा जाता है। इस अनुभव की उत्पत्ति, 'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द'—इन चार प्रमाणों से होती है।

अयथार्थ—किसी वस्तु का उसके निजीरूप में अनुभव न होकर उसके विपरीतरूप में जो अनुभव होता है, उसे 'अयथार्थ' अनुभव कहा जाता है। यह अयथार्थ अनुभव 'अर्थ' का व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि वह 'प्रमाणाभास' से पैदा होता है। किसी भी 'वस्तु' का यथार्थ प्रत्यक्षात्मक अनुभव होने के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों को उस वस्तु के साथ उसकी सहायता से ही प्रत्यक्षात्मक यथार्थ अनुभव हो पाता है। किन्तु जब कोई 'दोष', अनुभव कराने वाले इन्द्रियों के सहायक हो जाते हैं तब दोषसहकृत चक्षुरूप 'प्रमाणाभास' (अप्रमाण) से जो अनुभव होता है, उसे 'अयथार्थ' कहते हैं। उसे 'यथार्थ अनुभव' नहीं कहा जाता।

जैसे वास्तविक रजत के साथ चक्षुरिन्द्रिय का जब 'संयोग-सन्निकर्ष' होता है, तभी 'रजत' का प्रत्यक्षात्मक यथार्थ अनुभव हो पाता है, क्योंकि संयोग-सन्निकर्षात्मक गुण की सहायता लेकर इन्द्रिय ने उस रजत का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। इसलिये वह यथार्थ अनुभव हो पाया है।

और जब सूर्य के प्रखर प्रकाश में पड़ी हुई शुक्तिका चम-चमाती रहती है, तब उसके उस चाकचिक्य को देखकर 'रजत' का स्मरण हो आता है। उस चाकचिक्यरूप दोष की सहायता से चक्षु का 'शुक्तिका' के साथ संयोगसन्निकर्ष होता है और वह दोष सहकृत हुआ चक्षुरिन्द्रिय, उस शुक्तिका को ही वास्तविक रजत के रूप में प्रदर्शित कर देता है। वस्तुतः यहाँ पर वास्तविक रजत के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग नहीं हो रहा है। तथापि मन में स्मृत हुआ रजत ही उस चाकचिक्यरूप दोष से सहकृत हुए चक्षु के द्वारा दिखाई दे रहा है। अतः इस प्रकार का यह अनुभव अयथार्थ कहलाता है, क्योंकि दोषसहकृत हुए चक्षुरूप अप्रमाण (प्रमाणाभास) से वह उत्पन्न हुआ है।

इस अयथार्थ अनुभव के 'संशय, तर्क, विपर्यय'—तीन भेद होते हैं। उनमें से 'संशय और तर्क' को न्याय के षोडश पदार्थों का वर्णन करते समय बतावेंगे। इस समय केवल 'विपर्यय' को ही प्रस्तुत करते हैं।

विपर्यय—जहाँ वस्तु (पदार्थ) के न रहने पर भी यदि उसका अनुभव हो जाय, तो उसे 'विपर्यय' कहते हैं। इसी की दूसरी संज्ञा 'भ्रम' है। जैसे—'अतत्' में 'तत्' का आरोप करना ही भ्रम या विपर्यय कहलाता है। 'शुक्ति' पदार्थ 'रजत' से भिन्न है, अर्थात् शुक्ति में 'रजत' का 'तादात्म्य सम्बन्ध' से अभाव है तथापि उस 'शुक्ति' में ही तादात्म्य सम्बन्ध से 'रजत' का आरोप कर देते हैं, यानी शुक्ति (सींप) को ही 'रजत' समझ बैठते हैं। इसी को शुक्ति में रजत का भ्रम (विपर्यय) होना कहा जाता है। इस विपर्यय को 'इदम्' शब्द से अङ्गुलि निर्देश के द्वारा बताया जाता है,

यथा—चमकती हुई 'शुक्ति' को 'इदं रजतम्' कहकर बताते हैं। इस अयथार्थ अनुभव के समय पुरोवर्ती शुक्ति में 'तादात्म्य सम्बन्ध' से 'रजत' का भान होता रहता है, और उस (धर्मी) के परतन्त्र रहने वाले 'धर्म' अर्थात् 'रजतत्व' का भी उस शुक्ति में 'समवाय सम्बन्ध' से भान होता रहता है। एवंच पुरोवर्ती शुक्ति में जैसे 'रजत' का भ्रम (विपर्यय) ज्ञान होता है, वैसे ही उसमें (शुक्ति में) 'रजतत्व' का भी विपर्यय (भ्रम) होता रहता है।

ख्यातिपञ्चक—

विपर्यय (भ्रम) के स्वरूप और सामग्री का विश्लेषण अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न रीति से किया गया है। यह विश्लेषण, पाँचरूपों में विभक्त कर 'ख्याति' के नाम से कहा जाता है। दार्शनिक जगत् में इस ख्यातिपञ्चक की बड़ी प्रसिद्धि है। उन पाँच ख्यातियों के नाम एक कारिका के द्वारा बताये जाते हैं—

'आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्'' ॥

ये पाँच 'ख्यातियाँ' मुख्यरूप से मानी जाती हैं—(१) आत्मख्याति, (२) असत्ख्याति, (३) अख्याति, (४) अन्यथाख्याति, और (५) अनिर्वचनीयख्याति। 'ख्याति' शब्द का अर्थ है—'ज्ञान'। जहाँ 'भ्रम' (विपर्यय) ज्ञान होता है, वहाँ किसका ज्ञान होता है ? इसका विचार करते हुए विभिन्न दार्शनिकों ने पाँच ख्यातियों की स्थापना की है। उनमें से **आत्मख्याति** की स्थापना बौद्ध दार्शनिक ने की है। यह बौद्ध दार्शनिक 'विज्ञानवादी योगाचार' नामक सम्प्रदाय का बौद्ध है। इस का कहना है कि जहाँ पर 'भ्रम' ज्ञान होता है यहाँ भ्रान्त पुरुष को 'आत्मा' यानी 'ज्ञान' की ही पुरोवर्ती रूप में 'ख्याति' होती है। अर्थात् वह भ्रान्त पुरुष अपने अन्तःस्थित 'ज्ञान' को ही बाहर देखता है। पुरोवर्ती (सामने) स्थित चमकती हुई शुक्तिका पर अपने अन्तःकरण में सुप्तरूप से पड़े हुए 'रजताकारज्ञान' को ही 'इदं रजतम्' शब्द से कहता है। अर्थात् पहले कभी किसी समय 'सत्य रजत' को जब उसने देखा था, उस समय उस सत्य रजत का संस्कार (वासना) उसके हृदय में उत्पन्न होकर अवस्थित हो गया है, वही सुप्त 'संस्कार' इस समय 'रजत' के समान चमकती शुक्तिका को देखकर उसके हृदय में उद्बुद्ध (जागृत) होकर उसे 'रजत' का स्मरण करा देता है उस स्मरणात्मकज्ञान के आकारभूत रजत का अनुभव 'इदं रजतम्' के रूप में उसे होने लगता है। वह अनुभव 'अहं रजतम्' या 'अहं रजतं स्मरामि' इस रूप में नहीं होता है। स्मरणात्मकज्ञान के आकारभूत रजत को ग्रहण करने वाले इस अनुभव को ही 'भ्रम' कहा गया है। यह 'भ्रम', नाम की वह 'ख्याति' है, जो 'ज्ञान' के आत्मभूत आकार को ग्रहण कर रही है। इसलिये उसे 'आत्मख्याति' शब्द से कहा जाता है।

शंका—योगाचार बौद्ध के मत में 'बाह्य अर्थ' की सत्ता तो मानी नहीं जाती, इसलिये उसके मत में 'ज्ञान' ही सर्वत्र विभिन्न अर्थों के आकार में भासित हुआ करता है। अतः जैसे भ्रमस्थल में 'ज्ञान' के आकार का ही 'बाह्य अर्थ' के रूप में आभास होता है, और वह 'आभास' ही 'आत्मविषयक' (ज्ञानाकाररूप अर्थविषयक) होने से उसे 'आत्मख्याति' शब्द से कहते हैं, उसी तरह 'यथार्थानुभवरूप प्रमा' स्थल में भी 'ज्ञानाकार अर्थ' का ही बाह्य भान होता है। तब प्रमास्थल में होने वाले 'आभास' (प्रमा) को 'आत्मख्याति' के नाम से क्यों नहीं कहते ? केवल भ्रमस्थल में ही 'आत्मख्याति' का होना क्यों बताया जा रहा है ?

समा०—'बौद्ध' यह समाधान दे रहा है कि जहाँ 'रजत' का भ्रम होता है, वहाँ भ्रम होने के पहले 'रजत' का स्मरण अवश्य ही होता है। वह 'स्मरण', प्रकट 'ज्ञान-रूप' होने से 'आत्मरूप' है। और 'ज्ञान' का आकारभूत 'रजत' भी उससे (ज्ञान से) भिन्न न होने के कारण वह भी 'आत्मरूप' ही है। उस 'आत्मरूप रजत' को अपना 'विषय' बना लेने के कारण 'भ्रम' भी 'आत्मविषयक' ही है। इसलिये उसे (भ्रम-को) 'आत्मख्याति' शब्द से कहा गया है।

परन्तु जहाँ 'रजतप्रमा' (रजत का यथार्थ ज्ञान) होती है, वहाँ उसके होने के पूर्व 'रजत' का स्मरण होता ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिये 'प्रमा', 'प्रकट ज्ञान' के आकार भूत 'रजत' को अपना विषय नहीं बनाती, अपितु वह, 'अप्रकट ज्ञानात्मक वासना' के आकारभूत 'रजत' को ही अपना विषय बनाती है। 'अप्रकट ज्ञान' को 'ज्ञान' नहीं कह जाता, किन्तु उसे 'वासना' शब्द से कहा करते हैं। अतएव उसे 'आत्मा' नहीं कहते। इसलिये 'अप्रकटज्ञानात्मक वासना' के आकार को विषय करने वाले 'प्रमात्मकज्ञान' को आत्मविषयक नहीं कहते। अतएव 'प्रमा' को 'आत्म-ख्याति' शब्द से नहीं कहा जाता।

असत्ख्याति—शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों ने इस 'ख्याति' की स्थापना की है। 'असत्' को ग्रहण करने वाले 'ज्ञान' को 'असत्ख्याति' शब्द से कहा गया है। जहाँ 'शुक्ति' में 'रजत' का आभास होता है, वहाँ शुक्ति में वस्तुतः 'रजत' असत् है, तथापि चाकचिक्यादि किसी कारण से 'शुक्ति' में 'रजत' का भ्रम होता है। एवंच भ्रमस्थल में सर्वदा 'असत्' अर्थ का ही ज्ञान हुआ करता है। यह 'भ्रम' असद् विषयक होने के कारण उसे 'असत् ख्याति' कहते हैं।

शंका—माध्यमिक बौद्धों का सिद्धान्त है कि 'सर्वं शून्यम्'। तदनुसार 'शून्यता' ही पारमार्थिक (परमतत्त्व) है। शून्यता के अतिरिक्त सब कुछ 'असत्' है। 'शन्यता' ही सर्वत्र सर्वदा अनेक रूपों में (भिन्न-भिन्न रूपों में) भासित होती है। यह है बौद्धों के मतानुसार वस्तुस्थिति। अतः जैसे 'भ्रमस्थल' में सर्वदा 'असत्' अर्थ का ही ज्ञान होता है, वैसे ही 'प्रमास्थल' में भी 'शून्यता' के सिद्धान्तानुसार 'असद्'

का ही ग्रहण (ज्ञान) होगा। तब 'भ्रम' और 'प्रमा' दोनों में 'असद्ग्राहिता' तुल्य है। ऐसी स्थिति में 'भ्रम' को ही 'असत्ख्याति' कहना और 'प्रमा' को 'असत्ख्याति' शब्द से न कहना, कहाँ तक ठीक है ?

समा०—शून्यवादी बौद्ध अपनी ओर से समाधान दे रहा है कि यद्यपि 'भ्रम' और 'प्रमा' दोनों का 'विषय' 'असत्' ही है, तथापि दोनों की असद्ग्राहकता का प्रकार भिन्न-भिन्न है। 'प्रमात्मक ज्ञान' (यथार्थज्ञान) से जिस 'अर्थ' का ग्रहण किया जाता है, वह 'अर्थ' वस्तुदृष्टया (वस्तुतः) 'असत्' ही होता है, किन्तु लोकदृष्टया (लौकिक व्यवहार में) उस 'अर्थ' को 'सत्' मान लिया जाता है। किन्तु 'भ्रमात्मक ज्ञान' (अयथार्थज्ञान) से जिस 'अर्थ' का ग्रहण किया जाता है, वह 'अर्थ', वस्तु-दृष्टया (वस्तुतः) और लोकदृष्टया भी (लौकिक व्यवहार में भी) 'असत्' ही होता है। अतएव 'भ्रम' को 'असत्ख्याति' कहा गया है, किन्तु 'प्रमा' को 'असत् ख्याति' शब्द से नहीं कहा गया।

अख्याति—पूर्व मीमांसा दर्शन के दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—(१) भाट्ट सम्प्रदाय और (२) प्राभाकर सम्प्रदाय। प्रभाकर का ही नामान्तर 'गुरु' भी है। अतः इनके सम्प्रदाय को 'गुरु सम्प्रदाय' के नाम से भी जाना जाता है। श्रीप्रभाकर मीमांसक ने 'भ्रमस्थल' में 'अख्यातिवाद' की स्थापना की है। 'अख्याति' का अर्थ है 'ज्ञान का अभाव' यानी ज्ञान का न होना। भ्रमस्थल में 'भेद' के ज्ञान का अभाव' (भेदाऽग्रह) रहता है।

प्रभाकर मीमांसक का कहना है कि 'अतत् में तत्प्रतीति' अथवा 'तदभाववान् में तत्प्रकारक ज्ञान' रूप 'भ्रम' कभी होता ही नहीं। लोग जिसे 'भ्रम' समझते हैं, और कहते हैं, वह उनकी गलत धारणा है। क्योंकि वहाँ 'भ्रम' का कोई अवसर ही नहीं है। 'अतत् में तत् प्रतीति' अथवा 'तदभाववान् में तत्प्रकारकज्ञान' के अनुसार 'शुक्ति' में होने वाली 'रजत-प्रतीति' को लोग 'भ्रम' कह दिया करते हैं।

किन्तु वास्तव में यहाँ 'भ्रम' है ही नहीं। क्योंकि 'इदं रजतम्'—यह वस्तुतः 'एकज्ञान' नहीं है। अपितु यहाँ पर 'इदम्' और 'रजतम्'—ये 'दो ज्ञान' पृथक्-पृथक् हैं। 'इदम् रजतम्'—इस वाक्य के 'इदम्' अंश से 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' से जन्य (उत्पन्न) 'प्रत्यक्ष' ज्ञान होता है, जो 'यथार्थज्ञान' है। तथा उसी वाक्य के 'रजतम्' अंश से स्मरणात्मकज्ञान (स्मृतिज्ञान) होता है, और वह भी 'यथार्थ ज्ञान' है। एवंच 'इदम्' अंश, जो 'प्रत्यक्ष अनुभवरूप' है, वह 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष' से उत्पन्न होने के कारण '**यथार्थ**' है, और 'रजतम्' यह अंश 'संस्कार' से जन्य होने के कारण 'स्मरणात्मक' (स्मृतिरूप) है, और 'यथार्थ' भी है। अतः दोनों अंशों में से किसी भी 'अंश' में भ्रम नहीं है।

प्रश्न—तुम्हारे (प्राभाकर मत के) अनुसार जब कि सभी 'ज्ञान मात्र', 'यथार्थ'

ही हैं, कोई भी ज्ञान 'अयथार्थ' है ही नहीं, तब 'शुक्ति' को 'रजत' जानकर उसे लेने के लिये मनुष्य क्यों दौड़ पड़ता है ?

उत्तर—वह इसलिये दौड़ पड़ता है कि उस समय उसे उन दोनों ज्ञानों में 'भेद ग्रहण' भी नहीं हो रहा है। वह यह नहीं समझ पा रहा है कि मुझे 'इदं रजतम्' से जो ज्ञान हो रहा है, उसमें से 'इदम्' अंश तो 'अनुभवरूप प्रत्यक्ष' है, और 'रजतम्' अंश 'स्मरणात्मक' है। एवंच 'अनुभवात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मरणात्मक स्मृति-ज्ञान'—इन द्विविध ज्ञानों के भेद (विवेक) का ग्रहण न हो सकने से 'शुक्ति' को 'रजत' समझकर उसे उठाने के लिये दौड़ पड़ता है। निष्कर्ष यह है कि 'शुक्ति' को 'रजत' के रूप में समझना—यह भेदाऽग्रह = विवेकाऽग्रह के कारण हो रहा है। इसी 'भेदाऽग्रह' को 'अख्याति' शब्द से कहा गया है, जिसका अर्थ भेद की अख्याति, यानी भेद का ज्ञान न हो पाना है। इसी को 'विशिष्ट की अख्याति' अर्थात 'धर्मविशिष्ट धर्मी' अथवा 'विशेषणविशिष्ट विशेष्य' की अख्याति, यानी 'धर्मी' के साथ 'धर्म' के अथवा 'विशेष्य' के साथ 'विशेषण' के 'सम्बन्ध' की अख्याति भी कह सकते हैं। निष्कर्ष यह है कि जब 'धर्मी और धर्म' के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान न होकर 'धर्मी और धर्म' के स्वरूप का ही ज्ञान होता है, तब उस ज्ञान को 'अख्याति' कहा करते हैं। प्राभाकर मत में ऐसी जगह 'विशिष्टग्राही एक ज्ञान' नहीं होता है, अपितु 'धर्मी' का तो अनुभवात्मक ज्ञान होता है, और 'धर्म' का स्मरणात्मक ज्ञान होता है। एवं च भिन्न-भिन्न 'दो ज्ञान' हुआ करते हैं। इन दोनों ज्ञान के विषयों में 'असम्बन्ध' तथा दोनों ज्ञानों में 'भेद' है, किन्तु 'दोष' के कारण उनका ज्ञान नहीं हो पा रहा है। अतः 'भेद ज्ञान' तथा 'असम्बन्धज्ञान' के न हो सकने से ही ऐसे भ्रमस्थल में वस्तुतः विशिष्ट-अग्राही दो ज्ञानों' को 'विशिष्टग्राही एक ज्ञान' समझा जाता है। तब उसी को 'भ्रम' कहा करते हैं।

शंका—आपके (प्राभाकर के) कथनानुसार भ्रमस्थल में जब कि 'धर्मी' और 'धर्म' के परस्पर भिन्न 'दो ज्ञान' हैं तब उनमें से कोई भी 'ज्ञान', 'तदभाववान् में तत्प्रकारक' तो होगा नहीं, उस स्थिति में 'उन दोनों ज्ञानों' को अथवा उनमें से 'किसी एक को', 'भ्रम' शब्द से कैसे कह सकते हैं ? किसी 'ज्ञान' को 'भ्रम' शब्द से तभी कहा जायगा, कि जब वह (ज्ञान) 'तदभाववान् धर्मी में तत्प्रकारक' हो। अन्यथा नहीं।

समा०—भ्रमस्थल में होने वाले 'दोनों ही ज्ञानों' को 'भ्रम' शब्द से कहा जा सकता है। क्योंकि भ्रमस्थल में भिन्न-भिन्न ज्ञानों के विषयों में भी 'विशेष्य-विशेषण-भाव' को माना गया है। अतः भ्रमस्थल के 'इदम्' इस 'अनुभव' में 'रजतम्' इस स्मरण की 'रजतत्वगत प्रकारता' से निरूपित 'विशेष्यता', और 'रजतम्' इस स्मरण में 'इदम्' इस अनुभव की 'शुक्तिगत विशेष्यता' से निरूपित 'प्रकारता' के रहने से

'इदम्' यह अनुभव 'रजतत्वगत-प्रकारता-निरूपित-शुक्तिगत-विशेष्यताशाली' तथा 'रजतम्' यह स्मरण 'शुक्तिगत-विशेष्यता-निरूपित-रजतत्वगत-प्रकारताशाली' होने से 'भ्रम' शब्द का व्यवहार यहां पर किया जा सकता है। इसी आशय से श्रीगदाधरभट्टाचार्य ने 'तत्त्वचिन्तामणि' प्रत्यक्षखण्ड के प्रामाण्यवाद में ''गुरुणान्तु स्वातन्त्र्येण प्रामाण्योपस्थितौ धर्मिज्ञानम्''—इस दीधिति ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए कहा है—'स्वतन्त्रोपस्थिता प्रामाण्यनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित-धर्मिनिष्ठविशेष्यता-निरूपकतज्ज्ञान-गोचरानुभवरूपज्ञानान्तरमित्यर्थः'।

प्रभाकर (गुरु) के मत में 'ज्ञान' अप्रमाण (अयथार्थ) नहीं हुआ करता। उसके मत में सभी 'ज्ञानमात्र' प्रमाण (यथार्थ) ही माने गये हैं। उसका कहना है कि किसी पदार्थ (वस्तु) का किसी अन्य पदार्थ (वस्तु) के रूप में 'ज्ञान' कभी भी नहीं होता है। अतः 'इदम् रजतम्'—इत्याकारक जो ज्ञान हो रहा है, उसमें 'एकज्ञान' न होकर 'दो ज्ञान' हैं। एक तो अप्रामाण्य का 'स्मारणात्मकज्ञान' और 'इदम्' अंश से शुक्ति का 'अनुभवात्मकज्ञान'—ये दोनों ज्ञान, उस 'शुक्तिज्ञान' में 'अप्रामाण्य के सम्बन्ध' को बताते हैं। अर्थात् उक्त दोनों ज्ञानों का विषय 'अप्रामाण्य सम्बन्ध' होता है। किसी एक ज्ञान का ही वह विषय नहीं है। भिन्न ज्ञानों की 'विषयताओं' में भी निरूप्य-निरूपकभाव होता है। उसके होने से, वह 'अनुभवज्ञान' 'अप्रामाण्यनिष्ठप्रकारता-निरूपिततज्ज्ञाननिष्ठविशेष्यताशाली' होता है।

शंका—भ्रमस्थल में होने वाले दोनों ज्ञानों की विषयताओं में जब 'निरूप्य निरूपकभाव' स्वीकृत है तो 'दो ज्ञानों' को मानने की क्या आवश्यकता है? दो ज्ञानों के बजाय एक ही ज्ञान क्यों नहीं मानते?

समा०—'दो ज्ञान' इसलिये माने जाते हैं कि दोनों के विषयों को ग्रहण करने वाले किसी एक ही ज्ञान का होना संभव नहीं है। जैसे रजतशून्य शुक्तिप्रदेश में 'रजतत्व' के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न रहने से शुक्ति के 'इदम्' इत्याकारक प्रत्यक्षानुभव के साथ 'रजत या रजतत्व' का अनुभव नहीं हो सकता।

शंका—जब प्राभाकर मत में भी 'रजतत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितशुक्तिनिष्ठ-विशेष्यताशाली ज्ञान' मानना पड़ता है तो 'प्रभाकर' को 'अन्यथाख्यातिवादी' ही क्यों न कहा जाय? उसे 'अख्यातिवादी' अथवा 'सर्वज्ञानयाथार्थ्यवादी' क्यों कहें?

समा०—जिस धर्मी में, जो धर्म, जिस सम्बन्ध, से नहीं रहता है, उस धर्मी में उस धर्म के उस सम्बन्ध का ज्ञान होना मान्य नहीं है। इसलिये उसे अन्यथाख्यातिवादी नहीं कहा जा सकता। अतः उसे 'अख्यातिवादी' तथा 'सर्वज्ञानयाथार्थ्यवादी' कहने में कोई बाधा नहीं है।

शंका—प्रभाकर के मतानुसार भ्रमस्थल में जब कि 'रजतत्व' के सम्बन्ध का

ज्ञान, 'शुक्ति' में होना मान्य नहीं है, तो उस मत के अनुसार रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति, भ्रमस्थल में 'शुक्ति' को लेने के लिये कैसे होगी ?

समा०—रजतार्थी की प्रवृत्ति, 'शुक्ति' को 'रजत' समझकर नहीं हो रही है, अपितु वह 'शुक्ति' को 'रजत' से भिन्न नहीं समझ पा रहा है, इसलिये उसे लेने के लिये वह प्रवृत्त हो रहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'रजत' प्राप्ति की इच्छा से होने वाली जो उसकी प्रवृत्ति है, वह, उस 'शुक्ति में रजतत्व के संसर्गज्ञान' से नहीं हो रही है, अपितु उस शुक्ति में 'रजतत्व के असंसर्ग ज्ञान के न होने से हो रही है। शुक्ति का अनुभव और रजत का स्मरण होने पर भी उनके असंसर्ग का अज्ञान ही उस वस्तु के ग्रहणार्थ उसे प्रवृत्त कराता है।

अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि 'शुक्ति में रजतत्व के 'संसर्ग' का ज्ञान होने से रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो रही है, यानी उसकी प्रवृत्ति के प्रति उस वस्तु में रजतत्व के संसर्ग का ज्ञान कारण नहीं है, बल्कि उस वस्तु में 'रजतत्व का ज्ञान' कारण है। अर्थात् 'रजतत्वनिष्ठप्रकारता-निरूपित-तद्वस्तुनिष्ठविशेष्यताक-ज्ञान' ही उस वस्तु में 'रजतत्वज्ञान' कहलाता है। यह ज्ञान, 'शुक्ति में रजतत्वसंसर्ग' के भान हुए बिना भी हो सकता है। इसलिये भ्रमस्थल में रजतस्मरण के साथ होने वाले 'शुक्ति' के इदमाकार प्रत्यक्षात्मक अनुभव में भी 'स्मरणीय रजतत्वनिष्ठप्रकारता-निरूपितशुक्तिनिष्ठविशेष्यताकत्व' रहने के कारण उस अनुभव से भी रजतार्थी की प्रवृत्ति हो सकती है, उसमें कोई रुकावट नहीं हो सकती है।

अन्यथाख्याति—नैयायिकों ने 'अन्यथाख्यातिवाद' की स्थापना की है। इसका अर्थ है—किसी वस्तु की किसी अन्य वस्तु के रूप में प्रतीति होना। जैसे—

'शुक्ति' की 'रजत' के रूप में तथा 'रज्जु' की 'सर्प' के रूप में प्रतीति होना 'अन्यथाख्याति' कहलाती है।

शंका—'शुक्ति' में 'रजत' का तथा 'रज्जु' में 'सर्प' का सन्निधान तो है नहीं। तब 'रजतत्व' के साथ तथा 'सर्पत्व' के साथ चक्षुरिन्द्रिय का 'संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष' तो हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में 'इन्द्रियसन्निकर्ष' के बिना 'शुक्ति' में 'रजतत्व' का और 'रज्जु' में 'सर्पत्व' की प्रतीति कैसे हो सकती है ?

समा०—'शुक्ति' में 'रजतत्व' की और 'रज्जु' में 'सर्पत्व' की जो 'प्रत्यक्ष-प्रतीति होती है, वह 'लौकिक' नहीं है, अपितु 'अलौकिक' है। 'रजतत्व' आदि के साथ 'चक्षु-रिन्द्रिय' के संयुक्त-समवायसन्निकर्ष' की आवश्यकता तो 'लौकिक प्रत्यक्ष प्रतीति' में हुआ करती है, 'अलौकिक-प्रत्यक्ष' में नहीं। 'धर्मी' (वस्तु) में किसी अन्य धर्म का प्रत्यक्ष होने में जब कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता तब उस धर्म की उपस्थितिमात्र से ही 'अलौकिक प्रत्यक्ष' हो जाता है। इसलिये 'शुक्ति' आदि धर्मी में 'रजतत्व' आदि 'धर्म' का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। इस 'अन्यथाख्याति' को ही नैयायिक-

वैशेषिक लोग 'विपर्यय' अथवा 'भ्रम' कहा करते हैं। जैसे पाण्डुरोगी को 'पाण्डुरोग-रूपी दोष' के प्रभाव से 'पीतः शंखः' प्रतीति होती है, उसी प्रकार चाकचिक्यादि दोष के कारण 'रजत' की प्रतीति 'शुक्ति' में होने लगती है। इसी को 'अन्यथाख्याति' कहते हैं। तर्कभाषाकार को यही ख्याति मान्य है।

अनिर्वचनीयख्याति—शांकर वेदान्तियों ने 'अनिर्वचनीयख्यातिवाद' की स्थापना की है। इनका कहना है कि 'भ्रमस्थल' में जिस 'वस्तु' का ज्ञान (ख्याति) होता है, वह 'अनिर्वचनीय' है। 'सत्' और 'असत्' से विलक्षण अर्थात् जिसे 'सत्' भी नहीं कह सकते हैं और 'असत्' भी नहीं कह सकते उसे 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। 'सत्' इस लिये नहीं कह सकते कि 'अधिष्ठान' (शुक्ति) का ज्ञान होते ही 'रजत' प्रतीति का होना समाप्त हो जाता है और 'असत्' इसलिये नहीं कह सकते कि उसकी (रजत की) प्रतीति हो रही है, उसके उठाने के लिये प्रवृत्ति हो रही है। बाजार में जो वास्तविक 'रजत' है, उसे 'व्यावहारिक' रजत कहा जाता है, क्योंकि उससे व्यवहार किया जाता है। 'शुक्ति' में दिखाई देने वाले रजत की उत्पत्ति और उसका प्रत्यक्ष, अनायास ही होता है। चाकचिक्य के दोष से शुक्ति के वास्तविक स्वरूप की पहिचान नहीं हो पाती। रजत के समान उसकी चमक को देखते ही सत्य रजत की स्मृति हो उठती है, और 'इदम्' के रूप में सामने उपस्थित शुक्ति में 'रजत' और उसकी प्रतीति एक साथ ही उत्पन्न हो जाती है। उस समय 'शुक्ति' में दृश्यमान होने वाले 'रजत' की प्रतीति को ये वेदान्ती 'प्रातिभासिक' कहते हैं। क्योंकि जब तक 'शुक्ति' में 'रजत' का 'प्रतिभास' होता रहता है, तभी तक उस 'रजत का' उसमें 'अस्तित्व' रहता है। किन्तु जैसे ही 'शुक्ति' या 'रज्जु' का असली 'स्वरूप' दिखाई देने लगता है, वैसे ही 'रजत' का प्रतिभास कराने वाला 'अज्ञान', 'रजत' और उसकी प्रत्यक्षप्रतीति, तीनों तत्काल समाप्त हो जाते हैं।

इन पाँच ख्यातियों के अतिरिक्त कतिपय अन्य ख्यातियों की भी स्थापना भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने की है। जैसे रामानुजों ने 'सत्ख्याति', अनेकान्तवादी जैनों ने 'सदसत्ख्याति' को माना है। स्याद्वादरत्नाकर ने 'प्रसिद्धार्थख्याति', अलौकिकख्याति', 'विपरीतवस्तुख्याति' आदि ख्यातियों को भी बताया है।

केवल 'संस्कार' से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'स्मरण' कहते हैं। यथार्थ और अयथार्थ भेद से वह स्मरण दो प्रकार का होता है। यदि 'अनुभव' यथार्थ होगा तो 'स्मरण' भी यथार्थ होगा, और अनुभव यदि अयथार्थ होगा तो 'स्मरण' भी अयथार्थ होगा। जाग्रदवस्था में दोनों प्रकार के स्मरण होते हैं। किन्तु स्वप्नावस्था में सम्पूर्ण ज्ञान, 'स्मरणात्मक' और अयथार्थ होता है।

शंका—स्वप्नकाल का समस्त 'ज्ञान' यदि स्मरणात्मक होता है, तो उसमें 'तत्ता'

का उल्लेख यानी 'तत्' शब्द से उसका उल्लेख होना चाहिये, किन्तु उसका उल्लेख तो 'इदन्ता' से यानी अनुभव के समान 'इदम्' शब्द से हुआ करता है।

समा०—स्वप्नावस्था में 'ज्ञान' की उत्पत्ति, जिस दोष से होती है, उसी से 'तत्ता' (तत्) के उल्लेख का प्रतिबन्ध और 'इदन्ता' (इदम्) के उल्लेख का उदय होता है। अर्थात् 'तत्' के स्थान पर 'इदम्' की प्रतीति होती है।

अनुभव के अनुसार स्मरण होने में उन दोनों के मध्य एक व्यापार की कल्पना करनी पड़ती है, उस व्यापार को 'भावनासंस्कार' नाम दिया गया है। यह संस्कार 'निश्चयात्मक अनुभव' से हुआ करता है। यह 'अनुभव', अपेक्षात्मक नहीं होता। किन्तु जब कभी अपेक्षात्मक अनुभव होता है तब उससे 'संस्कार' उत्पन्न नहीं होता है। और संस्कार के उत्पन्न न होने से अनुभूत विषय का स्मरण भी नहीं होता है।

अनुभव से उत्पन्न हुआ संस्कार भी जब उद्बोधक कारणों से यथा समय उद्बुद्ध होता है, तभी उससे 'स्मरण' होता है, सर्वदा नहीं। संस्कार के उद्बोधक कारणों को न्याय सूत्र (३।२।४२) में गौतम महर्षि ने बताया है—

'प्रणिधान-निबन्ध-अभ्यास-लिङ्ग-लक्षण-सादृश्य-परिग्रह-आश्रय-आश्रित-सम्बन्ध-आनन्तर्य-वियोग-एककार्य-विरोध-अतिशय-प्राप्ति-व्यवधान-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-भय-अर्थित्व-क्रिया-राग-धर्म और अधर्म—इन उद्बोधक कारणों से संस्कार का उद्बोध होने पर स्मरण होता है, अन्यथा नहीं।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रथमतः 'अनुभव' से ही संस्कार की उत्पत्ति होती है, पश्चात् 'अनुभूत विषय के स्मरण' से भी संस्कार की उत्पत्ति होती है। उत्तरोत्तर संस्कार जो हुआ करता है, वह अपने पूर्व संस्कार की अपेक्षा तीव्र और दृढ़ होता है। कभी-कभी किसी विषय का स्मरण बहुत विलम्ब से होता है, क्योंकि उसका पुनः-पुनः स्मरण न करने के कारण उससे उत्तरोत्तर दृढ़ संस्कार नहीं हो पाये हैं।

परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि 'संस्कार' तो अनुभव से ही होते हैं, 'स्मरण' से नहीं। वह (स्मरण) तो संस्कार की उद्बोधक सामग्री के समीप कराने में सहायक होते हैं। जिस विषय का पुनः-पुनः स्मरण होता है, उस विषय के संस्कार को उद्बोधक सामग्री का सामीप्य शीघ्र प्राप्त होता है। यह जो कहा गया था कि 'स्मरण' में 'तत्ता' (तत्) का उल्लेख क्यों नहीं होता ? उसका उत्तर तो यह है, उस समय दोष के कारण 'स्मृतिप्रमोष' हुआ रहता है।

स्मृतिप्रमोष—स्मरण के हेतुभूत संस्कार के किसी विषय के 'उद्बोधक' का समीप न रहना ही 'प्रमोष' है। इस 'प्रमोष' के प्रभाव से ही अनुभूत समस्त विषयों का कभी-कभी 'स्मरण' नहीं हो पाता है, किञ्चित्-किञ्चित् स्मरण होता है और कभी-कभी 'तद् रजतम्', 'सः मनुष्यः' इत्यादि आकार में स्मरण न होकर केवल 'इदं रजतम्'

'अयं मनुष्यः'—इस आकार में स्मरण होता है, 'तत्' शब्द से उसका उल्लेख नहीं होता।

योगाचार और वैभाषिक नामक दो बौद्धसम्प्रदायों में 'ज्ञान' को साकार माना है। उनमें से योगाचार बौद्ध तो 'ज्ञान' के आकार के अतिरिक्त किसी भी बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं मानता है। ज्ञान का आकार ही भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में बाहर भासित होता है।

और वैभाषिक बौद्ध कहता है कि 'ज्ञान' का अपना निजी कोई 'आकार' नहीं होता है, तथापि उसके विषयभूत पदार्थ से उसे (ज्ञान को) आकार प्राप्त होता है। अत एव 'ज्ञान' में उसका (आकार का) अनुभव होता है। किन्तु 'सर्वं क्षणिकम्' के सिद्धान्तानुसार सब कुछ क्षणिक रहने से वह अर्थ 'इन्द्रिय' का विषय नहीं बन पाता। इसलिये 'पदार्थ' स्वयम् अप्रत्यक्ष है। किन्तु उस पदार्थ का 'ज्ञान' क्षणिक होता हुआ भी 'स्वप्रकाश' है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष 'साकार रूप में' होता है। और उस ज्ञान के आकार से ही 'अर्थ' का अनुमान किया जाता है, क्योंकि 'ज्ञान' में जो आकार है, वह उस अर्थ के द्वारा ही अर्पित किया हुआ है। अत एव इसे 'बाह्यार्थानुमेयवादी' सम्प्रदाय कहते हैं।

उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों का 'साकारवाद' तर्कभाषाकार केशवमिश्र को स्वीकार नहीं है। उन्होंने अपने मत को ग्रन्थ में अङ्कित कर दिया है कि **'सर्वं च ज्ञानं निराकारमेव'** सम्पूर्ण ज्ञान 'निराकार' ही होता है। वह स्वभावतः भी 'साकार' नहीं है, और न 'अर्थ' के द्वारा समर्पित 'आकार' से 'साकार' है। ज्ञान में अनुभूत होने वाली 'तत्तत् अर्थाकारता' जो बताई जा रही है वह उसकी 'तत्तत् अर्थविषयता' ही है।

(६) मनोनिरूपणम्

अन्तरिन्द्रियं मनः। तच्चोक्तमेव।

(७) प्रवृत्तिनिरूपणम्

प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।

(८) दोषनिरूपणम्

दोषा राग-द्वेष-मोहाः।
राग इच्छा।
द्वेषो मन्युः, क्रोध इति यावत्।
मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।

(९) प्रेत्यभावनिरूपणम्

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः, अपूर्वदेहसङ्घातलाभः ।

(६) **अन्तरिति** । अन्तरिन्द्रिय का नाम 'मन' है । इसी को 'अन्तः करण' भी कहते हैं । उसके बारे में पहले ही बता चुके हैं ।

(७) **प्रवृत्तिरिति** । धर्म-अधर्म को उत्पन्न करने वाली 'याग' आदि कर्म ही 'प्रवृत्ति' कहलाती है । क्योंकि जगत् के व्यवहार की वही साधक है ।

(८) **दोषा इति** । 'राग', 'द्वेष' और 'मोह'—ये तीनों दोष हैं ।

'राग' का अर्थ **इच्छा** है ।

'द्वेष' का अर्थ **मन्यु** अर्थात् **क्रोध** है ।

'मोह' का अर्थ **मिथ्याज्ञान** अर्थात् विपर्यय है ।

(९) **पुनरुत्पत्तिरिति** । पुनः (मृत्यु के बाद) उत्पन्न होना यानी पुनर्जन्म होना ही 'प्रेत्यभाव' कहलाता है । 'प्रेत्य' = मर कर 'भावः' = जन्म । न्यायभाष्यकार ने कहा है कि यहाँ 'पुनः'=अभ्यास, एवं च बार-बार मर कर उत्पन्न होना ही 'प्रेत्यभाव' शब्द से कहा जाता है । किन्तु 'आत्मा' तो नित्य है, उसकी उत्पत्ति और मृत्यु का होना कैसे संभव हो सकता है ? इसके समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—**स चेति** । आत्मा के पूर्व शरीर की समाप्ति और नवीन शरीर आदि समूह (देह-इन्द्रियादि के साथ 'आत्मा' का पुनः सम्बन्ध) की प्राप्ति होना ही 'प्रेत्यभाव' है । इसी को 'पुनर्जन्म' कहते हैं । आत्मा की पुनरुत्पत्ति नहीं है । वह तो नित्य है ।

माधुरी

'मन' (अन्तःकरण) प्रत्येक प्राणी के शरीर के भीतर रहता है । वह 'नित्य' और 'अणु' होता है । 'मुक्ति' होने तक आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध बराबर बना रहता है । यह 'मन' समस्त बाह्य इन्द्रियों को उनके कार्य में सहायक होता है ।

'प्रवृत्ति' शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्ध कर्मों (क्रियाओं) को अथवा कर्मों से उत्पन्न होने वाले धर्म-अधर्म को 'प्रवृत्ति' शब्द से कहा जाता है । समस्त संसार का व्यवहार 'प्रवृत्ति' से ही होता है । प्रवृत्ति से 'कर्म', और कर्म से पुनः 'प्रवृत्ति'—यह चक्र बराबर चलता रहता है । इस चक्र पर आरूढ़ हुए संसार का उत्थान-पतन सर्वदा होता रहता है । वही प्राणी का जीवन है । प्रवृत्ति से प्राणी का जन्म होता है । यह प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है—(१) वाणी से (२) मन से, (३) शरीर से । न्यायसूत्रकार कहते हैं—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (न्या० सू० १।१।१७) । यह 'राग' दोष तो (१) काम, (२) मत्सर (३) स्पृहा (४) तृष्णा (५) लोभ (६) माया (७) दम्भ के भेद से सात प्रकार का होता है । इनमें से मैथुन की

इच्छा का नाम 'काम' है। प्रयोजन के न रहने पर भी दूसरे के वांछित अर्थ के निवारण की इच्छा करना 'मत्सर' है। धर्म के विरुद्ध किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा को 'स्पृहा' कहते हैं। मेरी वस्तु किसी काल में भी नष्ट न हो, ऐसी इच्छा को 'तृष्णा' कहते हैं। 'कृपणता' भी एक प्रकार से 'तृष्णाविशेष' ही है। धर्मविरुद्ध परद्रव्य की इच्छा करना 'लोभ' है। दूसरे को ठगने की इच्छा को 'माया' कहते हैं। अपनी उत्कृष्टता जताने के लिये जो दिखावटी आचरण किया जाता है उसे 'दम्भ' कहते हैं। यागादि क्रिया भी वाणी, मन तथा शरीर से ही होती है। अत एव ग्रन्थकार ने 'धर्माधर्ममयी यागादि क्रिया' कहा है। 'धर्माऽधर्ममयी' अर्थात् धर्माऽधर्म की जनक। कहीं-कहीं 'प्रवृत्ति' को भी 'धर्माधर्म' शब्द से कहा गया है।

दोष—राग, द्वेष और मोह तीनों का नाम 'दोष' है। 'राग' का अर्थ है 'इच्छा' यानी कामना। 'वचनानुकूलो यत्नः वागारम्भः, चेष्टानुकूलो यत्नः शरीरारम्भः, एतद्द्वयभिन्नो यत्नः बुद्ध्यारम्भः'। अर्थात् मनुष्य के वचन (उच्चारण) के अनुकूल जो 'प्रयत्न' है, उसे 'वागारम्भ' कहते हैं। मनुष्य के शरीर की चेष्टा के अनुकूल जो 'प्रयत्न' है, उसे 'शरीरारम्भ' कहते हैं। और उन दोनों प्रयत्नों से भिन्न जो प्रयत्न है, उसे 'बुद्ध्यारम्भ' कहते हैं। 'द्वेष' का अर्थ है 'क्रोध'। यह 'द्वेष' दोष (१) क्रोध (२) ईर्ष्या (३) असूया (४) द्रोह (५) अमर्ष (६) अभिमान—के भेद से छह प्रकार का होता है। और 'मोह' का अर्थ है 'मिथ्याज्ञान' यानी विपर्यय। यह 'मोह' दोष भी (१) विपर्यय (२) संशय (३) तर्क (४) मान (५) प्रमाद (६) भय (७) शोक—के भेद से सात प्रकार का होता है। इन्हीं तीनों से संसार में जन्म-प्राप्ति की निमित्तभूत 'प्रवृत्ति' हुआ करती है। इन्हीं तीनों के बारे में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

> "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥"

अर्थात् काम, क्रोध, लोभ (मोह) तीनों को नरक का द्वार और आत्मनाश का कारण बताया गया है, अतः ये तीनों त्याज्य हैं। इन तीनों में भी 'मोह' को सबसे बुरा बताया गया है। क्योंकि वही तो राग और द्वेष का मूल है। इसी बात को गौतम महर्षि ने भी बताया है—

'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्य इतरोत्पत्तेः'। जो 'मोह' शून्य रहता है वही 'राग' और 'द्वेष' से रहित रहता है। क्योंकि 'मोह' से ही उनकी उत्पत्ति होती है। इसलिये 'मोह' को ही सबसे बुरा माना गया है। अत एव इन तीनों की निवृत्ति के लिये ही 'प्रमाणादि' सोलह पदार्थों का तत्त्वदान प्राप्त करना आवश्यक होता है; और उसी के लिये 'न्यायदर्शन' का निर्माण किया गया है।

प्रेत्यभाव—मरण होने के पश्चात् दूसरे जन्म का होना ही 'प्रेत्यभाव' कहलाता है।

'शरीर' और 'प्राण' के अन्तिमसंयोग के ध्वंस को 'मरण' कहते हैं। तथा 'शरीर' और 'प्राण' के आद्यसंयोग को 'जन्म' कहते हैं।

(१०) फलनिरूपणम्

फलं पुनर्भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः।

(११) दुःखनिरूपणम्

पीडा दुःखम्। तच्चोक्तमेव।

(१२) अपवर्गनिरूपणम्

मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। एकविंशतिभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखं दुःखञ्चेति गौणमुख्यभेदात्। सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषङ्गित्वात्। अनुषङ्गोऽविनाभावः। स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत्।

स पुनरपवर्गः कथं भवति ?

उच्यते। शास्त्राद् विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनविरक्तस्य मुमुक्षोर्ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेशहीनस्य, निष्कामकर्मानुष्ठानादनागतधर्माऽधर्मावनर्जयतः पूर्वोपात्तञ्च धर्माऽधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद् विदित्वा, समाहृत्य भुञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमे पूर्वशरीराभावाच्छरीराद्येकविंशतिदुःखसम्बन्धो न भवति कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहानिर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते।

इति प्रमेयपदार्थः समाप्तः।

(१०) **फलमिति।** सुख अथवा दुःख में से किसी के अनुभवरूप भोग को 'फल' कहते हैं। जीवात्मा में सुख-दुःख की उत्पत्ति होने पर उसका साक्षात्कार (प्रत्यक्ष अनुभव) 'मन' से हुआ करता है, और विषयों के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष के होने पर सुख-दुःख की उत्पत्ति हुआ करती है। इसी बात को भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कह रहे हैं—'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुख-दुःखदाः'। यह विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष मनुष्य के जीवनकाल में होता है। जीवन का अर्थ है 'इन्द्रिय, मन, और प्राण सहित शरीर के साथ आत्मा का विलक्षण संयोग। यह 'संयोग' उस प्राणी के पूर्व कर्म से होता है। एवं च 'फल' भी प्राणि के पूर्वजन्मार्जित कर्मों का ही परिणाम है।

(११) **पीडेति।** 'पीड़ा' को दुःख कहते हैं। यह भी जीवात्मा का एक 'विशेषगुण' है। इसकी उत्पत्ति 'अधर्म' (पाप) से होती है। इसका वर्णन पूर्व कर दिय गया है।

(१२) **मोक्ष इति।** मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। 'मोक्ष' का अर्थ है—इक्कीस प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति। अत्यन्तनिवृत्ति (आत्यन्तिक निवृत्ति) तभी

कहलाती है जब एक बार निवृत्ति होने के बाद पुनः 'दुःख' की उत्पत्ति न हो। इस प्रकार की दुःखात्यन्तनिवृत्ति अन्तिम जन्म के अनन्तर ही होती है। उसी को 'अपवर्ग' कहते हैं।

एकविंशति भेदास्त्विति। दुःखों के एकविंशति भेद (इक्कीस भेद) इस प्रकार होते हैं—शरीर, षट् इन्द्रियाँ, षट् विषय, षट् ज्ञान (बुद्धि), और सुख तथा दुःख। गौण और मुख्य भेद से ये इक्कीस प्रकार के दुःख हैं। इन इक्कीस प्रकार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना ही अपवर्ग (मोक्ष) कहलाता है। दुःख से अनुषक्त (मिश्रित) होने के कारण लौकिक सुख भी 'दुःखरूप' ही है। 'अनुषङ्ग' का अर्थ अविनाभाव है। एक-दूसरे के विना न रह पाना ही 'अविनाभाव' कहलाता है। 'मधु' जब 'विष' मिश्रित रहता है, तब 'मधु' को भी 'विष' समझा जाता है। उसी तरह लौकिक 'सुख-दुःख से मिश्रित (अविनाभूत) रहने के कारण उसे भी गौणरूप से दुःख ही समझा जाता है। अर्थात् लौकिक सुख को दुःख कहने का गौण (औप-चारिक) व्यवहार होता है।

प्रश्न—स पुनरिति। वह 'अपवर्ग' कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—उच्यते इति। उत्तर दिया जा रहा है। सर्व प्रथम शास्त्रों का अध्ययन करके समस्त पदार्थों का यथार्थस्वरूप (तत्त्व) ज्ञान प्राप्त करने वाले, अतएव विषयों (पदार्थों) में दोष दर्शन हो जाने के कारण लौकिक विषयों के प्रति विरक्त रहने वाले, मोक्ष को चाहने वाले, अतएव मोक्ष प्राप्ति की प्रबल इच्छा के जागने से योग शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित ध्यानविधि के अनुसार 'ध्यानादि' उपायों का अभ्यास करने वाले 'मुमुक्षु-साधक' का ध्यान परिपक्व हो जाने के कारण उसे 'आत्मा' का साक्षात्कार होता है। उससे वह 'पाँच क्लेशों' (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभि-निवेश) से रहित हो जाता है। राग-द्वेषादिकों के न रहने पर निष्काम होता हुआ 'कर्म' का अनुष्ठान करने लगता है। इस प्रकार किये हुए निष्काम कर्मों से धर्माऽधर्म-रूप संस्कारों की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। अतएव अनागत (नवीन) धर्म-अधर्म का अर्जन (सम्पादन) नहीं हो पाता है। और पूर्वोपात्त (पूर्व अर्जित हुए) धर्म-अधर्मों को अपनी योगशक्ति के प्रभाव से जानकर उन सबका भोग, वह एक साथ ही कर लेता है। तब पूर्वार्जित कर्मों की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार कर्म की निवृत्ति (समाप्ति) हो जाने पर तथा विद्यमान शरीर के समाप्त होने पर शरीरोत्पत्ति में कारणीभूत धर्माधर्म के अभाव में नवीन शरीर की उत्पत्ति का होना संभव नहीं रहता। तब धर्माधर्मरूप कारण के न रहने से 'आत्मा' के साथ एकत्रिंशति (इक्कीस) प्रकार के 'दुःखों' से वह पुनः सम्बद्ध नहीं होता है। इन एकविंशति भेदों से युक्त दुःखों (इक्कीस प्रकार के दुखों) का विनाश (हानि) ही 'मोक्ष' है। उसी को 'अपवर्ग कहते हैं।

माधुरी

प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण—के भेद से 'कर्म' तीन प्रकार के होते हैं।

(१) **प्रारब्धकर्म**—जिन कर्मों का फलोपभोग प्राप्त करने के लिये यह वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है, उन कर्मों का 'भोग' मिलना प्रारम्भ हो चुका है, इसलिये उन कर्मों को 'प्रारब्ध कर्म' कहा गया है। उन 'प्रारब्ध कर्मों' का 'नाश', उसके फलों को भुगतने पर ही होता है। कहा भी है—'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय:'।

(२) **क्रियमाणकर्म**—ये वे 'कर्म' हैं, जो इस वर्तमान समय में किये जा रहे हैं।

(३) **सञ्चितकर्म**—इस क्रियमाण कर्मों के संस्कार सञ्चित होते रहते हैं। उनसे आगे चलकर भोग प्राप्त होगा। इसीलिये इन 'कर्मों' को 'सञ्चित कर्म' कहा जाता है। क्रियमाण कर्मों से उत्पन्न होकर सञ्चित हुए वे संस्कार, जब तक 'तत्त्वज्ञान' नहीं होता है, तब तक बने रहते हैं, और प्रतिक्षण किये जाने वाले क्रियमाण कर्मों से नवीन-नवीन संस्कार बनते जाते हैं। किन्तु 'तत्त्वज्ञान' (आत्मसाक्षात्कार) उत्पन्न होने के बाद क्रियमाण कर्मों के चलते रहने पर भी उनसे 'संस्कार' नहीं बन पाते। एवंच आत्मज्ञानी के 'क्रियमाण कर्म', उस शुष्क ठूँठ की तरह हो जाते हैं, जिसमें पल्लव, अंकुर आदि नहीं फूट निकलते। उनके क्रियमाण कर्म तो 'संस्कार' रहित होने से उनसे फलोपत्ति की संभावना ही नहीं, तो उनके भोग की कथा तो दूर रही। आत्मसाक्षात्कार (तत्त्वज्ञान) होते ही असंख्य जन्मार्जित सञ्चित कर्मों की वह महान् राशि, 'रुई' की तरह क्षण भर में ही नष्ट हो जाती है। उसके नष्ट होने में किञ्चिन्मात्र भी विलम्ब नहीं लगता। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'।

इस प्रकार क्रियमाण और सञ्चित दोनों की समाप्ति होने पर ही उसे 'जीवन्मुक्ति' प्राप्त हो जाती है, यानी वह जीवन्मुक्त हो जाता है। और 'प्रारब्ध कर्मों' का फलभोग तो जब तक वर्तमान शरीर की आयु निर्धारित है तब तक चलता ही रहता है। कहा भी है—'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय:'। प्रारब्ध-कर्मफलों का भोग समाप्त होने पर उसका देहपात (शरीरपात) हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि योगसाधना के द्वारा तत्त्वज्ञानी यह जान लेता है कि मेरे प्रारब्ध अभी कितने शेष हैं? और उनका भोग मुझे किस-किस शरीर में करना है? तब वह योगी-तत्त्वज्ञानी अपने योगसामर्थ्य से एक साथ ही उन सभी शरीरों का निर्माण कर लेता है और उनके द्वारा उन सभी अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों के फलों का भोग एक साथ ही प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर भोग के लिये कोई प्रारब्ध कर्म शेष नहीं रहता। इस रीति से समस्त प्रारब्ध कर्मों का भोग से नाश हो जाता है। और क्रियमाण कर्मों का तत्त्वज्ञान के द्वारा भर्जन हो जाने से उनके द्वारा कोई संस्कार पैदा न होने के कारण उनका फलजननसामर्थ्य नष्ट हो जाता है। अतः नवीन संस्कारों

का सञ्चय न होने से 'सञ्चित कर्म' का निर्माण होना बन्द हो जाता है। और तत्त्वज्ञान के पूर्व अवस्थित हुए सञ्चित कर्मों का तो 'तत्त्वज्ञान' से ही नाश हो गया होता है। एवञ्च सञ्चित और क्रियमाण कर्मों के बन्धन से मुक्त हुआ वह जीवन्मुक्त कहलाता है। और चक्रभ्रमिन्याय से प्रारब्ध फल भोगार्थ तब तक शरीर धारण किये रहता है, जब तक उनको भोगता है। अतएव कहा गया है—'तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः'। और भोग समाप्त होने पर जब शरीरपात होता है, तब विदेह मुक्ति होती है। ऐसी विदेह मुक्ति प्राप्त करने वाले योगी के प्राण 'परमात्मा' में ही यानी अपने स्वरूप में ही विलीन हो जाते हैं, वे अन्यत्र इधर-उधर नहीं जाते। अतएव कहा गया है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति।

इस अपवर्ग प्राप्ति के मार्ग में यौगिक साधना के चमत्कार भरे पड़े हैं। परन्तु यह योगमार्ग सर्वसाध्य नहीं है। कुछ विरले ही भाग्यवान् होते हैं जो इस योगमार्ग के पथिक बनने की योग्यता रखते हैं। अतः शास्त्रकारों ने सर्वसाधारण के उपयुक्त एक अन्य मार्ग भी अपवर्गप्राप्ति का बताया है। प्रत्येक मनुष्य त्रिविध कर्मों के बन्धनों से बंधा हुआ है। वे तीन कर्म 'सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण' नाम से प्रसिद्ध हैं। मुमुक्षु को चाहिये कि वह सर्वप्रथम 'काम्य कर्मों' का परित्याग कर 'क्रियमाण कर्मों' का द्वार बन्द कर दे। किन्तु 'नित्य नैमित्तिक, और निष्काम कर्मों' का सर्वदा अनुष्ठान करता रहे। ऐसा करने पर नवीन धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) का संचय होना अवरुद्ध (बन्द) हो जाता है। साथ ही साथ शास्त्र का अध्ययन कर पदार्थों का तत्त्वज्ञान (यथार्थ स्वरूप ज्ञान) प्राप्त करता रहे, शास्त्रपद्धति के अनुसार आत्मस्वरूप के परिज्ञानार्थ उसका चिन्तन-मनन, निदिध्यासन, ध्यान करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। इस रीति से निरन्तर और दीर्घकाल तक प्रयत्न करते रहने पर किसी समय आत्मसाक्षात्कार अवश्य होगा। उसके होते ही सञ्चित कर्मों की महान् राशि, पूर्णतया नष्ट हो जायगी। एवञ्च क्रियमाण को वन्ध्य और सञ्चित को नष्ट कर देने से वह जीवन्मुक्त हो जाता है और वर्तमान शरीर के पात होने की प्रतीक्षा करता हुआ जीवन यापन करता रहता है। प्रारब्ध का भोग समाप्त होते ही उसका शरीर स्वयं ही प्राणशून्य हो जाता है अर्थात् उसके प्राण, परमात्मा में (स्वरूप में) ही विलीन हो जाते हैं। तब किसी प्रकार के भोक्तव्य कर्म के शेष न रह जाने से उसे विदेह मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् 'एकविंशति दुःखों' की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप 'अपवर्ग' की प्राप्ति होती है।

इससे यह बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में रहता हुआ गृहस्थ व्यक्ति भी अपवर्ग को पा सकता है। जैसे कि महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम, ज्ञानेश्वर, दासोपन्त आदि तथा अन्यत्र भी अवतीर्ण हुए अनेक गृहस्थ सन्त उल्लेखनीय हैं। किसी ने कहा भी है—

'न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥'

अर्थात् न्यायपूर्वक धनोपार्जन, तथा तत्त्वज्ञान में निष्ठ, अतिथिसत्कार एवं अपने मृत पितरों का श्राद्ध करने वाला सत्यवादी गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है ।

उक्त द्विविध मार्गों में से ग्रन्थकार ने प्रथम मार्ग को ही बताया है । यद्यपि वह कठिन है तथापि धैर्य से उस पर चलकर मोक्ष प्राप्ति शीघ्र और सरलता से होती है ।

दूसरा मार्ग अनेक विघ्न-वाधाओं से आकीर्ण तथा बहुत लम्वा है । इसके सहारे मोक्ष प्राप्ति बहुत विलम्ब से होने की संभावना है । अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

'बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् माम्प्रपद्यते' ।

ज्ञानी गृहस्थ पुरुष अनेक जन्मों के बाद मुझे प्राप्त कर पाता है । किन्तु भगवदनुग्रह होने पर क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं है । उस भगवदनुग्रह प्राप्ति का राजमार्ग श्री 'एकनाथ' सम्प्रदाय अर्थात् 'भागवत्' सम्प्रदाय में बताया गया है जिसके सहारे सहस्त्रों ने भगवदनुग्रह प्राप्त कर मुक्ति को अनायास ही प्राप्त किया है । किन्तु उस मोक्ष का स्वरूप क्या है ? यह जिज्ञासा होती है। अतः उसके विषय में भी किंचिन्मात्र चर्चा कर लेना अनुपयुक्त न होगा ।

मोक्ष के स्वरूप के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के मतः—

जिस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के विषय में भिन्न मत हैं उसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप के विषय में भी भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं ।

(१) **नैयायिकों का मोक्ष**—नैयायिक तो 'दुःख की अत्यन्त निवृत्ति' को **'मोक्ष'** कहते हैं । नैयायिकों ने मोक्ष में नित्यसुख की अभिव्यक्ति को नहीं माना है ।

(२) **वैशेषिकों का मोक्ष**—वैशेषिकों के मत में 'आत्मा' के ज्ञानादि नौ विशेष गुणों का उच्छेद हो जाना ही 'मोक्ष' है । निष्कर्ष यह है कि न्याय और वैशेषिक के मत से मोक्षदशा में 'आनन्द' या 'सुख' का अनुभव नहीं होता है । न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचार्य श्रीधर ने 'ज्ञान-कर्मसमुच्चय' को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है ।

(३) **वेदान्तियों का मोक्ष**—अद्वैतवेदान्ती तो 'मोक्ष' में 'दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के अतिरिक्त 'नित्य सुख' की अभिव्यक्ति भी मानते हैं। इनका कहना है कि 'जगत्' की 'परिणामी उपादान कारण रूप अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक अविद्या' की निवृत्ति होने से तदुपलक्षित 'ब्रह्म' तो सर्वदैव सिद्ध है । उसके लिये कुछ प्रयत्न कर्तव्य नहीं है । कर्तव्य तो केवल 'अविद्यानिवृत्तिरूप उपलक्षण' की सिद्धि के उपाय का सम्पादन करना मात्र है। वह उपाय है—अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार, जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों से प्रकट होता है । क्योंकि 'आत्मा' तो 'नित्य, विभु और आनन्द' रूप है । संसार काल में देहादि

के सम्बन्ध के कारण 'नित्यसुख' की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु मोक्षावस्था में उसके स्वरूपभूत 'आनन्द' की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसलिये वह 'आनन्दीभवति' आनन्दमय हो जाता है।

(४) **एकदण्डी वेदान्तियों का मोक्ष**—इनके मत में 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक 'जीव-ब्रह्म' के अभेद साक्षात्कार से अनादि अविद्या के निवृत्त हो जाने पर समस्त उपाधियों से रहित हुए शुद्ध आत्मा की स्वप्रकाशज्ञानसुखरूप से जो स्थिति है। वही **मोक्ष** है।

(५) **त्रिदण्डी वेदान्तियों का मोक्ष**—इनके मत में 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवचन, 'जीव-ब्रह्म' का अभेद प्रतिपादन करते हैं और 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्, द्वासुपर्णा सयुजा सखाया, द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यादि श्रुति वचन, उस जीव-ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हैं। ऐसी स्थिति में जीव-ब्रह्म का यदि केवल 'अभेद' मानते हैं तो भेद बोधक वचन असंगत होंगे। और यदि जीव-ब्रह्म का भेद ही मानते हैं तो पूर्वोक्त अभेदबोधक वचन असंगत होंगे। दोनों प्रकार के वाक्यों के प्रामाण्य के लिये जीव-ब्रह्म का भेद और अभेद दोनों मानने चाहिये। अतः 'आत्मज्ञान' और 'कर्म' दोनों का अनुष्ठान जब किया जाय तभी ज्ञान-कर्म के समुच्चय के अभ्यास से कारणरूप ब्रह्म में इस कार्यरूप जीव का कर्म वासना सहित भेद अंश की निवृत्तिरूप लय होगा, तभी इस जीवात्मा का मोक्ष होगा।

(६) **वैष्णव भक्तिवादी वेदान्तियों का मोक्ष**—इनके मत में भगवत्सान्निध्य का लाभ होना ही **'मोक्ष'** है। इस प्रकार का भगवत्सान्निध्य भगवच्छरणागतिरूप भक्ति से ही प्राप्त होता है।

(७) **वैष्णवों का मोक्ष**—वैष्णवों के मत से नारदपाञ्चरात्र में प्रतिपादित वैष्णव धर्म के अनुष्ठान द्वारा विष्णु भगवान् के प्रसाद से पुनरावृत्ति रहित विष्णु-लोक (वैकुण्ठ) में वैष्णवों का जो गमन है, वही **मोक्ष** है।

(८) **रामानुजों का मोक्ष**—इनके मत में वासुदेव में रहने वाला जो समस्त जगत् का कर्तृत्व धर्म है, उसको छोड़कर उस भगवान् के अन्य जितने भी सर्वज्ञत्वादि कल्याण गुण हैं, उन समस्त गुणों की प्राप्तिपूर्वक इस जीवात्मा को उस भगवान् के यथार्थ स्वरूप का जो अनुभव होता है, वही **मोक्ष** है।

(९) **माध्व वैष्णवों का मोक्ष**—इनके मत में 'जगत्कर्तृत्व, लक्ष्मी, श्रीवत्स' इन तीनों को छोड़कर विष्णु भगवान् के जितने भी अन्य निरतिशय आनन्दादि धर्म हैं। उन धर्मों के सदृश धर्मों की प्राप्ति होना ही **मोक्ष** है। वह मोक्ष भी 'सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य' भेद से चार प्रकार का माना जाता है। विष्णु भगवान् के वैकुण्ठ लोक की प्राप्ति होना 'सालोक्य मुक्ति' है। वैकुण्ठ लोक में भी विष्णु भगवान्

की समीपता प्राप्त होना 'सामीप्य मुक्ति' है। समीपता की प्राप्ति होने पर भी विष्णु-भगवान् के समान रूप की प्राप्ति होना 'सारूप्य मुक्ति' है। और विष्णु भगवान् के स्वरूप में इस जीवात्मा का विलीन हो जाना 'सायुज्य मुक्ति' है।

(१०) **वल्लभ वैष्णवों का मोक्ष**—इनके मत में 'गोलोक' में दो भुजा वाले कृष्ण भगवान् के साथ उनके अंशरूप जीव को रासलीला का अनुभव होना ही **मोक्ष** है।

(११) **पाशुपत दर्शन में मोक्ष**—इनके मत में पाशुपतशास्त्रविहित पूजनार्चनादि पाशुपत धर्मों के अनुष्ठान से जीवरूप पशु के 'बन्धरूप पाश' की निवृत्ति होने पर इस 'जीव' का पशुपति के समीप पुनरावृत्ति रहित जो गमन है, वही **'मोक्ष'** है।

(१२) **सांख्य और योगदर्शन में मोक्ष**—पातञ्जल योग के मत से 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश'–यह पञ्चक्लेशरूप, तथा जाति, आयु, भोगरूप जितना भी परतन्त्रतारूप 'बन्ध' है उस 'बन्ध' की अष्टाङ्गयोग के द्वारा निवृत्ति होने पर जो 'स्वतन्त्रता' की प्राप्ति होती है, वही **'मोक्ष'** है। अर्थात् आत्मा (पुरुष) का अपने स्वरूप में स्थित रहना ही मोक्ष है। वह 'विवेकज्ञान' से साध्य होता है।

(१३) **मीमांसा दर्शन में मोक्ष**—इनके मत के अनुसार 'नित्य सुखाभिव्यक्ति' अर्थात् प्रपञ्च-सम्बन्धविलय ही 'मोक्ष' है। उसकी प्राप्ति वेदविहित कर्मों का श्रद्धापूर्वक यथाविधि अनुष्ठान करने से ही होती है। अर्थात् 'ज्ञान-कर्म' के समुच्चय से निर्मल हुए अन्तःकरण में नित्यज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। तदनन्तर विषय विशेष की अपेक्षा से रहित हुए उस ज्ञान से नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।

(१४) **प्राभाकर मीमांसक के मत में मोक्ष**—प्रभाकर (गुरु) के मत से 'ज्ञानादि सकल विशेष गुणों का विलय हो जाने पर 'आत्मा' की अपने स्वरूप में जो स्थिति है, वही **'मोक्ष'** है। श्री शालिकनाथ ने कहा भी है —'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेष-धर्माधर्म-परिक्षय-निबन्धनो मोक्षः'—(प्र० पं०) अर्थात् आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से मूल सहित धर्माधर्म का क्षय होने से देहेन्द्रियों के सम्बन्ध का जो अत्यन्त उच्छेद है वही मोक्ष है।

(१५) **मुरारिमिश्र के मत में मुक्ति**—इनके मत में 'दुःखात्यन्ताभाव' ही **मोक्ष** है।

(१६) **वैयाकरणों का मोक्ष**—इनके मत में (१) परा, (२) पश्यन्ती, (३) मध्यमा, (४) वैखरी—इन चार प्रकार की वाणियों में जो 'परा' नाम की वाणी है, वही 'परब्रह्म' रूप है। उस परब्रह्मरूप 'परा' वाणी का दर्शन होना ही **मोक्ष** है।

(१७) **हिरण्यगर्भों का मोक्ष**—इनके मत में पञ्चाग्नि-विद्या की उपासना से अर्चिरादिमार्ग से पुनरावृत्तिरहित ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति ही **मोक्ष** है।

(१८) **रसेश्वरवादियों का मोक्ष**—इनके मत में 'पारदरस' के पान करने से जरा-मरणरहित हुए देह की स्थिरता रूप जो जीवन्मुक्ति है, वही **मोक्ष** है।

(१९) **शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध का मोक्ष**—इनके मत में 'सर्वं शून्यम्'—अर्थात् समस्त जगत् 'शून्य' ही है। उस जगत् की 'सत्' रूप में जो प्रतीति होती है, वह केवल 'भ्रम' है। वस्तुतः कोई भी 'वस्तु', सत् नहीं है। इस प्रकार शून्य भावना के परिपाक पर्यन्त जो शून्यरूप 'आत्मा' का तत्त्वज्ञान है, उससे जो शून्यभावना की प्राप्ति होती है, वही **मोक्ष** है।

(२०) **विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध का मोक्ष**—इसके मत में दो प्रकार का विज्ञान है—(१) आलयविज्ञान, और (२) प्रवृत्तिविज्ञान। ये दोनों प्रकार के विज्ञान क्षणिक होते हैं। उनमें से घट-पटादि विषयाकार जो 'अयं घटः', 'अयं पटः' इत्यादि विज्ञान है, उसे 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहते हैं, और उस 'प्रवृत्तिविज्ञान' का उपादान कारण स्वरूप तथा 'घट, पटादि पदार्थों' को विषय न करने वाला 'अहं', 'अहं' इत्याकारक जो विज्ञान है, उसे 'आलयविज्ञान' कहते हैं। उस 'आलयविज्ञान' के अतिरिक्त समस्त पदार्थ तुच्छ हैं। संसारकाल में वर्तमान जो 'प्रवृत्तिविज्ञान' है, उसके उच्छेद होने पर 'केवल आलयविज्ञान' की जो 'धारा' चलती रहती है उसी को ये लोग '**मोक्ष**' कहते हैं।

(२१) **जैनदार्शनिकों के मत में मोक्ष**—इनके मत में जैसे पींजड़े के नष्ट होने पर स्वतन्त्र हुआ शुक पक्षी आकाश में संचार करता रहता है, उसी प्रकार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को आवृत करने वाले अष्टविध कर्मरूप बन्ध का, तप आदि के द्वारा तथा एकमात्र आत्माकार समाधि के द्वारा ध्वंस हो जाने पर सुखैकरूप एवं निरावरणज्ञानरूप आत्मा का स्वतन्त्र होकर निरन्तर जो ऊर्ध्वगमन अथवा अलौकिक आकाश में जो गमन है, वही '**मोक्ष**' है।

(२२) **देहात्मवादी चार्वाक के मत में मोक्ष**—इसके मत में विधि-निषेध से रहित होकर जो स्वतन्त्रता है, वही '**मोक्ष**' है। अथवा इस शरीररूपी आत्मा का जो 'मरण' है, वही '**मोक्ष**' है।

(२३) **शैवदर्शन के मत में मोक्ष** —इनके अनुसार 'जीव' (आत्मा) को 'शिवत्व' की प्राप्ति अर्थात् 'जीव-शिवैक्य' ही 'मोक्ष' है।

(२४) **शाक्तदर्शन के मत में मोक्ष**—इसके अनुसार भगवान् की भगवत्ता की भी मूलभूत आद्या शक्ति जगज्जननी राजराजेश्वरी माँ के आनन्दमय अङ्क की प्राप्ति ही '**मोक्ष**' है।

इति प्रमेयपदार्थः समाप्तः।

संशयनिरूपणम्

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः। स च त्रिविधः। विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः, असाधारणधर्मजश्चेति। तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति। एकस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये स्थाणुत्वनिश्चायकं वक्रकोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकञ्च शिरःपाण्यादिकं विशेषमपश्यतः स्थाणुपुरुषयोः समानधर्ममूर्ध्वत्वादिकञ्च पश्यतः पुरुषस्य भवति संशयः 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति।

द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः। स यथा 'शब्दो नित्य उत अनित्य' इति। तथा ह्येको ब्रूते शब्दो नित्य इति, अपरो ब्रूते शब्दोऽनित्य इति। तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो विशेषमपश्यतो भवति संशयः 'किमयं शब्दो नित्य उतानित्य' इति।

तृतीयोऽसाधारणधर्मदर्शनजस्तु संशयो यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रासाधारणेन गन्धवत्त्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वानित्यत्वसंशयः। तथाहि 'सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्त्वेन योगाद् भूः किमनित्या, उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या' इति संशयः।

इति संशयपदार्थः समाप्तः।

एकस्मिन्निति। एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों (अर्थों) का जो 'अवमर्श' (बोध) होता है, उसे 'संशय' कहते हैं। और वह तीन प्रकार का होता है—(१) 'समानधर्मदर्शनज' अर्थात् विशेष का दर्शन न होने पर समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न 'संशय' (२) 'विप्रतिपत्तिज' अर्थात् विशेष का दर्शन न होने पर विप्रतिपत्ति (विरुद्धार्थप्रतिपादक वचनों) से उत्पन्न 'संशय', और (३) 'असाधारणधर्मज' अर्थात् विशेष का दर्शन न होने पर असाधारण धर्म के दर्शन से उत्पन्न 'संशय'। तत्रेति। उनमें से प्रथम अर्थात् विशेष का दर्शन न होने पर समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय का उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं। यथेति। जैसे—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति, अर्थात् यह स्थाणु है या पुरुष?—इस ज्ञान में सामने दीखने वाले एक ही पदार्थ (द्रव्य) में 'स्थाणुत्व' का निश्चय कराने वाला जो टेढ़ा-मेढ़ा कोटर (खोकला) आदि है अथवा 'पुरुषत्व' का निश्चय कराने वाले शिर, हाथ आदि 'विशेष' (अवयवों) को न देखकर सामने दीखने वाले पदार्थ में स्थाणु और पुरुष के 'समान-धर्म—ऊँचाई' (ऊर्ध्वत्व) आदि को ही देखने वाले पुरुष के मन में उस पदार्थ के प्रति इस प्रकार 'संशय' पैदा हो जाता है कि 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा'? 'क्या यह स्थाणु है अथवा पुरुष'?

द्वितीयस्त्विति । द्वितीय प्रकार का संशय तो तब होता है कि जब विशेष का दर्शन न होने पर विरुद्धार्थप्रतिपादक वाक्यों को सुना जाता है। द्वितीय प्रकार के संशय का उदाहरण, जैसे—'शब्द, नित्य है अथवा अनित्य' क्योंकि एक (वादी यानी वैयाकरण) कहता है कि 'शब्द नित्य है, और दूसरा (प्रतिवादी नैयायिक) कहता है कि 'शब्द अनित्य है'। उन वादी-प्रतिवादी दोनों के द्वारा कहे गये 'विरुद्धार्थप्रतिपादक वाक्यों को सुनकर 'शब्द' के विशेष (नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक हेतु) को न देख सकने वाले मध्यस्थ पुरुष को संशय हो जाता है कि 'क्या यह शब्द नित्य है या अनित्य है ?'

तृतीय इति । तृतीय प्रकार का संशय (विशेष का दर्शन न होने पर) असाधारण धर्म के दर्शन से उत्पन्न होता है। जैसे—नित्य और अनित्य द्रव्यों में न रहने वाले, केवल पृथिवी के असाधारण धर्म 'गन्धवत्त्व' को देखकर, नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक विशेष धर्म को न जानने वाले पुरुष को पृथिवी के विषय में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व का संशय हो जाता है। **तथा हीति ।** उसी को दिखाते हैं कि आकाशादि समस्त नित्य पदार्थों में न रहने वाले 'गन्धवत्त्व' धर्म के योग से 'क्या पृथिवी अनित्य है' अथवा 'जल, अग्नि' समस्त अनित्य पदार्थों में न रहने वाले उसी गन्धवत्त्व धर्म के योग से पृथिवी नित्य है'—यह संशय होता है। यह संशय—'गन्धवत्त्व' रूप असाधारण धर्म के दर्शन से होता है।

माधुरी

ग्रन्थकार ने **'प्रमेयों'** का निरूपण करना जब आरम्भ किया था, तब **'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्'**—सूत्र के द्वारा प्रतिपादित आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ आदि द्वादश प्रमयों का उल्लेख किया था। उक्त न्यायदर्शन के षोडश पदार्थों में से 'प्रमाण' और 'प्रमेय' इन दो पदार्थों का निरूपण कर दिया गया। अब तृतीय पदार्थ 'संशय' का निरूपण कर रहे हैं।

'संशय' पदार्थ का लक्षण—**'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धभावाभावप्रकारकज्ञानं संशयः'**—अर्थात् एक ही धर्मी में परस्पर विरुद्ध भावाभाव को विषय करने वाले ज्ञान को **'संशय'** कहते हैं। जैसे—मन्द अन्धकार में स्थित दिखाई देने वाले किसी 'स्थाणु' के विषय में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान, पुरोवर्ति स्थाणुरूप एक धर्मी में 'स्थाणुत्व' को और 'स्थाणुत्व के अभाव' को तथा 'पुरुषत्व' को और 'पुरुषत्व के अभाव' को विषय कर रहा है। यहाँ 'स्थाणुत्व' तथा 'स्थाणुत्व का अभाव'—ये दोनों, तथा 'पुरुषत्व' एवं 'पुरुषत्व का अभाव' ये दोनों परस्पर विरोधी भी हैं। अर्थात् दोनों एक अधिकरण में नहीं रह सकते। इसलिये एक धर्मी में विरुद्ध भावाभावप्रकारक ज्ञान होने से उसे 'संशय' कहा जाता है।

संशय के भेद—

उक्त संशय (१) साधारणधर्म-ज्ञानजन्य, (२) असाधारणधर्म-ज्ञान जन्य और (३) विप्रतिवाक्य-ज्ञानजन्य—भेद से तीन प्रकार का होता है। उनमें से साधारण-धर्म-ज्ञानजन्य संशय में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'—यह ज्ञान तो, 'स्थाणु' में तथा 'पुरुष' में रहने वाला जो 'उच्चैस्तरत्व' रूप साधारण धर्म है, उसके ज्ञान से जन्य होने के कारण, इस ज्ञान को 'साधारणधर्म-ज्ञानजन्य संशय कहा गया है।

अब दूसरे प्रकार का संशय इस प्रकार होता है—'शब्दत्व' धर्म, 'आकाशादिक' नित्य पदार्थों में भी नहीं रहता है तथा 'घटादिक' अनित्य पदार्थों में भी नहीं रहता है, वह तो केवल 'शब्द' में ही रहता है। इस प्रकार के ज्ञान के बाद पुरुष को 'शब्दः नित्यो न वा' इस प्रकार का 'शब्द' में 'नित्यत्व' तथा 'नित्यत्वाभाव' प्रकारकसंशय होता है। यह संशय, उस 'शब्दत्वरूप असाधारण धर्म' के ज्ञान से जन्य होता है। इसलिये इस 'संशय' को असाधारणधर्म-ज्ञानजन्य संशय कहा गया है।

अब विप्रत्ति-वाक्य-ज्ञानजन्य संशय तब होता है जब एक ही पदार्थ के विषय में विरुद्ध मत सामने आते हैं। जैसे—मीमांसक लोग 'प्रमात्व' को स्वतोग्राह्य कहते हैं और नैयायिक लोग 'प्रमात्व' को परतोग्राह्य बताते हैं। दोनों प्रकार के मतों (वचनों) को सुनकर पुरुष को 'प्रमात्वं स्वतोग्राह्यं परतो वा ग्राह्यम्'—इस प्रकार का जो संशय होता है, उसे 'विप्रतिवाक्य-ज्ञानजन्यसंशय' कहते हैं। यह विप्रतिपत्तिजन्य संशय ही 'कथा' (विचार) का प्रवर्तक होता है।

उक्त संशय पुनः (१) **'बहिर्विषयक'** और (२) **'अन्तर्विषयक'** भेद से दो प्रकार का होता है। बाह्य पदार्थ को विषय करने वाले संशय ज्ञान को 'बहिर्विषयक' कहा जाता है। और अन्तः पदार्थ को विषय करने वाले संशय ज्ञान को 'अन्तर्विषयक' कहा जाता है। इनमें से 'बहिर्विषयक संशय' भी (१) **'दृश्यमानधर्मिक'** और (२) **'अदृश्यमानधर्मिक'** भेद से पुनः दो प्रकार का होता है। जहाँ 'उच्चत्व-विशिष्ट धर्मी पदार्थ को देखकर 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार का जो संशय होता है, उसे 'दृश्यमानधर्मिक' कहा जाता है। और वन में वृक्ष की शाखादिकों से आवृत जो 'गोपिण्ड' अथवा 'गवयपिण्ड' है, उसके 'शृङ्ग' मात्र के दर्शन से पुरुष को 'अयं गौर्गवयो वा' इस प्रकार का जो संशय होता है, उसे 'अदृश्यमानधर्मिक' कहा जाता है। एवं जब पुरुष को अपने ज्ञान आदि में ही जो सम्यक्त्व-असम्यक्त्व का संशय होता है, उसे 'अन्तर्विषयक' कहते हैं। संशय में सर्वदा 'विशेष' का अदर्शन तथा दोनों कोटियों का स्मरण, कारण होता है, उसके बिना कोई भी संशय नहीं होता है। जिसके ज्ञान से संशय की निवृत्ति होती है उसे 'विशेष' कहते हैं। जैसे—स्थाणुत्व का निश्चय कराने वाला 'वक्रकोटरादिमत्त्व' है, तथा 'पुरुषत्व' का निश्चय कराने वाला 'कर-चरणादिमत्त्व' है। इस 'विशेष' का ज्ञान हो जाने पर 'संशय' नहीं रहता है।

इसलिये 'विशेष का अदर्शन' भी संशय की उत्पत्ति में कारण होता है। तथा भावाभाव रूप विरुद्ध कोटियों का स्मरण भी 'संशयोत्पत्ति' में कारण होता है।

संशय, समुच्चय और सम्भावना की भिन्नता—

शङ्का—'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थविमर्श' को संशय कहा गया है। उसी तरह 'समुच्चय' (समूहालम्बन निश्चय) में भी ठीक वही होता है। तब संशय और समुच्चय में क्या अन्तर है?

समा०—संशय में जिन धर्मों का ज्ञान होता है, उनमें परस्पर विरोध का ज्ञान, संशय होने के पूर्व हुआ करता है। परन्तु समुच्चय के पूर्व वैसा ज्ञान नहीं होता है। एवं संशय में जिन विरुद्ध धर्मों का ज्ञान होता है, उनमें 'कोटिता' नामकी एक नवीन 'विषयता' हुआ करती है, उस विषयता का आश्रय वे धर्म होते हैं, इसलिये उन धर्मों को 'कोटि' कहा जाता है। परन्तु 'समुच्चय' में इस प्रकार की कोई 'विषयता' नहीं हुआ करती। और संशय में 'प्रकारताद्वय' से निरूपित 'एक विशेष्यता' होती है, किन्तु 'समुच्चय' में 'प्रकारता' के भेद से 'विशेष्यता' का भेद अवश्य होता है। इत्यादि अनेक कारणों से 'संशय' और 'समुच्चय' में अन्तर (भेद) समझना चाहिये।

शंका—संशय और संभावना में क्या अन्तर है?

समा०—संशय ही सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार का होता है अभी तक जिन संशयों का वर्णन किया गया है, वे 'सामान्य संशय' के अन्तर्गत हैं। और जो 'विशेष संशय' है, उसी को 'संभावना' कहते हैं। इस संभावनात्मक संशय में 'एककोटि उत्कट' रहती है। अतः 'उत्कटैककोटिक संशयः संभावना'—यह संभावना का लक्षण किया जाता है। इस संभावनात्मक संशय में एक कोटि की संभावना रहती है। अर्थात् एक कोटि की ओर झुकाव रहता है। और सामान्य संशय 'उभयकोटिक' होता है उसमें किसी कोटि की ओर झुकाव नहीं रहता।

इति संशयपदार्थः समाप्तः।

प्रयोजननिरूपणम्

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी । तदर्था हि प्रवृत्तिः सर्वस्य ।

इति प्रयोजनपदार्थः समाप्तः ।

येनेति । प्रयोजन शब्द की व्युत्पत्ति—'प्रयुज्यते-प्रवर्त्यते अनेन' तत् प्रयोजनम्—के अनुसार 'प्रयोजन' का अर्थ होगा 'प्रवर्तक' । अतः प्रयोजन का लक्षण ग्रन्थकार ने किया है कि 'जिससे प्रयुक्त (प्रेरित) होकर मनुष्य, किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे 'प्रयोजन' कहा जाता है । उस प्रयोजन का स्वरूप मुख्यतः 'सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश' ही है । क्योंकि सभी की प्रवृत्ति उसी के लिये होती रहती है । अतएव कहा जाता है कि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।'

माधुरी

न्याय दर्शन के षोडश पदार्थों में 'संशय' पदार्थ के अनन्तर 'प्रयोजन' पदार्थ का स्थान क्रमप्राप्त है । अतः ग्रन्थकार ने संशय के बाद 'प्रयोजन' पदार्थ का निरूपण किया है ।

न्यायसूत्रकार ने 'प्रयोजन' का लक्षण—**'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्'**—(न्या. सू. १।१।२४)—किया है । इस पर भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं—

'येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि, सर्वाश्च विद्याः व्याप्ताः, तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते ।'

यह 'प्रयोजन' मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का होता है । उनमें सुख और दुःखाभाव का नाम 'मुख्य प्रयोजन' है । और उस मुख्य प्रयोजन के साधनों का नाम 'गौण प्रयोजन' है ।

इति प्रयोजनपदार्थः समाप्तः ।

दृष्टान्तनिरूपणम्

वादिप्रतिवादिनोः संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः। स द्विविधः। एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्त्वस्य हेतोर्महानसम्। द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः। यथा तस्यैव महाह्रद इति।

इति दृष्टान्तपदार्थः समाप्तः।

वादि-प्रतिवादिनोरिति। वादी और प्रतिवादी दोनों के ऐकमत्य (सम्प्रतिपत्ति) के विषयभूत अर्थ को 'दृष्टान्त' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिसके विषय में वादी और प्रतिवादी का मतभेद न हो ऐसे विषयभूत अर्थ को दृष्टान्त कहा जा सकता है। वह दो प्रकार का होता है—(१) **साधर्म्य दृष्टान्त**, जैसे—'धूमवत्त्व' हेतु का 'महानस' है। और (२) **'वैधर्म्यदृष्टान्त'** जैसे—उसी धूमवत्त्व हेतु का 'महाह्रद' है।

माधुरी

साधर्म्य दृष्टान्त को ही 'अन्वयी दृष्टान्त' तथा वैधर्म्य दृष्टान्त को 'व्यतिरेकी दृष्टान्त' भी कहते हैं। पक्ष के 'समान धर्मा' दृष्टान्त को साधर्म्य दृष्टान्त कहते हैं। इस दृष्टान्त को देने पर 'हेतु' में 'साध्य' के सहचार का ज्ञान होता है। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् यथा महानसम्'—यह 'पर्वत' पक्ष है, उसमें 'धूम' से 'वह्नि'-साध्यक अनुमान किया गया है। इस अनुमान में 'महानस' का दृष्टान्त दिया गया है। यह महानस 'पर्वत' पक्ष का समानधर्मा दृष्टान्त है। क्योंकि 'धूम' और 'अग्नि' अर्थात् हेतु और साध्य पक्षभूत 'पर्वत' के भी धर्म हैं और दृष्टान्तरूप महानस के भी धर्म हैं। महानस में मनुष्य को धूम में वह्नि के सहचार का ज्ञान होता है। और पक्ष के विधर्मी दृष्टान्त को वैधर्म्यदृष्टान्त कहते हैं। यहाँ पर साध्याभाव में हेत्वभाव के सहचार का ज्ञान होता है। जैसे—पर्वत (पक्ष) में धूम (हेतु) से वह्निसाध्यकअनुमान करते समय 'महाह्रद' को दृष्टान्त के रूप में रखा जाता है। यह 'महाह्रद', पर्वत-पक्ष का विधर्मी है। क्योंकि पर्वत-पक्ष में धूम और वह्नि हैं, किन्तु महाह्रद में दोनों का अभाव है। वह्न्यभाव में धूमाभाव के सहचार का ज्ञान 'महाह्रद' में होता है।

इति दृष्टान्तपदार्थः समाप्तः।

सिद्धान्तनिरूपणम्

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्धा। सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगम-सिद्धान्तभेदात्। तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो यथा धर्मिमात्र-सद्भावः। द्वितीयो यथा नैयायिकस्य मते मनस इन्द्रियत्वम्। तद्धि समानतन्त्रे वैशेषिके सिद्धम्। तृतीयो यथा क्षित्यादिकर्तृत्वसिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्। चतुर्थो यथा जैमिनीयस्य नित्यानित्यविचारो यथा भवतु, अस्तु 'तावच्छब्दो गुण' इति।

इति सिद्धान्तपदार्थः समाप्तः।

प्रामाणिकत्वेनेति। जिस पदार्थ को (अर्थ को) प्रामाणिकरूप से स्वीकार किया जाता है, उस अर्थ को 'सिद्धान्त' कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है—(१) **सर्वतन्त्रसिद्धान्त**, (२) **प्रतितन्त्रसिद्धान्त**, (३) **अधिकरणसिद्धान्त** और (४) **अभ्युपगमसिद्धान्त**। इनमें से सर्वतन्त्रसिद्धान्त उसे कहते हैं—जो सिद्धान्त सभी शास्त्रों को मान्य हो। यहाँ 'तन्त्र' शब्द का अर्थ 'शास्त्र' है। सर्वतन्त्रसिद्धान्त का उदाहरण, जैसे—धर्मी मात्र की अर्थात् घट-पट आदि की सत्ता का स्वीकार करना। यानी धर्मी की स्वरूप सत्ता को मानना। तथा 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' उसे कहते हैं—जो किसी विशेष शास्त्र में और उसके अपने समान तन्त्र में माना जाय, किन्तु अन्य शास्त्रों में न माना जाय। जैसे—नैयायिक के मत में 'मन' का इन्द्रियत्व। उसे न्याय के समान तन्त्र वैशेषिक में भी माना गया है। तीसरा अधिकरणसिद्धान्त है, जो अधिकरणभूत (आधारभूत) ऐसी बात बताता हो, जिसकी सिद्धि हो जाने पर अन्य अनेक बातें स्वयं सिद्ध हो जाती हैं, जैसे—क्षित्यादि (पृथिवी आदि) के कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर, उस कर्त्ता की सर्वज्ञता स्वयं सिद्ध हो जाती है, क्योंकि पृथिवी आदि की रचना, उस सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। चतुर्थ अभ्युपगमसिद्धान्त यह है कि, जो अर्थ अपने मत से सिद्धान्तभूत न होने पर भी प्रयोजनवश कुछ समय के लिये सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। जैसे—मीमांसक लोग 'शब्द' को द्रव्य मानते हैं और उसे 'नित्य' कहते हैं, किन्तु नैयायिक लोग 'शब्द' को गुण मानते हैं और उसे 'अनित्य' कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में 'शब्द' की नित्यता या अनित्यता पर चर्चा करने के उद्देश्य से थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि 'शब्द' गुण ही है, जिससे उसकी नित्यता-अनित्यता पर विचार किया जा सके। एवं च इस प्रकार शब्द को मीमांसकों के द्वारा थोड़ी देर के लिये 'गुण' मान लिया जाना, यह 'अभ्युपगमसिद्धान्त' है।

माधुरी

अन्यान्य शास्त्रों की दृष्टि से अविरुद्ध और अपने शास्त्र में स्वीकृत जो सिद्धान्त होता है, उसे **'सर्वतन्त्रसिद्धान्त'** कहते हैं। जैसे घ्राण आदिकों में इन्द्रियत्व का स्वीकार, गन्ध आदिकों में घ्राणादि इन्द्रियों के विषयत्व का स्वीकार तथा पृथिवी आदिकों में भूतत्व का स्वीकार—ये सब सर्वतन्त्रसिद्धान्त के उदाहरण हैं। और जिस अर्थ को वादी-प्रतिवादी दोनों में से एक ने ही स्वीकार किया हो, दूसरे ने स्वीकार न किया हो, उस अर्थ को **'प्रतितन्त्रसिद्धान्त'** कहते हैं। जैसे—'मीमांसकों के मत में शब्द की नित्यता का स्वीकार'—यह प्रतितन्त्रसिद्धान्त का उदाहरण है। तथा जिस अर्थ की सिद्धि होने पर ही प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि होती है, उसे **अधिकरणसिद्धान्त** कहते हैं। जैसे द्वचणुकादिरूप कार्य को पक्ष बनाकर उसमें उपादानगोचर अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षाकृति वाले पुरुष के द्वारा जन्यत्व सिद्ध करने पर ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है, यह अधिकरणसिद्धान्त का उदाहरण है। और अपने शास्त्र में अनुक्त अर्थ को कुछ समय के लिये किसी प्रयोजन के उद्देश्य से स्वीकार कर लेना, **अभ्युपगम-सिद्धान्त** कहलाता है। जैसे—शब्द की नित्यता-अनित्यता के विचारार्थ शब्द को द्रव्य मानते हुए भी मीमांसक के द्वारा उसकी परीक्षा करने के लिये बिना प्रमाण के ही शब्द को कुछ समय के लिये 'गुण' मान लेना—यह अभ्युपगमसिद्धान्त का उदाहरण है।

इति सिद्धान्तपदार्थः समाप्तः।

अवयवनिरूपणम्

अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः। ते च प्रतिज्ञादयः पञ्च। तथा च न्यायसूत्रम्—

'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'[1]।

तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा, यथा पर्वतोऽयं वह्निमानिति। तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्त्वादिति वा। सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। यथा यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस इति। पक्षे लिङ्गोपसंहारवचनमुपनयः। यथा वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमिति, तथा चायमिति वा। पक्षे साध्योपसंहारवचनं निगमनम्। यथा तस्मादग्निमान् इति, तस्मात्तथेति वा। एते च प्रतिज्ञादयः पञ्चानुमानवाक्यस्यावयवा इवावयवा, न तु समवायिकारणं, शब्दस्याऽऽकाशसमवेतत्वादिति।

इत्यवयवपदार्थः समाप्तः।

अनुमानवाक्यस्येति। अनुमान वाक्य के एकदेश (अंश) को **अवयव** कहते हैं। उसके प्रतिज्ञा आदि पाँच प्रकार हैं। जैसा कि न्यायसूत्र में कहा है—

(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय, (५) निगमन— ये अवयव हैं।

प्रतिज्ञा—तत्रेति। उन पाँच अवयवों में से 'पक्ष' के साथ 'साध्य' के सम्बन्ध का प्रतिपादक जो वाक्य हो, उसे 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। इसी को ग्रन्थकार के शब्दों में ऐसा कह सकते हैं—साध्य-धर्म से विशिष्ट (युक्त) 'पक्ष' का प्रतिपादन करने वाला वचन 'प्रतिज्ञा' कहलाता है। जैसे—'अयं पर्वतो वह्निमान्'—यह पर्वत, वह्नि से युक्त है। इस वाक्य में **पर्वत**-'पक्ष' है, और **वह्नि**-'साध्य' है। यहाँ पर साध्यधर्म से विशिष्ट 'पक्ष' को 'पर्वतो वह्निमान्'—यह वाक्य बता रहा है, इसलिये उक्त वाक्य को **'प्रतिज्ञा-वाक्य'** कहा जाता है। 'प्रतिज्ञावाक्य' को सुनने से यह सूचना मिलती है कि वादी को 'पक्ष' में 'साध्य' का सम्बन्ध सिद्ध करना है।

हेतु—तृतीयान्तमिति। व्याप्ति आदि से विशेषित न हुए 'लिङ्ग' (शुद्धलिङ्ग) को बताने वाला तृतीया-विभक्त्यन्त अथवा पञ्चमी-विभक्त्यन्त वाक्य को **'हेतु'** कहते हैं। जैसे 'धूमवत्त्वेन या धूमवत्त्वात्' यह 'हेतु' है। अभिप्राय यह है—'अयं पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य के आगे कहा जाने वाला 'धूमवत्त्वेन' अथवा 'धूमवत्त्वात्'—यह

---

१. न्या० सू० १।१।३२।

वाक्य 'हेतु' शब्द से कहा जाता है। इस वाक्य से शुद्धलिङ्ग को बताया जा रहा है तथा यह वाक्य तृतीयान्त या पञ्चम्यन्त भी है, इसलिये यह 'हेतु-वाक्य' है। प्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' के बाद यह द्वितीय अवयव 'हेतु' के रूप में बताया गया है।

उदाहरण—सव्याप्तिकमिति। व्याप्तिसहित (व्याप्ति के साथ) दृष्टान्त के कथन को **'उदाहरण'** कहते हैं। अर्थात् 'हेतु' में 'साध्य' की अथवा 'साध्याभाव' में हेत्वभाव की रहने वाली व्याप्ति को किसी दृष्टान्त के द्वारा बताने वाला वाक्य 'उदाहरण' शब्द से कहा जाता है। जैसे—'यो यो धूमवान् सः सोऽग्निमान् यथा महानसम्', अथवा 'यो यो न अग्निमान् स स न धूमवान् यथा महाह्रदः'—यह वाक्य, पूर्वोक्त 'प्रतिज्ञा' और 'हेतु'—इन दो वाक्यों ('अयं पर्वतो वह्निमान्', 'धूमवत्त्वात्'—इन दो वाक्यों) के बाद कहा जाता है। ऊपर दो प्रकार से प्रयुक्त हुए दो वाक्यों में से प्रथम वाक्य में 'महानस' का दृष्टान्त देकर 'धूम' में 'अग्नि' की व्याप्ति बताई गई है। और द्वितीय वाक्य में 'महाह्रद' का दृष्टान्त देकर 'अग्नि के अभाव' में 'धूम के अभाव' की व्याप्ति बतायी गयी है।

उपनय—पक्षे लिङ्गेति। पक्ष में 'लिङ्ग' का उपसंहार करने वाले वाक्य (वचन) को 'उपनय' कहते हैं। अर्थात् जिस वाक्य के द्वारा 'पक्ष' के साथ 'साध्यव्याप्ति-विशिष्ट हेतु' के 'सम्बन्ध' को बताया जाता है, उस वाक्य को 'उपनय' कहते हैं। इस 'उपनय वाक्य' का प्रयोग 'तथा चायम्' अथवा 'साध्यव्याप्य-हेतुमान् अयम्' के रूप में 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'उदाहरण' वाक्यों का प्रयोग करने के बाद किया जाता है। यह 'उपनय वाक्य', अपने पूर्ववर्ती 'उदाहरण वाक्य' का अनुसरण किया करता है। अतः 'उदाहरण वाक्य' से यदि 'अन्वय-व्याप्ति' की प्रतीति होती हो तो 'उपनय वाक्य' से 'पक्ष' में 'साध्य' की 'अन्वय व्याप्ति से विशिष्ट हेतु' का ही बोध होगा। अतः उपनय वाक्य का आकार कभी 'तथा चायम्' और कभी 'न च नायं तथा' कहकर बताया जाता है।

निगमन—पक्षे साध्येति। 'पक्ष' में 'साध्य' का उपसंहार बताना ही **'निगमन'** है। अर्थात् जिस वाक्य के द्वारा 'उदाहरण' और 'उपनय' दोनों से बतायी गयी व्याप्ति के साथ और 'पक्षधर्मता' के साथ 'हेतु' के अबाधित साध्यकत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को बताते हुए उस हेतु के बल पर पक्ष की साध्यवत्ता का प्रतिपादन किया जाता है, उस वाक्य को 'निगमनवाक्य' कहते हैं। जैसे अनुमानवाक्य में अन्तिमवाक्य 'तस्माद वह्निमान्' है। इसमें 'तत्' पद से लक्षणा के द्वारा 'अबधित-साध्यक-असत्प्रतिपक्षित, साध्यव्याप्य, पक्षवृत्ति हेतु की प्रतीति होती है। निगमन वाक्य में 'उपनयवाक्य' से पक्षबोधक 'अयम्' पद की अनुवृत्ति की जाती है। यह सब कहने का परिणाम यह होता है कि अबाधितसाध्यक, असत्प्रतिपक्षित, साध्यव्याप्य, पक्षवृत्ति हेतु से ज्ञाप्य जो 'साध्य' है, उसके सम्बन्ध का ज्ञान 'पक्ष' में हो पाता है। एवंच यह निगमन वाक्य,

'पक्ष' में 'साध्य' का उपसंहार करने का साधन माना जाता है। इसलिये 'तस्माद् वह्निमान् या अग्निमान्' यह वाक्य अथवा 'तस्मात् तथा'—इसलिये (पर्वत) वैसा (अग्निमान्) है—यह वाक्य 'निगमन' शब्द से कहा जाता है।

एते चेति। ये प्रतिज्ञा आदि पाँचों वाक्य, अनुमान वाक्य के वास्तविक अवयव नहीं हैं, अपितु अवयव के समान होने से उनमें 'अवयव' शब्द का व्यवहार गौण रूप से किया जाता है। क्योंकि किसी का 'वास्तविक अवयव' वही होता है, जो उसका 'समवायिकारण' होता है। जैसे घट का समवायिकारण 'कपाल', उस 'घट' का वास्तविक अवयव कहलाता है। 'अनुमानवाक्य' तो 'शब्दरूप' है। और 'शब्द' तो 'आकाश' में समवेत होता है। इसलिये 'शब्द' का समवायिकारण 'आकाश' होगा। प्रतिज्ञा आदि वाक्य 'शब्द' के समवायिकारण नहीं हो सकते। इसलिये प्रतिज्ञा आदि पाँचों को जो अनुमानवाक्य का अवयव कहा जाता है, वह 'मुख्यवृत्ति' से नहीं कहा जा रहा है, अपितु 'गौण वृत्ति' से कहा जा रहा है। अर्थात् ये 'प्रतिज्ञा' आदि वाक्य, उस अनुमान—वाक्य के घटक हैं, इसलिये वे अवयव सदृश हैं। अतः उन्हें अनुमान वाक्य का 'अवयव' कहा गया है।

माधुरी

उक्त पाँच अवयवों में से 'हेतु' नाम का द्वितीय अवयव, (१) अज्ञातव्याप्तिरेक-व्याप्तिकहेतुबोधक, (२) अप्रतीतान्वयव्याप्तिकहेतुबोधक, (३) प्रतीतान्वयव्यतिरेक व्याप्तिकहेतुबोधक इन भेदों से तीन प्रकार का होता है।

तथा 'उदाहरण' नाम का तृतीय अवयव—(१) अन्वय-व्याप्तिबोधक, (२) व्यतिरेकव्याप्तिबोधक—इन भेदों से दो प्रकार का होता है।

तथा 'उपनय' नाम का चतुर्थ अवयव (१) अन्वयी, (२) व्यतिरेकी—इन भेदों से दो प्रकार का होता है।

पाँच और तीन अवयवों के प्रयोग—

१. **नैयायिकों** ने परार्थानुमान वाक्य के **पाँच** अवयव स्वीकार किये हैं।

२. **वैशेषिकों** ने भी परार्थानुमान वाक्य के **पाँच** ही अवयव स्वीकार किये हैं, परन्तु उनके नामों में भिन्नता है। जैसे—(क) प्रतिज्ञा, (ख) अपदेश, (ग) निदर्शन, (घ) अनुसन्धान, (ङ) प्रत्याम्नाय।

३. **भाट्ट मीमांसक** तथा **प्राभाकर मीमांसक** दोनों ने 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण', अथवा 'उदाहरण, उपनय, निगमन'—इस प्रकार से तीन ही अवयवों को माना है। क्योंकि 'प्रतिज्ञा' के द्वारा 'निगमन' और 'हेतु' के द्वारा 'उपनय' गतार्थ हो जाता है; इसलिये पांच अवयवों को मानने की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा 'पुनरुक्ति' दोष होगा।

४. **वेदान्तियों** ने भी परार्थानुमान के तीन ही अवयवों को ठीक मीमांसकों के तुल्य ही माना है। अर्थात् 'प्रतिज्ञा से उदाहरण' तक अथवा 'उदाहरण से निगमन' तक।

५. **सांख्यदार्शनिकों** ने भी 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण' इन तीन अवयवों को ही माना है।

६. **बौद्धदार्शनिकों** ने एक 'हेतु' नामक अवयव को अथवा आवश्यकता होने पर 'हेतु' और 'दृष्टान्त' दो अवयवों को ही माना है—ऐसा प्रमाणवार्तिक (१।२८) से प्रतीत होता है।

७. **जैनदार्शनिकों** ने अवयवों की कोई नियत संख्या नहीं मानी है। उन्होंने अधिकारी के भेद से प्रयोजनानुसार अवयवों की संख्या का भेद निश्चित किया है। वादिदेव नामक जैन आचार्य ने विशिष्ट अधिकारी के लिये केवल एक अवयव-'हेतु'-का ही प्रयोग करना पर्याप्त माना है। दूसरे प्रकार के अधिकारी के लिये दो अवयवों—'प्रतिज्ञा और हेतु'—का प्रयोग करना ही पर्याप्त बताया है। यहाँ तक दो अवयवों को मानने में जैन और बौद्ध दोनों साथी हैं, किन्तु जैनों ने अन्य प्रकार के अधिकारियों के लिये तीन अवयव, चार अवयव, पाँच अवयवों का प्रयोग करना भी बताया है।—ऐसा 'स्याद्वादमञ्जरी' से प्रतीत होता है।

इत्यवयवपदार्थः समाप्तः।

तर्कनिरूपणम्

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः। स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्ट-व्यापकप्रसञ्जनरूपः। यथा 'यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत्' इति।

स चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः। तथाहि 'पर्वतोऽयं साग्निः उतानग्निः' इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतानग्निरयमिति तदा तं प्रति 'यद्ययमनग्निर-भविष्यत् तदानग्नित्वादधूमोऽप्यभविष्यत्' इत्यधूमत्वप्रसञ्जनं क्रियते। स एष प्रसङ्गस्तर्क इत्युच्यते। अयं चानुमानस्य विषयशोधकः। प्रवर्तमानस्य धूमव-त्त्वलिङ्गकानुमानस्य विषयमग्निमनुजानाति। अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात्। अतोऽनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति।

अत्र कश्चिदाह, 'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति। तन्न। एककोटिनिश्चित-विषयत्वात् तर्कस्य।

इति तर्कपदार्थः समाप्तः।

तर्क इति। अनिष्ट प्रसङ्ग (अनिष्ट की प्राप्ति) को 'तर्क' करते हैं।

स चेति। जिन दो धर्मों में 'व्याप्य-व्यापकभाव' रहता है, उनमें एक 'व्याप्य' रहता है, और दूसरा 'व्यापक' रहता है। जिस 'धर्मी' में 'व्यापक' का होना इष्ट नहीं है, उस 'धर्मी' में 'व्याप्य' को स्वीकार करने से 'व्यापक' की आपत्ति होती है उसे 'तर्क' कहते हैं। अर्थात् व्याप्तियुक्त दो धर्मों में से 'व्याप्य' को स्वीकार करने पर अनिष्ट व्यापक की प्रसक्ति होती है, उसे तर्क कहते हैं। **यथेति**। जैसे—'यदि अत्र घटः अभविष्यत् तर्हि भूतलमिव अद्रक्ष्यत्'—यदि यहाँ 'घट' होता (सद्भाव रहता) तो भूतल की तरह दिखाई देता—यहाँ पर 'घट का सद्भाव' और 'घट का दर्शन'—इन दोनों में 'व्याप्य-व्यापकभाव' है। अर्थात् जिस पदार्थ का 'सद्भाव' (अस्तित्व) रहता है, उसका 'दर्शन' (दिखलाई पड़ना) अवश्य होता है'—यह व्याप्ति है। यहाँ पर 'सद्भाव' (अस्तित्व) होना 'व्याप्य' है, और 'दर्शन' (दिखाई देना) 'व्यापक' है। घटरहित भूतल (भूमि) रूप धर्मी में 'घट दर्शन' रूप व्यापक का होना अनिष्ट है। यदि घटरहित भूतल पर 'घट के सद्भावरूप व्याप्य' को स्वीकार करते हैं, तो उससे 'घटदर्शनरूप अनिष्ट' की आपत्ति हो सकती है कि 'भूतल में 'घट का सद्भाव होता तो वह दिखाई भी देता' एवञ्च घटशून्य भूतल में 'घट' का अस्तित्व मानने से होने वाली 'घट दर्शन' की 'आपत्ति' अनिष्टप्रसज्जनरूप है—इसलिये इस अनिष्ट प्रसज्जन (प्रसङ्ग) को 'तर्क' कहा गया है।

स चेति। उपर्युक्त 'तर्क' स्वयं प्रमाण नहीं है। तथापि वह दूसरे प्रमाणों का

अनुग्राहक (समर्थक, सहायक) है, **तथा हीति** । जैसे–'पर्वतोऽयं साग्निः उतानग्निः'—यह पर्वत अग्निमान् (अग्नि से युक्त) है अथवा अग्नि से रहित है'—ऐसा मन में सन्देह पैदा होने पर यदि कोई यही मान ले कि 'अनग्निरयं पर्वतः'—यह पर्वत अग्नि से रहित है—तो उसको अपनी उस मान्यता का निराकरण करने के लिये 'तर्क' की सहायता लेनी होगी । उस 'तर्क' का आकार यह होगा—'यदि अयं अनग्निरभविष्यत् तदा अनग्नित्वात् अधूमोऽपि अभविष्यत्'—अर्थात् यदि यह पर्वत अग्नि रहित होता तो अग्निरहित होने से धूमरहित भी होता—क्योंकि जहाँ अग्नि नहीं रहता है, वहाँ धूम भी नहीं रहता है यानी 'यत्र-यत्र अग्न्यभावः तत्र-तत्र धूमाभावः' इस प्रकार 'अधूमवत्त्वरूप अनिष्ट' की आपत्ति (प्रसंग) उपस्थित होगा । इस 'अनिष्ट-प्रसञ्जन' (प्राप्ति, प्रसंग) को ही 'तर्क' कहते हैं । **अयं चेति** । यह 'तर्क', धूमरूप हेतु से होने वाले अग्न्यनुमान के विषय (अग्निरूप साध्य) का शोधन करता है । अर्थात् धूमरूप हेतु से होने वाले अनुमान के विषयभूत (साध्यरूप) 'अग्नि' का समर्थन (अनुमोदन) करता है । क्योंकि इस तर्क ने अनग्निमत्त्व (अग्निरहित होने) का प्रतिक्षेप (परिहार) कर दिया है । अतः यह 'तर्क', 'अनुमान-प्रमाण' का अनुग्राहक (उपकारक) होता है ।

शंका—अत्रेति । तर्क के विषय में किसी का कहना है कि 'तर्क' का अन्तर्भाव तो 'संशय' में ही हो जाता है । 'संशय' से पृथक् उसे मानना उचित नहीं है ।

समा०—तन्नेति । वह (उक्त कथन) ठीक नहीं है । क्योंकि 'तर्क' में निश्चित-रूप से 'एक ही कोटि' का भान होता है । किन्तु 'संशय' में 'उभय कोटि' का भान होता है ।

माधुरी

'तर्क' की उत्पत्ति में तीन कारण होते हैं—(१) धर्मी में 'आपाद्य के अभाव' का निश्चय; (२) 'आपादक' में 'आपाद्यव्याप्ति' का निश्चय, (३) धर्मी में 'आपादक का आहार्य-निश्चय' । ऊपर प्रदर्शित किये गये 'तर्क' में 'घटरहित भूतल' धर्मी है । 'घट का सद्भाव' आपादक है और 'घट का दर्शन' आपाद्य है । जब 'घट-रहित भूतलरूप धर्मी में—'घटदर्शनरूप आपाद्य के अभाव' का निश्चय, 'घटसद्भाव' में 'घटदर्शन' की 'व्याप्ति' का निश्चय, और 'भूतलधर्मी' में 'घटसद्भावरूप आपादक का आहार्य-निश्चय' होने पर 'तर्क' का आविर्भाव होता है ।

पहिले बता चुके हैं कि 'अयथार्थ अनुभव' (१) संशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क के भेद से तीन प्रकार का होता है । इनमें से तृतीय अयथार्थ अनुभव रूप 'तर्क' का लक्षण—**'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः'**—किया जाता है । अर्थात् 'व्याप्य' का आरोप करके 'व्यापक' का जो 'आरोप' किया जाता है—उसे 'तर्क' कहते हैं । जैसे पर्वत पर धूम को देखता हुआ भी आदमी उस पर्वत पर अग्नि का होना यदि स्वीकार

न करे, तो उस आदमी को उस पर्वत पर अग्नि का सद्भाव बताने के लिये, पर्वत पर वह्नि के सद्भाव को जानने वाला अन्य पुरुष इस प्रकार के तर्क को, पर्वत पर अग्नि को न मानने वाले उस आदमी के समक्ष उपस्थित करता है—'पर्वते यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—अर्थात् इस पर्वत पर यदि वह्नि न होता तो धूम भी न होता'। क्योंकि 'धूम' तो 'वह्नि' का कार्य है और 'कारण' के बिना 'कार्य' होता नहीं है। ऐसा जब उसे बताया जाता है तव वह आदमी 'धूम वाले' पर्वत पर 'अग्नि' का होना (सद्भाव) मान लेता है। जहाँ-जहाँ 'वह्नि' का अभाव रहता है, वहाँ-वहाँ 'धूम' का भी अभाव रहता है, जैसे—जलाशय आदि में 'वह्नि का अभाव' रहता है, तो वहाँ 'धूम' का भी अभाव रहता है। यहाँ पर 'वह्नि का अभाव' तो 'व्याप्य' है, और 'धूम का अभाव' है 'व्यापक'। 'पर्वत' में 'वह्न्यभावरूप व्याप्य' का आरोप करके 'धूमाभावरूप व्यापक' का आरोप किया गया है। इसलिये इस प्रदर्शित 'आरोप' को 'तर्क' शब्द से कहा गया है।

शंका—इस 'तर्क' का तो 'विपर्यय' में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है, उसे पृथक् कहने की क्या आवश्यकता ?

समा०—आपका कहना ठीक है, तथापि 'विपर्यय', अनुमान का अनुग्राहक नहीं होता, किन्तु 'तर्क', तो व्यभिचारशंका की निवृत्तिद्वारा अनुमान-प्रमाण का अनुग्राहक होता है। इसलिये उसे पृथक् बताया गया है।

प्रश्न—'तर्क' को 'अनुमान' का उपकारक कहा जाता है, किन्तु वह उपकारक कैसे हो सकेगा ? क्योंकि उससे पर्वत में अग्निसम्बन्ध का ज्ञान तो हो नहीं रहा है, तब वह पर्वत में अग्नि के सम्बन्ध का समर्थन कैसे करेगा ?

उत्तर—'तर्क' का पर्यवसान उसके अपने स्वरूप तक ही नहीं है, अपितु उसका पर्यवसान 'विपरीतानुमान' में होता है। जिस 'तर्क' का पर्यवसान 'विपरीतानुमान' में नहीं होता, उसे 'तर्काभास' कहते हैं, वह 'सत् तर्क' नहीं कहलाता। इसलिये 'यदि अत्र अग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—यदि यह पर्वत अग्निहीन होता तो वह धूमहीन भी होता—इस 'तर्क' के होने पर यह विपरीत अनुमान 'यस्मादत्र धूमा-भावो नास्ति, तस्मादग्न्भावोऽपि नास्ति'—जब कि यहाँ पर धूम का अभाव नहीं है, इसलिये अग्नि का अभाव भी नहीं है—इस प्रकार होता है। इस विपरीत अनुमान के होने से पर्वत में अग्नि के अभाव का निषेध हो जाता है, उस कारण पर्वत में अग्नि के सम्बन्ध का समर्थन, 'तर्क' के द्वारा किया जाना अर्थात् सिद्ध है। अतः 'तर्क' को अनुमान का समर्थक (अनुग्राहक) कहना उचित्त ही है। अनुचित नहीं है। यद्यपि 'तर्क' को प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं माना जाता है, तथापि उसे 'प्रमाणों' का अनु-ग्राहक (उपकारक, समर्थक) तो मानना ही पड़ता है। उस में भी व्यभिचार शंका की निवृत्ति करता हुआ वह विशेषतः 'अनुमान' का अनुग्राहक होता है भाष्यकार

ने कहा है—**'तर्को न प्रमाण-सङ्गृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय-कल्पते ।'** (१।१।१)

यह 'तर्क', व्याप्ति का निश्चय करने में भी सहायक होता है। 'अभाव' के प्रत्यक्ष में भी यह उपकारक होता है। वाद, जल्प, वितण्डा में मुखमुद्रणार्थ भी इसकी उपयोगिता होती है।

बौद्धों ने भी 'तर्क' को प्रमाणरूप न मानकर प्रमाणों का अनुग्राहक ही माना है।

तर्क का स्वरूप—

न्यायसूत्र में तर्क का स्वरूप—**'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूह-स्तर्कः'**—(न्या० सू० १।१।४०) इस प्रकार बताया गया है। ग्रन्थकार ने उसी का परिष्कृतरूप तर्कभाषा में दिया है।

मीमांसकों ने 'तर्क' के लिये 'ऊह' शब्द का प्रयोग किया है। **'त्रिविधश्च ऊहः—मन्त्र-साम-संस्कारविषयः'**। जैनदार्शनिकों में 'अकलङ्क' आचार्य ने परोक्षप्रमाण के एक भेद के रूप में 'तर्क' को भी एक प्रमाण माना है।

इस तर्क के दो भेद होते हैं—(१) विषय परिशोधक, (२) व्याप्तिग्राहक। उनमें से 'यदि अयं निर्वह्निः स्यात् तदा निर्धूमः स्यात्'—यह पर्वत यदि वह्नि से रहित (वह्नि के अभाव वाला) होगा, तो धूमरहित (धूमाभाव वाला) भी होगा।—इत्यादि 'तर्क' को 'विषयपरिशोधक' कहते हैं। और 'धूमो यदि वह्नि-व्यभिचारी स्यात्, तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्'—अर्थात् 'धूम' यदि कदाचित् 'वह्नि' का व्यभिचारी होगा तो वह वह्नि से जन्य भी नहीं होगा'—इत्यादि 'तर्क' को 'व्याप्ति-ग्राहक' कहते हैं। अर्थात् यह 'तर्क' धूम में वह्नि के व्यभिचार की शंका को निवृत्त करके 'व्याप्ति' का निश्चय कराता है।

'तर्क' के (१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रिका, (४) अनवस्था, (५) प्रमाणबाधितार्थप्रसङ्ग—भेद से पाँच प्रकार होते हैं। उनमें से 'आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिका' ये तीन तर्क तो 'उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति' के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। कुछ ग्रन्थकारों ने तो तर्क के एकादश प्रकार भी बताये हैं।

इति तर्कपदार्थः समाप्तः।

निर्णयनिरूपणम्

निर्णयोऽवधारणज्ञानम् । तच्च प्रमाणानां फलम् ।

इति निर्णयपदार्थः समाप्तः ।

निर्णय इति । निश्चयात्मक ज्ञान को ही 'निर्णय' कहते हैं । और वह (निर्णय), प्रमाणों का ही फलस्वरूप है । अर्थात् प्रमाणों का फ़लस्वरूप जो निश्चयात्मक ज्ञान है, उसी का नाम 'निर्णय' है ।

इति निर्णयपदार्थः समाप्तः ।

वादनिरूपणम्

तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः । स चाष्टनिग्रहाणामधिकरणम् । ते च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकञ्च, इत्यष्टौ निग्रहाः ।

इति वादपदार्थः समाप्तः ।

तत्त्वबुभुत्सोरिति । तत्त्वज्ञान के इच्छुक वादी-प्रतिवादी की प्रश्नोत्तररूप 'कथा' को 'वाद' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि किसी विषय के विचार विमर्श को 'वाद' कहते हैं । यह 'वाद' कथा, गुरु-शिष्यों के बीच विशुद्धरूप से किसी विषय के तत्त्वनिर्णय के लिये हुआ करती है । इस विचारविमर्शरूप 'वाद' कथा में अपने-अपने विचार प्रमाणपूर्वक ही उपस्थित किये जाते हैं । प्रमाणशून्य कोई विचार उपस्थित नहीं किया जाता । इस कथा में जय-पराजय की भावना नहीं रहती, क्योंकि एक ओर पूज्यत्व भावना तो दूसरी ओर वात्सल्यभावना पूर्णतया हृदय में विराजती रहती है । किन्तु इस वाद कथा के चलते हुए तत्त्वनिर्णय के अवरोधक आठ 'निग्रह-स्थानों'—'न्यून, 'अधिक', 'अपसिद्धान्त', और पाँच 'हेत्वाभास'—का उद्भावन किया जाता है । अत एव ग्रन्थकार ने कहा है । **स चेति ।** वह कथा आठ निग्रहस्थानों का अधिकरण (विषय, क्षेत्र) होती है । **ते चेति ।** वे आठ—'न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, और हेत्वाभासपञ्चक'—निग्रहस्थान कहलाते हैं ।

इति वादपदार्थः समाप्तः ।

जल्पनिरूपणम्

उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः । सा च यथासम्भवं सर्वनिग्रहाणामधिकरणम् । परपक्षे दूषिते स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानश्च ।

इति जल्पपदार्थः समाप्तः ।

उभयेति । जिस कथा (विचार) में वादी-प्रतिवादी दोनों अपने-अपने पक्षों का साधन, विजय की कामना से करते हैं, उस कथा को 'जल्प' कहते हैं । अतः **'उभयपक्षस्थापनवती विजिगीषुकथा जल्पः'** कह कर भी उक्त लक्षण को सुस्पष्ट किया जाता है । इस कथा में वादी-प्रतिवादी के प्रश्न और उत्तर एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से किये जाते हैं । इसमें 'तत्त्वनिर्णय' की कोई कामना नहीं होती । **सा चेति** । और वह यथासम्भव सभी बाईस निग्रहस्थानों का अधिकरण (विषय, क्षेत्र) रहती है । **परपक्षे इति** । और परपक्ष का खण्डन हो जाने पर अपने पक्ष के स्थापनात्मक निर्णय में इस कथा की समाप्ति होती है । अपने विरोधी को जीतने के लिये ही इस जल्प कथा को किया जाता है । इसलिये इस कथा के अवसर पर 'प्रमाण, प्रमाणाभास, तर्क, तर्काभास' आदि सब का उपयोग किया जाता है । क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य विरोधी को मुद्रित कर अपनी विजय की कामना का होना है ।

इति जल्पपदार्थः समाप्तः ।

वितण्डानिरूपणम्

स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। सा च परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना। नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति।

कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः।

इति वितण्डापदार्थः समाप्तः।

स एवेति। वह 'जल्प' कथा ही जब अपने पक्ष की स्थापना से रहित होकर चलती रहती है, तब उसे **'वितण्डा'** कहते हैं। इस कथा में एक मात्र उद्देश्य—'परपक्ष' का खण्डन करना ही रहता है। परपक्ष को दूषित कर देने में ही इसकी समाप्ति समझी जाती है। इस वितण्डावादी (वैतण्डिक) का अपना स्थापनीय पक्ष कोई नहीं होता। जल्प-कथा और वितण्डा-कथा में अन्तर यही है कि जल्पकथा में परपक्ष का खण्डन करके अपना पक्ष स्थापित किया जाता है, और वितण्डा-कथा में परपक्ष का केवल खण्डन ही किया जाता है। अपने पक्ष की स्थापना नहीं की जाती, क्योंकि उसका अपना कोई पक्ष ही नहीं होता है, जिसकी वह स्थापना करने की चिन्ता करे। 'वाद-जल्प-वितण्डा' तीनों को 'कथा' के नाम से कहा जाता है। परन्तु 'कथा' का स्वरूप क्या है? उसे बताने के लिये ग्रन्थकार ने 'कथा' का लक्षण किया है—**कथा त्विति।** बहुत से वक्ताओं के द्वारा बोले जाने वाले पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के प्रतिपादक वाक्यसमूह को 'कथा' कहते हैं।

माधुरी

कथा के सम्बन्ध में विश्लेषण—

किसी गोष्ठी में अनेक लोग मिलकर जब किसी विषय की चर्चा, तत्त्वनिर्णय के लिये अथवा अपनी बात मनवाने के लिये, या दूसरे पक्ष को केवल पराजित करने के लिये ही करते हैं, तब उस 'चर्चा' को 'कथा' शब्द से कहा गया है। उस 'कथा' के 'वाद, जल्प, वितण्डा'—ये तीन भेद किये गये हैं।

(१) इनमें से जब अपने गुरुओं से या अपने सहाध्यायियों से किसी भी विषय पर तत्त्वनिर्णयार्थ विचार किया जाता है, तो उसे 'वाद-कथा' का नाम दिया जाता है।

(२) तथा अपने वैदुष्य (पाण्डित्य) के प्रकाशनार्थ किसी विषय को लेकर जो विचार किया जाता है और अन्त में दूसरे का पराजयकर अपने पक्ष को सुदृढता के साथ स्थापित किया जाता है, उस विचार को 'जल्पकथा' का नाम दिया जाता है। इसमें तत्त्वनिर्णय की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

(३) किसी विषय को लेकर विचार करते हुए एक वादी अपने पक्ष को स्थापित कर देता है, किन्तु दूसरा प्रतिवादी अपने पक्ष की स्थापना न कर वादी का खण्डन मात्र करता रहता है, ऐसे विचार को 'वितण्डाकथा' का नाम दिया गया है।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य श्रीचरकाचार्य ने भी अपनी 'चरकसंहिता' नामक ग्रन्थ में उक्त तीन प्रकार की कथाओं का उल्लेख किया है, किन्तु 'कथा' शब्द का प्रयोग न करके 'सम्भाषा' शब्द का उल्लेख किया है। सम्भाषा के—'सन्धायसम्भाषा', और 'विगृह्यसम्भाषा'—नाम से दो भेद किये हैं। सन्धि (सौमनस्य) से किये जाने वाले आपसी विचार को 'सन्धाय-सम्भाषा' कहा गया है। और विग्रह (संघर्ष, जय-पराजय) की भावना से प्रेरित होकर किये जाने वाले विचार को 'विगृह्यसम्भाषा' कहा गया है। यह 'विगृह्यसम्भाषा' और 'विजिगीषु कथा' दोनों समानार्थक हैं। सन्धायसम्भाषा ही जल्पकथा है, और विगृह्यसम्भाषा, 'वितण्डाकथा' है।

जैन दार्शनिकों ने केवल 'वाद कथा' को ही माना है। उनके मत में 'कथा' का और कोई भेद नहीं है। 'जल्प' और 'वितण्डा' को तो उन्होंने 'कथा' न कहकर, उन्हें 'कथाभास' कहा है। इस विषय पर उन्होंने 'कथात्रयभङ्ग' नामकग्रन्थ में सुविस्तृत चर्चा की है। एवं च जैनदार्शनिकों ने 'कथा' का एक ही भेद 'वाद' माना है।

जैनदार्शनिकों ने 'कथा' में प्रतिवादी के पराजयार्थ 'छल' या असदुत्तररूप 'जाति' के प्रयोग का निषेध किया है। अतः इनके मत में 'विजिगीषु' भी 'तत्त्वबुभुत्सु' के ही समान है। बौद्धों ने भी आगे चलकर जैनदर्शन के समान 'कथा' का एक ही भेद स्वीकार कर लिया।

शंका—जैन-बौद्धादि दार्शनिकों ने लाघव और अनीति की दृष्टि से जब कि एक ही भेद 'कथा' का माना है, तो न्यायदर्शन को भी एक ही भेद मान लेना चाहिये। तीन भेद (प्रकार) मानने की क्या आवश्यकता है?

समा०—न्यायसूत्रकार गौतममुनि ने कहा है कि प्रमाणसिद्ध सुपरीक्षित सिद्धान्त की सुरक्षा के लिये 'जल्प' और 'वितण्डा' की भी आवश्यकता 'तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्'—(न्या० सू० ४।२।५०) सूत्र के द्वारा प्रदर्शित की है। अतः कथा के तीनों भेदों को अवश्य मानना चाहिये।

इति वितण्डापदार्थः समाप्तः।

हेत्वाभासनिरूपणम्

उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः। तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्ट-भेदात् पञ्चैव।

अत्रोदयनेन 'व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः' इत्यसिद्धिलक्षणमुक्तम्। तच्च यद्यपि विरुद्धादिष्वपि सम्भवतीति साङ्कर्यं प्रतीयते। तथापि यथा न साङ्कर्यं तथोच्यते। यो हि साधने पुरः परिस्फुरति समर्थश्च दुष्टज्ञप्तौ स एव दुष्टज्ञप्तिकारको दूषणमिति यावत् नान्य इति। तेनैव पुरावस्फूर्तिकेन दुष्टौ ज्ञापितायां कथापर्यवसाने जाते तदुपजीविनोऽन्यस्यानुपयोगात्। तथा च सति यत्र विरोधो साध्यविपर्ययव्याप्याख्यो दुष्टज्ञप्तिव्यभिचारादयस्तथाभूतास्तेऽनैकान्तिकादयस्त्रयः। ये पुनर्व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुस्वरूपज्ञप्त्यभावेन पूर्वोक्ता असिद्ध्यादयो दुष्टज्ञप्तिकारकाः, दूषणानीति यावत्। तथाभूतः सोऽसिद्धः।

'कथा' के—वाद, जल्प, वितण्डा—तीनों भेदों को बताने के पश्चात् यथाक्रम प्राप्त होने से 'हेत्वाभासों' का वर्णन पुनः किया जा रहा है। पुनरुक्ति रहने पर भी ग्रन्थकार ने यहाँ पर कतिपय विशेष बातों को भी बताया है, जो अवश्य ज्ञातव्य हैं।

उक्तानामिति। पीछे अनुमान-निरूपण में 'पक्षधर्मत्व' आदि—(१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्तत्व, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व—रूपों में से किसी एक रूप से भी हीन यदि पञ्चम्यन्त या तृतीयान्त हेतु हों तो वे वस्तुतः हेतु न होकर 'अहेतु' ही हैं।

तेऽपीति। वे तृतीयान्त अथवा प्रञ्चम्यन्त प्रयोग के कारण एवं पक्षसत्त्वादि पांच रूपों में से कतिपयरूपों के कारण (योग से) 'हेतु' के समान भासते हैं, अतः वे 'हेत्वाभास' कहलाते हैं। वे हेत्वाभास—(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक, (४) प्रकरणसम और (५) कालात्ययापदिष्ट—के भेद से पाँच ही होते हैं।

(१) असिद्ध हेत्वाभास—

अत्रेति। इनमें से न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकापरिशुद्धि के लेखक श्रीमदुदयनाचार्य ने 'असिद्धि' नामक हेत्वाभास का यह लक्षण किया है—**व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिः, तदभावः असिद्धिः'**। अर्थात् व्याप्ति से युक्त (व्याप्त) 'हेतु' का पक्षधर्मता के रूप में (पक्षधर्मतया) प्रतीत होना 'सिद्धि' शब्द से कहा जाता है, और उसका

अभाव 'असिद्धि' कहलाता है। अभिप्राय यह है कि 'साध्य-व्याप्तिविशिष्ट हेतु' में पक्षसत्त्व की प्रतीति को 'सिद्धि' कहते हैं, और उसके अभाव को 'असिद्धि' कहते हैं।

तच्चेति। यह उदयनाचार्योक्त लक्षण यद्यपि 'विरुद्ध' आदि अन्य हेत्वाभासों में अतिव्याप्त हो जाता है। इसलिये 'साङ्कर्य' दोष प्रतीत होता है, जिससे लगता है कि उपर्युक्त लक्षण ठीक नहीं है।

तथापीति। किन्तु उपर्युक्त शंका के निराकरणार्थ तर्कभाषाकार लक्षण की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जिससे 'साङ्कर्य' दोष नहीं हो सकेगा। **उच्यते इति**। जो दोष, 'साधन' (हेतु) में पहिले (प्रथमतः, पुरः) परिस्फुरित (प्रतीत) होता है, और उस 'हेतु' के दूषित होने (दुष्टता) का ज्ञान (ज्ञप्ति) करा देने में समर्थ होता है, वही उस हेतु का दुष्टज्ञप्तिकारक (दुष्टता बोधक) यानी 'दूषण' कहलाता है। उसके पश्चात् प्रतीत होने वाला अन्य, 'दोष' नहीं कहलाता, क्योंकि प्रथमतः प्रतीत हुए उसी दोष से 'हेतु' की दुष्टता (दुष्टि) को बोधित कर देने पर वादी अथवा प्रतिवादी निग्रहस्थान में आ जाता है, जिससे कथा (विचार) की जय-पराजय निर्णय-रूप समाप्ति होती है। तब उस दोष के आश्रित रहने वाले (उपजीवी) अन्य दोष का वहाँ कोई उपयोग नहीं होता है। यानी उसे 'दोष' नहीं माना जाता। क्योंकि पूर्वज्ञात, हुए दोष से ही 'हेतु' की दुष्टता का ज्ञान होते ही जय-पराजय का निर्णय हो जाने से कथा यानी विचार-विमर्शरूप शास्त्रार्थ ही समाप्त हो जाता है। इसलिये कथा-समाप्ति होने के कारण बाद में ज्ञात होने वाले अन्य दूसरे दोष की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती। क्योंकि दोष की उपयोगिता तो जय-पराजय का निर्णय करा देना ही है, वह निर्णय जब पूर्व प्रयुक्त दोष से हो ही गया, तब बाद में दिये जाने वाले दोष की उपयोगिता ही नहीं रह जाती। अतः वह बाद में दिया जाने वाला 'दोष', कहीं अन्यत्र भले ही 'दोष' समझा जाय, किन्तु यहाँ पर उस 'दोष' के रूप में नहीं माना जायगा।

इस उपर्युक्त कथन का तात्पर्य 'असिद्धि' को दोष रूप में कह कर 'विरोध' की दोषरूपता को निवृत्त करने में नहीं है, अपितु पूर्ववर्ती और पश्चाद्वर्ती दोषों की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता को बताने में है, इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार बता रहे हैं— **तथा च सतीति**। जैसे 'असिद्धि' का पूर्वज्ञान (पहिले ज्ञान) होने पर 'विरोध' दोष अनुपयुक्त हो जाता है, उसी तरह जहाँ 'सध्यविपर्ययव्याप्ति'—अर्थात् साध्याभाव-व्याप्तिरूप 'विरोध' दोष, पूर्व (पहिले) ज्ञात होकर 'हेतु' की दुष्टता का बोधन कर दे तो वहाँ पर 'विरोध' को ही दोष माना जायगा, और वहाँ 'विरुद्ध' नामका हेत्वाभास कहा जायगा। उस विरोध दोष के पश्चात् (बाद) वहाँ पर 'असिद्ध' दोष का लक्षण अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट हेतु में पक्षधर्मत्व के सिद्ध्यभाव रूप 'असिद्धि' दोष के उपस्थित होने पर भी अब उसका यहाँ कोई उपयोग नहीं है, इसलिये उस 'असिद्धि'

को भी यहाँ पर उसकी उपयोगिता के न रहने से दोष के रूप में नहीं माना जायगा। अतः पूर्ववर्ती विरोध दोष से हेतु के दूषित हो जाने से उस हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास ही कहा जायगा। वहाँ उसे 'असिद्ध' हेत्वाभास नहीं कहा जायगा। अतः 'असिद्ध' और 'विरुद्ध' के साङ्कर्य होने का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार जहाँ 'व्यभिचार' 'सत्प्रतिपक्ष', 'बाध' भी वैसे होते हैं अर्थात् प्रथम प्रतीत होकर हेतु की दुष्टता के सूचक होंगे तो वहाँ अनैकान्तिक आदि तीन ही दोष होते हैं अर्थात् 'व्यभिचार' आदि को ही 'दोष' कहा जायगा। बाद में 'असिद्धि' और 'विरोध' के उपस्थित हो जाने पर भी हेतु की दुष्टता के ज्ञापन में उनका कोई उपयोग नहीं हो सकेगा, इसलिये उन्हें ऐसी स्थिति में दोष के रूप में नहीं माना जायगा। **ये पुनरिति**। किन्तु जहाँ व्याप्ति और पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु के स्वरूप का ज्ञापक न होने से पूर्वोक्त असिद्धि आदि दुष्टतासूचक दोष से ही हेतु में दुष्टता का ज्ञान होता है, वहाँ पर असिद्धि को ही दोष माना जायगा, और हेतु को असिद्ध नाम का हेत्वाभास कहा जायगा। अन्य दोष वहाँ नहीं होंगे। ऐसी व्याख्या करने से असिद्ध दोष का किसी भी अन्य दोष के साथ सङ्कर नहीं होगा। इसलिये दोष तथा दुष्ट हेतु का पञ्चविधत्व और उनका अपना लक्षण जो बताया गया है, वह सब उचित ही है।

स च त्रिविधः। आश्रयासिद्ध–स्वरूपासिद्ध–व्याप्यत्वासिद्धभेदात्। तत्र यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः। यथा 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्'। अत्र हि गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

अयमप्याश्रयासिद्धः। तथाहि 'घटोऽनित्यः कार्यत्वात् पटवत्' इति। नन्वाश्रयस्य घटादेः सत्त्वात् कार्यत्वादिति हेतुर्नाश्रयासिद्धः, सिद्धसाधकस्तु स्यात्, सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य साधनात्।

मैवम्। न हि स्वरूपेण कश्चिदाश्रयो भवत्यनुमानस्य, किन्तु सन्दिग्धधर्मवत्त्वेन। तथा चोक्तं भाष्ये—

'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेऽपि तु सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते'।

न च घटे नित्यत्वसन्देहोऽस्ति! अनित्यत्वस्य निश्चितत्वात्। तेन यद्यपि स्वरूपेण घटो विद्यते, तथाप्यनित्यत्वसन्देहाभावान्नासावाश्रय इत्याश्रयासिद्धत्वादहेतुः।

तथाभूत इति। उस प्रकार का वह 'असिद्धि' दोष से युक्त असिद्ध नाम का हेत्वाभास (क) आश्रयासिद्ध, (ख) स्वरूपासिद्ध, और (ग) व्याप्यत्वासिद्ध के भेद से तीन प्रकार का होता है।

(क) आश्रयासिद्ध—

तत्रेति। उनमें से 'जिस हेतु के आश्रय (पक्ष), की प्रतीति ही नहीं होती हो, वह हेतु आश्रयासिद्ध' नाम का हेत्वाभास कहलाता है।

यथेति । जैसे 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्' अर्थात्—आकाशकमल (गगनारविन्द) सुगन्धि (सुरभि) होता है, क्योंकि वह कमल है, सरोवर में उत्पन्न हुए कमल के समान—ऐसा अनुमान प्रयोग करने पर 'अरविन्दत्वात्' (अरविन्दत्व) हेतु, सद्धेतु न रह कर हेत्वाभास हो जाता है । क्योंकि उसका (अरविन्दत्व हेतु का) आश्रय (पक्ष) जो 'आकाशकमल' बताया गया है, वही 'असत्' है, यानी वस्तुतः है ही नहीं । इसलिये यहाँ पर 'अरविन्दत्वात्' यह हेतु 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास है ।

नवीन नैयायिक 'आश्रयासिद्ध' का लक्षण दूसरे प्रकार से करते हैं । उनके मत से **'पक्षे पक्षतावच्छेदकाभावः असिद्धिः'**—अर्थात् पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव ही असिद्धि दोष है । यह अभाव, 'स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्व' सम्बन्ध से जिस हेतु में रहे वह आश्रयासिद्ध नाम का हेत्वाभास है । उपर्युक्त अनुमान में 'कमल' रूप 'पक्ष' में गगनोत्पन्नत्व (गगनीयत्व) का अभाव 'असिद्धि' दोष है । और वह अभाव, उक्त सम्बन्ध से 'अरविन्दत्व' हेतु में है । उक्त सम्बन्ध में 'स्व' का अर्थ 'कमल' में 'आकाशीयत्व (गगनीयत्व) का अभावरूप आश्रयासिद्धि' है । वही स्वविषयकज्ञान है, अर्थात् 'कमलम् आकाशीयत्वाभाववत् अरविन्दत्ववच्च' अर्थात् कमल, आकाशीयत्वाभाव और अरविन्दत्व का आश्रय है—यह ज्ञान है । इस ज्ञान में 'अरविन्दत्व' का विशेषण 'अरविन्दत्वत्व' भासित हो रहा है । इसलिये 'अरविन्दत्वत्व', उस ज्ञान का विषय है । वही प्रकृत हेतुतावच्छेदक भी है । अतः 'स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकत्व' सम्बन्ध के द्वारा उक्त आश्रयासिद्ध का वह आधार होने से यहाँ पर (उक्त अनुमान में) 'अरविन्दत्व' हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है ।

अयमपीति । प्राचीन नैयायिकों के मत से आश्रयासिद्ध का एक अन्य उदाहरण—**तथाहीति** । 'घटः अनित्यः, कार्यत्वात्, पटवत्'—अर्थात् 'घट' अनित्य है, क्योंकि वह कार्य है, 'पट' के समान । इस प्रकार भी दिया जाता है । इनके मत के अनुसार यहाँ पर 'कार्यत्वात्' हेतु 'आश्रयासिद्ध' है ।

प्रश्न—उक्त अनुमान में 'कार्यत्व' हेतु का आश्रय (पक्ष) जो 'घट' है, वह तो प्रत्यक्ष (सत् यानी विद्यमान) है । तब 'कार्यत्वात्' हेतु को 'आश्रयासिद्ध' कैसे कह सकते हैं ? उक्त हेतु को 'सिद्धसाधक' (सिद्धसाध्यक) तो कहा जा सकता है क्योंकि 'घट' में अनित्यत्व तो प्रत्यक्षसिद्ध है, उसी का पुनः साधन करने के लिये 'कार्यत्वात्' हेतु का प्रयोग किया जा रहा है । अतः उक्त हेतु को सिद्धसाधन दोष से युक्त तो कह सकते हैं, उसे 'आश्रयासिद्ध' कहना कथमपि संगत नहीं है ।

उत्तर—मैवमिति । प्रश्न करने वाले का कथन उचित नहीं है । क्योंकि 'घट' यदि अपने स्वरूप से 'हेतु' का आश्रय (पक्ष) रहता तो आपका प्रश्न करना ठीक होता, किन्तु किसी भी अनुमान-प्रयोग में 'पक्ष' अपने स्वरूप से 'हेतु' का आश्रय नहीं

हुआ करता, अपितु 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' इस लक्षण के अनुसार वह सन्दिग्धसाध्यक (सन्दिग्ध धर्म का आश्रय) होने से ही 'हेतु' का आश्रय (पक्ष) हुआ करता है। **तथेति**। जैसा कि भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है—**'नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्ततेऽपितु सन्दिग्धे'**—अर्थात् न तो स्वरूपेण अज्ञात (अनुपलब्ध) अर्थ में, और न ही निश्चित अर्थ में अनुमान (न्याय) प्रवृत्त होता है, किन्तु सन्दिग्ध अर्थ में (सन्दिग्धसाध्यधर्मी में) ही प्रवृत्त होता है—(न्या० भा० १।१।१)। इसलिये उक्त अनुमान में 'घट' भी सन्दिग्धसाध्यक (सन्दिग्धसाध्यवान्) होने से ही हेतु (अनुमान) का आश्रय (पक्ष) हो सकता है। उक्त उदाहरण में घट के अनित्यत्व का तो निश्चय ही है। अतः उसमें (घट में) सन्दिग्धसाध्यकत्व नहीं है। एवञ्च सन्दिग्धसाध्यक 'घट' का अस्तित्व न होने से उक्त अनुमान में हेतु को आश्रयासिद्ध कह सकते हैं।

न चेति। 'घट' में 'अनित्यत्व' का सन्देह नहीं है, क्योंकि घट में अनित्यत्व का तो निश्चय ही है। इसलिये 'घट' यद्यपि स्वरूपतः विद्यमान है, तथापि उसमें अनित्यत्व का सन्देह न होने से (सन्दिग्धसाध्यवान् न होने से) वह आश्रय (पक्ष) नहीं है। इसलिये 'कार्यत्वात्' हेतु 'आश्रयासिद्ध' ही है। एवञ्च आश्रयासिद्धि दोष से ग्रस्त होने के कारण उसे आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहा गया है। इसलिये इस अनुमान में कार्यत्वात् हेतु असद्धेतु है, सद्धेतु नहीं है।

स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते। यथा 'सामान्यमनित्यं कृतकत्वात्' इति। कृतकत्वं हि हेतुराश्रये सामान्ये नास्त्येव।

भागासिद्धोऽपि स्वरूपासिद्ध एव। यथा 'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवो नित्यगन्धवत्त्वात्' इति। गन्धवत्त्वं हि पक्षीकृतेषु सर्वेषु नास्ति, पृथिवीमात्रवृत्तित्वात्। अत एव भागे स्वरूपासिद्धः।

तथा विशेषणासिद्ध-विशेष्यासिद्ध-असमर्थविशेषणासिद्ध-असमर्थविशेष्यासिद्धादयः स्वरूपासिद्धभेदाः। तत्र विशेषणासिद्धो यथा 'शब्दो नित्यो द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात्'। अत्र हि द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वं हेतुर्नास्पर्शत्वमात्रम्। शब्दे च द्रव्यत्वं विशेषणं नास्ति गुणत्वात्, अतो विशेषणासिद्धः। न चासति विशेषणे द्रव्यत्वे तद्विशिष्टमस्पर्शत्वमस्ति। विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्। यथा दण्डमात्राऽभावे पुरुषाऽभावे वा दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः। तेन सत्यप्यस्पर्शत्वे द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोरभावात् स्वरूपासिद्धत्वम्।

विशेष्यासिद्धो यथा 'शब्दो नित्योऽस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्' इति। अत्रापि विशिष्टो हेतुः। न च विशेष्याऽभावे विशिष्टं स्वरूपमस्ति। विशिष्टश्च हेतुर्नास्त्येव।

असमर्थविशेषणासिद्धो यथा, 'शब्दो नित्यो गुणत्वे सत्यकारणकत्वात्'। अत्र हि विशेषणस्य गुणत्वस्य न किञ्चित् सामर्थ्यमस्तीति। विशेष्यस्याकारणकत्वस्यैव नित्यत्वसाधने सामर्थ्यात्। अतोऽसमर्थविशेषणता। स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्।

(ख) स्वरूपासिद्ध—

स्वरूपासिद्धस्त्विति। 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास तो उसे कहते हैं—जो 'हेतु' अपने आश्रय (पक्ष) में उपलब्ध नहीं होता। **यथेति।** जैसे—'सामान्यम् अनित्यं कृतकत्वात्'—अर्थात्, 'सामान्य' (जाति) अनित्य है, क्योंकि वह कृतक (कार्य, जन्य) है। इस अनुमान में 'कृतकत्व' हेतु, अपने आश्रयभूत (पक्ष) 'सामान्य' में कभी भी उपलब्ध नहीं होता है। क्योंकि 'सामान्य' कृतक नहीं है, वह 'नित्य' है। 'कृतकत्व' हेतु अपने सम्पूर्ण सामान्यरूप पक्ष (आश्रय) में असिद्ध होने से उसे 'स्वरूपासिद्ध' कहा गया है।

भागासिद्ध इति। कतिपय हेतु ऐसे भी होते हैं, जो अपने सम्पूर्ण आश्रय (पक्ष) में तो असिद्ध (अनुपलब्ध) नहीं रहते, किन्तु आश्रय (पक्ष) के किसी भागमात्र (अंशमात्र) में ही असिद्ध (अनुपलब्ध) होते हैं, उन हेतुओं को 'भागासिद्ध' कहते हैं। ये भागासिद्ध हेतु भी स्वरूपासिद्ध ही होते हैं।

यथेति। जैसे—'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवो नित्याः गन्धवत्त्वात्'—अर्थात् पृथिवी आदि चार (पृथिवी, जल, तेज, वायु) के परमाणु नित्य हैं। गन्धयुक्त होने से इस अनुमान में 'गन्धवत्त्व' (गन्ध) हेतु केवल पृथिवी के परमाणुओं में ही रहता है। अन्य जल, तेज, वायु के परमाणुओं में वह ('गन्ध' हेतु) नहीं रहता। अतः वह हेतु अपने सम्पूर्ण पक्ष (आश्रय) में असिद्ध (अनुपलब्ध) न होकर अपने आश्रय (पक्ष) के जल परमाणु आदि जो भाग (अंश) हैं, उन्हीं भागों में असिद्ध (अनुपलब्ध) है। पृथिवी-परमाणुओं में उसकी उपलब्धि होने से उसे सम्पूर्ण पक्ष में असिद्ध नहीं कह सकते। अतः 'गन्धवत्त्व' हेतु पक्ष के कुछ भाग में असिद्ध कहा गया है, अर्थात् अपने पक्ष के कुछ भाग में वह स्वरूप से ही असिद्ध है। इसलिये भागासिद्ध को भी स्वरूपासिद्ध ही कहा जाता है।

तथेति। उसी प्रकार 'स्वरूपासिद्ध' के—(१) 'विशेषणासिद्ध', (२) 'विशेष्यासिद्ध', (३) 'असमर्थविशेषणासिद्ध' और (४) 'असमर्थविशेष्यासिद्ध' आदि भी अनेक भेद हैं।

१. **विशेषणासिद्ध—तत्रेति।** ऊपर निर्दिष्ट चारों में से विशेषणासिद्ध नामक 'स्वरूपासिद्ध' के प्रथम भेद को बता रहे हैं—जिस 'हेतु' का 'विशेषण' भाग आश्रय (पक्ष) में नहीं रहता, वह 'हेतु' 'विशेषणासिद्ध' कहलाता है। **यथेति।** जैसे—

'शब्दः नित्यः द्रव्यत्वे सति अस्पर्शत्वात्'—अर्थात् शब्द नित्य है, द्रव्य होकर स्पर्श रहित होने से—**अत्र हीति**। इस अनुमान में 'द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व' को 'हेतु' के रूप में रखा गया है। केवल 'अस्पर्शत्व'मात्र 'हेतु' नहीं है। अनुमान में प्रयुक्त किये गये सम्पूर्ण हेतु (द्रव्यत्वे सति अस्पर्शत्वात्) में 'अस्पर्शत्व' (स्पर्शशून्यत्व-स्पर्श-रहितत्व) विशेष्य अंश है, और 'द्रव्यत्व' विशेषण अंश है। पक्ष के रूप में कहा गया जो 'शब्द' है, उसमें 'हेतु' का 'द्रव्यत्व' रूप **'विशेषण भाग'** नहीं रहता, क्योंकि 'शब्द' तो गुण है। इसलिये उक्त अनुमान में प्रयुक्त हेतु 'विशेषणासिद्ध' हो गया है। और विशेषणासिद्ध होने से उसे स्वरूपासिद्ध भी कह सकते हैं।

शंका—उक्त अनुमान में प्रयुक्त 'हेतु' को 'विशेषणासिद्ध' तो कहा जा सकता है, किन्तु उसे 'स्वरूपासिद्ध' कैसे कहा जायेगा ? क्योंकि 'पक्ष' में जब 'हेतु' का 'अभाव' रहता है यानी 'पक्ष' में जब 'हेतु' न रहे, तब उस 'हेतु' को 'स्वरूपासिद्ध' कहा जाता है।

समा०—न चासतीति। पक्ष (शब्द) में 'द्रव्यत्व' रूप विशेषण के न होने पर उससे (द्रव्यत्व से) विशिष्ट 'अस्पर्शत्व' नहीं हो सकता। क्योंकि 'विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावः'—यह नियम है। इस नियम के अनुसार विशेषण का अभाव होने पर विशिष्ट का भी अभाव हुआ करता है। एवञ्च शब्दात्मक पक्ष में द्रव्यत्व-रूप विशेषणाभाव के रहने से उस 'पक्ष' (आश्रय) में 'द्रव्यत्वविशिष्ट-अस्पर्शत्व' का भी अभाव हुआ माना जायेगा। अर्थात् द्रव्यत्वविशेषण के अभाव से तद्विशिष्ट अस्पर्शत्वरूप विशिष्ट हेतु भी 'पक्ष' (आश्रय) में नहीं है—यही कहा जायेगा।

यथेति। जैसे—'दण्डी पुरुषः' अर्थात् 'दण्डविशिष्टः पुरुषः' इस प्रतीति में 'दण्ड'—विशेषण है, और 'पुरुष'—विशेष्य है। यदि केवल 'दण्ड' विशेषण का ही अभाव हो, तब भी 'दण्डविशिष्ट पुरुष' का अभाव माना जाता है, तथा केवल 'पुरुष'—विशेष्य का अभाव हो, तब भी 'दण्डविशिष्ट पुरुष' का अभाव माना जाता है। तात्पर्य यह है कि 'दण्डविशिष्ट पुरुष' (दण्डी पुरुष) का अभाव 'दण्ड' के अभाव से भी होता है, और 'पुरुष' के अभाव से भी होता है। अर्थात् केवल 'दण्ड-अथवा केवल 'पुरुष' यानी केवल विशेषण या केवल विशेष्य के रहने पर भी 'दण्ड' विशिष्ट पुरुष' का अभाव ही रहता है, उसी प्रकार पक्ष (शब्द) में अस्पर्शत्व (स्पर्शशून्यत्व) होने पर भी 'द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व' हेतु के न रहने से उक्त अनुमान में वह (द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व) सद्धेतु न होकर 'स्वरूपासिद्ध' नाम का हेत्वाभास है।

२. विशेष्यासिद्ध—विशेष्यासिद्ध इति। जिस हेतु का 'विशेष्य' अंश, अपने आश्रय (पक्ष) में नहीं रहता, उसे 'विशेष्यासिद्ध' कहा जाता है। **यथेति**। जैसे—'शब्दः नित्यः अस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्'—अर्थात् शब्द नित्य है, स्पर्शरहित होकर द्रव्य

होने से, अर्थात् अस्पर्शत्वविशिष्ट द्रव्यत्व का आश्रय होने से। विशेषणासिद्ध हेतु को ही विशेष्यासिद्ध से विपरीत (उल्टा) किया गया है। **अत्रापीति**। इस अनुमान में 'अस्पर्शत्वविशिष्ट द्रव्यत्व'—हेतु है। इस हेतु का 'विशेष्य' अंश (भाग) जो 'द्रव्यत्व' है, वह पक्ष (शब्द) में नहीं रहता है। तात्पर्य यह है कि 'शब्द' में 'अस्पर्शत्व' रूप 'विशेषण' तो रहता है, किन्तु 'द्रव्यत्व' रूप 'विशेष्य' नहीं रहता। क्योंकि 'शब्द' द्रव्य न होकर 'गुण' है। इसलिए 'विशेष्य' का अभाव, 'शब्द' रूप पक्ष में रहने से 'विशिष्ट' का भी अभाव माना गया है। अर्थात् विशेष्य के अभाव में विशिष्ट हेतु, पक्षरूप 'शब्द' में नहीं है। एवं च 'अस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्'—यह हेतु, शब्दरूप 'पक्ष' में विशेष्यासिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध है।

३. **असमर्थविशेषणासिद्ध—असमर्थविशेषणासिद्ध इति**। असमर्थविशेषणासिद्ध (असमर्थविशेषणक स्वरूपासिद्ध) यानी व्यर्थविशेषणक स्वरूपासिद्ध। जिस विशिष्ट हेतु का 'विशेषण' भाग (अंश) 'साध्य' का साधन करने में असमर्थ (व्यर्थ, अनुपयोगी) हो, और विशेषण का अभाव रहने से जिसका 'पक्ष' में अभाव भी हो, उसे 'असमर्थविशेषणासिद्ध' कहते हैं।

यथेति। जैसे 'शब्दः नित्यः, गुणत्वे सति अकारणत्वात्' अर्थात् 'शब्द' नित्य है, 'गुणत्वविशिष्ट अकारणत्व' हेतु का आश्रय होने से, यानी गुण होकर कारणरहित होने से। **अत्र हीति**। इस अनुमान में 'गुणत्व' जो विशेषण है, वह 'नित्यत्व' रूप साध्य के साधन में असमर्थ (व्यर्थ, अनुपयोगी) है। क्योंकि 'नित्यत्व' रूप साध्य के साधन में अकेला 'अकारणत्व' (अकारणकत्व) विशेष्य अंश ही पर्याप्त (समर्थ) है। 'जो किसी कारण से पैदा नहीं होता, वह 'नित्य' कहलाता है'—यह नियम है। चाहे वह 'द्रव्य' हो या 'गुण' हो। 'नित्यत्व' का साधन करने में द्रव्यत्व अथवा गुणत्व का उपयोग नहीं है। और 'शब्द' रूप आश्रय (पक्ष) में विशेषण के अभाव होने से विशिष्ट का अभाव भी है, क्योंकि 'विशेषणाभावे विशिष्टाभावः' यह नियम है। एवं च जिस अनुमान में कोई विशिष्ट हेतु दिया जाये और उसमें स्थित विशेषण अंश, पक्ष में यदि असिद्ध रहे तो वहाँ वह हेतु विशेषणासिद्ध हो जाता है। असमर्थविशेषणासिद्ध होने से वह हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है।

ननु विशेषणं गुणत्वं तत्र शब्देऽस्त्येव, तत्कथं विशेषणाभावः ?

सत्यमस्त्येव गुणत्वं, किन्तु न तद्विशेषणम्। तदेव हि हेतोर्विशेषणं भवति यदन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवत्। गुणत्वं तु निष्प्रयोजनमतोऽसमर्थमित्युक्तमेव।

प्रश्न—नन्विति। 'शब्द' (पक्ष) में, हेतु (गुणत्वविशिष्ट अकारणकत्व) गत विशेषण अंश जो 'गुणत्व' है, वह तो पक्ष (शब्द) में है ही, तब विशेषणाभाव को 'पक्ष' में कैसे बताया जा रहा है ? यदि विशेषण का अभाव होता तो उसके

होने से विशिष्ट हेतु का अभाव कहा जा सकता था। जब विशेषण का ही अभाव नहीं है, तो विशिष्टाभाव कैसे हो सकेगा ?

उत्तर—सत्यमिति। आपका यह कहना सच है कि 'शब्द' से गुणत्व है, किन्तु यहाँ पर वह 'विशेषण' नहीं है। हेतु का विशेषणं वही हो सकता है, जो अन्य का व्यावर्तक (व्यवच्छेदक) और सप्रयोजन (प्रयोजनवान्) हो। इस अनुमान में 'गुणत्व' तो निष्प्रयोजन ही है, क्योंकि 'अकारणकत्व' से ही 'शब्द' का नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। 'गुणत्व' विशेषण का कोई प्रयोजन न रहने से उसे निष्प्रयोजन बताया गया है, अतएव वह असमर्थ है। यह सब पूर्व में बता चुके हैं। एवञ्च जब 'गुणत्व' विशेषण ही नहीं हो सकता है, तो 'शब्द' पक्ष में स्वरूपतः उसके रहने पर भी 'विशेषण' के रूप में उसका रहना न होने से उसका अभाव 'शब्द' पक्ष में कहा ही जा सकता है। अतः 'शब्द' रूप पक्ष में विशेषणत्वेन रूपेण 'गुणत्व' का अभाव रहने से 'गुणत्वविशिष्ट अकारणकत्व' का अभाव है ही। इसलिये इस अनुमान में 'हेतु' असमर्थविशेषणासिद्ध है।

असमर्थविशेष्यो यथा तत्रैव तद्वैपरीत्येन प्रयोगः। तथाहि, 'शब्दो नित्योऽकारणकत्वे सति गुणत्वात्' इति। अत्र तु विशेषणमात्रस्यैव नित्यत्व-साधने समर्थत्वाद् विशेष्यमसमर्थम्। स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावे विशिष्टाभावाद्, विशिष्टस्य च हेतुत्वेनोपादानात्। शेषं पूर्ववत्।

४. असमर्थविशेष्यासिद्ध—असमर्थविशेष्य इति। जिस हेतु का विशेष्य अंश (भाग) साध्यसाधन में असमर्थ (व्यर्थ) होता है और 'पक्ष' (आश्रय) में जिसका अभाव रहता है, उसे 'असमर्थविशेष्यासिद्ध' कहते हैं। **तथेति।** उक्त अनुमान में ही 'विशेष्य-विशेषण' का विपरीत प्रयोग करने पर 'हेतु' असमर्थविशेष्यासिद्ध कहलाता है।

तथा हीति। जैसे—'शब्दः नित्यः अकारणकत्वे सति गुणत्वात्', अर्थात् शब्द, नित्य है, क्योंकि वह अकारणकत्वविशिष्टगुणत्व का आश्रय है। इस अनुमान में 'अकारणकत्वविशिष्टगुणत्व' हेतु है। इस हेतु में जो 'अकारणकत्व' रूप विशेषण अंश (भाग) है, उसी से पक्ष (शब्द) में साध्य (नित्यत्व) की सिद्धि हो जाती हैं। इसलिये 'गुणत्व' रूप विशेष्य अंश साध्य के साधन में असमर्थ (व्यर्थ) है। यहाँ पर विशेष्यरूप गुणत्व, यद्यपि 'शब्द' पक्ष में है, किन्तु 'विशेष्य' वही कहलाता है, जो अन्य से व्यावृत्त होकर सप्रयोजन हो। अतः 'गुणत्व' में विशेष्यता ही नहीं है। इस कारण स्वरूपतः गुणत्व के रहने पर भी विशेष्यत्वेन रूपेण उसका अभाव ही 'पक्ष' में समझा जायेगा। एवञ्च विशेष्य का अभाव रहने पर विशिष्ट का अभाव होता है—यह नियम भी है। ओर विशिष्ट को ही 'हेतु' बनाया गया है। **शेषं पूर्व-**

वदिति। आगे की अनुक्त बात असमर्थविशेषण के समान समझनी चाहिये। अतः पक्ष में विशिष्ट हेतु का अभाव रहने से वह असमर्थविशेष्यासिद्ध हो गया है, इसलिये वह स्वरूपासिद्ध है।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु स एव यत्र हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते। स द्विविधः। एकः साध्येनासहचरितः अपरस्तु सोपाधिकसाध्यसम्बन्धी। तत्र प्रथमो यथा 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, सँश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिः' इति। अत्र हि शब्दादिः पक्षः, तस्य क्षणिकत्वं साध्यं, सत्त्वं हेतुः—न चास्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणमस्ति।

(ग) व्याप्यत्वासिद्ध—

व्याप्यत्वासिद्धस्त्विति। व्याप्यत्वासिद्ध नाम का हेत्वाभास तो वही है, जिस हेतु में व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। उस व्याप्यत्वासिद्ध के दो भेद हैं—(१) 'साध्य के साथ सहचार न रखने वाला' (व्याप्तिग्राहक-प्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध) और (२) 'सोपाधिकं साध्यसम्बन्धी' अर्थात् उपाधियुक्त साध्य से सम्बन्ध रखने वाला (उपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धः)। **तत्रेति।** उनमें से प्रथम का उदाहरण, जैसे—'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, सँश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिः', अर्थात्—जो सत् है, वह क्षणिक होता है, जैसे जलधर (मेघ), और विवाद का विषय (विवादास्पदीभूत) 'शब्द' आदि भी सत् है। **अत्र हीति।** बौद्धों के इस अनुमान-प्रयोग में 'शब्द आदि' तो पक्ष हैं, उसकी 'क्षणिकता' साध्य है, और 'सत्त्व' हेतु है। किन्तु इस 'सत्त्व' हेतु की 'क्षणिकता' (क्षणिकत्व) रूप साध्य के साथ व्याप्ति बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये 'सत्त्व' में 'क्षणिकत्व' की व्याप्ति का ज्ञान न होने से इस क्षणिकत्वानुमान में 'सत्त्व' हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है। अतः 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध' का यह उदाहरण है।

माधुरी

इस सम्पूर्ण अनुमान को **ज्ञानश्री** ने एक पद्य में ग्रथित करके बताया है—

'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी,
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेत्,
द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति'॥

शंका—ग्रन्थकार ने प्रथम व्याप्यत्वासिद्ध को 'साध्येन असहचरितः' (साध्याऽसहचरित) बताया है। यानी साध्य के साथ न रहने वाला व्याप्यत्वासिद्ध हेतु। किन्तु यहाँ प्रयुक्त हेतु 'सत्त्व' तो आत्मा में रहने वाले ज्ञान, इच्छा आदि में उनके 'क्षणिकत्व' के साथ रहता ही है। आत्मा के योग्य विशेष गुणों को नैयायिकों ने

क्षणिक माना है । एवञ्च ज्ञान, इच्छा आदि पदार्थों में 'क्षणिकत्व' और 'सत्त्व' दोनों रहते हैं । ऐसी स्थिति में 'सत्त्व' हेतु को 'क्षणिकत्व'रूप साध्य का असहचरित बताकर उसे 'व्याप्यत्वासिद्ध' कैसे बना रहे हैं ?

समा०—नैयायिकों का अभिमत 'क्षणिकत्व' तो तृतीय क्षण में होने वाले ध्वंस का प्रतियोगिस्वरूप होता है । और बौद्धों का अभिमत 'क्षणिकत्व', द्वितीय क्षण में होने वाले ध्वंस का प्रतियोगित्वरूप होता है । बौद्धों के मत में प्रत्येक भाव का उसके द्वितीय क्षण में ध्वंस (नाश) हो जाता है । अतः उनके दिये हुए अनुमान में प्रयुक्त जो 'क्षणिकत्व' है, वह उन्होंने अपने मत के अनुसार द्वितीयक्षणवृत्ति-ध्वंसप्रतियोगित्व रूप ही है । नैयायिकों का अभिमत 'क्षणिकत्व' यहाँ ग्रहण नहीं करना है, क्योंकि नैयायिकों का अभिमत 'क्षणिकत्व' तृतीयक्षणवृत्ति-ध्वंसप्रतियोगित्वरूप होता है । अतः 'सत्त्व' हेतु, 'क्षणिकत्व'रूप साध्य का असहचरित ही होता है । इसलिये उक्त अनुमान का साध्याऽसहचरित व्याप्यत्वासिद्ध के उदाहरण रूप में देना उचित ही है ।

शंका—इस पर बौद्ध यदि यह कहें कि किसी शब्द धारा के 'अन्तिम शब्द' का नाश, उसके 'उपान्त्य शब्द' से होना नैयायिकों ने माना है, अर्थात् 'अन्तिम शब्द' अपने द्वितीय क्षण में ही नष्ट होता है । यानी उपान्त्य शब्द का तृतीय क्षण (नाशक्षण) ही अन्तिम शब्द का द्वितीय क्षण है, जिसमें उसका नाश होता है । अतः हम बौद्धों का जो द्वितीय क्षण ध्वंस-प्रतियोगित्वरूप जो 'क्षणिकत्व' है, उसी को नैयायिकों ने अन्तिम शब्द के नाश होने में कारण मान लिया है । एवञ्च बौद्धों के एक क्षणावस्थायित्वरूप 'क्षणिकत्व' को तो नैयायिक भी मान रहे हैं क्योंकि द्वितीय क्षण तो नाशक्षण ही है । अर्थात् बौद्धों का क्षणिकत्व तो नैयायिकों को भी मान्य है ।

समा०—नैयायिक उक्त शंका का समाधान देता है कि अन्तिम शब्द का नाश, उपान्त्य शब्द के 'नाश' से होता है, न कि 'उपान्त्य शब्द' से । 'अन्त्य शब्द' जिस क्षण में उत्पन्न होता है, उस क्षण में 'उपान्त्य शब्द' का नाश नहीं होता है, अपितु अन्तिम शब्द के 'द्वितीय क्षण' में होता है । तब 'अन्तिम शब्द' का नाश उसके अपने (अन्तिम शब्द के) 'तृतीय क्षण' में ही होता है । इसलिये हम नैयायिकों के मत में किसी प्रकार भी बौद्धाभिमत 'क्षणिकत्व' मान्य नहीं है । अतः 'सत्त्व' और 'क्षणिकत्व' की व्याप्ति (सहचार) कहीं भी और कभी भी नहीं है । एवञ्च साध्याऽसहचरितव्याप्यत्वासिद्ध के उदाहरण रूप में जो 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः'—कहा है, वह उचित ही है । यहाँ पर 'साध्याऽसहचरित' शब्द और 'असिद्धसाध्यक' शब्द, दोनों समानार्थक ही हैं । क्योंकि बौद्धों का 'क्षणिकत्व' तो 'द्वितीयक्षणवृत्ति-ध्वंसप्रतियोगित्व है, और उसी को उक्त अनुमान में 'साध्य' के रूप में रखा है । किन्तु बौद्धों का 'क्षणिकत्व', किसी भी स्थिति में नैयायिकों को मान्य नहीं हैं एवञ्च नैयायिक के द्वारा उदाहृत किये गये अनुमान में 'साध्य' तो अपने (स्व) स्वरूप से ही 'असिद्ध'

हो जाता है। अतः यहाँ प्रयुक्त 'हेतु' असिद्धसाध्यक व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उक्त हेतु को चाहे 'असिद्ध साध्यक' कहें चाहे 'साध्याऽसहचरित' कहें, उसमें कोई भेद नहीं है।

इदानीमुपाधिसहितो व्याप्यत्वासिद्धः प्रदर्श्यते। तद्यथा 'स श्यामो मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' इति। अत्र हि मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वं साध्यते न च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वे प्रयोजकं, किन्तु शाकाद्यन्नपरिणाम एवात्र प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते। अतो मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वेन सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणाम एवोपाधिः।

यथा वाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। अतएवोपाधिसम्बन्धाद् व्याप्तिर्नास्तीति व्याप्यत्वासिद्धोऽयं मैत्रीतनयत्वादिर्हेतुः।

तथा परोऽपि व्याप्यत्वासिद्धः। यथा 'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावत्' इति। न च हिंसात्वमधर्मे प्रयोजकं, किन्तु निषिद्धत्वमुपाधिरिति पूर्ववदुपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धोऽयं हिंसात्वं हेतुः।

ननु 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापको यः स उपाधिः' इत्युपाधिलक्षणम्। तच्च निषिद्धत्वे नास्ति तत् कथं निषिद्धमुपाधिरिति।

मैवम्। निषिद्धत्वेऽप्युपाधिलक्षणस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि साध्यस्य अधर्मजनकत्वस्य व्यापकं निषिद्धत्वम्। यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं, तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमिति निषिद्धत्वस्य विद्यमानत्वात्। न च यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं क्रत्वङ्गहिंसायां व्यभिचारात्। अस्ति हि क्रत्वङ्गहिंसायां हिंसात्वं, न चात्र निषिद्धत्वमिति। तदेवं त्रिविधोऽसिद्धो दर्शितः।

इदानीमिति। प्रथम व्याप्यत्वासिद्ध वताने के बाद अब उसी के दूसरे भेद 'सोपाधिक-व्याप्यत्वासिद्ध' (उपाधिसहित व्याप्यत्वासिद्ध) को वता रहे हैं—**तद्यथेति।** जैसे—'स श्यामो मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्'—अर्थात् वह श्याम है, मैत्री नामक स्त्री का पुत्र होने से, मैत्री के दिखाई देने वाले (परिदृश्यमान) अन्य पुत्रों के समान। **अत्र हीति।** यहाँ 'मैत्रीतनयत्व' हेतु से 'श्यामत्व' को सिद्ध किया जा रहा है। **न चेति।** परन्तु 'श्यामत्व' की सिद्धि में 'मैत्रीतनयत्व' निमित्त (प्रयोजक) नहीं है, अपितु शाकादिखाद्यान्न के भोजन का परिपाक ही इसमें (श्यामत्व के होने में) निमित्त (प्रयोजक) हो सकता है। **प्रयोजकश्चेति।** और 'प्रयोजक' को ही 'उपाधि' कहते हैं। **अत इति।** इस कारण 'मैत्रीतनयत्व' के साथ 'श्यामत्व' का सम्वन्ध (व्याप्ति अर्थात् साध्य-साधनाभाव) होने में शाकादि (हरी-हरी शाक आदि) खाद्य अन्नों का परिपाक (परिणाम) ही 'उपाधि' (निमित्त यानी प्रयोजक) है। इस प्रकार यहाँ प्रयुक्त 'हेतु' उपाधि से युक्त होने के कारण

'मैत्रीतनयत्व' में 'श्यामत्व' की व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पा रहा है। इसलिये यहाँ प्रयुक्त 'हेतु' उपाधि सद्भाव के कारण 'व्याप्यत्वासिद्ध' है। उसी के उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध के समर्थन में एक दूसरा उदाहरण भी दे रहे हैं। **यथेति**। जैसे—'यत्र-यत्र अग्निः तत्र-तत्र धूमः' कहने पर अग्नि का धूम के साथ सम्बन्ध आपाततः प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पर अग्नि का धूम के साथ व्याप्ति-सम्बन्ध होने में 'आर्द्रेन्धन संयोग'रूप उपाधि प्रतिबन्धक है। इसलिये अग्नि का धूम के साथ 'व्याप्ति'-सम्बन्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि प्राचीन नैयायिक 'निरुपाधिकत्व' को ही व्याप्ति मानते हैं। यहाँ पर तो 'हेतु' में उपाधि का ज्ञान हो रहा है, इस कारण 'निरुपाधिकत्वरूप व्याप्ति' का ज्ञान न हो सकने से 'यत्र-यत्र अग्निः तत्र-तत्र धूमः' ऐसी व्याप्ति नहीं बन पाती। एवञ्च 'हेतु' के सोपाधिक होने से वह 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहलाता है। अतएव 'अग्नि' से 'धूम' का अनुमान नहीं किया जाता, क्योंकि धूम की उत्पत्ति केवल अग्नि से न होकर अग्नि के साथ गीली लकड़ी के संयोग से होती है। अतः धूम के होने में निमित्त (प्रयोजक) केवल 'अग्नि' नहीं है, अपितु अग्नि के साथ 'आर्द्रेन्धन' का संयोग भी निमित्त (प्रयोजक) है। एवञ्च आर्द्रेन्धनसंयोग रूप उपाधि के रहने से धूम में अग्नि के साथ नियमितरूप से रहने की जो व्याप्ति (सम्बन्ध) है, वह नहीं बनती है। इसी प्रकार उपर्युक्त 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु में भी 'शाकाद्यन्न-परिणाम' रूप उपाधि का सद्भाव रहने से 'यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं, तत्र-तत्र श्यामत्वम्'—यह व्याप्ति नहीं बनती। इसलिये 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' हो गया है।

उसी तरह एक अन्य तीसरा उदाहरण भी प्रदर्शित कर रहे हैं। जिससे उपाधि-सद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध होने वाले हेत्वाभास का परिचय अच्छी प्रकार से हो सके। **यथेति**। जैसे—'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावत्' अर्थात् यज्ञ में की जाने वाली हिंसा अधर्मजनिका (अधर्म की उत्पादिका यानी अधर्म का साधन) है, क्योंकि वह 'हिंसा' है, यज्ञ के बाहर होने वाली हिंसा के समान। इस अनुमान में 'हिंसात्व'—हेतु है और 'अधर्मसाधनत्व'—साध्य है तथा 'क्रतुबाह्य-हिंसावत्'—उदाहरण (दृष्टान्त) है। **न चेति**। प्रदर्शित उदाहरण का विचार करने पर प्रतीत होता है कि यज्ञ (क्रतु) के बाहर की जाने वाली 'हिंसा' को अधर्म का साधन मानने में निमित्त (प्रयोजक) वह 'हिंसा' (हिंसात्व) नहीं है, किन्तु उसका (हिंसा का) 'निषिद्धत्व' यानी निषिद्ध होना ही उसे अधर्मसाधन मानने में निमित्त (प्रयोजक) है। एवञ्च 'निषिद्धत्व' उपाधि ही उसके अधर्मजनकत्व में प्रयोजक है। अतः पूर्व 'हेतु' के समान, उपाधि के विद्यमान रहने से यह 'हिंसात्व' हेतु भी 'व्याप्य-त्वासिद्ध' संज्ञक हेत्वाभास है।

शंका—नन्विति। वहाँ पर शंका करने वाला कहता है कि 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनव्यापको यः स उपाधिः'—अर्थात् 'साध्य' का व्यापक होकर जो 'साधन' का

अव्यापक हो, उसे 'उपाधि' कहा जाता है। यह 'उपाधि' का लक्षण ग्रन्थकार ने दिया है। और यह लक्षण 'निषिद्धत्व' में नहीं घट रहा है, तब 'निषिद्धत्व' को कैसे 'उपाधि' कह सकते हैं ?

समा० – मैवमिति। ऐसा न कहो। क्योंकि 'निषिद्धत्व' में भी 'उपाधि' का लक्षण घटित (समन्वित) हो रहा है।

तथा हीति। लक्षण का समन्वय इस प्रकार हो रहा है—'अधर्मजनकत्व' रूप 'साध्य' का व्यापक 'निषिद्धत्व' है, क्योंकि जहाँ-जहाँ 'अधर्मजनकत्व' रहता है, वहाँ-वहाँ 'निषिद्धत्व' अवश्य होता है, इसलिये 'निषिद्धत्व' में साध्यव्यापकता रहने से उसे (निषिद्धत्व को) साध्य का व्यापक कह सकते हैं। इसी प्रकार अब 'साधना-ऽव्यापकता' भी 'निषिद्धत्व' में प्राप्त हो रही है। जैसे—जहाँ-जहाँ 'हिंसात्व' रूप साधन है वहाँ-वहाँ नियम से (अवश्य) 'निषिद्धत्व' नहीं रहता। एवञ्च क्रत्वङ्ग-भूत हिंसा में 'यत्र-यत्र हिंसात्वं तत्र-तत्र अवश्यं निषिद्धत्वम्' इस नियम का व्यभिचार उपलब्ध होता है। यज्ञ में होने वाली 'हिंसा' में 'हिंसात्व' रूप साधन तो है, किन्तु 'निषिद्धत्व' नहीं है। अतः 'निषिद्धत्व' में साधन की अव्यापकता भी है। एवञ्च 'निषिद्धत्व' में साध्य की व्यापकता और साधन की अव्यापकता के रहने से उपाधि का लक्षण 'निषिद्धत्व' में समन्वित हो जाता है।

तदेवमिति। इस प्रकार से त्रिविध (तीन प्रकार के) 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास को प्रदर्शित किया गया है।

माधुरी

सोपाधिको हेतुः व्याप्यत्वाऽसिद्धः—यह लक्षण 'व्याप्यत्वासिद्ध हेतु' का किया गया है। जैसे—'पर्वतः धूमवान् वह्निमत्वात् महानसवत्'—यह पर्वत धूमवाला है, क्योंकि वह वह्निमान् (वह्निवाला) है, महानस (रसोई घर) के समान। इस अनुमान में 'वह्निमत्त्व' हेतु, 'आर्द्रेन्धन-संयोग' इस उपाधि से युक्त है। इसलिये 'वह्निमत्त्व' को व्याप्यत्वासिद्ध कहा गया है।

'उपाधि' का लक्षण—**'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधित्वम्'** किया गया है। जो पदार्थ 'साध्य' का व्यापक होता हुआ 'हेतु' रूप साधन का 'अव्यापक' रहता है उस पदार्थ को 'उपाधि' कहते हैं। जैसे उक्त अनुमान में 'आर्द्रेन्धनसंयोग', उस 'धूम' रूप साध्य का व्यापक भी है तथा उस 'वह्नि' रूप साधन का अव्यापक भी है। इसलिये उक्त अनुमान में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि माना गया है। 'यत्र-यत्र धूमः भवति तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः अवश्यम्भवति' अर्थात् आर्द्रेन्धनसंयोग के बिना धूम नहीं होता है। एवञ्च आर्द्रेन्धनसंयोग में 'धूम' रूप 'साध्य' की व्यापकता है, किन्तु जहाँ-जहाँ 'वह्निरूप' साधन होता है, वहाँ-वहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' नियमितरूप

से नहीं रहता। जैसे अग्नि से तप्त हुए लौहपिण्ड में वह्निरूप साधन के विद्यमान रहने पर भी 'आर्द्रेन्धनसंयोग' नहीं रहता है। तथा विद्युद्गोलक में भी वह्निरूप साधन के विद्यमान रहने पर भी आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं रहता है। अतः आर्द्रेन्धन-संयोग में वह्निरूप साधन की अव्यापकता है। अतः 'आर्द्रेन्धनसंयोग' को उपाधि कहा गया है। एवं च आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि से युक्त होने के कारण 'वह्निमत्त्व' (वह्नि) रूप हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहा गया है।

उपाधि के भेद—

(१) केवलसाध्यव्यापक, (२) पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, (३) साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक, (४) उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक—के भेद से उपाधि के चार प्रकार होते हैं।

(१) **केवलसाध्यव्यापक**—उनमें से प्रथम का उदाहरण जैसे—'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् (वह्नेः)' है। इस अनुमान में 'आर्द्रेन्धन-संयोग' रूप उपाधि, 'केवल साध्यव्यापक' है। उसी तरह 'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात्' 'क्रतुबाह्य-हिंसावत्' सांख्यदर्शन के विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त किये इस अनुमान में 'निषिद्धत्व' उपाधि है। क्योंकि जहाँ-जहाँ 'अधर्मसाधनत्व' होता है, वहाँ-वहाँ शास्त्र के द्वारा निषिद्धत्व अवश्य ही रहता है। जैसे—क्रतुबाह्य (यज्ञ के बाहर) 'हिंसा' में अधर्म-साधनत्व होने से 'निषिद्धत्व' रहता ही है। इस रीति से 'निषिद्धत्व' रूप उपाधि में 'अधर्मसाधनत्व' रूप साध्य की व्यापकता भी है, और जहाँ-जहाँ 'हिंसात्व' है, वहाँ-वहाँ 'निषिद्धत्व' नियमित रूप से (अवश्य) नहीं रहता है। जैसे—'यज्ञीय हिंसा' में 'हिंसात्व' रूप साधन के विद्यमान रहने पर भी 'निषिद्धत्व' नहीं रहता है। क्योंकि 'पशुना यजेत' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि श्रुति से उस 'हिंसा' में विहितत्व ही बताया गया है। और 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह श्रुति यज्ञीय हिंसा के अतिरिक्त समस्त प्राणियों की हिंसा का निषेध कर रही है। एवञ्च 'निषिद्धत्व' रूप उपाधि में 'हिंसात्व'रूप साधन की अव्यापकता भी है। इसलिये 'निषिद्धत्व' उपाधि भी 'केवलसाध्यव्यापक' का उदाहरण है।

(२) **पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक**—जो 'उपाधि' केवलसाध्य का व्यापक न होकर 'पक्षवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न साध्य' का व्यापक होता है, उसे पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधि कहते हैं। जैसे—'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात् घटवत्'—अर्थात् वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होने से। जो-जो द्रव्य, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होता है, वह 'द्रव्य' प्रत्यक्ष के योग्य ही होता है। जैसे—'घट' द्रव्य। इस अनुमान में उद्भूतरूपवत्त्व' (उद्भूतरूप) उपाधि है। जहाँ-जहाँ 'प्रत्यक्षत्व' है वहाँ-वहाँ 'उद्भूतरूपवत्त्व' है—यह नियम (व्याप्ति) नहीं है, जैसे आत्मप्रत्यक्ष में

प्रत्यक्षत्व तो है किन्तु उद्भूतरूपवत्त्व नहीं है। अतः 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि में केवल 'प्रत्यक्षत्व' रूप साध्य की 'व्यापकता' का होना संभव नहीं है, क्योंकि 'आत्मा' में 'प्रत्यक्षत्व' रूप साध्य के विद्यमान रहने पर भी 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि नहीं रहता है। किन्तु 'वायु' रूप पक्ष में रहने वाला जो 'बहिर्द्रव्यत्व' रूप धर्म है, उस बहिर्द्रव्यत्वरूप पक्षधर्म से अवच्छिन्न जो 'प्रत्यक्षत्व' रूप साध्य है, उसी का वह 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि व्यापक होता है। जहाँ-जहाँ बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्व रहता है, वहीं पर 'उद्भूतरूपवत्त्व' अवश्य रहता है। जैसे घट-पटादि, बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्व से युक्त हैं, इसलिये वे उद्भूतरूप से भी युक्त हैं, इस रीति से 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि में उस बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्वरूप साध्य की व्यापकता रहती है। किन्तु जहाँ-जहाँ 'प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रयत्व' रहता है वहाँ 'उद्भूतरूपवत्त्व' नियमित रूप से (अवश्य) नहीं रहता है। जैसे—वायु में प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व के विद्यमान रहने पर भी 'उद्भूतरूपवत्त्व' नहीं रहता है। इस प्रकार से 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि में उस प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्वरूप साधन की अव्यापकता है। इसलिये उक्त अनुमान में 'उद्भूतरूपवत्त्व' को पक्षधर्मावच्छिन्न साध्यव्यापक उपाधि कहा जाता है।

(३) **साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक**—जो उपाधि, 'हेतु' रूप साधन से अवच्छिन्न हुए साध्य का व्यापक होता है, उसे साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधि कहते हैं। जैसे—'ध्वंसः विनाशी जन्यत्वात् घटवत्'—ध्वंस विनाशवान् है, जन्य होने से, घट के समान। उक्त अनुमान में 'भावत्व' उपाधि है। जहाँ-जहाँ 'विनाशित्व' है, वहाँ-वहाँ 'भावत्व' होता है। इस नियम (व्याप्ति) के अनुसार 'भावत्व' उपाधि में केवल 'विनाशित्व'रूप साध्य की व्यापकता तो संभव नहीं हो रही है, क्योंकि 'प्रागभाव' में विनाशित्व के विद्यमान रहने पर भी वहाँ 'भावत्व' नहीं है। किन्तु 'जन्यत्व' रूप साधन से अवच्छिन्न हुए 'विनाशित्व' रूप साध्य का ही वह 'भावत्व' व्यापक होता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ 'जन्यत्वविशिष्ट विनाशित्व' रहता है, वहीं पर 'भावत्व' नियमितरूप से (अवश्य) रहा करता है। जैसे—घटादिक द्रव्य में 'जन्यत्वविशिष्ट विनाशित्व' रहता है इसलिये उस घटादिक द्रव्य में 'भावत्व' भी रहता है। अतः 'भावत्व', 'जन्यत्व'रूप साधनावच्छिन्न 'विनाशित्व'रूप 'साध्य' का व्यापक है। किन्तु जहाँ-जहाँ जन्यत्व रहता है, वहाँ-वहाँ 'भावत्व' भी नियमित रूप से (अवश्य) रहे, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। क्योंकि 'प्रध्वंसाभाव' में 'जन्यत्व' के विद्यमान रहने पर भी उसमें 'भावत्व' नहीं रहता है। इस कारण उस 'भावत्व'रूप उपाधि में उस 'जन्यत्व'रूप 'साधन' की अव्यापकता भी है। इसलिये उक्त अनुमान में 'भावत्व'रूप उपाधि को 'साधनावच्छिन्न-साध्यव्यापक' कहा गया है।

(४) **उदासीनधर्मावच्छिन्न-साध्यव्यापक**—जो 'उपाधि' किसी उदासीन धर्म से अवच्छिन्न हुए साध्य का व्यापक होता है, उसे उदासीनधर्मावच्छिन्न-साध्यव्यापक

कहते हैं। जैसे—'प्रागभावः विनाशी प्रमेयत्वात् घटवत्'—प्रागभाव विनाशी है, प्रमेय होने से, घट के समान। इस अनुमान में भी 'भावत्व' उपाधि है। जहाँ-जहाँ विनाशित्व रहता है, वहाँ-वहाँ 'भावत्व' अवश्य रहता है। इस प्रकार से 'भावत्व' उपाधि केवल 'विनाशित्व' रूप साध्य का व्यापक नहीं हो पाता है, क्योंकि 'प्रागभाव' में विनाशित्व के विद्यमान रहने पर भी 'भावत्व' नहीं रहता है। किन्तु जन्यत्व धर्म से अविच्छिन्न हुए 'विनाशित्व' रूप साध्य का ही वह 'भावत्व' व्यापक होता है। जहाँ-जहाँ 'जन्यत्वविशिष्ट विनाशित्व' रहता है, वहाँ-वहाँ 'भावत्व' धर्म अवश्य ही रहता है। जैसे—घटादिक द्रव्य पदार्थ, जन्यत्वविशिष्ट विनाशित्व धर्म वाले हैं, इसलिये वे 'भावत्व' धर्मवाले भी हैं। इस रीति से 'भावत्व' उपाधि में 'जन्यत्वधर्मावच्छिन्न विनाशित्व' रूप साध्य की व्यापकता है, और जहाँ-जहाँ 'प्रमेयत्व' रहता है, वहाँ-वहाँ 'भावत्व' नियमित रूप से नहीं रहता। इस कारण प्रागभाव में प्रमेयत्व धर्म के विद्यमान रहने पर भी 'भावत्व' धर्म नहीं रहता है। इसलिये 'भावत्व' उपाधि में 'प्रमेयत्व' साधन की अव्यापकता है। और उक्त अनुमान में वह 'जन्यत्व' धर्म, उस 'प्रागभाव' रूप पक्ष का धर्म नहीं है, तथा 'साधन' रूप भी नहीं है। अतः वह 'जन्यत्व' एक 'उदासीन धर्म' है। इसलिये उक्त अनुमान में 'भावत्व' उपाधि को 'उदासीनधर्मावच्छिन्न-साध्यव्यापक' कहा जाता है। उस चतुर्विध उपाधियों में से किसी भी उपाधि से युक्त जो 'हेतु' होता है, उसे 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहते हैं। इस व्याप्यत्वासिद्ध हेतु का ज्ञान भी व्याप्ति-ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है।

सम्प्रति विरुद्धः कथ्यते। साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' इति अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः। तद्विपर्ययेण चानित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं, यतो यद्यत् कृतकं तत्तत् खल्वनित्यमेव। अतः साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं हेतुर्विरुद्धः।

(२) विरुद्धहेत्वाभास--

सम्प्रतीति। अब 'विरुद्ध' संज्ञक हेत्वाभास को बताया जा रहा है। **साध्येति।** **'साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः'**। अर्थात् जो हेतु 'साध्य-विपर्यय (साध्याभाव) का व्याप्य हो उसे 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास कहते हैं। **यथेति।** जैसे—'शब्दो नित्यः कृतकत्वात् अर्थात् शब्द नित्य है, कृतक (उत्पन्न) होने से। इस अनुमान में 'नित्यत्व'—साध्य है, और 'कृतकत्व'—हेतु है। **तद्विपर्ययेणेति।** उस 'नित्यत्व' रूप साध्य के विपरीत 'अनित्यत्व' के साथ 'कृतकत्व' हेतु व्याप्त है। अर्थात् 'कृतकत्व' हेतु 'अनित्यत्व' रूप साध्याभाव का व्याप्य है। क्योंकि 'यत्-यत् कृतकं तत्तत् खलु अनित्यमेव'—जो-जो कृतक होता है, वह सभी अनित्य होता है—यह व्याप्ति है। अतः साध्य के विपरीत अनित्यत्वरूप साध्याभाव का व्याप्य (व्याप्त) होने से 'कृतकत्व' हेतु को विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहा गया है।

माधुरी

'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास का लक्षण—**साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः'** किया जाता है। जो हेतु, अपने साध्य की व्याप्ति से युक्त नहीं रहता, बल्कि अपने साध्य के अभाव की व्याप्ति से युक्त होता है उस हेतु को 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—'शब्दः नित्यः कृतकत्वात्' शब्द नित्य है, उसमें 'कृतकत्व' (कार्यत्व) होने से। इस अनुमान में 'कृतकत्व' हेतु, अपने साध्य (नित्यत्व) के अभाव वाली जो 'घट-पट आदि' वस्तुएँ (पदार्थ) हैं, उनमें विद्यमान रहने से अपने नित्यत्वरूप साध्य की व्याप्ति से युक्त नहीं हुआ, अपितु 'यत्र-यत्र कृतकत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वम्'—इस रीति से वह कृतकत्व हेतु, अपने 'नित्यत्व' रूप साध्य का अभाव रूप जो 'अनित्यत्व' उसकी व्याप्ति से ही युक्त है। इसलिये उस 'कृतकत्व' हेतु को 'विरुद्ध' कहा जाता है। इस 'विरुद्ध हेतु' का ज्ञान साक्षात् अनुमिति का ही प्रतिबन्धक होता है।

साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार। इति वोच्यते। स द्विविधः। साधारणानैकान्तिको असाधारणानैकान्तिकश्चेति। तत्र प्रथमः, पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः। यथा 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्' इति। अत्र प्रमेयत्वं हेतुः पक्षे शब्दे, सपक्षे नित्ये व्योमादौ, विपक्षे चानित्ये घटादौ विद्यते। सर्वस्यैव प्रमेयत्वात्। तस्मात् प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिकः।

असाधारणानैकान्तिकः स एव यः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तः पक्ष एव वर्तते। यथा 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' इति। अत्र गन्धवत्त्वं हेतुः। स च सपक्षान्नित्याद् व्योमादेः, विपक्षाच्चानित्याज्जलादेर्व्यावृत्तो, गन्धवत्त्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वादिति।

व्यभिचारस्तु लक्ष्यते। सम्भवत्सपक्षस्य हेतोः सपक्षवृत्तित्वे सति विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव नियमो गमकत्वात्। तस्य च साध्यविपरीतताव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः। स च द्वेधा सम्भवति। सपक्षविपक्षयोर्वृत्तौ, ताभ्यां व्यावृत्तौ च।

(३) अनैकान्तिक —

साध्यसंशयहेतुरिति। जो 'हेतु' अपने साध्य के प्रति संशय को पैदा (उत्पन्न) करता है, उस हेतु को 'अनैकान्तिक' अथवा 'सव्यभिचार' कहते हैं। **स द्विविध इति।** वह दो प्रकार का होता है—(१) साधारण-अनैकान्तिक और (२) असाधारण-अनैकान्तिक।

(१) साधारण-अनैकान्तिक—तत्रेति। उनमें से पहला अनैकान्तिक बताया जा रहा है—जो 'हेतु' अपने 'पक्ष', 'सपक्ष' और 'विपक्ष' तीनों में रहता है, उस

हेतु को 'साधारण-अनैकान्तिक' कहते हैं। **यथेति**। 'शब्दः नित्यः प्रमेयत्वात्'—अर्थात् शब्द 'नित्य' है, क्योंकि वह 'प्रमेय' है। इस अनुमान में 'नित्यत्व' साध्य है, और 'प्रमेयत्व' हेतु है। 'प्रमेयत्व' का अर्थ होगा—'यथार्थज्ञानविषयत्व' यानी यथार्थज्ञान (ठीक-ठीक ज्ञान) का विषय होना। **अत्रेति**। इस अनुमान में प्रयुक्त हुआ जो 'प्रमेयत्व' हेतु है, वह अपने 'पक्ष' (शब्द) में रहता है तथा अपने 'सपक्ष' (आकाश आदि नित्यपदार्थों) में भी रहता है, तथा अपने 'विपक्ष' (घट-पट आदि अनित्यपदार्थों) में भी रहता है। क्योंकि सभी (पक्ष, सपक्ष, विपक्ष) प्रमेय (यथार्थज्ञान के विषय) हैं। **तस्मादिति**। इसलिये 'प्रमेयत्व' हेतु, 'शब्द' के नित्यत्व का अनुमान करने में 'साधारण-अनैकान्तिक' हो गया है।

(२) **असाधारण-अनैकान्तिक—स एवेति**। जो 'हेतु' अपने सपक्ष और विपक्ष दोनों से व्यावृत्त होकर यानी दोनों में न रहकर केवल 'पक्ष' में ही रहता है, उस 'हेतु' को असाधारण-अनैकान्तिक कहते हैं। **यथेति**। 'भूः नित्या गन्धवत्त्वात्'—अर्थात्—भू (पृथिवी) नित्य है, क्योंकि उसमें गन्धवत्त्व (गन्ध) है। इस अनुमान में 'भूः' पक्ष है, 'नित्यत्व' साध्य है, और 'गन्धवत्त्व' हेतु है। यहाँ 'गन्धवत्त्व' हेतु अपने 'सपक्ष' (आकाशादि नित्य पदार्थों प्रमेय) में तथा अपने 'विपक्ष' (जल आदि अनित्य पदार्थों) में न रहकर (सपक्ष और विपक्ष से व्यावृत्त होकर) केवल अपने 'पक्ष' (भू यानी पृथिवी) में ही रहता है। इसलिये भू (पृथिवी) के नित्यत्व का अनुमान करने में 'गन्धवत्त्व' (गन्ध) हेतु असाधारण अनैकान्तिक है।

व्यभिचार-व्यभिचारस्त्विति। उपर्युक्त अनैकान्तिक का ही दूसरा नाम 'व्यभिचार' या 'सव्यभिचार' भी है। नियमोल्लङ्घनरूप व्यभिचार का जो आश्रय होता है, उसे 'सव्यभिचार' कहते हैं। 'नियमोल्लङ्घन' अर्थात् 'नियमाभाव' ही व्यभिचार का लक्षण है। 'नियम' उसे कहते हैं—जिस 'हेतु' के सपक्ष और विपक्ष दोनों सम्भव हों, उस 'हेतु' का सपक्ष में वृत्तित्व (वह हेतु जब सपक्ष में रहता है तब) होने पर उस (हेतु) की 'विपक्ष' से व्यावृत्ति हो जाती है'। इस नियम के अनुसार वह व्यावृत्ति ही 'साध्य' की गमक (अनुमापक) होती है। एवञ्च जिस हेतु के सपक्ष-विपक्ष दोनों होते हैं, उस हेतु की 'साध्यगमकता' के दो नियम हैं—

यदि हेतु सपक्षवृत्ति होता है, तो 'विपक्षाऽवृत्तित्व'—'नियम' बन जाता है और 'यदि वह हेतु विपक्षाऽवृत्ति (विपक्ष में अवृत्ति) होता है, तो 'सपक्षवृत्तित्व'—'नियम' बन जाता है। इन नियमों के अभाव (उल्लंघन) को ही 'व्यभिचार' कहा गया है। यह उक्त 'अभाव' दो प्रकार से होता है—'सपक्ष' और 'विपक्ष' में वृत्ति होने से तथा 'सपक्ष' और 'विपक्ष' दोनों में अवृत्ति होने से भी। निष्कर्ष यह है—जब 'हेतुः' अपने सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहता है, तब प्रथम नियम (पहले नियम) का, यानी 'सपक्ष वृत्तित्वे सति विपक्षाद्व्यावृत्ति = विपक्षाऽवृत्तित्व का अभाव

(उल्लंघन) होता है, क्योंकि जब 'हेतु' विपक्ष में वृत्ति होगा (विपक्ष में रहेगा), तब उस हेतु में 'विपक्षाऽवृत्तित्व' का अभाव अवश्य ही रहेगा यानी उसकी अपने विपक्ष से व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी। और जब 'हेतु' अपने सपक्ष और विपक्ष दोनों में अवृत्ति होगा यानी दोनों में नहीं रहेगा, तब उस हेतु में 'सपक्षवृत्तित्व' का अभाव अवश्य ही रहेगा। एवं च नियमोल्लङ्घन (नियमाभाव) रूप व्यभिचार के उक्त दो नियम ही मूलकारण हैं, इसलिये अनैकान्तिक या सव्यभिचार के दो ही भेद होते हैं, जिन्हें साधारण अनैकान्तिक और 'असाधारण अनैकान्तिक' कहा जाता है।

माधुरी

'सव्यभिचार' नाम के हेत्वाभास को प्राचीन नैयायिक 'अनैकान्तिक' नाम से कहते हैं। इस सव्यभिचार नामक अनैकान्तिक के (१) साधारण, (२) असाधारण, (३) अनुपसंहारी—ये तीन भेद होते हैं।

उनमें से—(१) 'साधारण अनैकान्तिक' का लक्षण—**'साध्याभाववद्वृत्तिर्हेतुः साधारणः'**—अर्थात् जो 'हेतु' अपने साध्य के अभाव वाले अधिकरण (साध्याभावाधिकरण) में रहता है, उस हेतु को 'साधारण' अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे—'पर्वतः वह्निमान् प्रमेयत्वात् महानसवत्' 'यत्र-यत्र प्रमेयत्वम् तत्र-तत्र वह्निमत्त्वम्'—जैसे महानस में प्रमेयत्व है तो उसमें वह्निमत्त्व भी है। उसी प्रकार यह पर्वत भी प्रमेयत्व धर्मवाला है तो अवश्य ही वह वह्निमान् (वह्निवाला) होगा। किन्तु इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु जो प्रमेयत्व है, वह अपने वह्निरूप साध्य के अभाव वाले ह्रद में (साध्याभावाधिकरणरूप ह्रद में) भी रहता है, क्योंकि वस्तुमात्र 'प्रमेय' कहलाती है तो 'ह्रद' भी एक प्रमेय है। इसलिये 'प्रमेयत्व' हेतु को साधारण अनैकान्तिक कहा गया है।

उक्त अनुमान में 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति का करण (साधन) 'वह्निव्याप्यं प्रमेयत्वम्'—यह 'व्याप्ति ज्ञान' होगा। उसकी प्रतिबन्धकता 'वह्न्यभाववद्वृत्तिप्रमेयत्वम्'—इस ज्ञान में रहेगी, और यह ज्ञान 'यथार्थ' भी है। एवं च व्याप्तिज्ञान के प्रतिबन्धकीभूत यथार्थज्ञान की 'विषयता' उस 'प्रमेयत्व' हेतु में भी है। अतः उक्त हेत्वाभास का लक्षण 'प्रमेयत्व' हेतु में घटित हो जाने से यह 'प्रमेयत्व' हेतु, 'साधारण अनैकान्तिक' हेत्वाभास दोष से दूषित रहने से यहाँ असद्धेतु हो गया है।

(२) असाधारण अनैकान्तिक का लक्षण—**'सर्वसपक्ष-विपक्षव्यावृत्तो हेतुः असाधारणः'**—अर्थात् निश्चितसाध्य वाले जितने भी सपक्ष हैं तथा निश्चितसाध्याभाव वाले जितने भी विपक्ष हैं, उन सबमें जो 'हेतु' अवृत्ति (नहीं रहता) है, उस 'हेतु' को असाधारण अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे—'शब्दः नित्यः शब्दत्वात्'—यह शब्द, नित्य है, शब्दत्वधर्मवाला होने से। इस अनुमान में 'नित्यत्व' साध्य है। वह नित्यत्व रूप साध्य, आकाशादिकों में निश्चित रूप से रहता है, इसीलये 'आकाशादिकों' को

'सपक्ष' कहा जाता है। अतएव उसका लक्षण 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः' किया जाता है। और 'नित्यत्व' रूप साध्य का अभाव 'घट-पटादिकों' में निश्चित रूप से रहता है, इस कारण घट-पटादिक, नित्यत्वरूप साध्य के अभाव वाले होने से 'विपक्ष' कहा जाता है। अतएव उसका लक्षण 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' किया जाता है। ऐसे सपक्षों में तथा विपक्षों में 'शब्दत्व' हेतु नहीं रहता है। वह तो केवल 'शब्द' रूप पक्ष में ही रहता है। इसलिये उस 'शब्दत्व' हेतु को 'असाधारण अनैकान्तिक' कहा जाता है। 'शब्दत्व' 'हेतु' में साध्यवत्—अवृत्तित्व (साध्याऽसामानाधिकरण्य) का निश्चय होने पर ही साध्यवत् वृत्तित्व (साध्यसामानाधिकरण्य) रूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। 'साध्यवत्-अवृतित्व (साध्यवदवृत्तित्व) पद से 'साध्याऽसामानाधिकरण्य' को समझना चाहिये। उसी तरह 'सर्वविपक्षव्यावृत्तत्व' पद से भी 'निश्चितसाध्याऽभावाऽसामानाधिकरण्य' को समझना चाहिये।

(३) अनुपसंहारी अनैकान्तिक का लक्षण—**'अन्वय-व्यतिरेकदृष्टान्तरहितो हेतुः अनुपसंहारी'**—अर्थात् जो 'हेतु' 'अन्वयदृष्टान्त' से भी रहित हो, तथा 'व्यतिरेक-दृष्टान्त' से भी रहित होता है, उसे 'अनुपसंहारी' कहते हैं। जैसे—'सर्वम् अनित्यं प्रमेयत्वात्'—समस्त (सर्व) पदार्थ मात्र, अनित्य हैं, क्योंकि उनमें प्रमेयत्वधर्म रहता है। इस अनुमान में पदार्थमात्र को 'पक्ष' बनाया गया है। उस पक्ष से भिन्न कोई अन्वयदृष्टान्त तथा व्यतिरेकदृष्टान्त है ही नहीं। इसलिये 'प्रमेयत्व' हेतु को यहाँ 'अनुपसंहारी' अनैकान्तिक बताया गया है। यह अनुपसंहारी हेतु का ज्ञान भी व्याप्ति में सन्देह उत्पन्न कराकर व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। इसमें दृष्टान्त का अभाव रहता है, यानी यहाँ न कोई सपक्ष है और न कोई विपक्ष है। तर्कसङ्ग्रहकार अन्नम्भट्ट ने 'अनैकान्तिक' के तीन भेद माने हैं। किन्तु तर्कभाषाकार ने उसके दो ही भेद बताये हैं। तथापि 'अनुपसंहारी' को भी हेत्वाभास कहना उचित है, क्योंकि 'सर्वम् अनित्यं प्रमेयत्वात्' में सभी तो 'पक्ष' के अन्तर्भूत हो गया है। इसलिये किसे उदाहरण के रूप में दिखाया जाय? अर्थात् 'यत्र-यत्र प्रमेयत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वम् यथा अमुकः' अथवा 'यत्र-यत्र अनित्वं नास्ति, तत्र-तत्र प्रमेयत्वं नास्ति, यथा अमुकः'—ऐसा नहीं दिखा सकते हैं। इसलिये इस अनुपसंहारी को भी हेत्वाभास कहा गया है।

यस्य प्रतिपक्षभूतं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः। स एव सत्प्रतिपक्षः इति चोच्यते। तद्यथा 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः', 'शब्दो नित्योऽनित्य-धर्मानुपलब्धेः' इति। अत्र साध्यविपरीतसाधकं समानबलमनुमानान्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। यः पुनरतुल्यबलो न स प्रतिपक्षः। तथाहि विपरीतसाधकानुमानं त्रिविधं भवति। उपजीव्यम्, उपजीवकम्, अनुभयं चेति।

तत्राद्यं बाधकं बलवत्त्वात्। यथा 'अनित्यपरमाणुमूर्तत्वाद् घटवत्' इत्यस्य परमाणुसाधकानुमानं नित्यत्वं साधयदपि न प्रतिपक्षः। किन्तु बाधकमेवोपजीव्य-

त्वात् । तच्च धर्मिग्राहकत्वात् । न हि प्रमाणेनागृह्यमाणे धर्मिणि परमाणावनित्यत्वानुमानमिदं सम्भवति, आश्रयासिद्धेः । अतोऽनेनानुमानेन परमाणुग्राहकस्य प्रामाण्यमप्यनुज्ञातमन्यथाऽस्योदयासम्भवात् । तस्मादुपजीव्यं बाधकमेव । उपजीवकं तु दुर्बलत्वाद् बाध्यम् । यथेदमेवानित्यत्वानुमानम् । तृतीयं तु सत्प्रतिपक्षं समबलत्वात् ।

(४) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) हेत्वाभास—

यस्येति । जिस 'हेतु' का प्रतिपक्षभूत (साध्यविरोधी अर्थ का साधक) 'अन्य हेतु' विद्यमान रहता है, उस हेतु को 'प्रकरणसम' कहते हैं। इस 'प्रकरणसम' का दूसरा नाम 'सत्प्रतिपक्ष' भी है । जैसे—(१) 'शब्दः अनित्यः नित्यधर्मानुपलब्धेः'—शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की उपलब्धि न होने से । (२) शब्दः नित्यः अनित्यधर्मानुपलब्धेः—शब्द नित्य है, अनित्यत्वधर्म की उपलब्धि न होने से । इन दो अनुमानों में से पहिला अनुमान नैयायिक का है और दूसरा अनुमान मीमांसक का है। यहाँ दूसरा अनुमान, प्रथम अनुमान में जो 'साध्य' है, उसके विपरीत अर्थ (विरोधी अर्थ) का साधक है, इसलिये वह दूसरा अनुमान भी प्रथम अनुमान के समानवल (तुल्यबल) वाला है। अतः वह दूसरा अनुमान, पूर्वप्रयुक्त प्रथम अनुमान का 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। किन्तु दूसरा अनुमान यदि तुल्यबलवाला (समानबल वाला) नहीं होता तो उसे 'प्रतिपक्ष' नहीं कहा जाता। इस प्रकार प्रतिपक्ष के विद्यमान रहने से प्रथम को 'सत्प्रतिपक्ष' कहा जाता है । क्योंकि 'सत्प्रतिपक्ष' का अर्थ है—'प्रतिपक्ष' से युक्त (प्रतिपक्ष के सहित) होना । 'साध्यविपरीत का साधक अनुमानान्तर (दूसरा अनुमान) प्रथम अनुमान के तुल्यबल वाला न होने पर उसे प्रतिपक्ष नहीं कहा जाता' । **तथाहीति ।** क्योंकि, प्रतिपक्ष कहलाने वाला साध्यविपरीत साधक अनुमान, तीन प्रकार का होता है—(१) **उपजीव्य** (दूसरे अनुमान आश्रय होने वाला), (२) **उपजीवक** (दूसरे अनुमानपर आश्रित होने वाला), (३) **अनुभय** (आश्रय तथा आश्रित दोनों से भिन्न) ।

तत्राद्यमिति । उक्त तीन प्रकारों में से पहिले प्रकार का उपजीव्यभूत—विपरीत अनुमान', पूर्व के 'साध्यानुमान' से बलवान् माना जाता है, इसलिये उस 'उपजीव्यभूत विपरीतानुमान को ही 'साध्यानुमान' का बाधक कहा जाता है । जैसे—'अनित्यः परमाणुः मूर्तत्वात् घटवत्'—परमाणु अनित्य है मूर्त (परिच्छिन्न-परिमाणवान्) होने से, घट के समान । परमाणु के अनित्यत्व का साधन करने वाले इस अनुमान का दूसरा अनुमान परमाणु की नित्यता को सिद्ध करता हुआ भी 'प्रतिपक्ष' नहीं है, अपितु 'बाधक' ही होता है। क्योंकि वह इसका उपजीव्य (आश्रयभूत) है ! **तच्चेति ।** उसे 'उपजीव्य' इसलिये कहा जाता है कि वह धर्मी (परमाणु) का साधक

है। **नहीति।** परमाणुरूप धर्मी का अनुमान प्रमाण से यदि ग्रहण न होता तो उसके (परमाणु के) अनित्यत्व का साधक यह अनुमान ही कैसे प्रयुक्त हो सकता था ? क्योंकि उसका (अनुमान का) आश्रय ही सिद्ध नहीं है। **अत इति।** इसलिये परमाणुर्धमिक अनित्यत्वानुमान से परमाणु साधक नित्यत्वानुमान का बाध करना तो दूर रहा, प्रत्युन अनित्यत्वमाधक अनुमान से नित्यत्वसाधक अनुमान के प्रामाण्य का ही ममर्थन किया है। अन्यथा इस अनित्यत्वसाधक अनुमान का उदय (उत्पत्ति) ही नहीं होता। इसलिये 'उपजीव्य' सर्वदैव प्रवल रहने से बाधक ही होता है। उसे कभी 'वाध्य' नहीं समझना चाहिये। और 'उपजीवक' (किसी दूसरे पर आश्रित रहने वाला) उसके सामने दुर्बल रहने से सर्वदा 'वाध्य' रहता है, उसे कभी बाधक नहीं समझना चाहिये'। जैसे यह परमाणु की अनित्यता का साधक अनुमान, उपजीवक होने से दुर्बलता के कारण बाध्य हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि 'साध्य' के साधनार्थ तथा साध्याभाव के साधनार्थ एक साथ उपस्थित होने वाले दो अनुमानों में उपजीव्यउपजीवकभाव होने पर उन में सत्प्रतिपक्षता नहीं हुआ करती। **तृतीयमिति।** अनुभय (उपजीव्य और उपजीवक से भिन्न) अनुमानों का जव प्रयोग होता है, तब उन दोनों के तुल्यबल होने से उनमें सत्प्रतिक्षता होती है। इस सत्प्रतिपक्ष हेतु का ज्ञान भी साक्षात् 'अनुमिति' का ही प्रतिवन्धक होता है।

यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन पक्षे साध्याभावः परिच्छिन्नः स कालात्ययापदिष्टः। स एव बाधितविषय इत्युच्यते। यथा 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्'। अत्र कृतकत्वं हेतुः। तस्य च यत् साध्यमनुष्णत्वं तस्याभावः प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः। त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात्।

तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टो यथा, 'घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्त्वं हेतुः'। तस्यापि च यत् साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञातर्कादि-लक्षणेन प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नम्। स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालाकलनया घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति।

(५) कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास—

यस्येति। जिस 'हेतु' के 'साध्य' का अभाव' प्रत्यक्षादि प्रमाण से 'पक्ष' में निश्चित (परिच्छिन्न) रहता है, उसे 'कालात्ययापदिष्ट' कहते हैं। उसी को 'बाधितविषय' भी कहते हैं। **यथेति।** जैसे—'अग्निः अनुष्णः कृतकत्वात् जलवत्'—अग्नि अनुष्ण है, कृतक होने से, जल के समान। यहाँ 'अग्नि' पक्ष है, 'अनुष्णत्व' साध्य है, 'कृतकत्व' हेतु है, 'जलवत्' उदाहरण है। 'अनुष्णत्व' का अर्थ है—उष्णस्पर्श

के अभाव का आश्रय। और 'कृतक' का अर्थ है—कार्य। **अत्रेति**। इस अनुमान में 'कृतकत्व' को 'हेतु' बनाया गया है। उस 'कृतकत्व' हेतु का जो 'साध्य'—अनुष्णत्व है, उस अनुष्णत्वरूप साध्य का अभाव यानी 'उष्णत्व' (उष्णस्पर्श), 'अग्नि'रूप पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण (त्वगिन्द्रियरूप प्रमाण) से ही निश्चित है, अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) के द्वारा 'अग्नि' की उष्णता का निश्चित रूप से ज्ञान होता है। इसलिये यहाँ पर 'कृतकत्व' हेतु, कालात्ययापदिष्ट हो गया है।

तथेति। उसी प्रकार दूसरा प्रकार भी इस कालात्ययापदिष्ट का दिया जा रहा है। **यथेति**। जैसे—घटपक्षक क्षणिकत्वसाध्यक सत्त्वहेतुक'—अर्थात् 'घट' को 'क्षणिक' सिद्ध करने के लिये 'सत्त्व' हेतु का प्रयोग करते हुए बौद्धों ने जो पहिले अनुमान किया था, उसमें भी 'सत्त्व' हेतु, कालात्ययापदिष्ट है। क्योंकि बौद्धों के इस अनुमान में 'क्षणिकत्व' साध्य है, उसका अभाव होगा—'अक्षणिकत्व', वह 'प्रत्यभिज्ञा' रूप प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही निश्चित है। **स एवेति**। 'स एवाऽयं घटः यो मया पूर्वमुपलब्धः'—यह वही घट है जिसे मैंने पहिले देखा था—इस पूर्वानुभव से उत्पन्न हुए संस्कार की सहायता से इन्द्रिय के द्वारा होने वाली पूर्व और अपर काल के एकत्व को ग्रहण करने वाली प्रत्यभिज्ञा-प्रमाण से 'घट' के स्थायित्व का निश्चय होता है। अतः बौद्धों का क्षणिकत्वसाधक अनुमान भी बाधित-विषय ही है।

एते चासिद्धादयः पञ्च हेत्वाभासा यथाकथञ्चित् पक्षधर्मत्वाद्यन्यतम-रूपहीनत्वादहेतवः स्वसाध्यं न साधयन्तीति।

येऽपि लक्षणस्य केवलव्यतिरेकिहेतोस्त्रयो दोषा अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, न तु पञ्चभ्योऽधिकाः। तथाहि, अतिव्याप्ति-र्व्याप्यत्वासिद्धिः। विपक्षमात्रादव्यावृत्तत्वात् सोपाधिकत्वाच्च। यथा गोलक्षणस्य पशुत्वस्य। गोत्वे हि सास्नादिमत्त्वं प्रयोजकं, न तु पशुत्वम्। तथा अव्याप्ति-र्भागासिद्धत्वम्। यथा गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य। एवम् असम्भवोऽपि स्वरूपा-सिद्धिः। यथा गोलक्षणस्यैकशफत्वस्येति।

इति हेत्वाभासपदार्थः समाप्तः।

एते चेति। ये 'असिद्ध' आदि पाचों हेत्वाभास (असद्धेतु) कहे जाते हैं, ये अपने 'साध्य' का साधन करने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि 'पक्षधर्मता' (पक्षसत्त्व) आदि 'हेतु' के पञ्चरूपों में से किसी न किसी एक रूप से हीन रहते हैं। अतः ये 'अहेतु' हैं, शुद्ध हेतु नहीं हैं। शुद्ध हेतु (सद्धेतु) वही होता है जो अपने पाँचों रूपों से युक्त होता है।

लक्षण के दोषों को भी 'हेत्वाभास' कहा जाता है। येऽपीति। लक्षण के द्वारा अपने लक्ष्य में जो 'इतरभेद' (अलक्ष्य भेद) का अनुमान किया जाता है. उसे

'केवलव्यतिरेकी' अनुमान कहते हैं। यहाँ 'हेतु' 'केवलव्यतिरेकी' होता है। अन्य अनुमानों में प्रयुक्त होने वाले हेतुओं में रहने वाले दोषों को जैसे 'हेत्वाभास' कहा जाता है, वैसे ही 'लक्षणात्मक हेतु' के दोषों को भी 'हेत्वाभास' शब्द से कहा जाता है। उस लक्षणात्मक हेतु के तीन प्रकार के दोष होते हैं—(१) **अव्याप्ति** (२) **अतिव्याप्ति**, और (३) **असंभव**। इनमें से 'अव्याप्ति' को **भागासिद्धि**, 'अतिव्याप्ति' को **व्याप्यत्वासिद्धि**, और 'असम्भव' को **स्वरूपासिद्धि** के अन्तर्गत माना गया है। अतः ये 'दोष' रूप हेत्वाभास उक्त पाँच हेत्वाभासों से पृथक् नहीं हैं।

तथाहीति। उसी को बताते हैं—जो 'अतिव्याप्ति' दोष है, वह 'व्याप्यत्वासिद्धि' ही है, क्योंकि वह लक्षण-रूप व्यतिरेकी हेतु, सभी विपक्षों से व्यावृत्त न होकर सोपाधिक रहता है। **यथेति**। 'गो' का लक्षण 'पशुत्व' करें तो अतिव्याप्ति अर्थात् व्याप्यत्वासिद्धि ही हो जाती है। क्योंकि 'गो' का लक्षण-'पशुत्व' सोपधिक है। क्योंकि 'गोत्व' में ('गो' के होने में) 'सास्नादिमत्त्व' ही 'प्रयोजक' है। जो सास्नादिमान् होता है उसे ही 'गो' कहते हैं। 'गोत्व' में (गो कहलाने में) उसका 'पशुत्व' (पशु होना) प्रयोजक नहीं है। 'अप्रयोजक' को ही 'उपाधि' कहते हैं। इसलिये लक्षणात्मक 'पशुत्व' हेतु, सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध हो गया है। तथा विपक्ष जो 'महिषादि' हैं उनमें भी यह 'पशुत्व' हेतु विद्यमान रहता है। इसलिये 'पशुत्व' हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है।

तथेति। 'अव्याप्ति' दोष 'भागासिद्ध' के अन्तर्गत है। क्योंकि 'लक्ष्य' के एक भाग में 'लक्षण' का सम्बन्ध न रहना ही 'अव्याप्ति' दोष कहलाता है। और 'पक्ष' के एक भाग में 'हेतु' के सम्बन्ध का न रहना ही 'भागासिद्धि' है। 'इतरभेद' का जहाँ अनुमान किया जाता है, वहाँ 'लक्ष्य' ही 'पक्ष' होता है। और 'लक्षण' को 'हेतु' कहा जाता है। एवं च 'लक्ष्य' के एक भाग में 'लक्षण' का अभाव, और 'पक्ष' के एक भाग में 'हेतु' का अभाव रहने से 'अव्याप्ति' को 'भागासिद्धि' कहा जाता है। **यथेति**। जैसे—'गो' का लक्षण यदि 'शाबलेयत्व' किया जाय तो वह 'अव्याप्त' या 'भागासिद्ध' कहा जायगा। क्योंकि वह लक्षण समस्त 'गौओं' में नहीं रहता है। इसलिये लक्ष्यरूप 'पक्ष' के एक भाग में असिद्ध है।

एवमिति। इसी प्रकार 'असम्भव' दोष भी 'स्वरूपासिद्ध' के ही अन्तर्गत माना जाता है। समस्त (सम्पूर्ण) लक्ष्य में ही 'लक्षण' के न रहने को (अभाव को) 'असम्भव' दोष कहते हैं। और सम्पूर्ण 'पक्ष' में 'हेतु' के न रहने (अभाव) को 'स्वरूपासिद्धि' कहते हैं। इतरभेदानुमान के सम्पूर्ण लक्ष्यरूप 'पक्ष' में जब लक्षणात्मक हेतु का अभाव रहता है, तभी 'असंभव' दोष माना जाता है। इसलिये 'असम्भव' और 'स्वरूपासिद्धि' की एकरूपता ही समझनी चाहिये। **यथेति**। जैसे—'गो' का 'एकशफत्व' लक्षण यदि करते हैं तो वह लक्षण, सम्पूर्ण लक्ष्यभूत गोमात्र में कहीं भी

उपलब्ध नहीं होता है। गाय में 'एकशफत्व' (एक खुर) का होना कभी संभव ही नहीं है। अतः असम्भव दोष से वह लक्षण दूषित माना जाता है। अत एव लक्ष्यरूप 'पक्ष' में वह स्वरूपासिद्ध है।

माधुरी

उक्त पाँच हेत्वाभासों का निरूपण यद्यपि पहिले भी किया जा चुका है तथापि यहाँ पर पुनः ग्रन्थकार ने कुछ विशेष बातों को बताने के लिये किया है। अतः उसकी पुनरुक्ति सप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नहीं है। ये सभी पाँचों हेत्वाभास न्यायशास्त्रोक्त हैं, तथापि न्यायसूत्रोक्त हेत्वाभासों में और इन वर्णित हेत्वाभासों में कुछ अन्तर है, उनके नामों में और स्वरूप में भी कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है। सूत्रकार ने **'सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-अतीतकाला हेत्वाभासाः'**–(न्या० सू० १।१।३५) कहकर उन हेत्वाभासों के नाम गिना दिये हैं।

तर्कभाषाकार के हेत्वाभासों में सबसे प्रथम 'असिद्ध' नाम का हेत्वाभास बताया है, किन्तु इस नाम का सूत्र में कोई उल्लेख नहीं है। 'असिद्ध' के स्थान पर सूत्रकार ने 'साध्यसम' को कदाचित् रखा हो, यह कह सकते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत हो रहा है। तर्कभाषाकार ने 'असिद्ध' हेत्वाभास के तीन भेद भी बताये हैं, किन्तु सूत्रकार एवं भाष्यकार ने उनको कहीं भी नहीं बताया है। उसी तरह इसके 'उदाहरण' में भिन्नता है। जैसे—भाष्यकार ने 'साध्यसम' का उदाहरण 'द्रव्यं छाया गतिमत्त्वात्' दिया है। यहां 'छाया' को–पक्ष, 'द्रव्यत्व' को–साध्य, और 'गतिमत्त्व' को–हेतु के रूप में रखा गया है। परन्तु 'छाया' में गतिमत्त्व' का अभी निश्चय ही नहीं हो पाया है। नैयायिकों का कहना है कि 'छाया' में 'गति' नहीं है। किसी आवरक द्रव्य के उपस्थित होने पर 'प्रकाश' का जब अभाव हो जाता है, तब उस 'अभाव' को ही 'छाया' शब्द से कहा जाता है। 'छाया चलति'—यह प्रतीति तो 'प्रकाश' में अथवा आवरक द्रव्य में हुआ करती है। उनकी गति से ही 'छाया चलति' यह प्रतीति होती है। अतः 'छाया' में 'गति'रूप हेतु का अभाव होने से यहाँ 'साध्य-सम' है। उसी तरह 'सव्यभिचार' का लक्षण सूत्रकार ने 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' किया है। अतः सूत्रकार और तर्कभाषाकार के 'सव्यभिचार' को समान कह सकते हैं, किन्तु तर्कभाषाकार ने 'सव्यभिचार' के दो भेद कर दिये हैं। ये भेद सूत्र और उसके भाष्य में उपलब्ध नहीं होते हैं। 'प्रकरणसम' के उदाहरण में कुछ भिन्नता रहने पर भी दोनों में उसकी समानता है। तर्कभाषाकार ने 'प्रकरणसम' को 'सत्प्रतिपक्ष' नाम से भी बताया है। किन्तु इस दूसरे नाम का उल्लेख सूत्र या भाष्य में उपलब्ध नहीं है। सूत्रकारोक्त 'कालात्ययापदिष्ट' अथवा 'कालातीत' का उल्लेख तर्कभाषाकार ने भी उसी नाम से किया है। किन्तु उसके स्वरूप निर्णय में भिन्नता अपनाई है। भाष्य को देखने से इस हेत्वाभास की अनेकविध व्याख्याओं के होने की संभावना

की जा सकती है। 'प्रतिज्ञा' आदि अवयवों को व्युत्क्रम से कहना भी 'कालात्ययापदिष्ट' समझा जाता था। किन्तु भाष्यकार ने उसका खण्डन करते हुए उसका लक्षण और उदाहरण जो दिया है, उसकी अपेक्षा तर्कभाषाकार का लक्षण और उदाहरण सरल और बोधगम्य हो पाया है।

न्यायशास्त्र के समानतन्त्र वैशेषिक शास्त्र ने 'हेतु' के 'पक्षसत्त्वादि' पांच रूपों के बजाय उसके तीन ही रूपों को माना है। अतः वैशेषिक ने 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्'—(१) विरुद्ध, (२) असिद्ध, (३) सन्दिग्ध (अनैकान्तिक) ये तीन हेत्वाभास बताये हैं। इन तीनों के अतिरिक्त (१) 'अनध्यवसित' नाम का हेत्वाभास भी बताया है। अक्षपाद और कणाद दोनों आचार्यों के अनुगामी 'भासर्वज्ञ' ने भी अपने ग्रन्थ में उक्त छह हेत्वाभासों का निरूपण किया है। इनमें न्याय के पाँच और वैशेषिकोक्त 'अनध्यवसित' का भी संग्रह हुआ है। दिङ्नाग नामक बौद्ध आचार्य के 'न्याय प्रवेश' में 'असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक' तीन ही हेत्वाभास बताये गये हैं। सांख्यशास्त्र (सांख्यकारिका) की 'माठरवृत्ति' में भी इन्हीं तीन हेत्वाभासों को कहा गया है। सिद्धसेन, वादिदेव आदि जैनाचार्यों ने तीन हेत्वाभासों को ही माना है, ऐसा 'प्रमाणवार्तिक' से प्रतीत होता है। 'असिद्ध' हेत्वाभास के तीन ही भेद तर्कभाषाकार ने किये हैं, किन्तु प्रशस्तपाद ने उसके चार भेद बताये हैं— (१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) तद्भावासिद्ध, और (४) अनुमेयासिद्ध। दिङ्नाग ने तथा माठराचार्य ने भी असिद्ध के चार भेद किये हैं।

इति हेत्वाभासपदार्थः समाप्तः।

छलनिरूपणम्

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्। यथा 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्य नवशब्दस्यार्थान्तरमाशङ्क्य कश्चित् दूषयति। 'नास्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात्। न ह्यस्य द्वयमपि सम्भाव्यते कुतो नव' इति। स च वादी छलवादितया ज्ञायते।

इति छलपदार्थः समाप्तः।

अभिप्रायान्तरेणेति। अन्य अभिप्राय से (अन्य अर्थ के तात्पर्य से) प्रयुक्त किये गये शब्द का अन्य (दूसरा ही) अर्थ मानकर 'दोष' प्रदर्शन को **'छल'** कहते हैं। **यथेति।** जैसे—'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः'—इस वाक्य में 'नवीन' (नूतन) अर्थ के तात्पर्य (अभिप्राय) से प्रयुक्त जो 'नव' शब्द है, उसका दूसरा ही (अन्य) 'नवसंख्या' रूप अर्थ मानकर अन्य व्यक्ति उक्त कथन (नवकम्बलोऽयं देवदत्तः) में दोष प्रदर्शन करने लग जाय कि 'देवदत्त तो इतना दरिद्र है कि उसके पास तो दो कम्बल भी नहीं है, तब नौ कम्बल उसके पास कहाँ होंगे? इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना करके 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' कहने वाले के वाक्य को मिथ्या (झूठ) सिद्ध करना ही **'छल'** है। अभिप्राय यह है कि किसी के कथन में उक्तरीति से स्वकपोलकल्पित (मन-गढ़न्त) अर्थ की कल्पना करके दोष प्रदर्शन कर उसे मिथ्या (झूठ) वादी सिद्ध करने वाले व्यक्ति को 'छलवादी' कहा जाता है।

माधुरी

सूत्रकार के अनुसार—**'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्'**। (न्या० सू० १।२।१०) अर्थात् भिन्न अर्थ का ग्रहण कर वादी के वचन का जो खण्डन किया जाता है, उसे 'छल' कहते हैं। इस 'छल' पदार्थ के तीन भेद किये गये हैं—(१) वाक्छल, (२) सामान्यछल, (३) उपचारछल।

(१) वाक्छल—

'अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्।' जैसे—'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' में 'नव' शब्द का शक्यार्थ 'नूतन' (नवीन) भी है, और 'नवसंख्या' (नौ) भी शक्यार्थ है। किन्तु वक्ता का तात्पर्य 'नव' शब्द से 'नूतन' के अर्थ में है। 'नवसंख्या' के अर्थ में नहीं है। तथापि 'नव' शब्द से 'नवसंख्या' रूप अर्थ की कल्पना करके 'वक्ता' को जो मिथ्या ठहराया गया, वह 'छल' अर्थात् 'वाक्छल' के बल पर ही किया गया है। 'नव'—इस सामान्यशब्दरूप वाणी में 'छल' होने के कारण, इसे 'वाक्छल' शब्द से कहा गया है।

(२) सामान्यछल—

'सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पनं सामान्यछलम्'। हो सकने योग्य

अर्थ की विवक्षित अर्थ में रहने वाले तथा उसको छोड़ने वाले समान धर्म के सम्बन्ध से असम्भूतार्थकल्पना (न हो सकने योग्य अर्थ की कल्पना) को 'सामान्यच्छल' कहते हैं। जैसे--किसी व्यक्ति ने केवल प्रशंसा करने के लिये कहा कि 'असौ ब्राह्मणः विद्याचरणसम्पन्नः' अर्थात् यह ब्राह्मण विद्या और आचरण से सम्पन्न है—इस वाक्य को सुनकर सुनने वाला कहता है कि यह वक्ता, उक्त 'ब्राह्मण' में 'ब्राह्मणत्व' रूप हेतु बताकर 'विद्या और आचरण' को सिद्ध कर रहा है। इस प्रकार कल्पना करके 'वक्ता' से उसने कहा कि 'ब्रह्मणत्व' के होने मात्र से (ब्राह्मणत्व—हेतु से) विद्या और आचरण की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उपनयनसंस्काररहित 'व्रात्यब्राह्मण' में ब्राह्मणत्व के विद्यमान रहने पर भी विद्या और आचरण का अभाव, ही उसमें दीखता है। यदि विद्या और आचरणशील होने में 'ब्राह्मणत्व' ही हेतु हो तो उस व्रात्य-ब्राह्मण में भी विद्या और आचरण होना चाहिये, और उसे पूजनीय मानना चाहिये—इस प्रकार 'आपत्ति' (दोष) देना ही—'ब्राह्मणत्व' रूप सामान्यधर्म को (विद्वान् तथा मूर्ख दोनों में) लेकर 'छल' करना ही—'सामान्यछल' कहा जाता है।

(३) उपचारच्छल—

'धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्'—मुख्य तथा गौण (लाक्षणिक) अर्थों में से किसी एक अर्थ रूप धर्म के आशय से शब्द प्रयोग करने पर उसके विरुद्ध अर्थ को मानकर उस अर्थ की सत्ता का निषेध करना 'उपचारछल' कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि वादी ने मुख्य या लाक्षणिक अर्थ में 'शब्द प्रयोग' किया, किन्तु प्रतिवादी ने उसके विपरीत वृत्ति का आश्रय लेकर शक्यार्थ (वाच्यार्थ) या लक्ष्यार्थ को लेकर वादी के अर्थ की सत्ता का निषेध जहाँ किया हो, वहाँ उपचारछल समझा जाता है। जैसे—'मञ्चाः क्रोशन्ति' किसी ने 'मञ्च' शब्द का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग करके वाक्य कहा, किन्तु श्रोता ने 'मञ्च' शब्द का शक्यार्थ (मुख्यार्थ) मानकर उससे कहा कि 'मञ्च' तो कभी भी शब्द नहीं करते हैं, अपितु 'मञ्चस्थित' व्यक्ति ही शब्द किया करते हैं। अतः 'मञ्चाः क्रोशन्ति' कैसे कह रहे हो? इस प्रकार डाँट देना उपचारछल के बल पर हुआ करता है। तथा दूसरा उदाहरण—किसी ने 'अहम्' शब्द का शक्यार्थ के तात्पर्य से 'आत्मा' के अर्थ में प्रयोग करते हुए कहा कि 'अहं नित्यः', तब श्रोता ने 'अहम्' शब्द को लक्ष्यार्थ के तात्पर्य से 'शरीर' के अर्थ में लेकर (कल्पना करके) वक्ता को डाँट दिया कि 'तू' तो माता-पिता से उत्पन्न हुआ है, 'तू' कैसे 'नित्य' हो सकता है? इस प्रकार से उसकी 'नित्यता' का निषेध कर देना, 'उपचारछल' के प्रभाव से ही हुआ है। तीनों प्रकार के 'छल' का 'शब्दगुण' में अन्तर्भाव होता है।

इति छलपदार्थः समाप्तः।

जातिनिरूपणम्

असदुत्तरं जातिः। सा च उत्कर्षसम-अपकर्षसम-आदिभेदेन बहुविधा। विस्तरभिया नेह कृत्स्नोच्यते। तत्राव्याप्तेन दृष्टान्तगतधर्मेण साध्ये पक्षे व्यापकधर्मस्यापादनम् उत्कर्षसमा जातिः। तथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तर्हि तेनैव हेतुना तद्वदेव शब्दः सावयवोऽपि स्यात्।'

अपकर्षसमा तु दृष्टान्तगतेन धर्मेणाव्याप्तेनाव्यापकस्य धर्माभावस्यापादनम्। यथा पूर्वस्मिन् प्रयोगे कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तेनैव हेतुना घटवदेव हि शब्दः श्रावणोऽपि न स्यात्। न हि घटः श्रावण' इति।

इति जातिपदार्थः समाप्तः।

असदुत्तरमिति। असत् (अनुचित-असङ्गत) उत्तर को 'जाति' कहते हैं। **सा चेति।** और वह **'उत्कर्षसम' 'अपकर्षसम'** आदि भेद से बहुत प्रकार (२४ प्रकार) की बताई गई है। विस्तार के भय से उनका सम्पूर्णतया वर्णन यहाँ नहीं कर रहे हैं। उदाहरण के लिये ग्रन्थकार दो ही उदाहरणों को दे रहे हैं।

उत्कर्षसम—तत्रेति। उनमें से दृष्टान्तगत अव्याप्त (अव्याप्य) धर्म के द्वारा 'साध्य' अर्थात् 'पक्ष' (अनुमितिविशेष्यत्वेन अभिमत पक्ष) में 'अव्यापक धर्म' का आपादन करना ही 'उत्कर्षसम' नाम की 'जाति' कहलाती है। अभिप्राय यह है—'पक्ष' में न रहनेवाले और 'दृष्टान्त' में रहने वाले 'धर्म' की 'पक्ष' में आपत्ति बताना 'उत्कर्षसमजाति' कही जाती है।

यथेति। 'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात् घटवत्'—ऐसा अनुमान किसी के द्वारा किये जाने पर, उसका खण्डन करने की इच्छा से किसी दूसरे ने कह दिया कि यदि 'कृतकत्व' हेतु से 'घट' के समान 'शब्द' अनित्य है, तो उसी 'कृतकत्व' हेतु से उसी 'घट' के समान 'शब्द' को 'सावयव' भी होना चाहिये। क्योंकि 'घट' में 'अनित्यत्व' और 'सावयवत्व' दोनों के साथ समानरूप से रहने वाला 'कृतकत्व', जब 'शब्द' में रहेगा, तो अपने एक साथी 'अनित्यत्व' को लेकर ही रहेगा, और अपने दूसरे साथी 'सावयवत्व' को छोड़ देगा—यह कैसे हो सकता है? ऐसा व्यवहार करने में कोई नियामक नहीं है। एवं च 'कृतकत्व' हेतु से 'घट' में जो अनित्यत्व का अनुमान किया जाता है, उसके विरोध में उक्त असत् 'उत्तर' दिया जा रहा है—इसलिये यह

निग्रहस्थाननिरूपणम्

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्। तच्च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्त-अर्थान्तर अ-प्रतिभा मतानुज्ञा विरोध-आदिभेदाद् बहुविधमपि विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते। यद् विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन्न्यूनम्। विवक्षितात् किञ्चिदधिकम् अधिकम्। सिद्धान्तादपध्वंसः अपसिद्धान्तः प्रकृतेनानभिसम्बद्धार्थवचनम् अर्थान्तरम् उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा। पराभिमतस्वार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाभ्यनुज्ञानं स्वीकारो मतानुज्ञा। इष्टार्थभङ्गो विरोधः।

इति निग्रहस्थानपदार्थः समाप्तः।

पराजयहेतुरिति। पराजय (हार) प्राप्त होने में जो निमित्त (हेतु-कारण) होता है, उसे 'निग्रहस्थान' कहते हैं। अर्थात् जिस बात के कहने पर मनुष्य पराजित समझा जाता है, उसे 'निग्रहस्थान' कहा गया है। इसी अभिप्राय से तर्कभाषाकार ने 'निग्रहस्थान' का उक्त लक्षण किया है। **तच्चेति**। वह (निग्रहस्थान) न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध आदि भेदों के कारण बाईस (२२) प्रकार का है, यद्यपि ग्रन्थविस्तर के भय से इस ग्रन्थ में उसे पूर्णतया नहीं बता रहे हैं। तथापि उसके सात भेदों को बताया गया है।

(१) **न्यून—यदिति**। जो 'वक्तव्य', वक्ता के विवक्षित अर्थ से कम रह जाय, यानी अपने 'वक्तव्य' को पूर्णरूप से न बोल पाना ही 'न्यून' नाम का निग्रहस्थान होता है।

(२) **अधिक—विवक्षितादिति**। अपने विवक्षितवक्तव्य से कुछ अधिक कह देना 'अधिक' नाम का निग्रहस्थान होता है।

(३) **अपसिद्धान्त—सिद्धान्तादिति**। स्वीकृतसिद्धान्त से च्युत होना ही 'अप-सिद्धान्त' नामका निग्रहस्थान होता है।

(४) **अर्थान्तर—प्रकृतेनेति**। प्रकृतविषय (अभीष्ट अर्थ) से असम्बद्ध अर्थ को कहना 'अर्थान्तर' नामका निग्रहस्थान होता है।

(५) **अप्रतिभा—उत्तरेति**। प्रश्न उपस्थित होने पर 'उत्तर' का न सूझना 'अप्रतिभा' नामका निग्रहस्थान है।

(६) **मतानुज्ञा—पराभिमतेति**। दूसरे के अभिमत (सम्मत, अभीष्ट) और अपने प्रतिकूल (अनभिमत) अर्थ को स्वयं स्वीकार कर लेना 'मतानुज्ञा' नामका निग्रहस्थान होता है।

(७) **विरोध—इष्टार्थेति**। अपने अभीष्ट (अभिमत) अर्थ का स्वयं खण्डन कर देना 'विरोध' नाम का निग्रहस्थान कहलाता है।

माधुरी

तर्कभाषाकार ने केवल सात निग्रहस्थानों का ही निरूपण किया है। सूत्रकार ने बाईस निग्रहस्थानों को बताया है, और उनके लक्षण तथा उदाहरण भी बताये हैं। (१) प्रतिज्ञाहानिः, (२) प्रतिज्ञान्तरम्, (३) प्रतिज्ञाविरोधः, (४) प्रतिज्ञा-संन्यासः, (५) हेत्वन्तरम्, (६) अर्थान्तरम्, (७) निरर्थकम्, (८) विज्ञातार्थम्, (९) अपार्थकम्, (१०) अप्राप्तकालम्, (११) न्यूनम्, (१२) अधिकम्, (१३) पुनरुक्तम्, (१४) अननुभाषणम्, (१५) अज्ञानम्, (१६) अप्रतिभा, (१७) विक्षेपः, (१८) मतानुज्ञा, (१९) पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, (२०) निरनुयोज्यानुयोगः (२१) अपसिद्धान्तः, (२२) हेत्वाभासाः।

सूत्रकार ने (१।२।१९ वे सूत्र के द्वारा) 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' यह लक्षण निग्रहस्थान का किया है। और भाष्यकार ने 'निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः' कह कर उसकी व्याख्या की है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रख कर तर्कभाषाकार ने 'पराजय हेतुः निग्रहस्थानम्' कहा है। 'निग्रहस्थान' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वृत्तिकार विश्वनाथ कहते हैं—**'निग्रहस्य खलीकारस्य स्थानं ज्ञापनं निग्रहस्थानम्'**। एवं च पराजय के ज्ञापक हेतु को निग्रहस्थान कहा जाता है।

न्यायशास्त्र यद्यपि तत्त्वज्ञान के निरूपणार्थ प्रवृत्त हुआ है, तथापि उस तत्त्वनिर्णय में उपकारक होने से छल, जाति, निग्रहस्थानों का यहाँ सविस्तर निरूपण करना आवश्यक समझा गया है। भाष्यकार का कहना है कि "छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थमिति। उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनं छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः। जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः, स्वयं च सुकरः प्रयोग इति।" इस बात को हम पहिले भी बता चुके हैं।

शास्त्रार्थ के समय मध्यस्थपुरुष, किसी वादी या प्रतिवादी को जिन परिस्थितियों में 'पराजित' घोषित कर सकता है उसी को 'निग्रहस्थान' कहा जाता है। सर्व प्रथम वाद के नियमों का निर्धारण न्यायसूत्रकार ने ही किया था। उसी की दिशा का अनुसरण कर श्रीचरकाचार्य ने अपनी चरकसंहिता में भी उनको बताया है। तत्पश्चात् बौद्धों ने भी निग्रहस्थानों को अपनाया। अतएव उनके तर्कशास्त्र तथा उपायहृदय आदि ग्रन्थों में निग्रहस्थानों का निरूपण, न्याय और चरक के निरूपण से मिलता-जुलता उपलब्ध होता है। तदनन्तर धर्मकीर्ति ने अपने 'वादन्याय' ग्रन्थ में न्याय के निग्रहस्थानों का खण्डन करके स्वतन्त्ररूप से नवीन निग्रहस्थानों को बताया। तदनन्तर अकलङ्कदेव जैनाचार्य ने भी स्वतन्त्ररूप से निग्रहस्थानों का निरूपण किया। अतः न्याय, बौद्ध और जैन ये तीन परम्पराएँ निग्रहस्थानों के निरूपण में पाई जाती हैं।

इति निग्रहस्थानपदार्थः समाप्तः।

'जात्युत्तर' कहलाता है। उक्त उदाहरण के द्वारा यह स्पष्ट हो रहा है कि 'शब्द' में अविद्यमान 'सावयवत्व' रूप एक 'नवीन धर्म' का आपादन (आरोप) करने से 'शब्द' में उत्कर्ष का आपादन हो रहा है। अतः यहाँ पर 'उत्कर्षसमजाति' समझनी चाहिये। 'कृतकत्व' हेतु तो दोनों (अनित्यत्व और सावयवत्व) के साधन में तुल्य है।

अपकर्षसम—अपकर्षसमेति। 'उत्कर्षसम' के विपरीत यह 'अपकर्षसम' जाति होती है। यहाँ पर 'दृष्टान्त' में रहने वाले अव्याप्त (अव्याप्य) धर्म से अव्यापक धर्म के अभाव का आपादन किया जाता है, उसी को 'अपकर्षसम' जाति कहते हैं।

यथेति। जैसे पूर्व किये गये अनुमान प्रयोग में कोई व्यक्ति यह कहे कि 'यदि **कृतकत्व** हेतु से घट के समान 'शब्द' अनित्य है, तो उसी 'कृतकत्व' हेतु से 'घट' के समान ही 'शब्द' भी श्रोत्रग्राह्य नहीं होगा, क्योंकि 'घट' श्रोत्रग्राह्य नहीं है। दृष्टान्त-भूत घट में रहने वाला 'कृतकत्व' धर्म, अपने साथी घटगत अनित्यत्व और अश्रा-वणत्व इन दो धर्मों में से एक अनित्यत्व को ही अपने साथ 'शब्द' में ले जाय और अन्य 'अश्रावणत्व' साथी को अपने साथ वहाँ न ले जाय',—यह कथन, 'घट' में कृतकत्व हेतुक अनित्यत्वसाध्यक किये जाने वाले अनुमान के विरोध में किया जा रहा है। इसलिये यह असदुत्तर है। यह असदुत्तर ही 'अपकर्षसम' जाति के नाम से कहा गया है। क्योंकि 'शब्द' में उसके धर्म (अश्रावणत्व) के अभाव का आपादन (आरोपण) कर उसकी (शब्द की) न्यूनता (अपकर्ष) का आपादन किया जा रहा है। आपादकीभूत 'कृतकत्व', दोनों (अनित्यत्व और श्रावणत्व) का समान साथी है।

माधुरी

सूत्रकार ने 'जाति' का लक्षण **'साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'**—किसी के 'पक्ष' का जब केवल 'साधर्म्य' अथवा 'वैधर्म्य' के बल पर खण्डनात्मक उत्तर दिया जाता है, तब उस उत्तर को 'जाति' कहा करते हैं। परोक्त हेतु में उसकी 'जनि' (उत्पत्ति) होने से उसे 'जाति' कहा जाता है। यह जाति २४ (चौबीस) प्रकार की होती है—

(१) साधर्म्यसमा, (२) वैधर्म्यसमा, (३) उत्कर्षसमा, (४) अपकर्षसमा, (५) वर्ण्यसमा, (६) अवर्ण्यसमा, (७) विकल्पसमा, (८) साध्यसमा, (९) प्राप्तिसमा, (१०) अप्राप्तिसमा, (११) प्रसङ्गसमा, (१२) प्रतिदृष्टान्तसमा, (१३) अनुत्पत्तिसमा, (१४) संशयसमा, (१५) प्रकरणसमा, (१६) हेतुसमा, (१७) अर्थापत्तिसमा, (१८) अविशेषसमा, (१९) उपपत्तिसमा, (२०) उपलब्धिसमा, (२१) अनुपलब्धिसमा, (२२) नित्यसमा, (२३) अनित्यसमा, (२४) कार्यसमा।

न्यायदर्शन की तरह अन्यदर्शनों में भी 'जाति' को असदुत्तर के रूप में ही माना है। सूत्रकार ने 'जाति' और 'निग्रहस्थान' के बताने में सम्पूर्ण एक अध्याय ही खर्च कर दिया है। अपने सिद्धान्त की रक्षा करने के लिये आवश्यकता पड़ने पर 'छल' तथा 'असदुत्तरस्वरूप जाति' का प्रयोग करना भी आवश्यक बताया गया है। बौद्धाचार्यों ने तथा जैनाचार्यों ने 'छल' आदि के प्रयोग की बड़ी निन्दा की है। किन्तु नैयायिकों की परम्परा में 'छल' आदि के प्रयोग करने के समर्थन में कहा गया है—

' दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादितिच्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥

किन्तु इसके विपरीत बौद्धाचार्यधर्मकीर्ति ने 'वादन्याय' में कहा है—"तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्तव्यमेव च्छलादिविजिगीषुभिरिति चेत्, नख-चपेट-शस्त्रप्रहार-दीपनादिभिरपीति वक्तव्यम् । तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः ।"

उसके पश्चात् 'जाति' और 'छल' प्रयोग करने का खण्डन जैनाचार्यों ने भी किया है, किन्तु उनके ग्रन्थों में भी 'जाति' आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। बौद्धों के 'प्रमाणसमुच्चय', 'वादविधि' आदि ग्रन्थों में नैयायिकों के परिगणित जाति भेदों से भी तीन अधिक जाति भेद (कार्यभेद, अनुक्ति, स्वार्थविरुद्ध) बताये गये हैं। 'उपायहृदय' ग्रन्थ में 'जाति' के दशभेद और बढा दिये हैं। जो इस प्रकार हैं— (१) भेदाभेद, (२) प्रश्नबाहुल्योत्तराल्पता, (३) प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य, (४) हेतुसम, (५) व्याप्तिसम-अव्याप्तिसम, (६) विरुद्ध, (७) अविरुद्ध, (८) असंशय, (९) श्रुतिसम, (१०) श्रुतिभिन्न ।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'छल' आदि के प्रयोग को अभीष्ट न मानते हुए भी बौद्ध और जैन दार्शनिक विद्वानों ने उसकी उपेक्षा नहीं की है। नैयायिकों ने भी उसकी कहीं भी प्रशंसा नहीं की है, तथापि अपने ग्रन्थों में उसका वर्णन इसीलिये उन्होंने किया है कि यदि वादी अथवा प्रतिवादी उनका आश्रय करले तो वे इस 'छल' अथवा 'जाति' को अच्छी तरह समझ पायें और उसका समुचित निराकरण कर सकें।

इति जातिपदार्थः समाप्तः ।

निग्रहस्थाननिरूपणम्

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्। तच्च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्त-अर्थान्तर अ-प्रतिभा मतानुज्ञा विरोध-आदिभेदाद् बहुविधमपि विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते। यद् विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन्न्यूनम्। विवक्षितात् किञ्चिदधिकम् अधिकम्। सिद्धान्तादपध्वंसः अपसिद्धान्तः प्रकृतेनानभिसम्बद्धार्थवचनम् अर्थान्तरम् उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा। पराभिमतस्वार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाभ्यनुज्ञानं स्वीकारो मतानुज्ञा। इष्टार्थभङ्गो विरोधः।

इति निग्रहस्थानपदार्थः समाप्तः।

पराजयहेतुरिति। पराजय (हार) प्राप्त होने में जो निमित्त (हेतु-कारण) होता है, उसे 'निग्रहस्थान' कहते हैं। अर्थात् जिस बात के कहने पर मनुष्य पराजित समझा जाता है, उसे 'निग्रहस्थान' कहा गया है। इसी अभिप्राय से तर्कभाषाकार ने 'निग्रहस्थान' का उक्त लक्षण किया है। **तच्चेति।** वह (निग्रहस्थान) न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध आदि भेदों के कारण बाईस (२२) प्रकार का है, यद्यपि ग्रन्थविस्तर के भय से इस ग्रन्थ में उसे पूर्णतया नहीं बता रहे हैं। तथापि उसके सात भेदों को बताया गया है।

(१) **न्यून—यदिति।** जो 'वक्तव्य', वक्ता के विवक्षित अर्थ से कम रह जाय, यानी अपने 'वक्तव्य' को पूर्णरूप से न बोल पाना ही 'न्यून' नाम का निग्रहस्थान होता है।

(२) **अधिक—विवक्षितादिति।** अपने विवक्षितवक्तव्य से कुछ अधिक कह देना 'अधिक' नाम का निग्रहस्थान होता है।

(३) **अपसिद्धान्त—सिद्धान्तादिति।** स्वीकृतसिद्धान्त से च्युत होना ही 'अप-सिद्धान्त' नामका निग्रहस्थान होता है।

(४) **अर्थान्तर—प्रकृतेनेति।** प्रकृतविषय (अभीष्ट अर्थ) से असम्बद्ध अर्थ को कहना 'अर्थान्तर' नामका निग्रहस्थान होता है।

(५) **अप्रतिभा—उत्तरेति।** प्रश्न उपस्थित होने पर 'उत्तर' का न सूझना 'अप्रतिभा' नामका निग्रहस्थान है।

(६) **मतानुज्ञा—पराभिमतेति।** दूसरे के अभिमत (सम्मत, अभीष्ट) और अपने प्रतिकूल (अनभिमत) अर्थ को स्वयं स्वीकार कर लेना 'मतानुज्ञा' नामका निग्रहस्थान होता है।

(७) **विरोध—इष्टार्थेति।** अपने अभीष्ट (अभिमत) अर्थ का स्वयं खण्डन कर देना 'विरोध' नाम का निग्रहस्थान कहलाता है।

माधुरी

तर्कभाषाकार ने केवल सात निग्रहस्थानों का ही निरूपण किया है। सूत्रकार ने बाईस निग्रहस्थानों को बताया है, और उनके लक्षण तथा उदाहरण भी बताये हैं। (१) प्रतिज्ञाहानिः, (२) प्रतिज्ञान्तरम्, (३) प्रतिज्ञाविरोधः, (४) प्रतिज्ञा-संन्यासः, (५) हेत्वन्तरम्, (६) अर्थान्तरम्, (७) निरर्थकम्, (८) विज्ञातार्थम्, (९) अपार्थकम्, (१०) अप्राप्तकालम्, (११) न्यूनम्, (१२) अधिकम्, (१३) पुनरुक्तम्, (१४) अननुभाषणम्, (१५) अज्ञानम्, (१६) अप्रतिभा, (१७) विक्षेपः, (१८) मतानुज्ञा, (१९) पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, (२०) निरनुयोज्यानुयोगः (२१) अपसिद्धान्तः, (२२) हेत्वाभासाः।

सूत्रकार ने (१।२।१९ वे सूत्र के द्वारा) 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' यह लक्षण निग्रहस्थान का किया है। और भाष्यकार ने 'निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः' कह कर उसकी व्याख्या की है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रख कर तर्कभाषाकार ने 'पराजय हेतुः निग्रहस्थानम्' कहा है। 'निग्रहस्थान' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वृत्तिकार विश्वनाथ कहते हैं—**'निग्रहस्य खलीकारस्य स्थानं ज्ञापनं निग्रहस्थानम्'**। एवं च पराजय के ज्ञापक हेतु को निग्रहस्थान कहा जाता है।

न्यायशास्त्र यद्यपि तत्त्वज्ञान के निरूपणार्थ प्रवृत्त हुआ है, तथापि उस तत्त्वनिर्णय में उपकारक होने से छल, जाति, निग्रहस्थानों का यहाँ सविस्तर निरूपण करना आवश्यक समझा गया है। भाष्यकार का कहना है कि "छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थमिति। उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनं छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः। जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः, स्वयं च सुकरः प्रयोग इति।" इस बात को हम पहिले भी बता चुके हैं।

शास्त्रार्थ के समय मध्यस्थपुरुष, किसी वादी या प्रतिवादी को जिन परिस्थितियों में 'पराजित' घोषित कर सकता है उसी को 'निग्रहस्थान' कहा जाता है। सर्व प्रथम वाद के नियमों का निर्धारण न्यायसूत्रकार ने ही किया था। उसी की दिशा का अनुसरण कर श्रीचरकाचार्य ने अपनी चरकसंहिता में भी उनको बताया है। तत्-पश्चात् बौद्धों ने भी निग्रहस्थानों को अपनाया। अतएव उनके तर्कशास्त्र तथा उपाय-हृदय आदि ग्रन्थों में निग्रहस्थानों का निरूपण, न्याय और चरक के निरूपण से मिलता-जुलता उपलब्ध होता है। तदनन्तर धर्मकीर्ति ने अपने 'वादन्याय' ग्रन्थ में न्याय के निग्रहस्थानों का खण्डन करके स्वतन्त्ररूप से नवीन निग्रहस्थानों को बताया। तदनन्तर अकलङ्कदेव जैनाचार्य ने भी स्वतन्त्ररूप से निग्रहस्थानों का निरूपण किया। अतः न्याय, बौद्ध और जैन ये तीन परम्पराएँ निग्रहस्थानों के निरूपण में पाई जाती हैं।

इति निग्रहस्थानपदार्थः समाप्तः।

उपसंहारः

इहात्यन्तमुपयुक्तानां स्वरूपभेदेन भूयो भूयः प्रतिपादनम् । यदनतिप्रयोजनं तदलक्षणमदोषाय । एतावतैव बालव्युत्पत्तिसिद्धेः ।

॥ इति श्रीकेशवमिश्रविरचिता तर्कभाषा समाप्ता ॥

ग्रन्थ का उपसंहार—

इहेति । इस तर्कभाषा ग्रन्थ में अत्यन्त उपयोगी हेत्वाभास आदि पदार्थों का पुनः-पुनः प्रतिपादन कुछ भिन्न स्वरूप में किया गया है, जिसका अधिक उपयोग नहीं है, तथापि उसका लक्षण आदि न करना दोषावह नहीं है । क्योंकि जितना निरूपण किया गया है, उतने मात्र से ही न्यायशास्त्र में प्रवेश चाहने वाले जिज्ञासु बालकों की न्यायशास्त्र के लिये अपेक्षित व्युत्पत्ति (ज्ञान) सिद्ध हो जाती है ।

कृष्णनाम जगदेकमङ्गलं कण्ठपीठमुररीकरोषि चेत् ।
शास्त्ररत्ननिचयप्रभा स्फुरेन्मानसे तव सदैव निर्मले ॥

महामहोपाध्याय-श्रीसदाशिवशास्त्रितनुजनुपा, पद्मभूषण-पण्डितराजराजेश्वर-
शास्त्रिचरणान्तेवासिना, मुसलगाँवकरोपनामकेन श्रीगजानन-
शास्त्रिणा विरचिता तर्कभाषाया 'माधुरी'-व्याख्या
व्याख्या श्रीमद्गुरुचरणानुग्रहात् पूर्णताम्प्राप्ता ।



